न्यायदर्शन

(न्यायसूत्र – न्यायभाष्य)

महामहोपाध्याय फणिभूषण तर्कवागीशकृत
बङ्ला व्याख्यान संवलित

हिन्दी रूपान्तरण
किशोरनाथ झा

संपादन
अम्बिकादत्त शर्मा
सच्चिदानन्द मिश्र

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

काशी की पाण्डित्य परम्परा और आचार्य कुल में दीक्षित **अम्बिकादत्त शर्मा** सम्प्रति डॉ० हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म०प्र०) के दर्शनशास्त्र विभाग में आचार्य एवं अध्यक्ष पद पर कार्यरत हैं। इनके द्वारा प्रायोजित, सम्पादित एवं लिखित ग्रंथों में स्वातंत्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण के अन्तर्गत – *समेकित दार्शनिक विमर्श*, *समेकित अद्वैत विमर्श*, *समेकित पाश्चात्य दर्शन विमर्श (प्रकाश्य)*, *भारतीय दर्शन के 50 वर्ष* विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त – *बौद्ध प्रमाण दर्शन*, *भारतीय दर्शन में प्राप्यकारित्ववाद* एवं *इन डिफेन्स ऑफ मेटाफिज़िक्स* इनके द्वारा प्रस्तुत चर्चित कृतियाँ हैं। राष्ट्रभाषा के माध्यम से विशिष्ट दार्शनिक योगदान के लिए आपको "नरेश मेहता स्मृति वाङ्मय सम्मान" एवं यू०जी०सी० द्वारा "रिसर्च अवार्ड" से सम्मानित किया गया है। संस्थागत अकादमिक दायित्वों के क्षेत्र में आप दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर से प्रकाशित "उन्मीलन" पत्रिका के सम्पादक एवं अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के महामंत्री भी हैं।

न्यायदर्शन और अद्वैतवेदान्त के गम्भीर अध्येता **सच्चिदानन्द मिश्र** सम्प्रति दर्शन एवं धर्म विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में आचार्य पद पर कार्यरत हैं। अनेक परिष्कारात्मक चर्चित निबन्धों के अतिरिक्त इनके द्वारा लिखित, व्याख्यायित एवं सम्पादित कृतियों में – *न्याय दर्शन में अनुमान*, *न्यायभाष्य सुनन्दा हिन्दी व्याख्या*, *व्युत्पत्तिवाद की हिन्दी व्याख्या*, *तत्त्वचिन्तामणिप्रभा का आलोचनात्मक सम्पादन* एवं *वेदान्तसार की हिन्दी व्याख्या* विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। आप अपनी सारस्वत उपलब्धियों के लिए अपनी उम्र के उद्‌भट विद्वानों में गणनीय रहे हैं। आप "महर्षि बादरायण व्यास सम्मान" से सम्मानित भी हुए हैं।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

न्यायदर्शन

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

न्यायदर्शन

(न्यायसूत्र - न्यायभाष्य)

महामहोपाध्याय फणिभूषण तर्कवागीशकृत
बङ्ला व्याख्यान संवलित

प्रथम अध्याय

हिन्दी रूपान्तरण
किशोरनाथ झा

संपादन
अम्बिकादत्त शर्मा
सच्चिदानन्द मिश्र

भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद
नई दिल्ली

DK PRINTWORLD
भारतीय परंपराओं के प्रकाशक
नई दिल्ली

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

Cataloging in Publication Data — DK
[Courtesy: D.K. Agencies (P) Ltd. <docinfo@dkagencies.com>]

Gautama (*Authority on Nyāyaśāstra*).
[Nyāyasūtra. Hindi & Sanskrit]
Nyāyadarśana : Nyāyasūtra – Nyāyabhāśya /
Phaṇibhūshaṇa Tarkavāgīśakṛta Baṅlā vyākhyāna saṁvalita ;
Hindī rūpāntaraṇa, Kiśoranātha Jhā ; sampādana,
Ambikādatta Śarmā, Saccidānanda Miśra.
p. cm.
Hindi and Sanskrit.
Translated from Bengali.
ISBN 13: 9788124608098

1. Nyaya. I. Tarkavāgīśa, Phaṇibhūṣaṇa, 1875-1941. II. Jhā, Kiśoranātha. III. Śarmā, Ambikādatta. IV. Miśra, Saccidānanda. V. Vātsyāyana, approximately 350- approximately 425. Nyāyabhāṣya. Hindi & Sanskrit. VI. Title.

DDC 181.43 23

ISBN 13: 978-81-246-0809-8
प्रथम प्रकाशन वर्ष : 2015 मुद्रण : 550 प्रतियाँ
© लेखक

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस प्रकाशन के किसी भी अंश का किसी भी रूप में पुनर्मुद्रण, या किसी भी विधि (जैसे इलेक्ट्रोनिक, यांत्रिक, फोटो-प्रतिलिपि, रिकॉर्डिंग या कोई अन्य विधि) से प्रयोग या किसी ऐसे यंत्र में भंडारण, जिससे इसे पुनः प्राप्त किया जा सकता हो, कॉपीराइट धारक एवं प्रकाशकों की पूर्वलिखित अनुमति के बिना नहीं किया जा सकता है।

इस पुस्तक में जो अभिमत व्यक्त हुआ है वह पूर्णतया अनुवादक एवं सम्पादक का अपना है। इसके प्रकाशन में अनुवादक तथा सम्पादक ने इस बात की पूर्ण संभव सावधानी रखी है कि इसकी सामग्री का कोई अंश, किसी भी रूप में वर्तमान कॉपीराइट अथवा किसी भी व्यक्ति की बौद्धिक सम्पत्ति के अधिकार का हनन नहीं करे। यदि अनुवादक के द्वारा अनवधान में कोई ऐसा अंश प्रकाशित हो गया हो या उसकी अनभिज्ञता के कारण अनदेखा रह गया हो, तो सम्बन्धित जन इसकी जानकारी "भारतीय दर्शन अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली" तथा सह-प्रकाशक "डी०के० प्रिन्टवर्ल्ड (प्रा०) लि०, नई दिल्ली" को लिखित रूप में दें, जिससे अगले संस्करण में उक्त अंश को हटाया जा सके।

प्रकाशक:
भारतीय दर्शन अनुसंधान परिषद्
दर्शन भवन, 36 तुगलकाबाद इन्स्टिट्यूशनल एरिया
महरौली-बदरपुर रोड, नई दिल्ली - 110 062
एवं
डी०के० प्रिंटवर्ल्ड (प्रा०) लि०
पंजीकृत कार्यालय : वेदश्री, एफ-395, सुदर्शन पार्क
(मेट्रो स्टेशन : रमेश नगर), नई दिल्ली - 110 015
दूरभाष : (011) 2545 3975, 2546 6019, फैक्स : (011) 2546 5926
ई-मेल : indology@dkprintworld.com, वेब : www.dkprintworld.com

मुद्रक : डी०के० प्रिंटवर्ल्ड प्रा०लि०, नई दिल्ली
CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

विषयानुक्रम

	प्राक्कथन	vii
	सूत्र और भाष्य में उक्त विषयों की सूची	xix
	न्यायदर्शन के प्रथम संस्करण की भूमिका	१
	न्यायदर्शन के द्वितीय संस्करण की भूमिका	४८
	न्यायदर्शन : प्रथम अध्याय-प्रथम आह्निक	६८
	न्यायदर्शन : प्रथम अध्याय-द्वितीय आह्निक	३९९
	परिशिष्ट	
१.	*फणिभूषण तर्कवागीश कृत बङ्ला व्याख्यान में वर्णित कतिपय विषयों की संक्षिप्त सूची*	४९९
२.	*संदर्भ एवं टिप्पणियों में उल्लिखित ग्रन्थों की सूची*	५१७
३.	*प्रथमाध्यायान्तर्गत सूत्रों की पृष्ठसूची*	५२४
४.	*महामहोपाध्याय फणिभूषण तर्कवागीश : एक परिचय*	५२७

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

प्राक्कथन

भारत में निगमागमिक शास्त्र-परम्परा अपने मूल स्वरूप में पौरुषेय या अपौरुषेय जो भी रही हो लेकिन इतना तो निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जा सकता है कि वह दीर्घ काल तक ऋषियों एवं मुनियों की प्रातिभ अन्तर्दृष्टि से निष्कृष्ट होकर वाचिक परम्परा में पोषित और पल्लवित होती रही है। भारतीय परम्परा में शास्त्रों का ''वाङ्मय विग्रह'' रूप में लिखित स्वरूप प्रदान किया जाना एक परवर्ती घटना है और उसका भी इतिहास यहाँ बड़ा ही समृद्ध और चमत्कारी रहा है। भारतीय परम्परा में शास्त्रों के 'वाग् विग्रह' अर्थात् ग्रन्थों के जितने प्रकार प्राप्त होते हैं वह किसी भी दूसरी परम्परा के लिए दुर्लभ हैं। पाराशरोपपुराण के अठारहवें अध्याय में ''वाग् विग्रह'' रूप से शास्त्रों के लोकावतरण एवं विस्तरण को बड़े ही रोचक ढ़ंग से निरूपित किया गया है।

द्रष्टव्य है कि प्रारम्भ में ऋषियों की प्रातिभ अनुभूतियों को ''वाग् विग्रह'' रूप प्रदान करने के लिए ग्रन्थ-रचना जैसे कार्यों को बहुत पुरस्कृत्य नहीं समझा जाता था। इसीलिए यास्क ने वैसे ऋषियों को अवर कोटि का माना है जिन्होंने स्वयं सत्य (धर्म) का साक्षात्कार नहीं किया बल्कि उसका ग्रहण उपदिष्ट रूप से किया है –

साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः।
तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मस्य उपदेशेन मंत्रान् सम्प्रददुः।
– निरुक्त १.२०

पुनः यास्क ने अवर ऋषियों पर एक टिप्पणी करते हुए कहा है कि जिन्होंने स्वयं सत्य (धर्म) का साक्षात्कार नहीं किया वही प्राचीन ऋषियों के उपदेशों-मंत्रों को लेकर ग्रन्थ-रचना किया करते थे –

उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं
समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च । – निरुक्त १.२०

आश्चर्य है कि परम्परा में ग्रन्थ-लेखन के सन्दर्भ में यास्क से ही मिलती-जुलती बातें

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

बुद्ध ने भी कही हैं। बुद्ध का कथन है कि –

> वे (ब्राह्मण) जंगलों में पर्णकुटी बनाकर वहीं ध्यान आदि कर्म किया करते थे।..... उनमें से कितने ध्यान को सिद्ध न कर सकने के कारण ग्राम अथवा निगम के पास आकर ग्रन्थ-रचना करते हुए नागर जीवन व्यतीत करने लगे।...... उस समय वह नीच कर्म समझा जाता था परन्तु आज श्रेष्ठ समझा जाता है। – दीघ निकाय, अग्गञ्जयसुत्त

इस प्रकार उपर्युक्त सन्दर्भों के आधार पर कहा जा सकता है कि भारतीय परम्परा में एक समय तक ग्रन्थ-प्रणयन का कार्य श्रेष्ठ कर्म के रूप में गणनीय नहीं था। वास्तव में ग्रन्थों के रचना-कर्म की ऐसी निन्दा और कुछ नहीं बल्कि शास्त्र-परम्परा और उसके अन्तर्गत विभिन्न बौद्धिक परम्पराओं के अलिखित रूप वाचिक परम्परा का ही घोर समर्थन है। ऐसा लगता है जैसे ऋषियों की प्रातिभ अनुभूतियों को लिखित ''वाग् विग्रह'' रूप में प्रस्तुत करना उन्हें दूषित कर देना है। शास्त्रों को अपौरुषेय मानने वाले इसे दूषण मानते भी हैं। पाणिनीय शिक्षा में भी लिखित पाठ के पठन को अधम-पठन ही कहा गया है (षडेते पाठकाधमाः)। ऐसी स्थिति में वाचिक परम्परा के प्रति आग्रहवान होना स्वाभाविक ही लगता है। वस्तुतः शास्त्र परम्पराओं के वाचिक रूप में प्रवहमान होने की सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि उस रूप में बौद्धिक परम्पराएं जीवनानुभव से जुड़कर नैष्ठिक रूप धारण कर लेती हैं। परन्तु इसकी सबसे बड़ी खामी यह होती है कि बौद्धिक परम्पराएं सम्प्रदाय-केन्द्रित नैष्ठिकता और गोपन के चलते अपने में ही रूढ़ और आन्तर-साम्प्रदायिक स्वस्थ संवाद के अभाव में आत्ममुग्धता का शिकार हो जाती हैं। भारत प्रभव निगमागमिक शास्त्र परम्पराओं के वैचारिक विकास में इस प्रकार के प्रभाव को बहुत दूर तक देखा जा सकता है।

इसके विपरीत दूसरी तरफ हम देखते हैं कि भारतीय परम्परा में ही शास्त्रों को ''वाग् विग्रह'' रूप देने के प्रयासों को अतीव महत्त्व भी प्रदान किया गया है। यहाँ तक कि ब्राह्मण परम्परा में ''सूत्रकार'' ज़िसे शास्त्रों का ''आद्य वाग्विग्रहकर्त्ता'' कहा जा सकता है, उसे भगवान् पद से महिमा-मण्डित किया जाता है। इस सन्दर्भ में कुछ अन्यों को ''ओहब्रह्म'' की संज्ञा दी गई है। वैसे ही श्रमण (बौद्ध) परम्परा में विभिन्न संगीतियों के द्वारा बुद्ध वचनों के संगायन के लिए युद्ध स्तर पर किए गए प्रयासों का महत्त्व सर्वविदित ही है। वाचिक रूप से शास्त्रों की प्रवहमान धारा को प्रथमतया ''वाग् विग्रह'' रूप में प्रस्तुत करने वाले सूत्रकार को इतना अधिक महत्त्व देने का निहितार्थ यह है कि वह एक ऐसा व्यक्ति होता है जो ऋषियों की प्रातिभ अनुभूतियों में जीवन पाने वाले उस शास्त्र के वाचिक रूप से सर्वथा ओत-प्रोत ''आप्तपुरुष'' हुआ करता है। वास्तव में सूत्रों का

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

महत्त्व भी यही है कि वह किसी शास्त्र-परम्परा के बीज रूप वाङ्मय विग्रह होते हैं। इसका निर्माण, यदि यास्क के तर्ज पर कहें तो, कोई अवर ऋषि अर्थात् श्रुतर्षि "भावना प्रकर्ष पर्यन्त" ज्ञानस्थिति में ही कर सकता है। इसीलिए सूत्रों को बाद में भाष्यादि व्याख्या-कर्म के द्वारा खोलने की आवश्यकता होती है। अतएव हम कह सकते हैं कि भारतीय परम्परा में "सूत्र" ही किसी शास्त्र-परम्परा के लिखित रूप का "आद्य-वाग्विग्रह" होता है और उसी को आधारभूत एवं पूंजीभूत मानकर शास्त्रों की लिखित परम्परा का विकास तथा उनकी वंशावली का निर्माण परवर्ती काल में भाष्य, वार्त्तिक इत्यादि अन्यान्य प्रकार के टीका ग्रन्थों के माध्यम से होता है।

अवधेय है कि किसी शास्त्र-परम्परा या उसके अन्तर्गत बौद्धिक-परम्परा जैसे-जैसे अपने वाचिक रूप से लिखित रूप वाग् विग्रह में रूपान्तरित होती जाती है वैसे-वैसे उसकी व्याप्ति और ज्ञान की गतिशीलता में खुलापन आता जाता है तथा आत्ममुग्धता से मुक्त उसका विकास स्वस्थ एवं आलोचनात्मक रूप से सम्भव हो पाता है। वास्तव में किसी बौद्धिक परम्परा को "वाग् विग्रह" रूप प्रदान करना उसे खुले में खड़े पेड़ की तरह खड़ा करना है जो अपनी जड़ों से एवं वातावरण के अच्छे-बुरे प्रभावों के बीच विकसित होता रहे। यह बात अलग है कि किसी बौद्धिक परम्परा के विकास में इस बात को निर्धारित करना एक कठिन कार्य है कि उसका कितना अंश लिखित रूप में रूपान्तरित हो चुका है और कितना अंश अभी वाचिक परम्परा का ही अंगभूत बना हुआ है। कभी-कभी कुछ ऐतिहासिक कारणों से जब कोई बौद्धिक परम्परा दबा दी जाती है अथवा उसे मिटाने के कुत्सित प्रयास किए जाते हैं तो उसे पुनर्रचित करना या फिर अवान्तर वाग् विग्रह तैयार करना एक कठिन कार्य होता है। भारत में तो वाचिक और लिखित दोनों ही रूपों में बौद्धिक परम्पराओं को सायास नष्ट किए जाने के कई उदाहरण प्राप्त होते हैं। इसके परिणामस्वरूप वैसी बौद्धिक परम्पराओं का भावी विकास एक खण्डित विग्रह की तरह या फिर उनकी वंशावली के इतिहास के सूत्र परस्पर सामंजस्य रूप में उपलब्ध नहीं हो पाते हैं।

अब यदि भारतीय शास्त्र-परम्परा के वाचिक और लिखित स्वरूप पर किए गए उपर्युक्त टिप्पणी के परिप्रेक्ष्य में न्याय-परम्परा पर विचार किया जाए तो दोनों ही रूपों में इसका एक समृद्ध इतिहास रहा है। यह कहना किसी भी दृष्टि से अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि अरस्तू के तर्कशास्त्र ने जैसे पश्चिमी विचार-पद्धति को एक ढाँचा प्रदान किया वैसे ही एक शास्त्र, एक विद्या और एक दर्शन तंत्र के रूप में न्यायदर्शन ने भारतीय विचार-पद्धति को एक साँचा प्रदान किया है। इसीलिए भारतीय परम्परा में न्यायशास्त्र

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

को सभी विद्याओं का प्रदीप, सभी कर्मों का उपाय और सभी धर्मों का आश्रय कहा गया है। इस शास्त्र-परम्परा का आद्य-वाग्-विग्रह रूप प्राचीनतम ग्रन्थ महर्षि गौतम प्रणीत न्यायसूत्र माना जाता है। परन्तु ऐसा नहीं समझना चाहिए कि न्यायशास्त्र का प्रारम्भ ही इदम्प्रथमतया महर्षि गौतम से ही हुआ है। किसी भी पौरुषेय विचार-परम्परा के उद्गम को इस तरह समझा भी नहीं जा सकता। भारतीय परम्परा में इस प्रश्न को कभी तूल ही नहीं दिया गया कि विभिन्न शास्त्र परम्पराओं का उद्भव कब और कैसे हुआ। यही माना गया कि वेद की तरह समस्त विद्याएं अनादि काल से चली आ रही हैं। उपनिषदों में सन्दर्भित ''वाकोवाक्यम्'', कौटिल्य द्वारा आन्वीक्षिकी विद्या के रूप में न्याय विस्तर-न्यायशास्त्र की प्रशस्ति और चरक संहिता इत्यादि में न्यायशास्त्र के बहुश: उल्लेख से इस शास्त्र-परम्परा की प्राचीनता ही द्योतित होती है। इसके अतिरिक्त स्वयं न्यायसूत्रों में उद्धृत विभिन्न पूर्वपक्षों एवं उनके समाधानों के अवलोकन से भी यह बात सुस्पष्टतया ही विदित होती है कि न्यायसूत्र से पूर्व में भी एक लम्बे समय तक न्यायशास्त्र की वाचिक परम्परा प्रवर्द्धमान रही होगी। हाँ, महर्षि गौतम ने इसे इदम्प्रथमतया सूत्रबद्ध अवश्य किया है। सम्प्रति उपलब्ध न्यायसूत्रों की प्रचलित व्यवस्था एवं सरणि में वाचस्पति मिश्र के न्यायसूची निबन्ध के अनुसार ५ अध्याय, १० आह्निक, ८४ प्रकरण, ५२८ सूत्र, १,९६६ पद एवं ८,३८५ अक्षर हैं। यद्यपि न्यायशास्त्रीय विचार-परम्परा का इस रूप से सूत्रबद्धीकरण भी एक ऐतिहासिक प्रक्रिया में हुआ है अथवा समस्त न्यायसूत्र अविच्छिन्न रूप से महर्षि गौतम द्वारा ही प्रणीत हुए हैं, यह प्रश्न अभी भी विवादास्पद ही बना हुआ है। न्याय-परम्परा के अन्दर भी न्यायसूत्रों की संख्या और क्रम को लेकर पूर्ण मतैक्य नहीं है। जो भी हो, सूत्रबद्ध होने के पश्चात् एक मोक्षशास्त्र और एक प्रमाण विद्या के रूप में न्यायशास्त्र का न केवल बहुआयामी विकास हुआ बल्कि भारतीय शास्त्र परम्पराओं के समग्र विकास को इसने सर्वाधिक प्रभावित भी किया है। प्रमाण विद्या के रूप में इसकी प्रशस्ति तो सर्वतंत्र स्वतंत्र जैसी रही है। भारत में उद्भूत कोई भी शास्त्र-परम्परा न्यायशास्त्रीय विचार-पद्धति के अनुकरण से अछूती नहीं कही जा सकती। न्यायसूत्रानुसारी भाष्य, वार्त्तिक, तात्पर्यटीका, परिशुद्धि, प्रकाश और अनेकानेक प्रकरण ग्रन्थों के माध्यम से प्राचीन न्यायशास्त्र, नव्यन्याय पर्यन्त, अपने स्वकीय विकास को जितने लम्बे समय तक अनवरत रूप में कायम रखा है और पूर्वपक्षों के प्रति सहिष्णुता को बरतते हुए इसने अपने को जितने विवेचित एवं खुलेपन के साथ प्रस्तुत किया है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ ही है। ब्राह्मण और बौद्ध परम्परा के मध्य लगभग एक हज़ार वर्षों के दार्शनिक संघर्ष में न्यायशास्त्र ने ही केन्द्रीय और निर्णायक भूमिका का निर्वाह किया है। यद्यपि इस अन्तराल में न्यायशास्त्र अनेक प्रकार के प्रबल

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu. Collection.

और विस्थापक प्रहारों का सामना करना पड़ा लेकिन प्रत्येक स्तर पर उसने अपना परिमार्जन और परिष्कार करते हुए समस्त प्रतिवादों के आगे अपने तंत्र को उत्तरोत्तर समृद्धि के साथ प्रतिष्ठापित किया है।

द्रष्टव्य है कि न्यायसूत्रों की संरचना अनूठी या कहें कि कुछ विचित्र प्रकार की है। न्यायसूत्रों के प्रथम अध्याय में न्यायसूत्रों के जो प्रतिपाद्य विषय प्रमाण-प्रमेय आदि सोलह तत्त्व हैं, उन समस्त तत्त्वों का विवेचन पूर्ण हो जाता है। द्वितीय अध्याय से आगे के सूत्रों में उन तत्त्वों की अवधारणा के सम्बन्ध में उठने वाले पूर्वपक्षों तथा आपत्तियों का समाधान प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार की संरचना किसी अन्य सूत्र-ग्रन्थ की प्राप्त नहीं होती है। अन्य सूत्र-ग्रन्थों में भी पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष के सूत्र प्राप्त होते हैं लेकिन न्यायसूत्रों की व्यवस्था का वैशिष्ट्य इस बात में निहित है कि इसमें लक्षण सूत्रों और परीक्षा सूत्रों को सर्वथा एक-दूसरे से अलग रखा गया है। न्यायसूत्र के प्रथम अध्याय तथा आगे के अध्यायों के मध्य यह विषयगत तथा शैलीगत अन्तर अनेक विद्वानों के इस प्रकार के आकलनों को भी आधार प्रदान करता है कि न्यायसूत्रों की रचना एक विशेष कालावधि में अविच्छिन्न रूप से नहीं हुई है अथवा यह कि न्यायसूत्र का प्रथम अध्याय किसी अन्य लेखक की रचना है तथा द्वितीय से लेकर पञ्चम अध्याय पर्यन्त सूत्रों का लेखक कोई और है। इस प्रकार के निष्कर्ष को प्रस्तुत करने का मुख्य आधार यह है कि नागार्जुन द्वारा प्रणीत वैदल्यसूत्र में केवल न्यायसूत्रों के प्रथम अध्याय के ही समस्त लक्षण सूत्रों का एक-एक कर सूत्रानुसारी खण्डन किया गया है। नागार्जुन द्वारा द्वितीयादि अध्यायों के किसी सूत्र का खण्डन नहीं किया गया है। यदि नागार्जुन के समक्ष सम्पूर्ण न्यायसूत्र उपलब्ध होते तो क्या कारण है कि नागार्जुन द्वितीयादि अध्यायों के सूत्रों की आलोचना करना आवश्यक नहीं समझते, जबकि नागार्जुन ने उक्त ग्रन्थ में तर्कज्ञान के अभिमान से जो वाद करना चाहता है, उसके अहङ्कार का विदलन करने के लिए वैदल्यसूत्रों का प्रणयन किया है। यदि नागार्जुन का उद्देश्य न्यायसूत्रकार के अभिमान का शातन करना था तो निश्चय ही नागार्जुन को समस्त न्यायसूत्रों का खण्डन करना चाहिए था। वास्तविकता जबकि यह है कि केवल प्रथम अध्याय के लक्षण निर्देशक सूत्रों का खण्डन ही नागार्जुन करता है। इसके अतिरिक्त न्यायसूत्रों के दो लेखकों के द्वारा प्रणीत होने का आधार यह भी बनता है कि द्वितीय अध्याय से आगे के सूत्रों में बहुधा नागार्जुन द्वारा किए गए न्यायसूत्रों के खण्डन के खण्डन का आभास प्राप्त होता है। न केवल इतना ही अपितु न्यायसूत्रों की जो संरचना है वह भी कुछ सन्देह के बीज आरोपित करती हुई प्रतीत होती है। न्यायसूत्रों के द्वारा जिन सोलह तत्त्वों के प्रतिपादन की प्रतिज्ञा प्रथम सूत्र में की गई है, उन समस्त तत्त्वों का प्रतिपादन प्रथम अध्याय में पूरा हो जाता

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

है। द्वितीय अध्याय से लेकर पाँचवे अध्याय तक के सूत्रों में प्रथम अध्याय में प्रतिपादित तत्त्वों के विषय में ही अनेक पूर्वपक्षों को उठाकर उनका समाधान किया गया है। यह सभी प्रमुख बिन्दु यह सन्देह अवश्य छोड़ते हैं कि क्या सचमुच में प्रथम अध्याय मात्र का प्रणयन गौतम या अक्षपाद के द्वारा तो नहीं किया गया था ? न्यायसूत्रकार के पक्ष का बचाव तथा समस्त न्यायसूत्रों के एक ही लेखक के द्वारा प्रणीत होने की बात वात्स्यायन यह कहकर सत्यापित करने का प्रयास करते हैं कि न्यायसूत्रों का व्यवस्थापन त्रिविध प्रकार से अर्थात् उद्देश्य, लक्षण तथा परीक्षा विधि से हुई है। प्रथम अध्याय में समस्त सोलह तत्त्वों का उद्देश्य तथा लक्षण पूरा हो जाता है, और आगे के सूत्रों में परीक्षा की जा रही है।

समस्त न्यायसूत्र एक ही लेखक की रचना है। इस निष्कर्ष पर पहुँचने का आधार यह है कि वस्तुतः समस्त सूत्र-ग्रन्थों की संरचना ऐसी ही है, जिसमें उद्देश्य, लक्षण तथा परीक्षा की पद्धति अपनाई गई है और न्यायसूत्र में भी इसी पद्धति का अनुसरण करते हुए विवक्षित विषयों का प्रतिपादन किया गया है। यहाँ एक बात अवश्य ध्यातव्य है कि जिस प्रकार से न्यायसूत्रों में उद्देश्य तथा लक्षण सूत्रों को परीक्षा सूत्रों से बिल्कुल ही अलग कर दिया गया है, वैसी व्यवस्था और प्रतिपादन शैली अन्य शास्त्र परम्पराओं के सूत्र-ग्रन्थों में देखने को नहीं मिलती। वस्तुतः इसको इस ग्रन्थ की स्वकीय विशिष्टता ही माननी चाहिए। इसी से इस ग्रन्थ के लेखक का तर्कज्ञानाभिमान प्रकट भी होता है, जिसकी ओर नागार्जुन ने वैदल्यसूत्र के उद्देश्य-कथन में सङ्केत किया है। द्वितीयतः विविध पक्षों का जिनका उल्लेख द्वितीयादि अध्यायों में प्राप्त होता है, उनमें से अनेक का खण्डन विग्रहव्यावर्त्तनी आदि ग्रन्थों में नागार्जुन ने किया है, ऐसा प्रतीत होता है। इन कारणों से ऐसा मानना अधिक उचित दिखता है कि यह माना जाए कि समस्त न्यायसूत्रों का लेखक कोई एक ही है। यह मानना कि द्वितीयादि अध्यायों का निर्माण किसी अन्य ने अर्थात् वात्स्यायन ने आत्मगोपनपूर्वक कर दिया हो, ऐसी मान्यता को युक्तिसम्मत नहीं कहा जा सकता। इतनी बड़ी परिघटना की तरफ किसी-न-किसी ने संकेत अवश्य किया होता, और यह बात परम्परा में छिपती नहीं।

न्यायसूत्रकार तथा न्यायभाष्यकार में समय का पर्याप्त अन्तराल है। न्यायसूत्रों के प्रणयन के प्रायशः ३०० से ४०० वर्षों के अन्तराल पर न्यायभाष्य का प्रणयन वात्स्यायन के द्वारा किया गया है। इस कारण न्यायसूत्रों का अनेक स्थलों पर मन्तव्य क्या है यह भी न्यायभाष्यकार को सुस्पष्ट नहीं हो पाया है। इसकी बानगी विविध सूत्रों पर देखी जा सकती है। उदाहरण के तौर पर इसके लिए प्रत्यक्षलक्षणसूत्र को लिया जा सकता है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

यहाँ पर न्यायसूत्र का जो तात्पर्य है, उसके समीप भी वात्स्यायन पहुँच पाए हैं, ऐसा लगता नहीं। न्यायभाष्य की व्याख्या करते समय न्यायवार्त्तिककार उद्योतकर इसका सङ्केत छोड़ते हैं। वस्तुतः न्यायभाष्यकार के सामने चुनौतियाँ विकट थीं। उनको प्राथमिक रूप से न्यायसूत्रों पर ऐसा भाष्य लिखना था जिससे कि बौद्धों के द्वारा विशेषतः नागार्जुन के द्वारा न्यायसूत्रों पर जो भी आक्षेप लगाए गए थे, उनका प्रतिवाद किया जा सके। नागार्जुन की आलोचनाएँ बहुत ही विध्वंसक किस्म की थीं। इन बौद्ध आचार्यों की आलोचनाओं के आलोक में अनेक न्यायसूत्रों के द्वारा उपस्थापित पक्ष अत्यन्त कमजोर से दिखाई देते हैं। इस कारण यह पक्ष अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, जिसको भाष्यकार ने साम्प्रदायिक निष्ठा और सैद्धान्तिक संवेदनशीलता के साथ निभाया है। इसी प्रकार के प्रयास न्यायवार्त्तिककार, तात्पर्यटीकाकार तथा परिशुद्धिकार ने भी किए हैं क्योंकि न्याय तथा बौद्ध परम्पराओं का वाद-प्रतिवाद सुदीर्घकाल तक चलता रहा और एक-दूसरे के प्रत्युत्तर के प्रयास में अधिकांश आकर ग्रन्थ दोनों ही परम्पराओं में प्रणीत हुए हैं। इस कारण स्वपक्षों को पुनः-पुनः नवीन रूप से व्याख्यायित करने की आवश्यकता दोनों ही परम्पराओं में सदैव बनी रही।

जिस प्रकार कोई भी वृक्ष अपने मूल से विच्छिन्न होकर जीवित नहीं रह पाता उसी प्रकार कोई भी दीर्घजीवी परम्परा अपने मूल का परित्याग नहीं कर सकती। इसी कारण न्यायशास्त्र की यथोचित एवं गम्भीर समझ के लिए न्यायसूत्रों तथा न्यायभाष्य के अभिप्राय का परिज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। शास्त्रीय व्याख्याओं के बारे में प्रायः हम एक बहुत बड़ी भूल के शिकार हो जाते हैं। सामान्यतया लोग समझते हैं कि उद्योतकर ने न्यायसूत्रों और न्यायभाष्य के अभिप्राय को स्फोरित करने के लिए अपना न्यायवार्त्तिक लिखा था। इसी प्रकार तात्पर्यटीका का प्रणयन भी न्यायवार्त्तिक का तात्पर्य बताने के लिए किया गया है। पुनः परिशुद्धि का प्रणयन तात्पर्यटीका का अभिप्राय बताने के लिए किया गया। इस प्रकार की विविध धारणाएँ जनसामान्य के मन में व्याप्त हैं। परंतु वस्तुस्थिति इसके बिल्कुल विपरीत है। ये शास्त्रीय व्याख्याएँ सामान्यतया अपने मूल ग्रन्थों का अभिप्राय बताने के लिए या उनके तात्पर्य को स्फोरित करने के लिए ही नहीं लिखी गई हैं, बल्कि ये समस्त व्याख्याएँ अपने मूल ग्रन्थों पर आने वाले आक्षेपों का निराकरण करने तथा स्वयूथ्य विचारों को एक नई भावभूमि पर प्रतिष्ठापित करने के उद्देश्य से लिखी गई हैं। शास्त्रीय व्याख्याओं में कुछेक व्याख्याएँ ही इस प्रकार की प्राप्त होती हैं, जो मूल के अभिप्राय का केवल स्फोरण मात्र करती हों। इस प्रकार ये समस्त शास्त्रीय व्याख्याएँ अधिकारी विद्वानों को ही दृष्टिगत रखते हुए लिखी गई हैं। पिछली शताब्दियों में लिखी गई कुछेक व्याख्याएँ अवश्य इसका अपवाद हैं।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

न्यायसूत्रों तथा न्यायभाष्य पर अभी तक जितनी भी व्याख्याएँ आधुनिक भाषाओं में हुई हैं उनमें महामहोपाध्याय फणिभूषण तर्कवागीश द्वारा प्रणीत प्रस्तुत व्याख्या उन सभी में सर्वप्रमुख स्थान संरक्षित करती है। यह व्याख्या केवल मूल के अभिप्राय का स्फोरण नहीं करती अपितु उसके साथ-साथ उन-उन विषयों पर न्यायवार्त्तिक, तात्पर्यटीका, तात्पर्यपरिशुद्धि, विश्वनाथ कृत न्यायवृत्ति एवं जयन्त भट्ट की न्यायमंजरी इत्यादि विभिन्न व्याख्याओं, उपव्याख्याओं में क्या-क्या विचार किन-किन प्रसंगों में मौलिक रूप से सामने आए हैं, उनसे भी सुपरिचित करा देती है। इस कारण पाठक को स्वल्प प्रयास में ही प्रामाणिक रूप से न केवल न्यायसूत्र तथा न्यायभाष्य के अभिप्रायों का बोधन हो जाता है, अपितु न्यायशास्त्रीय सिद्धान्तों का किस प्रकार परिमार्जन, परिवर्द्धन तथा परिष्करण उद्योतकर, वाचस्पति मिश्र, उदयनाचार्य आदि के ग्रन्थों में हुआ है, उनसे भी अध्येता सामान्य रूप में परिचित हो जाता है। महामहोपाध्याय फणिभूषण तर्कवागीश द्वारा न्यायसूत्रों का यह भाष्य अनेक स्वनामधन्य विद्वानों द्वारा किए गए अनुरोध पर बङ्ला भाषा में किया गया था। भारत की वैदुष्य-परम्परा तथा दार्शनिक-परम्परा लेखन की अपेक्षा श्रुति पर अधिक आधारित रही है। ग्रन्थों को लिखने की अपेक्षा पारम्परिक रूप से विद्यार्थियों को पढ़ाने में अधिक सार्थकता का अनुभव हमारे आचार्यगण किया करते थे। इसी कारण महामहोपाध्याय फणिभूषण तर्कवागीश द्वारा भी अनेक ग्रन्थों का प्रणयन नहीं किया गया। पाँच खण्डों में पूर्ण यह ग्रन्थ भी विविध विद्वानों के अनुरोध से लिखा जाकर बङ्गीय साहित्य परिषद्, कलकत्ता से प्रकाशित हुआ था। मिथिला में विकसित नव्यन्याय की विकास-परम्परा बंगाल में अपना आश्रय ग्रहण करती है। इसी कारण वासुदेव सार्वभौम, रघुनाथ शिरोमणि, जगदीश भट्टाचार्य, गदाधर भट्टाचार्य इत्यादि स्वनामधन्य नव्यनैयायिकों की कर्मस्थली बंगाल लम्बे समय तक न्यायशास्त्र के विद्वानों का गढ़ रहा। बंगाल में नव्यनैयायिकों की उसी परम्परा के ध्वजवाहक महामहोपाध्याय फणिभूषण तर्कवागीश रहे।

बीसवीं शताब्दी के लब्धप्रतिष्ठित नैयायिकों एवं विद्वानों में महामहोपाध्याय फणिभूषण तर्कवागीश कितने प्रतिष्ठित आचार्य रहे, इसको मात्र इसी तथ्य से समझा जा सकता है कि बीसवीं शताब्दी के अनेक स्वनामधन्य तथा विख्यातकीर्ति नैयायिक उनके साक्षात् शिष्य रहे हैं। ऐसे विख्यातकीर्ति उनके शिष्यों में आचार्य बदरीनाथ शुक्ल, पण्डित आनन्द मिश्र, पण्डित कृष्णमाधव झा, महेश झा, पण्डित दुर्गाधर झा, पंचानन शास्त्री, पण्डित गोपीनाथ भट्टाचार्य, यादवेन्द्र न्यायतर्कतीर्थ, डॉ. गौरीनाथ शास्त्री, प्रो. सिद्धेश्वर भट्टाचार्य, प्रो. अनन्तलाल ठाकुर, प्रो. दिनेशचन्द्र गुहा, प्रो. विष्णुपद भट्टाचार्य इत्यादि अन्यतम रूप से परिगणित किए जा सकते हैं। ऐसी समृद्ध

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

शिष्य-परम्परा जिस आचार्य की रही हो वह कितना सौभाग्यशाली रहा होगा, इस विषय में कुछ अधिक कहने की आवश्यकता ही नहीं है। ऐसे ही आचार्यों की स्वार्जित एवं शिष्योपार्जित सारस्वत समृद्धि से शास्त्र परम्पराओं को समय-समय पर उज्जीवन प्राप्त होता रहता है। आधुनिक भाषाओं में ऐसे अनेक व्याख्यान उपलब्ध हैं, जिनमें मूल के अभिप्राय का स्फोरण करने का प्रयास व्याख्याकारों ने किया है। उनमें महामहोपाध्याय फणिभूषण तर्कवागीश की यह व्याख्या प्राचीनतम और समृद्धतम है। यद्यपि हम अपने सीमित ज्ञान के आधार पर ऐसा निर्धारण करने में अपने आपको नितान्त असमर्थ पाते हैं तथापि महामहोपाध्याय फणिभूषण तर्कवागीश द्वारा प्रणीत यह व्याख्यान आधुनिक भाषाओं में लिखे गए प्राचीनतम व्याख्यानों में अत्युच्च कोटि की है, इसमें हमें सन्देह नहीं। हमें विश्वास है कि इस व्याख्यान का महत्त्व आधुनिक भाषाओं में लिखे गए न्यायसूत्र तथा न्यायभाष्य के व्याख्यानों में सर्वातिशायी है।

साहित्य की समृद्धि तथा ज्ञान के भण्डार के दृष्टिकोण से आधुनिक भाषाओं में बङ्ला भाषा एक अत्यन्त समृद्ध भाषा है। परन्तु बङ्ला भाषा को जानने तथा समझनेवालों की संख्या निश्चय ही हिन्दी भाषा-भाषियों से कम है। प्रस्तुत ग्रंथ मूलतः बङ्ला भाषा में होने के कारण बङ्ला भाषा को न जानने वाले न्यायशास्त्र के विद्वान् तथा अध्येताओं का इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व्याख्यान से परिचय नहीं हो पा रहा था। इस कारण न्यायशास्त्र के जिज्ञासु एक विशिष्ट ग्रन्थ के अध्ययन से वंचित हो रहे थे। हिन्दी भाषा इस समय बोलने वालों की संख्या की दृष्टि से चीनी भाषा के बाद द्वितीय स्थान पर है। इस विशाल जनसमूह को इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व्याख्यान से परिचित कराना अपने-आप में अतीव महत्त्वपूर्ण कार्य है। इसी महनीय उद्‌देश्य को ध्यान में रखते हुए हम लोगों के भूरिशः विनम्र आग्रह और निवेदन को स्वीकार कर आचार्य किशोरनाथ झा इस बङ्ला व्याख्यान के हिन्दी अनुवाद के कार्य में प्रवृत्त हुए। प्रत्येक भाषा की अपनी विशिष्टता होती है, इसी कारण अनेक ऐसे कथ्य होते हैं, जिनको कि भाषान्तरित कर पाना प्रायशः असम्भव सा होता है। इसी कारण अनुवाद के कार्य को अत्यन्त कठिन कार्य माना जाता है। सफलतापूर्वक भाषानुवाद कर लेने के पश्चात् भी वैचारिक अन्विति और सैद्धान्तिक परिष्कार और भी कठिन कार्य होता है। परन्तु अनुवादक और परिष्कर्त्ता सम्पादक अपने श्रम के अनुरूप यश नहीं प्राप्त करते। उनको यह सन्तोष मात्र होता है कि उन्होंने एक महत्त्वपूर्ण तथा अद्यावधि अनूद्य भाषा में दुर्लभ ग्रन्थ को सुलभ बना दिया है। इस कारण निस्पृह भाव से हिन्दी भाषा को समृद्ध बनाने के उद्देश्य से मूलतः बङ्ला में रचित इस व्याख्यान को हिन्दी भाषा में अनूदित करने वाले आचार्य किशोरनाथ झा निश्चित रूप से कोटिशः साधुवाद के पात्र हैं। सेवानिवृत्ति के उपरान्त वृद्धावस्था में

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अनेक कठिन परिस्थितियों में स्वास्थ्य आदि के असौकर्य को सहन करते हुए इस अनुवाद का कार्य उन्होंने किया है। वस्तुतः आचार्य किशोरनाथ झा का यह कार्य गुरुओं के प्रति उनकी श्रद्धा-भावना से प्रतिफलित हुआ है। वे दो प्रकार से महामहोपाध्याय फणिभूषण तर्कवागीश की शिष्य-परम्परा में आते हैं। प्रथमतः वे महामहोपाध्याय फणिभूषण तर्कवागीश के साक्षात् शिष्य पण्डित कृष्णमाधव झा के पुत्र हैं। द्वितीयतः इनके गुरु आचार्य अनन्तलाल ठाकुर भी महामहोपाध्याय फणिभूषण तर्कवागीश के अन्यतम शिष्यों में रहे हैं। इस कारण एक श्रद्धालु शिष्य का जो दायित्व है, उसी का ''शास्त्रेषु निष्ठा'' के साथ वहन करते हुए इस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद वह कर रहे हैं। इस खण्ड के प्रकाशित होने के बाद शीघ्र ही द्वितीय खण्ड भी प्रकाशित हो सकेगा। उनका तथा हम दोनों का ही सङ्कल्प यही है कि पाँच भागों में विभक्त इस सम्पूर्ण बङ्ला भाषा में किए व्याख्यान का न्यायसूत्र और न्यायभाष्य के साथ हिन्दी अनुवाद यथाशीघ्र सम्पूर्ण हो। इस कार्य को करते हुए बङ्ला की समझ न रखने वाले विद्वानों, विद्यार्थियों तथा शोधार्थियों पर जो उपकार आचार्य किशोरनाथ झा जी ने किया है, उसके लिए वर्तमान पीढ़ी और आगामी पीढ़ी के न्यायशास्त्र के जिज्ञासु उनके प्रति कृतज्ञ होंगे। साथ ही साथ ईश्वर से हम प्रार्थना करते हैं कि वे आचार्य किशोरनाथ झा जी को सुदीर्घ और स्वस्थ जीवन प्रदान करें, जिससे कि वे इस सम्पूर्ण ग्रन्थ को हिन्दी भाषा में पाठकों के समक्ष लाने के अपने और हम दोनों के सारस्वत सङ्कल्प को पूरा कर सकें तथा इसी प्रकार माता सरस्वती की सेवा आगे भी करते रहें।

इस तरह 'न्यायदर्शन : महामहोपाध्याय फणिभूषण तर्कवागीशकृत बङ्ला व्याख्यान संवलित' (न्यायसूत्र, प्रथम अध्याय, द्वितीय आह्निक पर्यन्त) का राष्ट्रभाषा हिन्दी में प्रकाशन हो रहा है, यह हम लोगों के लिए और हिन्दी भाषा-भाषियों के लिए अतीव हर्ष की बात है। इस हर्ष को और भी अतिरेक प्रदान करने वाली बात यह है कि इसका प्रकाशन भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद् के द्वारा हो रहा है जो इस देश में दार्शनिक उन्नयन हेतु कटिबद्ध शीर्ष संस्था है। इसके लिए हम लोग भारतीय दार्शनिक अनुसंधान के अध्यक्ष प्रो. मृणाल मीरी, सदस्य सचिव डॉ. निर्मल्य नारायण चक्रवर्ती और डॉ. मर्सी हेलन तथा डॉ. अरुण मिश्र का हृदय से आभार मानते हैं। साथ ही साथ प्रो. पी.के. मुखोपाध्याय के प्रति उनके साधकतम सहयोग के लिए भी हृदय से कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं। यद्यपि हम लोगों ने अपनी तरफ से इस कार्य को पूरा करने में अधिक-से-अधिक अकादमिक संवेदनशीलता बरतने का प्रयास किया है, तथापि मानवीय प्रयासों की अपूर्णता और उसका सर्वथा निर्दुष्ट न होना उसकी नियति होती है। अतः हम लोग

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अपनी समस्त ज्ञात-अज्ञात भूलों के साथ विनयपूर्वक इस ग्रन्थ को लोकार्पित करते हैं। आशा है कि यह ग्रन्थ राष्ट्रभाषा में आन्वीक्षिकी विद्या के वाङ्मय को किंचित् समृद्धि प्रदान करते हुए हिन्दी भाषा-भाषियों के लिए उपकारी होगा।

विजयादशमी **अम्बिकादत्त शर्मा**

३ अक्टूबर २०१४, सागर **सच्चिदानन्द मिश्र**

◈◈◈

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

सूत्र और भाष्य में उक्त विषयों की सूची

प्रथम आह्निक

- प्रमाण का प्रामाण्य न तो स्वत:सिद्ध होता है और न ही परतः। अतः प्रमाण के प्रामाण्य का निश्चय किसी तरह से संभव नहीं होने से प्रमाण से किसी पदार्थ का तत्त्व निश्चय नहीं हो सकता। इसके उत्तर में परत:प्रामाण्यवादी भाष्यकार के द्वारा भाष्य के आरंभ में प्रमाणपदार्थ के अर्थवत्त्व रूप प्रामाण्य के साधक हेतु का उल्लेख, प्रमाण के अर्थवत्त्व का कथन और इससे अर्थात् प्रमाण से प्रामाण्य के साधक रूप में अनुमान का प्रदर्शन और पश्चात् उपर्युक्त प्रमाण के अर्थ सुख तथा दुःख आदि का अनियम्यत्व एवं उसके साधक हेतु का कथन। (पृ. ६८)
- प्रमाण के अर्थवत्त्व प्रयुक्त प्रमाता,प्रमेय और प्रमिति का अर्थवत्त्व और उसके हेतु का कथन। संक्षेप में प्रमाता, प्रमाण और प्रमिति के स्वरूप की व्याख्या। इन चारों के रहने पर ही तत्त्व की परिसमाप्ति का कथन। (पृ. ७८)
- तत्त्व क्या है – इस प्रश्न के उत्तर में भाव तथा अभाव रूप द्विविध तत्त्व का उल्लेख और उसकी व्याख्या। पश्चात् अभाव पदार्थ का किस प्रकार प्रमाण से बोध होता है – इस प्रश्न के उत्तर में युक्ति और दृष्टान्त के द्वारा भाव पदार्थ के बोधक प्रमाण ही अभाव पदार्थ का बोधक होता है – इस सिद्धान्त का प्रतिपादन। भाव पदार्थ भी संक्षेप में सोलह प्रकार के उपदिष्ट होंगे – यह कहकर प्रथम सूत्र का अवतरण। (पृ. ८०-८२)
- प्रथम सूत्र के भाष्य में सूत्रोक्त प्रथम पद के व्यास वाक्य में किस प्रकार के वचन का प्रयोग होगा – कहकर द्वन्द्व समास का कथन। इस पद की शेष सम्बन्ध में षष्ठी विभक्ति का कथन और तत्त्वस्य ज्ञानं तथा निःश्रेयसस्याधिगमः इन दोनों व्यास-वाक्यों में कर्म में षष्ठी विभक्ति का कथन। सोलह पदार्थ ही न्यायशास्त्र

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

के प्रतिपाद्य हैं – इसी दृष्टि से प्रथम सूत्र में सभी पदार्थों का उद्देश हुआ है। (पृ. ८५)

✦ इन सोलह पदार्थों में द्वितीय पदार्थ प्रमेय आत्मा आदि का तत्त्वसाक्षात्कार ही मिथ्याज्ञान की निवृत्ति के द्वारा मुक्ति का चरम कारण होता है – यह द्वितीय सूत्र में कहा गया है। महर्षि के इस सिद्धान्त को अभिव्यक्त करके इसके समर्थन हेतु हेय, हान,उपाय और अधिगन्तव्य रूप चार अर्थों के सम्यक् ज्ञान से मुक्ति का लाभ होता है – इस प्रसिद्ध सिद्धान्त का उल्लेख हुआ है। (पृ. ८७)

✦ प्रमाण तथा प्रमेय के कहने से ही शेष चौदह पदार्थ उक्त होते हैं। क्योंकि संशय आदि चौदह पदार्थ यथासंभव इन प्रमाण और प्रमेय पदार्थ में अन्तर्भूत हैं। अतएव इन संशय आदि चौदह पदार्थों का पृथक् उल्लेख व्यर्थ है – इस पूर्वपक्ष का उपपादन एवं उत्तरपक्ष का कथन। संशय आदि चौदह पदार्थ ही इस आन्वीक्षिकी विद्या के पृथक् प्रस्थान के साधक तथा असाधारण प्रतिपाद्य हैं। अतः इनका पृथक् उल्लेख अवश्य कर्त्तव्य है। अन्यथा यह विद्या उपनिषद् की तरह केवल अध्यात्म विद्या हो जाएगी। (पृ. ९०)

✦ संशय पदार्थ के न्यायाङ्गत्व के कारण पृथक् उल्लेख की आवश्यकता का कथन। (पृ. ९२)

✦ प्रयोजन पदार्थ के स्वरूप की व्याख्या तथा न्यायाङ्गत्व के समर्थन के द्वारा पृथक् उल्लेख। (पृ. ९३)

✦ न्याय क्या है – इस प्रश्न के उत्तर में अनुमान या अन्वीक्षा रूप न्याय की व्याख्या और इससे आन्वीक्षिकी पद की व्युत्पत्ति की व्याख्या। न्यायविद्या या न्यायशास्त्र ही आन्वीक्षिकी है। प्रत्यक्ष एवं आगम का विरोधी अनुमान न्याय नहीं न्याय का आभास है। (पृ. ९३)

✦ सभी कर्मों का प्रयोजन होता है। अतएव वितण्डा का भी प्रयोजन होता है। प्रयोजनरहित वितण्डावादी और शून्यवादी वैतण्डिक सम्प्रदाय के मत का खण्डन और वितण्डा का स्वपक्ष सिद्धिरूप प्रयोजन का समर्थन। (पृ. १०१-१०४)

✦ दृष्टान्त पदार्थ की स्वरूप व्याख्या तथा इसके पृथक् उल्लेख के कारणों का वर्णन। (पृ. १०६)

✦ सिद्धान्त पदार्थ के स्वरूप का कथन एवं पृथक् उल्लेख का कारण कथन। (पृ. १०७)

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

- अवयव पदार्थ की स्वरूप व्याख्या, प्रतिज्ञा आदि अवयव चतुष्टय में प्रमाणचतुष्टय का समवाय कथन तथा अवयव पदार्थ के पृथक् उल्लेख का कारण कथन। (पृ. ११०-१११)
- तर्क पदार्थ प्रमाण से भिन्न होता है किन्तु यह सभी प्रमाणों का अनुग्राहक या सहकारी होता है। तर्क का उदाहरण प्रदर्शन एवं पृथक् उल्लेख का कारण कथनं। (पृ. ११३)
- निर्णय पदार्थ का स्वरूप और प्रयोजन का कथन तथा पृथक् उल्लेख का कारण कथन। (पृ. ११५)
- वाद, जल्प और वितण्डा पदार्थ का स्वरूप एवं प्रयोजन कथन तथा पृथक् उल्लेख का कारण कथन। (पृ. ११६)
- चरम पदार्थ निग्रहस्थान के मध्य हेत्वाभास पदार्थ का उल्लेख होने पर भी उसके पृथक् उल्लेख का कारण कथन। (पृ. ११७)
- छल, जाति और निग्रहस्थान पदार्थों के पृथक् उल्लेख के कारण का कथन। (पृ. ११९)
- आन्वीक्षिकी विद्यारूप न्यायविद्या की प्रशंसा, चार विद्याओं में त्रयी, वार्त्ता और दण्डनीति के साथ अध्यात्मविद्यारूप न्यायविद्या का विशेष प्रदर्शन हेतु आत्मा आदि प्रमेय पदार्थों का ज्ञान रूप तत्त्वज्ञान और उसके फलरूप में नि:श्रेयस का कथन। (पृ. १२०)
- द्वितीय सूत्र का अवतरण। इस सूत्र में परामुक्ति के क्रमवर्णन द्वारा आत्मा आदि प्रमेयों के तत्त्व के साक्षात्कार को उस मुक्ति के चरम कारण का कथन तथा इस मुक्ति को न्यायशास्त्र का मुख्य प्रयोजन कथन रूप सिद्धान्त की सूचना। (पृ. १२३-१२४)
- इस द्वितीय सूत्र के भाष्य में यथाक्रम आत्मा आदि मोक्षपर्यन्त प्रमेय पदार्थों के विषय में नाना प्रकारों के मिथ्या ज्ञान का वर्णन तथा इसके विपरीत प्रकार के सभी प्रमेयों के तत्त्वज्ञान का वर्णन। (पृ. १२८-१३१)
- तृतीय सूत्र के अवतरण से पहले भाष्य में न्यायशास्त्र की तीन प्रकार की प्रवृत्ति उद्देश, लक्षण और परीक्षा का कथन एवं व्याख्या। न्यायशास्त्र में पदार्थ विभाग के द्वैविध्य का वर्णन। (पृ. १३९)

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

- तृतीय सूत्र में प्रमाण पदार्थ के सामान्य लक्षण की सूचना तथा प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द रूप प्रमाण चतुष्टय के उल्लेख से प्रमाण का विभाग। (पृ. १४१)
- तृतीय सूत्र के भाष्य में पहले प्रमाणबोधक प्रत्यक्ष शब्द की व्युत्पत्ति की व्याख्या से सन्निकर्ष एवं तज्जन्य यथार्थज्ञान रूप द्विविध प्रमाण और उसका फल कथन। (सन्निकर्ष रूप प्रमाण का फल प्रत्यक्षज्ञान और उस ज्ञानरूप प्रमाण का फल हान, उपादान तथा उपेक्षा बुद्धि होती है) पश्चात् अनुमान, उपमान तथा शब्द आदि नाम की व्युत्पत्ति की व्याख्या और प्रमाण शब्द की व्युत्पत्ति की व्याख्या से संक्षेप में प्रमाण सामान्य का लक्षण कथन। (पृ. १४४)
- किसी-किसी विषय में अनेक प्रमाणों का संकर रूप ''प्रमाण संप्लव'' का और किसी-किसी विषय में केवल एक प्रमाण की व्यवस्था का उदाहरण प्रदर्शन। अन्य में प्रमाण संप्लव मानने में युक्ति। (पृ. १५५-१५६)
- चतुर्थ सूत्र में प्रत्यक्ष का लक्षण। भाष्य में प्रत्यक्ष के लक्षण में आत्ममनः संयोग और इन्द्रियमनः संयोग के अनुल्लेख के कारण का कथन। अव्यपदेश्यं पद के प्रयोजन की व्याख्या में शब्द तथा अर्थ की अभिन्नता मत का समर्थन एवं खण्डन। अव्यभिचारि एवं व्यवसायात्मकं इन दो पदों के प्रयोजन की व्याख्या। संशय मात्र ही मानसज्ञान है – इस मत का खण्डन। गौतम के मत में मन भी इन्द्रिय है। अतएव मानस प्रत्यक्ष में इस लक्षण के रहने से उसका पृथक् से लक्षण नहीं कहना है। मनस् के इन्द्रिय होने पर भी इन्द्रिय से मन के पृथक् उल्लेख का कारण कथन, गौतम के मत में मत का इन्द्रियत्व किस प्रकार ज्ञात होता है – इस विषय में अन्य हेतुओं का उल्लेख। (पृ. १६१-१९३)
- पञ्चम सूत्र में अनुमान का लक्षण और विभाग। भाष्य में अनुमान लक्षण की व्याख्या – पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट रूप तीन प्रकार के अनुमान की व्याख्या और उदाहरण। सूत्र में त्रिविध पद प्रयोग का कारण कथन। प्रत्यक्ष और अनुमान के विषयभेद के कारण भिन्नता का कथन। (पृ. २०४-२३१)
- छठे सूत्र में उपमान का लक्षण कथन। इसके भाष्य में इस लक्षण की व्याख्या तथा उदाहरण प्रदर्शन। उपमान प्रमाण के अन्य प्रकार के भी विषय हैं, इस सिद्धान्त का प्रकाश। (पृ. २३५)
- सप्तम सूत्र में शब्द प्रमाण का लक्षण। इसके भाष्य में आप्त का लक्षण, आप्त शब्द की व्युत्पत्ति एवं व्याख्या। विषय के भेद से ऋषि, आर्य तथा म्लेच्छ आदि

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

सभी में आप्तलक्षण की समानता का कथन। (पृ. २४०)

- अष्टम सूत्र में दृष्टार्थ और अदृष्टार्थ के भेद से शब्द प्रमाण का द्वैविध्यकथन। भाष्य में दृष्टार्थ और अदृष्टार्थ शब्द की अर्थ व्याख्या तथा इस सूत्र के प्रयोजन का कथन। (पृ. २४१-२४२)
- नवम सूत्र में आत्मा आदि बारह प्रकार के प्रमेयों का कथन रूप प्रमेय का विभाग और प्रमेय के सामान्यलक्षण की सूचना। भाष्य में यथाक्रम आत्मा आदि प्रमेय पदार्थों का स्वरूप वर्णन। प्रमेय पदार्थों में सुख के अनुल्लेख का कारण कथन। पश्चात् कणादोक्त द्रव्य आदि छह प्रकार के प्रमेय पदार्थों का अस्तित्व कथन और न्यायदर्शन में आत्मा आदि बारह प्रमेयों के विशेष उल्लेख का कारण कथन। (पृ. २४७)
- दशम सूत्र में इच्छा आदि गुणों के आत्मलिङ्गत्व के कथन से पूर्वापर काल स्थायी जीवात्मा के अस्तित्व में अनुमान का प्रदर्शन और इससे जीवात्मा के सामान्य लक्षण की सूचना। भाष्य में सूत्रार्थ की व्याख्या से चिरस्थायी आत्मा के अस्तित्व का समर्थन तथा आत्मा के विषय में क्षणिक विज्ञानवादी बौद्धमत विशेष का खण्डन। (पृ. २५२-२५४)
- ग्यारहवें सूत्र में द्वितीय प्रमेय शरीर का लक्षण। भाष्य में सूत्र के अर्थ की व्याख्या द्वारा शरीर के तीन लक्षणों का विवरण। (पृ. २६०)
- बारहवें सूत्र में तृतीय प्रमेय इन्द्रिय के विभाग तथा उसके सामान्यलक्षण का कथन। भाष्य में घ्राण आदि शब्द की व्युत्पत्ति की व्याख्या से इन्द्रिय के लक्षण की व्याख्या। घ्राण आदि पाँच इन्द्रियों के भौतिकत्व सिद्धान्त की साधारण युक्ति। (पृ. २६२-२६३)
- तेरहवें सूत्र में क्षिति आदि पाँच भूतों का कथन। भाष्य में इस सूत्र के प्रयोजन का कथन। (पृ. २६५)
- चौदहवें सूत्र में गन्ध, रस, रूप, स्पर्श तथा शब्द रूप पाँच इन्द्रियों के अर्थों का उल्लेख और इससे चतुर्थ प्रमेय अर्थ के सामान्यलक्षण की सूचना। भाष्य में ''पृथिव्यादिगुणाः'' पद के अर्थ की व्याख्या। (पृ. २६६)
- पन्द्रहवें सूत्र में पञ्चम प्रमेय बुद्धि का लक्षण। भाष्य में बुद्धि के लक्षण हेतु सांख्यमत में सूत्रकार की अनास्था का सूत्र द्वारा प्रदर्शन तथा इसके कारण एवं युक्ति का कथन। (पृ. २६७-२६८)

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

- सोलहवें सूत्र में छठे प्रमेय मनस् के अस्तित्व साधक हेतु का उल्लेख और इसके लक्षण की सूचना। भाष्य में सूत्रकार के तात्पर्य की व्याख्या से अतिसूक्ष्म मन के अस्तित्व का समर्थन। (पृ. २७०)
- सत्रहवें सूत्र में सप्तम प्रमेय शुभाशुभ कर्मरूप प्रवृत्ति का लक्षण भाष्य में सूत्र के अर्थ की व्याख्या से त्रिविध प्रवृत्ति की व्याख्या। (पृ. २७३)
- अट्ठारहवें सूत्र में अष्टम प्रमेय दोष का लक्षण। भाष्य में सूत्र के अर्थ की व्याख्या से राग, द्वेष तथा मोह का दोषत्व समर्थन। पश्चात् दोष के लक्षण हेतु प्रथम पद का प्रयोजन कथन। (पृ. २७४)
- उन्नीसवें सूत्र में नवम प्रमेय प्रेत्यभाव का लक्षण। भाष्य में पुनर्जन्म रूप प्रेत्यभाव की व्याख्या तथा इसके अनादित्व का कथन। (पृ. २७५)
- बीसवें सूत्र में दशम प्रमेय फल का लक्षण। भाष्य में सुख तथा दुःख के भोग की तरह उसके साधन देह तथा इन्द्रिय आदि का भी फलत्व कथन। (पृ. २७६-२७७)
- इक्कीसवें सूत्र में ग्यारहवें प्रमेय दुःख का लक्षण। भाष्य में दुःख से अनुविद्ध जन्म आदि फलमात्र को दुःख का कथन – इस प्रकार सूत्र की व्याख्या। (पृ. २७८)
- बाइसवें सूत्र में बारहवें प्रमेय अपवर्ग का लक्षण। भाष्य में सूत्र के अर्थ की व्याख्या से अपवर्ग के स्वरूप की व्याख्या। नित्यसुख की अभिव्यक्ति ही मोक्ष है – इस मत का विस्तृत विचार के द्वारा खण्डन। (पृ. २७९-२८८)
- तेइसवें सूत्र में तृतीय पदार्थ संशय का सामान्य लक्षण तथा संशय के पाँच प्रकार के विशेष कारण का कथन। पाँच प्रकार के संशय की सूचना और भाष्य में सूत्र के अर्थ की व्याख्या से पाँच प्रकार के संशय की व्याख्या और उदाहरण प्रदर्शन। पश्चात् सूत्र में उपलब्धि की व्यवस्था एवं अव्यवस्था के पृथक् उल्लेख का हेतु कथन। (पृ. २९४-३००)
- चौबीसवें सूत्र में चतुर्थ पदार्थ प्रयोजन का लक्षण। भाष्य में सूत्र के अर्थ की व्याख्या से प्रयोजन पदार्थ की व्याख्या। (पृ. ३०७)
- पच्चीसवें सूत्र में पञ्चम पदार्थ दृष्टान्त का लक्षण। भाष्य में दृष्टान्त के लक्षण की व्याख्या और दृष्टान्त के प्रयोजन का कथन। (पृ. ३०८-३०९)
- छब्बीसवें सूत्र में छठे पदार्थ "सिद्धान्त" का सामान्यलक्षण। भाष्य में सिद्धान्त

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

शब्द के अर्थ की व्याख्या और पश्चात् सिद्धान्तलक्षण सूत्र के अर्थ की व्याख्या। (पृ. ३११-३१४)

- सत्ताइसवें सूत्र में सर्वतन्त्र सिद्धान्त आदि चतुर्विध सिद्धान्त का उल्लेख रूप सिद्धान्त पदार्थ का विभाग। (पृ. ३१५)
- अट्ठाइस, उनतीस, तीस तथा एकतीस सूत्रों में यथाक्रम सर्वतन्त्र, प्रतितन्त्र अधिकरण तथा अभ्युपगम सिद्धान्तों का लक्षण। भाष्य में उक्त चारों प्रकारों के सिद्धान्त का उदाहरण प्रदर्शन तथा व्याख्या। (पृ. ३१७-३२५)
- बत्तीसवें सूत्र में सप्तम पदार्थ अवयव का प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन इन पाँच नामों के उल्लेख द्वारा विभाग और अवयव के सामान्यलक्षण की सूचना। भाष्य में अन्य किसी नैयायिक सम्प्रदाय के दसावयववाद की व्याख्या तथा इस मत के निराकरण के साथ गौतम द्वारा उक्त पञ्चावयवों को अवयवत्व का समर्थन। (पृ. ३२८-३३१)
- तैतीसवें सूत्र में प्रथम अवयव प्रतिज्ञा का लक्षण। चौंतीस और पैंतीस सूत्रों में दो प्रकारों के हेतु का लक्षण। छत्तीस और सैंतीस सूत्रों में दो प्रकारों के उदाहरण का लक्षण। अड़तीसवें सूत्र में उपनय का लक्षण तथा उनचालीसवें सूत्र के भाष्य में पञ्चावयवरूप न्याय-वाक्य में प्रमाण चतुष्टय का समवाय एवं उसे हेतु के कथन के साथ पञ्चावयवों में परस्पर सम्बन्ध का वर्णन और विशेषकर प्रत्येक अवयव के प्रयोजन का वर्णन। (पृ. ३३५-३७१)
- चालीसवें सूत्र में अष्टम पदार्थ तर्क का लक्षण और प्रयोजन का कथन। भाष्य में सूत्रार्थ की व्याख्या से तर्क के लक्षण और प्रयोजन की व्याख्या। तर्क के उदाहरण प्रदर्शन द्वारा स्वरूप का कथन। तर्क तत्त्वज्ञान नहीं है किन्तु प्रमाण से तत्त्वज्ञान में यह सहायक होता है – इस विषय में हेतु का कथन। (पृ. ३७८-३८१)
- एकतालीसवें सूत्र में नवम पदार्थ निर्णय का लक्षण। भाष्य में सूत्र के अर्थ की व्याख्या के साथ पूर्वपक्ष का निराकरण। संशय से भिन्न समुच्चय और विकल्प का स्वरूप और उदाहरण। प्रत्येक निर्णय संशयपूर्वक नहीं होता है, केवल परीक्षा के विषय में निर्णय संशयपूर्वक होता है, अन्यत्र प्रमाण से अर्थ का अवधारण ही निर्णय कहलाता है। (पृ. ३९०-३९१)

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

द्वितीय आह्निक

- प्रथम सूत्र के अवतरण में भाष्यकार ने कहा है कि कथा के तीन प्रकार होते हैं – वाद, जल्प और वितण्डा। इस आह्निक के प्रथम सूत्र में वाद पदार्थ का लक्षण कहा गया है। भाष्य में वाद के लक्षण की व्याख्या एवं सूत्रगत विशेषण पदों का प्रयोजन वर्णित हुआ है ।(पृ. ३९९-४०१)
- द्वितीय सूत्र में जल्प पदार्थ का लक्षण उक्त है। भाष्य में सूत्रार्थ की व्याख्या में जल्प के लक्षण की व्याख्या की गई है। इस प्रसंग मे पूर्वपक्ष के समर्थन के साथ उत्तरपक्ष भी प्रस्तुत हुआ है। (पृ. ४०९-४१०)
- तृतीय सूत्र में वितण्डा पदार्थ का लक्षण उक्त है। भाष्य में सूत्रार्थ की व्याख्या तथा स्थापना शब्द की सार्थकता का समर्थन। (पृ. ४१४-४१५)
- चतुर्थ सूत्र में हेत्वाभास का – (१) सव्यभिचार (२) विरुद्ध (३) प्रकरणसम (४) साध्यसम तथा (५) कालातीत नामक पाँच विशेष नामों के उल्लेखपूर्वक विभाग तथा उनके सामान्यलक्षण की सूचना। भाष्य में हेत्वाभास शब्द की व्युत्पत्ति प्रदर्शन से सामान्यलक्षण का कथन। (पृ. ४२१)
- पञ्चम सूत्र में सव्यभिचार हेत्वाभास का लक्षण। (पृ. ४२३-४२४) छठे सूत्र में विरुद्ध हेत्वाभास का लक्षण (पृ. ४३०), सप्तम सूत्र में प्रकरणसम हेत्वाभास का लक्षण (पृ. ४३४-४३५), अष्टम सूत्र में साध्यसम हेत्वाभास का लक्षण (पृ. ४४१), नवम सूत्र में कालातीत नहेत्वाभास का लक्षण (पृ. ४५४-४५५)।
- इन सूत्रों के भाष्य में पाँच प्रकार के हेत्वाभास के लक्षणों की व्याख्या और उदाहरणों का प्रदर्शन। नवम सूत्र के भाष्य में कथित अपव्याख्या का निराकरण।
- दशम सूत्र में छल का सामान्य लक्षण और ग्यारहवें सूत्र में तीन प्रकारों के छल का नामोल्लेख के साथ छल का विभाग। (पृ. ४६९)
- बारहवें, तेरहवें तथा चौदहवें सूत्रों में क्रमानुसार वाक्छल, सामान्यछल तथा उपचारछल का लक्षण। भाष्य में तीनों ही छलों के स्वरूप की व्याख्या और उदाहरण प्रदर्शन तथा खण्डन से इनके असदुत्तरत्व का समर्थन। (पृ. ४७०-४७९)
- पन्द्रहवें सूत्र में उपचारच्छल वाक्छल से भिन्न नहीं है। अतएव छल के दो ही प्रकार हैं – इस पूर्वपक्ष का कथन। (पृ. ४८४)

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

- सोलहवें तथा सत्रहवें सूत्रों में उपर्युक्त पूर्वपक्ष का खण्डन तथा छल के त्रैविध्य का सिद्धान्त रूप में स्थापन। (पृ. ४८५)
- अट्ठारहवें सूत्र में पन्द्रहवें पदार्थ जाति का सामान्य लक्षण। भाष्य में सूत्र के अर्थ की व्याख्या तथा जाति शब्द की व्युत्पत्ति की व्याख्या। (पृ. ४८८-४८९)
- उन्नीसवें सूत्र में सोलहवें पदार्थ निग्रहस्थान के सामान्य लक्षण की सूचना। भाष्य में विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्ति की व्याख्या से निग्रहस्थान के मूल का कथन। (पृ. ४९१)
- बीसवें सूत्र में जाति और निग्रहस्थान के बहुत्व का तथा उसके हेतु का कथन। भाष्य में सूत्र के अर्थ की व्याख्या। पश्चात् महर्षि के वक्ष्यमाण बाइस प्रकार के निग्रह स्थानों में अननुभाषण रूप छह प्रकार के अप्रतिपत्ति निग्रहस्थान और अन्यों का विप्रतिपत्ति निग्रहस्थान मानना। उपसंहार में न्यायदर्शन के उद्देश्य, लक्षण और परीक्षा रूप त्रिविध प्रवृत्ति का कथन। (पृ. ४९४)

◈◈◈

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

न्यायदर्शन के प्रथम संस्करण की भूमिका

न्यायदर्शन का परिचय तथा प्रयोजन आदि

पुण्यतीर्थस्वरूप इस भारतवर्ष के अपूर्व अध्यात्म ज्ञान के गौरव से गौरवमय तथा विस्मयकारी विजय-पताका के रूप में ये षड्दर्शन आज भी दीर्घदर्शी विचित्र लीला का प्रदर्शन कराते हैं। न्यायदर्शन भी उन्हीं षड्दर्शनों में से एक है। जीव के परम पुरुषार्थ रूप मोक्ष की प्राप्ति हेतु आत्मा आदि पदार्थों का दर्शन या तत्त्वसाक्षात्कार ही चरम व परम कर्त्तव्य के रूप में वेदों में उपदिष्ट हुआ है। इसके लिए पहले शास्त्र द्वारा आत्मा आदि पदार्थों की श्रवणरूप उपासना और पश्चात् हेतु के द्वारा मनन अर्थात् यथार्थ अनुमान रूप उपासना पुनश्च निदिध्यासन अर्थात् ध्यानादि रूप उपासना उपदिष्ट है।[१] न्यायशास्त्र में आत्मा आदि के दर्शन के साधनस्वरूप मनन अर्थात् दूसरी उपासना की प्रधानता है। इसके निर्वाह रूप मुख्य उद्देश्य के प्रकाशनार्थ यह दर्शन-शास्त्र के नाम से अभिहित है। आत्मा आदि पदार्थों के श्रवण के पश्चात् युक्ति के द्वारा उन पदार्थों की ईक्षा या मनन अर्थात् शास्त्रसम्मत अनुमान को ही अन्वीक्षा कहते हैं। इसी अन्वीक्षा के निर्वाह हेतु यह आन्वीक्षिकी नाम से अभिहित होता है। भाष्यकार ने कहा है कि प्रत्यक्ष और आगम के अविरोधी अनुमान को अन्वीक्षा कहते हैं "प्रत्यक्षागमाश्रितमनुमानमन्वीक्षा"। इसे ही न्याय भी कहते हैं। इस अन्वीक्षा या न्याय के लिए सभी पदार्थों का तत्त्वज्ञान आवश्यक है। उन्हीं के सम्पादन हेतु यह न्यायविद्या प्रकाशित हुई है। अतएव यह आन्वीक्षिकी, न्यायविद्या अथवा न्यायशास्त्र पद से भी अभिहित होती है। यह आन्वीक्षिकी विद्या उपनिषद् की तरह केवल अध्यात्म विद्या न होकर भी अध्यात्म विद्या है। यह आन्वीक्षिकी चूँकि तर्क का निरूपण करती है, तर्कशास्त्र के सभी तत्त्वों का प्रकाश करती है, तर्कविद्या तथा तर्कशास्त्र पद से भी कही जाती है। यह न्याय तर्कपद से भी उल्लिखित होता है।

---

१ आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या वा विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्॥ – बृहदारण्यक २.४.५
श्रोतव्यः पूर्वमाचार्यत आगमतश्च पश्चान्मन्तव्यस्तर्कतः। – शाङ्करभाष्य

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

भगवान् अक्षपाद महर्षि ने इस आन्वीक्षिकी विद्या का सूत्र-ग्रन्थ के रूप में प्रकाशन किया है। वह इसके स्रष्टा नहीं हैं। वेद आदि विद्या की तरह यह आन्वीक्षिकी विद्या भी विश्व के रचयिता का अनुग्रह दान है। महाभारत में उक्त है कि[२] नीति, धर्म और सदाचार की प्रतिष्ठा के लिए अन्य देवगणों के द्वारा प्रार्थना करने पर भगवान् ब्रह्मा ने शतसहस्र अध्याय प्रकाशित किए ? उनमें धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष आदि बहुत विषयों का एवं त्रयी, आन्वीक्षिकी, वार्त्ता और दण्डनीतिरूप चतुर्विध विद्याओं का प्रदर्शन किया। भाष्यकार वात्स्यायन ने कहा है कि प्राणिसमूह अथवा मानववृन्द के अनुग्रह हेतु त्रयी आदि चार विद्याएं उपदिष्ट हुईं। इनसे भिन्न यह चौथी विद्या आन्वीक्षिकी अथवा न्यायविद्या है। श्रीमद्भागवत में उक्त है कि आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्त्ता और दण्डनीति के साथ व्याहृति और प्रणव परमेश्वर के हृदयाकाश से[३] उत्पन्न हुए। आन्वीक्षिकी विद्या को मैंने इसलिए परमेश्वर का अनुग्रह दान कहा है। छान्दोग्य उपनिषद् के सप्तम अध्याय के प्रथम खण्ड में उक्त है कि एक समय में देवर्षि नारद ने सनत्कुमार के निकट जाकर विद्या की प्रार्थना की। सनत्कुमार ने कहा कि आप किन-किन विद्याओं को जानते हैं – यह पहले कहिए। तत्पश्चात् आपको अज्ञात विद्याओं का उपदेश करूंगा। इसके उत्तर में नारद ने कहा – मैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा चतुर्थ अथर्ववेद को जानता हूँ, पञ्चम वेद इतिहास एवं पुराण भी जानता हूँ। इन सभी वेदों के वेद अर्थात् व्याकरणशास्त्र भी जानता हूँ। पित्र्य (श्राद्ध कल्प), राशि (गणित), दैव (उत्पातविद्या), निधि (महाकालादि निधिशास्त्र), वाकोवाक्य (तर्कशास्त्र), एकायन (नीतिशास्त्र), देवविद्या (निरुक्त), ब्रह्मविद्या (वेदाङ्ग, शिक्षा कल्प आदि), भूतविद्या (भूततन्त्र), क्षत्रविद्या (धनुर्वेद), नक्षत्र विद्या (ज्योतिष), सर्पविद्या (गारुड़), देवजनविद्या अर्थात् गन्धर्व, युक्ति, नृत्य, गीत, वाद्य, शिल्प आदि विज्ञान इन सभी विद्याओं को मैं जानता हूँ।[४] यहाँ नारद द्वारा अधिगत

---

[२] त्रयी चान्वीक्षिकी चैव वार्ता च भरतर्षभ। दण्डनीतिश्च विपुला विद्यास्तत्र निदर्शिताः ॥
– महाभारत, शान्तिपर्व ५९.३३

[३] आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिस्तथैव च।
एवं व्याहृतयश्चासन् प्रणवोऽप्यस्य दह्रतः ॥
– श्रीमद्भागवत - तृतीय स्कन्ध १२.४४

न्यायादीनां पूर्वादिक्रमेणोत्पत्तिमाह आन्वीक्षिकीति। आन्वीक्षिक्याद्यो मोक्षधर्मकामार्थविद्याः। दह्रतः हृदयाकाशात्। – श्रीधरस्वामिटीका

[४] ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थम् इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यामेतद् भगवोऽध्येमि। – ६.२.२

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

इन विद्याओं में परिगणित वाकोवाक्य को शंकर भगवत्पाद ने अपनी भाष्य व्याख्या में ''वाकोवाक्यं तर्कशास्त्रम्'' कहा है। संहिताकार महर्षि कात्यायन ने प्रतिदिन वाकोवाक्य के पाठ का फल[५] कहा है। संहिताकार गौतम ने बहुश्रुत ब्राह्मण का लक्षण कहते समय वेदादिशास्त्रों के साथ वाकोवाक्य में अभिज्ञता की बात[६] कही है। कोषकार अमरसिंह ने आन्वीक्षिकी पद का अर्थ तर्कविद्या[७] किया है। आचार्य शंकर की व्याख्या के अनुसार आन्वीक्षिकी विद्या ही वाकोवाक्य से ज्ञात होती है। महाभारत के सभापर्व में बहुश्रुत नारद की विद्याओं का वर्णन करते समय उनको पञ्चावयव न्यायवाक्य का गुणदोष वेत्ता[८] कहा गया है। गौतम के न्यायशास्त्र में उक्त प्रतिज्ञा आदि पञ्चावयव युक्त न्यायवाक्य के अनुकूल तर्करूप गुण एवं हेत्वाभास आदि दोषों को नारदमुनि अच्छी तरह जानते थे। व्याख्याकार नीलकण्ठ ने भी महाभारत के इस वाक्य की यही व्याख्या की है। महाभारत में नारद के पञ्चावयव रूप न्यायविद्या के पाण्डित्य का वर्णन होने से छान्दोग्य उपनिषद् में वर्णित नारद का अधिगत तर्कशास्त्र पञ्चावयवयुक्त न्यायविद्या ही ज्ञात होता है। क्योंकि इतिहास और पुराण की सहायता से वेदार्थ का निर्णय करना चाहिए, यह महाभारत[९] में उक्त है। अन्य उपनिषदों में वेद आदि विद्या के साथ न्यायविद्या का उल्लेख देखा जाता है।[१०] 'न्यायसूत्र के वृत्तिकार महामनीषी विश्वनाथ ने ''न्यायोमीमांसा धर्मशास्त्राणि'' इस वाक्य को सूत्र के रूप में उल्लिखित किया है। स्मृति और पुराणों में परिगणित चौदह विद्याओं में इस न्यायविद्या का उल्लेख हुआ है।[११]

---

[५] मांसक्षीरौदनमधुकुलाभिस्तर्पयेत् पठन्।
वाकोवाक्यं पुराणानि इतिहासानि चान्वहम्॥ – चतुर्दश खण्ड।११

[६] स एव बहुश्रुतो भवति लोकवेदवेदाङ्गविद्वाकोवाक्येतिहासपुराणकुशलः इत्यादि।

[७] आन्वीक्षिकी दण्डनीतिस्तर्कविद्यार्थशास्त्रयोः। – अमरकोष स्वर्गवर्ग १५५

[८] पञ्चावयवयुक्तस्य वाक्यस्य गुणदोषवित्। – सभापर्व ५.५

[९] इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति॥ – आदिपर्व प्रथम अध्याय, श्लोक २६७

[१०] तस्यैतस्य महतोभूतस्य निःश्वसितमेवैतदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषामयनं न्यायो मीमांसा धर्मशास्त्राणि - इत्यादि।
– सुबालोपनिषद् द्वितीय खण्ड

[११] पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥ – याज्ञवल्क्यसंहिता १.३
अङ्गानि चतुरो वेदा मीमांसा न्यायविस्तरः।

→

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

विष्णुपुराण में चौदह विद्याओं का परिगणन करते हुए न्यायविस्तर पद से न्याय, वैशेषिक, सांख्य, पातञ्जल (योग) आदि समस्त न्यायतन्त्र अभिहित होते हैं, यह बहुतों का कहना है। न्यायमञ्जरीकार महानैयायिक जयन्त भट्ट ने इस बात की स्वीकृति नहीं दी है। इनके मत में गौतमीय न्यायविद्या ही न्यायविस्तर शब्द का अर्थ है, और वही आन्वीक्षिकी है। चूँकि वैशेषिक न्यायशास्त्र का समान तन्त्र है अतः यहाँ इस वैशेषिक का अलग से उल्लेख नहीं हुआ है। किन्तु न्याय न कहकर यहाँ न्यायविस्तर क्यों कहा गया है – इस पर विचार करना भी आवश्यक है। महाभारत में उक्त है – न्यायतन्त्र अनेक[१२] हैं। महाभारत के टीकाकार नीलकण्ठ ने न्यायतन्त्र की व्याख्या में कहा है कि वैशेषिक, न्याय, सांख्य तथा पातञ्जल आदि न्यायतन्त्र पद से लिए जाते हैं। अतः उनकी अनेकता उत्पन्न होती है। सांख्याचार्य विज्ञानभिक्षु ने सांख्य प्रवचन भाष्य की भूमिका में महाभारत के इस श्लोक का उल्लेख करके कहा है कि न्याय तथा वैशेषिक आदि के साथ ब्रह्ममीमांसा भी अंशविशेष रूप में न्यायतन्त्र ही है। किन्तु गौतमीय न्यायविद्या से भिन्न केवल अध्यात्म विद्या विशेष ही आन्वीक्षिकी नाम से कहीं उल्लिखित हुआ है। भगवान् के छठें अवतार दत्तात्रेय ने अलर्क और प्रह्लाद आदि को आन्वीक्षिकी का उपदेश दिया था। ऐसा श्रीमद्भागवत[१३] में वर्णित है। दत्तात्रेय के द्वारा उक्त आन्वीक्षिकी केवल अध्यात्म विद्या ही है गौतमीय न्यायविद्या नहीं। श्रीधर स्वामी आदि श्रीमद्भागवत के व्याख्याकार गण ने इसकी अध्यात्मविद्या कहकर ही व्याख्या की है। प्राणतोषिणी नामक तंत्रसंग्रहकार रामतोषण विद्यालङ्कार ने दत्तात्रेय के उक्त आन्वीक्षिकी का तथा गौतमप्रोक्त आन्वीक्षिकी का उल्लेख करके गौतमीय न्यायशास्त्र की निन्दा विषयक

→ पुराणं धर्मशास्त्रञ्च विद्या ह्येताश्चतुर्दश ॥
आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चेति तेत्रयः।
अर्थशास्त्रं चतुर्थं तु विद्या ह्यष्टादशैव तु ॥ – विष्णुपुराण तृतीय अंश, अ. ६

[१२] न्यायतन्त्राण्यनेकानि तैस्तैरुक्तानि वादिभिः।
हेत्वागमसदाचारैर्यद्युक्तं तदुपास्यताम् ॥ – शान्तिपर्व २१०.२२
न्यायतन्त्राणि तार्किकवैशेषिककापिलपातञ्जलादीनि।
हेतुर्युक्तिः आगमो वेदः सदाचारः प्रत्यक्षः तैः प्रमाणैः
कृत्वा एतैर्मुनिभिः यद् ब्रह्म उक्तम् तदुपास्यताम् ॥ – नीलकण्ठ

[१३] षष्ठमत्रेरपत्यत्वं वृतः प्राप्तोऽनसूयया।
आन्वीक्षिकीमलर्काय प्रह्लादादिभ्य ऊचिवान् ॥
– भागवत १.३.११। आन्वीक्षिकीम् आत्मविद्याम् – श्रीधर स्वामी

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

गन्धर्व तंत्र में उक्त वचनों का पूर्वपक्ष के रूप में खण्डन किया है। महाभारत के शान्तिपर्व के उस श्लोक का जिसमें आन्वीक्षिकी की निन्दा की गई है, उसका भी उल्लेख करके पुनः उसका भिन्न तात्पर्य वर्णित किया है। इस प्रसंग में बहुत वक्तव्य रहने पर भी उन्होंने गौतमीय न्यायविद्या तथा उसके अध्ययन को निन्दनीय नहीं कहा है। प्रत्युत इस निन्दा का प्रतिवाद ही किया है। इस प्रसंग में यहाँ इतना ही कहकर विराम लेता हूँ। अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने सांख्य को भी आन्वीक्षिकी में गिनाया है। इस प्रसंग में पश्चात् आलोचन करूँगा। शान्तिपुर के महामनीषी, स्मृति तथा न्यायदर्शन के अनेक ग्रन्थों के व्याख्याकार राधामोहन गोस्वामी भट्टाचार्य ने न्यायसूत्र विवरण नामक ग्रन्थ में लिखा है कि श्रवण के पश्चात् ईक्षा अर्थात् वेदोपदिष्ट आत्ममनन को अन्वीक्षा कहते हैं। उसका सम्पादक शास्त्र है आन्वीक्षिकी, यही आन्वीक्षिकी पद का यौगिक अर्थ होता है। यद्यपि इस अर्थ में अन्य शास्त्र भी आन्वीक्षिकी पद से अभिहित हो सकते हैं, किन्तु न्यायशास्त्र में न्याय की बलवत्ता के कारण तथा उसी शास्त्र के लिए आन्वीक्षिकी शब्द का बहुत प्रयोग होने से गौतमीय न्यायविद्या में ही आन्वीक्षिकी शब्द रूढ़ हो गया है। अर्थात् न्यायशास्त्र-बोधक आन्वीक्षिकी शब्द योगरूढ़ है। उसका यौगिक अर्थ लेकर किसी-किसी प्रसंग में अध्यात्मविद्या अथवा मननशास्त्र का भी आन्वीक्षिकी नाम से व्यवहार होता है। किन्तु भाष्यकार वात्स्यायन ने आन्वीक्षिकी शब्द की जो व्युत्पत्ति दिखाई है उसके अनुसार गौतमीय न्यायविद्या ही आन्वीक्षिकी कहलाती है। वात्स्यायन ने न्यायविद्या, न्यायशास्त्र का विशद विवेचन करके उसे आन्वीक्षिकी कहा है। द्रष्टव्य है कि प्रमाण और प्रमेय के कहने से ही सभी पदार्थ उक्त हो जाते हैं। पुनः संशय आदि चौदह पदार्थों का वर्णन क्यों किया गया है ? इस प्रश्न के उत्तर में वात्स्यायन ने कहा है कि संशय आदि चतुर्दश पदार्थ ही इस चतुर्थी विद्या आन्वीक्षिकी को पृथक् प्रस्थान सिद्ध करते हैं। अर्थात् ये पदार्थ ही इस शास्त्र के असाधारण प्रतिपाद्य हैं। प्रस्थान के भेद से विद्या का भेद होता है। त्रयी, वार्त्ता, दण्डनीति और आन्वीक्षिकी इन चार विद्याओं का भिन्न-भिन्न प्रस्थान है। इनमें आन्वीक्षिकी का प्रस्थान संशय आदि चतुर्दश पदार्थों का विवेचन करता है जो अन्य किसी विद्या में वर्णित नहीं है। जिज्ञासा होती है कि न्यायविद्या को पृथक् प्रस्थान क्यों मानना आवश्यक है तथा इसके तत्त्वज्ञान का प्रयोजन क्या है ? इसका समाधान प्रथम सूत्रभाष्य में वात्स्यायन ने विशेष रूप से किया है। न्यायवार्त्तिक में आचार्य उद्योतकर ने भाष्यकार के वक्तव्य के समर्थन में कहा है कि यदि न्यायविद्या में संशय आदि चतुर्दश पदार्थों का उल्लेख नहीं होता तो यह अन्य शास्त्रों से भिन्न चतुर्थी विद्या नहीं होती। अतएव यह शास्त्र त्रयी, वार्त्ता और दण्डनीति से भिन्न चौथी आन्वीक्षिकी विद्या के रूप में प्रसिद्ध है। इसी रूप में इसका उल्लेख पाया जाता है, अन्यथा केवल अध्यात्मविद्या

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

होकर यह शास्त्रत्रयी के अन्तर्गत होती। तात्पर्य यह है कि त्रयी, वार्त्ता और दण्डनीति से भिन्न इस चतुर्थी (चौथी) आन्वीक्षिकी विद्या का उल्लेख शास्त्र में प्राप्त होता है। यह आन्वीक्षिकी विद्या गौतम द्वारा सूत्रों में निबद्ध न्यायविद्या ही है। यद्यपि यह विद्या अक्षपाद के पहले से ही विद्यमान है तथापि महर्षि अक्षपाद ने सूत्र-ग्रन्थ के द्वारा इसको विस्तृत तथा शृंखलाबद्धरूप में प्रकाशित किया। वस्तुतः इस शास्त्र के कर्ता वह नहीं हैं। वात्स्यायन तथा उद्योतकर आदि न्यायाचार्यवृन्द का यही अभिमत है।

हम लोग देखते हैं कि मनु आदि संहिताकार और ऋषिगण विचार के द्वारा राज्य की रक्षा के लिए राजा को त्रयी, वार्त्ता और दण्डनीति के साथ उस चौथी विद्या आन्वीक्षिकी की शिक्षा का उपदेश[१४] देते रहे हैं।

मनु आदि ने जिस उद्देश्य से आन्वीक्षिकी विद्या की आलोचना के लिए कहा है इसके आलोचन से वह न्यायशास्त्र ही प्रतीत होता है। मनु संहिता के व्याख्याकार कुल्लूक भट्ट ने आन्वीक्षिकी का इससे भिन्न अर्थ नहीं कहा है। न्यायसूत्र के वृत्तिकार विश्वनाथ भट्टाचार्य ने मनु के द्वारा उक्त उस आन्वीक्षिकी को न्यायशास्त्र ही माना है। मेधातिथि ने (मनु के व्याख्याकार) पहले तर्कविद्या और अर्थशास्त्र आदि के साथ आन्वीक्षिकी का उल्लेख करके अन्त में मनु के द्वारा उक्त आत्मविद्या के विशेषण रूप में आन्वीक्षिकी को कहा है। राजा के लिए यहाँ उक्त है कि तर्क के आश्रय तथा आत्महितकारी आन्वीक्षिकी विद्या का अध्ययन करना चाहिए। नास्तिक के लिए तर्कविद्या की शिक्षा अपेक्षित नहीं है। तात्पर्य यह है कि मनु आदि महर्षि ने वेदविरुद्ध शास्त्र को असत् शास्त्र कहकर उसके अध्ययन आदि को उपपातक में परिगणित किया[१५] है। मेधातिथि की

---

[१४] त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्याद्दण्डनीतिञ्च शाश्वतीम्।
आन्वीक्षिकीं चात्मविद्यां वार्तारम्भांश्च लोकतः॥
— मनु संहिता ७.४३

स्वरन्ध्रगोप्तान्वीक्षिक्यां दण्डनीत्यां तथैव च।
विनीतस्त्ववार्तायां त्रय्यामेव नराधिपः॥
— याज्ञवल्क्य संहिता १.३११

राजा सर्वस्येष्टे ब्राह्मणवर्जं साधुकारी।
स्यात् साधुवादी त्रय्यामान्वीक्षिक्याञ्चाभिविनीतः।
— गौतम संहिता अध्याय ११

[१५] असच्छास्त्राधिगमनं कौशीलव्यस्य च क्रिया।
— मनु संहिता ११.६६

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

व्याख्या से ज्ञात होता है कि राजा के सीखने योग्य उन ऋषियों के द्वारा उक्त आन्वीक्षिकी को नास्तिक की तर्कविद्या समझने की कोई संभावना नहीं है। नास्तिक ग्रन्थों में शास्त्र शब्द की तरह नास्तिक तर्कविद्या में आन्वीक्षिकी शब्द का गौण प्रयोग हो सकता है। किसी-किसी स्थल में ऐसा देखा भी जाता है। मनु संहिता में वेदविरुद्ध शास्त्र की निन्दा देखकर तदनुसार महाभारत में भी नास्तिक तर्कविद्या की निन्दा समझनी चाहिए। अभिप्राय यह है कि मनुवचन में आन्वीक्षिकी आत्मविद्या का विशेषण होकर ही वह न्यायविद्या हो सकती है क्योंकि न्यायविद्या उपनिषद् की तरह केवल आत्मविद्या न होकर आत्मविद्या भी है। आत्मविद्या के रूप में अन्य आन्वीक्षिकी विद्या आन्वीक्षिकी शब्द से राजा के शिक्षणीय रूप में उक्त नहीं है। याज्ञवल्क्य और गौतम के वचनों से यही ज्ञात होता है। विचार के लिए अर्थात् वाद-प्रतिवाद के लिए एवं युक्ति द्वारा तत्त्वनिर्णय के लिए न्यायविद्या की अभिज्ञता राजा के लिए विशेष आवश्यक है। महाभारत के राजधर्म प्रकरण में भी उक्त है कि राजा को शब्दशास्त्र आदि के साथ युक्तिशास्त्र का ज्ञान भी आवश्यक है।[१६] वाल्मीकि ने वर्णित किया है।[१७] श्रीरामचन्द्र उत्तरोत्तर युक्तियों में बृहस्पति की तरह वक्ता थे। यहाँ वाल्मीकि ने कथा शब्द का प्रयोग किया है जो न्यायशास्त्र का पारिभाषिक पद है। रामायण की व्याख्या में यहाँ रामानुजाचार्य ने यही व्याख्या की है। श्रीमद्भागवत में वर्णित है कि भगवान् श्रीकृष्ण और बलराम ने धनुर्वेद, राजनीति तथा आन्वीक्षिकी विद्या का अध्ययन किया था।[१८]

→ असच्छास्त्राणि चार्वाकनिर्ग्रन्था:। यत्र न प्रमाणं वेद: न कर्मफलसंबन्धमापद्यते।
– मेधातिथि

श्रुतिस्मृतिविरुद्धशास्त्रशिक्षणम्। – कुल्लूक भट्ट

असच्छास्त्राधिगमनमाकरेष्वधिकारिता।
– याज्ञवल्क्य संहिता ३.२४१

[१६] प्रजापालनयुक्तश्च न क्षतिं लभते क्वचित्।
युक्तिशास्त्रञ्च ते ज्ञेयं शब्दशास्त्रञ्च भारत॥
– अनुशासनपर्व १३४.१४८

[१७] न विगृह्य यथारुचि। उत्तरोत्तरयुक्तौ च वक्ता वाचस्पतिर्यथा।
– अयोध्याकाण्ड २.४२-४३

[१८] सरहस्यं धनुर्वेदं धर्मान् न्यायपथांस्तथा।
तथा चान्वीक्षिकीं विद्यां राजनीतिञ्च षड्विधाम्॥ – १०.४५.३४

न्यायपथान् मीमांसादीन् आन्वीक्षिकीं तर्कविद्याम्। – श्रीधरस्वामी

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

महाभारत के शान्तिपर्व[१९] में जनक–याज्ञवल्क्य संवाद है, याज्ञवल्क्य ने राजा जनक से कहा है कि वेदान्त ज्ञान कोविद् विश्वावसु गन्धर्व ने मेरे निकट आकर चौबीस प्रश्न रखे थे उनमें एक प्रश्न आन्वीक्षिकी के विषय में था। मैंने उत्तर देने के लिए उनसे कुछ समय मांगा। सरस्वती देवी का ध्यान करके पुनश्च आन्वीक्षिकी की सहायता से उपनिषद् तथा उनके वाक्यशेष अर्थात् उपसंहार वाक्य का मनन-चिन्तन किया। हे राजश्रेष्ठ त्रयी, वार्त्ता, दण्डनीति और यह चौथी आन्वीक्षिकी विद्या मोक्ष के लिए हितकारी है, जो मैं आपसे कहता हूँ। विश्वावसु गन्धर्व ने आन्वीक्षिकी के विषय में जो प्रश्न किया था उसके उत्तर में याज्ञवल्क्य ने महर्षि गौतम के मत की ही व्याख्या की। यह बात महाभारत के टीकाकार नीलकण्ठ ने उक्त श्लोक की व्याख्या में कही है। इससे सिद्ध होता है कि विश्वावसु का प्रश्न अन्य किसी आन्वीक्षिकी से संबद्ध नहीं था। यही नीलकण्ठ के द्वारा स्वीकृत है। अपिच चतुर्थी विद्या आन्वीक्षिकी की सहायता से याज्ञवल्क्य ने मन से उपनिषदों का मन्थन करके जो विचार प्रस्तुत किया था, वह तर्क से शास्त्रार्थ के अनुकूल किसी तर्कविद्या का ही प्रकाशक है। महाभारत में उक्त स्थल में आन्वीक्षिकी विद्या मोक्ष के लिए हितकारी कही गई है। वेदविद्या को इस आन्वीक्षिकी विद्या से युक्त करके, वेद विद्या का श्रवण करने का पुनश्च आन्वीक्षिकी विद्या से उन श्रुत विषयों का

---

[१९] विश्वावसुस्ततो राजन् वेदानुज्ञानकोविदः।
चतुर्विंशस्ततोऽपृच्छत् प्रश्नान् वेदस्य पार्थिव॥
पञ्चविंशतिमं प्रश्नं पप्रच्छान्वीक्षिकीं ततः। – २७, २८
तत्रोपनिषदं चैव परिशेषञ्च पार्थिव।
मथ्नामि मनसा तात दृष्ट्वा चान्वीक्षिकीं पराम्। – ३४
चतुर्थी राजशार्दूल विद्येषा साम्परायिकी।
उदीरिता मया तुभ्यं पञ्चविंशादधिष्ठिता।
एषा तेऽन्वीक्षिकी विद्या चतुर्थी साम्परायिकी ॥४७॥
विद्योपेतं धनं कृत्वा इत्यादि ॥४८॥ अक्षयत्वात् प्रजनने।४६
– शान्तिपर्व, अध्याय ३१८

श्रवणमनु ईक्षा युक्त्या आलोचनमन्वीक्षा तत्प्रधानामान्वीक्षिकीम्।२८
चतुर्थी त्रयीं वार्तां दण्डनीतिञ्चापेक्ष्य। साम्परायिकी-मोक्षाय हिता।३५। विद्योपेतं धनं आन्वीक्षिक्या विद्यया सहितं धनम्। वेदविद्या धनं तां सोपपत्तिकां सम्पाद्य श्रवणमनेन कृत्वेति भावः।४८

प्रजनने अनित्यस्वर्गे अक्षयत्वं परोक्तं श्रुत्वा अक्षपादादय आचार्या अत्र व्यवहारे यदजमाकाशादि तदेवायमित्याहुः।४६। – नीलकण्ठ

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

मनन करने का विधान है। साङ्गोपांग सम्पूर्ण वेद पढ़कर भी जो व्यक्ति वेद का अभिप्राय नहीं समझता वह वेद का भार ही वहन करता है। इस कथन से वेद-वाक्यों के विचार में आन्वीक्षिकी की आवश्यकता सिद्ध होती है। न्यायशास्त्र को छोड़कर केवल वेद के अध्ययन से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती बल्कि केवल मोक्ष का ज्ञान होता है। विचार के द्वारा वेद के अर्थों का श्रवण करके पश्चात् तर्क के द्वारा उसका मनन आवश्यक है, अन्यथा केवल वेद के अध्ययन से मोक्ष संभव नहीं है। महाभारत के शान्तिपर्व में यह बात उल्लिखित है।[२०] अतः महाभारत में उक्त इस आन्वीक्षिकी अर्थात् न्यायविद्या की सहायता से याज्ञवल्क्य ने वेद के अर्थ का विचार किया है तथा उस विद्या की उपर्युक्त रूप में प्रशंसा की है। न्यायसूत्र के वृत्तिकार विश्वनाथ भट्टाचार्य ने महाभारत के ''तत्रोपनिषदञ्चैव'' आदि श्लोक का उल्लेख करके इस वक्तव्य का समर्थन किया है। वात्स्यायन, उद्योतकर, वाचस्पति मिश्र तथा उदयनाचार्य ने उसी चतुर्थी आन्वीक्षिकी विद्या को न्यायविद्या कहा है। वेदान्त चूड़ामणि श्रीहर्ष ने नैषधीय चरित में गौतम द्वारा प्रकाशित न्यायविद्या को आन्वीक्षिकी कहकर इसकी मोक्षोपयोगिता का वर्णन[२१] किया है। तत्त्वचिन्तामणिकार गंगेश उपाध्याय ने न्यायशास्त्र को आन्वीक्षिकी नाम से उल्लेख करके सभी विद्याओं में श्रेष्ठ कहकर उसकी प्रशंसा की है। इससे ज्ञात होता है कि महाभारत में उक्त चतुर्थी विद्या आन्वीक्षिकी ही गौतम द्वारा उपनिबद्ध यह न्यायविद्या है, और इसी में पूर्वाचार्य वृन्द का स्वारस्य है। इस प्रसङ्ग में यह भी समझना चाहिए कि महाभारत के शान्तिपर्व में इन्द्र–काश्यप संवाद में आन्वीक्षिकी की निन्दा करके जो उसे नास्तिक तर्कविद्या कही गई है वह गौतमप्रणीत वेदानुमत आन्वीक्षिकी विद्या से भिन्न है - यही आचार्यों के द्वारा प्रतिपादित हुआ है। मनु संहिता तथा महाभारत में जिस रूप में आन्वीक्षिकी विद्या का उल्लेख है तथा सभापर्व में जो नारद मुनि की न्यायविद्या के पाण्डित्य का वर्णन है, तत्त्वजिज्ञासु विश्वावसु ने जो आन्वीक्षिकी के प्रसङ्ग में याज्ञवल्क्य के समक्ष जिज्ञासा प्रकट की है और याज्ञवल्क्य ने जो उसका उत्तर दिया है, उसकी निन्दा निरर्थिका कहकर महाभारत में नहीं हो सकती।

वस्तुतः महाभारत के शान्तिपर्व में इन्द्र–काश्यप संवाद में वेदनिन्दक, नास्तिक, सर्वशङ्की, वेद-वाक्यों को लेकर ब्राह्मणों के आक्रमणकारी, कटुभाषी तथा मूर्ख इत्यादि

---

[२०] वेदवादं व्यपाश्रित्य मोक्षोऽस्तीति प्रभाषितुम्।
अपेतन्यायशास्त्रेण सर्वलोकविगर्हिणा॥ – शान्तिपर्व २६८.६४

[२१] उद्देशपर्वण्यपि लक्षणेऽपि द्विधोदितैः षोडशिभिः पदार्थैः।
आन्वीक्षिकीं यद्दशनद्विमालीं तां मुक्तिकामाकलितां प्रतीमः॥
– सर्ग १०, श्लोक ८१

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

के वाक्यों के द्वारा उस तरह के व्यक्ति की निन्दा करके समझाया गया है कि वैदिक मत को छोड़कर नास्तिक मतावलम्बी नहीं होना है। वैदिक मार्ग का ही अनुसरण करना है। यहाँ उक्त है कि तर्कविद्या में अनुरक्त होकर वेद के प्रामाण्य तथा परलोक आदि को जो नहीं मानते वे नास्तित्ववादी तथा संशयवादी होकर वेद की निन्दा आदि कार्य करते हैं। ऐसी तर्कविद्या में अनुरक्त नहीं होना चाहिए। उनके मत को नहीं मानना चाहिए। इसी को समझाने के लिए उक्त तर्कविद्या की निरर्थिका कहकर निन्दा की गई है।[२२] महाभारत में इस निन्दा का अभिप्राय समझकर सभी बातों का विचार करने पर तर्कविद्या से बार्हस्पत्य सूत्र आदि नास्तिक तर्कविद्या में आन्वीक्षिकी शब्द का गौण प्रयोग हुआ है। अनुशासनपर्व में इस बात को अधिक स्पष्ट करके कहा गया है।[२३] अनुशासनपर्व में तथा अन्यत्र युधिष्ठिर के प्रश्न का उत्तर देते हुए भीष्म पितामह ने केवल प्रत्यक्ष को प्रमाण मानने वाले नास्तिक वृन्द को हैतुक नास्तित्ववादी, संशयवादी, अज्ञ तथा पण्डिताभिमानी के रूप में उल्लेख किया है।[२४] भगवान्

---

[२२] अहमासं पण्डितको हैतुको वेदनिन्दकः।
आन्वीक्षिकीं तर्कविद्यामनुरक्तो निरर्थिकाम्।
हेतुवादान् प्रविदता वक्ता सत्सु च हेतुमत्।
आक्रोष्टा चाभिवक्ता च ब्रह्मवाक्येषु च द्विजान्॥
नास्तिकः सर्वशङ्की च मूर्खः पण्डितमानिकः।
तस्येयं फलनिर्वृत्तिः शृगालत्वं भज द्विज॥
— शान्तिपर्व १८३.४७-४९

[२३] अप्रामाण्यं च वेदानां शास्त्राणां चाभिलंघनम्।
अव्यवस्था च सर्वत्र एतन्नाशनमात्मनः॥११॥
भवेत् पण्डितमानीयो ब्राह्मणो वेदनिन्दकः।
आन्वीक्षिकीं तर्कविद्यामनुरक्तो निरर्थिकाम्॥१२॥
हेतुवादान् ब्रुवन् सत्सु विजेताऽहेतुवादिकः।
आक्रोष्टा चातिवक्ता च ब्राह्मणानां सदैव हि॥१३॥
सर्वाभिशङ्की मूढश्च बालः कटुकवागपि।
बोद्धव्यस्तादृशस्तात नरः श्वानं हितं विदुः॥१४॥
— अनुशासनपर्व, अध्याय ३७

[२४] प्रत्यक्षं कारणं दृष्ट्वा हैतुकाः प्राज्ञमानिनः।
नास्तीत्येवं व्यवस्यन्ति सत्यं संशयमेव च॥
तदयुक्तं व्यवस्यन्ति बालाः पण्डितमानिनः। इत्यादि।
— अनुशासनपर्व, १६२.५-६

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

मनु ने कहा है कि हेतुशास्त्र का अवलम्बन करके जो ब्राह्मण मूलशास्त्र श्रुति और स्मृति की अवज्ञा करता है वह वेदनिन्दक तथा नास्तिक है। सदाचारियों को उसका बहिष्कार करना चाहिए।[२५] भाष्यकार मेधातिथि, टीकाकार गोविन्दराज तथा नारायण ने मनुस्मृति के इस हेतु शास्त्र को अपनी व्याख्या में नास्तिक तर्कशास्त्र कहा है। जिस किसी तर्कशास्त्र का अवलम्बन करके नास्तिकगण वेद की निन्दा करते हैं उनका सदाचारियों के द्वारा शासन अवश्य होना चाहिए। यही मनु का अभिप्राय है। इसी के सूचनार्थ वेदनिन्दक तथा नास्तिक शब्द का प्रयोग उन्होंने किया है। मनु संहिता में दो प्रकार के ब्राह्मणों का वर्णन है – नास्तिक और आस्तिक। जो शास्त्र नहीं मानकर शास्त्र के विरुद्ध हेतुवाद का प्रयोग करता है वह नास्तिक हैतुक है। मनु ने इसी हैतुक को लक्ष्य करके कहा हैं – "हैतुकान् बकवृत्तीश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्" (४.३०)। यहाँ पाखण्डी बकवृत्ति आदि निन्द्य के साहचर्य से हैतुक शब्द से नास्तिक हैतुक लिया जाता है। भाष्यकार मेधातिथि आदि ने इसकी यही व्याख्या की है।

पश्चात् मनुस्मृति में धर्मतत्त्व तथा शास्त्रार्थ के निर्णय हेतु महापरिषद् का वर्णन किया गया है। महर्षि मनु ने वेदज्ञ, मीमांसातर्कज्ञ, निरुक्त के ज्ञाता तथा धर्मशास्त्रज्ञ विद्वान् के साथ इस हैतुक विद्वान् का भी उल्लेख किया है।[२६] इस हैतुक पण्डित का वेदत्रयज्ञ पण्डित के पश्चात् द्वितीय स्थान दिया गया किया है। यहाँ मेधातिथि ने हैतुक से अनुमान आदि में कुशल विद्वान् को तथा कुल्लूक भट्ट ने श्रुति एवं स्मृति के अविरुद्ध न्यायशास्त्र के ज्ञाता को लिया है। मनु के द्वारा तर्की कहने से (तार्किक कहने से) मीमांसातर्क के जानकार की तरह न्यायतर्क का जानकार पण्डित भी समझा जाना उचित होता। तथापि चूँकि तर्की से पहले हैतुक पण्डित का उल्लेख[२७] होने से यहाँ श्रुति एवं स्मृति के अविरुद्ध न्यायशास्त्र ही चिरकाल

---

[२५] योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद्द्विजः।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः॥
– मनु स्मृति २.११

[२६] त्रैविद्यो हैतुकस्तर्की नैरुक्तो धर्मपाठकः।
त्रयश्चाश्रमिणः पूर्वे परिषत् स्यात् दशावरा॥
– मनु संहिता १२.१११

हैतुकः अनुमानादिकुशलः। तर्की-अयमूहापोहबुद्धियुक्तः। – मेधातिथि
हैतुकः-श्रुतिस्मृत्यविरुद्धन्यायशास्त्रज्ञः तर्की-मीमांसात्मकतर्कवित्। – कुल्लूक भट्ट

[२७] शङ्ख तथा लिखितमुनि ने नैयायिक पण्डित को धर्मनिर्णय परिषद् के एक सदस्य के रूप में उल्लेख किया है। इसका उल्लेख जयन्त भट्ट की न्यायमञ्जरी में भी मिलता है। शङ्खलिखितौ च ऋग्यजुः सामाथर्वविदःनैयायिको नैष्ठिको ब्रह्मचारी पञ्चाग्निरिति दशावरा परिषदित्यूचतुः।
– न्यायमञ्जरी, पृ. २५५

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

से उसका अर्थ समझा जाता रहा है। अभिप्राय यह है कि शास्त्रों में व्युत्पन्न आस्तिक हैतुक विद्वान् धर्मतत्त्व के निर्णायक परिषद् का अन्यतम सदस्य होता है। महर्षि मनु ने पहले जो हैतुक के लिए असम्मान की बात कही है वह नास्तिक हैतुक के लिए है। फलतः मनु संहिता तथा महाभारत के समस्त वचनों के समन्वय से महाभारत में वेद के प्रामाण्य तथा परलोक आदि के समर्थक, सभी शास्त्रों के प्रदीपस्वरूप गौतमप्रणीत न्यायशास्त्र की निन्दा नहीं है। वह निन्दा नास्तिक तर्कशास्त्र के ज्ञाता के लिए की गई है। मुझे ऐसा ही प्रतीत होता है। वाल्मीकि रामायण में रामचन्द्र ने भरत से कहा है – वत्स ! तुमने लोकायतिक ब्राह्मणों की सेवा तो नहीं की है। अर्थात् रामचन्द्र को वैसे ब्राह्मणों की सेवा अभिप्रेत नहीं थी। अतएव राम ने भरत से कहा कि तुम अनर्थकुशल एवं अज्ञ होकर पण्डिताभिमानी हो गए हो।[२८] मुख्य धर्मशास्त्र (वेदमूलक धर्मशास्त्र) को छोड़कर दुर्बुधगण आन्वीक्षिकी बुद्धि प्राप्त करके अनर्थक प्रवाद करते रहते हैं। यहाँ लोकायतिक ब्राह्मणों को अनर्थकुशल तथा दुर्बुध कहकर जो निन्दा की गई है, वह नास्तिक मतावलम्बी ब्राह्मणों की निन्दा है जिसने धर्मशास्त्र का परित्याग कर दिया है। आन्वीक्षिकी बुद्धि से यहाँ नास्तिक तर्कविद्या में अनुरागमूलक नास्तिक बुद्धि अथवा नास्तिक मत विशेष ज्ञात होता है।

व्याख्याकार रामानुज ने यहाँ चार्वाक मतावलम्बियों में पहला प्रकार लोकायतिक को और द्वितीय प्रकार न्यायमतावलम्बियों को कहा है। रामानुज की सांप्रदायिक व्याख्या नहीं मानने पर ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में न्यायशास्त्र भी लोकायत नाम से परिचित रहा है। फलतः रामानुज की दृष्टि में नैयायिकगण लोकायतिक शब्द से लिए जाते हैं। किन्तु रामायण के प्रथम श्लोक में लोकायतिक चूँकि निन्दनीय रूप में बुद्धिस्थ है अतएव द्वितीय श्लोकगत तत् शब्द से वही बुद्धिस्थ होगा। आस्तिक हैतुक वृन्द का वर्णन वाल्मीकि ने इस रूप में नहीं किया। नास्तिक हैतुक संप्रदाय गौतम के न्यायशास्त्र से तर्क सीखकर उसकी सहायता से नास्तिक मतों का समर्थन करते हैं। अतः वाल्मीकि न्यायशास्त्र की निन्दा नहीं करते हैं। अन्यथा अन्यशास्त्रों की भी निन्दा होने लगेगी। यह संभव नहीं है कि वेद के प्रामाण्य के समर्थक न्याय-वैशेषिक शास्त्र के आर्षसिद्धान्तों की निन्दा श्रीरामचन्द्र करेंगे। अतः वाल्मीकि द्वारा उक्त शास्त्रों की निन्दा वर्णित नहीं

---

२८ कच्चिद् लोकायतिकान् ब्राह्मणांस्तात सेवसे।
अनर्थकुशला ह्येते बालाः पण्डितमानिनः॥
धर्मशास्त्रेषु मुख्येषु विद्यमानेषु दुर्बुधाः।
बुद्धिमान्वीक्षिकीं प्राप्य निगर्वं प्रवदन्ति ते॥
– अयोध्याकाण्ड १००.३८-३९

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

हुई है। रामचन्द्र की राजसभा में हेतुवाद में कुशल हैतुक पण्डितों का विभिन्न आस्तिक शास्त्रज्ञों के साथ सम्मानपूर्वक निमन्त्रण दिया जाना[२९] दिखाया गया है। तात्पर्य यह है कि रामायण में लोकायतिक शब्द का प्रयोग करके सभी हैतुक पण्डितों की निन्दा नहीं हुई है। मनु संहिता में जैसे हैतुक शब्द का प्रयोग करके नास्तिक हैतुक वृन्द का असम्मान हुआ है, उसी प्रकार रामायण में भी लोकायतिक शब्द का प्रयोग करके नास्तिक हैतुक वृन्द को असम्मान्य कहा गया है। प्राचीन काल में न्यायशास्त्र भी लोकायतिक नाम से प्रसिद्ध रहा है। बहुश्रुत प्राचीन विद्वानों से मैंने ऐसा सुना है। रामानुज की व्याख्या से भी यही ज्ञात होता है। परन्तु अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने आन्वीक्षिकी विद्या के मध्य लोकायत मत[३०] का उल्लेख किया है। कौटिल्य की दृष्टि में लोकायत शब्द से बार्हस्पत्य सूत्र आदि नास्तिक तर्कविद्या का ग्रहण होता है। इन्होंने विद्या और आन्वीक्षिकी शब्द की जो व्युत्पत्ति दिखाई है एवं आन्वीक्षिकी विद्या के जितने फलों का उल्लेख एवं प्रशंसा की गई है वह अन्यथा सुसंगत नहीं होती। सभी विद्याओं का प्रदीप, सभी कर्मों का उपाय तथा सभी धर्मों का आश्रय कहकर इसकी प्रशंसा की गई है। इससे ज्ञात होता है कि न्यायशास्त्र आन्वीक्षिकी का प्रभेद है। वात्स्यायन भाष्य में "प्रदीपः सर्वविद्यानाम्" इत्यादि पद्य से न्यायशास्त्र की प्रशंसा की गई है। अतः ज्ञातव्य है कि कौटिल्य ने लोकायत शब्द से न्यायशास्त्र का ही उल्लेख किया है। बार्हस्पत्य सूत्रों के सिद्धान्त लोकसम्मत तथा लोकप्रचलित हैं। अधिकांश लोकमती देह को आत्मा, परलोक में अविश्वास तथा केवल प्रत्यक्ष प्रमाण से वस्तु की सिद्धि मानते हैं – यह लोकायत मत है। इस मत के प्रतिपादक ग्रन्थ चिरकाल से लोकायत नाम से उल्लिखित एवं प्रसिद्ध भी हैं। वात्स्यायन के कामसूत्र (१.२ अ., २४ सू.) में परलोक में विश्वास नहीं रखने वाले संशयवादी को लोकायतिक कहा गया है। बहुत ग्रन्थों में लौकायतिक तथा कुछ

---

[२९] हेतूपचारकुशलान् हैतुकांश्च बहुश्रुतान्।

– रामायण, उत्तरकाण्ड १०७८

हैतुकान् तार्किकान्। – रामानुज

[३०] चतस्र एव विद्या इति कौटिल्यः। आभिः धर्मार्थौ यद् विद्यात् तद् विद्याया विद्यात्वम्। सांख्ययोगो लोकायतश्च इत्यान्वीक्षिकी। धर्माधर्मौ त्रय्यामर्थानर्थौ वार्तायाम्। नयानयौ दण्डनीत्याम्। बलाबले चैतासां हेतुभिरन्वीक्षमाणा लोकस्योपकरोति व्यसनेऽभ्युदये च बुद्धिमवस्थापयति। प्रज्ञावाक्यक्रियावैशारद्यं च करोति।

प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता॥ – अर्थशास्त्र

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

ग्रन्थों में लोकायतिक शब्द का प्रयोग उपर्युक्त एक ही अर्थ में किया गया है।[३१] न्यायदर्शन के अनेक सिद्धान्त लोकसिद्ध हैं। आत्मा का कर्तृत्व आदि सर्वलोकसिद्ध है, समाज का प्रत्येक व्यक्ति तर्क तथा अनुमान करता है तथा अनुमान के द्वारा व्यवहार का निर्वाह होता है। लोक में विस्तृत इस व्युत्पत्ति के अनुसार लोकायत पद यदि प्राचीन काल से ही न्यायशास्त्र के लिए अभिहित होता है तो यह असंभव नहीं है। नास्तिकशास्त्र विशेष में लोकायत शब्द का प्रयोग बहुलता से उसी अर्थ में उसके प्रसिद्ध हो जाने से परवर्ती काल में न्यायशास्त्र के लिए लोकायत शब्द का प्रयोग छूट गया है। प्राचीन विद्वानों के द्वारा प्रयुक्त अनेक शब्द परवर्ती काल में व्यवहार में नहीं रहे, इसका प्रचुर प्रमाण उपलब्ध है। चिरकाल से भाषा के प्रयोग में परिवर्तन होता आ रहा है। प्राचीन काल में वैशेषिकदर्शन के लिए योग शब्द का प्रयोग होता रहा है। हेमचन्द्र सूरि ने योग शब्द का एक अर्थ नैयायिक भी कहा है (द्रष्टव्य – वाचस्पत्य अभिधान का योग शब्द)। प्राचीन काल में नैयायिकगण योग नाम से ही कहे जाते थे। किन्तु हरिवंश के किसी श्लोक[३२] में लोकायतिक मुख्य शब्द देखा जाता है। यहाँ टीकाकार नीलकण्ठ ने प्रसिद्ध अर्थ में अनुपपत्ति देखकर लक्षणा से अन्य अर्थ की व्याख्या की है। किंतु लोकायतिक मुख्य कहने से न्यायशास्त्र के ज्ञाता को समझने में किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं होती, वहाँ वह अर्थ ही विवक्षित है। तात्पर्य यह है कि रामानुज तथा कौटिल्य की बात के साथ हरिवंश के इस श्लोक पर विचार करने से ज्ञात होता है कि लोकायत पद से प्राचीन काल में न्यायशास्त्र लिया जाता था। लोकायत शास्त्र के दो प्रकार – आस्तिक एवं नास्तिक रहे हैं। हरिवंश में लोकायतिक पद से आस्तिक लोकायतिक अभिप्रेत है। रामायण में अनर्थ कुशल, अज्ञ तथा दुर्बुध आदि वाक्यों से निन्दा करके कथित लोकायतिक वृन्द को नास्तिक ही कहा गया है। महाभारत में वेदनिन्दक तथा नास्तिक आदि वाक्यों से इसी का परिस्फुरण

---

[३१] "लोकायत" शब्द से तद्धित प्रत्यय करने पर "लौकायतिक" प्रयोग की तरह लोकायतिक प्रयोग भी होता है। यह बात रामानुज तथा नीलकण्ठ की व्याख्या से ज्ञात होती है। रामायण तथा हरिवंश में लौकायतिक पाठ उपलब्ध है। एक बहुश्रुत विद्वान् से सुना है कि लोकायति शब्द से तद्धित प्रत्यय करने पर कहीं-कहीं लोकायतिक पद भी प्रयुक्त हुआ है। इस लोक में जिसकी आयति (उत्तर काल) अर्थात् जिसके मत में उत्तरकालिक परलोक शब्द मान्य नहीं है, इस अर्थ में लोकायतिक शब्द से नास्तिक अभिप्रेत है – रामायण में इसी नास्तिक की निन्दा है।

[३२] ऐक्यनानात्वसंयोगसमवायविशारदैः।
लोकायतिकमुख्यैश्च शुश्रुवुः स्वनमीरितम्॥
– हरिवंश, भविष्य पर्व ६७.३०

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

हुआ है किन्तु लोकायतिक शब्द से यदि चार्वाक से भिन्न अन्य किसी को नहीं माना जाए तो न्यायशास्त्र का लोकायत नाम से किसी काल में उल्लेख नहीं होता। अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने बार्हस्पत्य सूत्र आदि को लोकायत कहकर आन्वीक्षिकी में गणना की है। उसे मानने पर रामायण के लोकायतिक शब्द का नैयायिक अर्थ लेना संभव नहीं होगा। अतः रामानुज की व्याख्या को कल्पित ही मानना होगा। यह मानने पर भी आन्वीक्षिकी में न्यायशास्त्र का उल्लेख नहीं है – यह नहीं कहा जा सकता। क्योंकि कौटिल्य के अन्तिम वाक्य की आलोचना से यह नहीं प्रतीत होता है कि आन्वीक्षिकी से इन्होंने न्यायशास्त्र का उल्लेख नहीं किया है। अर्थशास्त्र में न्याय अथवा न्याय-वैशेषिक दोनों ही आन्वीक्षिकी में परिगणित हैं। अर्थशास्त्र में ''योगम्'' पाठ ही संगत प्रतीत होता है। प्राचीन काल में योग शब्द का इस अर्थ में प्रयोग होता रहा है। भाष्यकार वात्स्यायन के द्वारा योग शब्द के प्रयोग से यह ज्ञात होता है। हेमचन्द्र सूरि तथा अनेक जैन न्याय के ग्रन्थों में इसका स्पष्ट प्रमाण मिलता है। वात्स्यायन के ''योगानां'' इस पद से सांख्य और योग का व्यवहार देखकर कौटिल्य का ''सांख्यं योगं'' पद से यही प्रतिपाद्य ज्ञात होता है (द्रष्टव्य न्यायदर्शन)। अर्थशास्त्र में लोकायत से न्यायशास्त्र और योग से केवल वैशेषिकशास्त्र अभिप्रेत है। आन्वीक्षिकी में योगशास्त्र एवं सांख्यशास्त्र के प्रयोग से कौटिल्य का वक्तव्य यही प्रतीत होता है कि सांख्य प्रवचन और वैशेषिक यहाँ उनको अभिप्रेत हैं। न्यायशास्त्र को कौटिल्य यदि आन्वीक्षिकी नहीं कहेंगे तो त्रयी, वार्त्ता और दण्डनीति की हेतु के द्वारा परीक्षा करके लोक का उपकार नहीं हो सकता। अतएव कौटिल्य द्वारा संपूर्ण आन्वीक्षिकी इस परीक्षा में समर्थ है – यह विचार करना आवश्यक है। भिन्न मत में विद्या के तीन प्रकारों को कौटिल्य ने कहा है। रामायण में भी त्रिविध विद्या का उल्लेख है किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि त्रिविध विद्या से भिन्न विद्या है ही नहीं। यहाँ विद्या की परिगणना अपेक्षित नहीं है। महाभारत में भी किसी स्थल में ऐसे सन्दर्भ में त्रिविध विद्या का उल्लेख दृष्टिगोचर होता है। जो भी हो कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में न्यायशास्त्र का किसी विद्या में परिगणन नहीं किया है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि उनके समय में न्यायशास्त्र नहीं था, अथवा उसकी आलोचना नहीं थी।

किन्तु जब से शास्त्रार्थ विचार का आरम्भ हुआ है उसी समय से व्याकरण की तरह न्यायशास्त्र की भी विशेष रूप से आलोचना होने लगी है। किस रीति से विचार करणीय है, वाद विचार किसे कहते हैं, सदुत्तर तथा असद् उत्तर इत्यादि विचार-विषयक समस्त ज्ञातव्य विषय न्यायशास्त्र में ही वर्णित हैं। विचारोपयोगी संशय आदि चौदह पदार्थों का विवेचन न्यायशास्त्र में होने से इसका पृथक् प्रस्थान मान्य है। अनुमान प्रमाण का विशुद्ध एवं अशुद्ध हेतु या हेत्वाभास का सर्वाङ्गपूर्ण निरूपण न्यायशास्त्र में ही अच्छी

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

तरह हुआ है। शास्त्रार्थ के निर्णय में अनुमान प्रमाण का परिशुद्ध ज्ञान नितान्त आवश्यक है। तैत्तिरीय आरण्यक के प्रथम प्रपाठक के तृतीय अनुवाक[३३] में प्रत्यक्ष, स्मृति तथा पुराण और शब्द प्रमाण के साथ अनुमान प्रमाण का भी उल्लेख है।

महर्षि मनु ने भी उपर्युक्त परिषद् वर्णन में पहले ही कहा है कि धर्म तत्त्व निर्णय के इच्छुक व्यक्ति को प्रत्यक्ष और शास्त्र रूप शब्द प्रमाण के साथ अनुमान प्रमाण का ज्ञान अवश्य रहना चाहिए। पुनः दूसरे श्लोक में इन्होंने कहा है कि वेदशास्त्र के अविरोधी तर्क से शास्त्र विचार करने वाला व्यक्ति ही धर्म को जानता है। जो इस प्रकार के तर्क से शास्त्र का विचार नहीं करता है वह शास्त्र से बोध्य धर्म को नहीं जान पाता है।[३४] यहाँ मनुवचन में उक्त तर्क शब्द से अनेक तर्कशास्त्रों को समझना चाहिए। न्यायसूत्र के वृत्तिकार विश्वनाथ ने इसके लिए जो श्लोक उद्धृत किया है उसका विचार करने पर यही अभिप्रेत ज्ञात होता है। बहुत विद्वान् तर्क शब्द से अनुमान प्रमाण समझते हैं।[३५] भाष्यकार मेधातिथि ने पहले ही इस प्रकार की व्याख्या करके पश्चात् मीमांसाशास्त्र संबन्धी तर्क की बात कही है। कुल्लूक भट्ट ने मीमांसा आदि न्याय कहकर प्रमाण के सहकारी सभी प्रकार के तर्कों का ग्रहण यहाँ तर्क शब्द से किया है। वस्तुतः तर्क शब्द पूर्वोक्त अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता रहा है। अनुमान प्रमाणरूप अर्थ में भी तर्क शब्द का प्रयोग हुआ है। शारीरक भाष्य में आचार्य शंकर ने किसी-किसी स्थल पर इस तरह का प्रयोग किया है। किंतु महर्षि मनु ने पूर्व श्लोक में तीन प्रमाणों की बात कहकर परवर्ती श्लोक में प्रमाण के सहकारी तर्क की बात कही है। यही तर्क न्यायदर्शन का तर्क पदार्थ है जो केवल अनुमान प्रमाण का ही नहीं अपितु सभी प्रमाणों का सहकारी है। तात्पर्यटीकाकार वाचस्पति मिश्र तथा तार्किकरक्षाकार वरदराज ने न्यायदर्शन में उक्त तर्क पदार्थ की व्याख्या में यही बात कही है। मीमांसाशास्त्र में उक्त तर्क न्यायदर्शन का तर्क पदार्थ ही है। यही तर्क मीमांसा

---

[३३] स्मृतिः प्रत्यक्षमैतिह्यमनुमानचतुष्टयम्।
एतैरादित्यमण्डलं सर्वैरेव विधास्यते ॥१.२

[३४] प्रत्यक्षमनुमानञ्च शास्त्रं च विविधागमम्।
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशास्त्रमभीप्सता॥
आर्षं धर्मोपदेशञ्च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः॥ – १२.१०५-६

[३५] न्यायमञ्जरीकार जयन्त भट्ट ने मनुवचन में उक्त तर्क शब्द का अर्थ अनुमान किया है। तर्क शब्दं केचिदनुमाने प्रयुञ्जते यथा स्मृतिकाराः-आर्षं धर्मोपदेशञ्च इत्यादि
– न्यायमञ्जरी, पृ. ५८८

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

शब्द से कहा जाता है। न्यायदर्शन के सोलह पदार्थों के अन्तर्गत ही इस तर्क पदार्थ का समावेश होता है। उससे भिन्न उसका अस्तित्व नहीं है। उसको समझाने के लिए उन ग्रन्थों में मीमांसाचार्य की कारिका का उल्लेख हुआ है। वरदराज ने न्यायदर्शन के तर्क पदार्थ की व्याख्या में मनुस्मृति के तर्क शब्द से प्रमाण के सहकारी न्यायदर्शन का तर्क ही लिया है। वेदान्तसूत्र में वेदव्यास[३६] ने ''तर्काप्रतिष्ठानादपि'' कहकर इसी सूत्र के अर्थ को लिया है। यदि कहा जाए कि अन्य प्रकार का अनुमान करना है तो अनुमान तो किया जा सकता है किन्तु उस अनुमान के ज्ञान से परम पुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। तात्पर्य यह है कि शास्त्रनिरपेक्ष तर्क से उत्पन्न ज्ञान मोक्ष का साधन नहीं होता है। वेद व्यास ने यह क्यों कहा है कि तर्क की प्रतिष्ठा नहीं है। इसको समझाने के लिए भाष्यकार आचार्य शंकर ने कहा है कि तर्क की प्रतिष्ठा नहीं है – यह नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि तर्क के बिना लोकव्यवहार का ही उच्छेद हो जाएगा। किन्तु यदि तर्क मात्र अप्रतिष्ठित हुआ तो अनुमान मात्र में प्रामाण्य संदिग्ध हो जाएगा और तब किस प्रमाण से सिद्ध होगा कि सभी तर्क अप्रतिष्ठित हैं। कुछ तर्कों की अप्रतिष्ठा देखकर उसी को दृष्टान्त मानकर अनुमान से तर्क मात्र की अप्रतिष्ठा का साधन संभव नहीं है। यदि तर्क मात्र अप्रतिष्ठित होगा अर्थात् उसमें प्रामाण्य का सन्देह रहेगा तब तर्क मात्र की अप्रतिष्ठा किस तर्क से या अनुमान से सिद्ध होगी। भाष्यकार शंकर ने अनेक युक्तियाँ देकर समझाया है कि तर्क मात्र को अप्रतिष्ठित नहीं कहा जा सकता। वेदार्थ के निर्णय के लिए प्रमाण के सहकारी रूप में अनेक तर्क विशेषों की आवश्यकता होती है। अतः तर्क मात्र को अप्रतिष्ठित नहीं कहा जा सकता। उन्होंने उसके समर्थन में मनुस्मृति के ''प्रत्यक्षमनुमानञ्च'' उन दो श्लोकों को यहाँ उद्धृत किया है। आनन्द गिरि ने यहाँ मनुवचन की व्याख्या में कहा है कि मनुस्मृति में उक्त धर्म शब्द से ब्रह्म भी लिया जाता है। तात्पर्य यह है कि विचार से धर्म निर्णय की तरह ब्रह्म निर्णय में भी वेदशास्त्र के अविरोधी तर्क अपेक्षित हैं। उससे ज्ञात होता है कि वेदान्त दर्शन अथवा शारीरक भाष्य में तर्क मात्र को अप्रतिष्ठित नहीं कहा गया है। अपितु प्रत्यक्ष तथा आगम से अपरिपुष्ट शुष्क तर्क अर्थात् नास्तिकों के तर्क को अप्रतिष्ठित कहा गया है। शास्त्रार्थ निर्णय के लिए अनुमान प्रमाण तथा प्रमाण का सहकारी तर्क विशेष नितान्त आवश्यक है। आचार्य शंकर ने उसी का समर्थन किया है। उस विषय में मनुस्मृति के वचन का उल्लेख करके अपने पक्ष का उन्होंने समर्थन किया है। वस्तुतः तर्क का सर्वथा परित्याग करके कोई भी

---

[३६] सम्पूर्ण वेदान्त का यह सूत्र रूप में इस प्रकार है – तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथानुमेयमिति-चेदेवमप्यविमोक्षप्रसङ्गः (२.१.११)

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

शास्त्रार्थ की व्याख्या नहीं कर सकता। जिन्होंने विचार के द्वारा शास्त्रार्थ की व्याख्या की है, उस मत की प्रतिष्ठा की है; उन्होंने तर्क का अवलम्बन किया ही है। वेद व्यास की वेदान्तवाक्यमीमांसा भी तर्क ही है। उसके अविरोधी सभी तर्क पूर्व-मीमांसा एवं न्यायदर्शन में उक्त हैं। दोनों ही शास्त्र वेदान्त-वाक्य मीमांसा के उपकरण हैं। भाष्यकार शंकर तथा भामतीटीकाकार वाचस्पति मिश्र ने इस बात का विशद रूप में वर्णन किया है।[३७]

वेदान्तदर्शन में भगवान् वेद व्यास ने भी अपने सिद्धान्त के समर्थन में शब्द प्रमाण की तरह साक्षात् रूप से युक्ति का अर्थात् अनुमान प्रमाण का भी अवलम्बन किया है। (युक्तेः शब्दान्तराच्च २.१.१८ सूत्र द्रष्टव्य)। बृहदारण्यक भाष्य में आचार्य शंकर ने आत्मा के नित्यत्व का साधन करते हुए अन्त में न्यायाच्च (३.४) सूत्र के द्वारा इस प्रसङ्ग में तर्क का प्रदर्शन किया है। इस प्रकार सिद्धान्त के समर्थन एवं शास्त्रार्थ की व्याख्या के लिए प्रत्येक आचार्य ने अनेक प्रकार के तर्कों का अवलम्बन किया है। विचारशास्त्र एवं दर्शनशास्त्र में सभी आचार्यों के लिए तर्क का अवलम्बन अपरिहार्य है। प्रत्येक आचार्य अपने पक्ष के समर्थन में हेतु का उल्लेख अवश्य करते हैं। हेतुवाद को छोड़कर एक भी आचार्य अपने पक्ष का समर्थन एवं अवबोधन नहीं कर सकता। वह सर्वथा असंभव है। ''शास्त्रयोनित्वात्, तत्तु समन्वयात्, ईक्षतेर्नाशब्दः'' इत्यादि वेदान्त सूत्रों में हेतु का उल्लेख करके ही सिद्धान्त का समर्थन एवं अवबोधन हुआ है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है – ''ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः'' (१३.५)। यहाँ भाष्यकार आचार्य शंकर ने कहा है – ''हेतुमद्भिः-युक्तियुक्तैः''। श्रीधर स्वामी ने ''ईक्षतेर्नाशब्दम्'' इस वेदान्त सूत्र का उल्लेख करके उन सब हेतुओं की विशिष्टता दिखाई है। यहाँ यदि हेतु से ही सिद्धान्त का समर्थन होता है तो शब्द प्रमाण के सहकारी रूप में हेतु या युक्ति की स्वीकृति आवश्यक है अन्यथा हेतु किसे कहा जाएगा। किसी हेतु से किसी साध्य की सिद्धि नहीं होती। किस हेतु में किस साध्य की साधनता है, हेतु क्या है, हेतु का दोष किसे कहते हैं, उसका गुण क्या है – इन विषयों का सम्यक् ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। शास्त्रार्थ का निर्णय करने के लिए शास्त्र का तात्पर्य क्या है, शास्त्र में कहाँ किस शब्द

---

[३७] तस्माद् ब्रह्मजिज्ञासोपन्यासमुखेन वेदान्तवाक्यमीमांसा तदविरोधितर्कोपकरणा निःश्रेयसप्रयोजना प्रस्तूयते।

– शारीरकभाष्य प्रथमसूत्र का उपसंहार

सूत्रतात्पर्यमुपसंहरति तस्मादिति। वेदान्तमीमांसा तावत् तर्क एवं तदविरोधिनश्च येऽन्येऽपि तर्का अध्वरमीमांसायां न्याये वेदप्रत्यक्षादिप्रामाण्यपरि शोधनादियुक्तास्ते उपकरणाः यस्याः सा तथोक्ता।

– भामती

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

का किस अर्थ में प्रयोग हुआ है – इन बातों का ज्ञान प्रत्येक विचारक के लिए आवश्यक है। उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति रूप लिङ्गों से जो वेद के तात्पर्य का निर्णय होता है, वह तात्पर्य भी तर्क से ही निर्णीत होता है। तात्पर्य यह है कि हेतु एवं हेत्वाभास के यथार्थ ज्ञान के बिना विचार द्वारा शास्त्रार्थ का निर्णय नहीं हो सकता। यही कारण है कि मनुस्मृति में उक्त धर्मनिर्णय परिषद् में हैतुक को दूसरा स्थान दिया गया है। हेतु, हेत्वाभास, अनुमान प्रमाण तथा तर्क का यथार्थ परिचय न्यायशास्त्र में ही अच्छी तरह एवं सर्वाङ्गपूर्ण विवेचित हुआ है। यह सब न्यायविद्या का प्रस्थान है। अतः हेतु से कुछ समझने तथा समझाने के लिए न्यायशास्त्र का अवलम्बन अपरिहार्य है। अतएव पुराणों में तथा वेद के चरणव्यूहों[३८] में न्यायशास्त्र न्यायतर्क पद से उक्त है तथा वेद का उपाङ्ग माना गया है।

वेदान्त दर्शन के तृतीय सूत्र के भाष्य में आचार्य शंकर ने वेद के प्रामाण्य के समर्थन में कहा है – ''अनेकविद्यास्थानोपबृंहितः''। अनेक अंग एवं उपांङ्ग वेद के उपकरण रूप में प्रसिद्ध हैं। पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, शिक्षा तथा कल्प आदि षडङ्ग – यह दश विद्यास्थान कहे गए हैं अर्थात् वेदार्थ के ज्ञान में हेतु होते हैं। उन दश विद्या स्थानों से वेद उपकृत होता है। वाचस्पति मिश्र आदि व्याख्याकारगण ने आचार्य शंकर की इस कथा की यही व्याख्या की है। फलतः पदार्थ के ज्ञान हेतु प्राचीन काल से ही वेदाङ्ग व्याकरणशास्त्र की तरह वेद का उपाङ्ग न्यायशास्त्र आलोचित होता रहा है। इसमें सन्देह नहीं है कि जिस किसी भी रूप में न्यायशास्त्र प्राचीन काल में भी था। यह अवश्य मानना चाहिए। सभी विद्याओं की उत्पत्ति तथा प्रवृत्ति परमात्मा से हुई है – उपनिषदों में यह वर्णित है। बृहदारण्यक उपनिषद् २.४.१० में सूत्राणि पद का उल्लेख हुआ है। याज्ञवल्क्य संहिता ३.१८ में ''सूत्राणि भाष्यामि'' उल्लिखित है। भाष्यकार वात्स्यायन ने न्यायभाष्य के अन्त में कहा है कि अक्षपाद ऋषि को न्यायशास्त्र प्रतिभात हुआ था। इन्होंने अक्षपाद ऋषि को न्यायशास्त्र का कर्ता नहीं कहा है। न्यायवार्त्तिक के आरम्भ में उद्योतकर ने भी अक्षपाद को न्यायशास्त्र का वक्ता कहा है, कर्ता नहीं।

विचारपूर्वक वेदार्थ ज्ञान में जिस न्यायशास्त्र की आवश्यकता होती है, वह न्यायशास्त्र-विशेष, मुमुक्षु के लिए श्रवण के पश्चात् कर्त्तव्य, मनन के रूप में मान्य है। क्योंकि शास्त्र से तत्त्व का श्रवण करने के पश्चात् अर्थात् शाब्दबोध के बाद अनुमान

---

[३८] मीमांसान्यायतर्कश्च उपाङ्गः परिकीर्तितः। – न्यायसूत्र वृत्तिकार द्वारा उद्धृत पुराण वचन

तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते। तथा प्रतिपदमनुपदं छन्दो भाषा धर्मो मीमांसा न्यायतर्का इत्युपाङ्गानि। – चरणव्यूह

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

प्रमाण से निर्णीत तत्त्व का पुनर्ज्ञान ही मनन है। श्रुततत्त्व की दृढ़ता के लिए ज्ञात विषय में भी अनेक हेतुओं से अनुमान रूप मनन की प्रक्रिया शास्त्र में उपदिष्ट है – "मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः"। श्रवण के पश्चात् मन से उस पदार्थ का ध्यान मनन नहीं है। ध्यान अर्थात् निदिध्यासन मनन के पश्चात् विहित है। बृहदारण्यक में श्रवण के पश्चात् "मन्तव्यः" पद की व्याख्या में भाष्यकार शंकराचार्य ने कहा है – "पश्चान्मन्तव्यः तर्कतः"। श्रवण के पश्चात् तर्क के द्वारा मनन करना चाहिए – यही उपनिषद् में उक्त है। योगाङ्ग विशेष इस प्रकार के ऊहरूप तर्क को मनन नहीं कहते, अपितु वेदान्त दर्शन के द्वितीय सूत्र के भाष्य में शंकराचार्य ने कहा है कि वेदान्त वाक्य के अविरोधी अनुमान प्रमाण भी सुने हुए वेदार्थ ज्ञान की दृढ़ता के लिए अवलम्बनीय है। क्योंकि श्रुति भी तर्क को सहायक के रूप में स्वीकार करती है। इसके पश्चात् "श्रोतव्यो मन्तव्यः" यह श्रुति में उल्लिखित है। भामती व्याख्याकार वाचस्पति मिश्र ने यहाँ मनन की व्याख्या करते हुए कहा है कि युक्तिविशेष से विवेचन ही मनन है और युक्ति से अर्थापत्ति तथा अनुमान विवक्षित है। मीमांसा में अनुमान प्रमाण से भिन्न अर्थापत्ति नामक स्वतन्त्र प्रमाण माना गया है। अतः वाचस्पति मिश्र ने उसका उल्लेख पहले किया है। न्यायमत में अनुमान विशेष ही अर्थापत्ति है। फलतः शाब्दबोध के पश्चात् हेतुओं से अनुमान करना ही सर्वसम्मत मनन पदार्थ है। शंकराचार्य ने भी तर्क से मनन करना स्वीकार किया है। उनके द्वारा आत्मविषयक कुतर्क का निषेध होने पर भी सभी तर्कों का निषेध नहीं हुआ है। श्रुति ने जिस विषय में तर्क को अवलम्बनीय कहा है वह शंकराचार्य को मान्य है। कठोपनिषद् में आत्मा को अतर्क्य कहा है "नैषा तर्केण मतिरापनेया"। यहाँ भाष्यकार शंकराचार्य ने तर्कशब्द का अर्थ शास्त्रनिरपेक्ष अपनी बुद्धि से कल्पित[३९] कुतर्क कहा है।

शास्त्र द्वारा आत्मा का श्रवण अर्थात् शाब्दबोध के पश्चात् शास्त्रसम्मत अनुमान से उस पदार्थ का मनन करना चाहिए। शास्त्र की अपेक्षा न करके अपने बुद्धिबल से आत्मतत्त्व का ज्ञान नहीं हो सकता। वेदशास्त्र का विरोधी तर्क ही कुतर्क कहलाता है। यह बात सभी वेद प्रामाण्यवादी सम्प्रदायों को मान्य है। न्यायशास्त्र में भी इसका विपरीत उक्त नहीं है। वेद प्रामाण्य के समर्थक गौतम के मत में शास्त्रविरुद्ध अनुमान न्याय नहीं है। वह न्यायाभास कहलाता है, वह प्रमाण नहीं होता। महर्षि गौतम ने किसी स्थान में किसी के विरुद्ध अनुमान का विचार करते समय "श्रुतिप्रामाण्याच्च" (३.२.२९) सूत्र के द्वारा अनुमान की वेदविरुद्धता की तथा उसके अप्रामाण्य की सूचना दी है। मैं

---

[३९] अतर्क्यमतर्क्यः स्वबुद्ध्याभ्यूहेन केवलेन तर्केण। नहि कुतर्कस्य प्रतिष्ठा क्वचिद् विद्यते। नैषा तर्केण स्वबुद्ध्याभ्यूहमात्रेण।

– कठोपनिषद् १.२.८९, शाङ्करभाष्य

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

सहमत नहीं हूँ। श्रुति के मानने वाले ऋषियों का ऐसा मत हो ही नहीं सकता। प्रत्यक्ष और आगम का अविरोधी अनुमान ही अन्वीक्षा कहलाता है और इसी अन्वीक्षा के निर्वाह हेतु आन्वीक्षिकी विद्या का प्रकाशन हुआ है। अतः न्यायदर्शन में मीमांसादर्शन की तरह कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड के वाक्यार्थ का विचार नहीं होता। किन्तु यह मान्य नहीं है कि न्यायशास्त्र के वक्ता गौतम ने वेद की अपेक्षा न करके केवल अनुमान के द्वारा आत्मा आदि तत्त्वों का निरूपण किया हो। वेद में प्रतिपादित पदार्थों की प्रतिज्ञा आदि पञ्चावयव रूप न्यायों से परीक्षा करने में किसी को संशय या आपत्ति नहीं होती क्योंकि पञ्चावयव वाक्य के मूल में सभी प्रमाणों का समावेश है। न्याय से निर्णीत पदार्थ सभी प्रमाणों से समर्थित होते हैं। इसलिए इस न्याय को परम न्याय कहा गया है। इस न्याय के अन्तर्गत प्रतिज्ञा-वाक्य के मूल में सर्वत्र आगम प्रमाण रहता है। वेदार्थ के विषय में विवाद उपस्थित होने पर इस परमन्याय का अवलम्बन करके वेदार्थों की परीक्षा आवश्यक होती है। महर्षि गौतम के पञ्चावयव रूप न्याय निरूपण का यही मुख्य उद्देश्य है। व्याख्यात वेदार्थों के समर्थन हेतु दार्शनिक आचार्यों ने अनेक स्थलों में अनुमान का उल्लेख किया है। वेदान्तसूत्रों में भी यह देखा जाता है। केवल अनुमान से ही अनेक स्थलों में आचार्यवृन्द ने अनेक तत्त्वों का प्रतिपादन किया है। किन्तु जो अनुमान वेदविरुद्ध रूप में निर्णीत हैं वह सभी वैदिक सम्प्रदायों में अप्रमाण ही हैं। कौन-सा अनुमान वेदविरुद्ध है इसके निर्णय हेतु पहले वेदार्थ का निर्णय आवश्यक है। वेद में बहुत दुर्बोध तत्त्वों का वर्णन किया गया है। सभी ज्ञान-विज्ञानों के आकर इस वेद में प्रायः प्रत्येक सिद्धान्त वर्णित हुआ है। पूर्वपक्ष के रूप में समस्त नास्तिक मतों का भी यहाँ उल्लेख हुआ ही है। महर्षिवृन्द वेद के सम्पूर्ण अंशों से अधिगत रहे हैं। ज्ञातव्य रूप से वेद में उपदिष्ट सिद्धान्तों को व्याख्या के द्वारा समझाना उनके लिए आवश्यक हो गया था। वेदज्ञ महर्षियों के द्वारा नहीं समझाने पर अथवा नहीं समर्थित होने पर अन्य किसी भी प्रकार से वैदिक वाक्यों का ज्ञान नहीं हो सकता था। वेदार्थों का स्मरण करके पुराण, न्याय तथा मीमांसा आदि शास्त्रों के प्रणेता महर्षिगण वेद की ही व्याख्या करते हैं। उनके द्वारा उपदिष्ट सभी विद्या स्थानों से वेद उपकृत हुआ है। शंकराचार्य के इस वक्तव्य को समझाते हुए वाचस्पति मिश्र ने यही व्याख्या की है।[४०] तात्पर्य यह है कि तत्त्वदर्शी महर्षिवृन्द सभी जीवों के दुःखों के निदानस्वरूप मिथ्याज्ञान की निवृत्तिरूप मुख्य उद्देश्य को लेकर जीवों पर कृपा

---

४० अनेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य। पुराणन्यायमीमांसादयो दश विद्यास्थानानिस्तैस्तया तया द्वारा उपकृतस्य। तदनेन समस्तशिष्टपरिग्रहेणाप्रामाण्यशङ्काप्यपाकृता। पुराणादिप्रणेतारो हि महर्षयः शिष्टस्तैस्तया तया द्वारा वेदान् व्याचक्षाणैस्तदर्थश्चादरेणानुतिष्ठद्भिः परिगृहीतो वेद इति। — भामती, तृतीय सूत्र

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

करते हुए नाना प्रकारों के वेदवर्णित सिद्धान्तों की व्याख्या एवं समर्थन किया है। अधिकार के अनुसार गुरु तथा शास्त्र की सहायता से विचार द्वारा श्रवण तथा मनन करने पर गुरु के उपदिष्ट तत्त्व का परोक्षज्ञान ही उत्पन्न होता है। परोक्षज्ञान के उत्पन्न न होने पर उसके साक्षात् ज्ञान प्राप्त हेतु अधिकार नहीं होता। अतः परोक्षज्ञान की प्राप्ति हेतु विविध तत्त्व का विचार आवश्यक है। शास्त्र में उक्त उपायों से कर्म द्वारा चित्त शुद्धि करके ध्यान तथा धारणा आदि के फलस्वरूप परम ज्ञेय का तत्त्व साक्षात्कार उत्पन्न होता है। इस तत्त्व साक्षात्कार के लिए प्रत्येक मुमुक्षु को योगशास्त्र में उक्त उपायों का अवलम्बन करना आवश्यक है। न्यायसूत्रकार महर्षि गौतम ने भी अन्त में यह बात कही है। तत्त्व साक्षात्कार होने पर सभी प्रकारों के संशय दूर हो जाते हैं। परोक्ष तत्त्व ज्ञान की सिद्धि हेतु विचार द्वारा उसे दृढ़ किया जाना आवश्यक है। विचार की प्रक्रिया में व्याख्यागत मतभेदों का होना स्वाभाविक है। ऐसे मतभेद अधिकारीभेद से श्रवण, मनन के लिए वास्तव में एक व्यापक परिप्रेक्ष्य का ही निर्माण करते हैं। यह कहना सत्य का अपमान होगा कि सभी सम्प्रदायों में यद्यपि अनेक भट्ट मनीषियों का आविर्भाव हुआ लेकिन उससे ज्ञान-राज्य की उन्नति नहीं हुई और न ही तत्त्व निर्णय के पथ पर व्यक्ति अग्रसर ही हो सका। ऋषिगण तथा भट्ट मनीषीवृन्द चिरकाल से अनेक प्रकारों से ज्ञान राज्य का विपुल विस्तार करते रहे हैं तथा कर रहे हैं। वे सब हम लोगों के गुरु स्थानीय हैं। सभी आचार्यों के सिद्धान्त तत्त्व जिज्ञासुओं के लिए ज्ञातव्य हैं। सिद्धान्त में भेद नहीं रहने पर विचार में किसी की प्रवृत्ति ही नहीं होगी। इसी को ध्यान में रखकर महर्षि गौतम ने सोलह पदार्थों के मध्य सिद्धान्त का विशेष रूप से उल्लेख करके उसके चार प्रभेदों को समझाया है। महर्षि गौतम अन्य दर्शन के सिद्धान्त को भी सिद्धान्त कहते हैं। प्रत्येक सिद्धान्तवादी ने अपनी प्रक्रिया से तर्क द्वारा श्रुति की व्याख्या करके अपने सिद्धान्त को श्रौत रूप में समर्थित किया है। तत्त्व निर्णायक के समस्त व्याख्यान विचार द्वारा आलोचनीय हैं। न्यायाचार्यगण जिस प्रकार से श्रुति की व्याख्या करते हैं वह व्याख्या इस ग्रन्थ में यथास्थान प्राप्त होगी। यहाँ पहले मुमुक्षुओं के लिए तत्त्व श्रवण के पश्चात् अनेक हेतुओं से मनन करने का विधान कहा गया है। एतदर्थ न्यायदर्शन सभी सम्प्रदायों के लिए परम सहायक है। द्रष्टव्य है कि न्यायदर्शन में देह से भिन्न आत्मा का नित्यत्व आदि सभी दर्शनों में सर्वतन्त्र सिद्धान्त के रूप में मनन का हेतु कहा गया है। यह प्रत्येक साधक के लिए ग्राह्य है। आत्मा नित्य है तथा देह आदि से भिन्न है इत्यादि बातों का अनेक हेतुओं से दीर्घकाल तक मनन करने पर परलोक, जन्मान्तर तथा कर्मफल आदि सिद्धान्तों में विश्वास दृढ़ होता है। इस सिद्धान्त में विश्वास की दृढ़ता प्रत्येक साधक के लिए सबसे पहले आवश्यक है। इस प्रकार न्यायदर्शन में अनेक सर्वतन्त्र सिद्धान्तों का

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

समर्थन हुआ है। न्यायदर्शन निर्विवाद रूप से इस प्रकार के मनन-विशेष में सहायक होता है। किन्तु जो सम्प्रदाय अपने गुरु के उपदेश के अनुसार जिस तत्त्व का जिस रूप में मनन करेगा उस मनन का हेतु ज्ञान तथा हेतु में व्याप्ति ज्ञान उसी के अनुरूप होना नितान्त आवश्यक है। अनुमान रूप मनन के निर्वाह हेतु जिस प्रकार का ज्ञान आवश्यक है वह न्यायशास्त्र की सहायता से ही अच्छी तरह ज्ञात हो सकता है। हेतु और हेत्वाभास के यथार्थ ज्ञान के बिना यथार्थ रूप में मनन हो ही नहीं सकता। अतः वेद के आदेशानुसार जब प्रत्येक सम्प्रदाय के साधक को अनुमान रूप मनन करना होगा तब उस मनन के निर्वाह के लिए न्यायशास्त्र का अवलम्बन आवश्यक होगा। श्रवण-मनन की आवश्यकता नहीं है ? ऐसा कहना शास्त्र विचार और तर्क भक्ति का विरोधी होने से वर्जनीय है – यह शास्त्रीय सिद्धान्त नहीं है। शास्त्र का अनुसरण करने वाला एक भी सम्प्रदाय ऐसा नहीं कहता और न तो कह सकता है। श्रवण और मनन के बिना कोई भी उत्तम अधिकारी नहीं हो सकता। श्रवण तथा मनन करके महात्मावृन्द उत्तम अधिकारी हुए हैं और आगे भी ऐसा करने पर उत्तम अधिकारी होते रहेंगे। श्री चैतन्य देव ने शास्त्र युक्ति में निपुणता प्राप्त व्यक्ति को उत्तम अधिकारी कहा है। जिसने श्रवण तथा मनन किया हो,[४१] वह जिज्ञासु संन्यासियों को उनके स्वीकृत ईश्वर (शिव या विष्णु) के परिणामवादी सिद्धान्त का श्रवण करने के पश्चात् हेतु और दृष्टान्त के आधार पर उस सिद्धान्त में आपत्ति दिखाता है और पुनः उन आपत्तियों का निराकरण करके तर्क के बल पर उसका निर्विकारत्व उपपन्न करता है। इस प्रक्रिया से भी ईश्वर के मनन का मार्ग प्रशस्त होता है।[४२] विजय की कामना से उत्तम अधिकारीवृन्द बहुत विचार तथा तर्क नहीं करते।

अब तक शास्त्र एवं शास्त्र के व्याख्याकार आचार्यवृन्द के वाक्यों के अनुसार अनेक विषयों की आलोचना हुई। इस ग्रन्थ के शताधिक पृष्ठों का अध्ययन करने पर न्यायदर्शन के प्रतिपाद्य और प्रयोजन के प्रसंग में बहुत सी बातें आगे ज्ञात होंगी। अतएव यहाँ उन विषयों का उपपादन पुनरुक्त होगा जो उचित नहीं है।

---

[४१] शास्त्र युक्ति सुनिपुण दृढ़ श्रद्धा पार।
उत्तमाधिकारी तिहो भावये संसार॥ – चैतन्यचरितामृत, मध्य २२
(जिस व्यक्ति की शास्त्र की युक्ति में दृढ़ श्रद्धा है उसको संसार उत्तमाधिकारी कहकर आदर करता है।)

[४२] अविचिन्त्य युक्त श्री भगवान्। स्वेच्छाय जगत्‌रूपे पाय परिणाम॥ तथापि अचिन्त्य शक्त हय अधिकारी। प्राकृत मणि ताहे दृष्टान्ते ये धरि॥ नाना रत्नराशि हय चिन्तामणि है ते। तथापिह मणि रहे स्वरूप अविकृते॥ प्राकृत वस्तु ते यदि अचिन्त्य शक्ति हय। ईश्वरेण अचिन्त्य शक्ति इथे कि विस्मय॥ – चैतन्य चरितामृत, आदि सातवाँ परिच्छेद

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

न्यायदर्शन के अध्याय आदि की संख्या

न्यायदर्शन में पाँच अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में दो आह्निक हैं। किसी-किसी का कहना है कि एक दिन में जितने सूत्र रचे गए उसी का एक आह्निक में समावेश है। दश दिनों में सम्पूर्ण न्यायसूत्रों की रचना हुई। अतएव इसमें दश आह्निक हैं। किसी-किसी का कहना है कि सबसे पहले न्यायसूत्रकार ने एक दिन में जितने सूत्रों का अध्यापन किया, उतने सूत्रों का एक आह्निक में समावेश है। वाचस्पत्यम् अभिधान कोश में पण्डित प्रवर तारानाथ तर्क वाचस्पति ने एक अर्थ आह्निक पद का यह भी है कि सूत्र-ग्रन्थ के भाष्य का पादांश व्याख्या विशेष आह्निक कहलाता है। एक दिन का पाठ्य आह्निक पद का यौगिक अर्थ भी वहाँ दिया गया है। सूत्र-ग्रन्थ का अंशविशेष भी आह्निक पद से परिगृहीत होता है। उन सूत्रों का भाष्यविशेष भी आह्निक कहलाता है। आगे देवी पुराण के वचनों का मैं उल्लेख करूंगा जहाँ उक्त है कि न्यायसूत्रकार गौतम ने दश दिनों में सबसे पहले शिष्यों को न्यायसूत्र का अध्यापन किया था।

पञ्चाध्यायी न्यायशास्त्र महर्षि अक्षपाद द्वारा प्रणीत है। न्यायभाष्यकार वात्स्यायन आदि आचार्यवृन्द को यह निश्चित रूप से ज्ञात था। इन आचार्यों ने इस विषय में किसी प्रकार का सन्देह उपस्थित नहीं किया है। सम्प्रति किसी-किसी ऐतिहासिक विद्वान् की समीक्षा से ज्ञात होता है कि प्रचलित न्यायदर्शन के अधिकांश सूत्र किसी भिन्न व्यक्ति की रचना है। दो, तीन और चार अध्याय अन्य व्यक्ति ने रचना करके इसमें संयोजित किया है। इन सभी अध्यायों में बौद्ध मत की आलोचना रहने से यह सूत्र-समूह बौद्धयुग में रचित हुआ है। इसके अतिरिक्त कुछ का यह भी मानना है कि मूल न्यायशास्त्र केवल हेतुविद्या है। इसमें अध्यात्म विद्या का एक भी विषय नहीं था। इस ग्रंथ में भिन्न-भिन्न स्थलों में नवीन मतों की आलोचना मिलती है। यह बात ग्रन्थ के अन्त में आलोचना करने पर ज्ञात होगी।

पञ्चाध्यायी न्यायदर्शन के विषय में अक्षपाद से भिन्न किसी व्यक्ति की रचना के प्रसंग में पूर्वाचार्यों के मध्य किसी प्रकार का मतभेद नहीं मिलने पर भी न्यायसूत्रों की संख्या तथा अनेक सूत्रों के पाठ के प्रसंग में उन आचार्यों में मतभेद देखा जाता है। वात्स्यायन से पहले ही अनेक अज्ञात कारणों से न्यायसूत्र में विकार और कल्पना आ गई थी। वात्स्यायन ने न्यायसूत्र का प्रामाणिक पाठ संग्रह करके भाष्य की रचना की है। वात्स्यायन के पहले न्यायसूत्रों की संख्या एवं पाठ के प्रसंग में विवाद रहा है। यह कथा वात्स्यायन के भाष्य में अनेक स्थलों पर संकेत रूप में उक्त है। यथा इस बात की आलोचना (यहाँ की गई) है। वात्स्यायन ने न्यायभाष्य में भाष्य लक्षण के अनुसार पहले सूत्र के सदृश वाक्य की रचना करके पुनश्च उस वाक्य का व्याख्यान किया है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

इसी को भाष्य के लक्षण में ''स्वपद वर्णन'' कहा गया है। वात्स्यायन के इस संक्षिप्त वाक्य-समूहों से अनेक वाक्यों का (अनेक आचार्यों ने पश्चात्) न्यायसूत्र रूप में ग्रहण किया है और वास्तविक न्यायसूत्रों को अनेक आचार्यों ने वात्स्यायन के संक्षिप्त वाक्य रूप भाष्य मान लिया है। प्राचीनकाल में हस्तलिखित ग्रन्थ में सूत्र तथा भाष्य का विभाजक चिह्न नहीं देकर लिपिबद्ध होने के कारण अनेक नैयायिकों को इस तरह का भ्रम हुआ है। इसी भ्रम का परिणाम है कि न्यायसूत्रों के प्रसंग में अनेक प्रकार का मतभेद उपस्थित हो गया है। विभिन्न आचार्यों ने अपने मत के समर्थन के लिए न्यायसूत्र की कल्पना भी की है। न्यायसूत्र के विवरणकार राधा मोहन गोस्वामी भट्टाचार्य ने चतुर्थाध्याय के अन्त में ''तत्त्वन्तु बादरायणात्'' इस तरह के एक सूत्र का उल्लेख करके उसका विवरण प्रस्तुत किया है। आचार्य वात्स्यायन से लेकर वृत्तिकार विश्वनाथ पर्यन्त किसी आचार्य ने न तो इस सूत्र का उल्लेख किया है और न ही इस भाव का कहीं व्याख्यान किया है। आधुनिक न्यायसूत्र के विवरणकार गोस्वामी भट्टाचार्य ने इस सूत्र की रचना नहीं की होगी। न्याय की किसी पुस्तक में इस सूत्र को देखकर इसे न्यायसूत्र समझकर इसका उल्लेख किया होगा। विचार करने पर ज्ञात होता है कि यह किसी आधुनिक पण्डित की रचना है। यह कभी संभव नहीं है कि न्यायदर्शन में महर्षि अक्षपाद कहेंगे कि मैंने जो कहा है वह तत्त्व नहीं है किन्तु बादरायण अर्थात् वेदव्यासप्रणीत शास्त्र से तत्त्व समझना चाहिए। एक भी दर्शनकार ऋषि इस प्रकार की बात क्या कहेंगे ? अथवा कह सकते हैं ? गोस्वामी भट्टाचार्य ने भी पहले सूत्रार्थ व्याख्या करके उसे पश्चात् संगत नहीं समझकर कष्ट कल्पना के द्वारा अन्य प्रकार की व्याख्या की है। तथापि इस प्रकार का भाव सर्वथा लुप्त नहीं हो सका है। परिणामतः अनेक कारणों से न्यायसूत्र की संख्या एवं पाठ के विषय में बहुत मतभेद रहे हैं। उद्योतकर के समय में भी न्यायसूत्र के पाठ के प्रसंग में मतभेद रहा जो वार्त्तिक से स्पष्ट ज्ञात होता है। वृत्तिकार विश्वनाथ ने अनेक अतिरिक्त सूत्रों का उल्लेख करके उन सूत्रों की वृत्ति लिखी है। भाष्यकार के संक्षिप्त वाक्यों में भी किसी-किसी सूत्र की उपलब्धि होती है। विश्वनाथ से पहले उदयनाचार्य ने बोधसिद्धि या न्यायपरिशिष्ट नाम से एवं गङ्गेश उपाध्याय के पुत्र वर्धमान उपाध्याय ने अन्वीक्षानय तत्त्वबोध नाम से न्यायसूत्र की वृत्ति लिखी है। मिथिलेश्वर सूरि नवीन वाचस्पति मिश्र ने न्यायतत्त्वालोक नाम से न्यायसूत्र की वृत्ति की रचना की है। तथा न्यायसूत्रों के पाठ निर्णय हेतु न्यायसूत्रोद्धार नाम से ग्रन्थ की रचना की है। तात्पर्य यह है कि न्यायसूत्र के पाठ के विषय में सुदीर्घकाल से मतभेद रहा है। इसका साक्ष्य अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध है। परिणामस्वरूप न्यायसूत्र के अनेक सम्प्रदायों में अनेक प्रकार की आलोचना से विकार एवं कल्पना होती रही है, इस कारण सर्वतन्त्र स्वतंत्र वाचस्पति मिश्र ने

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

न्यायवार्त्तिक की तात्पर्यटीका का निर्माण करके पुनः न्यायसूचीनिबन्ध की रचना की, जिसमें न्यायसूत्रों की संख्या एवं पाठ आदि के प्रसंग में विशेष रूप से आलोकपात किया। इन्होंने न्यायदर्शन के पाँचों अध्यायों के सूत्रों का क्रमानुसार विभाजन जिस नाम से किया है वह प्रकरण निर्दिष्ट हुआ है। पश्चात् यहाँ सभी सूत्रों को गिनकर सूत्रों की संख्या निर्दिष्ट की है। तदनुसार न्यायशास्त्र में पाँच अध्याय, दश आह्निक, चौरासी प्रकरण, पाँच सौ अट्ठाइस सूत्र, एक हज़ार सात सौ छियानबे पद, आठ हज़ार तीन सौ पचासी अक्षर पर्यन्त इन्होंने निर्धारण करके लिपिबद्ध किया है। आधुनिक नैयायिकवृन्द को इसका अवलोकन कर पुनः समीक्षा करनी चाहिए। न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीकाकार सर्वतन्त्र स्वतन्त्र वाचस्पति मिश्र ने न्यायसूचीनिबन्ध की रचना की है इसमें विद्वत् समाज को संदेह नहीं है। क्योंकि तात्पर्यटीका का दूसरा मङ्गलाचरण श्लोक ही न्यायसूचीनिबन्ध के आरम्भ में देखा जाता है। तात्पर्यटीका के प्रारम्भ में "इच्छामि किमपि पुण्यं" इत्यादि चौथा श्लोक है जिसका चतुर्थ चरण "उद्योतकरगवीनाम्" है। उसके स्थान पर "श्रीगौतमसुगवीनाम्" इस तरह पद परिवर्तन करके न्यायसूचीनिबन्ध के अन्त में उक्त पद का उल्लेख हुआ है। तात्पर्यटीका के अन्त में उक्त "संसार-जलधिसेतौ" इत्यादि श्लोक न्यायसूचीनिबन्ध के अन्त में दृष्ट होता है। ग्रन्थ के आरम्भ में "श्री वाचस्पतिमिश्रेण" उक्त है। वाचस्पति मिश्र के नाम से अन्य कोई पण्डित इस प्रकार वाचस्पति मिश्र के मङ्गलश्लोकों को लिपिबद्ध करके अपने परिचयबोध का विरोधी कार्य क्यों करेगा ? अथवा उन श्लोकों को निबद्ध करने का अन्य कारण ही क्या होगा ? अतः ऐसी कल्पना का भी कोई हेतु नहीं है कि किसी पण्डित ने स्वयं न्यायसूचीनिबन्ध लिखकर तात्पर्यटीका के श्लोकों को प्रक्षिप्त कर दिया होगा। अकारण इस प्रकार कल्पना करने पर अनेक ग्रन्थों में ऐसी ही कल्पना क्यों नहीं की जाएगी ? वाचस्पति मिश्र ने तात्पर्यटीका में जिस रूप से सूत्र पाठों का उल्लेख किया है उसमें न्यायसूचीनिबन्ध में उद्धृत सूत्र-पाठ का साम्य देखा जा सकता है। दो-एक स्थलों में यदि वैषम्य है तो वह प्रतिलिपिकार तथा प्रेस का प्रमाद (मुद्रणदोष) है। प्रकाशित तात्पर्यटीका में अनेक स्थलों में न्यायसूत्र का उल्लेख भी नहीं है (द्रष्टव्य द्वितीयाध्याय का प्रारम्भ)। प्रकाशित तात्पर्यटीका में लेखक या मुद्रण के प्रमाद से किसी-किसी स्थल में अनेक अंश मुद्रित भी नहीं हुए हैं, यह भी भाष्यव्याख्या में मैंने दिखाया है (द्र.पृ. २४)। अतएव तात्पर्यटीका के साथ न्यायसूचीनिबन्ध का किसी प्रकार का विरोध नहीं दिखाया जा सकता। अपितु न्यायसूचीनिबन्ध के सूत्र-पाठ के साथ तात्पर्यटीका के सूत्र-पाठ का साम्य देखा जा सकता है। इससे ज्ञात होता है कि तात्पर्यटीका के लेखक वाचस्पति मिश्र ने ही न्यायसूचीनिबन्ध की रचना की है। प्रस्तुत ग्रन्थ की टिप्पणी में यथावसर यह दिखाया

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

गया है, तथा न्यायसूत्र के पाठ में प्रसंग में मतभेद की आलोचना हुई है। न्यायवार्त्तिक में उद्योतकर ने न्यायसूत्रों का उल्लेख करके ही उसका अभिप्राय अभिव्यक्त किया है। किन्तु वार्त्तिक से भी उद्योतकर के सम्मत सूत्र-पाठ का निर्णय सर्वत्र नहीं हो पाता है। प्रकाशित वार्त्तिक ग्रन्थ में सूत्र-पाठ का वैषम्य भी देखा जा सकता है। उद्योतकर ने बहुत बार वार्त्तिक में "यह सूत्र है" कहकर सूत्र का परिचय दिया है किन्तु अनेक स्थलों में यह परिचय नहीं भी मिलता है। किसी-किसी स्थल में इन्होंने सूत्र-पाठ के प्रसंग में विवाद का भी उल्लेख किया है। अतएव वाचस्पतिमिश्र ने वार्त्तिक की व्याख्या तात्पर्यटीका का प्रणयन करके अन्त में स्वतन्त्र रूप से न्यायसूत्रों के पाठ निर्णय हेतु न्यायसूचीनिबन्ध की रचना की है, जहाँ न्यायसूत्रों की अक्षर संख्या तक गिनकर लिपिबद्ध कर दिया है। इस प्रसंग में परवर्ती नैयायिक द्वितीय वाचस्पति मिश्र, वृत्तिकार विश्वनाथ आदि प्राचीन बहुश्रुत नैयायिकों की अपेक्षा तात्पर्यटीकाकार वाचस्पति मिश्र का न्यायसूचीनिबन्ध ही अपेक्षाकृत अधिक प्रामाणिक तथा मान्य है। इस दृष्टि को ध्यान में रखकर मैंने भी न्यायसूचीनिबन्ध के अनुसार यहाँ सूत्र-पाठ ग्रहण किया है। किसी-किसी स्थल में न्यायसूचीनिबन्ध के सूत्र-पाठ की समालोचना भी की गई है। प्रत्येक अध्याय के अन्त में यहाँ न्यायसूचीनिबन्ध के अनुसार अध्यायगत प्रकरणों का तथा सूत्र-संख्या का उल्लेख किया गया है। प्रथम अध्याय के प्रकरण आदि संख्या इसके अन्तिम पृष्ठ पर द्रष्टव्य है।

न्यायसूत्रकार महर्षि के नाम आदि

भाष्यकार वात्स्यायन, उद्योतकर तथा वाचस्पति मिश्र आदि अनेक आचार्य न्यायसूत्रकार महर्षि को अक्षपाद नाम से उल्लेखित करते हैं। यह भी चिरप्रसिद्ध है कि न्यायसूत्र महर्षि गौतम या गोतम ऋषि की रचना है। अनेक ग्रन्थकार गौतम नाम ही इनका लिखते हैं। न्यायसूत्रकार महर्षि के अक्षपाद नाम में कोई विवाद नहीं है किन्तु वही गौतम या गोतम हैं – इस विषय में विवाद है। कोई गौतम कहते हैं तो कोई गोतम। गौतम तथा गोतम में इससे भिन्नता भी प्रतीत होती है। इसीलिए प्रायः भाष्यकार आदि दूरदर्शी आचार्यवृन्द ने अक्षपाद नाम का उल्लेख किया होगा। अक्षपाद किस मुनि का नामान्तर है, यह ज्ञात होने पर न्यायसूत्रकार महर्षि का परिचय प्राप्त हो सकता है। इस अनुसन्धान का फल स्कन्द पुराण[४३] में प्राप्त होता है। अहल्यापति गौतम मुनि का दूसरा नाम अक्षपाद है अहल्यापति गौतम ऋषि का उल्लेख रामायण तथा महाभारत आदि अनेक ग्रन्थों में

---

[४३] अक्षपादो महायोगी गौतमाख्योऽभवन् मुनिः।
गोदावरीसमानेता अहल्यायाः पतिः प्रभुः॥
– माहेश्वरखण्ड, कुमारिकाखण्ड ५५.५

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

देखा जाता है। जो गौतम नाम से सुप्रसिद्ध हैं। रामायण तथा महाभारत आदि अनेक ग्रन्थों में गौतम पाठ को अशुद्ध मानकर इस सुप्रसिद्धि की अपेक्षा नहीं की जा सकती किन्तु दार्शनिक महाकवि श्रीहर्ष ने नैषधीयचरित में इन्द्र के निकट चार्वाक की बात कहते हुए न्यायशास्त्र के वक्ता मुनि का गोतम नाम से उल्लेख किया है।[४४] चार्वाक ने न्यायशास्त्र के वक्ता मुनि को गोतम अर्थात् बैलों में श्रेष्ठ महावृषभ कहकर उनका उपहास किया है। श्रीहर्ष गौतम कहकर भी उपहास कर सकते थे किन्तु उसका अर्थ गोश्रेष्ठ का वंशधर होता। किन्तु श्रीहर्ष जब गोतम नाम का उल्लेख करके चार्वाक का उपहास करते हैं – ''गोतमं तमवेत्येव यथावित्थ तथैव सः'', तब श्रीहर्ष न्यायशास्त्र के वक्ता मुनि को गोतम ही कहते हैं – इस विषय में संदेह नहीं है। नैषधीयचरित के व्याख्याकार भी इस श्लोक की इस प्रकार ही व्याख्या करते हैं। गोतम के अनेक अपत्यों को समझाने के लिए पाणिनि-सूत्र के अनुसार गौतम पद सिद्ध होता है। अतः गोतमम् प्रयोग गोतम के अपत्य को नहीं समझाता है।

रामायण आदि अनेक ग्रन्थों में हमने अहल्यापति ऋषि गौतम का नाम देखा है। इस देश में गौतम की प्रसिद्धि रहने पर भी मिथिला में वह ऋषि गोतम नाम से ही प्रसिद्ध हैं। दरभंगा स्टेशन से सात कोस दूर उत्तर में कमतौल स्टेशन है जहाँ से प्रायः चार कोस की दूरी पर गोतम आश्रम नाम से प्रसिद्ध एक स्थान है, वहाँ के विशेषज्ञ पण्डितों की बात से ज्ञात होता है कि यहीं इस आश्रम में गोतम मुनि ने तपस्या करके गोतमी गङ्गा को लाए थे। वहाँ एक कूप है, जो देवदत्त कूप नाम से प्रसिद्ध है। एक समय में गोतम मुनि ने पिपासा से आर्त्त होकर देवताओं से जल की प्रार्थना की थी। देवताओं ने एक कूप का निर्माण कर दिया था जहाँ गोतम ऋषि रहते थे। इस प्रकार कूप निर्माण कर देवगण ने गोतम ऋषि को जल से परितृप्त किया है। ऋग्वेद संहिता में इसका वर्णन उपलब्ध है। गोतम आश्रम से दो कोस की दूरी पर अहिरिया नाम से प्रसिद्ध अहल्यास्थान है। वर्तमान छपरा शहर के निकट गंगा तट पर अहल्यापति गोतम का दूसरा आश्रम था। कुछ दिन पहले उस स्थान पर महर्षि गोतम के स्मारक रूप में गोतम पाठशाला नाम से

---

[४४] मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्।
गोतमं तमवेत्यैव यथा वित्थ तथैव सः ॥१०.०५

यः सचेतसां चैतन्यवतां सुखदुःखानुभवाभावात् शिलात्वाय पाषाणावस्थारूपायै मुक्तये मुक्तिं प्रतिपादयितुं शास्त्रमूचे न्यायदर्शनं निर्ममे। यूयं तं स्वयमेव अवेत्य विचार्यैव गोतमं एतन्नामानं यथा वित्थ जानीत स एव तथा नान्य इत्यर्थः। स गोतमो यथा युष्माकं सम्मतस्तथा ममापीत्यर्थः। नायं परं नाम्ना गोतमः किन्तु प्रकृष्टो गौः महावृषभः पशुरेव। – टीकाकाराः

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

एक पाठशाला का निर्माण हुआ है। किन्तु न्यायसूत्र की रचना मिथिला आश्रम में ही हुई है। मैथिल विद्वानों की अनेक कारणों से धारणा है कि मिथिला में ही न्यायसूत्र की सबसे पहले अध्ययन-परम्परा चली (इस आश्रम के सम्बन्ध में मैथिल समाचार पत्र ''भारतवर्ष'' पत्रिका की द्वितीय वर्ष का ज्येष्ठमासीय अंक द्रष्टव्य है। वस्तुतः ऋग्वेद संहिता[४५] में गोतम ऋषि के कूपलाभ की बात हम देखते हैं। इस मन्त्र की तथा इसके पूर्ववर्ती मन्त्र की व्याख्या में सायणाचार्य ने उपर्युक्त मिथिला से सम्बद्ध आख्यायिका का वर्णन किया है। रहूगण गोतम इस सूक्त के ऋषि हैं। काशी संस्कृत कॉलेज (सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय) के सरस्वतीभवन पुस्तकालय के अध्यक्ष बहुदर्शी ऐतिहासिक महामहोपाध्याय विन्ध्येश्वरी प्रसाद द्विवेदी ने सबसे पहले न्यायकन्दली की भूमिका में कहा है कि महर्षि उशिज के पुत्र दीर्घतमा नाम से प्रसिद्ध गोतम न्यायसूत्रकार हैं – यह बात मत्स्य पुराण के अध्याय अड़तालीस में वर्णित है। पश्चात् न्यायवार्त्तिक की भूमिका में उनके इस सिद्धान्त को अज्ञतामूलक मानकर नाना कल्पना के आधार पर रहूगण गोतम को न्यायसूत्रकार कहा गया है। चूँकि यह ऋषि ऋग्वेद सूक्त का द्रष्टा है तथा पुरोहित है अतः इस ऋषि का शास्त्रकर्तृत्व संभव है। दीर्घतमा गोतम अन्ध है अतएव उस ऋषि से शास्त्र का प्रणयन संभव नहीं है। परन्तु अन्ध का अक्षपादत्व भी प्रमाणसिद्ध नहीं होता। रहूगण के पुत्र गोतम विदेहराज के पुरोहित रहे हैं, यह बात शतपथ ब्राह्मण में वर्णित हैं।[४६] अहल्या के पुत्र शतानन्द राजा जनक के पुरोहित रहे हैं, यह वाल्मीकि रामायण में वर्णित है। रहूगण गौतम ही अहल्यापति हैं तथा उनका पुत्र है शतानन्द। वह गोतम नहीं है। श्रीहर्ष ने उसी दृष्टि से न्यायसूत्रकार को गोतम कहा है। महामहोपाध्याय

---

[४५] जिह्मं नुनुदेऽवतं तया दिशा
ऽसिञ्चन्नुत्सं गोतमाय तृष्णजे।
अगच्छन्तमवसा चित्र भानवः
कामं विप्रस्य तर्पयंत धामभिः।१.१४.८५.११

सायणभाष्य – मरुतोऽवतम् उद्धृतं कूपं यस्यां दिशि ऋषिर्वसति तयादिशा जिह्मं वक्रं तिर्यञ्चं नुनुदे प्रेरितवन्तः। एवं कूपं नीत्वा ऋष्याश्रमेऽवस्थाप्य तृष्णजे तृषिताय गोतमाय तदर्थम् उत्सम् जलप्रवाहं कूपादुद्धृत्य असिञ्चन् अहावेऽवानयन्। एवं कृत्वा इम एनं स्तोतारमृषिं चित्रभानवो विचित्रदीप्तयस्ते मरुतोऽवसा ईदृशेन रक्षणेन सह आगच्छन्ति तत्समीपं प्राप्नुवन्ति। प्राप्य च विप्रस्य मेधाविनो गोतमस्य कामम् अभिलाषं धामभिः आयुषो धारकैरुदकैस्तर्पयन्त अर्तपयन्।

[४६] विदेहोऽथ माधवोऽग्निं वैश्वानरं मुखे बभार
तस्य गोतमो राहूगण ऋषिः पुरोहित आस। अ. ४, ब्रा. १

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

द्विवेदी की उपर्युक्त बातें तथा अन्तिम सिद्धान्त न्यायवार्त्तिक की भूमिका में द्रष्टव्य है। महामहोपाध्याय द्विवेदी की युक्तियों का विचार न करके यहाँ सिद्धान्तरूप में कहना है कि ऋग्वेद में वर्णित रहूगण गोतम को ही अहल्यापति तथा न्यायसूत्र का रचयिता मानना उचित है। विदेहराजवंश में उनके पौरोहित्य के कारण राजा जनक के पुरोहित इन्हीं के पुत्र शतानन्द रहे होंगे, यह कल्पना की जा सकती है। इसके अनुसार गोतमवंशीय होने से उनको (शतानन्द को) गौतम कहा जा सकता है। क्योंकि बौधायन ने गोत्र-प्रवर्त्तक सप्तर्षियों में गोतम या गौतम नाम का उल्लेख किया है, जहाँ दश शाखाओं में से रहूगण सप्तम शाखा में आते हैं। बौधायन गौतम काण्ड में (द्वितीय अध्याय) रहूगण ऋषि को गौतमगण में रखा है। रहूगण ऋषि गोत्र-प्रवर्त्तक मूल पुरुष गोतम के अपत्य होने से गौतम कहलाते हैं। फलतः रहूगण गोत्रकारी मूल पुरुष गौतम नहीं है। इस विषय में किसी प्रकार का संशय नहीं है। (निर्णयसिन्धु का गोत्र-प्रवर-निर्णय प्रकरण यहाँ द्रष्टव्य है)। रहूगण ऋषि सूक्त के द्रष्टा तथा पुरोहित होने से गोतम वंश में उनका प्राधान्य रहा है। अतः वेद में मूल पुरुष गोतम नाम से उल्लेखित हुए हैं। प्राचीनकाल में मूल पुरुष के नाम से प्रधान व्यक्ति के नाम का व्यवहार रहा है। राजा जनक के पूर्वपुरुष राजा निमि के पौत्र जनक नाम से पहले राजा हुए थे, उनके नाम के अनुसार ही राजर्षि क्षीरध्वज जनक नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। इसकी पुष्टि वाल्मीकि रामायण से होती है (द्र. वा.रा., अ.का. ७१ सर्ग)। गोत्रकारी सप्तर्षि वसिष्ठ आदि ही पूर्ववर्ती वसिष्ठ आदि के अपत्य होने से गोत्र के प्रवर्त्तक हुए और इस वसिष्ठ के अपत्य भी वसिष्ठ नाम से इनके गोत्र में आए। निर्णय सिन्धु[४७] में यह बात स्पष्ट उक्त है। अब यदि रहूगण गोतम वंशीय होकर वेद में गोतम नाम से अभिहित हुए हैं तो इस उपर्युक्त कारण से उसका औचित्य उपपन्न होता है। कवि दार्शनिक श्रीहर्ष ने इस प्रसिद्धि के अनुसार तथा वैदिक प्रयोग के आधार पर ही न्यायसूत्रकार को गोतम कहकर उल्लेख किया है। अन्यथा गोत्र-प्रवर्त्तक मूल पुरुष गोतम मुनि तथा अन्य किसी गोतम मुनि से भिन्न न्यायशास्त्र के वक्ता उस गोतम मुनि में प्रमाण नहीं मिलने से श्रीहर्ष गोतम शब्द का कैसे प्रयोग करते। स्कन्द पुराण में जब अहल्यापति गौतम का अक्षपाद नाम मिलता है और मिथिला प्रदेश में प्रसिद्धि है कि अहल्यापति गौतम मुनि ने ही न्यायसूत्र की रचना की है जिसका परम्परागत संस्कार भारत भर में प्रसारित है तब अन्य विशेष प्रमाण के बिना भी भिन्न किसी गोतम वा गौतम मुनि को न्यायसूत्रकार नहीं कहा जा सकता। विद्वद् वरेण्य तारानाथ तर्कवाचस्पति ने

---

[४७] यद्यपि वसिष्ठादीनां न गोत्रत्वं युक्तं तेषां सप्तर्षित्वेन तदपत्यत्वाभावात् तथापि तत्पूर्वभावि वसिष्ठापत्यत्वेन गोत्रत्वेन युक्तम्। अतएव पूर्वेषां परेषाञ्च एतद्गोत्रम्।

— निर्णयसिन्धु, पृ. २०२

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

वाचस्पत्यम् कोष में अहल्यापति मुनि को ही गौतम कहा है। इन्होंने स्कन्द पुराण के वचन का उल्लेख नहीं किया है। श्वेतवाराहकल्प में ब्रह्मा के मानस पुत्र गोतम का प्रमाणशः उल्लेख करके इन्हीं को इन्होंने न्यायसूत्रकार कहा है। इन्होंने अक्षपाद नामक मुनि को न्यायसूत्र के प्रणेता के रूप में किसी प्रमाण का उल्लेख नहीं किया है। केवल श्रीहर्ष के उपर्युक्त श्लोक का उद्धरण दिया है। ज्ञात होता है कि तारानाथ तर्कवाचस्पति ने श्रीहर्ष के श्लोक के अनुसार ही न्यायसूत्र के रचयिता अहल्यापति गौतम को नहीं कहा है अपितु अन्य प्रमाण भी उसमें रहा होगा। विविध कोषों में उस वाचस्पत्यम् की बात ही अनुवाद रूप में प्रस्तुत हुई है। श्रीहर्ष के इस श्लोक पर अन्य अनेक विद्वान् निर्भर हैं। मैंने भी उसी श्लोक के अनुसार न्यायसूत्र के रचयिता को गोतम नाम से उल्लेख किया है और किया जाना उचित समझता हूँ कारण जो भी हो कवि दार्शनिक श्रीहर्ष ने जब न्यायसूत्रकार को गोतम कहा है तो इसके अनुसार उनको गोतम कहना ही सङ्गत प्रतीत होता है। श्रीहर्ष के उपर्युक्त उल्लेख से इस प्रकार उसका कारण समझने पर सर्वत्र सामञ्जस्य होता है। अहल्यापति महर्षि गौतम नाम का अपलाप भी नहीं होता है। लोकप्रसिद्धि की उपेक्षा भी नहीं होती है। जिससे सामञ्जस्य स्थापित हो उसी प्रकार का विचार करना संगत प्रतीत होता है।[४८] केवल अपने पक्ष के समर्थन करने से विचार कभी भी निर्दुष्ट नहीं हो सकता।

गोतम के अक्षपाद नाम के सम्बन्ध में जनश्रुति है कि गोतम के शिष्य कृष्णद्वैपायन व्यास ने एक समय में गोतम मत की निन्दा की थी। उस पर क्रुद्ध होकर गोतम ने प्रतिज्ञा की कि इन आँखों से उसका मुख दर्शन नहीं करूँगा। पश्चात् वेदव्यास के द्वारा स्तुति करने पर प्रसन्न होकर उन्होंने पूर्व प्रतिज्ञा का स्मरण करके योगबल से अपने चरणों में आँखें लगा ली और उससे वेदव्यास को देखा। तब से वेदव्यास ने अक्षपाद नाम का उल्लेख करके उनकी स्तुति की। अतः गोतम मुनि ही पश्चात् अक्षपादनाम से भी प्रसिद्ध हुए। यह किसी प्रकार से ज्ञात नहीं होता है कि इस प्रकार के प्रवाद के मूल में ऐसी घटना घटित हुई या नहीं। पण्डित तारानाथ तर्कवाचस्पति ने वाचस्पत्यम् कोष में इस प्रकार के प्रवाद का पौराणिक कथा के रूप में उल्लेख किया है।

---

[४८] देवीपुराण के किसी वचन में गोतम पद की व्युत्पत्ति उपलब्ध है – "गवा वाचा तमयति खेदयति"। इसके अनुसार न्यायसूत्रकार अक्षपाद गोतम नाम से और इनके वंशज गौतम नाम से ख्यात हुए। इस अर्थ में अक्षपाद के साथ गोतम नाम का अभिधान क्या समन्वित नहीं होता है। देवी पुराण का वह वचन इस प्रकार है –

गौर्वाक् तयैव तमयन् परान् गोतम उच्यते।
गोतमान्वयजन्मेति गौतमोऽपि सचाक्षपात्॥

– शुम्भनिशुम्भमथनपाद अध्याय १३

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

शास्त्रों के द्रष्टा तर्कवाचस्पति महाशय ने अन्य स्थलों में पुराण आदि ग्रन्थों का नाम उल्लिखित करके भी यहाँ इस प्रसंग में किसी पुराण का उल्लेख नहीं किया है। प्रतीत होता है कि इन्होंने उपर्युक्त प्रवाद के अनुसार ही इस बात को कहकर विश्वास किया होगा कि पुराण में उल्लिखित है। प्रवाद सर्वथा निर्मूल नहीं होता है। ऐतिह्य अथवा जनश्रुति (प्रवाद) स्वतन्त्र प्रमाण न होकर भी उसका मूल कहीं-न-कहीं अवश्य रहता है। जिज्ञासा के फलस्वरूप पश्चात् ज्ञात हुआ कि देवी पुराण के शुम्भ-निशुम्भ मथन पाद में वर्णित है कि गौतम का ही नाम अक्षपाद है तथा उनके द्वारा रचित न्यायदर्शन के कारण आदि भी वहाँ वर्णित हैं। राजपुत्रों के मोहन हेतु एक समय में नास्तिक मतों का प्रचार था, उसका फल यह हुआ कि याग आदि वैदिक कर्मकाण्ड लुप्त हो गए। देववृन्द ने शिव की आराधना करके उनके आदेश से गौतम की शरण में आए। गौतम नास्तिक मतों के निराश हेतु कटिबद्ध होकर यात्रा पर चले। शिव स्वयं एक शिशु के रूप में गौतम के सम्मुख उपस्थित होकर नास्तिक मतों के अनुकूल तर्क करने लगे। सप्ताह-दिनों तक शास्त्रार्थ चलता रहा किसी की पराजय नहीं हुई। अन्त में गौतम चिन्तित होकर चुप हो गए। शिव ने गौतम का उपहास करते हुए कहा[४९] – वेद के धर्मज्ञ मेधावी मुनि आप एक छुद्र नास्तिक बालक को पराजित किए बिना ही मौन हो गए हैं। तब आप किस प्रकार वृद्ध तथा लोकमान्य विद्वान् नास्तिकवृन्द को शास्त्रार्थ में परास्त कर सकेंगे। अतः आप शीघ्र भाग जाओ। अब गौतम मुनि उनको शिव समझकर स्तुति करने लगे तब शिव उनकी प्रार्थना से सन्तुष्ट होकर स्वयं बैल पर बैठे हुए उनको दर्शन दिया और साधुवाद किया।[५०] शिव ने कहा कि तुम तर्क में कुशल हो, तुमको छोड़कर शास्त्रार्थ में मुझे कौन सन्तुष्ट कर सकता है। इस शास्त्रार्थ से तुमने मुझे सन्तुष्ट किया है। अतः मैं तुम्हारा नाम धारण करूंगा। तुम्हारे भी तीन आँखें होंगी। शिव जब यह बात कह रहे थे तब उनके वाहन बैल (नन्दी) ने अपने दाँतों से प्रमाण आदि सोलह पदार्थों को लिखकर उनको

---

[४९] भो मुने वेदधर्मज्ञ किं तूष्णीमास्यते चिरम्।
मामनिर्जित्य मेधाविन् क्षुद्र नास्तिकबालकम्॥
कथं तु विदुषो विद्वान् नास्तिकान् लोकसम्मतान्।
विजेष्यसि महायुद्धे पलायस्व मा चिरम्॥

[५०] साधु गौतम भद्रं ते तर्केषु कुशलो ह्यसि।
त्वामृते वादयुद्धेन को मां तोषयितुं क्षमः॥
अनेन तव वादेन तोषितोऽहं महामुने।
त्वन्नाम धारयिष्यामि त्वं त्रिनेत्रो भविष्यसि॥

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

दिखाया।[५१] पश्चात् शिव की कृपा से गौतम मुनि ने उन सोलह पदार्थों की ईक्षा अर्थात् दर्शन करके आन्वीक्षिकी विद्या का विश्व में प्रचार-प्रसार किया। शिव के आदेश से इन्होंने नास्तिक मतों के निराकरण हेतु इस विद्या का उपदेश शिष्यों को दस दिनों में दिया।

पश्चात् कुछ समय बीत जाने पर वेदव्यास[५२] ने गुरु गौतम की आज्ञा से समावर्तन के पश्चात् गृहस्थ होकर ब्रह्मसूत्र में तर्क की निन्दा की। इसे सुनकर महर्षि गौतम वेदव्यास पर कुपित हो गए। उन्होंने प्रतिज्ञा की इन आँखों से वेदव्यास का मुँह नहीं देखूँगा। वेदव्यास

---

५१ इत्येवं ब्रुवतः शम्भोर्जजृम्भे वाहनो वृषः।
दर्शयन् दन्तलिखितान् प्रमाणादींश्च षोडश॥

शम्भोः कृपामनुप्राप्य यदीक्षामकरोन्मुनिः।
तेन चान्वीक्षिकीसंज्ञां विद्यां प्रावर्तयत् क्षितौ॥

आदेशेन शिवस्यैव स शिष्यान् दशभिर्दिनैः।
पाठयामास तां विद्यां नास्तिक्यमतनाशिनीम्॥

५२ ततः कालेन कियता व्यासो गुरुनिदेशतः।
समावृत्तो गृहस्थोऽभूद् वेदव्याख्यानकोविदः॥

स तर्कं निन्दयामास ब्रह्मसूत्रोपदेशकः।
तच्छ्रुत्वा गौतमः क्रुद्धो वेदव्यासं प्रति द्विजः॥

प्रतिजज्ञे च नैताभ्यां दृग्भ्यां पश्यामि त्वन्मुखम्।
यः शिष्यो द्वेष्टि वै तर्कं चिराय गुरुसम्मतम्॥

व्यासोऽपि भगवांस्तस्य गुरोः कोपं विमृश्य च।
आययौ त्वरितस्तत्र यत्राभूद्गोतमो मुनिः॥

असकृद्दण्डवद् भूत्वा पादयोः प्रणिपत्य च।
प्रसादयामास गुरुं कुतर्को निन्दितो मया॥

प्रसन्नो गौतमो व्यासे प्रतिज्ञां स्वाञ्च संस्मरन्।
पादेऽक्षि स्फोटयामास सोऽक्षपादस्ततोऽभवत्॥

– देवी पुराण, शुम्भनिशुम्भमथनपाद, अध्याय १६

देवी पुराण में यह अंश मुद्रित नहीं है। निखिलशास्त्रदर्शी, नाना शास्त्रग्रन्थकार अक्षपाद गौतमवंशीय स्वनामख्यात पूज्यपाद पंडित श्रीयुतपंचानन तर्करत्न महाशय से हमने पूछा कि गौतम का अक्षपादनाम होने की प्रसिद्धि का उत्स क्या है ? उन्होंने अनुग्रहपूर्वक प्राचीन पुस्तक से उक्त वचन समूह लिखकर भेजा था। यह मुझे उनसे ही मिला और कहीं से नहीं। इसलिए उनके प्रति मैं चिरकृतज्ञता प्रकाशित कर रहा हूँ। उनके मत में भी अहल्यापति गौतम ही न्यायसूत्रकार हैं।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

गुरु गौतम के चरणों पर गिर पड़े और कहा कि मैंने कुतर्क की निन्दा की है। अब गौतम मुनि ने उन पर प्रसन्न होकर प्रतिज्ञा का स्मरण करके अपने चरण में आँख स्फुटित कर दी। इसी कारण से वे अक्षपाद नाम से कहे जाने लगे। उपर्युक्त वचनों के प्रामाण्य में सन्देह रहने पर भी गौतम के अक्षपाद नाम के सम्बन्ध में जनश्रुति के मूल का निश्चय अवश्य सिद्ध होता है। इसमें संदेह करने का कोई कारण नहीं है। पूर्वोक्त प्राचीन जनश्रुति का मूल उपर्युक्त वचन आधुनिक कथमपि[५३] नहीं है। ब्रह्माण्ड पुराण में महेश्वर शिव का वाक्य है कि सत्ताइसवें द्वापर में जातुकर्ण्य के समय में व्यास होंगे, उसी समय में मैं प्रभास तीर्थ में प्रसिद्ध योगात्मा द्विजश्रेष्ठ सोमशर्मा होऊँगा। उस समय में मेरे तपोधन पुत्रगण चार[५४] शिष्य होंगे – अक्षपाद, कणाद या कुमार, उलूक और वत्स। वायु पुराण के पूर्व खण्ड में तेइसवें अध्याय में भी यह बात वर्णित है। ब्रह्माण्ड एवं वायु पुराण में अक्षपाद आदि चार शिष्यों का सोमशर्मा के पुत्ररूप में उल्लेख हुआ है। किन्तु लिङ्ग पुराण के चौबीसवें अध्याय में अक्षपाद आदि सोमशर्मा के शिष्यरूप में उल्लिखित हुए हैं। लिङ्ग पुराण में कणाद के स्थान पर कुमार पद उल्लिखित है। अनेक विद्वानों ने ब्रह्माण्ड और वायु पुराण में ''अक्षपाद. कुमारश्च'' इस पाठ को संगत कहा है। जो भी हो अक्षपाद नामक तपोधन सत्ताइसवें द्वापर युग के अन्त में प्रभास तीर्थ में शिवावतार सोमशर्मा के शिष्य थे – यह बात ब्रह्माण्ड, वायु तथा लिङ्ग पुराण से ज्ञात होती है। पुराणविज्ञ पण्डितों का कहना है कि चौदहवें द्वापर या कलियुग में सुरक्षण व्यास का अविर्भाव हुआ जिन्होंने गोतमशिव के अवतार रूप में योग का उपदेश किया। उन्होंने ही पुनः सत्ताइसवें द्वापर के अन्त में शिवावतार सोमशर्मा के शिष्यरूप में अक्षपाद नाम से संसार में ज्ञान का प्रचार किया[५५]। वस्तुतः स्कन्द पुराण में अहल्यापति गौतम मुनि

---

[५३] गंगेश के पूर्ववर्ती जयन्त भट्ट ने न्यायमञ्जरी के अन्त में कहा है कि अक्षपाद ने वादकथा में भगवान् शिव को संतुष्ट कर वर प्राप्त किया था।

[५४] सप्तविंशतिमे प्राप्ते परिवर्ते क्रमागते।
जातुकर्ण्यो यदाव्यासो भविष्यति तपोधनः॥
तदाप्यहं भविष्यामि सोमशर्मा द्विजोत्तमः।
प्रभासतीर्थमासद्य योगात्मा लोकविश्रुतः॥
तत्रापि मम ते पुत्रा भविष्यन्ति तपोधनाः।
अक्षपादः कणादश्च उलूको वत्स एव च॥
– ब्रह्माण्ड पुराण, अनुषङ्ग पाद, अ.२३, श्लोक १४९-१५१

[५५] यदा व्यासः सुरक्षणः पर्याये तु चतुर्दश।
तत्रापि पुनरेवाहं भविष्यामि युगान्तिके।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

ही अक्षपाद महायोगी रूप में उक्त हैं और इन्हीं को कूर्म पुराण में शिव का अवतार कहा गया है। स्कन्द पुराण में अनेक स्थलों पर इनका माहात्म्य वर्णित है। महाभारत में अहल्यापति गौतम के अनेक हज़ार शिष्यों की बात कही गई है। उनमें सबसे अधिक प्रिय शिष्य उत्तङ्क का उपाख्यान तथा अहल्या के कुण्डल लाने की बात वर्णित है। (अश्वमेधपर्व ५६ अ. द्रष्टव्य) सोमशर्मा के शिष्यरूप में विद्यमान अक्षपाद कृष्ण द्वैपायन व्यास से बहुत पहले आविर्भूत हुए। यह बात ब्रह्माण्ड पुराण आदि से ज्ञात होती है। तब इन्होंने किस समय में न्यायसूत्र की रचना की यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। किसी-किसी का कहना है कि सोमशर्मा के शिष्य मुनि अक्षपाद ने प्रभासतीर्थ में न्यायसूत्र का प्रणयन किया किन्तु इसमें प्रमाण उपलब्ध नहीं है। दीर्घतपा गौतम महायोगी चिरंजीवी हुए हैं। स्कन्दपुराण में उक्त है कि उन्होंने पर्यटन करते हुए अनेक स्थानों में गौतमेश्वर शिवलिङ्ग की प्रतिष्ठा की तथापि मिथिला में ही सबसे पहले न्यायशास्त्र की विशेष चर्चा का आरम्भ तथा अनेक न्याय-ग्रन्थों का प्रणयन हुआ है। मिथिला के निवासी महर्षि गौतम मिथिला के आश्रम में ही न्यायसूत्र की रचना की है, ऐसी धारणा पण्डित समाज में प्रचलित है। मैथिल तथा अन्यदेशीय विद्वद्वृन्द इसका समर्थन करते हैं। बहुत से विद्वानों की धारणा है कि जहाँ (छपरा) गौतम पाठशाला विद्यमान है, वहीं न्यायसूत्र की रचना हुई है। प्रतीत होता है कि इस विषय में निश्चित रूप से ''इदमित्थं'' कहना संभव नहीं है।

भाष्यकार वात्स्यायन और वार्त्तिककार उद्योतकर

न्यायदर्शन के भाष्यकार वात्स्यायन के यथार्थ परिचय का संपूर्ण रूप से निर्णय करना असंभव और अति दुःसाध्य है। ज्ञात होता है कि न्यायदर्शन के भाष्यकार वात्स्यायन मुनि रहे हैं। पण्डित समाज में ऐसा परम्परागत रूप से स्वीकार्य रहा है। योगवासिष्ठ रामायण के वैराग्य प्रकरण के अन्त में मुनिगणों के मध्य वात्स्यायन नाम के मुनिविशेष का उल्लेख हुआ है। वाचस्पति मिश्र आदि अनेक आचार्यों ने इस वात्स्यायन को पक्षिलस्वामी कहकर उल्लिखित किया है। तार्किक रक्षा के आरम्भ में वरदराज ने भी यही कहा है जो उक्त ग्रन्थ के व्याख्याकार मल्लिनाथ की व्याख्या से ज्ञात होता है।[५६] वात्स्यायन का ही दूसरा नाम पक्षिल है। वह अक्षपाद की तरह मुनि हुए हैं। वाचस्पत्यम्

→ वेन त्वङ्गिरसः श्रेष्ठो गौतमो नाम योगवित्।
तस्माद्भविष्यति पुनः गौतमं नाम तद्वनम्॥
— ब्रह्माण्ड पुराण, अनुषङ्ग पाद, अ. २३

[५६] अक्षचरणपक्षिलमुनिप्रभृतयो वर्णयन्ति। तार्किकरक्षा। अक्षचरणपक्षिलौ सूत्रभाष्यकारौ। मल्लिनाथटीका।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

कोश में श्रेष्ठ विद्वान् तारानाथ तर्कवाचस्पति ने पक्षिल शब्द का अर्थ गौतमसूत्र के भाष्यकार मुनिविशेष कहा है और इस भाष्य को वात्स्यायन मुनिकृत भाष्य कहा है। दयानन्द स्वामी ने अपनी ऋग्वेद भाष्य भूमिका में न्यायदर्शन के भाष्यकार वात्स्यायन को मुनि कहकर उल्लिखित किया है। (द्रष्टव्य पृ. १६) प्राचीन न्यायाचार्य उद्योतकर ने न्यायवार्त्तिक के अन्त में भाष्यकार वात्स्यायन को (अक्षपाद प्रतिम) कहा है।[५७] तात्पर्यटीका में वाचस्पति मिश्र ने उपमान सूत्र (१.६) के भाष्य की व्याख्या में एवं तार्किकरक्षाकार वरदराज ने उपमान-व्याख्या में अपनी व्याख्या के समर्थन हेतु भगवान् भाष्यकार कहकर वात्स्यायन का उल्लेख किया है। तार्किकरक्षा की व्याख्या में मल्लिनाथ ने कहा है कि अपनी व्याख्या के प्रामाण्य हेतु वरदराज ने भाष्यकार को भगवान् कहा है। सूत्रकार अक्षपाद न कहकर भाष्यकार को भगवान् कहने का अभिप्राय यही ज्ञात होता है। तात्पर्य यह है कि उद्योतकर आदि प्राचीन ग्रन्थकारों के मध्य न्यायभाष्यकार वात्स्यायन अक्षपाद की तरह मुनि रूप में समादृत रहे हैं। विशेष कहना यह है कि बहुश्रुत प्राचीन विद्वान् वाचस्पति मिश्र ने भी इनको भगवान् भाष्यकार कहा है। अतः मानना होगा कि वात्स्यायन अधिक तपस्वी तथा विख्यात रहे हैं। अन्यथा उद्योतकर, कुमारिलभट्ट तथा वाचस्पति मिश्र आदि विश्वविख्यात विद्वान् एवं आस्तिक शिरोमणि वात्स्यायन को भगवान् कहकर उल्लिखित नहीं करते। किन्तु ऋषि या आचार्य शंकर की तरह न्यायभाष्यकार वात्स्यायन को भगवान् कहकर उल्लेख करना इसका समर्थक है। वाचस्पति मिश्र आदि ने जिसको भगवान् कहा है उसके सिद्धान्त में विश्वास नहीं करना संभव नहीं है और न तो वाचस्पति मिश्र की उक्ति की ही उपेक्षा की जा सकती है।

इस देश के अनेक विद्वानों ने अपना मत व्यक्त करते हुए कहा है कि अर्थशास्त्र के रचयिता कौटिल्य ही न्यायदर्शन के भाष्यकार हैं। कौटिल्य का भी दूसरा नाम वात्स्यायन और पक्षिलस्वामी रहा है। इस मत के समर्थन में सबसे पहले हेमचन्द्र सूरि ने स्वरचित कोश अभिधानचिन्तामणि[५८] में वात्स्यायन के आठ नामों का उल्लेख किया है। उनके कौटिल्य, चणकात्मज, पक्षिलस्वामी, और विष्णुगुप्त इन चार नामों से ज्ञात होता है कि कौटिल्य ही पक्षिलस्वामी तथा वात्स्यायन है। पक्षिलस्वामी ने

---

[५७] यदक्षपादप्रतिमो भाष्यं वात्स्यायनो जगौ।
अकारि महतस्तस्य भारद्वाजेन वार्त्तिकम्॥

[५८] वात्स्यायनो मल्लनागः कौटिल्यश्चणकात्मजः।
द्रामिलः पक्षिलस्वामी विष्णुगुप्तोऽङ्गुलश्च सः॥
— मर्त्यकाण्ड ५१८

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

न्यायदर्शन की भाष्य व्याख्या लिखी है, यह बात वाचस्पति मिश्र आदि अनेक आचार्यों ने कही है। पक्षिलस्वामी और वात्स्यायन, कौटिल्य और चाणक्य एक ही व्यक्ति के भिन्न-भिन्न नाम हैं। इन्होंने ही न्यायदर्शन की भाष्य व्याख्या लिखी है। दूसरी बात यह है कि कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र के विद्यासमुद्देश प्रकरण में आन्वीक्षिकी विद्या की प्रशंसा में एक श्लोक[५९] कहा है। इसके तीन चरण न्यायभाष्य में भी उपलब्ध हैं। इससे ज्ञात होता है कि कौटिल्य ने ही न्यायभाष्य में अपने अर्थशास्त्र में उक्त चौथे चरण को परिवर्तित करके लिख दिया है। भाष्य में उक्त श्लोक का चौथा चरण है – ''विद्योदेशे प्रकीर्तिता''। इस चतुर्थ चरण से ज्ञात होता है कि कौटिल्य की रचना ही न्यायभाष्य है। मेरे द्वारा रचित अर्थशास्त्र के विद्यासमुद्देश प्रकरण में आन्वीक्षिकी इस प्रकार कीर्तित हुआ है। तीसरी बात यह है कि अर्थशास्त्र के अन्त में कौटिल्य ने शास्त्र का उद्धार किया[६०] है जहाँ न्यायसूत्र का भी उद्धार हुआ है। भाष्य की रचना करके इन्होंने न्यायसूत्रों का उद्धार किया होगा ऐसा ज्ञात होता है। इस सिद्धान्त के उत्तर में कहना है कि हेमचन्द्र सूरि के श्लोक से यह निर्णय नहीं होता कि कौटिल्य ही न्यायभाष्यकार हैं। क्योंकि नामसाम्य से व्यक्ति की साम्यसिद्धि नहीं होती है। न्यायभाष्यकार की तरह कौटिल्य के भी वात्स्यायन और पक्षिलस्वामी यह दो नाम हो सकते हैं किन्तु तार्किकरक्षा में वरदराज के कथन तथा उसकी व्याख्या में मल्लिनाथ की उक्ति से ज्ञात होता है कि न्यायभाष्यकार वात्स्यायन का दूसरा नाम पक्षिल था और स्वामी उनका उपनाम रहा होगा। न्यायकन्दली के आरम्भ में ''पक्षिलशब्ररस्वामिनौ'' इस प्रयोग से स्वामी उपनाम ही ज्ञात होता है। वाचस्पति मिश्र ने पक्षिल नाम के पश्चात् स्वामी उपनाम जोड़कर वात्स्यायन को पक्षिलस्वामी कहकर उल्लिखित किया होगा। इससे ज्ञात होता है कि वाचस्पति मिश्र के समय में न्यायभाष्यकार वात्स्यायन पक्षिलस्वामी नाम से प्रसिद्ध थे। किन्तु कौटिल्य का नामान्तर पक्षिलस्वामी यदि है तो न्यायभाष्यकार का नामान्तर पक्षिल है। इस नाम से न्यायभाष्यकार को कौटिल्य कहना उचित नहीं है। वात्स्यायन नाम से भी कौटिल्य को न्यायभाष्यकार वात्स्यायन नहीं कहा जा सकता। कारण यह है कि वात्स्यायन

---

[५९] प्रदीपः सर्व विद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां शावदान्वीक्षिकी मता॥
– अर्थशास्त्र

[६०] येन शास्त्रं च शस्त्रं च नन्दराज्यगता च भूः।
अमर्षणोद्धृत्तान्याशु तेन शास्त्रामिदं कृतम्॥
– अर्थशास्त्र का अन्त

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

गोत्र निमित्तक यदि नाम है तो अन्य व्यक्ति का नाम भी वात्स्यायन हो सकता है। जो भी हो इन बातों से कौटिल्य ही न्यायभाष्यकार हैं यह मान्य नहीं हो सकता क्योंकि इस सिद्धान्त में उपर्युक्त हेमचन्द्र सूरि का श्लोक अथवा त्रिकाणुशेष में पुरुषोत्तम देव का श्लोक प्रमाण नहीं हो सकता।

''प्रदीपः सर्वविद्यानां'' इत्यादि श्लोक से भी न्यायभाष्यकार तथा अर्थशास्त्रकार में अभिन्नता का निश्चय नहीं किया जा सकता क्योंकि मङ्गलाचरण श्लोक आदि किसी किसी श्लोक विशेष के बिना इस प्रकार के श्लोक से ग्रन्थकारों में अभेद सिद्ध नहीं होता। उद्देश्य विशेष को लेकर एक ग्रन्थकार के श्लोक को अपर ग्रन्थकार आंशिक रूप से उद्धृत कर सकता है। कौटिल्य यदि न्यायभाष्य की रचना करके उपर्युक्त श्लोक से अर्थशास्त्र में आन्वीक्षिकी का कीर्तन करना बहुत आवश्यक समझते तो चतुर्थ चरण में ''अर्थशास्त्रे प्रकीर्तिता'' ही कहते। अर्थशास्त्र के विद्यासमुद्देश प्रकरण नामक विद्योद्देश शब्द से कहकर अति अस्पष्ट रूप से अपना वक्तव्य क्यों कहते ? यदि विद्योद्देशे कहने से अर्थशास्त्र प्रकरण का ज्ञान होता तो कौटिल्य से भिन्न व्यक्ति भी न्यायभाष्य में यह कहता कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र में आन्वीक्षिकी की प्रशंसा है। वस्तुतः न्यायभाष्यकार ने पहले ''सेयमान्वीक्षिकी'' कहकर उपर्युक्त श्लोक के चतुर्थ चरण में ''विद्योद्देशे प्रकीर्तिता'' कहा है। इससे ज्ञात होता है कि विद्योद्देशे अर्थात् शास्त्र में त्रयी आदि चतुर्विध विद्या का जहाँ उद्देश अर्थात् नाम-कथन हुआ है, वहीं इस आन्वीक्षिकी का भी समावेश है। आन्वीक्षिकी विद्या ही शास्त्रोक्त चतुर्विध विद्या के अन्तर्गत चौथी विद्या है। यही भाष्यकार का वक्तव्य है। न्यायमञ्जरीकार जयन्त भट्ट के कथन से भी यह बात ज्ञात होती है। जयन्त भट्ट ने भाष्यकार की उक्ति के रूप में श्लोक का उल्लेख करके इसका स्वयं समर्थन किया है। अतः जयन्त भट्ट ने उक्त श्लोक का चतुर्थ चरण ''विद्योद्देशे परीक्षिता'' कहा है। जयन्त भट्ट के इस पाठ में भाष्यकार का वक्तव्य ज्ञात होता है। शास्त्र में चतुर्विध विद्या के गणना के अवसर पर यह आन्वीक्षिकी विद्या परीक्षित अर्थात् अवधारित होती है। यह न्यायविद्या ही निश्चित रूप से आन्वीक्षिकी विद्या है। भाष्यकार वात्स्यायन ने पहले ही न्यायविद्या का आन्वीक्षिकी विद्या के रूप में उल्लेख किया है। अभिप्राय यह है कि भाष्यकार ने किसी खास उद्देश्य के प्रकाशन हेतु चतुर्थ चरण में परिवर्तन किया होगा। अर्थशास्त्र के अन्त में कौटिल्य ने शास्त्र, शस्त्र तथा नन्द राज्य के उद्धार की बात कही है – इससे यह नहीं सिद्ध होता कि न्यायसूत्रों के भाष्य का उन्होंने प्रणयन किया है। उन्होंने अनेक शास्त्रों से राजनीति समुच्चय का उद्धार किया है तथा शस्त्र एवं नन्द राज्य का उद्धार करके श्लोक लिखा है। इस श्लोक से यही ज्ञात होता है कि कौटिल्य ने शास्त्र आदि का उद्धार करके अर्थशास्त्र की रचना की। अर्थशास्त्र

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

रचना के पहले न्यायभाष्य में ''विद्योद्देशे प्रकीर्तिता'' किस अर्थ में कहा है – इसका विचार करना भी उचित है। अर्थशास्त्र में कौटिल्य नाम का उल्लेख है तथा विष्णुगुप्त नाम से ग्रन्थकार का परिचय दिया गया है।[६१] अर्थशास्त्र आदि अनेक ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि विष्णुगुप्त ही कौटिल्य का मुख्य नाम था। मुद्राराक्षस नाटक में कवि विशाखदत्त की रचना से भी यही ज्ञात होता है (द्रष्टव्य सप्तम अङ्क)। कौटिल्य यदि न्यायभाष्य की रचना करते तो अर्थशास्त्र की तरह विष्णुगुप्त अथवा सुप्रसिद्ध कौटिल्य या चाणक्य नाम से ग्रन्थकार का परिचय देते। उद्योतकर तथा वाचस्पति मिश्र आदि प्राचीन आचार्यों में से किसी ने उनके उपर्युक्त इन प्रसिद्ध नामों का उल्लेख नहीं किया है। न्यायभाष्य के अन्त में वात्स्यायन नाम से ग्रन्थकार का परिचय उपलब्ध है।[६२] यद्यपि कामसूत्र में वात्स्यायन नाम से ग्रन्थकार का परिचय मिलता है। कामसूत्र के व्याख्याकार यशोधर ने कामसूत्रों के रचयिता के दो नामों का उल्लेख किया है – वात्स्यायन और मल्लनाग।[६३] वात्स्यायन उनका गोत्र निमित्तक नाम है और मल्लनाग सांस्कारिक। बहुतों का कहना है कि कौटिल्य ही कामसूत्र के रचयिता वात्स्यायन हैं। किन्तु कामसूत्र के व्याख्याकार यशोधर ने विष्णुगुप्त नाम का उल्लेख न करके मल्लनाग नाम का कामसूत्रकार के रूप में उल्लेख किया है जो वात्स्यायन का सांस्कारिक नाम है। इन्होंने इनको पक्षिलस्वामी भी नहीं कहा है। अर्थशास्त्र में अनेक स्थलों पर अपने मत का उल्लेख करते समय कौटिल्य ने कौटिल्य नाम का उल्लेख किया है। कामसूत्र में ग्रन्थकार ने अपने मत का उल्लेख करते समय वात्स्यायन नाम का उल्लेख किया है। अर्थशास्त्र तथा कामसूत्र की भाषा में बहुत वैषम्य देखा जाता है। न्यायभाष्य और कामसूत्र की भाषा भी समान नहीं है। तथा ग्रन्थ आरम्भ करने की रीति भी भिन्न है। कामसूत्र के आरम्भ में मङ्गलाचरण है तथा न्यायभाष्य के आरम्भ में वह नहीं है। फलतः कामसूत्रकार और न्यायभाष्यकार वात्स्यायन के ऐक्य का सिद्धान्त न तो सत्य है न ही मान्य है। एक भी प्रमाण यहाँ उपलब्ध नहीं है। कौटिल्य ही न्यायभाष्यकार हैं इस संदर्भ में विशेष कहना यह है कि न्यायभाष्यकार सांख्यशास्त्र को चतुर्थी विद्या आन्वीक्षिकी नहीं कह सकते किन्तु

---

[६१] दृष्टा विप्रतिपत्तिं बहुधा शास्त्रेषु भाष्यकाराणम्।
स्वयमेव विष्णुगुप्तश्चकार सूत्रञ्च भाष्यं च ॥
– अर्थशास्त्र का उपसंहार

[६२] योऽक्षपादमृषिं न्यायः प्रत्यभाद् वदतांवरम्।
तस्य वात्स्यायन इदं भाष्यजातमवर्णयत् ॥

[६३] वात्स्यायन इति गोत्रनिमित्ता संज्ञा मल्लनाग इति सांस्कारिकी।
– अधि.१, अ. २, सूत्र १९ टीका

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अर्थशास्त्र में सांख्य शास्त्र को भी चतुर्थी विद्या आन्वीक्षिकी में गिनाया गया है। न्यायभाष्य में आन्वीक्षिकी शब्द की विशेष व्युत्पत्ति दिखाकर तदनुसार न्यायविद्या अथवा न्यायशास्त्र ही उस आन्वीक्षिकी शब्द का अर्थ कहा है और संशय आदि चौदह पदार्थों को आन्वीक्षिकी विद्या का प्रस्थान कहा है। उद्योतकर ने इस प्रस्थान भेद के वर्णन में ''संशयादिभेदानुविधायिनी आन्वीक्षिकी'' कहकर इस विद्या का स्वरूप प्रदर्शित किया है। न्यायभाष्यकार भी पहले न्यायविद्या को चतुर्थी आन्वीक्षिकी विद्या कहकर ''सेयं आन्वीक्षिकी'' इत्यादि वाक्य के साथ ''विद्योद्देशे प्रकीर्तिता'' भी इसको कहा है। उस श्लोक से ज्ञात होता है कि न्यायविद्या को ही भाष्यकार ने चतुर्विध विद्या में परिगणित किया है जो चतुर्थी आन्वीक्षिकी विद्या है। फलितार्थ यह हुआ कि न्यायभाष्य तथा अर्थशास्त्र में आन्वीक्षिकी विद्या के प्रसंग में मतभेद किसी प्रकार का नहीं है। वात्स्यायन, उद्योतकर तथा जयन्त भट्ट आदि न्यायाचार्यगण ने न्यायविद्या से भिन्न सांख्यशास्त्र को आन्वीक्षिकी विद्या नहीं कहा है, उन लोगों के ग्रन्थों के आलोचन से यही ज्ञात होता है। न्यायभाष्य और अर्थशास्त्र में यदि आन्वीक्षिकी विद्या के प्रसंग में मतभेद नहीं होता तो इस मत में विश्वास हो सकता था कि अर्थशास्त्र के रचयिता कौटिल्य न्यायभाष्य के भी रचयिता हैं। अतः इस सिद्धान्त के समर्थन से पहले यह समझना आवश्यक है कि उन दोनों ग्रन्थों में आन्वीक्षिकी विद्या के प्रसंग में मतभेद है कि नहीं ? सुधीवृन्द दोनों ग्रन्थों की आलोचना करके इस विषय में विंचार करेंगे। अर्थशास्त्र में कौटिल्य की बात पहले कही जा चुकी है कि यह नहीं माना जा सकता कि कौटिल्य ने आन्वीक्षिकी विद्या में न्यायशास्त्र का उल्लेख नहीं किया है। अर्थशास्त्र में आन्वीक्षिकी पाठ उपलब्ध होता है – यह पाठ यदि संगत होता तो चिरप्रसिद्ध आन्वीक्षिकी शब्द का प्रयोग कौटिल्य ने क्यों नहीं किया एवं वात्स्यायन आदि न्यायाचार्यगण ने कौटिल्य की तरह आन्वीक्षिकी शब्द का ही प्रयोग क्यों नहीं किया – यह भी विचारणीय है। कौटिल्य ने प्राचीन आचार्यों के मत का वर्णन करते समय आन्वीक्षिकी शब्द का प्रयोग किया है। पाश्चात्य एवं प्राच्य ऐतिहासिक वृन्द के मध्य जिन्होंने ख्रीस्तीय चतुर्थ शताब्दी एवं बहुतों ने ख्रीस्तीय पञ्चम शताब्दी को भाष्यकार वात्स्यायन का समय कहा है, उनके मत में ख्रीस्तपूर्ववर्ती कौटिल्य न्यायभाष्यकार नहीं हो सकते – यह कहना व्यर्थ है। किन्तु भाष्यकार वात्स्यायन ख्रीस्तपूर्ववर्ती अति प्राचीन हैं – यही हम लोगों का विश्वास है। वात्स्यायन भाष्य की भाषा की आलोचना करने पर ज्ञात होता है कि न्यायभाष्यकार ख्रीस्तीय पञ्चम शतक से बहुत पहले हुए हैं। अतएव अतिप्राचीन हैं। बौद्धग्रन्थ लंकावतारसूत्र तथा माध्यमिकसूत्र के पश्चात् वात्स्यायन ने भाष्य की रचना की – इस मत में भी प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। उद्योतकर के वार्त्तिक की तरह वात्स्यायन भाष्य में भी किसी

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

बौद्ध ग्रन्थ का उल्लेख नहीं है। जिन बौद्ध मतों की आलोचना यहाँ हुई है वह आलोचना प्राचीन काल से ही होती आ रही है। उपनिषदों में पूर्वपक्ष के रूप में उन सभी मतों की सूचना उपलब्ध है। न्यायसूत्र में भी उन मतों का आलोचन एवं खण्डन हुआ है। उन मतों को अथवा उस मत के शब्द विशेष को देखकर यह नहीं समझना चाहिए कि बौद्ध के पश्चात् न्यायसूत्र रचित हुआ है। किसी मत विशेष की आलोचना देखकर इस प्रकार के सिद्धान्त का निर्णय नहीं किया जा सकता। मैं नहीं जानता कि ये मत शाक्य बुद्ध से पहले किसी ने कभी उद्भावित नहीं किया था। शाक्य के द्वारा इन मतों के उद्भावन के निर्णय में ही क्या प्रमाण है? दर्शन के प्रणेता ऋषिगणों ने उपनिषदों में पूर्वपक्ष रूप में उल्लिखित नास्तिक मतों का विचारपूर्वक खण्डन करके उपनिषदों के उन पूर्वपक्षीय मान्यताओं की व्याख्या की है। उन ऋषियों का दर्शन शास्त्रों के प्रणयन में यह भी महान् उद्देश्य रहा होगा। उन लोगों ने उन पूर्वपक्षों का अपनी कृतियों में उद्भावन करके पुनः उन मतों का खण्डन किया है। परवर्ती बौद्ध सम्प्रदाय ने उन पूर्वपक्षों में से बहुत पूर्वपक्षों को सिद्धान्त के रूप में मानकर बौद्ध मत की प्रतिष्ठा की है। बौद्ध सम्प्रदाय में समर्थित सिद्धान्त उनके द्वारा आविष्कृत है – यह नहीं माना जा सकता। न्यायसूत्रों में आलोचित बौद्ध मत उपनिषदों में भी उपलब्ध है। यह अवसर आने पर यथास्थान दिखाऊँगा। तात्पर्य यह है कि वात्स्यायन भाष्य में ऐसा एक भी सिद्धान्त नहीं है, जिसके आधार पर उसको लंकावतारसूत्र तथा माध्यमिकसूत्र के पश्चात् का माना जाए। जिस साध्य के साधन में जो हेतु संदिग्ध है अथवा हेतु ही नहीं है उससे उस साध्य का यथार्थ अनुमान नहीं हो सकता। हेतु से किसी सिद्धान्त के निर्णय के लिए उस स्थल में व्यवहृत हेतु यथार्थ हेतु है या हेत्वाभास है इसका सबसे पहले विवेचन करना आवश्यक है। वात्स्यायन ने लंकावतारसूत्र तथा माध्यमिकसूत्र की रचना के पश्चात् न्यायभाष्य की रचना की तथा बौद्ध मतों का खण्डन किया। अतः न्यायभाष्य में सभी बौद्ध ग्रन्थों के असाधारण पारिभाषिक शब्द (प्रतीत्यसमुत्पाद आदि) अवश्य प्राप्त होते तथा माध्यमिक सूत्र में समर्थित बौद्ध मत का विशेष रूप से आलोचन होता। वात्स्यायन भाष्य में उपलब्ध बौद्ध मत की आलोचना में परवर्तीकाल के प्रधान बौद्ध विद्वानों के सूक्ष्म विचारों का आलोचन नहीं मिलता। संक्षेप में ही यहाँ बौद्ध मतों का निराकरण हुआ है। वात्स्यायन भाष्य में परवर्ती बौद्ध विद्वानों के द्वारा समर्थित बौद्ध के मुख्य सिद्धान्तों का विशेष रूप से आलोचन नहीं मिलता। वात्स्यायन ने प्राचीन बौद्ध दार्शनिकों के अभ्युदय के समय में वात्स्यायन न्यायभाष्य का प्रणयन किया होगा एवं प्राचीन बौद्ध दार्शनिकों को लक्ष्य करके नास्तिक, अनात्मवादी तथा क्षणिकवादी आदि कहकर उनके मतों में दोष का प्रदर्शन किया होगा। यही हम लोगों का विश्वास है। यद्यपि महामहोपाध्याय विन्ध्येश्वरी

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

प्रसाद द्विवेदी यह नहीं मानते। इन्होंने वात्स्यायन को बौद्ध युग के पूर्ववर्ती ऋषि कहा है। विश्वकोश में भी उल्लिखित है कि वात्स्यायन भाष्य में कहीं भी बौद्ध मतों का प्रसंग नहीं है, तथापि यह सर्वमान्य नहीं है। वात्स्यायन तथा वाचस्पति मिश्र के कथन से यही ज्ञात होता है कि बौद्ध दार्शनिकवृन्द के अभ्युदय के पश्चात् वात्स्यायन ने न्यायसूत्रों का उद्धार करके भाष्य की रचना की।

न्यायसूत्र के प्रथम अध्याय, द्वितीय आह्निक, नवम् सूत्र भाष्य की व्याख्या करते हुए तात्पर्यटीका में वाचस्पति मिश्र ने स्पष्ट कहा है कि भाष्यकार से पहले भी न्यायसूत्र की व्याख्या हुई है। भाष्यकार एक भाषा के द्वारा ही अपने मत तथा विरोधी मत में कालातीत हेत्वाभास के स्वरूप की व्याख्या करके पर मत का उदाहरण प्रदर्शित किया है। किसी बौद्ध विशेष के द्वारा सूत्र की भिन्न व्याख्या करने पर जो दोष प्रदर्शित किया गया है उस सूत्रार्थ को संगत न मानकर भी भाष्यकार ने उसमें उक्त दोष का निराकरण किया है। इस तरह के अनेक स्थलों में बौद्ध दार्शनिकों के मतों के उद्धरण से ज्ञात होता है कि बौद्ध दार्शनिकों के अभ्युदय हो जाने पर इस भाष्य की रचना हुई है। ऐसी बात नहीं है कि सर्वत्र भाष्य की व्याख्या में बौद्ध सिद्धान्तों को कहकर वाचस्पति मिश्र ने अपनी व्याख्या कौशल दिखाई है।

वाचस्पति मिश्र ने तात्पर्यटीका के आरम्भ में उद्योतकर के वार्त्तिक की रचना का प्रयोजन कहा है। यद्यपि भाष्यकार ने न्यायशास्त्र की व्याख्या की है तथापि अर्वाचीन दिङ्नाग आदि बौद्धों के कुतर्क स्वरूप अन्धकार से यह न्यायशास्त्र आच्छादित हो गया था। अतएव तत्त्वनिर्णय में यह शास्त्र असमर्थ रहा। फलतः उस कुतर्कस्वरूप अन्धकार को हटाने के लिए उद्योतकर ने वार्त्तिक की रचना की। वाचस्पति मिश्र ने अर्वाचीन शब्द का प्रयोग करके दिङ्नाग आदि बौद्ध आचार्यों के सम्प्रदाय को नव्य सम्प्रदाय कहा है। खीस्तपूर्ववर्ती बौद्ध राजा अशोक से बहुत पहले बौद्ध दर्शनिकों का अभ्यदुय हो चुका था। दिङ्नाग से कुछ पहले ही बौद्ध सम्प्रदाय में न्यायशास्त्र की विशेष चर्चा तथा प्रमाण की विशेष आलोचना हेतु बौद्ध न्याय के अनेक ग्रन्थों का निर्माण हो चुका था। ब्राह्मण नैयायिकों की विकासमान परम्परा में जैसे प्राचीन एवं नव्य सम्प्रदायों के मध्य काल का अधिक व्यवधान देखा जाता है। नव्यन्याय के प्रवर्त्तक गंगेश उपाध्याय आदि ने प्रमाणों के विषय में विशेष रूप से नवीन रीति से आलोचना की है। इसी प्रकार बौद्ध आचार्यों के मध्य भी प्राचीन एवं नव्य सम्प्रदाय का आविर्भाव हुआ है तथा दोनों सम्प्रदायों में पर्याप्त काल का व्यवधान देखा जाता है। काल व्यवधान की अल्पता में प्राचीन और नव्य भेद नहीं हो सकता। वाचस्पति मिश्र ने दिङ्नाग आदि को तथा कुतर्क रूप अन्धकार

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

से उनके द्वारा न्यायशास्त्र के आच्छादित होने की बात कही है। इसके निराकरण के लिए उद्योतकर के द्वारा वार्त्तिक का प्रणयन हुआ है। अन्यथा भाष्यकार ने जब न्यायशास्त्र की व्याख्या कर दी तो कुछ अवशिष्ट नहीं रहा। इससे ज्ञात होता है कि प्राचीन बौद्ध दार्शनिकों के समय में न्यायदर्शन के अभिप्राय को समझाने के लिए वात्स्यायन ने सर्वथा व्याख्या कर दी थी। कुछ कर्त्तव्य अवशिष्ट नहीं था। पश्चात् नवीन बौद्ध आचार्य दिङ्नाग आदि ने प्रमाणों की विशेष आलोचना तथा तर्क की अधिक चर्चा करके "प्रमाणसमुच्चय" आदि ग्रन्थों में न्यायदर्शन के सूत्र और भाष्यों का प्रचुर खण्डन किया है। अतएव कुतर्कस्वरूप अन्धकार से न्यायशास्त्र अच्छादित हो गया। फलस्वरूप उद्योतकर के लिए वार्त्तिक की रचना करना आवश्यक हो गया। वात्स्यायन भाष्य में प्रमाणों के प्रसंग में बौद्ध मतों का विशेष आलोचन नहीं हुआ। वात्स्यायन दिङ्नाग से कुछ बाद में हुए होते तो उनके भाष्य में प्रमाणों के प्रसंग में बौद्ध मतों का विशेष आलोचन होना अधिक संभव था। फलतः वात्स्यायन दिङ्नाग से बहुत पहले हुए – यही हम लोगों का विश्वास है। वात्स्यायन ने पाणिनि-सूत्र का उद्धरण दिया है (२.२.१६ सूत्र भाष्य द्रष्टव्य)। पाणिनि गौतम बुद्ध से भी बहुत पहले हुए हैं, यही हम लोगों का विश्वास है। कथासरित्सागर का उपाख्यान यहाँ प्रमाण के रूप में मान्य नहीं है। वात्स्यायन (५.२.१० सू.भा.) महाभाष्य का वाक्य उद्धृत करते हैं, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता क्योंकि अनेक ऐसे वाक्य हैं, जिनका चिरकाल से उदाहरण प्रदर्शन के लिए अनेक ग्रन्थकार उल्लेख करते आ रहे हैं। इस तरह के वाक्यों का प्रथम वक्ता कौन है – सर्वत्र इसका निश्चय करना संभव नहीं है। वात्स्यायन भाष्य में भी महाभाष्य का तथाकथित वाक्य अविकल रूप से दृष्टिगोचर नहीं होता। दोनों ग्रन्थों में किसी अंश में पाठभेद रहने पर महाभाष्य के वाक्य ही वात्स्यायन ने उद्धृत किए हैं यह नहीं कहा जा सकता। (वृद्धिरादैच पा.सू. १.१.१ पर महाभाष्य द्रष्टव्य) यह निर्विवाद रूप में सिद्ध है कि बौद्ध नैयायिक दिङ्नाग ने प्रमाण-समुच्चय में वात्स्यायन भाष्य का खण्डन किया है। किन्तु दिङ्नाग का ही समय निर्विवाद रूप में निश्चित नहीं है। विश्वकोश में दिङ्नाग का समय दूसरी या तीसरी ख्रीस्तीय शताब्दी निर्धारित है। किन्तु बहुश्रुत महामहोपाध्याय सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने बौद्ध न्याय नामक[६४] अपने निबन्ध में प्रमाण समुच्चयकार दिङ्नाग को कालिदास का समसामयिक एवं ख्रीस्तीय पञ्चम शताब्दी के चतुर्थ चरणवर्ती कहा है। उद्योतकर ने न्यायवार्त्तिक में बौद्ध नैयायिक धर्मकीर्ति तथा विनीत देव के ग्रन्थों का उल्लेख किया है। यह कहकर उन्होंने उद्योतकर को धर्मकीर्ति और विनीत देव के

---

[६४] १३२१ साल के साहित्य परिषद् पत्रिका की तृतीय संख्या द्रष्टव्य है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

समसामयिक ख्रीस्तीय सप्तम शताब्दी के अन्तिम चरण में विद्यमान माना है। विश्वकोश में उद्योतकर को इनसे बहुत अधिक पूर्ववर्ती कहा गया है। जर्मन पण्डित जैकोबी के निबन्ध[६५] में वात्स्यायन का समय ख्रीस्तीय चतुर्थ शताब्दी तथा उद्योतकर का समय षष्ठ शताब्दी निर्धारित किया गया है। विशेषज्ञ ऐतिहासिक वृन्द इन मतभेदों पर विचार करेंगे। मेरा विश्वास है कि उद्योतकर ख्रीस्तीय षष्ठ शताब्दी से भी पहले रहे हैं। ये दिङ्नाग से अधिक परवर्ती नहीं है। इस विश्वास का प्रधान कारण यह है कि तात्पर्यटीका के आरम्भ में वाचस्पति मिश्र ने ''अतिजरतीनां'' कहकर उद्योतकर के वार्त्तिक को प्राचीनतम ग्रन्थ कहा है।[६६] तात्पर्यटीका की व्याख्या परिशुद्धि में वाचस्पति मिश्र के कथनों के प्रयोजन की व्याख्या में उदयनाचार्य ने जो कहा[६७] है, उससे ज्ञात होता है कि उद्योतकर का वार्त्तिक वाचस्पति मिश्र के समय में भी प्राचीन ग्रन्थ के रूप में प्रसिद्ध था। इसकी अनेक व्याख्याएँ हुई थी किन्तु अधिक काल बीत जाने पर उद्योतकर का सम्प्रदाय विलुप्त सा हो गया था। उसकी टीकाएं कुनिबन्ध कहलाने लगी थी। अभिप्राय यह है कि उद्योतकर के वार्त्तिक की व्याख्याएँ यथार्थ व्याख्या नहीं हो पाई। वाचस्पति मिश्र ने अपने गुरु त्रिलोचन से उद्योतकर के वार्त्तिक का रहस्य समझकर तात्पर्यटीका का प्रणयन

---

[६५] वात्स्यायन के संबंध में जर्मन विद्वान् जैकोबी का मत है –

The results of our researches into the age of the "Philosophical sūtra" were composed between CE 200 and 450. During the period lived old commentators — Vātsyāyana, upvarṣe the vṛttikāra (Bodhāyana ?) and probaly Śabara Swāmin.

उद्योतकर के संबंध में –

He (Uddyotkara) may therefore have flourished in the early part of the sixth century or still earlier (the dates of the philosophical *sūtra* of brāhmaṇas by Herman Jacobi, 1911 vol. 31, *Journal of American Oriental Society*)

[६६] इच्छामि किमपि पुण्यं दुस्तरकुनिबन्धपङ्कमग्नानाम्।
उद्योतकरगवीनामतिजरतीनां समुद्धरणात्॥

[६७] ननु चिरन्तनेऽस्मिन् निबन्धे महाजनपरिगृहीते बहवो निबन्धाः सन्तीति कृतमनेनेत्यत आह- इच्छामि इति। ननु यदि ग्रन्थकारसम्प्रदायाविच्छेदेन ते निबन्धाः कथं कुनिबन्धाः ? अथ सम्प्रदायो विच्छिन्नः ? कथं तवापीयं विच्छिन्नसम्प्रदायो तात्पर्यटीका सुनिबन्धः इत्यत आह अतिजरतीनामिति। उद्योतकरसम्प्रदायो ह्यमूषां यौवनं तच्च कालवशाद् गलितमिव किन्नामात्र गुरोः त्रिलोचनसकाशादुपदेशे रसायनमासादितममूषां पुनर्नवीभावाय दीयत इति युज्यते। न च कुनिबन्धपङ्कमग्नानां तद्दातुमुचितमिति तस्मादुत्कृष्य स्वनिबन्धस्थले सन्निवेशलब्ध- समुद्धरणमेव न साम्प्रतम् इत्यर्थः। तात्पर्यपरिशुद्धि।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

किया और इस वार्त्तिक ग्रन्थ का उद्धार किया।[६८] वाचस्पति मिश्र ने स्वयं प्रत्यक्ष सूत्र की व्याख्या में इस बात को कहा है। वाचस्पति मिश्र के न्यायसूचीनिबन्ध के अन्त में उक्त श्लोक से ज्ञात होता है कि उन्होंने आठ सौ अट्ठानवे वर्ष में इस ग्रन्थ की रचना की थी। यहाँ वत्सर पद से विक्रम संवत् समझने पर ८४१ ई. और शकाब्द समझने पर ९६५ ख्रीस्ताब्द होता है। उक्त वत्सर से शकाब्द लेना ही बहुत विद्वानों के द्वारा अनुमत है। प्रतीत होता है कि वाचस्पति मिश्र ने सबसे अन्त में इस न्यायसूचीनिबन्ध की रचना की होगी। अतः ग्रन्थ के अन्त में रचना का समय उल्लिखित कर दिया है। उदयनाचार्य ने भी लक्षणावली ग्रन्थ के अन्त में अपना समय ९०६ शकाब्द उल्लिखित किया[६९] है। उदयन के किरणावली ग्रन्थ का पहला श्लोक लक्षणावली के अन्त में देखा जाता है।[७०] वाचस्पति मिश्र तथा उदयनाचार्य श्रीहर्ष से बहुत पहले हुए हैं यह बात खण्डनखण्डखाद्य ग्रन्थ के अध्ययन से ज्ञात होता है। कहना यह है कि उद्योतकर ख्रीस्तीय सप्तम शताब्दी के अन्तिम चरण में हुए हैं। अतएव ख्रीस्तीय दशम शताब्दी के ग्रन्थकार वाचस्पति मिश्र ने उद्योतकर के वार्त्तिक को "अतिजरतीनां" कहकर प्राचीन ग्रन्थ कहा है। अन्यथा उदयनाचार्य उद्योतकर के सम्प्रदाय-लोप का इस प्रकार वर्णन नहीं करते। अभी भी रघुनाथ शिरोमणि आदि के न्यायग्रन्थों का प्राचीन ग्रन्थ के रूप में उल्लेख नहीं होता। उद्योतकर के वार्त्तिक की आलोचना से ज्ञात होता है कि ये भट्टकुमारिल और भर्तृहरि से पूर्ववर्ती रहे हैं। न्यायवार्त्तिक में भर्तृहरि के किसी मत या वक्तव्य का आलोचन एवं मीमांसा मत के आलोचना में भट्टकुमारिल की बात या मत उपलब्ध नहीं है। उद्योतकर के द्वारा उठाए गए मीमांसक मत को तात्पर्यटीका में वाचस्पति मिश्र ने जरन्मीमांसक मत कहकर उल्लिखित किया है। किन्तु श्लोकवार्त्तिक में अनुमान प्रमाण के प्रमेय के विषय में भट्टकुमारिल ने अपने मतों का समर्थन करके अन्य मत को उठाते हुए उद्योतकर के समर्थित मत का उल्लेख किया है। (श्लोकवार्त्तिक, अनुमान परिच्छेद श्लो. ४८ द्रष्टव्य) यहाँ टीकाकार पार्थसारथि मिश्र ने इस मत को नैयायिक का मत कहकर उद्धृत किया है। भट्ट कुमारिल किसी अप्रसिद्ध नैयायिक के मत का उल्लेख या समर्थन नहीं कर सकते। अतः प्रतीत होता है कि यह मत कुमारिल के पहले से ही सुप्रसिद्ध रहा होगा। भाष्य के बहुत श्लोकों के अवलोकन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि यह मत वात्स्यायन

---

६८ त्रिलोचनगुरून्नीतमार्गानुगमनोन्मुखैः।
यथामानं यथावस्तु व्याख्यातमिदमीदृशम्॥

६९ न्यायसूचीनिबन्धोऽसावकारि सुधियो मुदे।
श्री वाचस्पतिमिश्रेण वस्वङ्क (८९८) वसुत्सरे॥

७० तर्काम्बराङ्क (९०९) प्रमितेष्वतीतेषु शकान्ततः।
वर्षेषूदयनश्चक्रे सुबोधां लक्षणावलीम्॥

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

का नहीं है। उद्योतकर ने अनुमान प्रमाण के प्रमेय के विषय में विभिन्न मतों के साथ दिङ्नाग के मत का खण्डन करके एक नवीन मत प्रस्तुत किया है। (द्रष्टव्य वार्त्तिक पृ. १३९) भट्टकुमारिल ने श्लोकवार्त्तिक में अनुमान परिच्छेद में दिङ्नाग के मत का खण्डन किया है। किन्तु कवि बाणभट्ट ने ख्रीस्तीय सप्तम शताब्दी के आरंभ में अपनी कृति हर्षचरित में वासवदत्ता काव्य की बहुत प्रशंसा की है। यह वासवदत्ता कवि सुबन्धु रचित प्रसिद्ध गद्यकाव्य है। पण्डित समाज में इसकी प्रसिद्धि देखी गई है। यह भी मानना होगा कि वासवदत्ता गद्यकाव्य बाणभट्ट से पहले ही पर्याप्त प्रसिद्ध हो चुका था। कवि सुबन्धु ने इस गद्यकाव्य में उद्योतकर का नाम उद्धृत[७१] किया है। इससे ज्ञात होता है कि उद्योतकर सुबुन्धु से पहले न्यायमत के प्रतिष्ठाता के रूप में प्रसिद्ध हो चुके थे। इन सब बातों की उपेक्षा करने पर भी वाचस्पति मिश्र तथा उदयनाचार्य के कथन की उपेक्षा करना संभव नहीं है। इन लोगों ने उद्योतकर के वार्त्तिक को प्राचीन ग्रन्थ के रूप में उल्लिखित किया है। अतएव हम लोगों का विश्वास है कि उद्योतकर ख्रीस्तीय छठवीं शताब्दी से पहले विद्यमान रहे हैं।

ख्रीस्तीय दशवीं शताब्दी में वाचस्पति मिश्र ने अतिजरतीनां कहकर वार्त्तिक के प्राचीनत्व की घोषणा की है तथा उसके उद्धार का प्रयोजन सूचित किया है। इसके उद्धार के लिए वाचस्पति ने गुरु त्रिलोचन की उपासना की। अतः कहा जा सकता है कि वार्त्तिक ग्रन्थ की प्राचीनता के विषय में वाचस्पति मिश्र एवं उदयनाचार्य भ्रान्त नहीं हो सकते। उद्योतकर ने प्रतिज्ञासूत्र के वार्त्तिक में ''वादविधि'' तथा ''वादविधान टीका'' इन दो बौद्ध ग्रन्थों का उल्लेख किया है। उक्त दोनों ही ग्रन्थ धर्मकीर्ति के वादन्याय ग्रन्थ से तथा विनीतदेव के वादन्याय व्याख्या से भिन्न हैं। उन्हीं ग्रन्थों का नामान्तर से वार्त्तिककार के द्वारा उल्लेख करना समझ में नहीं आता। उपर्युक्त दोनों ही मूल ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं हैं। ग्रन्थ के यथार्थ नाम को छोड़कर कल्पित नाम से उल्लेख करने का कोई कारण समझ में नहीं आता। चूँकि उद्योतकर धर्मकीर्ति तथा विनीतदेव के समसामयिक हैं, अतः ग्रन्थ के नामोल्लेख में भ्रम होने की भी गुंजाइश नहीं है। बौद्ध सम्प्रदाय के बहुत से मूल ग्रन्थ काल कवलित हो गए हैं। सभी सम्प्रदायों में सदृश नाम से अनेक ग्रन्थ लिखे गए तथा लिखे जा रहे हैं। विभिन्न ग्रन्थों में विभिन्न ग्रन्थकारों का विषय विशेष के प्रसंग में समान विचार तथा समान भाष्य का प्रयोग देखा गया है। उद्योतकर द्वारा उद्धृत विभिन्न बौद्ध ग्रन्थों के संदर्भ में देखने से भी यह ज्ञात होता है। तात्पर्यटीका में वाचस्पति मिश्र के कथन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि उद्योतकर ने दिङ्नाग और सुबन्धु के ग्रन्थों का विशेष उल्लेख करके खण्डन किया है। उद्योतकर के कथन से प्रतीत होता है कि वादविधान-

---

[७१] न्यायस्थितिमिवोद्योतकरस्वरूपाम् — वासवदत्ता, पृ. २३५

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

टीका सुबन्धु रचित किसी ग्रन्थ की टीका है। वाचस्पति मिश्र ने यहाँ उद्योतकर के द्वारा उल्लिखित किसी लक्षण को सुबन्धुकृत लक्षण कहा है। धर्मकीर्ति ने इस मत का समर्थन कर अपनी कृति न्यायबिन्दु में उद्योतकर के मत का खण्डन किया है। किन्तु उद्योतकर ने धर्मकीर्ति के किसी ग्रन्थ का उल्लेख नहीं किया है। मूल ग्रन्थ अथवा किसी प्रामाणिक प्राचीन कथन के उपलब्ध नहीं रहने पर इस तरह की बातें ज्ञात नहीं हो सकती। वाचस्पति मिश्र ने उपर्युक्त ग्रन्थ युगल के प्रसंग में किसी प्रकार का परिचय नहीं दिया है। उद्योतकर ने अनेक स्थलों में बौद्ध ग्रन्थों का उल्लेख किया है। यथा तृतीय अध्याय के प्रारंभ में ''सर्वाभिसमय सूत्र'' नामक किसी प्राचीन बौद्ध ग्रन्थ का उल्लेख है। यहाँ भी वाचस्पति मिश्र ने ग्रन्थ का परिचय नहीं दिया है। बहुत स्थलों में किसी-किसी बौद्ध ग्रन्थ का परिचय इन्होंने दिया है। प्रतीत होता है कि धर्मकीर्ति के ग्रन्थ विशेष रूप से इनको अधिगत रहा है। उन ग्रन्थों का परिचय भामती एवं तात्पर्यटीका में मिलता है। दिङ्नाग के समसामयिक वसुबन्धु नामक प्रधान बौद्ध नैयायिक की चर्चा प्राप्त होती है। वाचस्पति मिश्र ने इस वसुबंधु को अपनी व्याख्या में सुबन्धु नाम से उल्लिखित किया है या नहीं – यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। जो भी हो, तात्पर्य यह है कि ख्रीस्तीय सप्तम शताब्दी के उद्योतकर से बहुत पहले ख्रीस्तपूर्ववर्ती भगवान् वात्स्यायन हुए हैं। यही हम लोगों का विश्वास है। यहाँ अपने विश्वास के अनुसार ही मैंने विषयों की कुछ आलोचना की है। प्रसिद्ध ऐतिहासिकों के कथन एवं अनुसन्धान के परिणामस्वरूप यदि और अधिक प्रमाणों का संग्रह कर सका तो उन्हें ग्रन्थ के अन्त में कहने की इच्छा है। अब तक इन विषयों में जिन प्रबन्धों का अध्ययन एवं अनुसंधान आदि किया है इनमें अनेक प्रकारों के मतभेद प्राप्त हुए हैं। निर्विवाद सिद्धान्त उपलब्ध नहीं हो सका है। मतभेद का अवलम्बन करके इस ग्रन्थ की टिप्पणी में मैंने कुछ-कुछ बातें कही हैं।

भाष्यकार वात्स्यायन किस देश में आविर्भूत हुए थे – इस विषय में निर्विवाद मत उपलब्ध नहीं है। वात्स्यायन दाक्षिणात्य थे, इसका समर्थन अनेक विद्वान् करते हैं। बहुत विद्वानों का यह भी कथन है कि भाष्य और वार्त्तिक के प्रणेता वात्स्यायन और उद्योतकर दोनों ही मैथिल थे। भाष्य तथा वार्त्तिक के अध्ययन से इस विषय में कुछ भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। किसी-किसी के कथन से जो कल्पना की जा सकती है तथा किसी-किसी ने जो कल्पना की है, इसका विवरण एवं आलोचन यथा-स्थान दिया गया है। पुनश्च ग्रन्थ के अन्त में इन विषयों की आलोचना की जाएगी।

फणिभूषण तर्कवागीश

◈◈◈

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

न्यायदर्शन के द्वितीय संस्करण की भूमिका

करुणामय भगवान् की अमोघ इच्छा से छपाई की बाधाओं को दूर करके इतने दिनों के बाद भाष्य सहित न्यायदर्शन के प्रथम खण्ड का द्वितीय संस्करण प्रकाशित हो रहा है। इस बार पहले से प्रकाशित ग्रन्थ का केवल यथावत् प्रकाशन नहीं हुआ है। अपितु सर्वत्र भाष्यार्थ की व्याख्या में यथासाध्य विशदता के लिए नया अनुवाद करके अवश्य ज्ञातव्य बहुत से विषयों का समावेश किया गया है। भाष्य के उचित पाठ के ग्रहण हेतु अनुसंधान एवं विचार करके अनेक स्थलों में भाष्य के पाठ में परिवर्तन तथा संशोधन भी हुआ है। किन्तु इन समस्त विषयों में विचार-कुशल विवेकशील पाठक ही प्रमाण हैं। मैं स्वयं कुछ नहीं कह सकता। महाकवि कलिदास ने कहा है –

बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः।

न्यायदर्शन तथा न्यायसूत्रकार का परिचय

यह न्यायदर्शन भारतीय परम्परा के परम गौरवास्पद छह प्रसिद्ध दर्शनों में से एक है। महर्षि अक्षपाद इस दर्शन के वक्ता हैं। इसलिए सर्वदर्शनसंग्रह में माधवाचार्य ने इसे अक्षपाद दर्शन कहा है। किन्तु इनसे बहुत पहले ही महानैयायिक उदयनाचार्य ने अपनी कृति "आत्मतत्त्वविवेक" के अन्त में इसे न्यायदर्शन कहा है। सभी पूर्वाचार्यों का कहना है कि महर्षि अक्षपाद ने इन पञ्चाध्यायी न्यायसूत्रों का प्रणयन किया है। न्यायदर्शन के कुछ अंशों की महर्षि गौतम ने तथा कुछ अंशों की बाद में महर्षि अक्षपाद ने रचना की है – इस प्रकार के अनुमान में सङ्गत हेतु उपलब्ध नहीं है। इसके मानने पर न्यायदर्शन के प्रमाण आदि पदार्थों का उद्देश, लक्षण तथा परीक्षा रूप तीन प्रकार का व्यापार उपपन्न नहीं होगा। पश्चात् इस ग्रन्थ के पाठ से यहाँ यह स्पष्टतः ज्ञान होगा।[१]

---

[१] स्कन्दपुराण में अहल्यापति गौतम मुनि को ही अक्षपाद कहा गया है। यथा – अक्षपादो महायोगी गौतमाख्योऽभवन् मुनिः। गोदावरीसमानेता अहल्यायाः पतिः प्रभुः। (माहेश्वर खण्ड का कुमारिका खण्ड, अध्याय [illegible] श्लोक ५) पुनः महाभारत के शान्तिपर्व (अध्याय →

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

गौतम मुनि का ही दूसरा नाम अक्षपाद तथा मेधातिथि भी है। इसीलिए प्राचीन नाटककार भासकवि ने अपने प्रतिमानाटक के पञ्चम अंक में कहा है – मेधातिथेर्न्यायशास्त्रम्। इससे ज्ञात होता है कि प्राचीन नाटककार भास के बहुत पहले से ही भारत में गौतम का न्यायसूत्र मेधातिथि के न्यायशास्त्र के रूप में प्रसिद्ध था। इस गौतम मुनि के आदि पुरुष गोत्र प्रवर्त्तक गौतम मुनि हैं। इनका उल्लेख ऋग्वेद संहिता के प्रथम मण्डल (अ. १४ सूत्र ८५) में हुआ है तथा इन पर देवताओं के विशेष अनुग्रह का भी वर्णन है। इस न्यायसूत्रकार गौतम तथा इनके आदि पुरुष गौतम का उल्लेख अनेक ग्रन्थों में हुआ है।[२]

प्राचीन काल से ही भारतीय पण्डित समाज में प्रसिद्ध है कि गोतम या गौतम मुनि ने एक समय में मानव शरीर धारण कर महादेव शिव को शास्त्र वचन के द्वारा प्रसन्न कर उनसे वर प्राप्त किया था। उसी वर के अनुरोध से उन्होंने पाँच अध्यायों तथा दश आह्निकों में न्यायसूत्रों का प्रणयन किया। एक हज़ार वर्ष पहले काश्मीरवासी बहुश्रुत महामनीषी जयन्त भट्ट ने अपनी न्यायमञ्जरी के अन्त में कहा है कि अक्षपाद मुनि ने गौरीपति शिव से वर प्राप्त किया था।[३]

→ २६५) में उक्त है – मेधातिथिर्महाप्राज्ञो गौतमस्तपसि स्थितः (श्लोक ४५) इत्यादि पद्य के अनुसार इन्हीं का नाम मेधातिथि भी है।

[२] इस विषय में प्रथम संस्करण की भूमिका में मैंने विस्तृत आलोचना की है जो सर्वानुमत नहीं भी हो सकता। यहाँ यह कहना आवश्यक है कि उक्त अक्षपाद शब्द के अक्ष पद का अर्थ जन्मान्ध एवं पश्चात् उसमें सम्मानार्थक पाद शब्द के योग से अक्षपाद का अर्थ जन्मान्ध पाद होता है। किन्तु किसी पूर्वाचार्य ने इस जन्मान्ध दीर्घतमा गौतम मुनि को न्यायसूत्रकार नहीं माना है। गोतम या गौतम मुनि ही किसी समय में योगबल से अपने चरण में चक्षुरिन्द्रिय की सृष्टि कर ''अक्षयुक्तपादो यस्य'' इस व्युत्पत्ति के अनुसार अक्षपाद कहे जाते रहे हैं। इस चिर-प्रसिद्धि के अनुसार पूर्वाचार्यगण इस नाम का उक्त अर्थ ग्रहण करके इनको अक्ष चरण भी कहा है। यथा संक्षेपशंकरजय ग्रन्थ (अध्याय १६) में माधवाचार्य ने एक श्लोक कहा है – ''कणादपक्षाच्चरणाक्षपक्षे'' आदि (श्लोक ६७) तथा वेदान्तकल्पतरुपरिमल के प्रथम अध्याय, प्रथम पाद के अन्त में अप्पय दीक्षित का उक्त ''कणभक्षपदाक्षक'' आदि श्लोक द्रष्टव्य हैं। मानमेयोदेय में नारायण भट्ट ने कहा है – ''अक्षपात् पक्षिलादयः''। यहाँ यह समझना आवश्यक है कि इन लोगों ने अक्षपाद पद गत पादशब्द को सम्मानार्थक मानकर चरणाक्ष, पदाक्षक तथा अक्षपाद पद का प्रयोग नहीं किया है किन्तु पैर में आँख की सृष्टि करने के कारण उक्त प्रयोग किया है। इस प्रसङ्ग में मेरे न्यायपरिचय की भूमिका का पृ. ४१-४२ द्रष्टव्य है।

[३] न्यायोद्गारगभीरनिर्मलगिरा गौरीपतिस्तोषितो
वादे येन किरीटिनेव समरे देवः किराताकृतिः।

→

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

प्राचीन वैशेषिक आचार्य प्रशस्तपाद ने भी अपने ग्रन्थ के अंत में कणाद मुनि को प्रणाम करते हुए कहा है –

योगाचारविभूत्या यस्तोषयित्वा महेश्वरम् ।
चक्रे वैशेषिकं शास्त्रं तस्मै कणभुजे नमः ॥

पुराणों में प्रसिद्ध है कि अक्षपाद और कणाद मुनि ने शिव की साधना से सिद्धि पाई थी। स्कन्द पुराण के काशी खण्ड (अ. ९७ श्लोक ६१) में उक्त है –

तत्र पाशुपतः सिद्धस्त्वक्षपादो महामुने ।
अनेनैव शरीरेण शाश्वतीं सिद्धिमागतः ॥

काशीधाम में अक्षपादेश तथा कणादेश नामक शिवलिङ्ग प्रतिष्ठित हैं। आगे काशी खण्ड (अ. ९७ श्लोक १७४-७५) में वर्णित है –

तद्दक्षिणेऽक्षपादेशो महाज्ञानप्रवर्तकः ।
तदग्रे च कणादेशस्तत्र पुण्योदकः प्रहिः ॥
स्नात्वा कणादकूपे च कणादेशं समर्चयेत् ।

प्राचीन काल में भारत के नैयायिक आचार्यगण तथा अध्यापकवृन्द काशी में परम भक्ति से अक्षपादेश शिवलिङ्ग की आराधना करते रहे हैं। यही कारण है कि नैयायिक अध्यापक एवं छात्रगण न्याय के अधिष्ठातृ देव शिव की आराधना करते हैं। षड्-दर्शनसमुच्चय की टीका में बहुश्रुत विद्वान् जैन गुणरत्न सूरि ने लिखा है –

'परं' शास्त्रेषु नैयायिकाः सदा शिवभक्तत्वात् शैवा इत्युच्यन्ते। वैशेषिकास्तु पाशुपता इति । तेन नैयायिकशासनं शैवमाख्यायते वैशेषिकदर्शनञ्च पाशुपतमिति ।[४]

→ प्रासोदारवरस्ततः स जयति ज्ञानामृतप्रार्थना
नाम्नानेकमहर्षिमस्तकबलत्पादोऽक्षपादो मुनिः ॥

[४] यहाँ यह समझना आवश्यक है कि नैयायिक तथा वैशेषिक सम्प्रदाय को माहेश्वर सम्प्रदाय के अन्तर्गत शैव एवं पाशुपत कहा गया है। क्योंकि इनका मत दूसरे प्रकार का है। शारीरकभाष्य (२.२.२६१) का "माहेश्वरास्तु मन्यन्ते" इत्यादि सन्दर्भ द्रष्टव्य है। गुणरत्न सूरि ने पहले नैयायिक सम्प्रदाय का दूसरा नाम योग कहा है। इन योगों के वेष वर्णन में कहा है – "ते च दण्डधराः प्रौढकौपीनपरिधानाः कम्बलिकाः प्रावृता जटाधारिणो भस्मोद्धूलनपरा यज्ञोपवीतिनो जलाधारपात्रकरा इत्यादि"। इन्होंने नैयायिक एवं वैशेषिक को तपस्वी योगी कहा है। इनके →

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

शिव का ही दूसरा नाम पशुपति है। इस मत में वैशेषिक सम्प्रदाय के उपास्य देवता शिव ही हैं। षड्दर्शनसमुच्चयकार हरिभद्र सूरि ने वैशेषिक मत की व्याख्या के आरम्भ में कहा है –

'देवताविषये भेदो नास्ति नैयायिकैः सह'।

न्यायशास्त्र की प्राचीनता एवं प्रशंसा

न्यायभाष्य के अन्त में भाष्यकार वात्स्यायन ने कहा है –

योऽक्षपादमृषिं न्यायः प्रत्यभाद् वदतो वरम्।
तस्य वात्स्यायन इदं भाष्यजातमवर्तयत्॥

जो न्यायशास्त्र श्रेष्ठ वक्ता अक्षपाद ऋषि को प्रतिभात हुआ था, उस न्यायशास्त्र के भाष्य की रचना मैं कर रहा हूँ। इससे ज्ञात होता है कि वात्स्यायन के मत में अक्षपाद ऋषि की रचना न्यायशास्त्र नहीं है। किन्तु ऋषि ने पहले से विद्यमान न्यायशास्त्र को प्राप्त कर सुसंबद्ध सूत्र-समूह की रचना की तथा विस्तृत रूप से उसको प्रकाशित किया। इसी दृष्टि से ऋषि अक्षपाद को न्यायशास्त्रकार कहा गया है। जयन्त भट्ट ने अपनी न्यायमञ्जरी में इसका समाधान करते हुए कहा है कि ऋषि अक्षपाद के पहले भी संक्षिप्त रूप में न्यायशास्त्र विद्यमान था। इन्होंने इस समस्त न्यायशास्त्र का विस्तार किया है। इसी दृष्टि से इनको न्यायशास्त्र का कर्ता कहा जाता रहा है –

आदि सर्गात् प्रभृति वेदवादिमाः विद्याः प्रवृत्ताः। संक्षेपविस्तरविवक्षया तु तांस्तान् तत्र तत्र कर्तॄन् आचक्षते।

वस्तुतः इस विषय में कोई सन्देह नहीं है कि अतिप्राचीन काल में भी न्यायशास्त्र की सहायता के बिना श्रुति-सिद्ध आत्मा का मनन एवं अन्य विषयक विचार संभव नहीं था। तैत्तिरीय आरण्यक के प्रथम प्रपाठक तृतीय अनुवाक के श्रुति वाक्य – ''स्मृतिः प्रत्यक्षमैतिह्यमनुमानं चतुष्टयम्'' में अनुमान का उल्लेख हुआ है। अतएव किसी भी विषय के विचार के समय अनुमान प्रमाण का आश्रय करना ही होगा। सभी प्रकार के तत्त्वज्ञान के लिए न्यायशास्त्र ही परम सहायक होता है। छान्दोग्य उपनिषद् के सप्तम अध्याय के प्रथम खण्ड में नारद–सनत्कुमार संवाद वार्णित है। यहाँ नारद के अधीत

→ चार प्रभेद – शैव, पाशुपत, महाव्रतधर तथा कालमुख कहे गए हैं। इन सबके भी बहुत प्रकार के पारस्परिक भेद वर्णित हुए हैं। यद्यपि न्याय-वैशेषिक के किसी ग्रन्थ में इस प्रकार की बात नहीं कही गई है तथापि जैन पण्डित गुणरत्न सूरि का कथन निर्मूल नहीं हो सकता। इनके द्वारा की गई नैयायिक मत की व्याख्या का अन्तिम भाग भी द्रष्टव्य है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

विद्या समूह में वाकोवाक्य का उल्लेख हुआ है। शंकराचार्य ने इसकी व्याख्या में कहा है – "वाकोवाक्यं तर्कशास्त्रम्"। इस मत में वेद का अनुगत तर्कशास्त्र ही वाकोवाक्य है, जो वस्तुतः न्यायशास्त्र का पर्याय है। सुबालोपनिषद् के द्वितीय खण्ड में वेद आदि अनेक विद्याओं के वर्णन में "न्यायो मीमांसा धर्मशास्त्राणि" उक्त है। महाभारत के सभापर्व के पंचम अध्याय में बहुश्रुत नारद की अनेक विद्याओं के उल्लेख के साथ उनको पंचावयव वाक्य के गुण एवं दोषों का ज्ञाता कहा गया है –

पंचावयवयुक्तस्य वाक्यस्य गुणदोषवित्।

पंचावयव वाक्य रूप न्यायविद्या या न्यायशास्त्र गौतम द्वारा प्रकाशित न्यायविद्या ही है। महाभारत के उपर्युक्त वर्णन से हम समझते हैं कि छान्दोग्य उपनिषद् में उल्लेखित और नारद द्वारा अधीत वाकोवाक्य पंचावयव रूप न्यायविद्या ही है। यद्यपि वाकोवाक्य शब्द की अन्य प्रकार की व्याख्या भी अन्यत्र उपलब्ध है तथापि शङ्कराचार्यकृत इस पद की व्याख्या को निर्मूल और कल्पना-प्रसूत नहीं माना जा सकता।

भाष्यकार वात्स्यायन आदि नैयायिक सम्प्रदाय की दृष्टि में महर्षि गौतम का पञ्चावयव वाक्यात्मक न्यायशास्त्र ही प्राचीन आन्वीक्षिकी विद्या है।

न्यायमत के निराकरण में तत्पर अद्वैतवादी श्रीहर्ष ने नैषधीय चरित (सर्ग १०२ श्लोक ८) में महर्षि गौतम द्वारा प्रातिपादित प्रमाण आदि सोलह पदार्थों के प्रतिपादक न्यायशास्त्र को मुमुक्षु के अनुकूल आन्वीक्षिकी विद्या कहकर प्रशंसा की है।

महाभारत के शान्ति पर्व (अ. १३८) में जनक–याज्ञवल्क्य संवाद के पढ़ने से आन्वीक्षिकी विद्या की प्रचुर प्रशंसा ज्ञात होती है। याज्ञवल्क्य ने कहा है कि मैं आन्वीक्षिकी विद्या की सहायता से उपनिषदों का मंथन करता हूँ। यह चौथी विद्या आन्वीक्षिकी मोक्ष की परम हितसाधिका है। मनुस्मृति (अ. १४३) में इस आन्वीक्षिकी विद्या का उल्लेख हुआ है। याज्ञवल्क्य स्मृति के आरम्भ में "पुराणन्यायमीमांसा" आदि पद्य में चौदह विद्याओं की गणना के समय न्याय शब्द से इस आन्वीक्षिकी विद्या का ही उल्लेख हुआ है।

प्रत्यक्ष तथा शास्त्र का अविरोधी अनुमान ही अन्वीक्षा पदार्थ है। इस विद्या में निपुणता के लिए इस विद्या का प्रकाशन आन्वीक्षिकी नाम से हुआ है। इस विद्या की सहायता से जो व्यक्ति यथार्थ अनुमान के सङ्गत हेतु का तत्त्ववेत्ता होता है उसी को न्याय प्रयोग में कुशलता प्राप्त होती है। इसी प्रकार के नैयायिकों को हैतुक भी कहा गया है।[५] अतएव मनु ने धर्म

[५] जो व्यक्ति वेद आदि शास्त्र को न मानकर प्रत्येक विषय में हेतु को पूछता है तथा नास्तिक मत के समर्थन में शास्त्र के विरुद्ध अनेक हेतुओं को कहता है यद्यपि वह भी हैतुक कहलाता है। मनु →

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

परिषद् के वर्णन में त्रिवेदज्ञ पण्डितों के साथ हैतुक पण्डितों को लिया है। मनुस्मृति के उपदेशों का तात्पर्य है कि शास्त्रगम्य धर्म तत्त्व के निर्णय में शास्त्र प्रमाण द्वारा शास्त्र तात्पर्य का ज्ञापक अनुमानकर्ता कुशल नैयायिक पण्डित आवश्यक है। अतएव दशावरा (दश से कम सदस्य वाली) परिषद् में नैयायिक का दूसरा स्थान कहा गया है।

इससे ज्ञात होता है कि अति प्राचीन काल में भी भारत में ऐसे नैयायिक रहे हैं। रामचन्द्र की राज्य-सभा में अनुमान में कुशल बहुश्रुत नैयायिक का आदर और सम्मान होता था। इसका साक्ष्य वाल्मीकि रामायण के उत्तर काण्ड के पद्य में उपलब्ध है – ''हेतूपचारकुशलान् हैतुकांश्च बहुश्रुतान्''(उ.का.१०६.८)। मनु ने (६.४३) में कहा है कि राज्य की रक्षा हेतु राजा के लिए भी आन्वीक्षिकी विद्या का ज्ञान अपेक्षित है। यह केवल अध्यात्म विद्या नहीं है। अमर सिंह ने आन्वीक्षिकी शब्द का अर्थ तर्कविद्या कहा है। अनुमान प्रमाण तथा उसका सहकारी उचित तर्क से बहुत सारे अप्रत्यक्ष विषयों के निर्णय हेतु राज्यपालक राजा के लिए आन्वीक्षिकी विद्या का ज्ञान आवश्यक है। महर्षि गौतम ने न्यायसूत्रों के द्वारा इसी प्राचीन आन्वीक्षिकी विद्या का प्रकाशन किया है।

न्यायदर्शन के अध्यात्म अंश में जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन तथा विचारपूर्वक समर्थन हुआ है उनमें से बहुत सिद्धान्त सर्वसम्मत नहीं हैं। प्राचीन काल से ही भारत में विभिन्न दर्शन, विविध मत-विशेष तथा उनका सम्प्रदाय भेद प्रतिष्ठित रहा है। सम्प्रदाय भेद में भी विभिन्न विरुद्ध मतों का खण्डन-मण्डन हुआ है। भगवान् की इच्छा से जो अवश्यंभावी है उसका निराकरण केवल विचार या तर्क से संभव नहीं है। न्यायदर्शन की विशेषता यह है कि यह केवल अध्यात्मविद्या नहीं है किन्तु अध्यात्मविद्या होने पर भी सभी शास्त्रों का प्रदीप, सभी कर्मों का उपाय तथा सभी धर्मों का आश्रय है। अतएव इसका नाम आन्वीक्षिकी है। अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने इसकी प्रशंसा में कहा है –

प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता'॥

अतएव न्यायदर्शन में जो तर्कविद्या का प्रकाशन हुआ है वह किसी के लिए परिहार्य नहीं है। राजधर्माधिकरण में विवाद उपस्थित होने पर वादी तथा प्रतिवादी के पक्षों के समर्थन

→ (मनुस्मृति ४.३) ने ऐसे हैतुक के सन्दर्भ में पहले ही कहा है – हैतुकान् बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्। महाभारत में भी इस प्रकार के नास्तिक तार्किकों की निन्दा की गई है। किन्तु वेदानुगत आन्वीक्षिकी विद्या की बहुत स्थानों में प्रशंसा भी की गई है। इस विषय में मैंने प्रथम संस्करण की भूमिका में सप्रमाण विस्तृत आलोचना की है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

एवं विचार के द्वारा सत्य के निर्धारण के लिए तर्कविद्या ही अपरिहार्य आश्रय है। स्मार्त रघुनंदन के ''व्यवहारतत्त्व'' के अध्ययन से यह तथ्य अच्छी तरह ज्ञात होता है। अतः सर्वत्र सम्यक् अनुशीलन के द्वारा इस तर्कविद्या की रक्षा करना हम लोगों का दायित्व है।

विद्यारक्षण के उपाय तथा इसमें आधुनिक बाधाएँ

यहाँ इस महासत्य का उद्घाटन आवश्यक है कि न्यायदर्शन का अधिकारी छात्र गुरुकुल में दीर्घकाल तक रहकर विधानपूर्वक शास्त्र का अध्ययन करके गुरु से प्राप्त अवश्य ज्ञातव्य विषयों को गुरुमुख से सुनकर अति दुरूह दर्शन आदि शास्त्र में अच्छी व्युत्पत्ति लाभ कर सकता है। अन्यथा यह संभव नहीं है। भारत में प्राचीन काल से ही अधिकारी विद्यार्थी अनेक प्रकार का कष्ट सहकर दूर देश जाकर गुरु के समीप रहता हुआ विद्या प्राप्त करता रहा है। इसका फल यह हुआ कि प्राचीन काल से ही भारतवर्ष में अनेक विद्याओं की परम्परा की रक्षा होती रही है। आज हम लोगों के वे दिन चले गए – ''ते हि नो दिवसाः गताः'' । आजकल बंगाल में भी जिज्ञासु छात्र अनेक कारणों से अत्यन्त दुर्लभ हैं। शास्त्र-चिन्तन की वह पुरानी परिपाटी लुप्त हो रही है। ऐसी स्थिति में किस प्रकार शास्त्र की रक्षा संभव है। श्रुति कहती है – ''विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम''।[६] विद्या देवी किसी अध्यापक ब्राह्मण के पास आकर कहती हैं – हे ब्राह्मण ! मैं आपके लिए रत्न हूँ। आप मेरी रक्षा करो। किन्तु आजकल पूरे भारत में ही अनेक कारणों से प्रायः सर्वत्र ही न्याय आदि विद्या के रक्षक ब्राह्मणों के वंशधर भी शास्त्र पढ़ने-पढ़ाने से विमुख हो रहे हैं। ब्राह्मण तथा विद्या के रक्षकगण भी केवल अपने शरीर की रक्षा में संलग्न हैं। ऐसी परिस्थिति में कैसे हम लोगों का सर्वोच्च गौरव स्थानीय न्यायशास्त्र आदि रत्न-समूह की रक्षा होगी ? पुस्तकालयों में केवल पुस्तकों को सजाकर रखने से शास्त्र की रक्षा नहीं हो सकती।

इधर कुछ दिनों से भारत में विश्वविद्यालयों से उच्च उपाधि प्राप्त कर बहुत उच्च

---

[६] विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम। गोपाय मा शेवधिस्तेऽहमस्मि। असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम् (निरुक्त के द्वितीय अध्याय में उद्धृत श्रुति)। सामवेद का संहितोपनिषद् (छान्दोग्य ब्राह्मण) द्रष्टव्य (एच.पी. बर्नल, मैंगलोर १८७७)। इस उपर्युक्त श्रुति के अनुसार मनु ने कहा है –

विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिस्तेऽस्मि रक्ष माम्।
असूयकाय मां मादास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा॥ २.११४

उत्तर बंगाल के टीकाकार कुल्लूक भट्ट ने इस मनुवचन की मूल श्रुति का उल्लेख करते हुए कहा है – ''विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम तवाहमस्मि त्वं मां पालय, अनर्हते मानिने नैव मा दाः गोपाय मां श्रेयसी तवाहमस्मि''।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

शिक्षित व्यक्ति अनुरागवश भारतीय दर्शनशास्त्रों की आलोचना में संलग्न हो रहे हैं। पण्डितवृन्द न्याय आदि दर्शन के रुचिपूर्वक संस्कृत ग्रन्थों का अध्ययन कर रहे हैं। फिर भी अनेक कारणों से इच्छुक छात्रों को अच्छे अध्यापकों से शास्त्रों का अध्ययन नहीं हो रहा है। अतएव उन लोगों को न्याय आदि शास्त्रों के यथार्थ सिद्धान्तों का परिज्ञान तथा ग्रन्थों का सूक्ष्म अनुशीलन कैसे हो सकता है। इन बातों के बारे में भी हम लोगों को मिलकर विचार करना चाहिए। अध्यापक (गुरु) का लक्षण क्या है ? वे किस प्रकार से शिष्यों को दुरूह शास्त्रार्थों का परिज्ञान करा सकते हैं ? इन सब बातों का परिज्ञान भी आवश्यक है।

अध्यापक (गुरु) का लक्षण एवं क्षेत्रीय भाषा में अध्यापन का प्रमाण

प्रायः चार सौ वर्ष पहले बंगाल के नवद्वीप प्रान्त में स्थापित नवीन विद्यापीठ में अट्ठाइस स्मृतितत्त्व के प्रणेता वन्द्योपाध्याय स्मृति शिरोमणि रघुनंदन भट्टाचार्य ने अपनी कृति ''व्यवहारतत्त्व'' में भाषापाद की व्याख्या करते हुए राजधर्माधिकरण के विवाद-विषय के प्रसंग में कैसे बोलना चाहिए – इसको इस प्रकार व्यक्त किया है।

> एतच्च संस्कृतदेशभाषान्तरेण यथाबोधं वक्तव्यम् लेख्यं वा। मूर्खाणामपि वादि प्रतिवादितादर्शनात्। अतएवाध्यापनेऽपि तथोक्तं विष्णुधर्मोत्तरे –
>
> संस्कृतैः प्राकृतैर्वाक्यैर्यः शिष्यमनुरूपतः।
> देशभाषाद्युपायैश्च बोधयेत् स गुरुः स्मृतः ॥[७]

यहाँ जिसकी जो मातृभाषा है वही देशभाषा पद से उक्त हुआ है।[८] बाल्यकाल से ही छात्रों की अधिगत भाषा स्वदेश भाषा या मातृभाषा ही देशभाषा है। गुरु इस देशभाषा में ही छात्रों

---

७ स्मार्त रघुनन्दन ने ज्योतिस्तत्त्व के विद्यारम्भ प्रकरण में इस वचन को उद्धृत कर व्याख्या की है– आदिर्ग्रन्थकरणादिः। इस वचन में देशभाषा शब्द के पश्चात् प्रयुक्त आदि शब्द के द्वारा ग्रन्थ की रचना आदि ज्ञात होता है। बाद में रघुनन्दन ने इसके समर्थन में कहा है – ''अधीतस्यार्थिभ्यो दानमावश्यकम्''। तथा च श्रुतिः – योऽधीत्यार्थिभ्यो विद्यां न प्रयच्छेत् स कार्यहा स्यात्। श्रेयसो द्वारमपावृणुयात्। तद्दानं चाध्यापनेन व्याख्या विलिख्यार्पणेन च सम्भवतीत्यतो धीमद्भिर्निबन्धः क्रियते।

८ अनेक शास्त्र-वचनों में देशभाषा पद का प्रयोग हुआ है। विभिन्न प्रान्तीय भाषा ही देशभाषा का अर्थ होता है। बंगाल की देशभाषा बङ्ला है। बंगाल के कवि इसको स्वदेशी भाषा कहते हैं। सोलहवीं शताब्दी में छूटिखाँ की महाभारत रचना करते हुए श्रीकरनन्दी ने लिखा है– ''देशी भाषाय एहिकथा रचिलपयार'' अर्थात् देशीभाषा में यह कथा लिखी गई है। अट्ठारहवीं शताब्दी के अन्त में बंगाल के त्रिवेणी गाँव के निधू बाबू ने अपने प्रसिद्ध संगीत में कहा है – अनेक →

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

को समझाते हैं। यही उक्त पुराण वचन में उपदिष्ट है। पश्चात् रघुनंदन ने कहा है – "अत एवाध्यापनेऽपि"। अपनी देशभाषा या मातृभाषा में अध्यापन के समय शास्त्र का अभिप्राय समझाना चाहिए। रघुनंदन के कथन से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्राचीन काल से ही ब   गाल में ब्राह्मण विद्वान् बङ्ला में अध्यापन करते रहे हैं। वस्तुतः बहुत से ऐसे विषय हैं जिनका विद्यार्थियों के लिए संस्कृत में अध्ययन-अध्यापन सफल नहीं होता रहा है। अज्ञात अन्य प्रान्तीय भाषा का प्रयोग भी सफल नहीं हो सकता है। हज़ार वर्ष पहले मिथिला के महानैयायिक उदयनाचार्य ने न्यायपरिशिष्ट (पृ.५१) में कहा है –

> दाक्षिणात्यस्य स्वदेशभाषया प्रत्यवतिष्ठमानस्य किंवक्तव्यम्।
> पाश्चात्त्यैरित्यज्ञानमेवोत्तरवादिनः सर्वत्रेति।

इससे सिद्ध होता है कि प्राचीन काल में प्रत्येक प्रान्त में अध्यापकवृन्द मातृभाषा में ही छात्रों को शिक्षित करते रहे हैं।

देशभाषा अर्थात् मातृभाषा में पुराणव्याख्या का प्रमाण

प्राचीन काल में प्रत्येक प्रान्त में पुराण के व्याख्याता ब्राह्मणवृन्द "श्रावयेच्चतुरो वर्णान्" इस शास्त्रविधि के अनुसार चारो वर्णों के निकट अपनी देशभाषा अर्थात् मातृभाषा के द्वारा इतिहास और पुराण की व्याख्या करते थे, शारीरक भाष्य (१.३.३८) में भगवान् शंकराचार्य ने कहा है –

> "श्रावयेच्चतुरो वर्णान्" इति चेतिहासपुराणाधिगमे चातुर्वर्ण्यस्याधिकार-स्मरणात्'।

यह भिन्न बात है कि शास्त्रोक्त पुराणश्रवण की फल-कामना से पुराणश्रवण का संकल्प लेकर जो पुराण सुनेंगे उनको पुराण का मूल पाठ (संस्कृत पाठ) ही सुनना होगा। अन्यथा पुराणश्रवण का फल नहीं मिलेगा। इसी तात्पर्य से पद्मपुराण के पातालखण्ड में उक्त है – "न देशभाषारचितं ग्रन्थं श्रुत्वा फलं लभेत्"। पुराणवाचक यदि चातुर्वर्ण्य के लिए पुराण की व्याख्या करेंगे तो वे अपनी मातृभाषा में कर सकते हैं। अन्यथा विभिन्न प्रान्तों के लोग एक प्रान्त की भाषा में पुराण-कथा कहने पर कैसे समझ पाएंगे। इसकी पुष्टि में उक्त पद्मपुराण के परार्ध में उक्त है – "व्याख्या या कापि काकुत्स्थ

→ प्रान्तों में अनेक भाषाएँ हैं। किन्तु अपनी देशीभाषा के बिना क्या आशा पूरी होती है। प्राचीन काल में देशीभाषा के स्थान पर केवल भाषा पद का ही व्यवहार होता था। विद्वत् समाज देशीभाषा में रचित ग्रन्थ को केवल भाषा ग्रन्थ कहते थे। वेदान्त के सिद्धान्तलेश ग्रन्थ में अप्पय दीक्षित ने भी उसको भाषा प्रबन्ध कहा है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

पुराणस्य हिता हि सा '' । इस वचन के अव्यवहित पहले स्पष्टतः कहा गया है कि –

पुराणस्थं पठेद् ग्रन्थं व्याख्यायाञ्चं विचारयन् ।
यया कयापि वा राम ! भाषया देशभेदतः ॥

शिव–राघव संवाद में शिव ने राम से कहा है कि पौराणिक प्रान्त भेद से जिस किसी भाषा में विचार करके पठित पुराण की व्याख्या कर सकते हैं। प्राचीन काल में बंगाली ब्राह्मण बङ्ला में रामायण तथा पुराण सुनते थे । यह कभी सत्य[९] नहीं हो सकता कि बङ्ला में रामायण तथा पुराण के श्रवण से रौरव नामक नरक में व्यक्ति गिरता है।

देशभाषा (मातृभाषा) में ग्रन्थ की रचना अकर्त्तव्य नहीं है

यहाँ स्मरणीय है कि ''देशभाषाद्युपायैश्च बोधयेत् स गुरुः स्मृतः'' इस पुराण-वचन में देशभाषा के बाद आदिशब्द से स्मार्त रघुनन्दन ने ग्रन्थ-रचना की बात कही है। इन्होंने मातृभाषा (देशभाषा) में ग्रन्थ-रचना को अकर्त्तव्य नहीं माना है। वस्तुतः इन्होंने जिस उद्देश्य से देशभाषा में अध्यापन का समर्थन किया है उस उद्देश्य की पूर्ति हेतु देशभाषा में ग्रन्थ-रचना का अकर्त्तव्य प्रतिपादन नहीं हो सकता। इस विषय में निषेधवचन भी कहीं उपलब्ध नहीं है । उक्त पुराण-वचन में देशभाषा पद के बाद आदि शब्द के प्रयोग से ग्रन्थ-रचना का स्वारस्य प्रतीत होता है। अतः स्मार्त रघुनन्दन के मत में प्रयोजन रहने पर देशभाषा में ग्रन्थ-रचना की जा सकती है।[१०]

---

[९] ब्राह्मणों का अपमान करने के लिए अनेक आधुनिक साहित्यिकजन इसके समर्थन में एक निर्मूल वचन उद्धृत करते रहे हैं –

अष्टादशपुराणानि रामस्य चरितानि च।
भाषायां मानवः श्रुत्वा रौरवं नरकं व्रजेत् ॥

मेरी समझ में यह कोई आर्ष वचन नहीं है। पद्मपुराण में इस प्रकार की व्याख्या उपलब्ध नहीं है । इस पुराण में तो देशभाषा में ही पुराणों की व्याख्या का विधान वर्णित है। इसी के अनुसार प्राचीन शास्त्रों की व्यवस्था एवं व्यवहार समझना चाहिए। (पद्मपुराण, पातालखण्ड, अध्याय ६०, बंगवासी संस्करण पृ. ६७९)

[१०] प्राचीन समय में बंगाली विद्वान् बङ्ला में ग्रन्थ-रचना को दुष्कार्य समझकर बङ्ला साहित्य को उन्नति का बाधक महान् शत्रु समझते रहे हैं। किन्तु इसमें कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। स्मार्त रघुनन्दन से पहले ही फुलिया के राढ़ीय महाकुलीन ब्राह्मण कृत्तिवास पण्डित ने बङ्ला में विलक्षण रामायण की रचना करके बंगाली समाज में लोकोत्तर प्रतिष्ठा प्राप्त की थी। ब्राह्मण पण्डितवृन्द (सभी कवियों के असाधारण गुणग्राही तथा निश्छलता से सर्वत्र यशोगायक होकर भी) कृत्तिवास और काशीदास को शाप दिया था, ऐसी बातें सत्य नहीं हो सकती। किसी →

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

बङ्ला में ब्राह्मण पण्डितों के द्वारा अनेक ग्रन्थों की रचना तथा उसका कारण

अभिप्राय यह है कि प्राचीन काल में इस देश में बङ्ला में न्याय आदि शास्त्रों के अनुवाद या व्याख्या पुस्तक का कोई प्रयोजन नहीं था। उस समय में इस प्रकार की ग्रन्थ-रचना का कोई प्रवर्त्तक भी नहीं था। उस समय में गद्य की जो भाषा थी उसमें दुरूह शास्त्रार्थ व्यक्त नहीं हो सकता था। दुर्बोध भाषा में ग्रन्थों का प्रचार भी संभव नहीं था। पश्चात् छापा यन्त्र (प्रेस) की व्यवस्था होने पर अनेक प्राचीन ब्राह्मण पण्डितों ने बहुत सी भाषाओं में बहुत से ग्रन्थों की रचना की। बङ्गीय साहित्य परिषद् से प्रकाशित साहित्य विभाग में ''समाचार पत्र में उस समय की बात'' पुस्तक देखने पर एतद्विषयक बहुत सूचनाएं मिलती हैं।

यहाँ यह भी जानना आवश्यक है कि कलकत्ता में पहले-पहल फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना होने पर १८०१ ई. में पादरी विलियम केरी साहब उस कॉलेज में बङ्ला विभाग के अध्यक्ष हुए। इन्होंने अनेक शास्त्रों के अध्यापक मृत्युञ्जय विद्यालंकार को प्रधान पण्डित के पद पर नियुक्त किया तथा अन्य विद्वानों को सहायक रूप में नियुक्त किया। बंगाल में बङ्ला साहित्य के नवीन रूप से अभ्युदय हेतु ये अग्रणी हुए। मृत्युञ्जय विद्यालंकार ही बंगाल में बङ्ला गद्य के प्रथम स्रष्टा माने जा सकते हैं। मेदिनीपुर उनका जन्म-स्थान रहा है। कलकत्ता में उनका संस्कृत विद्यालय था। इन्होंने १८०२ ई. में बङ्ला गद्य में ''सिंहासन बत्तीसी'' तथा १८०८ ई. में ''हितोपदेश'' तथा ''राजाबलि'' नामक पुस्तकों का प्रकाशन किया। १८१७ई. में इनकी कृति ''वेदान्तचन्द्रिका'' प्रकाशित हुई। पश्चात् कलकत्ता में रंजन पब्लिशिंग हाउस से मृत्युञ्जय ग्रन्थावली सम्मान के साथ प्रकाशित हुई। इसके अध्ययन से मृत्युञ्जय का अमरत्व तथा उनके जीवन के बहुत विषय ज्ञात होते हैं।

इनकी वेदान्तचन्द्रिका के पढ़ने से ज्ञात होगा कि उस समय में ब्राह्मण विद्वानों का शास्त्रीय विषय में किस प्रकार का बङ्ला गद्य होता था। इस वेदान्तचन्द्रिका में अद्वैत वेदान्त में उक्त लेखक के गंभीर ज्ञान का परिचय मिलता है। एक सौ से भी अधिक वर्ष पहले नव्यन्याय के ग्रन्थों की बङ्ला में व्याख्या हुई है। काशीनाथ तर्क पञ्चानन महाशय ने नवीन नैयायिक विश्वनाथकृत भाषापरिच्छेद (कारिकावली) का बङ्ला गद्य में विशद व्याख्या की जो १८२१ ई. में प्रकाशित हुई थी।[११]

→ अप्रामाणिक प्रवाद तथा व्यक्ति विशेष का केवल वचन मानकर आग्रहपूर्वक निन्दा का प्रचार करना ऐतिहासिक सत्य के निर्धारण का कार्य नहीं हो सकता।

११ मैं कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करता हूँ कि काशीनाथ तर्क पञ्चानन की बङ्ला में लिखित अन्यान्य ग्रन्थों के प्रसङ्ग में भी सूचना तथा आलेख्य [illegible] की प्रतिलिपि [illegible] बहुदर्शी गवेषक श्रीयुत

CC-0. Nepal Sanskrit Academy - Kathmandu Collection

इन्होंने इस पुस्तक की छपाई में सहायता के लिए फोर्ट विलियम कॉलेज के अधिकारी के समक्ष प्रार्थना-पत्र दिया था। उस पत्र से इस ग्रन्थ का परिचय एवं रचना का कारण भी ज्ञात होता है। आवश्यक ज्ञान हेतु उस प्रार्थना-पत्र को मैं यहाँ अविकल रूप से उद्धृत[१२] कर रहा हूँ। किन्तु काशीनाथ तर्क पञ्चानन से बहुत पहले किसी अज्ञातनाम विद्वान् ने बङ्ला में भाषा परिच्छेद कारिकावली की व्याख्या की थी। इस अमुद्रित पाण्डुलिपि का लिपिकाल ११८१ बंगाब्द है। इस पुस्तक में लिखा हुआ है – गौतम मुनि के शिष्यों ने जिज्ञासा की कि हम लोगों को कृपाकर के समझाइए। गौतम ने यहाँ उत्तर में कहा सभी पदार्थों के ज्ञान से मुक्ति होती है। अब शिष्यों ने जिज्ञासा की कि पदार्थ कितने हैं। गौतम ने कहा पदार्थ के सात प्रकार होते हैं – द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय तथा अभाव। इनमें द्रव्य नौ प्रकार के होते हैं – इत्यादि।

→ व्रजेन्द्रनाथ महाशय के आलेख में पाई है। (साहित्य परिषद् पत्रिका १३४५ साल, चौथी संख्या)। राजेन्द्र बाबू के लेख से ज्ञात होता है कि १८०१ ई. में केरी साहब की सहायता से काशीनाथ ने नियुक्ति पाई थी। ये भाषापरिच्छेद के व्याख्याकार नहीं हैं। भाषापरिच्छेद (कारिकावली) का व्याख्याकार अड़ियादह निवासी अन्य काशीनाथ तर्क पञ्चानन है – यह बात भी उसी परिचय-पत्र में लिखी हुई है। ग्रन्थ का नाम ''पदार्थकौमुदी'' लिखित रहने पर भी उस ग्रन्थ में न्यायदर्शन भी लिखा हुआ था। इसी नाम से (न्यायदर्शन नाम से) यह ग्रन्थ उक्त एवं विज्ञापित हुआ था। ''समाचार पत्र में उस समय की बात'' पुस्तक के द्वितीय खण्ड में (पृ. ४६१-६२) इस पुस्तक का विज्ञापन द्रष्टव्य है। किन्तु इस पुस्तक के आरम्भ में न्यायदर्शन के प्रथम सूत्र तथा उसका पद्यानुवाद मुद्रित होने पर भी मूल ग्रन्थ यह न्यायदर्शन नहीं है। बङ्गीय साहित्य परिषद् के पुस्तकालय में यह पुस्तक द्रष्टव्य है।

[१२] महामहिम श्रीयुत कॉलेज कौन्सलरं साहेबान वरावरेषु। कॉलेज के पण्डित काशीनाथ तर्कपञ्चानन का निवेदन है कि मैंने न्यायदर्शन के भाषा परिच्छेद (कारिकावली) का (गौड़देशीय साधुभाषा में) अच्छी बङ्ला में न्यायसिद्धान्तमुक्तावली की व्याख्या के अनुसार स्पष्ट रूप से अर्थ का प्रकाशन (व्याख्या) किया है। इस शास्त्र के अति दुरूह होने के कारण आज तक किसी विद्वान् ने इसकी व्याख्या नहीं की है। मास्टर प्रियर साहब की छापाखाना में इस पुस्तक के मूल सहित की छपाई में पाँच सौ रुपये व्यय होंगे। पुस्तक के महत्त्व के विषय में आप लोगों पर निर्भर होकर इस पुस्तक पर दृष्टि देने के लिए प्रथम एवं द्वितीय भाग समर्पण कर रहा हूँ। इसके बीस भाग हैं। आप लोग अनुग्रह करके यदि इसकी एक सौ प्रति लेंगे तो पुस्तक छप सकती है। मेरा श्रम सफल होगा। कॉलेज के पाठक साहब लोगों को अल्प प्रयास से न्याय तथा वैशेषिकदर्शन में बङ्ला भाषा के माध्यम से नैपुण्य प्राप्त होगा। अतएव निवेदन है कि इस प्रतिपाल्य व्यक्ति के प्रति अनुग्रहपूर्वक सफल आज्ञा हो। इति सन् १८२० ई., दिसम्बर श्रीकाशीनाथशर्मणः।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

उद्धृत गद्य के पढ़ने से इसका भी आभास मिलता है कि उस समय में इस प्रान्त में ब्राह्मण विद्वान् किस सरलता से तथा कैसी भाषा में पढ़ते-पढ़ाते थे। यह भी ज्ञात होता है कि उक्त व्याख्याकार ने न्यायदर्शन देखा नहीं था। महर्षि गौतम ने न्यायदर्शन के प्रथम सूत्र में प्रमाण आदि सोलह पदार्थों के तत्त्वज्ञान से मुक्ति प्राप्ति की बात कहकर उन सोलह पदार्थों का निरूपण किया है। नदिया के काशीनाथ विद्यानिवास के पुत्र नव्यनैयायिक विश्वनाथ न्याय पञ्चानन ने द्रव्य तथा गुण आदि सात पदार्थों को लेकर भाषापरिच्छेद नामक (कारिकावली नामक) न्यायशास्त्र का संग्रह ग्रन्थ तथा उसकी सिद्धान्तमुक्तावली नामक सरल व्याख्या लिखी है। पश्चात् इन्होंने वृन्दावन में रसवाणतिथौ शकेन्दुकाले (१५५६) शकाब्द में (खी. १६३४ ई. में) महर्षि गौतमप्रणीत न्यायसूत्र की वृत्ति का प्रणयन किया था। उसमें इन्होंने भाष्य तथा वार्तिक आदि प्राचीन ग्रन्थों के विषय लिखा है तथा कहीं-कहीं उनकी आलोचना करके अपनी नवीन व्याख्या प्रस्तुत की है। इसके पहले तथा पश्चात् अनेक प्रान्तों के नैयायिकों ने न्यायसूत्रों की स्वतंत्र रूप से वृत्ति का प्रणयन किया। किन्तु विश्वनाथकृत न्यायसूत्रवृत्ति का अपना अलग गौरव सर्वत्र प्रचारित हुआ।

प्राचीन न्याय ग्रन्थों के पठन का विलोप एवं उसका कारण

कालक्रम से छात्र एवं अध्यापकों की शक्ति का ह्रास होता गया। रघुनाथ शिरोमणि आदि के नव्यन्याय ग्रन्थों की आलोचना अधिक होने लगी। इसके प्रबल प्रभाव से क्रमशः न्यायभाष्य आदि प्राचीन ग्रन्थों का पठन-पाठन लुप्तप्राय होने लगा। अट्ठारहवीं शताब्दी के अन्त में शान्तिपुर के महानैयायिक तथा स्मार्तप्रवर राधामोहन गोस्वामी भट्टाचार्य ने विश्वनाथ वृत्ति का अवलम्बन करके न्यायसूत्रविवरण नामक न्यायसूत्रवृत्ति का प्रणयन किया। इनके विवरण के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि इन्होंने भी न्यायभाष्य आदि प्राचीन न्याय ग्रन्थों का अध्ययन नहीं किया था। यह विवरण काशी से प्रकाशित हुआ था। इन्होंने न्यायसूत्र के चौथे अध्याय के अन्त में "तत्त्वं तु बादरायणात्" सूत्र उल्लिखित कर इसकी अनेक प्रकार से व्याख्या की है। किन्तु भाष्यकार से लेकर वार्तिक पर्यन्त किसी ने इस सूत्र का उल्लेख नहीं किया है। वस्तुतः महर्षि गौतम न्यायदर्शन में "तत्त्वं तु बादरायणात्" सूत्र नहीं कह सकते हैं। गोस्वामी भट्टाचार्य ने कहीं नहीं कहा है कि इन्होंने इस सूत्र को कहाँ से प्राप्त किया था। उस समय में नदिया के प्रसिद्धतम एवं सर्वमान्य नैयायिक शंकर तर्कवागीश तथा उनके सुयोग्य पुत्र शिवनाथ विद्यावाचस्पति आदि विश्वनाथकृत न्यायसूत्रवृत्ति का ही अध्ययन-अध्यापन करते थे। १८२० ई. में शिवनाथ विद्यावाचस्पति के स्वर्गवास

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection.

होने पर नदिया में किसी बहुविज्ञ नैयायिक का अभाव[१३] हो गया।

उस समय में पूर्व बंगाल में चन्द्रनारायण न्याय पञ्चानन उदीयमान असाधारण नैयायिक हुए। इन्होंने काशी जाकर प्राचीन न्याय के ग्रन्थों का प्रचुर अनुसंधान किया। बहुत पहले सर्वत्र न्यायभाष्य आदि प्राचीन ग्रन्थों के विशुद्ध हस्तलेखों का अभाव था। १८४० ई. के अगस्त में कलकत्ता संस्कृत कॉलेज में जयनारायण तर्क पञ्चानन न्यायशास्त्र के अध्यापक नियुक्त हुए। ये अनेक शास्त्रों के प्रसिद्ध पण्डित थे। इन्होंने कलकत्ता एशियाटिक सोसायटी में नियुक्ति पाकर १७८६ शकाब्द में अर्थात् १८६५ ई. में न्यायभाष्य का सम्पादन किया था। सबसे पहले यही न्यायदर्शन भाष्य सहित छपा था। उस समय में भी बहुश्रुत इस तर्क पञ्चानन महाशय को न्यायभाष्य का अविकृत विशुद्ध पाठ नहीं मिला था अतः परिशुद्ध पाठ का निर्णय बहुत स्थलों में नहीं कर पाए। इन्होंने पुस्तक के आरम्भ में लिखा है –

न्यायभाष्यमिदं पूर्वं विरलं लुप्तवत् स्थितम्।
मुद्रणाशोधनायेदं या सभा मां न्ययोजयत्॥

वस्तुतः भाष्यकार वात्स्यायन के पश्चात् दिङ्नाग आदि बौद्ध नैयायिकों ने न्यायसूत्र तथा न्यायभाष्य का बहुत प्रतिवाद किया था। उनके अति प्रबल प्रतिवादी भारद्वाज उद्योतकर ने गौतम के न्याय मतों की प्रतिष्ठा के लिए न्यायभाष्य की व्याख्या हेतु न्यायवार्त्तिक का प्रणयन किया। इस न्यायवार्त्तिक पर नवम शताब्दी में वाचस्पति मिश्र ने अति प्राचीन वार्त्तिकनिबन्ध के उद्धार हेतु टीका की रचना की जो न्यायवार्त्तिक तात्पर्यटीका नाम से प्रसिद्ध हुई। पश्चात् दशम (या एकादश) शताब्दी में महानैयायिक उदयनाचार्य ने इस तात्पर्यटीका की व्याख्या परिशुद्धि नाम से लिखी जो न्यायवार्त्तिक तात्पर्यटीका परिशुद्धि अथवा न्यायनिबन्ध नाम से प्रसिद्ध हुई। इस परिशुद्धि पर वर्धमान उपाध्याय

---

[१३] शंकर तर्कवागीश तथा शिवनाथ विद्यावाचस्पति का विवरण ''समाचार पत्र में उस समय की बात'' पुस्तक का प्रथम खण्ड द्रष्टव्य है। चन्द्र नारायण न्याय पञ्चानन फरीदपुर जिला के धानुका ग्रामवासी कृष्णात्रेय गोत्र के सुप्रतिष्ठित वैदिक ब्राह्मण थे। इन्होंने काशी जाकर नैयायिकों की पण्डित सभा में अपने असाधारण पाण्डित्य का प्रदर्शन कर सबको चमत्कृत किया था। अनेक राजाओं से पर्याप्त सम्मान प्राप्त किया था। पश्चात् ये विशेष अनुरोध पाकर काशी के संस्कृत कॉलेज में पहले-पहल न्यायशास्त्र के अध्यापक नियुक्त हुए थे। इन्होंने विभिन्न ग्रन्थों की टिप्पणी तथा क्रोडपत्र (विवेचना) लिखी है। अंग्रेज़ों के द्वारा लिखित कैटलॉग (हस्तलेख ग्रन्थसूची) में न्यायग्रन्थ विभाग में चन्द्र नारायण का नाम उपलब्ध है। किन्तु बंगाल में उनके बहुत ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

की प्रकाश व्याख्या आदि अनेक टीकाएँ प्रणीत हुई। इन ग्रन्थों के विशेष आलोचन के बिना वात्स्यायन के न्यायभाष्य का यथार्थ पाठ-निर्णय संभव नहीं है। इस भाष्य के बिना इन ग्रन्थों का पठन-पाठन भी नहीं हो सकता।

कालवश सम्प्रदाय के लुप्त होने पर न्यायवार्त्तिक आदि सभी ग्रन्थों के दुर्लभ हो जाने पर न्यायभाष्य का अध्ययन-अध्यापन विलुप्त हो जाएगा। हम नहीं जानते कि दुर्भाग्य से पश्चात् नदिया में भी बहुत न्याय ग्रन्थों का किसी समय में कहीं अन्तर्धान हो जाएगा।

बाद में क्रमशः बहुत स्थानों से बहुत विद्वानों के अनुसंधान के फलस्वरूप न्यायवार्त्तिक आदि अनेक ग्रन्थ संगृहीत एवं मुद्रित हुए। किन्तु विशुद्ध आदर्श पाठ के अभाव में तथा संशोधक के प्रमादवश अनेक स्थलों में यथार्थ पाठ मुद्रित नहीं हो सका। एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता से वर्धमान उपाध्याय की प्रकाश व्याख्या के साथ तात्पर्यपरिशुद्धि का मुद्रण (छपाई) आरंभ हुआ किन्तु कुछ अंश ही प्रकाशित हो सका। तात्पर्यपरिशुद्धि व्याख्या पर पद्मनाभ मिश्रकृत वर्धमानेन्दु व्याख्या तथा इसकी शंकर मिश्रकृत न्याय तात्पर्य मण्डल अभी भी बहुतों को अज्ञात ही है।

उक्त न्यायवार्त्तिक आदि ग्रन्थ तथा अनेक बौद्ध ग्रन्थों की सहायता के बिना बहुत स्थलों में वात्स्यायन के न्यायभाष्य के परिशुद्ध पाठ का निर्णय तथा गूढ़तम तात्पर्य का ज्ञान संभव नहीं है। अतएव इस ग्रन्थ की टिप्पणी में यथासंभव तथा यथामति न्यायवार्त्तिक आदि अनेक ग्रन्थों के विषय लिख दिए गए हैं। परिणामतः यह ग्रन्थ थोड़ा विस्तृत हो गया है। किन्तु वार्त्तिककार उद्योतकर ने जिन स्थलों में भाष्यकार की व्याख्या एवं मतों का प्रतिवाद कर दूसरी व्याख्या एवं भिन्न मतों का समर्थन किया है उन स्थलों में भाष्यकार की दृष्टि से क्या समाधान हो सकता है – इसकी प्रस्तुति यथामति विचारपूर्वक की गई है। भाष्यकार तथा वार्त्तिककार की सम्प्रदाय भिन्नता का आलोचन यहाँ मेरा विशिष्ट उद्देश्य रहा है।

भाष्यकार तथा वार्त्तिककार के संबंध में अनेक मतों का कथन

इसमें प्रमाण नहीं मिलता है कि प्राचीन वात्स्यायन ऋषि ही न्यायभाष्यकार हैं। न्यायवार्त्तिक के अन्त में उद्योतकर ने कहा है –

> अक्षपादप्रतिमो भाष्यं वात्स्यायनो जगौ।
> अकारि महतस्तस्य भारद्वाजेन वार्त्तिकम्॥

इससे प्रतीत होता है कि प्राचीन नैयायिक भारद्वाज उद्योतकर ने न्यायभाष्यकार वात्स्यायन को अक्षपादप्रतिम तथा उनके भाष्य को महाभाष्य कहकर उनके लिए

CC-0.Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

आसाधारण सम्मान प्रदर्शित किया है। किन्तु उनको महाभाष्यकार पतञ्जलि की तरह ऋषि या मुनि नहीं माना है। इनके समय में वात्स्यायन के प्रसङ्ग में ऋषि होने की प्रसिद्धि नहीं थी। उद्योतकर ने बहुत स्थलों में वात्स्यायन की व्याख्या का खण्डन करके अपनी रुचि से दूसरे प्रकार की व्याख्या प्रस्तुत की है। इन्होंने वात्स्यायन के मतों को कभी ऋषिमत नहीं माना। वात्स्यायन के परिचय में इन्होंने कुछ कहा भी नहीं। तात्पर्यटीका के आरम्भ में वाचस्पति मिश्र ने ''भगवता पक्षिलस्वामिना'' कहा है। वाचस्पति के इस कथन से ज्ञात होता है कि इनके समय में भगवान् पक्षिलस्वामी ही न्यायभाष्य के प्रणेता रहे हैं। बहुत ग्रन्थकारों ने न्यायभाष्यकार को पक्षिल नाम से ही उल्लेख किया है। फलितार्थ यह हुआ कि वाचस्पति मिश्र के मत में न्यायभाष्य के रचयिता पक्षिलस्वामी ऋषिकल्प थे लेकिन ऋषि नहीं। जैन विद्वान् हेमचन्द्र सूरि ने अभिधानचिन्तामणि में कहा है कि सुप्रसिद्ध विष्णुगुप्त या पण्डित चाणक्य का अपर नाम पक्षिलस्वामी था। किसी-किसी कारण से अनेक प्राचीन विद्वानों ने अर्थशास्त्र के रचयिता कौटिल्य को ही न्यायभाष्यकार कहा है। चूँकि ये वात्स्य गोत्र के थे, अतः गोत्र-निमित्तक इनका नाम वात्स्यायन है। वात्स्यायन के कामसूत्र की व्याख्या में यशोधर ने लिखा है –

वात्स्यायन इति गोत्रनिमित्ता संज्ञा मल्लनाग इति सांस्कारिकी'।

अर्थशास्त्र, कामसूत्र तथा न्यायभाष्य में भाषागत वैशिष्ट्य भी ध्यान देने योग्य है। अर्थशास्त्रकार कौटिल्य या कौटल्य के गोत्र के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। कामसूत्र के आरम्भ में वात्स्यायन ने मङ्गलाचरण किया है। किन्तु आन्वीक्षिकी विद्या का विशेष उल्लेख नहीं किया है। अर्थशास्त्र के विद्यासमुद्देश प्रकरण में सांख्यशास्त्र को भी आन्वीक्षिकी कहा गया है। किन्तु न्यायदर्शन के प्रथम सूत्र के भाष्य में वात्स्यायन ने आन्वीक्षिकी पद की व्युत्पत्ति एवं व्याख्या के द्वारा केवल न्यायशास्त्र को आन्वीक्षिकी कहा है। अर्थशास्त्र तथा न्यायभाष्य में आन्वीक्षिकी के विषय में इस प्रकार के मतभेद रहने से कौटिल्य को न्यायभाष्यकार नहीं कहा जा सकता। पाश्चात्य इतिहासवेत्ता भी ऐसा नहीं मानते। इनके मत में न्यायभाष्यकार वात्स्यायन खीस्तीय तृतीय शताब्दी के पूर्ववर्ती नहीं हो सकते। किन्तु मेरी धारणा है कि शून्यवादी नागार्जुन से पहले वात्स्यायन हुए हैं। इस विषय में मैंने इस ग्रन्थ के प्रथम संस्करण की भूमिका में आलोचना की है।

प्राचीनकाल में बहुत से व्यक्ति अपने वंश के गौरव-ख्यापन के लिए अपने गोत्र-निमित्तक नाम का उल्लेख करते रहे हैं। न्यायभाष्यकार ने भी वही किया है। इनका अनुसरण करते हुए वार्त्तिककार ने भी वार्त्तिक के अन्त में ''भारद्वाजेन वार्त्तिकम्'' कहा है। यह केवल कल्पना है कि उद्योतकर से भिन्न किसी भारद्वाज मुनि ने न्यायवार्त्तिक का

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

प्रणयन किया है। वस्तुतः भारद्वाज मुनि के (प्रसिद्धतम) वंश में जन्म लेने के कारण उद्योतकर ने अपना गोत्रनाम ''भारद्वाज'' का व्यवहार यहाँ किया है। प्रतीत होता है कि उस समय में इसी नाम से प्रसिद्ध थे।[१४]

तात्पर्यटीका के आरम्भ में एवं अन्यत्र भी वाचस्पति मिश्र की व्याख्या से ज्ञात होता है कि उद्योतकर की वार्त्तिक रचना के काल में बौद्ध आचार्य दिङ्नाग जीवित थे। अन्यथा वार्त्तिक रचना के द्वारा वे कुतार्किक दिङ्नाग की अज्ञाननिवृत्ति की आशा कैसे कर सकते थे। अज्ञाननिवृत्ति पद किसी जीवित व्यक्ति के सन्दर्भ में ही सार्थक हो सकता है। इस ग्रन्थ के अन्तिम खण्ड के अन्त में इन सब बातों की आलोचना हुई है।

जो भी हो, वस्तुतः नवम शतक के वाचस्पति मिश्र ने उद्योतकर के वार्त्तिक को अतिप्राचीन ग्रन्थ कहा है। यह निश्चित है कि ये वार्त्तिककार सप्तम शताब्दी के बहुत पहले हुए हैं। यह मत कभी भी मान्य नहीं हो सकता कि उद्योतकर सप्तम शताब्दी के बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति के समसामयिक थे। इन्होंने न्यायवार्त्तिक में धर्मकीर्ति की किसी बात का उल्लेख नहीं किया है। धर्मकीर्ति ने वादन्याय में निग्रहस्थान के विषय में न्यायमत का खण्डन करते हुए कहा है –

अत्र भाष्यमतं दूषयित्वा वार्त्तिककारो यः स्थितपक्षमाह तत्रैवं क्रमः।

किन्तु हर्षचरित में बाणभट्ट ने वासवदत्ता काव्य की प्रशंसा की है जहाँ कवि सुबन्धु ने कहा है – ''न्यायस्थितिमिव उद्योतकरस्वरूपाम्''। इससे निश्चित रूप से ज्ञात होता है कि कवि सुबन्धु के पहले से ही उद्योतकर न्यायमत के संस्थापक आचार्य के रूप में प्रसिद्ध थे। उद्योतकर हर्षवर्धन के पिता प्रभाकरवर्धन के सभा पण्डित रहे हैं – यह सम्भव नहीं प्रतीत होता है। अन्यथा उद्योतकर इस विषय में कुछ उल्लेख अवश्य करते।

---

[१४] सुना जाता है कि कणादसूत्र की भारद्वाजवृत्ति रही है, संभव है वह उद्योतकर की ही कृति रही हो। क्योंकि प्रशस्तपाद से बहुत पहले उद्योतकर ने कणाद सूत्र की विशेष व्याख्या की थी – यह सूचना न्यायवार्त्तिक में दो स्थलों (पृ.५५ तथा ३४३) में कणादसूत्र की व्याख्या से उपलब्ध होती है। इसी के आधार पर वैशेषिक पाशुपत आचार्य होकर वे पाशुपताचार्य के रूप में प्रसिद्ध हुए। अतएव वार्त्तिक के अन्त में इन्होंने अपने नाम के पहले पाशुपताचार्य लिखा है। पश्चात् प्रशस्तपाद ने संशय के कारण के विषय में अपने पूर्ववर्ती उद्योतकर के मत का खण्डन किया है। (द्रष्टव्य पृ.३२१-२२ तथा ४३५)

कलकत्ता संस्कृत साहित्य परिषद् से प्रकाशित प्रशस्तपाद भाष्य की भूमिका (पृ.९) में लिखा है कि ''ख्रीस्तीयसप्तमशताब्द्यां वर्तमानस्य उद्योतकरस्य ग्रन्थे प्रशस्तपादस्य नामोल्लेखो दृश्यते। तस्मादयं प्राचीन इति स्थितं''। किन्तु यह बात सर्वथा प्रमाणरहित है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

कालवश किसी समय में वार्त्तिककार उद्योतकर के सम्प्रदाय के विलुप्त होने पर वार्त्तिककार की उस समय के व्याख्या आदि ग्रन्थ भी कुनिबन्ध में परिणत हो गए। अतएव उस समय वार्त्तिक का पाठ भी विकृत हो गया। अब वाचस्पति मिश्र ने अपने गुरु त्रिलोचन से अनेक प्रकार का उपदेश पाकर उसकी सहायता से इस अतिप्राचीन वार्त्तिक की तात्पर्यटीका का प्रणयन करके उक्त ग्रन्थ का उद्धार किया है, दुस्तर पंक में फंसी हुई अतिवृद्ध गोवृन्दों के समुद्धार से इन्होंने विशिष्ट पुण्य अर्जित किया। वाचस्पति मिश्र ने तात्पर्यटीका के आरम्भ में लिखा है –

इच्छामि किमपि पुण्यं दुस्तरकुनिबन्धपंकमग्नानाम्।
उद्योतकरगवीनामतिजरतीनां समुद्धारणात्।

यहाँ ''उद्योतकरगवीनां'' पद घटक गोपद से प्रथम पक्ष में वार्त्तिक निबन्ध रूप वाक्य एवं अपर पक्ष में गो समझना चाहिए। अतिजरतीनां विशेषण पद से व्यक्त होता है कि वाचस्पति के समय में भी वार्त्तिक ग्रन्थ अतिप्राचीन था। अतिप्राचीनता के कारण काल के गाल में समाकर वह सम्प्रदाय लुप्त हो गया। उदयनाचार्य ने वाचस्पति मिश्र के इस श्लोक में श्लिष्ट रूपक का विश्लेषण करके सुन्दर भाव से तात्पर्य की व्याख्या की है। इसको अच्छी तरह समझने पर वे सभी बातें ज्ञात होंगी।[१५]

उस समय में न्यायसूत्र के पाठ के विषय में भी अनेक विवाद एवं मतभेद थे। बौद्ध सम्प्रदाय के साथ विवाद का परिणाम हुआ कि बहुत न्यायसूत्र विकृत हो गए। वाचस्पति मिश्र ने अपने मत के अनुसार विचारपूर्वक – ''वस्वङ्कवसुवत्सरे'' अर्थात् ८९८ विक्रम संवत् में (८४१ ई.) न्यायसूचीनिबन्ध की रचना की। इसमें प्रायः सभी न्यायसूत्रों का यथाक्रम उद्धार हुआ तथा अन्त में लिखा है कि न्यायदर्शन में ५ अध्याय, १० आह्निक, ८४ प्रकरण, ५२८ सूत्र, १,६९६ पद तथा ८,३८५ अक्षर हैं। समस्त न्यायसूत्रों की अक्षर संख्या पर्यन्त गणना करके कैसे लिखा गया, इसका विचार भी आवश्यक है। उद्योतकर आदि अनेक आचार्यों के द्वारा परिगृहीत सूत्र-पाठ में भी किसी-किसी स्थल पर पाठभेद देखा जाता है। पुनश्च

---

[१५] ननु चिरन्तनेऽस्मिन् निबन्धे महाजनपरिगृहीते बहवो निबन्धाः सन्तीतिकृतमनेन इत्यत आह इच्छामीति। ननु यदि ग्रन्थकारसम्प्रदायविच्छेदेन ते निबन्धाः कथं कुनिबन्धाः ? अथ सम्प्रदायो विच्छिन्नः कथं तवापीयं विच्छिन्नसम्प्रदाया तात्पर्यटीका सुनिबन्ध इत्यत आह अतिजरतीनामिति। उद्योतकरसम्प्रदायो ह्यमूषां यौवनं तच्च कालवशात् गलितमिव। किंनामात्रत्रिलोचनगुरोः सकाशादुपदेशरसायनमासादितममूषां पुनर्नवीभावाय दीयत इति युज्यते। न च कुनिबन्ध-पंकमंग्नानां तद्दातुमुचितम् इति तस्मादुत्कृष्य स्वनिबन्धस्थले सन्निवेशरूप समुद्धरणमेव साम्प्रतमित्यर्थः। (तात्पर्यपरिशुद्धि पृ.९)

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

मिथिलेश्वरसूरि नवीन वाचस्पति मिश्र ने न्यायसूत्रोद्धार की रचना कर न्यायसूत्रपाठ का विचार किया है। इनके मत में सूत्र की संख्या ५३१ है। अनेक कारणों से प्राचीन वाचस्पति मिश्र के न्यायसूचीनिबन्ध के अनुसार ही इस ग्रन्थ में सूत्र-पाठ ग्रहण किया गया है।

नवम शताब्दी[१६] के अन्त में वाचस्पति मिश्र के संभवत: परवर्ती नैयायिक राजा शंकरवर्मा के समसामयिक काश्मीरवासी भारद्वाज गोत्रीय गौड़ ब्राह्मण जयन्त भट्ट ने न्यायमञ्जरी में समस्त न्यायसूत्रों की व्याख्या अनावश्यक समझकर नहीं की है। उन्होंने स्वयं कहा है – "अस्माभिस्तु लक्षणसूत्राण्येव व्याख्यास्यन्ते" इत्यादि। इन्होंने (जयन्त भट्ट ने) सम्पूर्ण न्यायसूत्र पर न्यायकलिका नामक लघुवृत्ति की रचना की है। इस वृत्ति का उपलब्ध अंश काशी सरस्वती भवन से प्रकाशित है। पश्चात् मिथिला के गङ्गेश के पुत्र वर्धमान उपाध्याय तथा उनके परवर्ती नवीन वाचस्पति मिश्र तथा नदिया के रामभद्र सार्वभौम आदि अनेक बंगाली नैयायिकों ने स्वतंत्र रूप से न्यायसूत्र की व्याख्या (वृत्ति) लिखी है। १९४० शकाब्द में कृष्णकान्त विद्यावागीश ने गौतमसूत्र सन्दीपनी नाम से अभिनव व्याख्या प्रस्तुत की है। किन्तु सब का प्रकाशन नहीं हुआ है। संक्षेप के अनुरोध से इस खण्ड में अधिक भूमिका लिखना संभव नहीं हुआ। मिथिला तथा बंगाल के प्रसिद्ध नव्यनैयायिक ग्रन्थकारों के संबंध में मेरा वक्तव्य पहले ही यथामति न्यायपरिचय ग्रन्थ की भूमिका में लिखा हुआ है।

फणिभूषण तर्कवागीश

◈◈◈

---

[१६] बहुतों के मत में काश्मीर के राजा शंकर वर्मा का समय ८८३ से ९०२ ई. रहा है। जयन्त भट्ट ने न्यायमञ्जरी (पृ. ८४) में माघ कवि के नाम से एक श्लोक उद्धृत किया है। पश्चात् (पृ. १०९ में) ईश्वर कृष्ण के प्रत्यक्ष लक्षण का खण्डन करते हुए कहा है – "यत्तु राजा व्याख्यातवान्" इत्यादि। बहुतों के मत में अष्टम शताब्दी के योगसूत्रवृत्तिकार रणरंगमल्ल भोजराज ही सांख्यकारिका के वार्त्तिककार हैं। जो भी हो, जयन्त भट्ट ने इस स्थल में राजा की व्याख्या के अनुसार ईश्वरकृष्ण के प्रत्यक्षलक्षण का अनुमानादि में दोष दिखाकर माठरवृत्ति या सांख्यतत्त्व-कौमुदी के अनुसार व्याख्या करने पर उक्त दोष का परिहार कहा है। इससे ज्ञात होता है कि जयन्त भट्ट वाचस्पति मिश्र के बहुत परवर्ती हैं। मिथिला में वाचस्पति मिश्र के ग्रन्थ नवम शताब्दी के अन्त तक काशीधाम पर्यन्त प्रचारित नहीं हुआ था। इस प्रसंग में बहुत सी बातें पश्चात् इस ग्रन्थ में द्रष्टव्य हैं।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

न्यायदर्शन

(न्यायसूत्र – न्यायभाष्य)

महामहोपाध्याय फणिभूषणतर्कवागीश कृत बङ्लाव्याख्यान संवलित

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

प्रथम अध्याय-प्रथम आह्निक

अभिधेय, सम्बन्ध, प्रयोजन प्रकरण

भाष्य – **प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत् प्रमाणम् ।**[1]

प्रमाणमन्तरेण नार्थप्रतिपत्तिः नार्थप्रतिपत्तिमन्तरेण प्रवृत्तिसामर्थ्यम्, प्रमाणेन खल्वयं ज्ञाताऽर्थमुपलभ्य तमर्थमऽभीप्सति जिहासति वा । तस्येप्साजिहासाप्रयुक्तस्य समीहा प्रवृत्तिरित्युच्यते । सामर्थ्यं पुनरस्याः फलेनाऽभिसम्बन्धः, समीहमानस्तमर्थमभीप्सन् जिहासन् वा तमर्थमाप्नोति जहाति वा । अर्थस्तु सुखं सुखहेतुश्च, दुःखं दुःखहेतुश्च सोयं प्रमाणार्थोऽपरिसङ्ख्येयः प्राणभृद्भेदस्याऽपरिसङ्ख्येयत्वात् ।

अनुवाद – प्रमाण के द्वारा अर्थ का ज्ञान होने पर उन अर्थों में ग्राह्यता एवं त्याज्यता का बोध होने से प्रवृत्ति की सफलता होती है अर्थात् प्रमाण सफल प्रवृत्ति का जनक होता है। अतएव वह अर्थवान् अर्थात् सार्थक कहलाता है। सभी प्रमेय पदार्थ अव्यभिचारी प्रमाण के द्वारा जैसा एवं जिस प्रकार है वैसा एवं उसी प्रकार उपलब्ध होता है।

विशदार्थ – प्रमाण के बिना अर्थ (विषय) का यथार्थ बोध नहीं होता है और यथार्थ बोध के बिना प्रवृत्ति की सफ़लता नहीं होती है। इसलिए ज्ञाता अर्थज्ञानकर्ता जीव प्रमाण के द्वारा अर्थ की उपलब्धि करके उस अर्थ की ग्राह्यता या त्याज्यता

---

[1] किसी-किसी पुस्तक के भाष्यारम्भ में ''ॐ नमः प्रमाणाय'' ऐसा पाठ मिलता है। परन्तु यह भाष्यकार का वचन है इसमें कोई प्रमाण नहीं है। परन्तु ईसवी दशम् शताब्दी के श्रीधर भट्ट न्यायकन्दली के प्रारम्भ में लिखते हैं कि न्यायभाष्यकार पक्षिलस्वामी और मीमांसा भाष्यकार शबरस्वामी ने नमस्कार किया होगा परन्तु उसको लिपिबद्ध नहीं किया है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

समझकर उसको पाने की अथवा छोड़ने की इच्छा करता है। ईप्सा प्राप्ति की इच्छा और जिहासा त्याग की इच्छा होने पर उसके लिए प्रयत्नशील होना ही ज्ञाता की समीहा होती है, अर्थात् कायिक, वाचिक एवं मानसिक व्यापार रूप प्रवृत्ति इस समीहा पद से कही गई है। इस प्रवृत्ति की सामर्थ्य अर्थात् फल के साथ सम्बन्ध ही उसकी सार्थकता अथवा सफलता है। समीहमान अर्थात् प्रमाण के द्वारा किसी पदार्थ की उपलब्धि करके प्रवर्तमान ज्ञाता उस अर्थ की प्राप्ति अथवा त्याग की इच्छा करता हुआ उपादेय का ग्रहण और हेय का त्याग करता है। यहाँ अर्थ पद से सुख, सुख का कारण, दुःख तथा दुःख का कारण अभिप्रेत है। अतएव भाष्य के अर्थ पद से हेय और उपादेय पदार्थ समझना चाहिए। यह प्रमाणार्थ अर्थात् प्रमाण का प्रयोजन सुख-दुःख आदि असंख्येय अर्थात् अनियम्य हैं। क्योंकि प्राणियों का प्रभेद अनियम्य है। (एक जीव के लिए जो सुख एवं दुःख का कारण है वही सभी जीवों के लिए सुख एवं दुःख का कारण होगा – ऐसा नियम नहीं है। अनेक जीवों के प्रसंग में इसका विपरीत भी देखा जाता है।)

टिप्पणी – न्यायदर्शन के वक्ता महर्षि गौतम प्रथम सूत्र में कहते हैं कि प्रमाण आदि सोलह पदार्थों के तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस का लाभ होता है। किन्तु परवर्ती काल में शून्यवादी तथा संशयवादी आदि विरोधी सम्प्रदाय ने इसका खण्डन किया है। इनका कहना है कि प्रमाण पदार्थ का तत्त्वज्ञान ही जब किसी प्रकार से सम्भव नहीं है तब उसके द्वारा अन्य पदार्थों के तत्त्वज्ञान की बात कैसे कही जा सकती है। गौतम के मन में यथार्थ अनुभूति का साधन ही प्रमाण है, किन्तु किसी विषय की अनुभूति होने पर भी वह ज्ञान यथार्थ ही है – इसके निश्चय करने के लिए कोई उपाय नहीं है। अब प्रमाण का तत्त्व अर्थात् प्रामाण्य का निश्चय असम्भव है और असम्भव के वक्ता गौतम का न्यायशास्त्र व्यर्थ अर्थात् उन्मत्त प्रलाप ही कहा जाएगा। अतएव गौतम मत के रक्षक भगवान् वात्स्यायन भाष्य के आरम्भ में कहते हैं – ''प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत् प्रमाणम्''।

भाष्यकार का अभिप्राय यह है कि प्रमाण का प्रामाण्य निश्चय असम्भव नहीं है। अनुमान प्रमाण से उसका निश्चय किया जा सकता है। अतएव भाष्यकार ने पहले ही अनुमान प्रमाण के प्रदर्शन हेतु कहा है – ''प्रमाणमर्थवत्''। यहाँ अर्थ शब्द से नित्य योग अर्थ में मतुप् प्रत्यय करके उक्त अर्थवत् पद का प्रयोग किया गया है। अर्थ के साथ नित्य योग का तात्पर्य यहाँ अव्यभिचारिता से है। अतः अर्थवत् शब्द से अर्थ

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

का अव्यभिचारी[२] होना समझना चाहिए। प्रमाण जिस पदार्थ को जिस रूप में तथा जिस प्रकार से प्रतिपन्न करता है, वह पदार्थ उसी रूप में उस प्रकार से ही उपलब्ध होता है। कभी भी उसमें अन्यथाभाव नहीं देखा जाता। यही प्रमाण में अर्थ की अव्यभिचारिता है। उस प्रमाण का उस प्रमेयभूत पदार्थ के साथ व्याप्यत्व भी उपपन्न होता है; अतः सर्वत्र प्रमाणत्व रूप से अभिमत पदार्थ विशेष को पक्ष मानकर उसमें प्रमेयभूत पदार्थ के व्याप्यत्व को, उस विशेषानुमान का साध्य माना जा सकता है। यथार्थ ज्ञान के विशेष्यभूत पदार्थ में इस ज्ञान का विशेषणीभूत पदार्थ अवश्य रहता है। किसी ज्ञान के अंश विशेष में भ्रमात्मक होने पर उस अंश में विशेष्य पदार्थ में अवर्तमान पदार्थ भी विशेषण होता है। जैसे – रस्सी में सर्पत्व का ज्ञान होने पर वह भ्रम कहलाता है। इस ज्ञान के विशेष्यभूत पदार्थ रस्सी में विशेषणीभूत पदार्थ सर्पत्व नहीं रहता, अतः इस ज्ञान को भ्रमात्मक माना जाता है। यथार्थ ज्ञान के विशेष्यता-सम्बन्ध में उस ज्ञान का विशेष्य एवं विशेषणीभूत पदार्थ व्याप्य माना जाता है। जैसे जलत्व रूप से जल का यथार्थ ज्ञान विशेष्यता सम्बन्ध से जल में रहता है, वहीं अभेद सम्बन्ध से जल और समवाय सम्बन्ध से विशेषणीभूत जलत्व अवश्य रहता है। अतः स्वजन्य ज्ञान के विशेष्यता सम्बन्ध से वह प्रमाण पदार्थ प्रमेयभूत पदार्थ का अव्यभिचारी अर्थात् व्याप्य होगा ही। सर्वत्र विशेषणीभूत पदार्थ स्वगत विशेषणतावच्छेदक सम्बन्ध से उस विशेष्यभूत पदार्थ में रहता है। अतः उस सम्बन्ध से वह उस प्रमाण पदार्थ का व्यापक होता है। तात्पर्य यह है कि पूर्वोक्त रूप से प्रमाण पदार्थ में उक्त रूप से अर्थ की अव्यभिचारिता ही भाष्यकार का साध्य धर्म है। उसके साधक हेतु के रूप में भाष्यकार ने ''प्रवृत्तिसामर्थ्यात्'' कहा है। तात्पर्यटीकाकार वाचस्पति मिश्र ने इसकी व्याख्या ''समर्थप्रवृत्तिजनकत्वात्'' इस पद से की है।

चूँकि प्रमाण समर्थ प्रवृत्ति का जनक होता है अतएव वह अपने प्रमेयभूत विषयों का अव्यभिचारी होता है। प्रवृत्ति की सामर्थ्य से उसका फल के साथ सम्बन्ध अर्थात् साफल्य अभिप्रेत है। अतः समर्थ प्रवृत्ति से सफल प्रवृत्ति समझना चाहिए। किन्तु प्रमाण साक्षात् सम्बन्ध से सफल प्रवृत्ति का जनक नहीं होता अतः कहा गया है– प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ।''

---

२ ''अर्थवदिति नित्ययोगे मतुप्। नित्यता चाव्यभिचारिता, तेनार्थाव्यभिचारीत्यर्थः। इयमेव चार्थाव्यभिचारिता प्रमाणस्य, यद्देशकालान्तरावस्थान्तराविसंवादोऽर्थस्वरूपप्रकारयोस्तदुपदर्शितयोः। अत्र हेतुः प्रवृत्तिसामर्थ्यात् समर्थप्रवृत्तिजनकत्वात्। यदि पुनरेतदर्थवन्नाभविष्यत् न समर्थां प्रवृत्तिमकरिष्यत् यथा प्रमाणाभास इति व्यतिरेकी हेतुः, अन्वयव्यतिरेकी वा, अनुमानस्य स्वतः प्रमाणतयान्वयस्यापि सम्भवात्''। – न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

प्रमाण के द्वारा अर्थ का बोध ही यथार्थ ज्ञान है। पदार्थ के यथार्थ बोध होने पर उसकी प्राप्ति अथवा निवृत्ति का इच्छुक व्यक्ति उस पदार्थ की प्राप्ति अथवा परित्याग के लिए प्रवृत्त होता है और उसमें उसको सफलता मिलती है। क्योंकि ऐसे स्थलों में प्रमाणबोधित पदार्थ वस्तुतः यथार्थ रूप में ही रहता है। किन्तु जो प्रमाण नहीं है और प्रमाण की तरह प्रतीत होता है, उसे प्रमाणाभास कहते हैं। इससे भ्रमात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है। इस ज्ञान का विषय पदार्थ उपलब्ध नहीं होता जैसे रस्सी को सर्प समझकर प्रत्यक्ष करने पर भ्रमज्ञान का विषय सर्प वस्तुतः रहता नहीं है, अतः उसकी प्राप्ति या परिहार के लिए प्रवृत्त व्यक्ति सफल नहीं होता। गंगाजल समझकर कूपजल के पान से पिपासा की शान्ति तो होगी किन्तु गंगाजल समझकर गंगाजल प्राप्ति के लिए की हुई प्रवृत्ति सफल नहीं होगी।[३]

अभिप्राय यह है कि प्रमाण के द्वारा किसी पदार्थ का बोध होने पर ही वहाँ उस विषय में हुई प्रवृत्ति सफल होती है। पश्चात् ऐसे अनुमान प्रमाण के द्वारा सिद्ध होता है कि प्रमाण अर्थ का अव्यभिचारी होता है। यदि वह अर्थ का व्यभिचारी होता तो उससे सफल प्रवृत्ति की उत्पत्ति नहीं होती; जैसे प्रमाणाभास। इस तरह इस व्यतिरेकि दृष्टान्त की सहायता से इस व्यतिरेकि हेतु के द्वारा प्रमाण में अर्थवत्त्व सिद्ध होता है। यही अर्थवत्त्व अर्थात् प्रमाण में अर्थ की अव्यभिचारिता प्रमाण का असाधारण धर्मरूप प्रामाण्य है। न्यायमञ्जरी में जयन्त भट्ट ने कहा है– ''तस्य स्वप्रमेयाव्यभिचारित्वं नाम प्रामाण्यम्।'' (पृ.१६०)।

अब प्रश्न अवश्य होता है कि भाष्यकार ने जिस अनुमान प्रमाण के द्वारा प्रमाण का प्रामाण्य सिद्ध किया है उस अनुमान के प्रामाण्य का निश्चय किस रूप में सम्भव

---

[३] यद्यपि दूर से मणि की प्रभा देखकर उसमें मणि का भ्रम होने पर भी मणिलाभ के लिए प्रवृत्त व्यक्ति उस स्थल में मणि का लाभ करता है। इस भ्रम को सम्वादि भ्रम कहते हैं। बौद्ध सम्प्रदाय ने ''मणिप्रदीप-प्रभयोः'' इत्यादि कारिका के द्वारा भाष्यकार के पूर्वोक्त हेतु में दोष दिखाया है। चित्सुख मुनि ने भी चित्सुखी के द्वितीय परिच्छेद (पृ. २२२) में इस दोष को कहा है। तथापि भाष्यकार के मत में यहाँ इस प्रकार से मणि का लाभ प्रवृत्ति का फल नहीं है क्योंकि मणि की प्रभा को मणित्वरूप से मणि समझने पर यह भ्रमज्ञान होता है और उसमें मणित्वरूप से उस मणिप्रभा के विषय में प्रयत्नरूप प्रवृत्ति होती है। अतः इस प्रवृत्ति को विसम्वादी ही मानना होगा क्योंकि मणित्वविशिष्ट प्रभा का लाभ सम्भव नहीं है। मुख्य विशेषण विशिष्ट विशेष्यभूत वस्तु की प्राप्ति ज्ञान के द्वारा होने पर उस प्रवृत्ति की सामर्थ्य समझी जाती है। भ्रमस्थल में यह सम्भव नहीं है। तत्त्वचिन्तामणि के प्रत्यक्ष खण्ड में प्रामाण्यवाद प्रकरण में गङ्गेश उपाध्याय ने प्रकारान्तर से भी इसका समाधान किया है। (प्रामाण्यवाद, पृ. २६३)

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

होगा। क्या उसके लिए अन्य अनुमान प्रमाण प्रस्तुत करना होगा? तो पुनः प्रश्न होगा कि उसका प्रामाण्यनिश्चय कैसे होगा? इस तरह सभी अनुमानों में प्रामाण्य के संशय के कारण प्रमाण में प्रामाण्य का निश्चय कभी नहीं होगा।

इसके उत्तर में कहना है कि सर्वत्र अनुमान या अनुमिति रूप ज्ञान में प्रामाण्य का संशय नहीं होता जैसे घड़ी देखकर समय का अनुमान करके उसके अनुसार सभी देशों में असंख्य कार्य होते हुए देखे जाते हैं। गणित के द्वारा कितने ही दुर्ज्ञेय तत्त्वों का अनुमान करके तदनुसार व्यवहार प्रचलित है। प्राचीन लिपिपाठ में अनुमान के द्वारा अनेक प्राचीन वार्त्ताओं का निर्णय होता है। इन समस्त स्थलों में क्या अनुमान में प्रामाण्य का संशय होता है? अपिच तराजू की सहायता से चावल आदि द्रव्यों के गुरुत्व विशेष के माप के द्वारा अनुमान करके प्रायः चिरकाल से क्रय-विक्रय का व्यवहार चला आ रहा है। क्या इस अनुमान में प्रामाण्य का संशय होता है? सत्य का अपलाप करने वाले संशयवादी नास्तिकवृन्द भी ऐसा नहीं कह सकते।[४]

अपिच सर्वत्र संशय होता है ऐसा कहने पर संशय का कारण भी कहना होगा। केवल संशय-संशय इस तरह हज़ारों बार चिल्लाने पर भी संशय सिद्ध नहीं होगा। किन्तु संशय के साधक युक्ति के प्रदर्शन के समय उसके लिए किसी अनुमान का प्रामाण्य

---

[४] वाचस्पति मिश्र आदि आचार्यगण प्रमाणजन्य प्रमाणज्ञान के प्रमात्व (यथार्थत्व) को सिद्ध करने के लिए विशद विचार विस्तार से करते हैं। क्योंकि प्रमाणज्ञान के प्रमात्वसिद्धि के बिना उस ज्ञान के करण प्रमाण का प्रामाण्य सिद्ध नहीं हो सकता। इस समर्थप्रवृत्तिजनकत्वरूप हेतु से प्रमाज्ञान का प्रमात्व सिद्ध होता है – यह भी यहाँ भाष्यकार का अभिप्राय है। चूँकि इस हेतु में कोई दोष नहीं है, अतः इससे एवं इसके सजातीय हेतुओं से जो अनुमिति होती है, उसमें प्रामाण्य का संशय नहीं होता। इसी अभिप्राय से न्यायमत की व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र ने तात्पर्यटीका में कहा है – ''अनुमानस्य स्वतः प्रमाणतया''। आगे भी कहा है – ''अनुमानस्य तु स्वत एव प्रामाण्यम्'' इत्यादि। ज्ञान के प्रमात्वसाधक उक्त हेतु के साधक उस मानस प्रत्यक्ष में किसी प्रकार का संशय सम्भव नहीं है, अतः अनवस्था दोष की आशंका नहीं करनी चाहिए। इसी तात्पर्य से तात्पर्यटीका में कहा गया है कि ''स्वतःप्रमाण्यमिति नानवस्था''। तत्त्वचिन्तामणि ग्रन्थ के प्रामाण्यवाद प्रकरण में परतः प्रामाण्यवाद का समर्थन करते हुए गङ्गेश उपाध्याय ने भी वाचस्पति मिश्र के इस अभिप्राय की व्याख्या की है। इस विषय में जयन्त भट्ट ने भी न्यायमञ्जरी में बहुत सूक्ष्म विचार प्रस्तुत किया है। इन समस्त विचारों को समझना चाहिए तथा मीमांसक सम्प्रदाय के अभिमत स्वतःप्रामाण्यवाद का किस प्रकार से सूक्ष्म विचार करके नैयायिक सम्प्रदाय खण्डन करता है, इसे समझने के लिए समस्त मूल ग्रन्थों का अध्ययन आवश्यक है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

स्वीकार करना ही होगा। तथाकथित संशय के कारण को किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होने पर वह अलीक हो जाएगा। अतः यह मानना होगा कि ऐसे असंख्य अनुमान हैं जिनसे लोकव्यवहार चलता है तथा उनमें प्रामाण्य का संशय नहीं होता अन्यथा संसार में निश्चयमूलक प्रवृत्ति या लोकव्यवहार उच्छिन्न हो जाएगा। यह सर्वथा असत्य है कि संसार में किसी की भी निश्चयमूलक प्रवृत्ति नहीं होती, सर्वत्र सम्भावनामूलक ज्ञान से ही प्रवृत्ति होती है तथा लोकव्यवहार चलता है। संशयवादी भी स्वयं अनेक विषयों में पहले से निश्चय करके ही प्रवृत्त होते हैं। अनेक स्थलों पर भ्रान्त जीवों के निश्चय भ्रमात्मक होने पर भी संशयात्मक नहीं होते।

किन्तु भाष्यकार के समर्थ प्रवृत्तिजनकत्व रूप हेतु में यदि किसी को साध्य धर्मरूप अर्थवत्त्व के व्यभिचार का संशय उपस्थित हो तो उसका निराकरण अनुकूल तर्क से किया जा सकता है। ''समर्थप्रवृत्तिजनकत्वं यदि अर्थवत्त्वव्यभिचारि स्यात् तदा प्रमाणाभासवृत्ति स्यात्'' सफल प्रवृत्तिजनकत्व यदि अर्थवत्त्व का व्यभिचारी होता तो वह प्रमाणाभास में भी रहता। अर्थात् भ्रमज्ञान का जनक प्रमाणाभास भी सफल प्रवृत्ति का जनक हो जाता। इस प्रकार की आपत्तिरूप तर्क की सहायता से सिद्ध होता है कि सफलप्रवृत्तिजनकत्वरूप हेतु अर्थवत्त्वरूप साध्य का व्याप्य होता है। सारांश यह है कि सफल प्रवृत्तिजनकत्वरूप हेतु से प्रमाण अर्थ का अव्यभिचारी है, ऐसा सिद्ध होता है। अतः प्रमाणाभास से प्रमाण में कुछ विशेष अवश्य मानना होगा। वस्तुतः अर्थाव्यभिचारित्व ही प्रमाणाभास से प्रमाण में विशेष है। इस विशेष को ही उसका प्रामाण्य कहना चाहिए। भाष्यकार ने प्रमाणाभास से प्रमाण का उक्त अन्तर विशेष दिखाकर उसके प्रामाण्य का समर्थन किया है।

सर्वशून्यतावादी का कहना है कि प्रमाण नामक कोई वास्तविक पदार्थ है ही नहीं। प्रमाण प्रमेय आदि व्यवहार काल्पनिक हैं। संसार में सभी ज्ञान भ्रम ही हैं। अतः जिसको प्रमाण कहा जाता है वह प्रमाणाभास ही है। इसके उत्तर में भाष्यकार का कहना है कि किसी भी ज्ञान को यथार्थ नहीं मानने पर उस ज्ञान के विषय में प्रवृत्त व्यक्ति सफल नहीं हो सकता। जल के विषय में जल का बोध एवं तेल का बोध होने पर, उन दोनों को यदि भ्रम माना जाए तो जल के ज्ञाता व्यक्ति की जल के विषय में प्रवृत्ति सफल कैसे होगी? अतः मानना होगा कि ''इदं ज्ञानं यथार्थं सफलप्रवृत्तिजनकत्वात्'' इस अनुमान से सिद्ध होता है कि उक्त जल का ज्ञान यथार्थ है। वह भ्रमज्ञान से भिन्न है। उक्त यथार्थ ज्ञान के करण प्रमाण में पूर्वोक्त हेतु से (सफल प्रवृत्तिजनकत्व से) अर्थवत्त्व अर्थात् अर्थ की अव्यभिचारिता सिद्ध होती है। वाचस्पति मिश्र ने तात्पर्यटीका में कहा है – ''संवेदनस्य

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

चार्थाव्यभिचारिताकथनेन तत्करणानाम् इन्द्रियादीनामपि प्रमाणत्वमुक्तं वेदितव्यम्।"

अपिच संसार में किसी भी यथार्थ ज्ञान को नहीं मानने पर भ्रमज्ञान नहीं माना जा सकता है। भ्रमज्ञान मानने से ही उससे भिन्न यथार्थ ज्ञान की मान्यता उपपन्न होती है। रस्सी में ''अयं सर्पः'' इस प्रकार का जो भ्रमज्ञान उत्पन्न होता है, वह भी अयं अंश में भ्रम नहीं है। सामने दृश्यमान पदार्थ में ''अयम्'' अर्थात् इदंत्वरूप से जो ज्ञान होता है उसको भ्रम नहीं माना जा सकता। भाष्यकार ने चतुर्थ अध्याय के द्वितीय आह्निक में इस सर्वशून्यतावादी के मत का विचारपूर्वक निराकरण किया है। वहीं यथावसर यह विचार उपलब्ध होगा।

अब प्रश्न है कि प्रमाण से किसी पदार्थ का बोध होने पर उस विषय में व्यक्ति की प्रवृत्ति सफल होती है, तब उस प्रमाण में सफल प्रवृत्तिजनकत्व का निश्चय होता है, पश्चात् इस हेतु से प्रमाण में अर्थवत्त्वरूप प्रामाण्य का निश्चय हो सकता है। किन्तु प्रवृत्ति की सफलता से पहले उस प्रमाण में प्रामाण्य का निश्चय कैसे होगा? और प्रामाण्यनिश्चय नहीं होने पर उस विषय में प्रवृत्ति कैसे होगी? इसके समाधान में कहना है कि प्रवृत्ति के प्रति पदार्थ का निश्चय नियमतः कारण नहीं है। अनेक स्थलों में सम्भावना से भी किसी विषय में व्यक्ति की प्रवृत्ति होती है, ऐसा देखा जाता है। इसी तरह अनेक स्थलों में प्रमाण में प्रामाण्य संशय रहने पर भी प्रमाणजन्य पदार्थबोध के पश्चात् उस विषय में प्रवृत्ति देखी जाती है। अतः पदार्थबोध एवं तन्मूलक प्रवृत्ति के प्रति प्रमाण का प्रामाण्यनिश्चय नियमतः कारण नहीं है।

वाचस्पति मिश्र तथा उदयनाचार्य आदि इस बात को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि पारलौकिक फल के लिए कर्म में व्यक्ति की जो प्रवृत्ति होती है उसके पहले उन समस्त कर्मबोधक शास्त्रों के प्रामाण्य का निश्चय आवश्यक है। किन्तु ऐहिक फल के लिए जो व्यक्ति की प्रवृत्ति देखी जाती है उसके पहले प्रमाणों के प्रामाण्य का निश्चय आवश्यक नहीं है। प्रमाण के विषय में किसी रूप से ज्ञान नहीं रहने पर भी अनेक विषयों में जीवों की प्रवृत्ति देखी जाती है। इसे नहीं मानने पर जो लोग जयप्राप्ति की इच्छा से प्रमाण में प्रामाण्य के खण्डन हेतु प्रवृत्त हैं, उनकी वह प्रवृत्ति कैसे उपपन्न होगी? क्योंकि जयलाभ तो पूर्व से निश्चित नहीं है।

वस्तुतः जिनको एक जातीय प्रमाण के द्वारा बारंबार पदार्थ के निश्चय हो जाने पर उस ज्ञान के विषय में प्रवृत्ति सफल होती है – उनके लिए उक्त प्रमाण में प्रामाण्य का निश्चय होता है। पश्चात् तज्जातीय अन्य प्रमाणों में भी तज्जातीयत्व अर्थात् सफलप्रवृत्तिजनक-जातीयत्वहेतु से प्रामाण्य का निश्चय हो जाता है। अभिप्राय यह है

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

कि जब उस सफलप्रवृत्तिजनक प्रमाण का सजातीय प्रमाण यह है, तो यह भी अर्थ का अव्यभिचारी अवश्य होगा, इस अनुमान प्रमाण के द्वारा उन समस्त सजातीय प्रमाणों में अर्थवत्त्व सिद्ध होता है। उद्योतकर कहते हैं कि प्रमाण से अर्थ का यथार्थबोध होता है और उस बोध के पश्चात् विषय में व्यक्ति की प्रवृत्ति सफल होती है। जीवों का यह संसार अनादि है अर्थात् अनादि काल से जीवों का इस प्रकार ज्ञान, इच्छा एवं प्रवृत्ति देखी जाती है। इनमें परस्पर अपेक्षा रहने से किसी प्रकार के दोष की आशंका नहीं करनी चाहिए।

प्रमाण से प्रमाण का भी ज्ञान होता है किन्तु वह ज्ञान प्रवृत्ति का जनक नहीं होता। इसी अभिप्राय से भाष्यकार ने कहा है – ''अर्थप्रतिपत्तौ''। प्रमाणाभास से भी भ्रमात्मक ज्ञान होता है किन्तु वह सफलप्रवृत्ति का जनक नहीं होता अतः पहले कहा गया है – ''प्रमाणतः''।[5]

वस्तुतः प्रमाणाभास से उत्पन्न भ्रमज्ञान के स्थल में उस ज्ञान का विषयरूप अर्थ रहता ही नहीं है, भाष्यकार के मत में वहाँ अर्थ की प्रतिपत्ति नहीं होती। ''अर्थ्यतेऽसौ'' इस व्युत्पत्ति के अनुसार ग्राह्य अथवा त्याज्य पदार्थ ही अर्थ शब्द से अभिप्रेत हैं। प्रमाण से अर्थ की प्रतिपत्ति अर्थात् ज्ञान होता है – इसे स्पष्ट करने के लिए भाष्यकार ने पहला पद ''प्रमाणतः'' कहा है। सूत्रकार महर्षि ने भी आगे कहा है – ''प्रमाणतश्चार्थप्रतिपत्तेः'' ४.२.२.९ इसके अनुसार ही भाष्यकार ने प्रथमोक्त भाष्य सन्दर्भ का स्वपद वर्णन[6] करते हुए कहा है – ''प्रमाणमन्तरेण नार्थप्रतिपत्तिः'' अर्थात् प्रमाण के बिना अर्थ का बोध नहीं होता।

---

[5] भाष्यकार ने ''प्रमाणेन अथ वा प्रमाणात्'' इस तरह प्रयोग न करके प्रमाणतः प्रयोग क्यों किया है? इसके उत्तर में उद्योतकर ने कहा है – ''प्रमाणतः इति तसिर्वचनविभक्तिव्याप्ति-प्रदर्शनार्थः''। प्रमाणतः इस प्रयोग में तृतीया एवं पञ्चमी विभक्ति के सभी वचनों का प्रदर्शन अभिप्रेत है। इस प्रयोग से प्रमाणेन, प्रमाणाभ्याम्, प्रमाणैः एवं प्रमाणात्, प्रमाणाभ्याम्, प्रमाणेभ्यः, इन छः वचनों के अर्थ विवक्षित हैं। पञ्चमी विभक्ति से प्रमाण का हेतुत्व स्पष्ट करना भी उनका उद्देश्य है। तृतीय सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है कि इस तसि प्रत्यय के प्रयोग से एक विषय में अनेक प्रमाणों का संकर भी विवक्षित है।

[6] स्वयं उक्त वाक्य का स्वयं व्याख्या करना ही ''स्वपद वर्णन'' है। भाष्य ग्रन्थ का यह एक लक्षण है। पराशर उपपुराण के अठारहवें अध्याय में भाष्य का लक्षण इस प्रकार वर्णित है –

सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र वाक्यैः सूत्रानुसारिभिः।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः॥

सूत्र के भाष्य से भिन्न अन्य भाष्य में केवल स्वपद वर्णन रूप भाष्यलक्षण ही उपलब्ध होता है। वाचस्पति मिश्र ने भाष्यकार के इस प्रथम वाक्य को आदि भाष्य कहा है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

यह अर्थ क्या है इस जिज्ञासा के समाधान में भाष्यकार ने कहा है – ''अर्थस्तु सुखं, सुखहेतुः, दुःखं, दुःखहेतुश्च''। सुख और सुख के हेतु जीवों के ग्राह्य पदार्थ हैं एवं दुःख एवं दुःख के हेतु त्याज्य पदार्थ के रूप में मान्य हैं। जो न तो ग्राह्य है और न ही त्याज्य, उसे उपेक्षणीय पदार्थ कहते हैं। इस उपेक्षणीय पदार्थ में न तो ग्रहण की इच्छा होती है और न त्याग की। अतः उसमें प्रवृत्तिसामर्थ्य की बात नहीं कही जा सकती। अतः भाष्यकार ने अर्थ पद से ग्राह्य और त्याज्य पदार्थ को ही लिया है। अर्थ की उपलब्धि या ज्ञान होने पर उसकी प्राप्ति अथवा त्याग की इच्छा होती है और इच्छा होने पर उस विषय में ज्ञाता जीवात्मा का प्रयत्न होता है। इसी अभिप्राय से भाष्यकार ने कहा है – ''तस्येप्साजिहासाप्रयुक्तस्य''।

भाष्यकार ने आगे सप्तम सूत्र के भाष्य में इसी तरह प्रयुक्त पद का प्रयोग किया है और उसकी व्याख्या वाचस्पति मिश्र ने ''उत्पादितप्रयत्नः'' पद से की है। अतः भाष्य में उक्त प्रवृत्ति पद का अर्थ प्रयत्नजन्य व्यापार समझना चाहिए। यहीं आगे भाष्यकार ने ''समीहा'' को प्रवृत्ति कहा है। चेष्टार्थक ''ईह'' धातु से निष्पन्न ''समीहा'' पद का अर्थ चेष्टा ही होता है। किन्तु यहाँ केवल शारीरिक क्रियारूप चेष्टा प्रवृत्ति पद का अर्थ नहीं है। वाचिक तथा मानसिक व्यापार भी प्रवृत्ति शब्द से लिए जाते हैं। इस तरह की व्याख्या भाष्यचन्द्र में पण्डित रघूत्तम[७] ने की है।

इस त्रिविध समीहारूप प्रवृत्ति का फल के साथ सम्बन्ध अथवा साफल्य को ही भाष्यकार ने ''प्रवृत्तिसामर्थ्य'' कहा है। अर्थ शब्द का एक अर्थ प्रयोजन भी होता है। जिस प्रवृत्ति का प्रयोजन या फल सिद्ध नहीं होता है उसे व्यर्थ प्रवृत्ति कहते हैं। प्रवृत्ति का प्रयोजन यदि सिद्ध होता है तो प्राचीन सुधीगण उसे ''समर्थ प्रवृत्ति'' कहते हैं। प्रमाण से अर्थ का बोध होने पर उससे होने वाली प्रवृत्ति समर्था कहलाती है। उस स्थल में अर्थबोध भी समर्थ होता है। अतः उस समय उसमें भी सामर्थ्य रहता है। वह सार्थकत्व या साफल्य रूप में मान्य है। ''समर्थाया भावः सामर्थ्यम्'' तद्धित प्रत्यय से सिद्ध होता है।

वार्त्तिककार उद्योतकर भाष्यकार के इस आदि वाक्य का अन्य प्रकार से भी अभिप्राय

---

[७] इच्छाजन्य जीव का प्रयत्न प्रवृत्ति है। प्रवृत्ति शब्द का इस अर्थ में बहुत प्रयोग देखा जाता है। कुसुमाञ्जलि २.१ में उदयनाचार्य ने समर्थ प्रवृत्ति की व्याख्या इस प्रकार लिखी है – ''इच्छा च प्रवृत्तेः कारणम्''। किन्तु भाष्यकार स्वयं समीहा को प्रवृत्ति कहते हैं, उनका तात्पर्य समीहा में ही प्रतीत होता है। वेदान्ती चित्सुख मुनि ने इस व्याख्या का समर्थन किया है – ''प्रवृत्तिर्नाम पुंसः समीहा चेष्टा''। इत्यादि। (चित्सुखी – २.२२१) भाषापरिच्छेद में विश्वनाथ लिखते हैं – ''प्रवृत्त्याधिनुमेयोऽयम्'' प्रवृत्तिरत्र चेष्टा। – मुक्तावली।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

वर्णित करते हैं। किन्तु अनुमान प्रमाण से प्रमाण पदार्थ के प्रामाण्य की सिद्धि रूप भाष्यकार के मुख्य उद्देश्य का सरल भाव से सबसे पहले उपपादन करते हैं। शून्यवादी बौद्ध-माध्यमिक सम्प्रदाय स्वतःप्रामाण्य एवं परतःप्रामाण्य इन दोनों पक्षों का प्रतिवाद करके प्रमाण पदार्थ का ही खण्डन करते हैं। अतः महर्षि गौतम के मतानुसार पहले परतःप्रामाण्य पक्ष का समर्थन करना आवश्यक है। तत्त्वचिन्तामणिकार नव्यनैयायिक गंगेश उपाध्याय ने भी इसी अभिप्राय से प्रामाण्यवाद के प्रारम्भ में पूर्वपक्ष रूप में माध्यमिक सम्प्रदाय के मत का उल्लेख किया है।

भाष्यकार ने अनुमान प्रमाण से प्रमाण पदार्थ के प्रामाण्य की सिद्धि के समय साध्य धर्म के रूप में अर्थवत्त्व का ग्रहण किया है, उसका तात्पर्य वाचस्पति मिश्र ने अर्थ की अव्यभिचारिता कहा है। तात्पर्य परिशुद्धि में उदयनाचार्य ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि "अर्थाव्यभिचारि अनुभवजनकत्वमित्यर्थः"। प्रमाणजन्य अनुभव रूप ज्ञान अर्थ का अव्यभिचारी होता है। उस ज्ञान का प्रमात्व या यथार्थत्व अर्थ की अव्यभिचारिता ही है। इस प्रकार के प्रमाज्ञान कां (अनुभव का) करण ही प्रमाण होता है। प्रमाण में इस प्रकार के अनुभव के करणत्व रूप जनकत्व रहता है। अतएव उस प्रमाण में अर्थवत्त्व रूप प्रामाण्य उपपन्न होता है। उदयनाचार्य ने स्पष्ट कहा है – "तत्त्वं प्रमाणत्वम् अर्थाव्यभिचारि प्रमासाधनत्वमिति यावत्"। यहाँ प्रमा शब्द से केवल अनुभवरूप ज्ञान अभिप्रेत है। प्रकाश व्याख्याकार वर्धमान उपाध्याय ने भी यही बात कही है।

तात्पर्य यह है कि उदयनाचार्य के मत में प्रमाणजन्य ज्ञान में अर्थवत्त्व का जो अनुमान होता है वही है अर्थ की अव्यभिचारिता, यथार्थत्व अथवा प्रमात्व। आगे इस ज्ञान के करण जिसमें अर्थवत्त्व का अनुमान होता है उसका करणत्व या जनकत्व ही प्रामाण्य है। ज्ञान विशेष में अर्थवत्त्व के अनुमान का हेतु होगा समर्थप्रवृत्तिजनकज्ञानत्व तथा अनेक स्थलों में तज्जातीयत्व। उदयनाचार्य ने विचारपूर्वक इस तज्जातीयत्व हेतु की व्याख्या की है। अदृष्टार्थक वेदवाक्यरूप शब्द प्रमाण में उसके प्रामाण्य का अनुमान करते समय यह तज्जातीयत्व हेतु होता है। दृष्टफल मन्त्र एवं आयुर्वेद आदि शास्त्रों का सजातीय शास्त्रवचन है। तात्पर्य यह है कि आप्तपुरुष प्रणीतत्व ही तज्जातीयत्व का अर्थ होता है। द्वितीय अध्याय के प्रथम आह्निक के अन्त में वेद के प्रामाण्य का अनुमान करते समय महर्षि गौतम स्वयं इस प्रकार के तज्जातीयत्व हेतु की सूचना देते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि ये परतःप्रामाण्यवादी हैं। इनके मत में वेद स्वतःप्रमाण नहीं है किन्तु उसका प्रामाण्य अनुमान से उपपन्न होता है। आगे प्रमाण पदार्थ की व्याख्या में तथा वेद के प्रामाण्य विचार के अवसर पर भिन्न-भिन्न अनेक प्रासंगिक बातें स्पष्ट होंगी।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

आशंका हो सकती है कि भाष्यकार द्वारा उक्त सुख-दुःख आदि अर्थ यदि जीव के लिए स्वाभाविक है तो वह सभी जीवों में समान रूप में उपलब्ध होगा और यदि वह स्वाभाविक नहीं है तो उसे काल्पनिक मानना होगा। इसके समाधान में भाष्यकार ने आगे कहा है – "सोऽयं प्रमाणार्थः इत्यादि"। यहाँ अर्थ पद प्रयोजन का वाचक है। व्याख्यान्तर का खण्डन करते हुए उद्योतकर ने वार्तिक में अपने मत का प्रकाशन करते हुए कहा है कि प्रमाण का प्रयोजन सुख-दुःख आदि अपरिगणनीय हैं। उस प्रसंग में कोई नियम नहीं बनाया जा सकता। यह नहीं कहा जा सकता कि जो किसी एक व्यक्ति के लिए सुख का हेतु होता है, वह सभी के लिए सुख का हेतु ही होगा। किसी के सुख का हेतु दूसरे के लिए दुःख का हेतु भी हो सकता है। सुख तथा दुःख आदि न तो स्वाभाविक हैं और न काल्पनिक ही, किन्तु मात्र नैमित्तिक हैं। जीवों के अनादिकाल से सञ्चित संस्कार रूप निमित्तों के भेद अथवा वैचित्र्य के आधार पर सुख-दुःख आदि की विचित्रता या भिन्नता उपपन्न होती है। अनुमान प्रमाण से सिद्ध है कि जो अनियत कारणों से उत्पन्न होते हैं वे अनियत ही होते हैं, उनमें कोई नियम नहीं होता।

वाचस्पति मिश्र ने – "प्रमाणम् अर्थवत्" – इस भाष्य वाक्य को द्व्यर्थक कहा है। द्वितीय पक्ष में इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि प्रमाण अन्यों की अपेक्षा से अधिक प्रयोजन विशिष्ट है। अतः महर्षि ने सबसे पहले प्रमाण का ही उल्लेख किया है। इस पक्ष में प्रयोजनबोधक अर्थ शब्द से अतिशायन अर्थ में मतुप् प्रत्यय करके अर्थवत् पद का प्रयोग हुआ है। भाष्यकार के पूर्वोक्त हेतु से प्रमाण पदार्थ की ऐसी प्रयोजनवत्ता भी सिद्ध होती है।

अर्थवति च प्रमाणे प्रमाता प्रमेयं प्रमितिरित्यर्थवन्ति भवन्ति। कस्मात्? अन्यतमापायेऽर्थस्यानुपपत्तेः तत्र यस्येप्साजिहासाप्रयुक्तस्य प्रवृत्तिः स प्रमाता। स येनार्थं प्रमिणोति तत् प्रमाणम्। योऽर्थः प्रमीयते तत् प्रमेयम्। यदर्थविज्ञानं सा प्रमितिः। चतसृषु चैवं विधासु तत्त्वं परिसमाप्यते।[८]

अनुवाद – प्रमाण के अर्थ का अव्यभिचारी होने पर ही प्रमाता, प्रमिति तथा प्रमेय अर्थ के अव्यभिचारी होते हैं। प्रमाण के प्रयोजन विशिष्ट होने पर प्रमाता, प्रमेय तथा प्रमिति भी प्रयोजन विशिष्ट होते हैं – यह व्याख्या पक्षान्तर में उपपन्न होती है। प्रश्न है कि

८ अनेक भाष्य पुस्तकों में "अर्थतत्त्वं परिसमाप्यते" ऐसा पाठ मिलता है। किन्तु पश्चात् भाष्यकार का वचन "किं पुनस्तत्त्वं" इस प्रकार का भाष्य प्रश्न देखा जाता है। इससे प्रतीत होता है कि "तत्त्वं परिसमाप्यते" यही पाठ भाष्यकार को अनुमत रहा होगा। जयन्त भट्ट की न्यायमञ्जरी में इसी प्रकार का सन्दर्भ उपलब्ध है। किसी भाष्य ग्रन्थ में भी यही पाठ है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

कैसे? उत्तर में कहा गया है कि अन्यतम के अर्थात् प्रमाण के अभाव में यतः अर्थ का यथार्थबोध नहीं होता। वहाँ प्राप्ति की अथवा त्याग की इच्छा से कृतयत्न पुरुष की प्रवृत्ति जो होती है वह पुरुष प्रमाता कहलाता है। वह प्रमाता जिससे पदार्थ को जानता है वह है प्रमाण। जो पदार्थ यथार्थ ज्ञान का विषय होता है उसे प्रमेय कहते हैं और पदार्थ-विषयक ज्ञान को प्रमिति। इस प्रकार पदार्थ के अव्यभिचारी इन चारों के होने पर तत्त्व परिसमाप्त होता है। (प्रमाण से तत्त्वज्ञान के होने पर उनमें ग्राह्य का ग्रहण, त्याज्य का त्याग और उपेक्षणीय की उपेक्षा व्यक्ति द्वारा की जाती है। इस तरह ग्रहण, त्याग एवं उपेक्षा से तत्त्व का पर्यवसान होता है।)

टिप्पणी – भाष्यकार ने आदि भाष्य में प्रमाण को अर्थ का अव्यभिचारी कहा है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि भाष्यकार की युक्ति के अनुसार प्रमाता, प्रमेय एवं प्रमिति ये तीनों भी तो अर्थ के अव्यभिचारी होते ही हैं तो भाष्यकार ने इसे क्यों नहीं कहा? इस शंका के निराकरण हेतु भाष्यकार कहते हैं – ''अर्थवति च प्रमाणे'' इत्यादि। इस वाक्य में ''च'' शब्द का अर्थ अवधारण होता है। ''अर्थवति च'' का आशय अर्थवत्येव पद से है। भाष्यकार का कहना है कि प्रमाण अर्थ के अव्यभिचारी होते हैं, क्योंकि प्रमाण के बिना पदार्थ का यथार्थबोध नहीं होता। प्रमाण से यथार्थबोध होने पर ही उस स्थल में प्रमाता, प्रमेय और प्रमिति रहते हैं। इसलिए इन तीनों को भी अर्थ का अव्यभिचारी माना गया है। इन चारों के बीच प्रमाण ही प्रधान है इसलिए उसको ही आदिभाष्य में अर्थ का अव्यभिचारी कहा गया है। इसी आधार पर प्रमाता, प्रमेय तथा प्रमिति को भी अर्थ का अव्यभिचारी समझना चाहिए।

भाष्य में अर्थवन्ति पद में पहले की तरह नित्ययोग अर्थ में मतुप् प्रत्यय समझना चाहिए । किसी के मत में यहाँ प्राशस्त्यार्थक मतुप् प्रत्यय है। प्रमाता आदि अर्थवान् है या नहीं यही इसका समीचीनार्थ है। इस मत में भी फलतः उनमें अर्थ की अव्यभिचारिता ही उपपन्न होती है। आदि भाष्यकार पक्षान्तर में व्याख्या करने से प्रमाण के प्रयोजन विशिष्ट अर्थ करने पर अर्थवन्ति पदघटक अर्थ पद का प्रयोजन अर्थ समझना चाहिए। यहाँ अतिशायन अर्थ में मतुप् प्रत्यय विहित है। अनुवाद में पक्षान्तर उपस्थित करके यह अर्थ भी व्याख्यात हुआ है। अभिप्राय यह है कि प्रमाण तत्त्वज्ञान आदि का सम्पादन करके जीवों को प्रयोजनीय विषयों में सफल प्रवृत्ति कराता हुआ अधिक प्रयोजन विधि विशिष्ट होता है और इसी आधार पर प्रमाता आदि भी प्रयोजन विशिष्ट होते हैं।

भाष्य में ''अन्यतमापाये'' इस स्थल में अन्यतम शब्द से पूर्वोक्त प्रमाण आदि चारों को यद्यपि लेना चाहिए तथापि उद्योतकर का कहना है कि प्रकरण के अनुसार यहाँ

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अन्यतम पद से प्रथमोक्त प्रमाण ही यहाँ विवक्षित है। प्रमाता आदि की अपेक्षा प्रमाण का विशेष प्रदर्शन ही यहाँ भाष्यकार का अभिप्रेत है क्योंकि भाष्यकार प्रमाण के प्राधान्य का समर्थन करना चाहते हैं। अतः अन्यतम शब्द से पूर्वोक्त प्रमाणरूप विशेष अर्थ ही यहाँ भाष्यकार का बुद्धिस्थ है।

प्रमाण से तत्त्व का ज्ञान होने पर उसमें सुखसाधनता यदि प्रतीत होती है तो व्यक्ति उसको ग्रहण करता है। किसी प्रतिबन्धकवश उसके ग्रहण नहीं हो सकने पर भी उस पदार्थ में ग्रहण की योग्यता माननी होगी। इसी प्रकार दुःख साधन समझकर उसका त्याग किया जाता है। किसी प्रतिबन्धकवश उसका त्याग नहीं हो सकने पर उसमें त्याग की योग्यता माननी होगी। जो सुख का साधन भी नहीं है और दुःख साधन भी नहीं उस पदार्थ की व्यक्ति उपेक्षा करता है। प्रमाण से तत्त्व को समझकर व्यक्ति यहीं तक अग्रसर होता है। अतः ग्रहण या ग्रहण की योग्यता, त्याग या त्याग की योग्यता एवं उपेक्षा में ही तत्त्व की परिसमाप्ति होती है। प्रमाणाभास से भ्रमज्ञान होने पर पूर्वोक्तरूप से ग्रहण आदि तो होंगे किन्तु उनमें तत्त्व का पर्यवसान नहीं होगा। क्योंकि प्रमाणाभास से तत्त्व का बोध नहीं होता अतः वहाँ तत्त्व का ग्रहण आदि भी नहीं होगा। तत्त्व के ग्रहण आदि के लिए प्रमाण, प्रमाता, प्रमेय एवं प्रमिति – यह चतुर्वर्ग आवश्यक है। इन चारों के रहने पर ही पूर्वोक्त प्रक्रिया से तत्त्व की परिसमाप्ति होती है।

किं पुनस्तत्त्वं? *सतश्च सद्भावोऽसतश्चासद्भावः*। सत्सदिति गृह्यमाणं यथाभूतमविपरीतं तत्त्वं भवति। असच्चासदिति गृह्यमाणं यथाभूतमविपरीतं तत्त्वं भवति।

अनुवाद – प्रश्न है कि यहाँ जो तत्त्वपरिसमाप्ति की बात कही गई है इसमें तत्त्व क्या है? इसके उत्तर में भाष्यकार का कहना है कि सत् पदार्थ का सद्भाव एवं असत् पदार्थ का असद्भाव तत्त्व कहलाता है। स्पष्टार्थ यह है कि सत् अर्थात् भाव पदार्थ सत् (भाव) रूप में यथाभूत है। इसका अविपरीत भाव से बोध होने पर वह तत्त्व होता है। इसी तरह असत् अर्थात् अभाव पदार्थ अभाव रूप में यथाभूत है इसका अविपरीत भाव से बोध होने पर वह तत्त्व होता है।

टिप्पणी – प्राचीन व्याख्याकारों की शैली रही है कि श्रोता का ध्यान आकृष्ट करके विशद बोध के लिए प्रश्न तथा उत्तर के रूप में विषय को समझाना। अतः भाष्यकार ने पूर्व में जो तत्त्व शब्द का प्रयोग किया था उसके अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिए स्वयं प्रश्न करते हैं "किं पुनस्तत्त्वम्?"

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

"तस्य भावः" इस अर्थ में तत्त्व शब्द निष्पन्न होता है। तत्त्व शब्द के अन्तर्गत तत्

शब्द का प्रतिपाद्य सत् एवं असत् पदार्थ होते हैं। सत् से भाव पदार्थ और असत् से भावभिन्न पदार्थ लिए जाते हैं। भावभिन्न पदार्थ ही अभाव पद से लिया जाता है। ''नास्ति'' इस बोध का विषय होता है अभाव और उसी को असत् पदार्थ कहते हैं। यहाँ असत् से जो अलीक पद से अभिप्रेत है वह पदार्थ नहीं हो सकता। जो प्रमाण से सिद्ध है वही पदार्थ कहलाता है। यह भाव तथा अभाव रूप दो भागों में विभक्त है। प्रमाण जिसको भाव पदार्थ के रूप में सिद्ध करता है वह है भाव पदार्थ। भावसाधक प्रमाण का विषय होना ही भाव का भावत्व है। अभाव पदार्थ में अभाव साधक प्रमाण की विषयता ही उसका असद्भाव या अभावत्व है। सद्भाव ही सत् पदार्थ का तत्त्व है एवं असद्भाव असत् पदार्थ का। यही यथाक्रम भाव एवं अभाव पदार्थ का स्वरूप है। इसके विपरीत रूप में भाव तथा अभाव के बोध होने पर उसे तत्त्वबोध नहीं कहा जा सकता। भाष्य में सत् इति तथा असत् इति इन दोनों स्थलों पर इति शब्द का अर्थ प्रकार होता है। सत् पदार्थ को सत् प्रकार से एवं असत् पदार्थ को असत् प्रकार से जानना ही तत्त्वज्ञान है।

तात्पर्य यह है कि प्राचीनों की दृष्टि में पदार्थ का स्वाभाविक धर्म ही तत्त्व है। स्वभावत: पदार्थ ज्ञान होने पर पदार्थ का तत्त्व भी ज्ञात होता है। यहाँ भाष्यकार ने पहले भाव एवं अभाव पदार्थों के भावत्व एवं अभावत्व को तत्त्व कहा है। पश्चात् भावत्व एवं अभावत्व के स्वाभाविक धर्म के रूप में ज्ञात होने पर भाव एवं अभाव पदार्थ भी तत्त्व के रूप में मान्य होगा ही। अभावत्व रूप में भाव पदार्थ एवं भावत्व रूप में अभाव पदार्थ के ज्ञात होने पर वह तत्त्व नहीं होगा। इसे समझाने के लिए ही भाष्यकार ने पहले भाव एवं अभाव के स्वाभाविक धर्मों को तत्त्व कहा है।

पश्चात् अन्यान्य विशेष विशेष भाव पदार्थ एवं विशेष विशेष अभाव पदार्थ भी अपने प्रमाणसिद्ध स्वाभाविक धर्म से युक्त रूप में ज्ञात होने पर तत्त्व होंगे ही – इसी में भाष्यकार का तात्पर्य है। भाष्य में सतश्च एवं असतश्च पदों में दो ''च'' शब्दों से भाव एवं अभाव रूप पदार्थ का द्वैविध्य सूचित होता है। इन दोनों में कोई अप्रधान नहीं है। भाव की तरह अभाव भी स्वतन्त्र पदार्थ है – यह आगे प्रतिपादित होता है।

भाष्य में ''यथाभूतमविपरीतम्'' इस स्थल में अविपरीत पद यथाभूत पद की व्याख्या है। भाष्य आदि प्राचीन ग्रन्थों में इस तरह स्वपद वर्णन एवं अनुव्याख्या देखी जाती है। स्वपद वर्णन भांष्य का लक्षण भी है – यह पहले कहा जा चुका है।

कथमुत्तरस्य प्रमाणेनोपलब्धिरिति? सत्युपलभ्यमाने तदनुपलब्धेः प्रदीपवत्। यथा दर्शकेन दीपेन दृश्ये गृह्यमाणे तदिव यन्न गृह्यते तन्नास्ति, यद्यभविष्यदिदमिव व्यज्ञास्यत, विज्ञानाभावान्नास्तीति। एवं प्रमाणेन यदि गृह्यमाणे तदिव यन्न गृह्यते

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

तन्नास्ति। यद्यभविष्यदिदमिव व्यज्ञास्यत, विज्ञानाभावान्नास्तीति। तदेवं सतः प्रकाशकं प्रमाणमसदपि प्रकाशयतीति। सच्च खलु षोडशधा व्यूढमुपदेक्ष्यते।

अनुवाद – भाव तथा अभाव नाम से दो प्रकार के तत्त्व मानने पर प्रश्न आता है कि प्रमाण से अभाव की उपलब्धि कैसे होती है? इसके उत्तर में कहना है कि जैसे प्रदीप से सत् पदार्थ उपलब्ध होता है उसी तरह असत् (अभाव) पदार्थ भी उपलब्ध होता है अर्थात् जो पदार्थ जहाँ नहीं है उस पदार्थ की उपलब्धि वहाँ नहीं होती। तात्पर्य यह है कि जैसे प्रदीप से दृश्य पदार्थ का भान दर्शक को होता है उसी तरह उसको अदृश्य पदार्थ का भान नहीं होता। यदि अदृश्य पदार्थ वहाँ रहता तो दृश्य पदार्थ की तरह प्रदीप से वह भी प्रतिभात होता अर्थात् ज्ञान का विषय होता। उपलब्धि के अभाव से विषय का अभाव उपपन्न होता है। फलतः प्रदीप की सहायता से व्यक्ति को अभाव की उपलब्धि होती है।

प्रमाण से किसी भाव पदार्थ के ज्ञात होने पर उसी प्रकार जो ज्ञान का विषय नहीं होता उसका अभाव सिद्ध होता है। यदि वह विषय रहता तो ज्ञान के विषय भाव पदार्थ की तरह वह भी ज्ञान का विषय होता। उपलब्धि के अभाव में उसका अभाव देखा जाता है। इस तरह प्रमाण से अभाव की भी उपलब्धि होती है। फलतः प्रदीप की तरह भाव पदार्थ का प्रकाशक प्रमाण अभाव पदार्थ का भी प्रकाशन करता है। (प्रथम सूत्र में) भाव पदार्थों के सोलह प्रकारों का संक्षेप में आगे उपदेश होगा।

टिप्पणी – जो प्रमाण से सिद्ध नहीं है उसे पदार्थ या तत्त्व नहीं कहा जा सकता। अभाव को चूँकि तत्त्व माना गया है अतः उसे प्रमाण से सिद्ध होना चाहिए। किन्तु प्रमाण से अभाव की उपलब्धि कैसे होगी? अभाव में किसी प्रमाण का अस्तित्व कैसे होगा? अतः अनेक सम्प्रदायों में अभाव मान्य नहीं है। यही कारण है कि भाष्यकार ने स्वयं प्रश्नोत्तर के रूप में प्रमाण से अभाव की उपलब्धि को समझाया है। भाष्यकार की मान्यता है कि अभाव प्रमाणसिद्ध पदार्थ है। जो प्रमाण भाव पदार्थ का प्रकाश करता है वही प्रमाण या तज्जातीय प्रमाण अभाव पदार्थ का प्रकाश भी करता है। अभाव पदार्थ को समझने के लिए प्रमाणान्तर की आवश्यकता नहीं है। भाष्यकार ने इसे समझाने के लिए प्रमाण के दृष्टान्त रूप में यहाँ प्रदीप को लिया है। प्रकाशन के लिए प्रदीप सर्वलोक सिद्ध है। प्रदीप से साधारण व्यक्ति भी भाव पदार्थ की तरह अभाव पदार्थ का निर्णय कर लेता है। घर से चोर के निकल जाने पर प्रदीप के प्रकाश में बालक भी समझ लेता है कि घर में कौनसी वस्तु है और कौनसी वस्तु नहीं है। जो वस्तु रहती है उसे वह देखता है जो वस्तु नहीं रहती है उसे नहीं देखकर समझ लेता है कि अमुक वस्तु नहीं है। नहीं है, यह समझना ही अभाव का ज्ञान है। इसका अनुभव

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

सभी को होता है। चूँकि ज्ञान सविषयक होता है, अतः इस ज्ञान का विषय अवश्य ही अभाव पदार्थ होगा। यथार्थ ज्ञान का विषय पदार्थ कहलाता है जो किसी प्रमाण से अवश्य सिद्ध होता है। निषेधात्मक बोध सर्वत्र भ्रम रूप में मान्य नहीं होगा। वस्तुतः भाव पदार्थ की तरह अभाव पदार्थ का भी यथार्थ ज्ञान होता है। तब इतना अवश्य है कि अभाव पदार्थ भाव का पराधीन होता है। भाष्य में निर्दिष्ट मार्ग से ही उसको समझा जा सकता है। उसे समझने के लिए अन्य उपाय नहीं है। हम लोग घट आदि भाव पदार्थों को देखकर वहाँ तज्जातीय अन्य पदार्थों को नहीं देखकर समझ जाते हैं कि अमुक पदार्थ यहाँ नहीं है, यदि होता तो उसे मैं अवश्य देखता। क्योंकि दर्शन के अभाव का कोई भी कारण नहीं है। अभिप्राय यह है कि प्रदीप की तरह भाव पदार्थ का प्रकाशक प्रमाण अभाव पदार्थ का भी प्रकाश करता है। अतः अभाव पदार्थ यदि प्रमाण से सिद्ध है तो उसे तत्त्व मानना ही होगा।

प्रश्न आता है कि अभाव यदि प्रमाणसिद्ध तत्त्व है तो महर्षि गौतम ने उसका उल्लेख क्यों नहीं किया? उनके प्रथम सूत्र में उक्त सोलह पदार्थों में अभाव तो है नहीं। भाष्यकार ने यहाँ अन्त में इसी का उत्तर कहा है – ''सच्च खलु षोडशधा व्यूढमुपदेक्ष्यते''। वार्त्तिककार प्रथम कल्प में भाष्यकार ने तात्पर्य की व्याख्या करते हुए कहा है कि अभाव पदार्थ का भाव पदार्थ के बिना स्वतन्त्र रूप से ज्ञान नहीं होता, अतः सूत्रकार ने पृथक् से अभाव पदार्थ का उल्लेख नहीं किया है। किन्तु भाव पदार्थ कहने से ही अभाव पदार्थ का भी बोध होता है। इस पक्ष में भाष्य के ''सच्च खलु'' इस सन्दर्भ में ''च'' एवं ''खलु'' शब्द से सत् पदार्थ का ही स्पष्टतः अवधारण होता है। ''सच्च खलु'' सदपि खलु अर्थात् भाव पदार्थ ही संक्षेप में सोलह प्रकार के होते हैं – यही भाष्य का अर्थ है। भाष्य के व्यूढ़ पद की व्याख्या संक्षेपतः की गई है। वार्तिक में उक्त है ''व्यूढ़ः संक्षेपः''।

वार्त्तिककार इसकी दूसरी व्याख्या भी करते हैं जहाँ सूत्र में अभाव पदार्थ की चर्चा का कथन है। वाचस्पति मिश्र ने इस व्याख्या का तात्पर्य कथन के समय कहा है –

> अथवा कथिता एव येषां तत्त्वज्ञानं निश्रेयसोपयोगि, ये तु न तथा न तेषां प्रपञ्चोऽनुपयुक्त भावप्रपञ्च इव वक्तव्यः।

अर्थात् वे ही पदार्थ यहाँ कहे गए हैं जो मोक्ष के उपयोगी हैं। उनमें अभाव पदार्थ भी है ही। बोध के अनुपयोगी अनेकभाव पदार्थ जैसे नहीं कहे गए उसी तरह उसके अनुपयोगी अभाव पदार्थ भी नहीं कहे गए हैं।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

उद्योतकरकृत द्वितीय कल्प की व्याख्या में ही तात्पर्याचार्य वाचस्पति मिश्र का स्वारस्य प्रतीत होता है। इनकी व्याख्या में ''च'' शब्द का अर्थ समुच्चय और ''खलु'' शब्द का अर्थ अवधारण यहाँ किया गया है। उक्त भाष्यसन्दर्भ के सच्च पद का सदपि तथा षोडशधा खलु का षोडशधैव इस तरह की व्याख्या की गई है। सत् पदार्थ अर्थात् भाव पदार्थ संक्षेप में सोलह प्रकार के होते हैं – यही इनका अभिप्राय है। सच्च पद के ''च'' शब्द से अभाव का भी समुच्चय होता है। अतः प्रतीत होता है कि न्यायसूत्रकार ने भावपदार्थ के साथ अभाव पदार्थ को भी कहा है। शृंग ग्राहिका रूप से भाव पदार्थों का तद्तद् व्यक्ति रूप में कथन असम्भव है। प्रत्येकभाव पदार्थ मोक्ष के उपयोगी भी नहीं होते; इसीलिए संक्षेप में सोलह प्रकारों के पदार्थों को न्यायसूत्रकार ने कहा है। इन पदार्थों के विशेष विभाग के अवसर पर निःश्रेयस के उपयोगी अभाव पदार्थों को भी उन्होंने कहा ही है, जैसे प्रमेयों के विभाग में अपवर्ग अभाव पदार्थ है। प्रयोजन के बीच समागत दुःखाभाव अभाव पदार्थ है। इस तरह के अनेक अभाव पदार्थों को उन्होंने कहा है। तात्पर्यपरिशुद्धि में उदयनाचार्य ने इस विषय का विशदरूप में उपपादन किया है।

वस्तुतः द्वितीय अध्याय के द्वितीय आह्निक में महर्षि गौतम ने प्रतिपादित किया है कि अभाव पदार्थ भी प्रमाणसिद्ध तत्त्व है। कणादसम्मत द्रव्य आदि पदार्थ भी इनको अनुमत है – नवम सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने इसे स्वयं कहा है। न्यायसूत्रकार ने प्रथम सूत्र में प्रमाण आदि सोलह पदार्थों से यह सिद्ध नहीं किया है कि वे केवल सोलह पदार्थवादी हैं। इनके मत में अन्य कोई पदार्थ संसार में हैं ही नहीं – ऐसा नहीं है। इनकी दृष्टि में संक्षेप से कहना है कि ये सोलह पदार्थ ही निःश्रेयस के उपयोगी हैं। अतः ये न्यायदर्शन के प्रतिपाद्य हैं। इन्होंने प्रथम सूत्र में पदार्थों की कोई संख्या निर्धारित नहीं की है। इनके मत में पदार्थ वही है जो किसी प्रमाण से सिद्ध हो। इसलिए गौतम मत के व्याख्याता नैयायिक सम्प्रदाय को अनियत पदार्थवादी कहा जाता है। न्यायलीलावतीकार वैशेषिकदर्शन के आचार्य वल्लभ ने भी कहा है – ''नैयायिकानामनियतपदार्थवादित्वेन विरोधाभावात् ''।

भाष्य – तासां खल्वासां सद्विधानां –

सूत्रम् – प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्त-अवयव-तर्क-निर्णय-वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभास-च्छल-जाति-निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेसाधिगमः।१.१.१।

अनुवाद – मोक्षोपयोगी ये भाव पदार्थ सोलह प्रकार के कहे गए हैं – (१) प्रमाण, (२) प्रमेय, (३) संशय, (४) प्रयोजन, (५) दृष्टांत, (६) सिद्धान्त, (७) अवयव,

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

(८) तर्क, (९) निर्णय, (१०) वाद, (११) जल्प, (१२) वितण्डा, (१३) हेत्वाभास (१४) छल, (१५) जाति तथा, (१६) निग्रह स्थान के तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस की प्राप्ति होती है।

टिप्पणी – इन सभी पदार्थों का तत्त्वज्ञान साक्षात् या परम्परा रूप से निःश्रेयस का उपयोगी होता है। अतः इन सोलह पदार्थों को महर्षि गौतम ने प्रथम सूत्र में कहा है। भाष्यकार ने भी उक्त भाष्य में इन सोलह भाव पदार्थों के उपदेश की बात कही है। यहाँ भाष्यकार महर्षि सूत्र का उल्लेख करके उन्हें दिखाने के लिए ''तासां खल्वासां सद्विधानां'' इस सन्दर्भ के द्वारा प्रथम सूत्र की अवतारणा करते हैं। इस सन्दर्भ के साथ सूत्रगत षष्ठी विभक्त्यन्त वाक्य की योजना (समन्वय) भाष्यकार को अभिप्रेत है। स्त्रीलिङ्ग विधा शब्द का अर्थ यहाँ प्रकार होना है। सूत्रगत प्रमाण आदि निग्रहस्थान पर्यन्त सोलह पदार्थ ''सद्विधा'' अर्थात् भाव पदार्थ के प्रकार हैं। ये सभी प्रकार साक्षात् या परम्परया मोक्ष के उपयोगी होते हैं। भाष्यकार ने ''तासां खलु'' इस पद से इस बात की सूचना दी है। ''तासां खलु'' का अर्थ ''तासामेव'' है। अर्थात् आगे जो मोक्षोपयोगी सोलह भाव पदार्थों का विचार होगा उनका संक्षेप में कथन रूप उद्देश्य यहाँ इस सूत्र में हुआ है। अभिप्राय यह है कि मोक्ष के उपयोगी इतने प्रकारों के ही भाव पदार्थ मान्य हैं। यहाँ सूत्र में उन पदार्थों का उल्लेख करके यही दिखाया गया है।

इसके लिए ही भाष्यकार ने ''तासां सद्विधानाम्'' कहा है।

भाष्य **– निर्देशे यथावचनं विग्रहः। सर्वपदार्थप्रधानो द्वन्द्वः समासः[१]। प्रमाणादीनां तत्त्वमिति शैषिकी षष्ठी। तत्त्वस्य ज्ञानं निःश्रेय-सस्याधिगम इति कर्मणि षष्ठ्यौ। त एतावन्तो विद्यमानार्थाः। एषाम-विपरीतज्ञानार्थमिहोपदेशः। सोऽयमनवयवेन तन्त्रार्थ उद्दिष्टो वेदितव्यः।**

अनुवाद – ''निर्देशे''अर्थात् आगे प्रमाण आदि पदार्थों के लक्षण तथा विभाग सूत्रों में जिस तरह के वचन (एकवचन, बहुवचन) हैं तदनुसार इस सूत्र में विग्रह अर्थात् द्वन्द्व समास का व्यासवाक्य करना होगा। यहाँ सर्व पदार्थ प्रधान द्वन्द्वसमास मान्य है। प्रमाण आदि का तत्त्व, इस स्थल में शैषिकी षष्ठी अर्थात् सम्बन्ध में षष्ठी मानना चाहिए। तत्त्व का ज्ञान और निःश्रेयस का अधिगम इन दोनों विग्रह वाक्यों में षष्ठी कर्म विहित है। इसलिए इन सोलह सत् पदार्थों के यथार्थ ज्ञान के लिए इस सूत्र में उनका उपदेश हुआ

---

[१] वार्त्तिककार उद्योतकर ने यहाँ पर ''सर्व'' पदार्थ उल्लेखपूर्वक व्याख्या की है तथा वाचस्पति मिश्र ने भी उसी पाठ का ग्रहण किया है। इससे ज्ञात होता है कि यही सही पाठ है। किन्तु बाद में मुद्रित किसी भाष्य पुस्तक में यहाँ ''चार्थे द्वन्द्वसमासः'' ऐसा पाठान्तर गृहीत है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

है। यही यहाँ (तन्त्रार्थ) अर्थात् न्यायशास्त्र का प्रतिपादन पदार्थ समूह इस सूत्र में सम्पूर्ण रूप से उद्दिष्ट अर्थात् नामोल्लेखपूर्वक कथित समझना चाहिए। (भाष्य में ''अनवयवेन'' का अर्थ साकल्येन है।)

टिप्पणी – प्रथम सूत्र का अर्थ समझने के लिए पहले इसमें समास का ज्ञान अपेक्षित है। भाष्यकार कहते हैं ''सर्वपदार्थप्रधानो द्वन्द्वःसमासः'' द्वन्द्वसमास में प्रत्येक पदार्थ प्रधान होता है। यहाँ बहुव्रीहि या कर्मधारय मानने पर अर्थ की सिद्धि नहीं होती। षष्ठी तत्पुरुष मानने पर भी काम नहीं चलेगा क्योंकि इसमें सबके अन्त में विद्यमान निग्रहस्थान ही प्रधान हो जाएगा। अतः यहाँ द्वन्द्वसमास समझना चाहिए। जिज्ञासा होती है कि द्वन्द्वसमास मानने पर इसका विग्रहवाक्य किस तरह से होगा? क्या सभी बहुवचनान्त होंगे या एकवचनान्त? इसके उत्तर में भाष्यकार ने पहले ही कहा है कि प्रमाण आदि पदार्थों के निर्देशक सूत्रों में अर्थात् आगे लक्षण तथा विभाग सूत्रों में जिस तरह के वचन का निर्देश हुआ है उसी तरह का विग्रहवचन इस प्रथम सूत्र में करना होगा। जैसे प्रमाण के विभाग सूत्र में अर्थात् तृतीय सूत्र में ''प्रमाणानि'' का प्रयोग हुआ है, अतः प्रथम सूत्र के प्रमाण पद का विग्रह प्रमाणानि होगा और प्रमेय के विभाग सूत्र में अर्थात् नवम सूत्र में ''प्रमेयम्'' पद का प्रयोग हुआ है अतः प्रथमसूत्रगत प्रमेय पद का विग्रहवचन प्रमेयम् होगा। अन्यत्र भी इसी तरह सूत्रनिर्दिष्ट वचन के अनुसार प्रथमसूत्रगत पदार्थ बोधक पदों का विग्रह करना होगा। जयन्त भट्ट ने यहाँ इसी तरह से कहा है। प्राचीनों के मत में भाष्य का अर्थ इसी तरह से किया जाता है। प्रकाशटीकाकार वर्धमान उपाध्याय ने भी ऐसा कहा है।

किन्तु तात्पर्यपरिशुद्धि में उदयनाचार्य कहते हैं कि निर्देश का अर्थ होता है पदार्थों का विभाग अर्थात् कौन-सा पदार्थ कितने प्रकार का है – इसका निर्देश। किसी सूत्र में वह कहा गया है। और किसी सूत्र में अनुक्त भी विभाग अर्थ की पर्यालोचना से ज्ञात होता है जिसे ''अर्थनिर्देश'' कहते हैं। इसके अनुसार प्रथम सूत्र में विग्रहवचन करना होगा। जैसे संशयसूत्र के अर्थ का पर्यालोचन करने पर ज्ञात होता है कि संशय तीन या पाँच प्रकार के हैं। अतः संशयसूत्र में एकवचनान्त संशयपद के रहने पर भी विग्रहवाक्य में यहाँ बहुवचनान्त ''संशयाः'' ही कहना होगा। दृष्टान्त के लक्षणसूत्र में एकवचनान्त दृष्टान्त पद के रहने पर भी विग्रहवाक्य में दृष्टान्तौ इस द्विवचनान्त पद का प्रयोग करना होगा। उदयनाचार्य ने इस तरह की व्याख्या में युक्ति का प्रदर्शन भी किया है। वृत्तिकार विश्वनाथ ने नव्य मत का समर्थन करते हुए कहा है कि सूत्र में प्रथम उपस्थित एकवचन के द्वारा ही विग्रह करना चाहिए।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

सूत्र में ''प्रमाण . . . निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानात्'' – इस वाक्य में षष्ठी विभक्ति शैषिकी है। शेष का अर्थ सम्बन्ध होता है। कर्त्तृत्व तथा कर्मत्व आदि छह प्रकार के कारकों से भिन्न केवल सम्बन्ध का बोधक शेष पद है। अतः सम्बन्धबोधक षष्ठी को शैषिकी षष्ठी कहते हैं। प्रमाण आदि सोलह पदार्थ सम्बन्धी जो तत्त्व हैं उनका ज्ञान ही प्रमाण आदि तत्त्वज्ञान है। अतः ''तत्त्वज्ञानात्'' इस समासात्मक वाक्य का एकदेशार्थ तत्त्व के साथ उक्त षष्ठी विभक्ति के अर्थ सम्बन्ध का अन्वय अपेक्षित है और वह हो भी जाएगा। क्योंकि कारक विभक्ति की तरह सम्बन्धार्थक षष्ठी विभक्ति के अर्थ का भी एकदेशान्वय व्यवहार के अनुसार स्वीकृत तथा सर्वसम्मत है। जैसे ''देवदत्तस्य गुरुकुलम्, रामस्य नाममहिमा'' इत्यादि प्रसिद्ध है। अतएव ''प्रमाणनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानात्'' इस प्रयोग में तत्त्व पद के प्रमाणादि पदों के साथ सापेक्ष रहने पर भी ''तत्त्वस्य ज्ञानम्'' ऐसा विग्रह करके तत्पुरुष समास करने में भी कोई बाधा नहीं है।

प्राचीन काल में किसी व्याख्याकार के सम्प्रदाय ने ''सापेक्षमसमर्थं भवति'' इस वैयाकरण के अनुशासन के अनुसार उक्त समास का प्रतिवाद किया है तथा ''तत्त्वज्ञान'' पद में कर्मधारय समास कहा है – यह बात जयन्त भट्ट की न्यायमञ्जरी में उपलब्ध है। इनके मत में तत्त्व शब्द का अर्थ है यथार्थ। तत्त्वज्ञान से यथार्थज्ञान अभिप्रेत है। किन्तु जयन्त भट्ट ने भाष्यकार की व्याख्या का समर्थन करते हुए इस अपव्याख्या का खण्डन किया है। इन्होंने आगे कहा है कि वैयाकरणों ने इस तरह के समास को स्वीकार किया है। इन्होंने महाभाष्य के आरम्भ में उक्त ''अथ शब्दानुशासनम्'' इस वाक्य में ''शब्दानामनुशासनम्'' इस तरह का विग्रहवाक्य प्रदर्शित किया है। कृत् प्रत्यय के योग में कर्म अर्थ में षष्ठी विभक्ति के होने पर भी ऐसे स्थलों में तत्पुरुष समास हो सकता है – ऐसा उपपन्न होता है। भाष्यकार ने भी ''तत्त्वस्य ज्ञानम्'' तथा ''निःश्रेयसस्याधिगमः'' इन दोनों विग्रहवाक्यों में षष्ठी विभक्ति का अर्थ कर्म माना है। क्योंकि ज्ञान का कर्मकारक है तत्त्व और अधिगम अर्थात् लाभ का कर्मकारक है निःश्रेयस। किसी पुस्तक में इस वचन के आगे ''गमकतया समासः'' ऐसा अतिरिक्त पाठ भी भाष्य में देखा जाता है। वार्त्तिक आदि ग्रन्थों में इस तरह की बात के नहीं रहने पर भी इस अतिरिक्त पाठ की सार्थकता है। वस्तुतः सापेक्ष शब्द होने पर भी उसका गमकत्व अर्थात् यहाँ ऐसा अन्वयबोध का जनकत्व रहने से उक्त तत्पुरुष समास हो सकता है। महाकाव्य की टीका में मल्लिनाथ ने भी लिखा है – ''सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात् समासः''।

आत्मादेः खलु प्रमेयस्य तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः। तच्चैतदुत्तरसूत्रेणानूद्यत इति। हेयं तस्य निर्वर्तकं, हानमात्यन्तिकम् तस्योपायोऽधिगन्तव्य इति। एतानि चत्वार्यर्थपदानि सम्यक् बुद्ध्वा निःश्रेयसमधिगच्छति।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अनुवाद – आत्मादि प्रमेयों के तत्त्वज्ञान से मोक्ष का लाभ होता है (अर्थात् महर्षि गौतम ने आत्मादि अपवर्ग पर्यन्त बारह प्रकार के पदार्थों को प्रमेय कहा है। इन सभी प्रमेयों के तत्त्वसाक्षात्कार से उन विषयों के मिथ्याज्ञान की निवृत्ति होती है, जो कि मोक्ष का साक्षात् कारण है।) यही बात द्वितीय सूत्र में कही गई है। (१) हेय (दुःख), उसका निर्वर्तक (उत्पादक) अर्थात् दुःख तथा दुःख का कारण, (२) आत्यन्तिक हान अर्थात् आत्यन्तिक दुःख निवृत्तिरूप मोक्ष का कारण तत्त्वज्ञान, (३) उसका उपाय अर्थात् शास्त्र तथा (४) ''अधिगन्तव्य अर्थात् लभ्य'' मोक्ष – इन चार अर्थ पदों के (पुरुषार्थ स्थान के) सम्यक् ज्ञान से मोक्ष का लाभ कोई भी कर सकता है।

टिप्पणी – प्रथम सूत्र में महर्षि ने प्रमाण आदि सोलह पदार्थों के तत्त्वज्ञान को मुक्ति का कारण कहा है, वह कैसे सम्भव होगा? इन सभी पदार्थों का तत्त्वज्ञान मुक्ति का साक्षात् कारण नहीं हो सकता अतएव भाष्यकार ने यहाँ महर्षि के तात्पर्य को स्पष्ट करते हुए कहा है कि इन सोलह पदार्थों में आत्मा आदि प्रमेय पदार्थों का तत्त्वसाक्षात्कार रूप में तत्त्वज्ञान ही मोक्ष का साक्षात् कारण है। यही तात्पर्य महर्षि का है, यह कैसे समझा जाए? प्रथम सूत्र से तो ऐसा ज्ञात नहीं होता अतएव भाष्यकार ने यहाँ कहा है कि द्वितीय सूत्र के द्वारा महर्षि ने इसी अभिप्राय का अनुवाद किया है। तात्पर्यटीकाकार ने इस प्रश्न को उठाते हुए कहा है कि आत्मा आदि प्रमेय के तत्त्वज्ञान में क्या कोई अदृष्ट शक्ति है जिससे वह ज्ञान मोक्ष का साक्षात् कारण होता है? इसी प्रश्न के निराकरण के लिए भाष्यकार ने यहाँ कहा है – ''तच्चैतदुत्तरसूत्रेणानूद्यते'', ''अनूद्यते पश्चादुच्यते''। आत्मा आदि प्रमेयपदार्थों का तत्त्वज्ञान कैसे मोक्ष का कारण होता है, यह द्वितीय सूत्र में आगे जाकर कहा गया है।

सप्रयोजन पुनरुक्ति को ही अनुवाद कहा जाता है। द्वितीय अध्याय के प्रथम आह्निक में वेद की प्रामाण्य परीक्षा के प्रकरण में महर्षि ने स्वयं इस बात को कहा है। प्रयोजनवश की गई शब्द की पुनरुक्ति तथा अर्थ की पुनरुक्ति, ये दोनों ही अनुवाद हैं। महर्षि ने प्रथम सूत्र में प्रमाण आदि पन्द्रह पदार्थों के साथ प्रमेय पदार्थ के तत्त्वज्ञान को मोक्ष का कारण कहा है। पुनश्च द्वितीय सूत्र में प्रमेय के तत्त्वज्ञान को मोक्ष का कारण कहने पर यद्यपि अर्थ की पुनरुक्ति यहाँ स्पष्ट प्रतीत होती है किन्तु महर्षि ने प्रयोजनवश पुनरुक्ति की है, अतः सोलह पदार्थों के मध्य प्रमेय पदार्थ का तत्त्वसाक्षात्कारात्मक तत्त्वज्ञान ही मोक्ष का साक्षात् कारण है – इसे समझाना ही इस अनुवाद का प्रयोजन है।

महर्षि गौतम ने द्वितीय सूत्र में जो कहा है वह उनका केवल अपना मत नहीं है अपितु मोक्षवादी सभी आचार्यों की इसमें सम्मति है, इसे समझाने के उद्देश्य से ही

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

भाष्यकार ने आगे की पंक्ति ''हेयम्'' आदि कही है। हेय का अर्थ होता है दुःख। योगदर्शन में महर्षि पञ्जलि ने ''हेयं दुःखमनागतम्'' कहा है। अनागत अर्थात् भविष्यत् दुःख की निवृत्ति सभी जीवों का काम्य है अतएव वह हेय होता है। इसके साथ ही दुःख के कारण अविद्या, तृष्णा, धर्म तथा अधर्म आदि भी हेय होते हैं। अन्यत्र हेय पद से दुःख तथा दुःख के हेतु दोनों का परिग्रह होता है। इस दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति रूप मोक्ष यहाँ सबसे अन्त में अधिगन्तव्य पद से कहा गया है ''हानमात्यन्तिकम्'' इस पद से दुःख हान या मोक्ष नहीं लिया जा सकता क्योंकि ऐसा मानने पर पुनरुक्ति दोष होगा। इसकी व्याख्या करते हुए उद्योतकर ने वार्तिक में कहा है कि मोक्ष का कारण है तत्त्वज्ञान। ''हीयतेऽनेन'' इस व्युत्पत्ति के अनुसार त्यागार्थक कहा है, धातु के करण अर्थ में अन प्रत्यय करने पर हान शब्द सिद्ध होता है। जिसका अर्थ होंता है कि जिससे दुःख का त्याग या निवृत्ति हो। आत्यन्तिक दुःख की निवृत्ति का कारण है तत्त्वज्ञान – इसे समझाने के लिए ही भाष्यकार ने ''हानमात्यन्तिकम्'' कहा है।

इसी का उपाय है तृतीय अर्थपद। वार्त्तिककार ने व्याख्या की है ''उपायः शास्त्रम्''। शास्त्र के बिना तत्त्वज्ञान सम्भव नहीं है। अतः शास्त्र तत्त्वज्ञान का उपाय होता है। इस तत्त्वज्ञान का फल है निःश्रेयस, वही अधिगन्तव्य अर्थात् प्राप्य है। महर्षि गौतम ने प्रथम सूत्र में केवल ''निःश्रेयसम्'' नहीं कहकर ''निःश्रेयसाधिगमः'' कहा है। अतएव इसके अनुसार भाष्यकार ने सबसे अन्त में अधिगन्तव्य पद से चतुर्थ अर्थपद मोक्ष को कहा है। अधिगन्तव्य पद का उपाय के विशेषण रूप में प्रयोग करना व्यर्थ है। प्रतीत होता है कि इस कारण से ही वार्त्तिककार उद्योतकर आदि ने यहाँ भाष्यकारोक्त हान शब्द की ऐसी व्याख्या की है। चतुर्थ अध्याय के द्वितीय आह्निक के आरम्भ में इन बातों का स्पष्टतः प्रतिपादन किया गया है। उस स्थल की भाष्यटिप्पणी में इन विषयों को तथा प्रसंगागत अन्य विषयों को भी अवश्य देखना चाहिए।

हेय, हान, उपाय तथा अधिगन्तव्य इन चारों को भाष्यकार ने ''अर्थपद'' शब्द से कहा है। वाचस्पति मिश्र ने उद्योतकर के ''अर्थपद'' शब्द की व्याख्या इस दूसरी तरह से की है। इन्होंने भाष्य के ''अर्थपद'' शब्द की व्याख्या में कहा है – ''अर्थपदानि पुरुषार्थस्थानानि'' यहाँ अर्थपद मुख्य प्रयोजन परमपुरुषार्थ अपवर्ग का वाचक है और पद शब्द का अर्थ है स्थान। उन चारों में अपवर्ग अधिष्ठित है अर्थात् उन उपायों के सम्यक् ज्ञान के बिना अपवर्ग का लाभ नहीं हो सकता इसीलिए ही उन सबों को ''अर्थपद'' शब्द से कहा गया है। मोक्षवादी सभी आचार्यों की यही मान्यता रही है। गौतम के द्वारा उक्त आत्मा आदि अपवर्ग पर्यन्त बारह प्रमेय पदार्थों का तत्त्वसाक्षात्कार मुक्ति का

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

साक्षात् कारण है, यह सबों को मान्य है। द्वितीय सूत्र में यह और अधिक स्पष्ट होगा।

यहाँ जिज्ञासा होती है कि प्रथम सूत्रगत निःश्रेयस शब्द से महर्षि का अभिप्रेत अर्थ क्या है? पाणिनीय व्याकरण के पञ्चम अध्याय के चतुर्थ पाद में ''अचतुर'' आदि सूत्र में निःश्रेयस शब्द क़ी व्युत्पत्ति की गई है ''निश्चितं श्रेयो निःश्रेयसम्''। मुक्ति ही निश्चित श्रेय है, इसलिए मुक्ति अर्थ में निःश्रेयस पद का अधिक प्रयोग होने पर भी कल्याण अथवा इष्ट अर्थ में भी निःश्रेयस पद का प्रयोग होता है।[१०] भाष्यकार ने भिन्न-भिन्न विद्याओं के ज्ञान से भिन्न-भिन्न निःश्रेयस की प्राप्ति करते हुए मुक्ति से भिन्न अभीष्ट अर्थ में भी निःश्रेयस पद का प्रयोग दिखाया है। वस्तुतः निःश्रेयस दो प्रकार का होता है – दृष्ट और अदृष्ट। वार्त्तिककार उद्योतकर ने इसे स्पष्ट कहा है। फलतः महर्षि गौतम के प्रथम सूत्रगत निःश्रेयस पद से मोक्षपर्यन्त सभी प्रकारों के निःश्रेयस को समझना चाहिए। किन्तु वाचस्पति मिश्र ने निःश्रेयस पद से केवल मोक्ष कहा है। इस विषय में अन्य बातें इस सूत्र के भाष्य के अन्त में कही जाएंगी।

तत्र संशयादीनां पृथग्वचनमनर्थकम्। संशयादयो हि यथासम्भवं प्रमाणेषु प्रमेयेषु चान्तर्भवन्तो न व्यतिरिच्यन्त इति। सत्यमेतत्, इमास्तु चतस्रो विद्याः पृथक् प्रस्थानाः प्राणभृतामनुग्रहायोपदिश्यन्ते, यासां चतुर्थीयमान्वीक्षिकी विद्या, तस्याः पृथक् प्रस्थानाः संशयादयः पदार्थाः, तेषां पृथग्वचनमन्तरेणाध्यात्मविद्यामात्रमियं स्यात् यथोपनिषदः। तस्मात् संशयादिभिः पदार्थैः पृथक् प्रस्थाप्यते।

अनुवाद – पूर्वपक्ष होता है कि इस सूत्र में संशय आदि पदार्थों का पृथक् उल्लेख निरर्थक है। क्योंकि संशय आदि पदार्थ यथासम्भव प्रमाण या प्रमेय समूह में अन्तर्भूत हो जाएगा। अतः उनको अतिरिक्त पदार्थ रूप में मानना संगत नहीं है। इसका उत्तर यह है कि बात सत्य है किन्तु भिन्न प्रस्थानों के रूप में ये चार विद्याएं (त्रयी, दण्डनीति, वार्त्ता तथा आन्वीक्षिकी) भिन्न-भिन्न प्रतिपाद्यों को कहती हुई मानवों पर अनुग्रह करने के लिए उपदिष्ट हुई हैं। इनमें चौथी आन्वीक्षिकी न्यायविद्या है। संशय आदि निग्रहस्थानपर्यन्त चौदह पदार्थ इस विद्या के असाधारण प्रतिपाद्य हैं। ये ही अन्य विद्याओं से न्यायविद्या की पृथक् प्रस्थानता सिद्ध करते हैं। संशय आदि पदार्थों के पृथक् उल्लेख के बिना यह न्यायविद्या उपनिषद् आदि की तरह केवल अध्यात्मविद्या ही रह जाएगी। इसलिए महर्षि गौतम ने संशय आदि पदार्थों का प्रतिपादन करके न्यायविद्या के पार्थक्य को प्रस्थापित किया है।

---

[१०] क्वचित्सहस्रैर्मूर्खाणामेकं क्रीणीत पण्डितम्।
पण्डितो ह्यर्थकृच्छ्रेषु कुर्यान्निःश्रेयस परम्॥ – महाभारत सभापर्व ५.३५

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

टिप्पणी – पूर्व पक्ष का तात्पर्य है कि प्रमेय पदार्थों के मध्य प्रमाण पदार्थ के रहने पर प्रमाणत्व रूप से प्रमेय का विशेष ज्ञान आवश्यक है। क्योंकि प्रमाण के ज्ञान के बिना प्रमेय का तत्त्वज्ञान सम्भव नहीं है। इसलिए प्रमाण का पृथक् उल्लेख आवश्यक है। किन्तु प्रथम सूत्रोक्त संशय आदि निग्रहस्थानपर्यन्त चौदह पदार्थों का यथासम्भव प्रमाण तथा प्रमेय पदार्थों में अन्तर्भाव कर लेना सम्भव होने से इन दो पदार्थों के कहने से ही सभी पदार्थों का कथन हो जाएगा। अतः संशय आदि चौदह पदार्थों का पृथक् उल्लेख करना व्यर्थ है। भाष्यकार ने यहाँ संशयादि पदार्थों के अन्तर्भाव की बात कहकर यथासम्भव प्रमाण में भी उनके अन्तर्भाव की बात कही है। इन पदार्थों में से यदि किसी का प्रमाण में अन्तर्भाव सम्भव है तो वह नहीं कहने पर अपने ही वाक्य की न्यूनता हो जाती। आगे जाकर विदित होगा कि निर्णय पदार्थ भी प्रमाण में ही अन्तर्भूत हो सकता है।

उत्तरपक्ष में भाष्यकार ने कहा है कि यद्यपि यह सत्य है कि संशयादि चौदह पदार्थ प्रमाण और प्रमेय से वस्तुतः भिन्न नहीं हैं तथापि त्रयी, दण्डनीति, वार्त्ता और आन्वीक्षिकी नामक ये चार विद्याएं मानवों के हित के लिए उपदिष्ट हुई हैं।[११] इन चारों विद्याओं का अपना-अपना स्वतन्त्र प्रस्थान असाधारणतः प्रतिपाद्य है – संशय आदि चौदह पदार्थ आन्वीक्षिकी विद्या के पृथक् प्रस्थान हैं। अतः इस विद्या में उन पदार्थों का विशेष रूप से प्रतिपादन उपेक्षित होने पर उनका पृथक् उल्लेख हुआ है। पृथक् उल्लेख के बिना इन पदार्थों का विशेष रूप से प्रतिपादन नहीं हो सकता उसके नहीं होने पर यह विद्या (आन्वीक्षिकी) चौथी विद्या नहीं हो सकती। त्रयी में ही इसकी गणना हो जाएगी और तब उपनिषद् आदि की तरह यह केवल अध्यात्मविद्या ही होकर रह जाएगी, जो कभी भी इष्ट नहीं है।

तात्पर्यटीकाकार वाचस्पति मिश्र यहाँ लिखते हैं – "प्रस्थानं व्यापारः"। उदयनाचार्य ने तात्पर्यपरिशुद्धि में इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि प्रपूर्वक स्था धातु से निष्पन्न प्रस्थान पद का अर्थ है – व्यापार। वर्धमान उपाध्याय परिशुद्धिप्रकाश में व्याख्या करते हैं "व्यापारो व्युत्पादनं तस्य धात्वर्थता, तद्विषयत्वं प्रत्ययार्थः"। अब प्रस्थान शब्द के अन्तर्गत धातु और कर्मवाच्य प्रत्यय के रहने से इसका अर्थ होता है कि उक्त समस्त पदार्थों के प्रतिपादन रूप व्यापार का विषय इस विद्या का या शास्त्र का असाधारण प्रतिपादन है। इस प्रस्थान भेद से ही विद्याओं में भेद होता है। इनमें त्रयी

---

[११] त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यात् दण्डनीतिं च शाश्वतीम्।
आन्वीक्षिकीं चात्मविद्यां वार्तारम्भाश्च लोकतः ॥ – मनुसंहिता ७.४३

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection.

विद्या का प्रस्थान है अग्निहोत्र तथा होम आदि। कृषि आदि शास्त्ररूप वार्त्ता विद्या का प्रस्थान है – हल तथा शकट आदि। दण्डनीति का प्रस्थान है – राजा तथा अमात्य आदि। आन्वीक्षिकी का प्रस्थान है – संशय आदि चौदह पदार्थ।

तात्पर्य यह है कि त्रयी विद्या आदि प्रस्थानों से न्यायविद्या का प्रस्थान भिन्न है। इसलिए यह त्रयी आदि विद्या नहीं है अपितु यह चौथी विद्या है। इसे समझाने के लिए ही संशय आदि पदार्थों का विशेष रूप से ज्ञान के लिए उनका पृथक् उल्लेख महर्षि ने यहाँ किया है। संशय आदि पदार्थों का पृथक् उल्लेख नहीं करने पर उनका स्वतन्त्र रूप से व्युत्पादन नहीं किया जा सकता था। न्याय के अंग रूप में मान्य संशय आदि पदार्थों का व्युत्पादन न्यायविद्या का ही व्यापार है। इस व्यापार भेद के कारण ही न्यायविद्या अन्य विद्याओं से भिन्न समझी जाती है। अतएव महर्षि ने संशय आदि पदार्थों का विचार करके न्यायविद्या को चौथी विद्या के रूप में प्रतिष्ठित किया है तथा संशय आदि पदार्थों के उल्लेख को सार्थक सिद्ध किया है। उस उल्लेख को अनर्थक नहीं कहा जा सकता। आगे यह बात और अधिक स्पष्ट होगी।

तत्र नानुपलब्धे न निर्णीतेऽर्थे न्यायः प्रवर्तते। किं तर्हि? संशयितेऽर्थे। यथोक्तं 'विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यां अर्थावधारणं निर्णयः' इति। विमर्शः संशयः, पक्षप्रतिपक्षौ न्यायप्रवृत्तिः। अर्थावधारणं निर्णयस्तत्त्वज्ञानमिति। स चायं किं स्विदिति वस्तुविमर्शमात्रमनवधारणज्ञानं संशयः प्रमेयेऽन्तर्भवन्नेवमर्थं पृथगुच्यते।

अनुवाद – अवधेय है कि अज्ञात पदार्थ में तथा निश्चित पदार्थ में न्याय की प्रवृत्ति नहीं होती है। (प्रश्न) तो क्या? (उत्तर) सन्दिग्ध पदार्थ में न्याय की प्रवृत्ति होती है। जैसे महर्षि गौतम ने कहा है – विमर्श के पश्चात् पक्ष और प्रतिपक्ष के द्वारा अर्थ का अवधारण निर्णय है (१.१.४१)। विमर्श से यहाँ संशय लिया जाता है तथा पक्ष और प्रतिपक्ष से न्याय की प्रवृत्ति। अर्थावधारणरूप निर्णय है तत्त्वज्ञान। अतः यह क्या है? इस तरह पदार्थ का केवल विमर्श अर्थात् अनिश्चयात्मक ज्ञानरूप संशय न्याय का अंग होने पर भी प्रमेय के प्रकार विशेष ज्ञान पदार्थ में अन्तर्भूत हो सकता है किन्तु यहाँ उसका पृथक् उल्लेख उसको न्याय प्रवृत्ति में मूल मानने के लिए किया गया है।

टिप्पणी – भाष्यकार ने यहाँ संशय आदि चौदह पदार्थों का यथाक्रम स्वरूप प्रदर्शन करते हुए न्यायविद्या में उनके पृथक् उल्लेख के कारण का समर्थन किया है। इनमें संशय की बात ही क्रम से पहले उपस्थित है। भाष्य में तत्र (तेषु मध्ये संशयः) इस तरह वाक्य योजना करनी होगी। सर्वथा अज्ञात पदार्थ में न्याय की प्रवृत्ति नहीं होती। निर्णीत पदार्थ में प्रयोजनाभाव के कारण ही न्याय की प्रवृत्ति नहीं होती। इससे विदित होता है कि

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

सामान्यतः ज्ञात किन्तु विशेष रूप से अज्ञात पदार्थ में न्याय की प्रवृत्ति होती है। पर्वत के ज्ञात रहने पर भी पर्वत में वह्नि है या नहीं – इस तरह का संशय होता है। जिस रूप से वह अनिर्णीत रहता है उसी रूप से उसमें संशय होता है। फलतः संदिग्ध पदार्थ में ही न्याय की प्रवृत्ति होती है, असंदिग्ध में नहीं। अतएव संशय को न्याय का अंग माना गया है। महर्षि गौतम ने इस बात को स्वयं कहा है – इसे दिखाने के लिए ही भाष्यकार ने निर्णय लक्षण सूत्र को यहाँ उद्धृत किया है। इस सूत्र में विमृश्य पद से संशय अभिप्रेत है। भाष्य में विमर्शः संशयः ऐसी पंक्ति भी मिलती है। सूत्र में पक्ष और प्रतिपक्ष पदों के उल्लेख से न्याय की प्रवृत्ति-अभिप्रेत है। इन दोनों पदों का यहाँ लाक्षणिक अर्थ किया गया है। तात्पर्य यह है कि निर्णय लक्षण सूत्र के द्वारा भी महर्षि गौतम ने संशय को न्याय की प्रवृत्ति का मूल कहा है।

अथ प्रयोजनं, येन प्रयुक्तः प्रवर्तते, तत्प्रयोजनम्। यमर्थमभीप्सन् जिहासन् वा कर्मारभते। तेनानेन सर्वे प्राणिनः सर्वाणि कर्माणि सर्वाश्च विद्याः व्याप्ताः। तदाश्रयश्च न्यायः प्रवर्तते।

कः पुनरयं न्यायः? प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः। प्रत्यक्षागमाश्रितमनुमानं, साऽन्वीक्षा, प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्यान्वीक्षणमन्वीक्षा। तया प्रवर्तते इत्यान्वीक्षिकी न्यायविद्या न्यायशास्त्रम्। यत्पुनरनुमानं प्रत्यक्षागमविरुद्धं न्यायाभासः स इति।

अनुवाद – इसके बाद यहाँ प्रयोजन कहा गया है। जिसके लिए प्रयत्नशील होकर जीव प्रवृत्त होता है, वह है प्रयोजन। स्पष्टार्थ यह है कि किसी पदार्थ को पाने या छोड़ने की इच्छा से जो काम किया जाता है वही है प्रयोजन। यह सभी प्राणी, सभी क्रियाओं तथा सभी विद्याओं में व्याप्त है अतएव ये सभी सप्रयोजन कहलाते हैं। और उस प्रयोजन का आश्रय करके न्याय की प्रवृत्ति होती है। प्रश्न आता है कि यह न्याय क्या है? इसके उत्तर में भाष्यकार ने कहा है कि सभी प्रमाणों से अर्थात् पञ्चावयव प्रतिज्ञा आदि से अर्थ की परीक्षा ही न्याय है। प्रत्यक्ष और आगम का आश्रय करके अर्थात् उसका अविरोधी अनुमान है अन्वीक्षा अर्थात् उक्त अनुमान रूप न्याय को ही अन्वीक्षा कहा गया है। प्रत्यक्ष और आगम से ईक्षित अर्थात् ज्ञात पदार्थ का परीक्षण, अन्वीक्षण है अन्वीक्षा। फलतः न्याय, अन्वीक्षा और परीक्षा एक ही पदार्थ है। इस अन्वीक्षा के निमित्त प्रवृत्त अर्थात् प्रकाशित करने वाली विद्या कहलाती है आन्वीक्षिकी। इस व्युत्पत्ति के बल पर आन्वीक्षिकी पद से न्यायविद्या या न्यायशास्त्र समझा जाता है। जो अनुमान प्रत्यक्ष तथा आगम से विरुद्ध होता है उसे न्यायाभास कहते हैं।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

टिप्पणी – प्रथम सूत्र में संशय के बाद प्रयोजन का उल्लेख हुआ है। अतः भाष्यकार यहाँ ''अथ प्रयोजनम्'' कहते हैं। इसके पहले उक्त ''पृथगुच्यते'' वाक्य का अनुसंग भाष्यकार को यहाँ अभिप्रेत है। ''प्रयुज्यतेऽनेन'' इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रयोजन पद से जीव के कर्मों का प्रयोजक समझा जाता है। प्रवर्तते पद से भाष्यकार ने कर्म आरभते की व्याख्या की है और इसके पहले उक्त प्रयुक्त पद का अर्थ इच्छाजन्य प्रयत्नरूप प्रवृत्ति कहा है। जीवों की इच्छा ज्ञानविशेष से उत्पन्न होती है और उस इच्छाविशेष से उत्पन्न होती है प्रयत्नरूप प्रवृत्ति और इस प्रवृत्ति से चेष्टारूप प्रवृत्ति का जन्म होता है। आदि भाष्य में प्रवृत्ति शब्द का अर्थ भाष्यकार ने समीहा किया है और उसके पहले प्रयुक्त शब्द का प्रयोग किया है यहाँ उसका स्मरण करना आवश्यक है। प्राचीन काल में बहुतों ने चतुर्वर्ग को अर्थात् धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष को प्रयोजन पदार्थ के रूप में लिया है। किन्तु उद्योतकर ने अपने वार्तिक में सुखप्राप्ति और दुःखनिवृत्ति को मुख्य प्रयोजन माना है। क्योंकि जीवों के सभी कर्मों के मूल प्रयोजक ये दो ही हैं। इसलिए इन दोनों की प्राप्ति हेतु जीव प्रयत्नशील रहता है। उक्त प्रयोजनों के उपाय गौण प्रयोजन हैं। भाष्यकार ने त्याज्य पदार्थ को भी प्रयोजन माना है। क्योंकि दुःख और दुःख के हेतु त्याज्य पदार्थ हैं, उनके परित्याग के लिए इच्छापूर्वक कर्मों में जीवों की प्रवृत्ति होती है। वह त्याज्य पदार्थ जीवों के प्रयत्न का प्रयोजक होने से प्रयोजन कहलाता है।

प्रयोजन आदि पदार्थ प्रमेय पदार्थों में यथासम्भव अन्तर्भूत हो सकते थे, अतः भाष्यकार ने प्रथम सूत्र में उसका पृथक् उल्लेख करने का कारण कहा है कि प्रत्येक कर्म तथा प्रत्येक विद्या सप्रयोजन है; निष्प्रयोजन न तो कोई कर्म होता है और न ही कोई विद्या। अतः न्यायशास्त्र में प्रयोजन पदार्थ का पृथक् उल्लेख अवश्य व्युत्पाद्य होने से आवश्यक है। वादी मध्यस्थों के बीच न्याय का प्रयोग करता है जिसका आश्रय है प्रयोजन। ''तत् प्रयोजनम् आश्रयो यस्य'' इस तरह विग्रह करने पर बहुव्रीहि समास के द्वारा प्रयोजन पदार्थ न्याय का आश्रय सिद्ध होता है। आश्रय का अर्थ उपकारक होता है। वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि जैसे विद्वान् राजाश्रित होता है अर्थात् राजा विद्वान् का उपकारक रूप आश्रय होता है उसी तरह न्याय भी होता है। प्रयोजन के बिना न्याय की प्रवृत्ति नहीं होती। वादी अपने निश्चित सिद्धान्त में प्रतिवादी के द्वारा विवाद उपस्थित होने पर मध्यस्थ को संशयालु देखकर उसके संशय की निवृत्ति के लिए न्याय का प्रयोग करता है। किसी प्रयोजन के बिना न्याय का प्रयोग कोई भी करता नहीं है। अतः मध्यस्थ का संशय तथा न्याय प्रयोग का प्रयोजन न्याय का पूर्वांग होता है। इसलिए न्यायशास्त्र में संशय और प्रयोजन पदार्थ का पहले प्रतिपादन करना आवश्यक है। इसी दृष्टि से संशय के बाद प्रयोजन पदार्थ का उल्लेख महर्षि ने यहाँ किया है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अब प्रश्न आता है कि वह न्याय क्या है जिसके पूर्वांग के रूप में संशय और प्रयोजन को यहाँ कहा गया है। इसके उत्तर में भाष्यकार ने कहा है ''प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः''। मध्यस्थ के समक्ष वादी अपने सिद्धान्त के प्रतिपादन हेतु जिस अनुमान का प्रदर्शन करता है उसे परार्थ अनुमान कहते हैं। इसमें यथाक्रम प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन नामक पाँच अवयव वाक्यों के समुदाय का प्रयोग होता है। अतः यह वाक्यसमुदाय तथा परार्थ अनुमान ये दोनों ही न्याय पद कहे जाते हैं। बहुत से विद्वान् इस वाक्य समुदाय को ही परार्थ अनुमान कहते हैं। भाष्यकार ने यहाँ ''प्रमाणैः'' इस बहुवचनान्त पद से उक्त प्रतिज्ञा आदि पञ्चावयवरूप न्याय वाक्य प्रमाण नहीं है तथापि इसके मूल में न्यायविद्या में उक्त प्रत्यक्ष आदि चारों प्रमाण अवश्य विद्यमान हैं। इसी तात्पर्य से भाष्यकार ने ''प्रमाणैः'' इस बहुवचनान्त पद से प्रमाणमूलक पञ्चावयव वाक्यों का ग्रहण किया है अर्थात् पञ्चावयव वाक्यों में सभी प्रमाणों का व्यापार विद्यमान है। उद्योतकर ने वार्त्तिक में इसकी पुष्टि की है – ''समस्तप्रमाणव्यापारादर्थाधिगतिर्न्यायः'' । आगे अवयवपदार्थ की व्याख्या में यह अधिक स्पष्ट होगा।

वाचस्पति मिश्र ने भाष्य के अर्थपरीक्षा पद की व्याख्या में कहा है ''अर्थस्य लिङ्गस्य परीक्षणं परीक्षा'' । अर्थात् प्रतिज्ञा आदि वाक्यों से अर्थ की अर्थात् हेतु की परीक्षा ही न्याय है। वादी किसी साध्य के साधन के लिए हेतु का ग्रहण कर अनुमान प्रदर्शित करता है और वह अनुमान ही हेतु की परीक्षा है अर्थात् उससे निर्णीत होता है, परीक्षित होता है कि हेतु उस साध्य का साधक है। इस हेतु-परीक्षा का फल है साध्य की सिद्धि। साध्यरूप अर्थ की परीक्षा या निर्णय को न्याय मानने पर उसका फल नहीं कहा जाएगा। न्याय के फल को न्याय नहीं कहा जा सकता। अतः भाष्य के अर्थ पद से यहाँ अनुमान का अभिप्रेत हेतु समझना चाहिए। किन्तु भाष्यकार तृतीय सूत्र के भाष्य में अनुमेय पदार्थ को लिंगी अर्थात् अर्थ कहा है। इससे सिद्ध होता है कि अनुमान प्रमाण से साध्य या प्रतिपाद्य पदार्थ की परीक्षा (निर्णय) ही अर्थपरीक्षा है, यही भाष्यकार का तात्पर्य प्रतीत होता है। किन्तु ''नीयते प्राप्यते विवक्षितार्थसिद्धिरनेन'' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिससे विदित अर्थ की सिद्धि अर्थात् निश्चय किया जा सके वह न्याय है। नि पूर्वक इण् धातु से करण में घञ् प्रत्यय करने पर न्यायपद उपपन्न होता है जिसका पर्याय परीक्षण, परीक्षा, अन्वीक्षा तथा अन्वीक्षा पद है। सुधीगण वाचस्पति मिश्र की इस व्याख्या पर विचार करेंगे।

भाष्यकार ने इस न्याय का स्वरूप प्रकाशित करते हुए कहा है ''प्रत्यक्षागमाश्रितमनुमानम्'' । उद्योतकर ने यहाँ आश्रित शब्द का फलितार्थ अविरोधी कहा है। भाष्यकार ने प्रत्यक्ष और आगम के विरोधी अनुमान को न्यायाभास कहते हुए उन दोनों के अविरोधी

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अनुमान को न्याय कहा है। ''न्यायवत् आभासते प्रकाशते'' इस प्रकार व्युत्पत्ति करने पर ज्ञात होता है कि जो न्याय नहीं है किन्तु न्याय की तरह प्रकाशित होता है वह न्यायाभास है। इससे यदि किसी को भ्रमात्मक अनुमिति हो तो उसका करण अनुमान प्रमाण नहीं होगा अपितु वह अनुमानाभास कहलाएगा। जो अनुमान प्रत्यक्ष तथा आगम का अविरोधी होता है वही है यथार्थतः न्याय। प्रमाणमूलक पञ्चावयवों के प्रयोग से जो अनुमान प्रमाण होगा वह प्रत्यक्ष और आगम प्रमाण का अविरोधी होगा ही। सर्वत्र ही पञ्चावयवों का प्रयोग करना चाहिए अन्यथा न्याय नहीं होगा – ऐसा भाष्यकार का तात्पर्य नहीं है। क्योंकि मध्यस्थहीन वादविचार में गुरु तथा शिष्य के द्वारा पञ्चावयव वाक्यों का प्रयोग नहीं करने पर भी प्रमाण के द्वारा तत्त्व का निर्णय होता है – यह भाष्यकार ने स्वयं कहा है। (वादलक्षणसूत्र का भाष्य यहाँ द्रष्टव्य है)।

अभिप्राय यह है कि भाष्यकार ने उसी अनुमान प्रमाण को न्याय कहा है जो सभी प्रमाणों का अविरोधी होता है अर्थात् किसी प्रबल प्रमाण से बाधित नहीं होता है। पश्चात् इसी न्याय को यहाँ अन्वीक्षा कहा गया है। अनु शब्द का अर्थ होता है पश्चात् और ईक्ष धातु का अर्थ होता है ज्ञान। जिससे पश्चात् ज्ञान हो इस व्युत्पत्ति के अनुसार अन्वीक्षा पद से अनुमान प्रमाण ही ज्ञात होता है। किन्तु अन्वीक्षा पद की यह केवल व्युत्पत्ति है। भाष्यकार ने इस व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ की व्याख्या करते हुए कहा है कि प्रत्यक्ष तथा आगम से ज्ञात विषय का जिससे पश्चात् ज्ञान होता है उस अन्वीक्षण को ही उक्त अर्थ में अन्वीक्षा कहा गया है। जैसे अनुमान प्रमाण द्वारा निर्णीत पदार्थ का प्रत्यक्ष तथा आगम प्रमाण से उसी रूप में समझने पर वह ज्ञान दृढ़तर होता है। उसी प्रकार प्रत्यक्ष तथा आगम प्रमाण से किसी पदार्थ का ज्ञान होने पर पुनः अनुमान प्रमांण से उसी रूप में उसका ज्ञान होने पर वह ज्ञान दृढ़तर होता है। अतएव वादी यदि प्रत्यक्ष तथा आगम प्रमाणों से सिद्ध पदार्थ को अनुमान प्रमाण से उपपन्न कर लेता है तो यह पदार्थ चूँकि अनेक प्रमाणों से सिद्ध है अतः उस विषय में विवाद नहीं होता। विप्रतिपन्न व्यक्ति भी इस सिद्धान्त को समझ लेता है। वादियों के न्याय प्रयोग का यही मुख्य उद्देश्य है। आगे यह और स्पष्ट होगा।

वस्तुतः प्रत्यक्ष तथा आगम के द्वारा ईक्षित पदार्थ के अन्वीक्षण को अन्वीक्षा कहकर भाष्यकार ने अन्वीक्षा शब्द की केवल व्युत्पत्ति का प्रदर्शन किया है। इससे प्रत्यक्ष तथा आगम के अविरोधी अनुमान प्रमाण ही न्याय है – यही भाष्यकार का अभिप्राय है। भाष्यकार ने आन्वीक्षिकी शब्द की व्युत्पत्ति दिखाने के लिए पहले अन्वीक्षा शब्द की व्युत्पत्ति का प्रदर्शन किया है। ''अन्वीक्षया प्रवर्तते'' इस व्युत्पत्ति के अनुसार अन्वीक्षा

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

शब्द से तद्धित प्रत्यय करने पर आन्वीक्षिकी पद निष्पन्न होता है। ''कन्यया शोकः'' इस प्रयोग में जैसे कन्या शब्द से हेतु अर्थ में तृतीया विभक्ति का प्रयोग हुआ है इसी तरह ''अन्वीक्षया प्रवर्तते'' इस स्थल में भी हेतु अर्थ में तृतीया विभक्ति का प्रयोग हुआ है, इससे ज्ञात होता है कि अन्वीक्षा पद न्यायशास्त्र के प्रकाशन का हेतु है। अर्थात् उक्त अनुमान रूप अन्वीक्षा निर्वाह के लिए इन समस्त पदार्थों का ज्ञान आवश्यक है, जो इस न्यायशास्त्र से ही सम्भव है। अतएव न्यायशास्त्र इस अन्वीक्षा के निर्वाह के लिए प्रवृत्त है अर्थात् अन्वीक्षा हेतुक है इसलिए इसका नाम आन्वीक्षिकी है। आन्वीक्षिकी शब्द से उक्त प्रकार से व्युत्पत्ति के अनुसार न्यायविद्या या न्यायशास्त्र परिगृहीत होता है और इसे समझाने के लिए भाष्यकार ने इसका अर्थ करते हुए कहा है ''न्यायविद्या न्यायशास्त्रम्''। आन्वीक्षिकी, न्यायविद्या तथा न्यायशास्त्र तीनों समानार्थक हैं। कोषकार अमरसिंह ने आन्वीक्षिकी शब्द का अर्थ तर्कविद्या कहा है। किन्तु भाष्यकार के मत में वह केवल तर्कविद्या या न्यायविद्या नहीं है। उपनिषद् की तरह केवल अध्यात्मविद्या न होकर भी यह न्यायविद्या अध्यात्म अंश में अध्यात्मविद्या ही है। इस सूत्र के भाष्य के अन्त में भाष्यकार ने स्वयं ऐसा कहा है जो अवसर आने पर ज्ञात होगा।

प्रत्यक्षविरुद्ध न्यायाभास का उदाहरण

वादी यदि ''अग्निरनुष्णः कार्यत्वात् जलवत्'' इत्यादि वाक्य के द्वारा अनुमान करता है तो वह अनुमान प्रत्यक्षविरुद्ध होने से न्यायाभास है। क्योंकि त्वगिन्द्रिय से अग्नि का उष्णस्पर्श प्रत्यक्षसिद्ध है और इस प्रत्यक्ष के प्रामाण्य के विषय में किसी प्रकार का सन्देह नहीं है। इस निश्चित प्रामाण्य के आधार पर बलवत्तर होकर प्रत्यक्ष प्रमाण अग्नि में अनुष्णत्व के साधक अनुमान का बाध करता है। अग्नि में प्रत्यक्षसिद्ध उष्णत्व की यथार्थ अनुमिति नहीं हो सकती। अग्नि में अनुष्णत्व अनुमान का विषय ही नहीं है। अतएव उद्योतकर ने अनुमान के अविषय पदार्थ में अनुमान प्रयोग को यहाँ प्रत्यक्ष विरोध कहा है। यहाँ अन्य दोनों के रहने पर भी हेतु में प्रत्यक्ष बाधरूप दोष ही प्रतिवादी दिखाएगा अन्यथा इस हेतु में व्यभिचार दोष भी पहले नहीं सिद्ध किया जा सकता। किन्तु यहाँ बाधदोष से हेतु के दूषित होने पर अन्य दोष का प्रदर्शन व्यर्थ है। तात्पर्यपरिशुद्धि में उदयनाचार्य ने इस विषय में पूरा विचार करके यही बात कही है। अन्त में इन्होंने दृष्टान्त रूप में कहा है कि ''न हि मृतोऽपि मार्यते''। पहले प्रत्यक्षबाध से ही अनुमान के खण्डित हो जाने पर अन्य दोषों का प्रदर्शन व्यर्थ है। कोई भी मृत को मारने नहीं जाता।

महायान बौद्ध सम्प्रदाय के प्रतिष्ठित नैयायिक दिङ्नाग ने अपने ग्रन्थ न्यायप्रवेश में प्रत्यक्षविरुद्ध न्यायाभास का उदाहरण कहा है – ''अश्रावणः शब्दः कार्यत्वात्

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

घटवत्''। किन्तु वार्त्तिककार उद्योतकर ने इसका खण्डन करने के लिए कहा है कि ऐसा उदाहरण जिसने प्रस्तुत किया है वो तो प्रत्यक्ष के विषय पदार्थ को नहीं जानते और अनुमान के विषय पदार्थ को भी नहीं जानते हैं। क्योंकि श्रावणत्व कहने से श्रवणेन्द्रिय की वृत्ति ज्ञात होती है। किन्तु इन्द्रियों की वृत्तियाँ अतीन्द्रिय होती है। अभिप्राय यह है कि श्रवणेन गृह्यते इस व्युत्पत्ति के अनुसार श्रवण शब्द से तद्धित प्रत्यय करने पर श्रावण शब्द निष्पन्न होता है और उसका अर्थ होता है श्रवणेन्द्रिय से ग्राह्य। तद्धित प्रत्ययान्त इस श्रावण शब्द से त्व प्रत्यय करने पर उसका अर्थसम्बन्ध ज्ञात होता है। क्योंकि वार्त्तिककार कात्यायन मुनि ने ''कृत्तद्धितसमासेषु सम्बन्धामिधानं त्वतल्भ्याम्'' कहा है। श्रावणत्व शब्द का अर्थ है श्रवणेन्द्रिय की वृत्ति। किन्तु आकाशस्वरूप श्रवणेन्द्रिय होगा, वह लौकिक प्रत्यक्ष योग्य नहीं है। अतएव अग्नि में उष्णत्व जैसे प्रत्यक्षसिद्ध है इस तरह शब्द में श्रावणत्व प्रत्यक्षसिद्ध नहीं है, तब शब्द में श्रावणत्वाभाव का अनुमान कभी भी प्रत्यक्षविरुद्ध न्यायाभास का उदाहरण नहीं हो सकता। अनुमान के धर्मी में अनुमेय पदार्थ का अभाव प्रत्यक्षसिद्ध रहने पर उस अनुमान को प्रत्यक्षविरुद्ध कहा जाता है। शब्द का श्रावणत्व ऐसा नहीं है जिससे शब्द में उसको प्रत्यक्ष से सिद्ध कहा जाए। श्लोकवार्त्तिक के अनुमान परिच्छेद में दिङ्नाग के इस उदाहरण का खण्डन करते हुए कुमारिल भट्ट ने कहा है – ''न हि श्रावणता नाम प्रत्यक्षेणावगम्यते''।

आगमविरुद्ध न्यायाभास का उदाहरण

कापालिक सम्प्रदाय कहता है – ''नरशिरः कपालं शुचि, प्राण्यङ्गत्वात् शंखवत्'' यह अनुमान वैदिक सम्प्रदाय के समक्ष प्रस्तुत करता है। मृत मनुष्य का शिरः कपाल पवित्र है क्योंकि वह प्राणी का अंग है जैसे शंख। वैदिक सम्प्रदाय भी मृत प्राणी के अंग शंख को पवित्र मानता है। अतएव कापालिक सम्प्रदाय शंख को दृष्टान्त मानकर मृत मनुष्य के शिरः कपाल में पवित्रता का अनुमान करता है। यह सम्प्रदाय वेद, स्मृति तथा पुराण आदि शास्त्रों को नहीं मानता, इनका आश्रित तन्त्रशास्त्र भिन्न ही है। उद्योतकर ने इनके इस उदाहरण का उल्लेख करके समझाया है कि इनका सम्प्रदाय भी प्राचीन रहा है तथा इनमें भी विचार पटु विद्वान् रहे हैं जिन्होंने वैदिक विद्वानों के साथ शास्त्र चर्चा की है। इन्होंने नरशिरः कपाल को पवित्र मानकर दैनिक व्यवहार में लाते हुए अर्थात् उसमें पान तथा भोजन करते हुए कापालिक नाम से प्रसिद्धि पाई है। तात्पर्यटीका में वाचस्पति मिश्र ने इनके मतों के समर्थन में विभिन्न बातें कहते हुए उत्तर दिया है कि केवल शास्त्र से ही सर्वत्र धर्म का निर्णय नहीं होता। अनेक क्षेत्रों में धर्म का निर्णय आचार के आधार पर भी किया जाता है। इस विषय में दाक्षिणात्यों के आचारविशेषों को दृष्टान्त रूप में लेकर

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

कहा है कि इसी तरह मृत मानव का शिरः कपाल में पान भोजन आदि करना आचार हमारे सम्प्रदाय में चिरकाल से प्रचलित एवं अनिन्दित है, अतएव वह मेरा धर्म है। तात्पर्यपरिशुद्धि में उदयनाचार्य ने भी इस विषय में विचार किया है। तात्पर्य यह है कि कापालिकों के ये सभी आचार शास्त्रविरुद्ध हैं। वेद तथा वेदमूलक शास्त्रों का प्रामाण्य अवश्य स्वीकार्य है। धर्म के विषय में आचार की अपेक्षा शास्त्र अधिक बलवान प्रमाण होता है। अतएव व्यक्तिविशेष या सम्प्रदायविशेष का आचार यदि शास्त्रविरुद्ध सिद्ध होता है तो उसे सदाचार के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। उस आचार से धर्म का निर्णय नहीं हो सकता। वेदमूलक मनुस्मृति आदि शास्त्रों में मृतमानव के अस्थिस्पर्शकर्ता के लिए प्रायश्चित का विधान किया गया है। उक्त स्पर्श पापजनक होने से अकर्त्तव्य है, यही शास्त्र से सिद्ध होता है। अतः कापालिकों का वह अनुमान आगमविरुद्ध न्यायाभास है।

''कथमिदमागमविरुद्धम्'' उक्त अनुमान शास्त्रविरुद्ध कैसे है? इसके उत्तर में उद्योतकर ने कहा है कि ''नरशिरः कपालं शुचि'' इस अनुमान में पहले यह कहना आवश्यक होगा कि शुचि पद का अर्थ क्या है। इसी तरह अशुचि पदार्थ का निर्णय तथा उस विषय में प्रमाण का कथन आवश्यक होगा। अन्यथा ''सर्वं शुचि'' अर्थात् सभी पदार्थ पवित्र हैं – इस तरह अनुमान करने पर दृष्टान्त ही नहीं उपलब्ध होगा। क्योंकि सभी पदार्थों को पक्ष रूप में स्वीकार कर लेने पर दृष्टान्त किसी को नहीं कहा जा सकता। अनुमान से पहले जिसकी पवित्रता सर्वानुमत है वही दृष्टान्त हो सकता है – ऐसा कहने पर यह भी कहना होगा कि पवित्र पदार्थ क्या है। यह मानने पर किसको पाप नहीं होता यह भी कहना होगा। कापालिकगण को पाप नहीं होता यह कहने पर कापालिकों के शास्त्रानुमत ही है। और यदि यह कहा जाए कि जिस द्रव्य के स्पर्श से वैदिक सम्प्रदाय में पाप नहीं होता वह पवित्र है तो वेदादि शास्त्र को प्रमाण मानने वालों के लिए उक्त अनुमान शास्त्रविरुद्ध होगा।

तात्पर्य यह है कि शंख की पवित्रता के विषय में वेद आदि शास्त्र ही प्रमाण हैं। इस विषय में कापालिकों को भी अनुकूल या प्रतिकूल प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। अतएव इस अनुमान में स्वीकृत दृष्टान्त शंख का शुचित्वबोधक शास्त्र कापालिकों को भी मान्य होगा। अन्यथा यह अनुमान उपपन्न नहीं होगा। अतः मृतमानव का अस्थि अपवित्र होता है इसका प्रतिपादक वेदमूलक शास्त्र[१२] उपलब्ध है। और वह शंख के पवित्रताबोधक

---

[१२] नारं स्पृष्ट्वास्थि सस्नेहं स्नात्वा विप्रो विशुध्यति।
आचम्यैव तु निस्नेहं गामालभ्यार्कमीक्ष्य वा॥ – मनुसंहिता ५.७

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

शास्त्र का सजातीय है – यह मानना होगा। अब इस शास्त्र से उपर्युक्त अनुमान का बाध या अप्रामाण्य निश्चय हो जाने पर वह अनुमान आगमविरुद्ध होने पर न्यायाभास में परिणत होगा। उक्तअनुमान का उपजीव्य या आश्रय शंख का पवित्रताबोधक शास्त्र है और उसका सजातीय इस अनुमान का बाधकशास्त्र इस अनुमान से अधिक बलशाली है। योग्यता सिद्धान्त ग्रन्थ में चिन्तामणिकार गंगेश उपाध्याय ने इस स्थल में कहा है –

उपजीव्यजातीयत्वेन शब्दस्य बलवत्त्वात्तेनैव तदनुमानबाधात्।

इसी तरह ''ब्राह्मणेन सुरा पेया द्रवद्रव्यत्वात् क्षीरवत्'' इस अनुमान में क्षीरपान की तरह सुरापान भी ब्राह्मणों के लिए पापजनक नहीं है, यह अनुमान भी आगमविरुद्ध होने से न्यायाभास है। प्राचीन वैशैषिक आचार्य प्रशस्तपाद ने ''ब्राह्मणेन सुरा पेया'' इस प्रतिज्ञा को आगम विरोधी होने से प्रतिज्ञाभास कहा है। इस स्थल में किरणावली के व्याख्याकार मैथिल नैयायिक उदयनाचार्य तथा न्यायकन्दली व्याख्या के प्रणेता दक्षिणराढ़ (बंगाल) के निवासी श्रीधर भट्ट ने कहा है कि ब्राह्मणों के लिए क्षीरपान पापजनक नहीं है इस विषय में केवल शास्त्र ही प्रमाण है। अतएव उक्त दृष्टान्त का साधक शास्त्र प्रमाण रूप में जब स्वीकृत है तो यह अनुमान प्रयोग नहीं हो सकता और तब ब्राह्मणों के लिए सुरापाननिषेधक शास्त्र भी अवश्य मान्य है। फलतः अधिक बलशाली शब्द प्रमाण से उक्त अनुमान बाधित होगा। आचार्य शंकर भगवत्पाद ने अपने शारीरक भाष्य में प्रमाणपूर्वक कहा है कि प्राणसंकट रहने पर भी सुरापान नहीं करना चाहिए (३.४.३०-३१)।

इस तरह अन्य किसी बलवत्तर शब्द प्रमाण का विरोधी अनुमान आगमविरुद्ध न्यायाभास का उदाहरण होगा। जैसे उपमान विरुद्ध अनुमान, यहाँ उपमान के मूलभूत शब्द प्रमाण का विरोधी होने से वह अनुमान आगमविरुद्ध न्यायाभास ही कहलाएगा। इसलिए भाष्यकार ने अलग से उपमानविरुद्ध न्यायाभास का उदाहरण नहीं दिया है। उद्योतकर ने भी इसका समर्थन किया है। यहाँ भाष्य के आगम पद का अर्थ केवल शास्त्र नहीं अपितु शब्द प्रमाण है।

भाष्यकार ने अनुमानविरुद्ध न्यायाभास क्यों नहीं कहा इसके उत्तर में उद्योतकर ने पहले ही कहा है कि एक पदार्थ में दो विरोधी अनुमानों का समावेश सम्भव नहीं है। किन्तु वाचस्पति मिश्र ने अनुमानविरुद्ध न्यायाभास को माना है। उद्योतकर के उक्तकथा के तात्पर्य की व्याख्या में इन्होंने कहा है कि एक समय में परस्पर निरपेक्ष और समर्थ दो अनुमानों का समावेश सम्भव नहीं है। क्योंकि ऐसे स्थल में समान बलशाली दो विरोधी हेतुओं के रहने से सत्प्रतिपक्ष रूप दोनों दुष्ट हेतुओं में से किसी भी एक हेतु से अनुमिति

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

नहीं होगी। इस आशय से वार्तिककार ने उपर्युक्त बात कही है। किन्तु जिस स्थल में कोई अनुमान पहले उत्पन्न अनुमानान्तर की अपेक्षा करता है वह पूर्वानुमान यदि परकालीन अनुमान का विरोधी है तो परवर्ती बाध्य अनुमान का प्रतिबन्धक होगा ही। अतः ऐसे स्थलों में अनुमानविरुद्ध न्यायाभास होता है। भाष्यकार ने यद्यपि इसका उल्लेख नहीं किया है किन्तु यह उनका अनुमत है।

उदाहरणार्थ कोई यदि कहे कि "अश्रावणः शब्दः" अर्थात् शब्द श्रवणेन्द्रियग्राह्य नहीं है – इस अनुमान में पहले श्रवणेन्द्रिय तथा उसके ग्राह्यत्व को सिद्ध करना होगा जो अनुमान से सिद्ध होगा, उससे शब्द में श्रवणेन्द्रियग्राह्यत्व ही सिद्ध होगा जिससे शब्द में अश्रावणत्व का अनुमान बाधित होगा। यहाँ पूर्वोत्पन्न शब्द में श्रवणेन्द्रियग्राह्यत्व का साधक अनुमान अधिक बलशाली होने से "अश्रावणः शब्दः" इस अनुमान का बाध करता है। यह अनुमानविरुद्ध न्यायाभास का उदाहरण है। इसी तरह "ईश्वरो न कर्ता" ईश्वर कर्ता नहीं है इस अनुमान में पहले से अनुमान द्वारा ईश्वररूप पक्ष या धर्मी को सिद्ध करना आवश्यक होगा, वह अनुमान यदि ईश्वर में कर्तृत्व सिद्ध करता है तो उसके बलवत्तर होने से कर्तृत्वाभाव के साधक अनुमान का बाध हो जांएगा और तब कर्तृत्वाभाव के साधक अनुमान अनुमानविरुद्ध न्यायाभास का उदाहरण होगा। कुमारिल भट्ट आदि ने अनुमानविरुद्ध पक्षाभास का प्रतिपादन किया है। आगे यह और अधिक स्पष्ट होगा।

तत्र [१३] वादजल्पौ सप्रयोजनौ, वितण्डा तु परीक्ष्यते। वितण्डया प्रवर्तमानोः वैतण्डिकः। स प्रयोजनमनुयुक्तो यदि प्रतिपद्यते, सोऽस्य पक्षः, सोऽस्य सिद्धान्तः इति वैतण्डिकत्वं जहाति। अथ न प्रतिपद्यते नायं लौकिको न परीक्षक इत्यापद्यते।

अनुवाद – इस न्यायाभास में वाद और जल्प सप्रयोजन है अर्थात् इस न्यायाभास में वाद और जल्प का प्रयोजन निर्विवाद रूप से निहित है। किन्तु वितण्डा सप्रयोजन है या निष्प्रयोजन

---

[१३] यद्यपि प्रकृत न्याय में वाद और जल्प सप्रयोजन होते हैं, यही वक्तव्य है, तथापि भाष्यकार ने ठीक पूर्व में न्यायाभास का उल्लेख किया है। अतः शेषोक्त तत् पद से न्यायाभास ही समझा जाता है। अतः उद्योतकर ने भाष्यकारोक्त "तत्र" पद की व्याख्या करते समय "तस्मिन् न्यायभाष्ये" ऐसी व्याख्या की है। टीकाकार वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि "न्यायाभास" में वाद व जल्प सप्रयोजन होते हैं ऐसा कहने पर यथार्थ न्याय में भी वाद व जल्प सप्रयोजन होते हैं ऐसा निष्कर्ष निकलेगा क्योंकि वादी और प्रतिवादी द्वारा अपने-अपने पक्ष का स्थापन कर लेने पर एक अनुमान न्यायाभास तथा दूसरा यथार्थ न्याय होगा। चूँकि न्यायाभास स्थल में भी यथार्थ न्याय रहता ही है, इसलिए "उद्योतकर की पूर्वोक्तव्याख्या असंगत है" ऐसा नहीं कह सकते।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

इसका विचार कर्त्तव्य है। वितण्डा करने वाला अर्थात् वितण्डा की प्रक्रिया से विचार करने वाला वैतण्डिक कहलाता है। वैतण्डिक यदि प्रयोजन के विषय में जिज्ञासित होकर अपना पक्ष रखता है तो वही उसका सिद्धान्त हो जाएगा और तब उसके स्वीकार करने पर उसके वैतण्डिकत्व का ही त्याग हो जाएगा। (स्वपक्ष की सिद्धि को वितण्डा का प्रयोजन मानने पर उसे वैतण्डिक ही नहीं कहा जाएगा) यदि वह अपना पक्ष स्वीकार नहीं करता है अर्थात् स्वपक्ष के अस्वीकार होने पर न तो वह लौकिक होगा, न तो वह परीक्षक अर्थात् न वह बोद्धा होगा न ही बोधयिता, इस आपत्ति का वह विषय होगा। बिना प्रयोजन के सभी बातों में हस्तक्षेप करने पर उन्मत्त की तरह उसकी उपेक्षा सभ्य समाज द्वारा होती है।

टिप्पणी – ''तत्र वादजल्पौ'' – इत्यादि भाष्यसन्दर्भ प्रयोजन पदार्थ की व्याख्या का अंग है। भाष्यकार ने प्रयोजन पदार्थ की परीक्षा करने के लिए इन बातों को कहा है। अतः यहाँ पूर्वापरसंगति है। वादी तथा प्रतिवादी के मध्य चलने वाले विचारवाक्य का नाम है कथा, जो तीन प्रकार की होती है – वाद, जल्प और वितण्डा। केवल तत्त्वनिर्णय के लिए जय-पराजय की इच्छा से शून्य होकर गुरु तथा शिष्य में अथवा अन्य वादी-प्रतिवादियों में चलने वाले विचारवाक्य समूह का नाम है वाद। जय-पराजय की कामना से वादी तथा प्रतिवादियों के मध्य निर्दिष्ट नियमों के आधार पर अपने-अपने पक्ष के स्थापन द्वारा जयलाभ के मुख्य प्रयोजन से चलने वाले विचारवाक्य का नाम है जल्प। और जयलाभ की इच्छा से अपने किसी पक्ष की स्थापना के बिना प्रतिवादी यदि वादी के पक्ष का केवल खण्डन करता है तो उस विचारवाक्य का नाम है वितण्डा। द्वितीय आह्निक के आरम्भ में इन तीनों कथाओं का लक्षण आदि कहा गया है। इनमें वाद और जल्प कथा का प्रयोजन अपने पक्ष की सिद्धि है – इसमें किसी को विवाद नहीं है। अतः इसकी परीक्षा अपेक्षित नहीं है क्योंकि संशय के बिना किसी विषय की परीक्षा नहीं होती। भाष्यकार ने इसी अभिप्राय से कहा है – ''तत्र वादजल्पौ सप्रयोजनौ'' अर्थात् वाद और जल्प कथा के सप्रयोजन होने में किसी को विवाद नहीं है किन्तु वितण्डा के सप्रयोजन होने में विवाद है। किसी का कहना है कि वितण्डा निष्प्रयोजन है। किन्तु इसको यदि सिद्धान्त रूप में माना जाए तो भाष्यकार ने जो पहले कहा है कि यहाँ सभी पदार्थ सप्रयोजन हैं निष्प्रयोजन कुछ भी नहीं है, यह सिद्धान्त खण्डित हो जाता है। अतः भाष्यकार ने वितण्डा के सप्रयोजनत्व सिद्ध करने के लिए कहा है – ''वितण्डा तु परीक्ष्यते''।

उद्योतकर ने वार्तिक में कहा है ''एके तावद् वर्णयन्ति निष्प्रयोजना दूषणमात्रत्वात्'' किसी का कहना है कि वैतण्डिक का अपना कोई पक्ष या सिद्धान्त नहीं होता। इससे प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में कोई ऐसा वैतण्डिक सम्प्रदाय रहा होगा जिसके मत में

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

वितण्डा का कोई प्रयोजन नहीं था। वैतण्डिक अपना पक्ष रहने पर भी उसकी स्थापना नहीं करता। जिसको दूसरे के समक्ष नहीं कहा जाए अर्थात् जिसकी स्थापना नहीं की जाए उसे अपना पक्ष या सिद्धान्त नहीं कहा जा सकता। पर-पक्ष खण्डन से ही अपने पक्ष की सिद्धि हो जाएगी, यह भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि किसी पर्वत में धूम हेतु से वह्नि की सिद्धि करते समय प्रतिवादी यदि पर्वत में धूमहेतु का अभाव सिद्ध कर दे तो भी वहाँ वह्नि का अभाव सिद्ध नहीं होता। पर्वत में धूम के नहीं रहने पर भी आग रह सकती है। अतएव वितण्डा पर-पक्ष का खण्डन मात्र करती है, स्वपक्षसिद्धि का प्रयोजन नहीं रहता। पुनः दूसरा भी कोई प्रयोजन इसका प्रतीत नहीं होता। अतः वितण्डा को निष्प्रयोजन ही मानना होगा। अनेक सम्प्रदाय यह नहीं मानते कि सभी पदार्थ प्रयोजनीय ही होते हैं। इनके मत में परमेश्वर का सृष्टिरूप कार्य का कारण होने पर भी उनका प्रयोजन नहीं है। कारण और प्रयोजन भिन्न पदार्थ हैं। प्रयोजन का ज्ञान नहीं रहने पर भी मत्त व्यक्ति नृत्य एवं गान करता हुआ देखा जाता है। धर्मशास्त्र में भी निषेधवाक्य है – ''न कुर्वीत वृथा चेष्टाम्''। प्रयोजनहीन कर्म यदि असम्भव या अलीक होता तो धर्मशास्त्र में उसका निषेध नहीं होता। भामती व्याख्या (२.१.३३) में वाचस्पति मिश्र ने भी यह बात कही है। अस्तु, वितण्डा प्रयोजनवान् पदार्थ है – इसका समर्थन अनेक सम्प्रदायों में देखा जाता है। उक्त विषय में विप्रतिपत्तिवश मध्यस्थ का संशय होता है और उसकी निवृत्ति हेतु वितण्डा का परीक्षण आवश्यक है। वितण्डा प्रयोजनवान् पदार्थ है या प्रयोजनहीन – यह विचार ही यहाँ वितण्डा की परीक्षा है।

वितण्डा की प्रयोजनहीनता पक्ष का खण्डन करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि वैतण्डिक जिज्ञासित होने पर यदि अपना पक्ष या सिद्धान्त स्वीकार कर लेता है तो उसकी स्वपक्षसिद्धि ही वितण्डा का प्रयोजन होता है जो वैतण्डिक को अवश्य मान्य होगा। अब वैतण्डिक अपने मत की प्रस्तुति में वैतण्डिक नहीं हो सकता। ''सोऽस्य सिद्धान्तः'' भाष्य का यह वाक्य ''सोऽस्य पक्षः'' इस पूर्व वाक्य का ही विवरण है। प्रमाण आदि से अपने मत का स्थापना नहीं करने पर भी जो स्थापनयोग्य है वही वैतण्डिक का मत होता है। अतः स्थापना के पहले भी वादी का सिद्धान्त उनके ''स्वपक्ष'' के रूप में मान्य होता है। प्रतिवादी वैतण्डिक का भी अपना पक्ष होता ही है, वह उसका केवल स्थापन नहीं करता। सर्वत्र वह पक्ष उसका सिद्ध हो जाता है। इसी अभिप्राय से वैतण्डिक प्रमाण आदि का उल्लेखपूर्वक उसका स्थापन नहीं करता। वस्तुतः वैतण्डिक का अपना पक्ष प्रच्छन्न रहता है और उसको मानने के लिए वह बाध्य है। यदि वह (वैतण्डिक) कुछ मानेगा ही नहीं तो वह निष्प्रयोजन उन वाक्यों का प्रयोग क्यों करेगा। जो सभ्य समाज में उपस्थित

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

होकर विचारक पंडित के रूप में अपना परिचय देकर कहेगा कि मेरा अपना कोई पक्ष नहीं, स्वपक्षसिद्धि भी मेरी वितण्डा का प्रयोजन नहीं है, मेरी वितण्डा निष्प्रयोजन है। तब तो न तो उसे लौकिक माना जाएगा और न ही परीक्षक माना जाएगा। वह उन्मत्त की तरह उपेक्षणीय हो जाएगा। क्योंकि प्रकृतिस्थ व्यक्ति निष्प्रयोजन कुछ नहीं कहता। प्रयोजन के बिना मन्दबुद्धि की भी कहीं प्रवृत्ति नहीं होती। ''प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते।'' वस्तुतः अपने पक्ष की सिद्धि ही वितण्डा का प्रयोजन होता है। अतः वाद और जल्प की तरह वितण्डा भी सप्रयोजन होती है। केवल दूसरे के पक्ष में दोष का प्रदर्शन ही वितण्डा नहीं है। न्यायवार्त्तिककार उद्योतकर इस सम्बन्ध में सिद्धान्त वचन कहते हैं कि ''न दूषणमात्रं वितण्डा किन्तु अभ्युपेत्य पक्षं यो न स्थापयति स वैतण्डिक उच्यते''।

***भाष्य* – अथापि परपक्षप्रतिषेधज्ञापनं प्रयोजनं ब्रवीति, एतदपि तादृगेव। यो ज्ञापयति, यो जानाति, येन ज्ञाप्यते, यच्च ज्ञाप्यते एतच्च प्रतिपद्यते यदि? तदा वैतण्डिकत्वं जहाति। अथ न प्रतिपद्यते परपक्षप्रतिषेधज्ञापनं प्रयोजनमित्येतदस्य वाक्यमनर्थकं भवति। वाक्यसमूहश्च स्थापनाहीनो वितण्डा, तस्य यद्यभिधेयं प्रतिपद्यते सोऽस्य पक्षः स्थापनीयो भवति। अथ न प्रतिपद्यते प्रलापमात्रमनर्थकं भवति वितण्डात्वं निवर्तत इति।**

अनुवाद – वैतण्डिक यदि वितण्डा के विषय में जिज्ञासित होकर दूसरे के पक्ष के प्रतिषेध ज्ञापन को अर्थात् परपक्ष के साधन में दोष प्रदर्शन को प्रयोजन कहे तो यह भी उसी प्रकार होगा अर्थात् इस पक्ष में भी उसी प्रकार के अपरिहार्य दोष होंगे। क्योंकि जो समझाएगा, जो समझेगा, जिससे समझाया जाएगा, जो समझा जाएगा, अर्थात् ज्ञापक, ज्ञाता, ज्ञापन का साधन प्रमाण आदि एवं ज्ञापनीय ये चार यदि स्वीकार कर लिए तो वह (शून्यवादी) वैतण्डिकत्व का त्याग कर ही दिया अर्थात् अपना पक्ष मान लेने पर अपने पक्ष के अनुसार उसका वैतण्डिकत्व ही नहीं रहा। और पूर्वोक्त ज्ञापक आदि पदार्थ यदि स्वीकार नहीं किया तो इसका परपक्ष प्रतिषेध का ज्ञापनरूप प्रयोजन अनर्थक हो जाएगा।

किन्तु वितण्डा है अपने मत के स्थापन से रहित वाक्यसमूह। यदि (शून्यवादी) उस वाक्यसमूह के प्रतिपाद्य को मानता है तो वही पक्ष उसका स्थापनीय होता है। अर्थात् उसके उस समस्त वाक्यसमूह का प्रतिपाद्य अर्थ उसका पक्ष या सिद्धान्त होने से प्रमाणों के द्वारा उसका स्थापन करना ही होगा और यदि वह उसको नहीं मानता है अर्थात् वितण्डा नामक वाक्यसमूह के प्रतिपाद्य को नहीं मानता है तो वह प्रलाप मात्र होने जैसा अनर्थक होगा। उसमें वितण्डात्व भी नहीं होगा। जिसका प्रतिपाद्य ही कुछ नहीं है वह वाक्य ही नहीं होता है, अतः वितण्डा कैसे होगा। वह निरर्थक प्रलाप ही होगा।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

टिप्पणी – भाष्यकार ने यहाँ पहले वितण्डा को निष्प्रयोजन मानने वाले के मत का खण्डन किया है, पुनश्च वितण्डा का सप्रयोजनत्व सिद्ध किया है। इससे महर्षि गौतम के प्रयोजन पदार्थ का भी परीक्षण हो जाता है।

पश्चात् इस प्रसंग में किसी शून्यवादी वैतण्डिक के मत के खण्डन हेतु 'अथापि' पद कहते हैं। तात्पर्यटीकाकार वाचस्पति मिश्र ने शून्यवादी के मत को केवल नास्तिक मत कहकर उल्लिखित किया है और कहा है कि ऐसी बात नहीं है कि इस बौद्ध मत में किसी पदार्थ की किसी भी रूप में सत्ता ही मान्य नहीं है किन्तु पारमार्थिक सत्ता नहीं है, कल्पित व्यावहारिक सत्ता है। इस बौद्धमत में सभी पदार्थ अनिर्वचनीय रूप से मान्य हैं। सत् या असत् रूप से उन पदार्थों का निर्वचन नहीं किया जा सकता। खण्डनखण्डखाद्य ग्रन्थ के प्रथम परिच्छेद में श्रीहर्ष ने भी अन्त में यही कहा है। प्रतीत होता है कि सर्वनास्तित्ववाद प्राचीन काल में शून्यवाद या सर्वशून्यतावाद नाम से अभिहित होता था। भाष्यकार ने पश्चात् चतुर्थ अध्याय के द्वितीय आह्निक में इस सर्वशून्यतावादी को "आनुपलम्भिक" नाम से उल्लेखित किया है।

यहाँ भाष्यकार के खण्डन सन्दर्भ से ज्ञात होता है कि सर्वनास्तित्ववाद ही उनको बुद्धिस्थ है। इस शून्यवादी का अपना पक्ष नहीं रहने पर भी स्वपक्षसिद्धि ही उसकी वितण्डा का प्रयोजन है – किन्तु इसका उल्लेख वह नहीं करते। किन्तु उक्तवादी कहते हैं कि मेरी वितण्डा का प्रयोजन केवल परपक्ष का खण्डन ही है। मैं बिना प्रयोजन से वितण्डा नहीं करता हूँ। भाष्यकार ने इसी के उत्तर में कहा है – "एतदपि तादृगेव"। क्योंकि जो परपक्ष के प्रतिषेध का ज्ञापन करेगा वह ज्ञापक पुरुष, ज्ञाता पुरुष, ज्ञापन का साधन और ज्ञापनीय पदार्थ – इन चारों को स्वीकार करते हुए वैतण्डिक नहीं हो सकता। वह ज्ञापक और ज्ञाता आदि पदार्थों को स्वीकार करने पर मेरा कोई सिद्धान्त या पक्ष नहीं है यह कैसे कह सकता है?

यदि शून्यवादी यह कहे कि मैं किसी पदार्थ को सत् नहीं मानता, मैं असत्ख्यातिवादी हूँ, मेरे मत में असत्पदार्थ का पदार्थ रूप से भ्रम होता है। ज्ञापक तथा ज्ञाता आदि सभी असत् पदार्थ ही हैं। सर्वत्र असत् पदार्थ के भ्रमज्ञान से ही व्यवहार का निर्वाह होता है तो परपक्ष के प्रतिषेध का ज्ञापन भी वास्तव में नहीं हो सकता। इस मत में असत् का भ्रमज्ञान होने पर भी जो असत् ख्याति नहीं मानते उनके मत में कभी भी असत् पदार्थ का भ्रम उत्पन्न ही नहीं होता। उनके मत में असत् पदार्थ का ज्ञापन असम्भव होने से शून्यवादी की यह बात अनर्थक हो जाएगी। तात्पर्य यह है कि उक्त शून्यवादी का वितण्डा करते समय उसके ज्ञापनीय पदार्थ को सत् ही मानना होगा और ज्ञाता एवं ज्ञापक आदि

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

पदार्थों को उनके सिद्धान्त रूप में मानना होगा और तब इस दृष्टि से स्वपक्षसिद्धि ही उनके मत में भी वितण्डा का प्रयोजन होगा। इसके नहीं मानने पर वह वैतण्डिक नहीं हो सकते। वितण्डा को निष्प्रयोजन मानने वाले पूर्वोक्तवादी तथा इस वैतण्डिक की बात एक नहीं होने पर भी समान दोष के कारण समान ही माना जाता है। इसी अभिप्राय से भाष्यकार ने कहा है – ''एतदपि तादृगेव''।

पश्चात् भाष्यकार कहते हैं कि स्वपक्ष की स्थापना से रहित वाक्यसमूह वितण्डा है। अतः उक्त शून्यवादी को इस वितण्डा पदार्थ के सभी वाक्यों के प्रतिपाद्य को मानने की बाध्यता है। क्योंकि प्रतिपाद्य के नहीं रहने पर वाक्य होगा ही नहीं, उसमें वितण्डात्व ही नहीं रहेगा, वह निरर्थक प्रलाप हो जाएगा। अतः मानना होगा कि उक्त शून्यवादी वितण्डा के द्वारा वादी के हेतु में जो दोष प्रदर्शन करता है वही उसके वितण्डा वाक्य का प्रतिपाद्य होता है। ऐसी स्थिति में वे सभी दोष उनको स्वीकार्य होंगे और वही उनका स्वपक्ष या सिद्धान्त रूप में मान्य होने से स्थापनीय होगा। अतः यह कभी भी नहीं कहा जा सकता है कि उक्त शून्यवादी का स्वपक्ष या सिद्धान्त कुछ है ही नहीं। शून्यवादी सम्मत प्रमाणों से ही वादी के मत का खण्डन करता है। वादी के प्रतिपाद्य ये सभी पदार्थ इनके अपने मत में भले ही असत् हों किन्तु वाक्य के द्वारा उसका असत् प्रतिपादन नहीं होगा क्योंकि वादी को वह किसी वाक्य के द्वारा असत् पदार्थ नहीं समझा सकता। जिस वादी की दृष्टि में असत् पदार्थ किसी वाक्य का प्रतिपाद्य नहीं होता उनके निकट वह स्वमत मत के अनुसार यदि वाक्य का प्रयोग करेगा तो वह निरर्थक वाक्य ही होगा।

तात्पर्य यह है कि वितण्डा का भी प्रयोजन होता है। वह प्रयोजनहीन नहीं है। केवल दूसरे के पक्ष का खण्डन ही उसका प्रयोजन नहीं हो सकता किन्तु स्वपक्षसिद्धि भी उसका प्रयोजन होता है। जो वितण्डा करता है उसको अपना पक्ष मानना होगा। यद्यपि प्रमाणों के आधार पर वह अपना पक्ष स्वीकार नहीं करता तथापि मानना होगा कि सिद्धि ही उसके वितण्डा का उद्देश्य होता है।

भाष्य **– अथ दृष्टान्तः, प्रत्यक्षविषयोऽर्थो दृष्टान्तः, यत्र लौकिकपरीक्षकाणां दर्शनं न व्याहन्यते। स च प्रमेयं तस्य पृथग्वचनं च – तदाश्रयावनुमानागमौ, तस्मिन् सति स्यातामनुमानागमावसति च न स्याताम्। तदाश्रया च न्यायप्रवृत्तिः। दृष्टान्तविरोधेन च परपक्षप्रतिषेधो वचनीयो भवति, दृष्टान्तसमाधिना च स्वपक्षः साधनीयो भवति। नास्तिकश्च दृष्टान्तमभ्युपगच्छन्नास्तिकत्वं जहाति अनभ्युपगच्छन् किंसाधनः परमुपालभेतेति। निरुक्तेन च दृष्टान्तेन शक्यमभिधातुं ''साध्यसाधर्म्यात्तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम्'' तद्विपर्ययाद्वा विपरीतम् इति।**

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अनुवाद – इसके बाद दृष्टान्त उक्त है। प्रत्यक्ष का विषय पदार्थ दृष्टान्त होता है। तात्पर्य यह है कि जिस पदार्थ में लौकिक एवं परीक्षक का ज्ञान व्याहत नहीं होता उसी को दृष्टान्त कहते हैं, वह दृष्टान्त भी प्रमेय है। तथापि इसका स्वतन्त्र उल्लेख हुआ है। क्योंकि[१४] अनुमान और शब्दप्रमाण इस दृष्टान्त पदार्थ पर आश्रित हैं। अर्थात् उक्त दोनों प्रमाणों का आश्रय या निमित्त दृष्टान्त होता है। इसका स्पष्टार्थ यह हुआ कि दृष्टान्त रहने पर अनुमान और शब्दप्रमाण अस्तित्व लाभ करता है अन्यथा नहीं। इसके न्याय की प्रवृत्ति अर्थात् पञ्चावयव वाक्य का आश्रय वा निमित्त भी यह दृष्टान्त ही होता है।

इस दृष्टान्त में विरोधरूप दोष दिखाकर परपक्ष का खण्डन किया जा सकता है और इस दृष्टान्त के अविरोध से अपने पक्ष का साधन किया जा सकता है।

नास्तिक व्यक्ति यदि दृष्टान्त को स्वीकार करेगा तो उसको नास्तिकत्व का त्याग करना पड़ेगा (सर्वशून्यवादी नास्तिक सभी पदार्थों को असत् कहकर पश्चात् किसी दृष्टान्त पदार्थ की सत्ता मानने के लिए यदि बाध्य होता है तो उसको आस्तिक का मत ही ग्रहण करना होगा।) इसके अस्वीकार करने पर किस साधन के सादृश्य से दूसरों के मत में दोष दिखाएगा (अर्थात् दृष्टान्त पदार्थ का अस्तित्व नहीं मानने पर वह वैतण्डिक होकर दूसरों के पक्ष का खण्डन भी नहीं कर सकता)। इस पूर्वलक्षित दृष्टान्त के द्वारा महर्षि ने ''साध्यसाधर्म्यात्तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम्'' ''तद्विपर्ययाद्वा विपरीतम्'' (१.१.३६-३७) इन दो सूत्रों को कहा है। (अर्थात् दृष्टान्त पदार्थ का विशेष विवेचन न करके महर्षि ने उदाहरणवाक्य के दो लक्षण प्रस्तुत किए हैं– जो नहीं कह सकते थे। क्योंकि दृष्टान्त के ज्ञान के बिना उदाहरण का ज्ञान नहीं हो सकता।)

भाष्य – अस्त्ययमित्यभ्यनुज्ञायमानोऽर्थः सिद्धान्तः। स च प्रमेयम्, तस्य पृथग्वचनं सत्सु सिद्धान्तभेदेषु वादजल्पवितण्डाः प्रवर्तन्ते नातोऽन्यथेति।

अनुवाद – यह है अर्थात् यह पदार्थ ऐसा एवं इस प्रकार होता है – इस रूप में स्वीक्रियमाण पदार्थ है सिद्धान्त। यह सिद्धान्त पदार्थ भी प्रमेय है। सिद्धान्त के प्रकार भेद रहने पर वाद, जल्प और वितण्डा की प्रवृत्ति होती है। इसके प्रकार भेद के नहीं रहने पर कथा में अर्थात् वाद, जल्प तथा वितण्डा में प्रवृत्ति नहीं हो सकती। इसलिए इस सिद्धान्त पदार्थ का पृथक् उल्लेख हुआ है।

---

[१४] भाष्य में ''तस्य पृथग् वचनञ्च'' में च शब्द हेतु अर्थ में प्रयुक्त है। अनेक पूर्व आचार्य हेतु अर्थ में च शब्द का व्यवहार करते हैं। कुसुमाञ्जलि के प्रथम स्तवक में उदयनाचार्य कहते हैं – ''शक्तिभेदो न चाभिन्नः'' यहाँ च शब्द हेतु अर्थ में उक्त है। हरिदास भट्टाचार्य इसकी व्याख्या में कहते हैं – ''अभिन्नः यतः चो हेतौ''।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

टिप्पणी – प्रथम सूत्र में प्रयोजन पदार्थ के बाद दृष्टान्त और सिद्धान्त पदार्थ का उल्लेख है। यदि प्रमेय पदार्थ में ही दृष्टान्त और सिद्धान्त का समावेश होता तो इनका पृथक् उल्लेख आवश्यक नहीं होता। किन्तु महर्षि ने पश्चात् आत्मा आदि बारह पदार्थों को प्रमेय कहा है और उनमें दृष्टान्त और सिद्धान्त का समावेश नहीं है। तब भाष्यकार ने कैसे कहा कि ''स च प्रमेयम्'', यह प्रश्न उठता है। इसलिए यहाँ वार्त्तिककार ने कहा है कि ''सोऽयं दृष्टान्तः प्रमेयमुपलब्धिविषयत्वात्''। अर्थात् महर्षि के परिभाषित बारह प्रमेयों में दृष्टान्त का उल्लेख नहीं रहने पर भी वह सामान्य रूप से प्रमेय में अन्तर्भूत है। महर्षि ने अपने परिगणित प्रमेय में बुद्धि या उपलब्धि को पञ्चम प्रमेय कहा है और उस उपलब्धि के विषय पदार्थ मात्र सामान्य रूप से प्रमेय होते हैं – यह भी उपलब्धि प्रमेय से सूचित होता है। अन्यथा महर्षि के द्वारा अनुक्त अनेक पदार्थ जो प्रमाण से उपलब्धि के विषय होते हैं वह पदार्थ कैसे होंगे? अतः दृष्टान्त पदार्थ जब सामान्यरूप से प्रमेय में अन्तर्भूत होता है तब उसके पृथक् उल्लेख की आवश्यकता नहीं है – यही इस पूर्वपक्ष का अभिप्राय है।

उद्योतकर ने शास्त्रार्थ के निश्चयात्मक ज्ञान को सिद्धान्त कहा है और इनके मत में वह विशेष प्रमेय में अन्तर्भूत होता है। किन्तु भाष्यकार ने उस निश्चयात्मक शास्त्रार्थ को सिद्धान्त पदार्थ माना है। इनके मत में वह सिद्धान्तत्व रूप से सामान्य प्रमेय में अन्तर्भूत है – इतना भेद ध्यान में रखना है। इसलिए भाष्यकार ने पहले कहा है कि ''संशयादयो हि यथासम्भवं प्रमाणेषु प्रमेयेषु चान्तर्भवन्तो न व्यतिरिच्यन्ते'' इस सन्दर्भ में प्रमेयेषु पद का बहुवचन से गौतम सम्मत सामान्य प्रमेय का ग्रहण किया है और ''यथासम्भवम्'' पद से किसी-किसी पदार्थ का सामान्य प्रमेय में अन्तर्भाव विवक्षित होता है। किन्तु यह कहना आवश्यक है कि महर्षि गौतम ने प्रथम सूत्र में अपने सम्मत अनेक प्रमेयों का पृथक् उल्लेख न करके दृष्टान्त और सिद्धान्त पदार्थ का स्वतंत्र रूप से उल्लेख क्यों किया। अतएव भाष्यकार ने पहले दृष्टान्त और सिद्धान्त का स्वरूप दिखाकर उनके पृथक् उल्लेख का कारण कहा है।

भाष्यकार ने पहले कहा है कि ''प्रत्यक्षविषयोऽर्थो दृष्टान्तः'' किन्तु दृष्टान्त पदार्थ केवल प्रत्यक्ष का विषय नहीं होता क्योंकि अनेक अतीन्द्रिय पदार्थ भी दृष्टान्त होते हैं। महर्षि गौतम ने भी इस रूप से पदार्थों को दृष्टान्त कहा है। वस्तुतः प्रत्यक्ष स्थल में जैसे दृष्टान्त आवश्यक नहीं है उसी प्रकार किसी दृष्टान्त के प्रदर्शन के समय अन्य दृष्टान्त आवश्यक नहीं होते। प्रत्यक्ष का विषय जैसे निर्विवाद होता है उसी प्रकार प्रकृत दृष्टान्त के प्रदर्शन से भी विवाद की निवृत्ति होती है। इसी तात्पर्य से भाष्यकार ने पहले ऐसा कहा है और पश्चात् इसका विवक्षित अभिप्राय समझाने के लिए महर्षि गौतम के दृष्टान्त

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

लक्षण सूत्र के अनुसार कहा है – ''यत्र लौकिकपरीक्षकाणां दर्शनं न व्याहन्यते''। बोद्धा लौकिक पद से अभिप्रेत है और बोधयिता परीक्षक पद से – फलितार्थ यह हुआ कि जिस पदार्थ में बोद्धा और बोधयिता का बुद्धिसाम्य रहता है और जो दोनों के अविरोध का कारण होता है उसे दृष्टान्त माना गया है। जो पदार्थ ऐसा नहीं है वह दृष्टान्त नहीं हो सकता। आगे दृष्टान्त लक्षण सूत्र की व्याख्या में विभिन्न बातें कही जाएंगी।

दृष्टान्त पदार्थ का विशेषरूप से उल्लेख क्यों हुआ है – इसके अनेक कारण भाष्यकार ने कहे हैं। पहला कारण यह है कि दृष्टान्त अनुमान प्रमाण का निमित्त है। दृष्टान्त के बिना अनुमान प्रमाण नहीं हो सकता। हेतु से जो पदार्थ का अनुमान किया जाता है उस हेतु में अनुमेयपदार्थ (साध्य) की व्याप्ति के निश्चय हेतु अर्थात् जहाँ-जहाँ हेतु रहता है उन सभी स्थानों में साध्य (अनुमेयपदार्थ) अवश्य रहता है – यह समझने के लिए दृष्टान्त आवश्यक है; अन्यथा व्याप्तिनिश्चय नहीं होने से अनुमान नहीं होगा। इसी प्रकार शब्दप्रमाण में भी दृष्टान्त आवश्यक है। क्योंकि पहले किसी शब्द के सुनने पर शाब्दबोध नहीं होता। शाब्दबोध के लिए शब्द और अर्थ के संकेत रूप सम्बन्ध का ज्ञान आवश्यक है और इसमें दृष्टान्त की आवश्यकता होती है। क्योंकि कोई भी व्यक्ति पूर्व से ज्ञात पदार्थों को दूसरे को शब्द के द्वारा समझाता है। पूर्वज्ञान के अनुसार दृष्टान्त की सहायता से शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का ज्ञान होता है। अन्यथा प्रथम (पूर्वतः अज्ञात) शब्द सुनकर भी शाब्दबोध होता। जिस शब्द का जो अर्थ जिस किसी उपाय से पूर्वतः ज्ञात है तदनुसार ही हम लोग शब्द का प्रयोग करते हैं और पूर्व दृष्टान्त के अनुसार पूर्ववत् उसका अर्थबोध करते हैं। अतः दृष्टान्त के नहीं रहने पर शब्द प्रमाण भी मान्य नहीं होगा। इसी प्रकार परार्थ अनुमान के लिए व्यवहृत प्रतिज्ञा आदि पञ्चावयव रूप न्यायवाक्य का प्रयोग भी दृष्टान्त पदार्थ के बिना सम्भव नहीं है। अतः दृष्टान्त पदार्थ का विशेष ज्ञान अत्यावश्यक है।

दृष्टान्त का अलग से उल्लेख करने का दूसरा कारण भी भाष्यकार ने कहा है। परपक्ष खण्डन के लिए प्रतिवादी किसी दृष्टान्त को कहता है जो विरुद्ध है तो ऐसी स्थिति में प्रतिवादी के उस खण्डन में दोष दिखाकर अपनी ओर से दृष्टान्त का प्रदर्शन कर अविरोध दिखाना और अपने पक्ष को सिद्ध करना वादी का कर्त्तव्य होता है। इसलिए भी दृष्टान्त पदार्थ का विशेष ज्ञान आवश्यक है। सर्वशून्यतावादी नास्तिक दृष्टान्त पदार्थ नहीं मानता। वह किस प्रकार से वितण्डा के द्वारा परपक्ष का खण्डन कर सकता है। दृष्टान्त के बिना परपक्ष का खण्डन सम्भव नहीं है। दृष्टान्त पदार्थ का अस्तित्व मानने पर उसका नास्तिकत्व अर्थात् ''सर्वंनास्ति'' यह मत नहीं हो सकता। अतः इस मत का त्याग करना होगा।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अपि च सर्वास्तिवादी बौद्ध सम्प्रदाय भी सभी पदार्थों को क्षणमात्र स्थायी अर्थात् क्षणिक मानता है किन्तु इसमें किसी दृष्टान्त को नहीं दिखा सकता। क्योंकि जो बहुत पहले ही नष्ट हो गया ऐसा पदार्थ दृष्टान्त नहीं हो सकता। अतः दृष्टान्त मानने के लिए स्थायी पदार्थ मानना होगा और इसको मानने पर उनका सिद्धान्त ही भंग हो जाएगा। फलितार्थ यह हुआ कि नास्तिक मत के निराकरण हेतु दृष्टान्त पदार्थ का विशेष ज्ञान आवश्यक है।

दृष्टान्त पदार्थ के पृथक् उल्लेख का शेष अन्तिम हेतु दिखाते हुए भाष्यकार ने कहा है कि दृष्टान्त पदार्थ का लक्षण नहीं कहने पर महर्षि द्वारा उदाहरण वाक्य (तृतीय अवयव) का दो सूत्रों में किया गया लक्षण संगत नहीं होगा। क्योंकि दृष्टान्त पदार्थ का स्वरूप जाने बिना उक्त उदाहरण-सूत्रों का अभिप्राय नहीं समझा जा सकता। अतः दृष्टान्त पदार्थ का लक्षण कहने से पहले उसका उद्देश करना होगा। भाष्यकार ने यहाँ महर्षि के दो सूत्रों का (उदाहरण सूत्रों का) उल्लेख किया है उसका अर्थ यथास्थान अवसर आने पर किया जाएगा। किसी-किसी पुस्तक में ''निरुक्ते च दृष्टान्ते'' ऐसा भाष्य का पाठ मिलता है। इसका अर्थ होता है – भाष्य के निरूपित होने पर महर्षि उदाहरण के बोधक सूत्रों को कह सकते हैं।

भाष्यकार सिद्धान्त पदार्थ के पृथक् उल्लेख का कारण कहते हैं। सिद्धान्त के अनेक भेद रहने के कारण वाद, जल्प तथा वितण्डा रूप तीन प्रकारों का विचार होता है, अन्यथा उक्त विचार नहीं हो सकता। अतः महर्षि ने सिद्धान्त पदार्थ का पृथक् उल्लेख किया है। इसके चार प्रकार के होने से चारों का लक्षण कहा गया है। उनमें पहला है ''सर्वतन्त्र सिद्धान्त''। इसके नहीं मानने पर तथा नहीं जानने पर किसी प्रकार का विचार हो ही नहीं सकता। क्योंकि शब्द आदि धर्मी यदि मान्य नहीं हो तो वह (शब्द) नित्य है या अनित्य, द्रव्य है या गुण तथा उसका परिणाम होता है या विवर्त्त – इस प्रकार उसके धर्म का विचार सम्भव नहीं है। इसी प्रकार विभिन्न सम्प्रदायों के विभिन्न सिद्धान्तों को जिनको महर्षि ने ''प्रतितन्त्र सिद्धान्त'' कहा है – विशेष रूप से जाने बिना विचार नहीं हो सकता। अतः उक्त सिद्धान्त पदार्थ के विशेषज्ञान के लिए महर्षि ने उनका पृथक् उल्लेख किया है।

भाष्य **– साधनीयार्थस्य यावति शब्दसमूहे सिद्धिः परिसमाप्यते, तस्य पञ्चावयवाः प्रतिज्ञादयः समूहमपेक्ष्यावयवा उच्यन्ते। तेषु प्रमाणसमवायः। आगमः प्रतिज्ञा, हेतुरनुमानम्, उदाहरणं प्रत्यक्षम्, उपमानमुपनयः सर्वेषामेकार्थसमवाये सामर्थ्यप्रदर्शनं निगमनमिति। सोऽयं परमो न्याय इति।**

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

एतेन वादजल्पवितण्डाः प्रवर्तन्ते, नातोऽन्यथेति। तदाश्रया च तत्त्वव्यवस्था। ते चैतेऽवयवाः शब्दविशेषाः सन्तः प्रमेयेऽन्तर्भूताः, एवमर्थं पृथगुच्यन्त इति।

अनुवाद – जितने शब्द समूह में (वाक्य समूह में) साधनीय पदार्थ की सिद्धि हो जाए अर्थात् वास्तव धर्म की परिसमाप्ति हो जाए और विशेष रूप से निश्चित हो जाए, उस वाक्य समष्टि की प्रतिज्ञा आदि अर्थात् प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण और निगमन – ये पाँच अंश, समूह की प्रतिज्ञा आदि निगमन पर्यन्त वाक्य समष्टि की अपेक्षा करके अवयव कहे जाते हैं। इस पञ्चावयव में प्रमाण समूह का अर्थात् प्रत्यक्ष आदि चारों प्रमाणों का मेल होता है। कैसे मिलन होता है तो – प्रतिज्ञा शब्द प्रमाण है, हेतु अनुमान प्रमाण है, उदाहरण प्रत्यक्ष प्रमाण है, उपनय उपमान प्रमाण है, और सबका – प्रतिपाद्य के साथ सम्बन्ध के विषय में उनकी एकवाक्यता की बुद्धि से सामर्थ्य का प्रदर्शन परस्पर साकांक्षता का प्रदर्शक बोध होता है निगमन। यही वह परमन्याय है अर्थात् प्रतिज्ञा आदि निगमन पर्यन्त पाँच वाक्यों की समष्टि सर्वप्रमाणमूलक होने से ''परम न्याय'' पद से अभिहित होता है। इस न्याय से वाद, जल्प और वितण्डा रूप तीन प्रकार के विचार प्रवृत्त हुए हैं। इसके बिना उक्त विचार नहीं हो सकता। कदाचित् वादकथा हो भी जाए लेकिन जल्प और वितण्डा इस परम न्याय के बिना सम्भव ही नहीं है। इसी न्याय के अधीन तत्त्व व्यवस्था होती है अर्थात् यह तत्त्व है और यह तत्त्व नहीं है, ऐसा अधिनियम इस न्याय के आधार पर ही उपपन्न होता है।

यह अवयव समूह (प्रतिज्ञा आदि पञ्चावयव) शब्द विशेष होने से प्रमेय में (महर्षि के उक्त प्रमेय में) अन्तर्भूत होकर भी इसके मूल में सभी प्रमाणों के रहने से एकवाक्यता प्राप्त करके मिलित रूप से विरुद्ध वादी के समक्ष तत्त्व का प्रतिपादन करता है। इसके अधीनस्थ है तत्त्व व्यवस्था और इन्ही कारणों से इस अवयव पदार्थ का पृथक् रूप में उल्लेख हुआ है।

टिप्पणी – जैसे परार्थ अनुमान को न्याय कहा जाता है उसी प्रकार परार्थानुमान के प्रतिज्ञा आदि निगमन पर्यन्त पाँच वाक्यों की समष्टि को भी न्याय कहा जाता है। भाष्यकार ने इस वाक्य समष्टि को यहाँ परम न्याय कहा है। ''नीयते (नि-निश्चयेन ईयते) ज्ञायते अनेन'' इस व्युत्पत्ति के अनुसार निपूर्वक इण् धातु करण अर्थ में घञ् प्रत्यय करके ''न्याय'' शब्द सिद्ध होता है। (पहले भी ऐसी व्युत्पत्ति समझनी चाहिए) प्रतिज्ञा आदि अवयव का लक्षण स्वयं महर्षि ने बाद में कहा है। परार्थानुमान के स्थल में इस न्याय नामक वाक्यसमूह में साध्य सिद्धि की परिसमाप्ति होती है। इसका एक-एक अंश प्रतिज्ञा आदि पाँच वाक्यों से साधनीय पदार्थ का वास्तव धर्म विशेष रूप से निश्चित

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

होता है। भाष्य में सिद्धि शब्द से उसका धर्म और परिसमाप्ति से उस धर्म का निश्चय समझना चाहिए। उद्योतकर तथा वाचस्पति मिश्र ने भी यही कहा है। जिस धर्म के साधन की इच्छा होती है उस धर्म से युक्त धर्मी यहाँ साधनीय पदार्थ होता है और उस धर्मी में उसका धर्म वस्तुत: रहने पर उस धर्मी का वह धर्म होता है। इस वास्तव धर्म का निश्चय अर्थात् धर्मी को उक्त धर्म विशिष्ट होने का निश्चय ही न्याय की परिसमाप्ति या न्याय का अन्तिम फल होता है। भाष्य में ''शब्द समूह'' पद में सप्तमी निमित्तार्थक होती है।

प्रतिज्ञा आदि पाँच वाक्य की समष्टि का प्रत्येक वाक्य इस न्याय नामक वाक्य समष्टि की अपेक्षा से व्यष्टि है। अतएव इस समष्टि की अपेक्षा से प्रतिज्ञा आदि को अवयव कहा जाता है। अवयव से एकदेश या अंश ज्ञात होता है। तात्पर्यटीकाकार कहते हैं कि द्रव्य के उपादान कारण को अवयव कहा जाता है। प्रतिज्ञा आदि पाँच वाक्य न्याय का उपादान कारण नहीं हो सकते किन्तु जैसे उपादान कारण के अवयव समूह मिलकर एक अवयवी द्रव्य निष्पन्न करते हैं उसी प्रकार प्रतिज्ञा आदि पाँच वाक्य मिलकर न्यायवाक्य के प्रतिपाद्य को उत्पन्न करते हैं। एक अभिप्रेत अर्थ का प्रतिपादन करते हैं। फलत: अवयव सदृश होने से इन्हें अवयव पद से अभिहित किया जाता है। अवयव पद का प्रयोग यहाँ गौण रूप में हुआ है। प्रतिज्ञादि अवयव पदार्थ समूह वाक्य रूप शब्द है। अत: गौतम के चतुर्थ प्रमेय (अर्थ) में अन्तर्भूत होता है। गौतम ने गन्ध, रस, रूप, स्पर्श तथा शब्द को अर्थ रूप चौथा प्रमेय कहा है। किन्तु इस अवयव पदार्थ के विशेष ज्ञान के सम्पादन हेतु इसका पृथक् रूप से उल्लेख हुआ है। भाष्यकार ने बाद में यह कहा है। इसका पृथक् उल्लेख करने का विशेष कारण कहा है ''तेषु प्रमाणसमवाय:'' आदि।

इस अवयव समूह के मूल में गौतम का उक्त चतुर्विध प्रमाण विद्यमान है। इसके विज्ञापन हेतु प्रतिज्ञा वाक्य को आगम प्रमाण, हेतु वाक्य को अनुमान प्रमाण, उदाहरण वाक्य को प्रत्यक्ष प्रमाण और उपनय वाक्य को उपमान प्रमाण कहा है। वस्तुत: प्रतिज्ञा आदि चारों वाक्य उक्त चारों प्रमाण हैं – यह भाष्यकार का अभिप्राय नहीं है। पहले ''तेषु प्रमाणसमवाय:'' इस वाक्य से भाष्यकार कहते हैं कि प्रतिज्ञा आदि अवयवों का मूल गौतम के उक्त चार प्रमाण हैं। इस अभिप्राय के बाद प्रतिज्ञा आदि अवयव चतुष्टय को आगम आदि चतुर्विध प्रमाण कहा गया है। आगम: प्रतिज्ञा आदि भाष्यकार का प्रयोग औपचारिक है। भाष्यकार ने पहले ही इस तात्पर्य से प्रतिज्ञा आदि अवयव चतुष्टय को प्रमाण शब्द से परिगृहीत करके कहा है – ''प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्याय:''।

अभिप्राय यह है कि प्रमाण के बिना केवल उक्त प्रतिज्ञा वाक्यों से किसी तत्त्व का

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

निर्णय नहीं हो सकता। उक्त प्रतिज्ञा आदि वाक्य चतुष्टय के मूल में प्रमाण चतुष्टय विद्यमान हैं। अत: प्रमाण चतुष्टय ही उक्त प्रतिज्ञा आदि वाक्य चतुष्टय का उत्पादक होकर उससे (उक्त वाक्य चतुष्टय से) तत्त्व निर्णय करवाता है। इसी कारण से भाष्यकार ने उक्त पञ्चावयव रूप न्याय वाक्य को ''सोऽयं परमो न्याय:'' कहा है।

यह परम न्याय क्या है? अर्थात् न्याय का परमत्व क्या है – इसके उत्तर में उद्योतकर ने कहा है – प्रतिपन्नपुरुषप्रतिपादकत्वम्''। जो विपरीत पक्ष का समर्थन करते हैं उनको प्रतिपादन करते समय विचार आवश्यक है। एक-एक प्रमाण पृथक् रूप से विप्रतिपन्न पुरुष को प्रतिपन्न (उचित ज्ञान) नहीं कर सकता। लौकिक विषयों में इसके सम्भव होने पर भी आत्मा का नित्यत्व, वेद का प्रामाण्य तथा परलोक आदि अलौकिक विषयों में यह सम्भव नहीं है। प्रकृत सिद्धान्त में वेद का प्रमाण दिखाने पर भी वेद वाक्य की अन्य प्रकार से व्याख्या करके विप्रतिपन्न पुरुष अपने पक्ष की रक्षा कर सकता है। अत: उनके समक्ष प्रकृत तत्त्व का प्रतिपादन करने के लिए सर्वप्रमाणमूलक इस न्याय वाक्य का प्रयोग करना होता है। इस अवयव वाक्य समूह में मूलभूत प्रमाण चतुष्टय का सम्मेलन होने के कारण यह वाक्य तत्त्व का निर्णय उत्पन्न करता है। इसी को प्रकृत (यथार्थ) तत्त्व मानने पर विप्रतिपन्न पुरुष को भी तत्त्वज्ञान ग्राह्य होता है। क्योंकि वह सभी प्रमाणों से सिद्ध है। इसी कारण से भाष्यकार ने इस पञ्चावयव वाक्यों की समष्टि को परम न्याय कहा है जो विप्रतिपन्न पुरुष को तत्त्वज्ञान कराता है। अतएव भाष्यकार ने आगे कहा है – ''तदाश्रया च तत्त्वव्यवस्था''। प्रतिज्ञा आदि अवयव चतुष्टय को भाष्यकार ने कैसे आगम आदि प्रमाण कहा है – इस विषय में आगे निगमन सूत्र भाष्य में विस्तार से कहा जाएगा।

भाष्य – तर्को न प्रमाणसंगृहीतो न प्रमाणान्तरम् प्रमाणानामनुग्राहकस्तत्त्वज्ञानाय कल्पते। तस्योदाहरणं किमिदं जन्म कृतकेन हेतुना निर्वर्त्यते आहोस्विदकृतकेन अथाकस्मिकमिति। एवमविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्त्योहः प्रवर्तते, यदि कृतकेन हेतुना निर्वर्त्यते हेतूच्छेदादुपपन्नोऽयं जन्मोच्छेदः। अथाकस्मिकमतोऽकस्मान्नि-र्वर्त्यमानं न पुनर्निर्वर्त्स्यतीति निवृत्तिकारणं नोपपद्यते, तेन जन्मानुच्छेद इति। एतस्मिंस्तर्कविषये कर्मनिमित्तं जन्मेति प्रमाणानि प्रवर्तमानानि तर्केणानुगृह्यन्ते। तत्त्वज्ञानविषयस्य विभागात् तत्त्वज्ञानाय कल्पते तर्क इति। सोऽयमित्थंभूतस्तर्कः प्रमाणसहितो वादे साधनायोपालंभाय चार्थस्य भवतीत्येवमर्थं पृथगुच्यते प्रमेयान्तर्भूतोऽपीति।

अनुवाद – तर्क प्रमाणसंगृहीत अर्थात् उक्त चार प्रमाणों में अन्यतम नहीं है और भिन्न

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

प्रमाण भी नहीं है किन्तु प्रमाणों का अनुग्राहक अर्थात् सहकारी होकर तत्त्वज्ञान के निमित्त में समर्थ होता है। इस तर्क का उदाहरण है – क्या जन्म अनित्य है – कारण से निष्पन्न होता है, अथवा नित्य कारण से निष्पन्न होता है अथवा आकस्मिक अर्थात् बिना कारण के अपने आप हो जाता है। इस रूप से अनिश्चित तत्त्व पदार्थ में कारण की उपपत्ति अर्थात् प्रमाण का सम्भव हेतुक तर्क प्रवृत्त होता है। (वह तर्क कैसा है – यह दिखाया जा रहा है।)

यदि यह (जन्म) अनित्य कारण से निष्पन्न होता है तो उस नश्वर हेतु का उच्छेद होने से इस जन्म का भी उच्छेद उपपन्न होता है। यदि यह (जन्म) नित्य कारण से निष्पन्न होता है तो उस नित्य कारण का उच्छेद सम्भव नहीं होने से जन्म का उच्छेद उपपन्न नहीं होता। और यदि (जन्म) आकस्मिक होगा तो बिना कारण के अकस्मात् उत्पद्यमान जन्म कभी निवृत्त नहीं होगा। निवृत्ति का कारण उपपन्न नहीं होता, अतः जन्म का उच्छेद नहीं होगा।

तर्क के इस विषय में जन्म कर्म निमित्तक होता है। अर्थात् जन्म पूर्वकृत कर्म का फल धर्म एवं अधर्म जन्य होता है – इस तरह से प्रवर्त्तमान प्रमाणसमूह तर्क से अनुगृहीत होकर अर्थात् इसके सहयोग से अयुक्त का निषेधकर युक्त विषय को अनुज्ञात करता है। तत्त्व ज्ञान के विषय का विभाग अर्थात् युक्त विचार से तर्क तत्त्वज्ञान का निमित्त होता है। ऐसे तर्क प्रमाण का साथ पाकर वाद पदार्थ के साधन एवं उपालम्भपरपक्ष खण्डन का निमित्त होता है। इसलिए प्रमेय में अन्तर्भूत होने योग्य होकर भी इस तर्क का अलग से उल्लेख हुआ है।

टिप्पणी – प्रमाण पद से जिन चार प्रमाणों का संग्रह हुआ है उनमें तर्क का कहीं भी स्थान नहीं है। इनसे भिन्न प्रमाण के रूप में तर्क मान्य भी नहीं है। क्योंकि तर्क तत्त्व का निश्चायक नहीं होता तत्त्व निश्चय के लिए प्रमाण ही प्रयुक्त होता है। इन प्रमाणों से विभिन्न विरुद्ध पदार्थों के ज्ञान का विषय होने पर तर्कयुक्त तत्त्व में प्रवर्त्तमान प्रमाण का अनुग्रह अर्थात् सहयोग करता है। इसी तत्त्व में प्रमाण सम्भव है – यही युक्त है – इस प्रकार से प्रमाण सम्भव प्रयुक्त तत्त्व विशेष का अनुमोदन ही तर्क का अनुग्रह कहलाता है अर्थात् तर्क इसमें सहकारी होता है। इस प्रकार से तर्क से अनुगृहीत प्रमाण ही तत्त्व का निश्चय उत्पन्न करता है। अतः तर्क प्रमाण का सहकारी होता है। वह स्वयं प्रमाण नहीं होता। प्रमाण का सहकारी होकर तर्क तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति में सहायक होता है।

जीव के जन्म के कारण के अनित्य होने पर उस कारण का विनाश होने पर जन्म का उच्छेद सम्भव है और उस जन्म के कारण के नित्य होने पर कभी भी उस कारण का नाश

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

नहीं होगा; अतः जन्म का उच्छेद सम्भव नहीं है। अतः मुक्ति भी सम्भव नहीं होगी। अकस्मात् बिना कारण के जीव का जन्म होने पर पश्चात् भी जन्म हो सकता है। सर्वथा उसकी निवृत्ति सम्भव नहीं है। अतः मुक्ति भी असम्भव है। इस तरह से तर्क के विषय जन्म पदार्थ में ''जन्म विचित्रकर्मजन्यं विचित्रत्वात्'' इस तरह से प्रमाण समूह के प्रवृत्त होने पर तर्क पदार्थ संशय की निवृत्ति करके इस प्रमाण का अनुग्राहक या सहकारी होता है। इस स्थिति में मन में तर्क होता है कि जीव का जन्म पूर्वकृत कर्मों के फलस्वरूप धर्म एवं अधर्म से होता है – यही संगत है। इसी तत्त्व में प्रमाण की उपलब्धि सम्भव है। क्योंकि जीवों की विभिन्न प्रकार की अवस्था विशेष के कारण भिन्न-भिन्न प्रकार से जन्म होता है। वह कभी भी नित्य कारण से या बिना कारण के नहीं हो सकता। जीवों के विचित्र कर्मों के कारण विचित्र प्रकार से उनका जन्म होता है। इस तरह तर्कयुक्त तत्त्व में प्रवृत्त उक्त प्रमाणों का अनुग्रह (साहाय्य) करता है और प्रमाण तत्त्व का निर्णय करता है। तर्कसूत्र के भाष्य में यह अधिक स्पष्ट होगा। यह तर्क प्रमाण का सहकारी होकर वादविचार में स्वपक्ष के साधन और परपक्ष के खण्डन का हेतु होता है। इस कारण से इसका अलग से उल्लेख हुआ है।

भाष्य – **निर्णयस्तत्त्वज्ञानं प्रमाणानां फलं तदवसानो वादः। तस्य पालनार्थं जल्पवितण्डे। तावेतौ तर्कनिर्णयौ लोकयात्रां वहत इति। सोऽयं निर्णयः प्रमेयान्तर्भूत एवमर्थं पृथगुद्दिष्ट इति।**

अनुवाद – प्रमाण समूह के अर्थात् प्रतिज्ञा आदि पञ्चावयव वाक्य के फल तत्त्वज्ञान को निर्णय कहते हैं। वाद निर्णय पर्यन्त होता है। इस निर्णय की रक्षा के लिए जल्प और वितण्डा आवश्यक होती हैं। ये दोनों ही तर्क और निर्णय लोकयात्रा (लोकव्यवहार) का निर्वाह करती हैं। यद्यपि यह निर्णय पदार्थ प्रमेय में अन्तर्भूत हो सकता है किन्तु पूर्व उक्त कारण से पृथक् रूप में इसका उल्लेख हुआ है।

टिप्पणी – केवल तत्त्व ज्ञान को निर्णय कहने पर इन्द्रिय सम्बन्ध से होनेवाला प्रत्यक्षात्मक तत्त्वज्ञान भी गौतमोक्त निर्णय पदार्थ के रूप में मान्य होगा। अतः कहा है कि ''प्रमाणानां फलम्''। तात्पर्यटीकाकार कहते हैं कि प्रमाणानां में बहुवचनान्त बोध से प्रतिज्ञा आदि पञ्चावयव वाक्य अभिप्रेत हैं क्योंकि उसी में (पञ्चावयव वाक्य की समष्टि में) तर्कयुक्त प्रमाण समूह का मिलन होता है। वस्तुतः यदि जिस किसी प्रमाण से तर्कपूर्वक तत्त्व का निश्चय ''निर्णय'' पदार्थ होता है तो तर्क के साथ प्रत्यक्ष आदि प्रमाण का फल भी निर्णय हो सकता है। किन्तु भाष्यकार की व्याख्या से ऐसा ज्ञात नहीं होता। (निर्णय सूत्र की व्याख्या इसके लिए द्रष्टव्य है।)

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

वादी का निराकरण होने पर जल्प और वितण्डा की निवृत्ति होती है। किन्तु निर्णय के बिना वाद विचार की निवृत्ति नहीं होती क्योंकि वाद का उद्देश्य है निर्णय। जल्प और वितण्डा निर्णय की रक्षा के लिए आवश्यक हैं। तर्क और निर्णय लोक-यात्रा (लोकव्यवहार) के निर्वाहक होते हैं। क्योंकि लोक सब कुछ जानकर तर्क और निर्णय के आधार पर त्याज्य का त्याग और ग्राह्य का ग्रहण करता है। तात्पर्यटीकाकार कहते हैं कि यहाँ लोक से पामर नहीं अपितु परीक्षा में सर्वथा समर्थ लोक अभिप्रेत है। क्योंकि परीक्षक से भिन्न साधारण लोक से तर्क करना सम्भव नहीं है। इन्हीं कारणों से उक्त निर्णय पदार्थ गौतम के अभिहित प्रमेय पदार्थ में अन्तर्भूत होने पर भी उसका पृथक् उल्लेख विशेष ज्ञान के लिए हुआ है। वार्त्तिककार कहते हैं – ''अस्यान्तर्भावः प्रमाणेषु प्रमेयेषु वा। यदा फलं तदा प्रमेयं यदा तेन परिच्छिनत्ति तदा प्रमाणम्''। उक्त निर्णय पदार्थ यदि प्रमाण फल रूप में मान्य होगा तो वह ज्ञान विशेष रूप होने से प्रमेय होगा और जब इस निर्णय से अन्य पदार्थ का यथार्थ निश्चय होगा तब वह प्रमाणरूप में मान्य होगा। प्रमाणत्व और प्रमाणफलत्व एवं प्रमाणत्व-प्रमेयत्व अवस्था के भेद से एक पदार्थ में भी रह सकता है। इसलिए वार्त्तिककार ने कहा है – ''न व्यवतिष्ठते प्रमाणफलभावः एतच्च वक्ष्यामः''। पश्चात् प्रमाण की व्याख्या में यह अधिक स्पष्ट होगा।

भाष्य **– वादः खलु नानाप्रवक्तृकः प्रत्यधिकरणसाधनोऽन्यतराधिकरण-निर्णयावसानो वाक्यसमूहः पृथगुद्दिष्टः उपलक्षणार्थम्। उपलक्षितेन व्यवहारस्तत्वज्ञानाय भवतीति। तद्विशेषौ जल्पवितण्डे तत्त्वाध्यावसायसंरक्षणार्थमित्युक्तम्।**

अनुवाद – नानावक्तृक अर्थात् जहाँ एक से अधिक वक्ता हों, प्रत्येक साध्य में साधन विशिष्ट अपने अपने साध्य के लिए हेतु का प्रयोग करे, किसी एक साध्य के निर्णय में उसका पर्यवसान हो अर्थात् वादी और प्रतिवादी के साध्यों में किसी एक साध्य का निर्णय जिसका शेषफल हो, ऐसा वाक्यसमूह रूप वाद उपलक्षण अर्थात् परिज्ञान के लिए पृथक् अभिहित हुआ है। उपलक्षित अर्थात् परिज्ञात इस वाद का व्यवहार तत्त्वज्ञान के निमित्त होता है। इसके विशेष जल्प और वितण्डा तत्त्व निश्चय के संरक्षण के लिए पृथक् रूप में अभिहित हुए हैं। यही यहाँ वक्तव्य है।

टिप्पणी – एक वक्ता या शास्त्रकर्ता का पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष, दूषण तथा समाधान का प्रतिपादक वाक्यसमूह गौतम का ''वाद'' नहीं है। इसलिए भाष्यकार ने पहले ही कहा है कि ''नानाप्रवक्तृकः। नाना प्रवक्तारो यस्मिन् स तथा'' अर्थात् वादी और प्रतिवादी दोनों ही जहाँ अपने-अपने सिद्धान्त के अनुकूल वाक्य का प्रयोग करते हैं। ऐसा मानने पर

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

वितण्डा में वाद का लक्षण चला जाएगा। इसके लिए कहा है – ''प्रत्यधिकरणसाधन:''। यहाँ तात्पर्यटीकाकार व्याख्या करते हैं – ''अधिक्रियते इत्यधिकरणं साध्यम् तदधिकृत्य साधनप्रवृत्ते:'' ''प्रत्यधिकरणं साधनं यस्मिन् वादे स तथोक्त:''। अर्थात् अधिकरण शब्द का अर्थ यहाँ साध्य धर्म होता है। वादकथा में वादी तथा प्रतिवादी दोनों ही अपने-अपने साध्य के साधनार्थ हेतु का प्रयोग करते हैं। अत: वह प्रत्यधिकरण साधन होता है। किन्तु वितण्डा में प्रतिवादी अपने साध्य के साधन के लिए हेतु का प्रयोग अर्थात् अपने पक्ष का स्थापन नहीं करता। अत: वाद का लक्षण वितण्डा में नहीं जाता। किन्तु ऐसा वाद का लक्षण मानने पर जल्प में वाद का लक्षण चला जाएगा। अत: वाद में कहते हैं – ''अन्यतराधिकरणनिर्णयावसान:'' एक साध्य के निर्णय होने पर जिसका अवसान हो जाता है। जीतने की इच्छा से प्रवृत्त वादी और प्रतिवादी की जल्प कथा ऐसी नहीं होती। क्योंकि इसमें जिस किसी प्रकार से एक की पराजय होने पर ही जल्पकथा की समाप्ति होती है। इसमें तत्त्व निर्णय की अपेक्षा नहीं होती। यह वाद गौतम के चतुर्थ प्रमेय (अर्थ) में अन्तर्भूत हो सकता है। किन्तु इसके विशेष ज्ञान के लिए यहाँ इसका अलग से उल्लेख हुआ है। क्योंकि यह वाद तत्त्वज्ञान का विशेष रूप से सहायक होता है।

वाद के पश्चात जल्प और वितण्डा पदार्थों के पृथक् उल्लेख का कारण कहने के लिए भाष्यकार ने कहा है – ''तद्विशेषौ जल्पवितण्डे'' आदि। ''विशिष्येते भिद्येते'' – इस प्रकार की व्युत्पत्ति के अनुसार यहाँ विशेष का अर्थ होता है भिन्न। वाद से विशेष क्या है जल्प और वितण्डा में – इसके उत्तर में वार्त्तिककार ने कहा है कि ''अंगाधिक्यमङ्गहानिश्च''। जल्प में छल, जाति और सभी निग्रह स्थानों का उद्भावन रहने के कारण वाद से अधिक अंग होते हैं और वितण्डा में प्रतिवादी के अपने पक्ष का स्थापन नहीं होने से अंग की हानि होती है। जल्प और वितण्डा में विषय के भेद से भी वाद से उनकी भिन्नता है। किन्तु सभी प्रकार का भेद नहीं है। क्योंकि वादी और प्रतिवादी के तीनों प्रकारों के विचाररूप वाद, जल्प और वितण्डा का एक नाम कथा होती है। अत: कथात्व रूप से उक्त तीनों पदार्थों का अभेद मान्य है। भाष्यकार के उद्दिष्ट शब्द में लिंग और वचन का परिवर्तन करके ''जल्पवितण्डे पृथक् उद्दिष्टे'' ऐसी व्याख्या करनी होगी। वाक्यस्वरूप जल्प और वितण्डा चतुर्थ प्रमेय (अर्थ) में अन्तर्भूत हो सकते हैं। तथापि उनके पृथक् उल्लेख का कारण यह है कि तत्त्व निश्चय की रक्षा के लिए जल्प और वितण्डा आवश्यक है। अत: महर्षि गौतम ने कहा है – ''तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थम्'' जिसका उल्लेख यहाँ भाष्यकार ने भी किया है (दृष्टव्य सूत्र ४.२.५०)।

भाष्य – निग्रहस्थानेभ्य:पृथगुद्दिष्टा हेत्वाभासा चोदनीया भविष्यन्तीति। जल्पवितण्डयोस्तु निग्रहस्थानानीति।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अनुवाद – हेत्वाभास आदि वादकथा में उद्भावनीय है। अतः हेत्वाभास का निग्रहस्थान से पृथक् उल्लेख हुआ है। जल्प और वितण्डा में किन्तु यथासम्भव सभी निग्रहस्थानों का उद्भावन हो सकता है।

टिप्पणी – जो व्यभिचार आदि किसी दोष से युक्त होने के कारण हेतु नहीं होता किन्तु हेतु की तरह प्रतीत होता है उसको हेत्वाभास कहते हैं। महर्षि गौतम के मत में यह हेत्वाभास पाँच प्रकार के होते हैं। न्याय वाक्य से तत्त्व का निर्णय करते समय इस हेत्वाभास पदार्थ का विशेष ज्ञान आवश्यक है। अतः न्यायविद्या में (न्यायशास्त्र में) हेत्वाभास का उल्लेख अवश्य अपेक्षित है। महर्षि जब षोडश पदार्थ के परिगणन में उद्दिष्ट निग्रहस्थान पदार्थ के विभाग के समय अन्त में हेत्वाभास का उल्लेख करते हैं तब पुनः हेत्वाभास के पृथक् उल्लेख का प्रयोजन क्या है। इसके उत्तर में भाष्यकार कहते हैं वादकथा में हेत्वाभास रूप निग्रहस्थान का उद्भावन होगा – यही समझाने के लिए हेत्वाभास का अलग से उल्लेख हुआ है। तात्पर्य यह है कि जल्प और वितण्डा में पराजय की सूचना के लिए सभी निग्रहस्थानों का उद्भावन किया जाता है। किन्तु वादकथा में सर्वविध निग्रहस्थान का उद्भावन वर्जित है। क्योंकि तत्त्वजिज्ञासु शिष्य गुरु तथा सतीर्थ्य आदि के साथ तत्त्वनिर्णय के उद्देश्य से वादकथा की जाती है। चूँकि जीतने की इच्छा इसमें नहीं रहती, अतः गुरु आदि वक्ता के साथ अप्रतिभा आदि निग्रह स्थान का उद्भावन नहीं किया जाता। इनका उद्भावन करने पर वह वादकथा ही नहीं होगी जल्प हो जाएगी। गुरु आदि वक्ता भ्रम तथा प्रमादवश किसी हेत्वाभास से अर्थात् दुष्ट हेतु से साध्य का साधन करने पर अथवा किसी अपसिद्धान्त के कथन होने पर तत्त्वजिज्ञासु शिष्य अवश्य ही उसका उद्भावन करेगा। अन्यथा वहाँ तत्त्वनिर्णय का उद्देश्य ही सिद्ध नहीं होगा। इस सिद्धान्त के सूचनार्थ महर्षि गौतम ने प्रथम सूत्र में हेत्वाभास का पृथक् उल्लेख किया है और इस पृथक् उल्लेख के द्वारा समानयुक्ति के बल पर वह सिद्धान्त नामक निग्रहस्थान भी वादकथा में उद्भावनीय होता है। अतः अपसिद्धान्त का पृथक् उल्लेख आवश्यक नहीं है – इसी में भाष्यकार का तात्पर्य है।

किन्तु वार्तिककार उद्योतकार यहाँ कहते हैं कि वादकथा में उद्भावना का पृथक् उल्लेख आवश्यक है – यह जैसे नहीं कहा जा सकता है इसी प्रकार अलग से उल्लेख होने पर वादकथा में वह उद्भावनीय है – यह भी नहीं कहा जा सकता। अतः हेत्वाभास पदार्थ के पृथक् उल्लेख का प्रयोजन क्या है? इसके उत्तर में वार्तिककार कहते हैं – ''एतदेव तु न्याय्यं प्रयोजनं विद्याप्रस्थानभेदज्ञापनार्थत्वादिति''। तात्पर्य व्याख्याकार वाचस्पति मिश्र यहाँ लिखते हैं – ''तदेतदेकदेशिमतं दूषयित्वा स्वमतेन भाष्यं व्याचष्टे-

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

एतदेव तु न्याय्यमिति'' । यहाँ वाचस्पति मिश्र की व्याख्या के अनुसार वाद, जल्प और वितण्डा रूप विद्या या विद्या के प्रस्थान में व्यापार का भेदज्ञापन ही हेत्वाभास के पृथक् उल्लेख का चरमफल मान्य है। किन्तु उद्योतकर की व्याख्या के अनुसार विद्या प्रस्थान शब्द का उक्त अर्थ ज्ञात नहीं होता। उदयनाचार्य ने यद्यपि इस मत का समर्थन किया है तथापि वृत्तिकार विश्वनाथ ने इससे आन्वीक्षिकी आदि चतुर्विध विद्या प्रस्थान को ही कहा है। वार्त्तिककार ने पहले यहाँ भाष्यकार के मत का खण्डन करके बाद में अपना मत कहा है। इससे सरलतया ज्ञात होता है कि वार्त्तिककार भाष्यकार के तात्पर्य की व्याख्या नहीं करते।

वृत्तिकार विश्वनाथ ने भी यही समझकर यहाँ अपनी वृत्ति में वार्त्तिककार की बात का उल्लेख करके लिखा है – ''तदप्यसत्'' । इन्होंने पश्चात् अपने अभिनव मत का प्रकाशन किया है कि हेत्वाभास निग्रहस्थान है ही नहीं किन्तु हेत्वाभास का प्रयोग निग्रहस्थानीय होता है। अतः निग्रहस्थान में हेत्वाभास का उल्लेख करते हुए उसका अलग से भी उल्लेख हुआ है। वृत्तिकार के इस मत पर भी बहुत कुछ कहना है। सो जो भी हो, भाष्यकार के पक्ष में वक्तव्य है कि वाद विचार में उद्भावनीय होने पर भी उसका अलग से उल्लेख करना है – ऐसा भाष्यकार का तात्पर्य नहीं है किन्तु वाद विचार में भी हेत्वाभास रूप निग्रहस्थान का अवश्य प्रयोग होगा – इसकी सूचना के लिए उसका पृथक् उल्लेख हुआ है। वाद से जल्प और वितण्डा में वैलक्षण्य की सूचना के लिए भी इसका अलग से उल्लेख हुआ है। अतएव पश्चात् भाष्यकार कहते हैं – ''जल्प वितण्डयोस्तु। निग्रहस्थानानि'' ।

भाष्य – **छल-जाति-निग्रहस्थानानां पृथगुपदेश उपलक्षणार्थ इति। उपलक्षितानां स्ववाक्ये परिवर्तनम् परिवर्जनीयम् छलजातिनिग्रहस्थानानां परवाक्ये पर्यनुयोगः। जातेश्च परेण प्रयुज्यमानायाः सुलभः समाधिः स्वयं च सुकरः प्रयोग इति।**

अनुवाद – छल, जाति तथा निग्रहस्थान का पृथक् उल्लेख परिज्ञान के लिए हुआ है। इनके परिज्ञात होने पर अपने वाक्य में इनका परिवर्जन (अप्रयोग) और दूसरे के (प्रतिपक्षी के) वाक्य में पर्यनुपयोग (प्रदर्शन) होता है। और परकर्तृक प्रयुज्यमान जाति का समाधि (सम्यक् उत्तर) सुलभ होता है और स्वयं के लिए इसका प्रयोग सुकर होता है।

टिप्पणी – प्रथम सूत्र में उद्दिष्ट छल, जाति और निग्रहस्थान नामक तीन पदार्थों का परिचय प्रथम अध्याय के अन्त में उपलब्ध है। किन्तु ये तीनों ही पदार्थ प्रमेय पदार्थ में अन्तर्भूत होने पर भी महर्षि ने उनका पृथक् उल्लेख क्यों किया है – इसके उत्तर में भाष्यकार ने कहा है कि इनके परिज्ञान के लिए पृथक् उल्लेख हुआ है। वार्त्तिककार यहाँ

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

व्याख्या करते हैं कि केवल परिज्ञान के लिए ही इनका पृथक् उल्लेख हुआ है – ''परिज्ञानार्थं केवलम्'' । इनके परिज्ञान का फल क्या होगा – इसके लिए भाष्यकार ने कहा है कि ''स्ववाक्यपरिवर्जनम्'' आदि । इसके परिज्ञान का फल है अपने वाक्य में इनका अप्रयोग और दूसरे के वाक्य में इनका प्रदर्शन । इन पदार्थों का अच्छी तरह ज्ञान नहीं रहने पर अपने वाक्य में अप्रयोग और दूसरों के वाक्य में इनका प्रदर्शन कभी भी सम्भव नहीं है । परन्तु गौतम द्वारा प्रतिपादित जाति पदार्थ का (जाति नामक असदुत्तर का) परिज्ञान रहने पर ही प्रतिवादी द्वारा प्रयुक्त जाति का समाधान वा सम्यक् उत्तर किया जा सकता है एवं स्वयं इस जाति का प्रयोग सुकर होता है ।

भाष्यकार ने पहले वादी को अपने वाक्य में इनके परित्याग की बात कही है और पुनः ''स्वयं च सुकरः प्रयोगः'' कहा है – यह कैसे सम्भव है – इस शंका के समाधान हेतु वार्त्तिककार ने इस विरोध की बात उठाकर इसमें परिहार के लिए कहा है – ''न व्याघातः प्रश्नापाकारणार्थत्वात्'' । जहाँ प्रतिवादी जाति नाम के असदुत्तर का व्यवहार करता है वहाँ वादी सभ्यों को यह कह देता है तो सभ्यगण प्रश्न करते हैं कि कैसे ! अर्थात् प्रतिवादी की यह कथा असदुत्तर जाति कैसे होती है, गौतम द्वारा उक्त चौबीस जातियों में यह कौन-सी जाति है और इसका लक्षण क्या है? सभ्यगण के इन सभी प्रश्नों के निराकरण हेतु वादी को जाति का सर्वांशतः परिज्ञान आवश्यक है । जाति के लक्षण आदि का ज्ञान रहने पर ही वह सभ्यगण को अच्छी तरह समझा सकेगा । भाष्यकार ने इसी अभिप्राय से कहा है – ''स्वयं च सुकरः प्रयोगः'' । किन्तु वादी अपने पक्ष के स्थापन के समय जाति का प्रयोग नहीं करेगा – यह स्थिर है । अब भाष्यकार की पूर्वापर उक्ति का विरोध परिहृत हो जाता है । भाष्यकार ने यहाँ तक न्यायविद्या के प्रस्थान रूप में प्रसिद्ध प्रथम सूत्र के संशय आदि चौदह पदार्थों के समर्थन के साथ इनके पृथक् उल्लेख का कारण कहा है । इस सन्दर्भ से उपर्युक्त पूर्वपक्ष का स्पष्ट समाधान होता है ।

भाष्य – सेयमान्वीक्षिकी प्रमाणादिभिः पदार्थैर्विभज्यमाना –

प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणात् ।
आश्रयः सर्वधर्माणां विद्योद्देशे प्रकीर्तिता ॥

तदिदं तत्त्वज्ञानं निश्रेयसाधिगमश्च यथाविद्यं वेदितव्यम् । इह त्वध्यात्मविद्यायामात्मादिज्ञानं तत्त्वज्ञानं निःश्रेयसाधिगमोऽपवर्गप्राप्तिरिति ।[१५]

---

[१५] प्रचलित भाष्य पुस्तक में ''अपवर्गप्राप्तिः'' पर्यन्त पाठ है । यहाँ भाष्यकार ने समाप्तिसूचक इति पद अन्त में दिया है – यह अवश्य अवधेय है । वार्त्तिककार उद्योतकर ने भी प्रथम सूत्र के →

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अनुवाद – प्रमाण पदार्थ कर्तृक विभज्यमान (पृथक् क्रियमाण) अर्थात् प्रमाण आदि पूर्वोक्त सोलह पदार्थस्वरूप विद्या अन्य विद्या से विशिष्ट है – आन्वीक्षिकी (न्यायविद्या) सभी विद्याओं का प्रदीप है, सभी कर्मों का उपाय है, सभी धर्मों का आश्रय है – विद्या के उद्देश्य अर्थात् शास्त्र में विद्या के परिगणन स्थल में प्रकृष्ट रूप से कीर्तित है। वह तत्त्वज्ञान एवं निःश्रेयस लाभ प्रत्येक विद्या के अनुसार समझना चाहिए। इस अध्यात्मविद्या में आत्मा आदि का – आत्मा आदि प्रमेय का तत्त्वज्ञान होता है और निःश्रेयस का लाभ होता है, अपवर्ग की प्राप्ति होती है। अन्य विद्याओं से इस न्यायविद्या में तत्त्वज्ञान और निःश्रेयस में यह विशेष है।

टिप्पणी – उपसंहार में भाष्यकार ने न्यायविद्या की श्रेष्ठता समझाने के लिए कहा है कि बुद्धिमान् के लिए ऐसा कोई प्रयोजन नहीं है जिसके लिए न्यायविद्या की आवश्यकता नहीं है[१६]। इस न्यायविद्या से व्युत्पादित प्रमाण आदि पदार्थों का अवलम्बन करके अन्य अन्य विद्याएँ अपने-अपने प्रतिपाद्य तत्त्व का प्रतिपादन करती हैं। अतः सभी विद्याओं का प्रकाशक होने के कारण इसको (न्यायविद्या को) सभी विद्याओं का प्रदीप कहा है। यह सभी कर्मों का उपाय है। क्योंकि इस न्यायविद्या से परिशोधित प्रमाण आदि से सभी विद्याओं के प्रतिपाद्य कर्म प्रकाशित होते हैं। साम, दाम आदि तथा कृषि, वाणिज्य आदि कर्मों का मूल भी यह न्यायविद्या ही है। यह विद्या सभी धर्मों का आश्रय-रक्षक है। तात्पर्यटीकाकार ने व्याख्या करते हुए कहा है कि पुरुष की प्रवर्तना अर्थात् कर्म में पुरुष को लगाना सभी विद्याओं का धर्म है और वह न्यायविद्या के अधीन है। क्योंकि विचार करने वाला मानव न्यायविद्या की सहायता से ही कर्त्तव्य का निर्णय करके क्लेश साध्य कर्म में प्रवृत्त होता है। अन्य विद्याएं भी न्यायविद्या की सहायता से पुरुषों को कर्मों में प्रवृत्त कराती हैं।

सभी विद्याओं के उपयोगी प्रमाण आदि पदार्थ जब इस न्यायविद्या के प्रतिपाद्य होते हैं, तब प्रथम सूत्रोक्त निःश्रेयस पद से अभिप्रेत मोक्ष इस विद्या का प्रयोजन कैसे हो सकता है। उक्त प्रमाण आदि पदार्थों के स्वभाव का पर्यालोचन करने से ज्ञात होता है कि उन पदार्थों के तत्त्वज्ञान होने पर भिन्न समस्त विद्यासाध्य निःश्रेयस की प्राप्ति हो सकती

→ वार्तिक के अन्त में इति पद दिया है। जहाँ टीकाकार वाचस्पति मिश्र लिखते हैं – "इति सूत्रसमाप्तौ"।

[१६] सूत्रकारेण शास्त्रस्यात्यन्तिकदुःखोपरमरूपनिःश्रेयसाधिगमः प्रयोजनमुक्तम्। भाष्यकारस्तु नास्त्येव तत् प्रेक्षावतां प्रयोजनम् यत्रान्वीक्षिकी न निमित्तं भवतीत्याह – "सेयमान्वीक्षिकीति"। – तात्पर्यटीका।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

है। अतः न्यायविद्या का साध्य निःश्रेयस में अन्य-अन्य विद्याओं के साध्य निःश्रेयस से कुछ विशेष नहीं रहता – इस आशंका को मन में रखकर ही भाष्यकार का अभिप्राय यह है कि सभी विद्याओं से तत्त्वज्ञान और निःश्रेयस होते हैं। अन्य विद्याओं के द्वारा साध्य सभीं निःश्रेयस से न्यायविद्या का मुख्य फल निःश्रेयस कुछ विशिष्ट या भिन्न होता है। यह बात सभी विद्याओं के तत्त्वज्ञानों के स्वभाव पर्यालोचन से ही ज्ञात हो सकता है। मनु द्वारा उक्त त्रयी, वार्ता, दण्डनीति और आन्वीक्षिकी – इन चार प्रकार की विद्याओं में वेद विद्या का नाम त्रयी है। याग आदि का यथार्थ ज्ञान ही उस विद्या में तत्त्वज्ञान से अभिप्रेत है, स्वर्ग की प्राप्ति ही वहाँ निःश्रेयस होती है। कृषि आदि जीवरेखाशास्त्र का नाम वार्त्ता है। भूमि आदि विषयक यथार्थज्ञान ही उस शास्त्र का तत्त्वज्ञान होता है और कृषि एवं वाणिज्य से उपलब्ध लाभ ही वहाँ निःश्रेयस पदार्थ है। दण्डनीति शास्त्र में देश, काल तथा पात्र के अनुसार साम, दाम, भेद और दण्ड आदि के प्रयोग का ज्ञान तत्त्वज्ञान होता है और राज्य आदि का लाभ इस शास्त्र का निःश्रेयस होता है। प्रत्येक विद्या के प्रतिपाद्य विषय समूह के स्वभाव का पर्यालाचन करने पर ही इन विद्याओं के भिन्न-भिन्न तत्त्वज्ञानों का एवं निःश्रेयस का परिज्ञान हो सकता है। इसलिए भाष्य में वचन है – ''यथाविद्यं वेदितव्यम्''।

किन्तु यह आन्वीक्षिकी अध्यात्मविद्या है। यद्यपि प्रमाण आदि पदार्थ समूह सभी विद्याओं के प्रति उपयोगी होने से सर्व विद्या साधारण हैं तथापि आत्मा आदि प्रमेय रूप असाधारण पदार्थों का उल्लेख रहने से यह उपनिषद् की तरह केवल अध्यात्मविद्या ही नहीं अपितु अध्यात्मविद्या भी है। इसी को समझाने के लिए भाष्यकार ने कहा है – ''इह त्वध्यात्मविद्यायाम्'' आदि। सभी विद्याओं के उपयोगी प्रमाण आदि पदार्थों के व्युत्पादक होने पर भी प्रत्येक विद्यासाध्य निःश्रेयस के लाभ में सहायक होने से और संशय आदि प्रस्थानभेदक पदार्थों के विचार से उपनिषद् की तरह के वल अध्यात्मविद्या न रहकर आत्मतत्त्वज्ञान के साधन होने से आत्मनिरूपण रूप प्रमुख उद्देश्य में यह न्यायविद्या प्रवृत्त होती है। अतः यह न्यायविद्या जब अध्यात्मविद्या होती है तब आत्मा आदि विषयों के तत्त्वज्ञान को तत्त्वज्ञान मानना होगा एवं मोक्ष लाभ को ही निःश्रेयस लाभ मानना होगा।

यहाँ स्मरणीय है कि न्यायविद्या केवल अध्यात्मविद्या नहीं है – यह बात पहले भी भाष्यकार ने कही है और यहाँ भी पहले न्यायविद्या को सभी विद्याओं का प्रदीप, सभी कर्मों का उपाय और सभी धर्मों का आश्रय कहा है। इससे प्रतीत होता है कि भाष्यकार की दृष्टि में सभी प्रकार के निःश्रेयस न्यायविद्या के प्रयोजन होते हैं। तात्पर्यटीकाकार

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

वाचस्पति मिश्र ने भी भाष्यकार की इस कथा के अवतरण में ऐसा ही भाष्यवचन के तात्पर्य का वर्णन किया है। तात्पर्यपरिशुद्धि में आचार्य उदयन ने कहा है कि भाष्यकार द्वारा कथित अन्य प्रयोजन समूह सूत्रकार द्वारा उक्त प्रयोजन का अविरोधी तथा अनुकूल है। इसके प्रदर्शन में वाचस्पति मिश्र ने सूत्रकार द्वारा कथित प्रयोजन का अनुवाद किया है। अदृष्ट निःश्रेयस अर्थात् मोक्ष ही न्यायविद्या का मुख्य प्रयोजन होने पर भी अन्यान्य विद्यासाध्य सभी दृष्ट निःश्रेयस भी न्यायविद्या का गौण या साधारण प्रयोजन होते हैं। फलितार्थ यह हुआ कि भाष्यकार के मत में मुख्य और गौण सभी प्रकार के निःश्रेयस न्यायविद्या के प्रयोजन हैं – यह बात वाचस्पति मिश्र आदि द्वारा भी समर्थित है।

जिस विद्या का जो मुख्य प्रयोजन होता है उसी को उस विद्या का निःश्रेयस माना जाता है। उस निःश्रेयस के साधन का ज्ञानविशेष ही उस विद्या के तत्त्वज्ञान के रूप में मान्य होता है। चूँकि न्यायविद्या अध्यात्मविद्या है अतः उसका मुख्य प्रयोजन अपवर्ग होता है और उसका साक्षात् साधन आत्मा आदि प्रमेयों का तत्त्वज्ञान। अतः भाष्यकार ने न्यायविद्या में निःश्रेयस से अपवर्ग और आत्मआदि के यथार्थज्ञान को तत्त्वज्ञान कहा है। इसका यह अर्थ नहीं होता कि अन्यान्य निःश्रेयस न्यायविद्या का फल नहीं है। उस फलांश में अन्यान्य विद्याओं से न्यायविद्या का भेद दिखाने के लिए भाष्यकार ने यह बात कही है। किन्तु उपनिषद् की तरह न्यायविद्या यदि केवल अध्यात्मविद्या होती तब मोक्ष से भिन्न अन्य निःश्रेयस उसके फल नहीं होते और तब भाष्यकार के इस कथन का कोई प्रयोजन ही नहीं रहता। अन्य विद्याओं के फलीभूत सभी प्रकारों के निःश्रेयस को भी न्यायविद्या का यदि फल माना जाए तो सभी विद्याओं के फलों के साथ न्यायविद्या के फल का सम्पूर्ण रूप से अभेद की आपत्ति हो जाएगी। इसलिए भाष्यकार ने कहा है कि न्यायविद्या उपनिषद् की तरह सर्वांशतः अध्यात्मविद्या न होकर यदि अल्पांशतः भी अध्यात्मविद्या है तो उसका मुख्य प्रयोजन अपवर्ग ही होगा। वेद के कर्मकाण्डरूप त्रयी, वार्त्ता और दण्डनीति आदि से फल के रूप में इस न्यायविद्या का भेद अवश्य है। किन्तु विभिन्न विद्याओं के साध्य सभी प्रकार के निःश्रेयस भी न्यायविद्या का फल है। अतः अन्यान्य विद्याओं से न्यायविद्या का उक्तरूप वैशिष्ट्य के प्रकाशनार्थ महर्षि गौतम ने सूत्र के अन्त में ''निःश्रेयसाधिगमः'' कहा है। किन्तु द्वितीय सूत्र में मुख्य फल परामुक्ति का क्रम वर्णन करते हुए केवल उस मुख्य फल के बोध के लिए महर्षि ने वहाँ ''अपवर्गः'' कहा है। यह आगे स्पष्ट होगा (१.१.१)।

भाष्य – तच्च खलु वै निःश्रेयसं किं तत्त्वज्ञानान्तरमेव भवति? नेत्युच्यते, किं तर्हि, तत्त्वज्ञानात् –

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

सूत्र – दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः[१७] । १.१.२ ।

अनुवाद – यह निःश्रेयस अर्थात् न्यायविद्या का उपर्युक्त मुख्य प्रयोजन अपवर्ग तत्त्वज्ञान के अव्यवहित पश्चात् होता है – ऐसा नहीं कहा गया है। महर्षि गौतम यह नहीं कहते कि तत्त्वज्ञान के अव्यवहित पश्चात् ही निर्वाण (मुक्ति) होता है। किन्तु तत्त्वज्ञान प्रयुक्त होता है –

दुःख, जन्म, प्रवृत्ति (धर्म ओर अधर्म) दोष, राग और द्वेष एवं मिथ्याज्ञान का अर्थात् आत्मा आदि प्रमेय पदार्थों के विषय में अनेक प्रकार के भ्रम ज्ञान का उत्तरोत्तर अपाय अर्थात् निवृत्ति से तदनन्तर उक्त मिथ्याज्ञान आदि पर परपदार्थों के अव्यवहित पूर्वोक्त दुःखपर्यन्त पदार्थों की निवृत्ति से अपवर्ग (मोक्ष, निर्वाण) होता है।

टिप्पणी – महर्षि गौतम ने प्रथम सूत्र के द्वारा न्यायशास्त्र के प्रतिपाद्य सोलह पदार्थों का उद्देश्य तथा उस शास्त्र के प्रयोजन निःश्रेयस के कथन के साथ उन दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध की सूचना दी है। किन्तु परीक्षा सूत्र में उसकी परीक्षा की जाती है अर्थात् अपने सिद्धान्त के ज्ञापन से पूर्वोक्त प्रयोजन एवं सम्बन्ध का समर्थन किया गया है। यह द्वितीय सूत्र न्यायशास्त्र का सिद्धान्तबोधक सूत्र है। बिना पूर्वपक्ष के सिद्धान्त सम्भव नहीं है। अतः भाष्यकार ने पहले पूर्वपक्ष की सूचना से सूत्र का अवतरण किया है।

वार्त्तिककार उद्योतकर ने पूर्वपक्ष की व्याख्या करते हुए कहा है कि तत्त्वसाक्षात्कार रूप चरम तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होने पर परक्षण में उस तत्त्वदर्शी व्यक्ति को अपवर्ग की प्राप्ति होती है। चूँकि अपवर्ग प्राप्त व्यक्ति का इस शरीर के साथ रहना सम्भव नहीं है अतः वह किसी को अपने उस दृष्ट तत्त्व का उपदेश नहीं कर पाता। निर्वाणस्वरूप मुक्ति की प्राप्ति के पश्चात् उसका शरीर आदि नहीं रहते। श्रुति कहती है – ''अशरीरं वावसन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः'' (छान्दोग्य उप.)।

किन्तु शास्त्र सम्प्रदाय के अविच्छेद के कारण तत्त्वदर्शी सिद्धगुरुओं की सशरीर विद्यमानता मान्य है। शिष्य की शास्त्रप्राप्ति ही शास्त्रसम्प्रदाय या गुरु-परम्परा है। किसी तत्त्वदर्शी प्रकृत गुरु के सशरीर नहीं रहने पर यह शास्त्र सम्प्रदाय विच्छिन्न हो

---

[१७] अनेक पुस्तकों में इस सूत्र का पाठ ''तदनन्तराभावात्'' उपलब्ध है। किन्तु महर्षि ने पहले अपाय शब्द का प्रयोग करके पश्चात् अपाय शब्द का ही प्रयोग किया होगा, ऐसा प्रतीत होता है। भाष्यकार भी पश्चात् अपयन्ति एवं अपैति पद से इसकी व्याख्या करते हैं। उद्योतकर, शंकराचार्य तथा वाचस्पति मिश्र ने भी तदनन्तरापायात् पाठ का ही ग्रहण किया है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

जाएगा। अतः अन्तिम तत्त्वज्ञान का लाभ हो जाने पर तत्त्वदर्शी गुरु जीवित रहकर शिष्यों को अपने दृष्ट समान तत्त्वों का उपदेश करते हैं – यह मान्य है। किन्तु इस चरम तत्त्वज्ञान को मुक्ति का कारण नहीं कहा सकता क्योंकि इसके अव्यवहित पश्चात् अपवर्ग नहीं हो पाता है।

महर्षि ने इस पूर्वपक्ष का उत्तर देने के लिए ही द्वितीय सूत्र में परामुक्ति के क्रम का प्रतिपादन किया है। उद्योतकर ने कहा है – ''क्रमप्रतिपादनार्थं चेदं सूत्रम्'' – दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानाम् इत्यादि।

उत्तरपक्ष में महर्षि का गूढ़ अभिप्राय यह है कि अपवर्ग रूप निःश्रेयस दो प्रकार के होते हैं – पर और अपर। परनिःश्रेयस ही निर्वाण या मुक्ति है। यह तत्त्वज्ञान के अव्यवहित पश्चात् नहीं होता। किन्तु तत्त्वज्ञान होने पर मिथ्याज्ञान की निवृत्ति क्रम से होती है। और अपरनिःश्रेयस तत्त्वज्ञान अव्यवहित पश्चात् ही हो जाता है – इसको जीवन्मुक्ति कहते हैं। अन्तिम तत्त्वज्ञान के माहात्म्य से तत्त्वदर्शी के पूर्व संचित समस्त धर्म एवं अधर्म का क्षय हो जाने पर उसके समस्त प्रारब्ध कर्म का अर्थात् उसके शरीर आदि के जनक सभी प्राक्तन अदृष्ट का फलभोगारम्भ हो जाता है लेकिन वे अदृष्ट तो विद्यमान ही रहते हैं। क्योंकि भोग के बिना सभी अदृष्टों का नाश नहीं होता। इस मत में किसी-किसी जीवन्मुक्त पुरुष की योगशक्ति के प्रभाव से शीघ्र ही अनेक शरीर (कायव्यूह) के निर्माण और सभी शरीरों से अनेक स्थानों में शीघ्र ही सभी प्रारब्ध कर्मों का फलभोग वे कर लेते हैं पश्चात् निर्वाण अर्थात् मुक्ति का लाभ करते हैं। अनेक जीवन्मुक्त सिद्ध महर्षिगण परमेश्वर के नियोगानुसार दीर्घकाल तक जीवित रहकर शास्त्रादि से नाना तत्त्वों का उपदेश करते हैं और बाद में भी करते रहेंगे। अतः उनके उस उपदेश से शास्त्र की रक्षा होती है और वह आगे भी होती रहेगी।

फलितार्थ यह है कि महर्षि ने प्रथम सूत्र में तत्त्वज्ञान को निःश्रेयस का कारण कहा है और द्वितीय सूत्र में अपवर्ग के क्रम का प्रकाश करते हुए कहा है कि इस मत में अपवर्ग दो प्रकार का होता है। जीवन्मुक्ति इनको सम्मत है और चरम तत्त्वज्ञान स्वतः चरम मुक्ति का कारण नहीं है किन्तु वह मिथ्याज्ञान की निवृत्ति के द्वारा मुक्ति का कारण होता है। इस प्रकार और भी अनेक तत्त्व इस सूत्र के द्वारा सूचित होते हैं।

महर्षि ने इस सूत्र में तत्त्वज्ञान का यद्यपि उल्लेख नहीं किया है तथापि कहा है कि ''मिथ्योपलब्धिविनाशस्तत्त्वज्ञानात्'' (४.२.३५)। इसके अनुसार भाष्यकार ने इस सूत्र के अवतरण के पहले कहा है – ''तत्त्वज्ञानात्''। यथार्थता यह है कि मिथ्याज्ञान की निवृत्ति तत्त्वज्ञान से भिन्न किसी उपाय से सम्भव नहीं है। तत्त्वज्ञान से ही मिथ्याज्ञान

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

या अविद्या के नाश का समर्थन करते हुए भगवान् शंकराचार्य ने आचार्य गौतमप्रणीत युक्तियुक्त इस सूत्र का उल्लेख किया है। इसके पहले इन्होंने कहा है कि "तथाचाचार्यप्रणीतं न्यायोपबृंहितं सूत्रम्" (वेदान्त दर्शन चतुर्थ सूत्रभाष्य) परामुक्तिस्वरूप अपवर्ग ही इस न्यायशास्त्र का मुख्य प्रयोजन है। प्रथम सूत्र के निःश्रेयस पद से यह सूचित होता है। अपवर्ग पद से इस सूत्र में इसकी अभिव्यक्ति सूत्रकार ने की है। प्रथमसूत्रोक्त सोलह पदार्थों में द्वितीय पदार्थ प्रमेय का तत्त्वसाक्षात्कार रूप तत्त्वज्ञान सभी मिथ्याज्ञानों की निवृत्ति द्वारा अपवर्ग का साक्षात्कारण होता है – इसको व्यक्त करते हुए सूत्रकार ने अपवर्ग रूप मुख्य प्रयोजन की परीक्षा इस सूत्र में की है। युक्तियों से शास्त्र के प्रयोजन की सिद्धि ही प्रयोजन की परीक्षा है। इस परीक्षा के बिना इस शास्त्र की चर्चा में किसी की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। महर्षि गौतम ने इस सूत्र से सिद्ध किया है कि न्यायशास्त्र के आधार पर मिथ्याज्ञान की निवृत्ति के क्रम में अपवर्ग होता है और वह न्यायशास्त्र का मुख्य प्रयोजन है। अतः इस प्रयोजन के साथ इस शास्त्र का प्रयोज्य-प्रयोजक भाव सम्बन्ध सिद्ध होता है। अपवर्ग यहाँ प्रयोज्य होता है और न्यायशास्त्र उसका प्रयोजक। आगे यह और अधिक स्पष्ट होगा।

इस सूत्र में दुःख आदि चार शब्द जिस क्रम से कहे गए हैं, तदनुसार दुःख आदि चार पदार्थों के अव्यवहित उत्तर जन्म, प्रवृत्ति, दोष और मिथ्याज्ञान इन चार पदार्थों का ग्रहण करके महर्षि ने "उत्तरोत्तरापाये" कहा है। यहाँ सप्तमी विभक्ति का अर्थ होता है प्रयुक्तत्व अर्थात् उत्तर-उत्तर पदार्थों के अपाय या निवृत्ति द्वारा प्रयुक्त। इन पदार्थों को यथाक्रम तत् शब्द से ग्रहण करके महर्षि ने तदनन्तरापायात् कहा है। अव्यवहित पूर्व अर्थ में भी अनन्तर पद का प्रयोग होता है। अतः तदनन्तर पद से अव्यवहित पूर्व का ज्ञान होता है। जैसे –

(पूर्व) दुःख (उत्तर) जन्म

(पूर्व) जन्म (उत्तर) प्रवृत्ति

(पूर्व) प्रवृत्ति (उत्तर) दोष

(पूर्व) दोष (उत्तर) मिथ्याज्ञान

यहाँ उत्तर के पदार्थ हैं कारण और पूर्व के पदार्थ हैं कार्य। कारण के नाश से कार्य का नाश होता है। जैसे कफ़ निमित्तक ज्वर होने पर कफ़ के नाश से ज्वर का नाश होता है। इसी प्रकार यहाँ सूत्रोक्त दुःख आदि पदार्थों के साथ परस्पर निमित्त-नैमित्तिक भाव रहने के कारण उत्तरवर्ती एक-एक पदार्थ के नाश से उसके पूर्ववर्ती पदार्थ का नाश होता है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

मिथ्याज्ञान के नाश से उसके कार्यरूप पूर्ववर्ती दोष का नाश होता है। दोष के नाश से उसके कार्यरूप प्रवृत्ति का नाश होता है प्रवृत्ति के नाश से जन्म का नाश होता है और जन्म के नाश से दुःख का नाश होता है। जन्म के नहीं होने पर दुःख की सम्भावना नहीं होती क्योंकि उस स्थिति में दुःख का कोई कारण ही नहीं रहता है। दुःख, जन्म, प्रवृत्ति तथा दोष मिथ्याज्ञानपूर्वक होते हैं और मिथ्याज्ञान दुःखादिपूर्वक होते हैं। पहले दुःख आदि की और पश्चात् मिथ्याज्ञान की उत्पत्ति होती है अथवा पहले मिथ्याज्ञान की उत्पत्ति होती है और पश्चात् दुःख आदि की यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। यह अनादि अनवस्था है। अनादि काल से पदार्थों का कार्यकारण भाव ही संसार है। इनकी अनादिता सूचित करने के लिए ही सूत्रकार ने क्रम का उल्लंघन करके कहा है कि ''त इमे मिथ्याज्ञानादयः''। वार्त्तिककार ने इस अनादिता का विशेषरूप से स्मरण कराने के लिए भाष्यकार द्वारा उक्त क्रम के विपरीत क्रम से इसकी व्याख्या की है – ''त इमे दुःखादयः'' ''तदनन्तरापायात्'' पद की व्याख्या करते हुए वृत्तिकार विश्वनाथ ने कहा है – ''तदनन्तरस्य तत्सन्निहितस्य पूर्वपूर्वस्यापायात्''। अन्त में कहा है कि दुःख का अपाय (निवृत्ति) ही जब अपवर्ग है, अपवर्ग को तब दुःख का अपाय प्रयुक्त नहीं कहा जा सकता। अतः इस सूत्र में पञ्चमी विभक्ति का अर्थ अभेद मानना होगा। किन्तु पञ्चम्यर्थ अभेद कहीं भी देखा नहीं जाता – इस दृष्टि से विचार करके अन्त में कहा है कि अथवा अपवर्ग शब्द से अपवर्ग व्यवहारपर्यन्त विवक्षित है। तात्पर्य यह है कि अपवर्ग के दुःख निवृत्तिरूप होने पर भी अपवर्ग का व्यवहार (अन्य लोक में ''अमुक को अपवर्ग लाभ हुआ है'' – आदि व्यवहार) दुःख की निवृत्तिप्रयुक्त होता है। किसी का कहना है कि सूत्र में अपवर्ग शब्द से अपवर्ग की प्राप्ति विवक्षित है। फलतः सूत्रोक्त दुःख की निवृत्ति के अपवर्ग से अभिन्न होने पर भी उसकी (अपवर्ग) प्राप्ति अपवर्ग नहीं होगा – यह सम्भव नहीं है। अतः अपवर्ग की प्राप्ति को अपवर्ग का प्रयोज्य कहना संगत होगा। इसमें कोई भी प्रमाण नहीं है कि अपवर्ग से स्वरूपतः भिन्न पदार्थ है अपवर्ग की प्राप्ति। वृत्तिकार विश्वनाथ ने इस सूत्र में अपवर्ग शब्द का अपवर्ग का व्यवहार अर्थ कहा है – यह महर्षि का अभिमत नहीं प्रतीत होता क्योंकि इस सूत्र में इन्होंने अपवर्ग के कारण की अभिव्यक्ति करके उसके क्रम का निर्देश किया है। अपवर्ग के व्यवहार का कारण कथन उनका अभिप्रेत नहीं है। इस सूत्रगत अपवर्ग शब्द की इस अर्थ में लक्षणा मानना भी युक्तिसंगत नहीं है।

प्रतीत होता है कि इस सूत्र में तदनन्तरापायात् पद की पञ्चमी विभक्ति की अनुपपत्ति समझकर ही वेदान्त दर्शन के चतुर्थ सूत्र के भाष्य की रत्नप्रभा व्याख्या में रामानन्द ने इस सूत्र की व्याख्या करते हुए कहा है – ''तस्य प्रवृत्तिरूपहेतोरनन्तरस्य जन्मनोऽपायात् दुःखध्वंसरूपोऽपवर्गो भवतीत्यर्थः''। इन्होंने सूत्रस्थ तत् शब्द से केवल सूत्रस्थ प्रवृत्ति

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

पद का ग्रहण करके तदनन्तर अर्थात् प्रवृत्ति के अव्यवहित पूर्वोक्त जन्म के अपाय को सूत्रोक्त ''तदनन्तरापाय'' शब्द से ग्रहण किया है। किन्तु प्रतीत होता है कि सूत्रोक्त तत्पद से पूर्वोक्त दुःख, जन्म, प्रवृत्ति तथा दोष महर्षि का अभिमत है। उक्त चारों ही उत्तरोत्तर शब्द से विवक्षित हैं। सूत्रगत ''तदनन्तरापाय'' शब्द से केवल जन्म का अपाय ही महर्षि को अभिप्रेत नहीं है किन्तु दोष, प्रवृत्ति, जन्म तथा दुःख इन चारों का अपाय विवक्षित है। इनमें से अन्तिम दुःख के अपाय को अपवर्ग से अभिन्न रहने पर भी दोष, प्रवृत्ति और जन्म के अपाय इस अपवर्ग के प्रयोजक होते हैं। इन अपायत्रय का प्रयोजकत्व पञ्चमी विभक्ति से ही प्रकाशित किया जा सकता है। अपवर्गरूप अन्तिम दुःखापाय में अपवर्ग का प्रयोजकत्व सम्भव न होने पर भी महर्षि ने बहुत्व के अनुरोध से ''तदनन्तरापायात्'' का व्यवहार किया है। इनमें से दुःखापाय के साथ इस पञ्चमी विभक्ति का प्रयोजकत्व अर्थ नहीं होता। अभिप्राय यह है कि ''दुःखापायादपवर्गः'' प्रयोग के साधु नहीं होने पर भी ''तदनन्तरापायादपवर्गः'' प्रयोग हो सकता है। महर्षि ने बहुत्व के अनुरोध से ऐसा प्रयोग किया है। इस सन्दर्भ में वाचस्पति मिश्र ने कुछ नहीं कहा है।

***भाष्य* – तत्रात्माद्यपवर्गपर्यन्तप्रमेये मिथ्याज्ञानमनेकप्रकारकं वर्तते। आत्मनि तावन्नास्तीति। अनात्मन्यात्मेति, दुःखे सुखमिति, अनित्ये नित्यमिति, अत्राणे त्राणमिति, सभये निर्भयमिति जुगुप्सितेऽभिमतमिति, हातव्येऽप्रतिहातव्यमिति। प्रवृत्तौ-नास्ति कर्म नास्ति कर्मफलमिति। दोषेषु नायं दोषनिमित्तः संसार इति। प्रेत्यभावे-नास्ति जन्तुर्जीवो वा सत्त्व आत्मा वा यः प्रेयात् प्रेत्य च भवेदिति। अनिमित्तं जन्म, अनिमित्तो जन्मोपरम इत्यादिमान् प्रेत्यभाव इति। देहेन्द्रियबुद्धिवेदनासन्तानोच्छेदप्रतिसन्धानाभ्याम् निरात्मकः प्रेत्यभाव इति। अपवर्गे भीष्मः खल्वयं सर्वकार्योपरमः सर्वविप्रयोगेऽपवर्गे बहुभद्रकं लुप्यते इति कथं बुद्धिमान् सर्वसुखोच्छेदमचैतन्यममुमपवर्गं रोचयेदिति।**

अनुवाद – आत्मा आदि अपवर्गपर्यन्त प्रमेय पदार्थों के विषय में अनेक प्रकार के मिथ्याज्ञान होते हैं। जैसे आत्मा के विषय में वह नहीं है – यह मिथ्याज्ञान है, आत्मा से भिन्न देह आदि में आत्मा है इस प्रकार का मिथ्या ज्ञान है। दुःख को सुख समझना, अनित्य को नित्य समझना, जो रक्षक नहीं है उसको रक्षक मानना, भय जनक को अभय जनक मानना, निन्दित को अभिमत मानना, त्याज्य को अत्याज्य समझना – मिथ्याज्ञान के प्रकार हैं। प्रवृत्ति शुभ एवं अशुभ कर्मों के विषय में कर्म कुछ नहीं है, कर्म का फल नहीं होता है – इस प्रकार का ज्ञान। दोष अर्थात् रागद्वेष और मोह के विषय में संसार दोष-निमित्तक नहीं है। प्रेत्यभाव-पुनर्भाव-पुनर्जन्म के विषय में मृत्यु होगी और वह पुनः

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

जन्म लेगा ऐसा जीव या जन्तु, सत्त्व या आत्मा नहीं है – इस प्रकार का ज्ञान। जन्म बिना कारण का होता है, जन्म की निवृत्ति भी अकारण ही होती है; अतः प्रेत्यभाव आदिमान् और अनन्त है – इस प्रकार का ज्ञान। प्रेत्यभाव के सकारण होने पर भी वह कर्मनिमित्तक नहीं है – इस प्रकार का ज्ञान। देह, इन्द्रिय, बुद्धि (ज्ञान) और वेदना अर्थात् सुख-दुःख की सन्तानों का उच्छेद एवं प्रतिसन्धान होने पर अर्थात् किसी देहादि के प्रवाह का उच्छेद होने पर अपर देहादि का पुनर्जन्म होना प्रेत्यभाव निरात्मक अर्थात् इस जन्म में किसी आत्मारूप पदार्थ का सम्बन्ध नहीं है – इस प्रकार का ज्ञान[१८]। अपवर्ग के विषय में जहाँ सभी कार्यों का अपाय या निवृत्ति हो जाए – ऐसा अपवर्ग भयानक होता है, जिसमें सभी अभीष्ट पदार्थों का वियोग हो जाए – ऐसा अपवर्ग होने पर बहुत शुभों का नाश होगा – इसलिए बुद्धिमान व्यक्ति सभी सुखों के उच्छेदक चैतन्यहीन इस अपवर्ग को कैसे अच्छा समझेगा ? इस प्रकार का अपवर्ग किसी बुद्धिमान् व्यक्ति को रुचिकर नहीं हो सकता है – अपवर्ग के विषय में इस प्रकार का मिथ्याज्ञान होता है।

भाष्य **– एतस्मान् मिथ्याज्ञानादनुकूलेषु रागः। प्रतिकूलेषु द्वेषः। रागद्वेषाधिकाराच्चासत्येर्ष्यामायालोभादयो दोषाः भवन्ति। दोषैः प्रयुक्तः शरीरेण प्रवर्तमानो हिंसास्तेयप्रतिषिद्धमैथुनान्याचरति। वाचाऽनृतपरुषसूचनासम्बद्धानि। मनसा परद्रोहं परद्रव्याभीप्सां नास्तिक्यञ्चेति। सेयं पापात्मिका प्रवृत्तिरधर्माय।**

---

[१८] नैरात्म्यवादी बौद्ध सम्प्रदाय पुनर्जन्म मानता है किन्तु उनके मत में वह निरात्मक होता है। भाष्यकार ने यहाँ प्रेत्यभाव के विषय में उक्त ज्ञान को एक प्रकार का मिथ्याज्ञान कहा है। इस बौद्धमत में रूप, वेदना, विज्ञान, संस्कार आदि पञ्चस्कन्ध से भिन्न कोई आत्मा नहीं (तृतीय खण्ड का आरम्भिक अंश पृष्ठ ७ पर बंग संस्करण द्रष्टव्य)। इस मत में एक देहादि समष्टिरूप सन्तान का उच्छेद होने के बाद अपर देहादिसमष्टिरूप सन्तान का प्रतिसन्धान होता है। भाष्यकार ने संक्षेप में इस मत का यहाँ उल्लेख किया है। भाष्य में उच्छेद पद के बाद प्रयुक्त प्रतिसन्धान शब्द का अर्थ यहाँ पुनरुत्पत्ति या पुनर्जन्म होता है। महर्षि गौतम ने पश्चात् (सूत्र ४.१.६३) में इस अर्थ में प्रतिसन्धान शब्द का प्रयोग किया है। वेदना पद का ज्ञान तथा दुःख अर्थ प्रसिद्ध है। किन्तु भाष्य में यहाँ वेदना पद का अर्थ सुख और दुःख होता है। बौद्ध सम्प्रदाय ने भी सुख और दुःख को वेदना कहा है। न्यायवार्त्तिक (४.२.३३) में बौद्धमत का विचार प्रस्तुत करते हुए उद्योतकर ने लिखा है – ''वेदना सुखदुःखे''। शारीरकभाष्य (१.३.१९) में आचार्य शंकर ने वेदना का उल्लेख किया है। जहाँ रत्नप्रभा के प्रणेता ने व्याख्या की है ''वेदना-हर्षशोकादि''।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अथ शुभा-शरीरेण दानं परित्राणं परिचरणञ्च। वाचा सत्यं हितं प्रियं स्वाध्यायञ्च। मनसा दयामस्पृहां श्रद्धां च। सेयं धर्माय।

अत्र प्रवृत्तिसाधनौ धर्माधर्मौ "प्रवृत्ति" शब्देनोक्तौ। यथा अन्नसाधनाः प्राणाः "अन्नं वै प्राणिनः प्राणाः" इति।

सेयं प्रवृत्तिः कुत्सितस्याभिपूजितस्य च जन्मनः कारणम्। जन्म पुनः शरीरेन्द्रियबुद्धिवेदनानां निकायविशिष्टः प्रादुर्भावः[१९] तस्मिन् सति दुःखं तत्पुनः प्रतिकूलवेदनीयं बाधना पीड़ा ताप इति। त इमे मिथ्याज्ञानादयो दुःखान्ता धर्मा अविच्छेदेनैव प्रवर्तमानाः संसार इति।

यदा तु तत्त्वज्ञानान्मिथ्याज्ञानमपैति तदा मिथ्याज्ञानापाये दोषा अपयन्ति, दोषापाये प्रवृत्तिरपैति, प्रवृत्त्यपाये जन्मापैति, जन्मापाये दुःखमपैति, दुःखापाये चात्यन्तिकोऽपवर्गो निःश्रेयसमिति।

अनुवाद – इन उक्त नाना प्रकारों के मिथ्याज्ञान से अनुकूल विषयों में अनुराग और प्रतिकूल विषयों में द्वेष उत्पन्न होते हैं। राग और द्वेष की वशवर्तिता से असत्य, ईर्ष्या, कपट तथा लोभ आदि नाना प्रकारों के दोष उत्पन्न होते हैं। दोष से जन्म होने पर तत्प्रयुक्त मानव शरीर द्वारा हिंसा, चोरी तथा निषिद्ध मैथुन में प्रवृत्त होता है, वाक्य द्वारा मिथ्या, कठोर (कटूक्ति), निन्दा (पर दोष प्रकाशना) एवं असम्बद्ध प्रलाप करता है, मन द्वारा परद्रोह, परद्रव्य की प्राप्तिकामना एवं नास्तिकता का आचरण करता है। यह अशुभ कर्म (पापात्मिका प्रवृत्ति) अधर्म का कारण होता है।

अब शुभ कर्म धर्मात्मिका प्रवृत्ति कहता हूँ। शरीर द्वारा दान, रक्षा और परिचर्या आदि सेवा की जाती है, वाक्य द्वारा सत्य, हित, प्रिय तथा स्वाध्याय किए जाते हैं। मन

---

[१९] यहाँ प्रचलित भाष्य पुस्तक में "शरीरेन्द्रियबुद्धीनां" पाठ उपलब्ध है। किन्तु प्रतीत होता है कि भाष्यकार ने यहाँ बुद्धि के बाद सुख-दुःखरूप वेदना का उल्लेख किया है। पश्चात् सूत्र १.१.१९ के भाष्य में पुर्नजन्म की व्याख्या के समय भाष्यकार ने कहा है कि "सम्बन्धस्तु देहेन्द्रियमनोबुद्धिवेदनाभिः"। यहाँ इन्द्रिय शब्द से मन भी गृहीत हो सकता है। तृतीय अध्याय के आरम्भ में वार्त्तिककार ने लिखा है (पृ. ३४०) – "किं पुनरात्मनो जन्म, निकायविशिष्टाभिः शरीरेन्द्रियबुद्धिवेदनाभिरपूर्वाभिरभिसम्बन्धः"। यहाँ टीकाकार वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि निकायो देवमनुष्यतिर्यगादीनामनौत्तराधर्येणावस्थितः संघातः तद् विशिष्टाभिरित्यर्थः। वाचस्पति मिश्र ने सांख्यतत्त्वकौमुदी (कारिका १९ की व्याख्या) में भी जन्म की व्याख्या करते समय इसी अर्थ में निकाय शब्द का प्रयोग किया है। भाष्यकार द्वारा व्यवहृत निकाय का भी यही अर्थ प्रतीत होता है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

से दया, निःस्पृहता एवं श्रद्धा का आचरण किया जाता है। यह शुभ कर्म (धर्मात्मिका प्रवृत्ति) धर्म का कारण होता है।

इस सूत्र में प्रवृत्ति का साधन अर्थात् शुभ एवं अशुभ कर्मरूप प्रवृत्ति जिनका साधन-जनक है, वे धर्म और अधर्म प्रवृत्ति पद से अभिप्रेत हैं। जैसे प्राण अन्न साधन अर्थात् अन्न का साध्य होते हैं। इसलिए श्रुति कहती है "अन्न ही प्राणी का प्राण है"। (इस श्रुतिवाक्य में जैसे अन्न को साध्य अर्थ में प्राण कहा गया है इसी प्रकार सूत्र में प्रवृत्ति के द्वारा साध्य धर्म और अधर्म के लिए प्रवृत्तिपद का व्यवहार हुआ है।)

यह प्रवृत्ति (धर्म और अधर्म) यथाक्रम उत्कृष्ट और निकृष्ट जन्म का कारण होती है। जन्म से शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि और वेदना (सुख, दुःख) का निकाय विशिष्ट प्रादुर्भाव रूप (अर्थात् देव या मनुष्य आदि किसी जीव योनि से संघात विशिष्ट वा मिलित अभिनव देहादि के साथ आत्मा का सम्बन्ध विशेष ही आत्मा का जन्म कहा जाता है) होता है। इस जन्म से दुःख होता है और दुःख से प्रतिकूल वेदनीय बाधना, पीड़ा तथा ताप (जो जीव के प्रतिकूल रूप से अनुभव का विषय होता है, जिसे बाधना, पीड़ा तथा ताप कहा जाता है) होता है। वही दुःख अनादि काल से अविच्छिन्न रूप में प्रवर्तमान कार्यकारण भाव से उत्पद्यमान समस्त मिथ्याज्ञानादि दुःखपर्यन्त धर्म ही संसार है।

किन्तु जिस समय में तत्त्वज्ञान से जन्य मिथ्याज्ञान की निवृत्ति होती है उस समय में मिथ्याज्ञान के नाश से मिथ्याज्ञान का कार्य वस्तुतः दोष का नाश होता है। दोष के निवृत्त होने पर प्रवृत्ति (धर्म और अधर्म) की निवृत्ति (नाश) होती है। प्रवृत्ति के नाश से जन्म की निवृत्ति होती है और जन्म की निवृत्ति से दुःख का नाश होता है। दुःख की निवृत्ति (आत्यन्तिक अभाव) होने पर आत्यन्तिक अपवर्ग अर्थात् परममुक्तिरूप निःश्रेयस की प्राप्ति होती है।

भाष्य – **तत्त्वज्ञानन्तु खलु मिथ्याज्ञानविपर्ययेण व्याख्यातम्। आत्मनि तावदस्तीति, अनात्मन्यनात्मेति। एवं दुःखे नित्ये त्राणे सभये जुगुप्सिते हातव्ये च यथाविषयं वेदितव्यम्। प्रवृत्तौ अस्ति कर्म अस्ति कर्मफलमिति। दोषेषु दोषनिमित्तोऽयं संसार इति। प्रेत्यभावे खल्वस्ति जन्तुर्जीवः सत्त्व आत्मा वा, यः प्रेत्य भवेदिति। निमित्तकः सन् प्रेत्यभावः प्रवृत्तिनिमित्त इति। सात्मकः सन् देहेन्द्रियबुद्धिवेदनासन्तानोच्छेदप्रतिसन्धानाभ्यां प्रवर्तत इति। अपवर्गे शान्तः खल्वयं सर्वविप्रयोगः सर्वोपरमोऽपवर्गः, बहु च कृच्छ्रं घोरं पापकं लुप्यत इति कथं बुद्धिमान् सर्वदुःखोच्छेदं सर्वदुःखासंविदमपवर्गं न रोचयेदिति। तद्यथा मधुविषसंपृक्तान्नमनादेयमिति, एवं सुखं दुःखानुषक्तमनादेयमिति।१.१.२**

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu. Collection

अनुवाद – तत्त्वज्ञान मिथ्याज्ञान के विपरीतरूप में व्याख्यात होता है। (वह किस प्रकार का होता है – इसको स्वयं यथाक्रम स्पष्ट करते हुए वर्णन करते हैं) यथा आत्मा के विषय में वह है – इस प्रकार का ज्ञान, अनात्मा (देह आदि) में अनात्म ज्ञान अर्थात् यह आत्मा नहीं है – इस प्रकार का ज्ञान। इसी तरह दुःख, नित्य, त्राण, सभय, निन्दित एवं त्याज्य विषय में विषयानुसार तत्त्वज्ञान समझना चाहिए। (दुःख में दुःखबुद्धि, नित्य में नित्यबुद्धि आदि)।

प्रवृत्ति के विषय में – कर्म है और कर्म का फल भी होता है – इस प्रकार का ज्ञान। प्रेत्यभाव के विषय में – जो मरणोपरान्त जन्म लेगा वह जन्तु या जीव है, सत्त्व[२०] या आत्मा है – इस प्रकार का ज्ञान। ऐसे ही – जन्म कारणजन्य होता है और जन्म की निवृत्ति भी कारण से होती है, अतः प्रेत्यभाव अनादि तथा मोक्षपर्यन्त होता है। प्रेत्यभाव कारणजन्य होने के कारण प्रवृत्तिजन्य (धर्म और अधर्मजन्य) होता है – इस प्रकार का ज्ञान। सात्मक होने के कारण प्रेत्यभाव देह आदि से भिन्न नित्य आत्मों से युक्त होता है। देह, इन्द्रिय, बुद्धि, सुख तथा दुःख समष्टि का उच्छेद भी प्रतिसन्धान वश प्रवृत्त होता है – इस प्रकार का ज्ञान। अपवर्ग के विषय में जिसमें सभी पदार्थों से वियोग हो, जिसमें सभी कार्यों की निवृत्ति हो – ऐसा अपवर्ग शान्त होता है, भयानक नहीं। इससे बहुत कष्टकर घोर पाप भी नष्ट होता है। अतः बुद्धिमान् व्यक्ति सभी दुःखों का उच्छेदकर सभी दुःखों के ज्ञानरहित अपवर्ग को क्यों नहीं चाहेगा। अतः जैसे मधु एवं विष से मिश्रित अन्न ग्राह्य नहीं होता, इसी प्रकार दुःख से अनुषक्त सुख भी ग्राह्य नहीं होता है – इस प्रकार का ज्ञान[२१] (यथार्थज्ञान) तत्त्वज्ञान है।

---

२० जन्तु का ही विवरण जीव है। सत्त्व का विवरण है आत्मा। प्रचीन काल में ये सभी शब्द एकत्र एक अर्थ में प्रयुक्त होते रहे हैं। विशद विवरण के लिए भाष्यकार ने ऐसा कहा है। आत्मवाचक सत्त्व शब्द का पुल्लिंग में प्रयोग भी इसका प्रमाण होता है। (द्रष्टव्य तृतीय खण्ड, बंग संस्करण, पृ. २२)

२१ (क) सुख-दुःखानुषक्त अर्थात् दुःख का अनुषंग विशिष्ट होता है। अनुषंग से अविनाभाव सम्बन्ध अभिप्रेत है। जहाँ सुख रहता है वहाँ दुःख रहता है और जहाँ दुःख वहाँ सुख रहता है। यही सुख-दुःख का अविनाभाव सम्बन्ध है।

(ख) अथवा अनुषंग से समान निमित्तता अभिप्रेत है। जो सुख साधन होता है वही दुःख का भी साधन होता है।

(ग) अथवा समान आधारत्व है अनुषंग। जहाँ सुख रहता है वहीं दुःख भी रहता है।

(घ) अथवा समान उपलभ्यता है अनुषङ्ग। जो सुख की उपलब्धि करता है वही दुःख की भी उपलब्धि करता है – उद्योतकर ने इस प्रकार की व्याख्या की है। सबसे अन्त में भाष्य में "इति" शब्द का प्रयोग सूत्रार्थ की समाप्ति का सूचक है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

टिप्पणी – भाष्यकार ने पश्चात् पूर्ववर्णित मिथ्याज्ञान के विपरीत ज्ञान को ही तत्त्वज्ञान कहकर व्याख्या की है। क्योंकि ऐसा ही तत्त्वज्ञान उसके बाध्य मिथ्याज्ञान की निवृत्ति करता है। किन्तु समान युक्ति के आधार पर शंका होती है कि मिथ्याज्ञान भी तत्त्वज्ञान का बाधक हो जाएगा तो तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति कैसे होगी। इसके समाधान में उद्योतकर ने कहा है कि मिथ्याज्ञान पहले उत्पन्न होता है, अतः वह निःसहाय रहने के कारण दुर्बल होता है। किन्तु सत्य विषय ही यथार्थज्ञान या तत्त्वज्ञान का सहायक होता है तथा इस तत्त्वज्ञान का दूसरा सहायक होता है आगम आदि प्रमाण। अतः मिथ्याज्ञान कभी भी अपने से प्रबल तत्त्वज्ञान का बाधक नहीं हो सकता। अपितु पश्चात् उत्पन्न तत्त्वज्ञान ही मिथ्याज्ञान का बाधक होता है। वस्तुतः परस्पर निरपेक्ष इस ज्ञानद्वय में परवर्ती तत्त्वज्ञान ही प्रबल होता है क्योंकि तत्त्व का पक्षपात नहीं हो सकता। वेद को नहीं मानने वाला बौद्ध सम्प्रदाय भी इस बात की पुष्टि करता है। वाचस्पति मिश्र ने अनेक ग्रन्थों में इसका उल्लेख किया है।[२२]

भाष्यकार ने यहाँ सूत्र की व्याख्या करते समय मिथ्याज्ञान का परिचय देते हुए आत्मा आदि अपवर्गपर्यन्त बारह प्रमेयों के विषय में अनेक प्रकार के मिथ्याज्ञानों का वर्णन किया है। भाष्य में ''वर्तते'' पद से कहा गया है कि आत्मा आदि प्रमेय वर्ग अनेक प्रकार से मिथ्याज्ञान के विषय होते हैं।

पश्चात् महर्षि ने नवम सूत्र में आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, गन्धादि इन्द्रिय के अर्थ, बुद्धि (ज्ञान), मन (शुभ एवं अशुभ कर्मरूप) प्रवृत्ति, (राग, द्वेष और मोहरूप) दोष, प्रेत्यभाव, (पुर्नजन्म) फल, दुःख और अपवर्ग – इन द्वादश (बारह) प्रमेयों को कहा है। इन प्रमेय पदार्थों के विषय में अनेक प्रकार के मिथ्याज्ञान या भ्रम से ही जीव के दुःखरूप संसार का निदान होता है। अतः ज्ञात होता है कि सूत्र में मिथ्याज्ञान शब्द से संसार का निदानस्वरूप मिथ्याज्ञान ही महर्षि का बुद्धिस्थ विषय है। क्योंकि मिथ्याज्ञान की निवृत्ति से यथाक्रम मुमुक्षु के लिए संसार का उच्छेद होता है और तब आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति-रूप मोक्ष (अपवर्ग) होता है। यही इस सूत्र में महर्षि ने कहा है और पश्चात् चतुर्थ अध्याय के द्वितीय आह्निक के आरम्भ में कहा है – ''दोषनिमित्तानां

---

[२२] तदिदमन्यैरप्युक्तम् –
पूर्वा परबलीयस्त्वं तत्र नाम प्रतीयताम्।
अन्योन्यनिरपेक्षाणां यत्र जन्म धियां भवेत्'' ॥
भूतार्थपक्षपातो हि बुद्धेः स्वभावः। यदाहुर्बाह्या अपि –
निरुपद्रवभूतार्थस्वभावस्य विपर्ययैः।
न बाधो यत्नवत्त्वेऽपि बुद्धेस्तत्पक्षपाततः॥ – तात्पर्यटीका। सांख्यतत्त्वकौमुदी कारिका ६४ द्रष्टव्य।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

तत्त्वज्ञानादहङ्कारनिवृत्तिः'' । भाष्यकार ने उसकी व्याख्या में कहा है कि आत्मा आदि बारह प्रकार के प्रमेयों में शरीर से दुःखपर्यन्त दस प्रमेय नाना प्रकारों के मिथ्याज्ञान का विषय होकर राग तथा द्वेष आदि दोष के निमित्त होते हैं। इन दस प्रमेयों के चरम तत्त्वज्ञान के उत्पन्न होने पर वह तत्त्वज्ञान उन विषयों के अहंकार की निवृत्ति करता है । अभिप्राय यह है कि शरीर आदि दस प्रमेयों के विषय में नाना प्रकार का मिथ्याज्ञान भी संसार का निदान रूप होने से भाष्यकार ने यहाँ उनका भी वर्णन किया है । ''दुःखे सुखमिति'' आदि ''अप्रतिहातव्यम्'' पर्यन्त सन्दर्भ से शरीर आदि मनःपर्यन्त पाँच प्रमेयों के विषय में यथासम्भव मिथ्याज्ञान का वर्णन करके ''प्रवृत्तौ'' आदि ''रोचयेत्'' पर्यन्त सन्दर्भ से यथाक्रम प्रवृत्ति से अपवर्गपर्यन्त प्रमेयों के विषय में मिथ्याज्ञान का वर्णन किया है। अन्तिम प्रमेय अपवर्ग के विषय में उक्त रूप मिथ्याज्ञान के उत्पन्न होने पर ऐहिक और पारत्रिक सुखभोग के लिए कर्म में प्रवृत्ति होती है। अतः अपवर्ग के विषय में मिथ्याज्ञान भी संसार का निदान रूप होता है।

भाष्यकार के मत में महर्षि गौतम का पहला प्रमेय जीवात्मा है। वह आत्मा सत् पदार्थ होकर भी इसमें असत् के धर्म नास्तित्व का आरोप हो सकता है। आत्मा नहीं है – इस प्रकार का आत्मा में नास्तिक का भ्रम प्रथम प्रकार का मिथ्याज्ञान है। अनात्मा देह आदि किसी पदार्थ में अथवा देहादि समुदाय में आत्मज्ञान भी आत्मा के विषय में मिथ्याज्ञान है। इन बारह प्रमेयों में प्रथम प्रमेय आत्मा और अन्तिम प्रमेय अपवर्ग उपादेय है और शरीर आदि दुःखपर्यन्त दस प्रमेय हेय हैं। अनेक सम्प्रदाय स्वस्वरूप में आत्मा को उपादेय और सुख-दुःख आदि से विशिष्ट रूप में उसको हेय मानते हैं। तात्पर्य यह है कि आत्मा की मुक्तावस्था में सुख एवं दुःख आदि किसी विशेष गुण की उत्पत्ति नहीं होती और आत्मा का स्वस्वरूप में अवस्थान होता है। अतः आत्मा की बृद्धावस्था हेय होती है। भाष्यकार ने इन बारह प्रकार के प्रमेयों के विषय में मिथ्याज्ञान का वर्णन किया है। पुनः सूत्र की व्याख्या में कहा है – ''एतस्मात्'' इत्यादि।

इस प्रकार नाना मिथ्याज्ञान के आधार पर अनुकूल विषय में आकांक्षारूप राग और प्रतिकूल विषय में द्वेषरूप दोष उत्पन्न होता है। और इसके परिणामस्वरूप असत्य आदि अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। इन दोषों के अधीन होकर मनुष्य अनेक प्रकार के पाप कर्म एवं पुण्य कर्म करता है। और उसके फलस्वरूप विविध जन्म पाकर विभिन्न प्रकार के दुःखों का भोग करता है। युक्तियों से सिद्ध होता है कि मिथ्याज्ञान ही संसार का निदान है और वही सभी दुःखों का मूल है। आत्मा आदि प्रमेय तत्त्वों का साक्षात्कारस्वरूप तत्त्वज्ञान ही सभी प्रकार के मिथ्याज्ञानों का नाश करके मुक्ति का साक्षात्कार कराता है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

क्योंकि तत्त्वज्ञान के बिना मिथ्याज्ञान की निवृत्ति नहीं हो सकती और उसके नहीं होने पर राग तथा द्वेषरूप दोष की निवृत्ति नहीं होगी। इसके अभाव में धर्म एवं अधर्मरूप प्रवृत्ति की निवृत्ति नहीं हो सकती और उसके अभाव में जन्म की निवृत्ति नहीं होगी तथा जन्म की निवृत्ति के बिना आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिरूप अपवर्ग सम्भव नहीं है। अतएव मुमुक्षु योगियों को जो चरम साक्षात्कार उत्पन्न होता है वह आत्मा आदि समस्त प्रमेयविषयक ही होता है। योगज सन्निकर्ष से वह (योगी) आत्मा आदि सभी प्रमेयों का अलौकिक प्रत्यक्ष करता है – यही महर्षि गौतम का सिद्धान्त है। महर्षि ने आगे चतुर्थ अध्याय के द्वितीय अह्निक में – ''समाधिविशेषाभ्यासात्'' आदि सूत्र के द्वारा इस सिद्धान्त का प्रकाशन किया है।

अवधेय है कि मुमुक्षु की अपनी आत्मा ही मिथ्याज्ञान या तत्त्वज्ञान का प्रधान विषय है। क्योंकि इस आत्मा के विषय में सभी मिथ्याज्ञानों के नाश के बिना किसी भी प्रकार से इसकी मुक्ति सम्भव नहीं है। इसी दृष्टि से उपनिषदों में प्रधानरूप से आत्मदर्शन को मुक्ति का साक्षात् कारण कहा गया है। परमात्मा अर्थात् परमेश्वर का दर्शन इस आत्मदर्शन का उत्पादक होने से वह भी उक्त रीति से (परम्परा सम्बन्ध से) मुक्ति के कारणरूप में उक्त है। क्योंकि परमेश्वर के अनुग्रह के बिना किसी भी प्रकार से आत्मा का साक्षात्कार सम्भव नहीं है। इसी तात्पर्य से श्रुति ने कहा है – ''तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्थाः विद्यते अयनाय'' (श्वेताश्व. ६.८) इसी अभिप्राय को ध्यान में रखकर भगवान् ने गीता में कहा है – मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते (८.१६)। मुमुक्षु योगी अपने आत्मसाक्षात्कार की प्राप्ति के लिए इस परमेश्वर का शरणापन्न होकर कहता है – तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये (श्वेताश्व.)। परमेश्वर के अनुग्रह के बिना मुमुक्षु का आत्मसाक्षात्कार नहीं होता। शारीरक भाष्य (२.३.४१) में अद्वैतवादी शंकराचार्य ने इसका स्पष्ट प्रतिपादन किया है। महर्षि गौतम ने ''तत्कारितत्वादहेतुः'' (४.१.२१) सूत्र के द्वारा इस सिद्धान्त की सूचना दी है। सर्वदर्शनसंग्रह के अक्षपाद दर्शन भाग में गौतम मत की व्याख्या करते हुए माधवाचार्य ने लिखा है –

> तस्मात् परिशेषात् परमेश्वरानुग्रहवशात् श्रवणादिक्रमेणात्मतत्त्वसाक्षात्कारवतः पुरुषधौरेयस्य दुःखनिवृत्तिरात्यन्तिकी निःश्रेयसमिति निरवद्यम्।[२३]

[२३] इस विषय में अधिक आलोचन मत्प्रणीत न्यायपरिचय नामक ग्रन्थ के सप्तम अध्याय में द्रष्टव्य है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

महर्षि गौतम के सोलह पदार्थों में प्रमेय पदार्थ का तत्त्वसाक्षात्कार संसार के निदान (आदिकारण) अर्थात् सभी प्रकारों के मिथ्याज्ञान का विनाश करके मुक्ति का साक्षात् कारण होता है और प्रमेय से भिन्न प्रमाण आदि पन्द्रह पदार्थों का तत्त्वज्ञान प्रमेयविषयक तत्त्वज्ञान का निर्वाहक (उपकारक) तथा संरक्षक होने से परस्परतया मुक्ति का प्रयोजक होता है – महर्षि ने इसी अभिप्राय को इस सूत्र के भाष्य में कहा है – "तच्चैतदुत्तरसूत्रेणानूद्यते"। इस विषय में अधिक बातें चतुर्थ अध्याय के द्वितीय आह्निक के आरम्भ में भाष्य की टिप्पणी में द्रष्टव्य है।

किसी का कहना है कि धर्म एवं अधर्म का कारण राग तथा द्वेष नहीं होता। इच्छा के अभाव में भी गंगास्नान करने पर कर्म के सामर्थ्य से जब धर्म होता है एवं द्वेष के नहीं रहने पर भी हिंसा के घटित होने पर जब अधर्म होता है तथा जीवन्मुक्त व्यक्ति में राग और द्वेष के रहने पर भी धर्म एवं अधर्म उत्पन्न नहीं होता है तब धर्म और अधर्म का कारण यथाक्रम राग और द्वेष को नहीं माना जा सकता। फलतः इस सूत्र में दोष शब्द से मिथ्याज्ञानजन्य संस्कार विवक्षित है। वह संस्कार ही धर्म तथा अधर्म का कारण होता है। जीवन्मुक्त में उस संस्कार के नहीं रहने से राग और द्वेषवश कर्म करने पर भी धर्म या अधर्म नहीं होता है।

इसके उत्तर में कहना है कि महर्षि गौतम ने परिभाषानुसार दोष से मिथ्याज्ञानजन्य संस्कार ज्ञात नहीं किया है। यहाँ जब मिथ्याज्ञान के नाश से दोष का नाश कहा गया है तब दोष से मिथ्याज्ञानजन्य संस्कार ज्ञात नहीं होता क्योंकि ऐसा नहीं माना जा सकता कि ज्ञान के नाश से ज्ञानजन्य संस्कार का नाश होता है। ज्ञान का नाश होने पर भी तज्जन्य संस्कार रहता ही है। यह अवश्य मान्य है कि तत्त्वज्ञानजन्य संस्कार से मिथ्याज्ञानजन्य संस्कार का नाश होता है किन्तु महर्षि ने यह तो यहाँ कहा नहीं है। महर्षि के इस सूत्र से ज्ञात होता है कि मिथ्याज्ञान के विपरीत तत्त्वज्ञान के उत्पन्न होने पर मिथ्याज्ञान का नाश होता है। इससे ज्ञात होता है कि मिथ्याज्ञान की पुनः उत्पत्ति नहीं होती। अतः तत्त्वज्ञान जिस संस्कार को उत्पन्न करता है वह संस्कार पहले से विद्यमान मिथ्याज्ञानजन्य संस्कार का नाश करता है। अतः तत्त्वज्ञान मिथ्याज्ञान का नाश इस रूप से करता है कि वह पुनः उत्पन्न नहीं होता। वस्तुतः तत्त्वज्ञानजन्य संस्कार रहने पर भी जीवन्मुक्त को उत्कट राग और द्वेष उत्पन्न नहीं होता जो राग तथा द्वेष कर्मों को आसक्त करके धर्म और अधर्म के कारण होते हैं। अतः जीवन्मुक्त का राग और द्वेष धर्म और अधर्म रूप कर्म को उत्पन्न नहीं करते। सूत्र में दोष पद से धर्म और अधर्म के कारणरूप राग और द्वेष ही अभिप्रेत हैं। क्योंकि उक्त दोष ही धर्म और अधर्म का कारण

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

होते हैं। जीवन्मुक्त में राग और द्वेष नहीं होता। विषय विशेष में जिनका अपना राग और द्वेष वैसा नहीं रहने पर भी धर्म और अधर्म उत्पन्न होता है उनका मिथ्याज्ञानजन्य संस्कार के रहने पर उस विषय में राग तथा द्वेष की योग्यता रहती है। अभिप्राय यह है कि मिथ्याज्ञानजन्य संस्कार सहित राग और द्वेष धर्म और अधर्म का कारण होता है किन्तु वह उनका साक्षात् कारण नहीं होता। शुभ एवं अशुभ कर्म को उत्पन्न करके ही वह धर्म और अधर्म का कारण होता है।

महर्षि ने आगे ''प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारंभः'' (१.१.१७) सूत्र में वाचिक, मानसिक तथा शारीरिक अशुभ तथा शुभ कर्म को प्रवृत्तिनामक प्रमेय कहा है। भाष्यकार ने यहाँ इन दो प्रकार के कर्मों को दस प्रकार कहकर उपपादन किया है। पहले पाप कर्मों का उल्लेख करते हुए भाष्यकार ने कहा है – शरीर द्वारा हिंसा(१), चोरी(२), और निषिद्ध(३) मैथुन का आचरण होता है – वाक्य द्वारा मिथ्याभाषण(४), कटूक्ति(५), परदोष का प्रकाशन(६) तथा असम्बद्ध प्रलाप(७) किए जाते हैं। मन द्वारा परद्रोह(८), परद्रव्य(९) की प्राप्ति की इच्छा और नास्तिकता(१०) की जाती है। भाष्यकार ने नास्तिकता को मानसिक पापकर्म कहा है – इसका ध्यान पूर्वक परिज्ञान एवं सतत मन से रखना आवश्यक है। पश्चात् भाष्यकार ने शुभ कर्मों का उल्लेख करते हुए कहा है कि शरीर द्वारा दान(१), रक्षा(२) और परिचर्या(३) (सेवा) की जाती है। वाक्य द्वारा सत्यभाषण(४), हितोपदेश(५), प्रियभाषण(६) और स्वाध्याय(७) वेदादि शास्त्रों का अध्ययन होता हैं। मन द्वारा दया(८), निस्पृहता(९) और श्रद्धा(१०) परिगृहीत होती हैं। इनको मानसिक शुभ कर्म कहते हैं। इनका परिज्ञान और सतत मन में रखना आवश्यक है। यहाँ यह भी अवधेय है कि भाष्यकार ने मानसिक शुभ कर्म में श्रद्धा का उल्लेख किया है। इसके विपरीत अश्रद्धा को इन्होंने नास्तिक शब्द से उल्लेख किया है। पूर्वाचार्यों ने कहा है कि ''शास्त्रार्थे दृढ़प्रत्ययः श्रद्धा'' वेद तथा वेदमूलक शास्त्रों में दृढ़ विश्वास ही श्रद्धा है। इस श्रद्धास्वरूप बुद्धि की विपरीत बुद्धि है अश्रद्धा। अश्रद्धा विशिष्ट व्यक्ति में नास्तिक शब्द का प्रयोग होने से भाष्यकार ने यहाँ उस अश्रद्धा को ''नास्तिक'' कहा है।

यद्यपि पाणिति के ''अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः'' सूत्र के अनुसार ''दिष्ट'' ''परलोको नास्ति'' अर्थात् परलोक नहीं है – ऐसा मानने वालों में नास्तिक शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ लगता है। किन्तु मनु ने कहा है – ''नास्तिको वेदनिन्दकः''।[२४] अतः परलोक मानने वाला व्यक्ति भी यदि वेद की निन्दा करता है तो वह इस अर्थ में नास्तिक कहा

---

[२४] योऽवमन्येत ते मूले हेतु शास्त्राश्रयाद्द्विजः।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः॥ – मनुसंहिता २.११

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

जाएगा। अतएव वेदविश्वासी प्राचीन आचार्यगण परलोकवादी जैन तथा बौद्ध सम्प्रदाय को इसी अर्थ में नास्तिक कहते हैं क्योंकि वे वेद की निन्दा करते हैं। तत्त्वसंग्रह में बौद्ध आचार्य शान्तरक्षित ने स्पष्ट कहा है –

वेदमूलञ्च नैवेदं बुद्धानामुपदेशनम्।
निष्कलंकं तु तत्प्रोक्तं सकलङ्कं श्रुतौ पुनः॥
– तत्त्वसंग्रह, गायकवाड संस्करण, पृ. ९१९

इसकी पञ्जिका में उक्त है कि ''नहि निष्कलङ्कमुपदेशनं सकलङ्कमूलं युक्तम्''। यहाँ शान्तरक्षित ने वेद के उपदेश को सकलंक कहकर उसकी निन्दा ही की है।[२५]

भाष्यकार ने आगे कहा है कि इस सूत्र में प्रवृत्ति शब्द से प्रवृत्ति के साधनभूत धर्म और अधर्म कहे गए हैं। शुभ तथा अशुभ कर्मरूप प्रवृत्ति जिसके कारण होते हैं इस अर्थ में वह प्रयुक्त है। यहाँ बहुब्रीहि समास भाष्यकार के प्रवृत्तिसाधन शब्द में ज्ञात होता है। प्रवृत्तिजन्य अर्थात् कर्मरूप प्रवृत्तिजन्य धर्म और अधर्म नामक आत्मगुण ही प्रवृत्ति शब्द का लाक्षणिक अर्थ होता है। वेद में भी इस प्रकार का लाक्षणिक प्रयोग होता है। ऐसा प्रयोग आधुनिक नहीं है। इसको समझाने के लिए भाष्यकार ने दृष्टान्त रूप में कहा है – ''यथा अन्नसाधनाः प्राणाः'' आदि। प्राण अन्न नहीं है किन्तु अन्न साध्य है, अन्न प्राण का जनक है। इसी तात्पर्य से वेद में उक्त है – ''अन्नं वै प्राणिनः प्राणाः''। इस वाक्य में जैसे अन्न शब्द का अर्थ अन्नसाध्य या अन्नजन्य होता है, इसी प्रकार सूत्रोक्त प्रवृत्ति

---

[२५] यह सर्वथा मिथ्या है कि भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने वेद की निन्दा की है। जो कहते हैं – ''ऋक् साम यजुरेव च'' (गीता अ. ९) समस्त वेद ही जिनकी विभूति है वैसे वेद के संरक्षक भगवान् श्रीकृष्ण वेद की निन्दा नहीं कर सकते। किन्तु जो व्यक्ति स्वर्ग आदि के इच्छा के अधीन होकर वेद विहित सभी काम्य याग आदि का अनुष्ठान करते हैं और स्वर्ग से भिन्न किसी को प्राप्य नहीं मानते हुए वेद के ज्ञानकाण्ड का आदर नहीं करते उस व्यक्ति की इस प्रकार से निन्दा करने का तात्पर्य है निष्काम कर्म और ज्ञान की प्रशंसा करना। भगवद्गीता के ''यामिमां पुष्पितां वाचं'' (अ. द्वितीय) आदि श्लोक के चतुर्थपाद में ''नान्यदस्तीति वादिनः'' विशेषणवाक्य का प्रयोजन क्या है? इसका विचार करके ही उक्त श्लोक का तात्पर्य समझा जा सकता है। कर्ममीमांसा के आचार्य कुमारिल भट्ट ने भी ज्ञानकाण्डस्वरूप वेदान्त का अनादर नहीं किया है। इन्होंने श्लोकवार्त्तिक में आत्मवाद के अन्तिम श्लोक में कहा है – ''दृढत्वमेतद् विषयश्च बोधः प्रयाति वेदान्तनिषेवणेन''। इन्होंने भी भगवद्गीता का प्रामाण्य स्वीकार करके अपने मतानुसार अनेक बातों का भिन्न अर्थ में ही तात्पर्य कहा है। यथा – ''गीतामन्त्रार्थवादैर्या कल्प्यतेऽनर्थहेतुता'' इत्यादि (श्लोकवार्त्तिक, चोदना सूत्र दृष्टव्य ३७५ – ६ श्लोक)

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

शब्द का अर्थ प्रवृत्तिजन्य धर्म और अधर्म होता है। भाष्यकार का अभिप्राय यह है कि यद्यपि महर्षि ने शुभाशुभ कर्मसमूह को आगे प्रवृत्ति कहा है तथापि कर्मरूप प्रवृत्ति किसी जीव के जन्म के अव्यवहित पूर्व में विद्यमान नहीं रहती। अतः वह जन्म का साक्षात् कारण नहीं हो सकता। कर्मजन्य ये धर्म तथा अधर्म रूप आत्मगुण जन्म के अव्यवहित पहले रहकर ही साक्षात् कारण हो सकता है। पश्चात् तत्त्वज्ञान के माहात्म्य से उसका क्षय होता है। अतः ऐसे ही समझना चाहिए। इसको कार्यरूप प्रवृत्ति कहते हैं।

महर्षि गौतम ने भी आगे ''पूर्वकृतफलानुबन्धात्तदुत्पत्तिः'' (३.२.६०) सूत्र में पूर्वकृत शब्द के बाद फल शब्द का प्रयोग करके यथार्थतः जीव के पूर्वजन्मकृत शुभ तथा अशुभ कर्मजन्य धर्म और अधर्म को ही जन्म का साक्षात् कारण कहा है। अतः यह सत्य नहीं है कि जीव के मानव देह में पूर्व पूर्वजन्मकृत समस्त विश्वष्ट कर्म को जो जन्म आदि का कारण होते हैं वे समस्त कर्मजन्य धर्म और अधर्म नाम से जीवात्मा के विशेष गुण के रूप में स्वीकार नहीं किए गए हैं, अर्थात् स्वीकार किए गए हैं। इस मत में भी पूर्वजन्मकृत पापकर्मजन्य अधर्मरूप अदृष्ट के द्वारा वह पापकर्म निकृष्ट जन्म का कारण होता है। पुण्यकर्मजन्य धर्म रूप अदृष्ट के द्वारा वह पुण्यकर्म उत्कृष्ट जन्म का कारण होता है। अतः उक्त धर्म और अधर्म ही जन्म का साक्षात् कारण होता है। इसको ही कार्यरूप प्रवृत्ति कहते हैं। इसके साधन (जनक) शुभाशुभ कर्मरूप प्रवृत्ति को कहते हैं – कारणरूप प्रवृत्ति।

इस सूत्र में कार्यरूप प्रवृत्ति ही प्रवृत्ति शब्द से लिया गया है और इसी प्रकार कर्म से कर्मजन्य धर्म और अधर्म लिया जाता है। श्रुति कहती है – ''क्षीयन्ते चास्य कर्माणि'' (मुण्डक उप.) और श्रीकृष्ण ने कहा है – ''ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा'' (गीता)। इस सम्बन्ध में और अधिक बातें चतुर्थ अध्याय के द्वितीय आह्निक में तत्त्वज्ञान तथा मुक्ति की परीक्षा के अवसर पर कही जाएंगी।

(अभिधेय, सम्बन्ध, प्रयोजन प्रकरण समाप्त)

प्रमाण प्रकरण

***भाष्य* – त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिरुद्देशो लक्षणं परीक्षा चेति। तत्र नामधेयेन पदार्थमात्रस्याभिधानमुद्देशः, तत्रोदिष्टस्यातत्त्वव्यवच्छेदको धर्मो लक्षणं लक्षितस्य यथालक्षणमुपपद्यते न वेति प्रमाणैरवधारणं परीक्षा। तत्रोद्दिष्टस्य प्रविभक्तस्य लक्षणमुच्यते, यथा प्रमाणानां प्रमेयस्य च। उद्दिष्टस्य लक्षितस्य विभागवचनं यथा च्छलस्य, ''वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्याच्छलम्'' तत् त्रिविधमिति।**

***अनुवाद* –** इस न्यायदर्शनरूप शास्त्र की प्रवृत्ति अर्थात् उपदेशव्यापार तीन प्रकार का

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

होता है – (१) उद्देश, (२) लक्षण और (३) परीक्षा,[२६] इनमें नाम से पदार्थ का उल्लेख अर्थात् पदार्थों का नाम-कथन उद्देश है। इन उद्दिष्ट पदार्थों का अतत्त्व व्यवच्छेदक धर्म अर्थात् इस पदार्थ से भिन्न पदार्थों का भेद (इतरव्यावर्त्तक असाधारण धर्म) लक्षण होता है। (लक्षण कथन ही शास्त्र का दूसरा व्यापार है) लक्षित पदार्थ की इस लक्षण के अनुसार उपपत्ति होती है या नहीं – इसके लिए इस विषय में संशय के निराकरण हेतु प्रमाण समूह से अवधारण अर्थात् विचारपूर्वक उस पदार्थ का तत्त्व निर्णय ही परीक्षा है।

इनमें उद्दिष्ट होकर विभक्त पदार्थ का उद्देश के बाद सामान्यलक्षण नहीं कहकर विभाग करके विशेष पदार्थों के लक्षण कहे गए हैं, यथा प्रमाणों और प्रमेयों के। उद्दिष्ट एवं लक्षित पदार्थों का उद्देश के बाद सामान्य लक्षण उक्त हुए हैं। ऐसे पदार्थों को विभाग सूत्र से कहा गया है। जैसे छल पदार्थ का, ''वचन विघातोऽर्थविकल्योपपत्त्या छलम्'' इस प्रकार छल के सामान्य लक्षण के बाद विभाग हुआ है कि वह तीन प्रकार का होता है। तत् त्रिविधमिति (१.२.१०-११)।

टिप्पणी – प्रथम और द्वितीय सूत्रों से एक प्रकरण संपन्न हुआ है । इस प्रकरण में न्यायशास्त्र का अभिधेय, प्रयोजन और इन दोनों के सम्बन्ध कहे गए हैं। यह बताना प्रत्येक शास्त्र के आरम्भ में आवश्यक होता है। प्रमाण आदि सोलह पदार्थ न्यायशास्त्र के अभिधेय या प्रतिपाद्य हैं। इन सभी पदार्थों के तत्त्वज्ञान के लिए महर्षि ने पहले सूत्र में यथाक्रम इनका नामसंकीर्तन किया है। किन्तु इतने से ही समस्त पदार्थों का तत्त्वज्ञान सम्भव नहीं है, अतः इन पदार्थों का लक्षण और परीक्षण आवश्यक है। लक्षण और परीक्षा के लिए महर्षि गौतम का सूत्रसमूह जो आएगा वह आवश्यक है। उनकी व्यर्थता नहीं कही जा सकती। भाष्यकार ने इसी को समझाने के लिए तृतीय सूत्र की प्रस्तावना में ही कहा है कि न्यायशास्त्र की प्रवृत्ति या कार्यस्वरूप व्यापार तीन प्रकार के होते हैं – उद्देश, लक्षण, परीक्षा। पहले प्रतिपाद्य पदार्थ समूह का नाम-कथन उद्देश है। उद्दिष्ट पदार्थ का प्रकार भेद कहने के लिए भिन्न-भिन्न विशेषनाम का कथन ही पदार्थ का विभाग कहलाता है। यह विभाग भी उद्देश ही है। यह विभाग महर्षि ने दो प्रकार से किया है। यथा प्रमाण और प्रमेयों का अलग सूत्रों के द्वारा सामान्यलक्षण नहीं कहकर विभाग किया है और छल पदार्थ का अलग सूत्र से सामान्य लक्षण कहकर विभाग किया है।

---

[२६] न्यायदर्शन की इस उपदेश पद्धति का अनुसरण करके जैन दार्शनिक हेमचन्द्र ने प्रमाणमीमांसा में कहा है – ''त्रयी हि शास्त्रस्य प्रवृत्तिः उद्देशो लक्षणं परीक्षा च। तत्र नामधेयकीर्तन मात्रमुद्देशः। उद्दिष्टस्यासाधारणधर्मवचनं लक्षणं, तद्द्वेधा-सामान्यलक्षणं विशेषलक्षणं च। लक्षितस्य इदमित्थं भवति नेत्थमिति न्यायतः परीक्षणं परीक्षा''।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

इस उद्देश के बाद उन विशिष्ट पदार्थों का लक्षणकथन शास्त्र का दूसरा व्यापार होता है। अतः भाष्यकार के लक्षण शब्द से लक्षण कथन ही समझना चाहिए। भाष्यकार ने स्वयं भी ''लक्षणमुच्यते'' कहकर इसको स्पष्ट किया है। किन्तु जिज्ञासा होती है कि किसका लक्षण कहना है, तो भाष्यकार कहते हैं कि उन उद्दिष्ट पदार्थों का जिनके नाम पहले उक्त हुए हैं। इन पदार्थों के अतत्त्वव्यवच्छेदक धर्म ही उनके लक्षण होते हैं। ''अतत्'' पद का अर्थ होता है तत् से भिन्न अतत्त्व अर्थात् तद्भिन्नत्व समझना चाहिए। इस तद्भिन्नत्व का व्यवच्छेदक असाधारण धर्म ही उस पदार्थ का लक्षण होता है। इस लक्षण रूप हेतु से अनुमान होता है कि अमुक पदार्थ इससे भिन्न सभी पदार्थों से भिन्न हैं। अतः लक्षण को इतर व्यावर्त्तक या इतरभेदानुमापक कहा गया है। जिस पदार्थ का जैसा लक्षण कहा गया है तदनुसार वह पदार्थ वैसा सिद्ध होता है, या नहीं – इस बात का प्रमाण के आधार पर विचार करके यह वैसा ही है यह निर्णय करना ही परीक्षा है। अभिप्राय यह है कि महर्षि गौतम ने न्यायदर्शन में यथाक्रम प्रमाण आदि सोलह पदार्थों का उद्देश्य, लक्षण-कथन और उनमें अनेक पदार्थों की परीक्षा की है – इसको भाष्यकार ने शास्त्र की प्रवृत्ति अर्थात् कार्यरूपव्यापार कहा है जो तीन प्रकार का होता है। महर्षि गौतम ने प्रमाण और प्रमेय पदार्थों का सामान्यलक्षण सूत्र नहीं कहकर केवल विभाग सूत्र कहा है। अतः यहाँ ज्ञातव्य है कि इस विभाग सूत्र से ही उन दोनों पदार्थों का सामान्यलक्षण भी सूचित होता है। क्योंकि सामान्यलक्षण के ज्ञान के बिना विभक्तित पदार्थों का विशेषलक्षण ज्ञात नहीं हो सकता।

भाष्य – **अथोद्दिष्टस्य विभागवचनम्**

अनुवाद – इसके बाद प्रथम उद्दिष्ट प्रमाण-पदार्थ का विभाग सूत्र कहते हैं।

सूत्र – प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि। १.१.३

अनुवाद – प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द ये चार प्रमाण हैं अर्थात् प्रत्यक्ष आदि नाम से विदित प्रमाण पदार्थ चार प्रकार के होते हैं।

टिप्पणी – महर्षि गौतम ने आगे प्रत्यक्ष आदि चार प्रमाणों का लक्षण कहा है किन्तु संशय होता है कि इनसे भिन्न प्रमाण इनको सम्मत है या नहीं। क्योंकि चार प्रमाणों के लक्षण-कथन से इस संशय का निराकरण नहीं होता। सजातीय और विजातीय सभी पदार्थों से व्यावृत्त (पृथक्) सिद्ध करना ही लक्षण का प्रयोजन होता है। इससे पदार्थ की संख्या का नियम निश्चित नहीं होता। वार्त्तिककार उद्योतकार ने विचारपूर्वक इसका समर्थन करते हुए उपसंहार में कहा है कि ''तस्मात् संशयनिवृत्त्यर्थं युक्तो विभागोद्देशः'' इति। उक्त रूप संशय के निराकरण हेतु प्रमाण पदार्थ का विभाग रूप विशेष उद्देश उचित

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

है। प्रमाण चार ही हैं – यह बताने के अभिप्राय से ही महर्षि ने यह सूत्र कहा है। इनके मत में प्रमाण चार प्रकार के होते हैं – इस बात का निश्चय इस सूत्र से ही हो जाने से उक्त संशय नहीं रह जाता।

जब तक प्रमाण पदार्थ के सामान्यलक्षण का ज्ञान नहीं हो, तब तक विशेषलक्षण का ज्ञान नहीं हो सकता। अतः विशेषलक्षण कहने के पहले इसका सामान्यलक्षण कहना आवश्यक है। किन्तु महर्षि गौतम ने प्रमाण का सामान्यलक्षण नहीं कहा है। प्राचीन काल में अनेक विद्वानों ने न्यायसूत्र की इस न्यूनता का उल्लेख किया है। इस न्यूनता नामक दोष के परिहार के लिए वाचस्पति मिश्र ने भाष्यकार की उक्ति को अपनी तात्पर्यटीका में स्पष्ट करते हुए कहा है कि यह सूत्र प्रमाण पदार्थ के विभाग के लिए उक्त होने पर भी अन्ततः उक्त प्रमाण शब्द से प्रमाण के सामान्यलक्षण को भी बता देता है। सूत्र अनेक अर्थों का सूचक होता है – इसलिए संकेत किया है। वाचस्पति मिश्र ने अन्यत्र भी इस बात का संकेत किया है – "सूत्रंच बह्वर्थसूचनाद् भवति"। (भामती आदि भाष्य की व्याख्या का अन्त भाग)। न्यायमञ्जरीकार जयन्त भट्ट ने इसका समर्थन किया है। इन्होंने स्पष्ट कहा है –

एकेनानेन सूत्रेण द्वयं चाह महामुनिः।
प्रमाणेषु चतुः संख्यां तथा सामान्यलक्षणम्॥

जयन्त भट्ट ने उपमानलक्षण सूत्र से "साध्यसाधनम् पद की तथा प्रत्यक्ष" लक्षण सूत्र से कुछ पद की आवृत्ति करके उससे प्रमाण के सामान्यलक्षण की व्याख्या की है। किन्तु वाचस्पति मिश्र तथा उदयनाचार्य आदि महर्षि का ऐसा अभिप्राय नहीं मानते-समझते हैं। अतः ये ऐसी कल्पना नहीं करते।

सूत्रोक्त "प्रमाण" पद प्रपूर्वक माधातु से करण अर्थ में ल्युट् प्रत्यय करने पर सिद्ध होता है। अतः प्रमा ज्ञान का करणत्व प्रमाण का सामान्य लक्षण होता है, जो प्रमाण शब्द से ही ज्ञात होता है। प्रपूर्वक मा धातु का अर्थ होता है प्रकृष्टज्ञान अर्थात् यथार्थज्ञान। यथार्थज्ञान दो प्रकार का होता है – अनुभव और स्मृति। जैन दार्शनिक स्मृति को परोक्ष प्रमाण का एक विभाग मानते हैं।[२७] किन्तु न्यायवैशेषिक सम्प्रदाय स्मृति या स्मृति के

---

[२७] अविशदः परोक्षम्। स्मृतिप्रत्यभिज्ञानोहानुमानागमास्तद्विधाः। – प्रमाणमीमांसा १.२.१.२ खण्डनखण्डखाद्य की टीका में विद्यासागर ने कहा है – प्रमात्वं जातिरिति तार्किकसमयो निरस्तः। (प्रथम संस्करण पृ. ४४८) किन्तु प्रमात्व जाति है – यह नैयायिकों का सिद्धान्त नहीं है। तात्पर्यपरिशुद्धि (पृ. १५८) में उदयनाचार्य ने इस प्रमाणलक्षण के विषय में विशेष →

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

करण को प्रमाण के अन्तर्गत नहीं मानते। क्योंकि जो विषय पूर्व से प्रमाण द्वारा अधिगत या अनुभूत रहता है उसी विषय के संस्कार से उत्पन्न ज्ञान ही स्मृति है। अतः स्मृति का करण वही है जो पूर्वानुभव का रहा है, और इस विषय में वही प्रमाण होगा। इसके लिए अलग से कोई प्रमाण मानना आवश्यक नहीं है। यद्यपि अनुभव मात्र प्रमाण होता है, तथापि व्युत्पत्ति के अनुसार प्रपूर्वक मा धातु का अर्थ प्रमा केवल यथार्थ अनुभव परिगृहीत होता है। वाचस्पति मिश्र ने यहाँ कहा है कि ''प्रमीयते अनेनेत्यस्य वाक्यस्यार्थप्रमाणपद प्रयोगः प्रमाण च स्मृतेरन्या अर्थाव्यभिचारी स्वतंत्रः परिच्छेदः''। यहाँ परिच्छेद का अर्थ है निश्चयात्मक ज्ञान। स्मृत्यात्मक ज्ञान निश्चयात्मक होने पर भी स्वतंत्र नहीं है। वह अपने विषय में पूर्वानुभव सापेक्ष होता है। इस प्रकार का ज्ञान यथार्थ अनुभव ही होता है। न्यायकुसुमाञ्जलि में (४.१) उदयनाचार्य ने इस युक्ति के आधार पर नैयायिक की दृष्टि से उक्त प्रमा का लक्षण कहा है – ''यथार्थानुभवो मानमनपेक्षतयेष्यते''। तात्पर्य यह है कि प्रमाण के लक्षण में यथार्थ अनुभवत्व ही प्रमात्व है''।[२८]

भाष्यकार ने आगे चलकर ''उपलब्धिसाधननि प्रमाणनि'' आदि सन्दर्भ से उपलब्धि के करणत्व को प्रमाण का सामान्यलक्षण कहा है जो प्रमाणपद की व्युत्पत्ति से भी ज्ञात होता है। प्रमाण के स्वरूप की व्याख्या करते हुए वार्त्तिककार ने कहा है कि ''उपलब्धि हेतुः प्रमाणम्; उपलब्धि हेतुत्वं प्रमाणत्वम्'' यहाँ हेतु पद से करणरूप हेतु

→ विचार करते हुए कहा है – ''नापि प्रमात्वं नाम सामान्यविशेषः समस्ति''। इस सन्दर्भ से स्पष्ट होता है कि प्रमात्व जाति विशेष नहीं है। यहाँ आचार्य ने अनेक युक्तियाँ प्रदर्शित की हैं। चित्सुख मुनि ने उदयनाचार्य की किसी बात का खण्डन करने के लिए प्रमात्व का जाति विशेष रूप में समर्थन करके बहुत विचार किया है। (द्रष्टव्य, चित्सुखी पृ. २२६-२८)। तत्त्वचिन्तामणिकार गङ्गेश उपाध्याय ने प्रत्यक्षखण्ड में कहा है कि प्रमात्व जाति नहीं हो सकती क्योंकि भ्रमज्ञान के किसी अंश में प्रमात्व रहने पर आंशिक रूप से जाति नहीं मानी जा सकती। इन्होंने अन्त में सिद्धान्तरूप में प्रमा का लक्षण कहा है – ''तद्वति तत्प्रकारको अनुभवो वा'' जिस पदार्थ में जो धर्म वस्तुतः रहता है उस धर्म से विशिष्ट उस पदार्थ का अनुभव ही प्रमा पदार्थ है और इस प्रमा का करणत्व ही प्रमाण का सामान्य लक्षण है।

२८ प्रत्यक्ष प्रमाण की व्याख्या में प्राचीन वैशेषिक आचार्य प्रशस्तपाद ने अन्त में इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा यथार्थ प्रत्यक्ष ज्ञान को भी प्रत्यक्ष प्रमाण कहा है। यहाँ किरणावलीकार उदयनाचार्य ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है – ''अथवेति वा शब्दः समुच्चये न तु विकल्पे। हेयादिज्ञानोत्पत्तावपि द्रव्यादिज्ञानं प्रमाणमिति वाक्यार्थ इति''। इसके अनुसार यहाँ भाष्यकारोक्त वा शब्द का भी अर्थ समुच्चय होता है। उद्योतकर ने भी लिखा है – सन्निकर्षो ज्ञानञ्च।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

ही विवक्षित है। प्रमास्वरूप उपलब्धि का कर्त्ता प्रमाता होता है और उपलब्धि का विषय रूप कर्म प्रमेय होता है। उपलब्धि का निमित्त या कारण होने पर भी जो करण नहीं होता वह प्रमाण नहीं होता। साधकतम अर्थात् मुख्य साधक होने से वह करण होता है। प्रमाता और प्रमेय उपलब्धि का साधकतम नहीं है। अत: प्रमाण नहीं है। वार्त्तिककार ने अन्यरूप से भी प्रमाण के वैशिष्ट्य का समर्थन किया है। तात्पर्य यह है कि यथार्थ अनुभूति रूप उपलब्धि करणत्व ही प्रमाण का सामान्यलक्षण होता है। महर्षि गौतम के मत में यह अनुभूति चार प्रकार की होती है – (१) प्रत्यक्ष (२) अनुमान (३) उपमान तथा (४) शब्द। इनका करण, स्वरूप, प्रमाण भी चार प्रकार का होता है। अत: महर्षि ने कहा है – ''प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दा: प्रमाणानि''।

भाष्य – **अक्षस्याक्षस्य प्रतिविषयं वृत्तिः प्रत्यक्षम्। वृत्तिस्तु सन्निकर्षो ज्ञानं वा[२८]। यदा सन्निकर्षस्तदा ज्ञानं प्रमितिः, यदा ज्ञानं तदा हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः फलम्। मितेन लिङ्गेन लिङ्गिनोऽर्थस्य पश्चान्मानमनुमानम्। उपमानं सामीप्यज्ञानम् यथा गौरिव गवय इति। सामीप्यन्तु सामान्ययोगः शब्दः शब्द्यतेऽनेनार्थ इति अभिधीयते ज्ञाप्यते।**

उपलब्धिसाधनानि प्रमाणानीति समाख्यानिर्वचनसामर्थ्याद् बोद्धव्यम्। प्रमीयतेऽनेनेति करणार्थाभिधानो हि प्रमाणशब्दः। तद् विशेषसमाख्याया अपि तथैव व्याख्यानम्।

अनुवाद – प्रत्येक इन्द्रिय की अपने-अपने विषय में वृत्ति अर्थात् व्यापार प्रत्यक्ष प्रमाण होता है। वृत्ति से यहाँ सन्निकर्ष और ज्ञान दोनों अभिप्रेत हैं। (विषय के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष एवं तज्जन्य विषय का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान दोनों ही फल के भेद से प्रत्यक्ष प्रमाण होता है।) जिस समय में सन्निकर्ष व्यापार होता है अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण होता है उस समय ज्ञान अर्थात् उस सन्निकर्ष से जन्य निर्विकल्पक एवं सविकल्पक प्रत्यक्षस्वरूप ज्ञान प्रमितिरूप फल होता है। और जिस समय में ज्ञान (प्रत्यक्षरूप प्रमा ज्ञानवृत्ति) अर्थात् इन्द्रिय का व्यापाररूप प्रत्यक्ष प्रमाण होता है, उस समय में हान बुद्धि, उपादान बुद्धि और उपेक्षा बुद्धि फल होता है। अर्थात् किसी विषय के यथार्थ प्रत्यक्ष के बाद जिस बुद्धि से उस विषय में हेयत्व का ज्ञान उत्पन्न होता है वह हान बुद्धि है और जिस बुद्धि से विषय में उपादेयत्व का बोध (ग्राह्यत्व बोध) उत्पन्न होता है वह उपादान बुद्धि है और जिस बुद्धि से विषय में उपेक्षा का बोध उत्पन्न होता है वह ''उपेक्षा बुद्धि'' है। ये हान, उपादान और उपेक्षा बुद्धिरूप प्रमिति ही उस प्रत्यक्षज्ञानरूप प्रमाण का फल होता है।

मिति अर्थात् यथार्थरूप से निश्चित लिंग (हेतु) से लिंगी अर्थात् साध्य पदार्थ का

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

पश्चात् मान अनुमान कहलाता है। (लिंग निश्चय के पश्चात् जिससे लिंगी का अनुमितिरूप ज्ञान (मान) उत्पन्न होता है वह अनुमान शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है। पुनः "जैसे गौ होती है उसी प्रकार का गवय होता है" – इस प्रकार का सामीप्य ज्ञान उपमान कहलाता है। सामीप्य से अभिप्रेत है सामान्य योग अर्थात् समान धर्मरूप सादृश्य सम्बन्ध। उप शब्द का अर्थ है सादृश्यरूप सामीप्य और ज्ञानार्थक मा धातु से निष्पन्न मान शब्द का अर्थ है ज्ञान। अतः उपमान शब्द यहाँ सादृश्यज्ञान का बोधक है। जैसे, गवय नामक पशु में गौ का सादृश्य दर्शन होता है। ऐसे ही शब्द वह जिससे अर्थ शब्दित होता है अर्थात् अर्थ के अभिधायक (ज्ञापक) को शब्द कहते हैं। (जिससे अर्थ अभिहित, बोधित या ज्ञापित हो – इस तरह की व्युत्पत्ति के अनुसार शब्द – धातु से निष्पन्न प्रमाणवाचक "शब्द" शब्द से अभिप्रेत है – अर्थबोध का साधन शब्द।

उपलब्धि का साधन समूह प्रमाण होता है – इस समाख्या का (प्रमाण शब्द का) निर्वचन शक्ति के आधार पर अर्थात् प्रमाण शब्द के निष्पादक धातु और प्रत्यय के सामर्थ्य से ज्ञान होता है। क्योंकि "प्रमीयतेऽनेन" इससे पदार्थ प्रमित होता है। इस व्युत्पत्ति से प्रमाण शब्द का अर्थ प्रमाणज्ञान का करण होता है। अतः इस प्रमाण के विशेष अभिधान प्रत्यक्ष आदि की भी इसी प्रकार की व्याख्या अवधेय है।

टिप्पणी – भाष्यकार ने यहाँ सूत्रोक्त प्रत्यक्ष आदि चार पदों की व्युत्पत्तिमूलक व्याख्या करते हुए कहा है कि – "अक्षस्याक्षस्य प्रतिविषयं वृत्तिः प्रत्यक्षम्"। प्रत्यक्ष पद के अन्तर्गत अक्ष शब्द का अर्थ है इन्द्रिय। इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष रूपज्ञान एवं उस ज्ञान का विषय प्रत्यक्ष नामक प्रमाण होता है। इसका तीन अर्थों में व्यवहार होता है। अतः अर्थभेद से इस पद के समास में भेद होता है। इस विषय में मतभेद भी है। उद्योतकर ने यहाँ पहले अव्ययीभाव समास कहकर पश्चात् प्रादि समास कहा है। वाचस्पति मिश्र ने इसके तात्पर्य की व्याख्या करते हुए कहा है कि प्रत्यक्ष शब्द के अन्य अर्थ में प्रादि समास होने पर भी प्रमाणार्थक सूत्रोक्त प्रत्यक्ष शब्द में अव्ययीभाव समास मान्य है। "अक्षम् अक्षम् प्रतिवर्तते" – यह इस समास का विग्रहवाक्य होगा। भाष्यकार ने अक्षस्य अक्षस्य आदि वाक्य से उक्त विग्रहवाक्य का अर्थ प्रकाशित किया है। वह वाक्य उसका विग्रह वाक्य नहीं है। अन्यथा अक्षपद से षष्ठी विभक्ति नहीं हो सकती। प्रतिशब्द के योग में द्वितीया विभक्ति ही विदित है। विग्रहवाक्य में वर्तते इस क्रियापद से वृत्ति अर्थ ज्ञात होता है। भाष्यकार ने इस वृत्ति का प्रयोग किया है। वाचस्पति मिश्र ने इस वृत्ति की व्याख्या व्यापार की है – "वृत्तिरिति हि व्यापारः"। इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष ज्ञान में उपेक्षित चरम कारण रूप व्यापार ही इन्द्रिय की वृत्ति होती है। प्रतिशब्द से समस्त इन्द्रियों का संग्रह

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

होने से प्रत्येक इन्द्रिय के अपने-अपने विषय में उक्त व्यापारात्मक वृत्ति ही प्रत्यक्ष शब्द से ज्ञात होती है। किन्तु वह प्रत्यक्ष शब्द का केवल व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है। प्रत्यक्ष प्रमाण का स्वरूपलक्षण महर्षि ने पश्चात् कहा है।

अपने विषय में इन्द्रिय की वृत्ति (व्यापार) क्या है – इसका उत्तर भाष्यकार ने आगे कहा है – ''वृत्तिस्तु सन्निकर्षों ज्ञानं वा''। इन्द्रियग्राह्य विषय के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष या सम्बन्धविशेष होने पर उससे जो विषय का प्रत्यक्षरूप ज्ञान उत्पन्न होता है वही सन्निकर्ष ही यहाँ इन्द्रिय की प्रथम वृत्ति (व्यापार) है। सन्निकर्ष से जो पहले-पहल विषय का आलोचन होता है अर्थात् निर्विकल्पक प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है, उसका ही दूसरे क्षण में विशिष्ट प्रत्यक्ष (सविकल्पक प्रत्यक्ष) उत्पन्न होता है। उक्त दोनों ही प्रकार का प्रत्यक्ष (निर्विकल्पक और सविकल्पक) उस सन्निकर्षरूप प्रमाण का फल होता है। इनमें से प्रथमोत्पन्न निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की उत्पत्ति में सन्निकर्ष को किसी अन्य ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती किन्तु बाद में उत्पन्न सविकल्पक प्रत्यक्ष की उत्पत्ति में उसके पूर्व उत्पन्न निर्विकल्पक प्रत्यक्षात्मक विशेषण ज्ञान की अपेक्षा होती है। क्योंकि विशेषण विशिष्ट विशेष्यविषयक प्रत्यक्ष ही सविकल्पक प्रत्यक्ष कहलाता है। विशेषण ज्ञान के बिना विशिष्ट ज्ञान नहीं उत्पन्न होता। अत: यह मानना होगा कि सविकल्पक प्रत्यक्ष के अव्यवहित पहले निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की उत्पत्ति होती है। इस प्रत्यक्ष में कोई भी पदार्थ विशेषणरूप में विषय नहीं होता। यह वस्तु के केवल स्वरूप का ज्ञान है – इसी का नाम है आलोचन। यह विशेषण ज्ञान के रूप में उस सन्निकर्ष का सहकारी होकर सविकल्पक प्रत्यक्ष का कारण होता है। न्यायकन्दली टीका (पृ. १९८) में श्रीधर भट्ट ने भी यही कहा है। यहाँ यह समझना आवश्यक है कि समवाय नामक सम्बन्ध और अभाव पदार्थ का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है। क्योंकि जिस पदार्थ के समवाय सम्बन्ध का प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है वह सम्बन्धी पदार्थ उस समवाय सम्बन्ध के प्रत्यक्ष में समवाय अंश में विशेषण रूप में विषय होता ही है। जैसे घटावयव में घट समवाय का प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है। यही घट विशिष्ट समवाय का प्रत्यक्ष है। विशेषणरहित शुद्ध समवाय सम्बन्ध का प्रत्यक्ष असम्भव होता है। वैशेषिक मत में समवाय सम्बन्ध अतीन्द्रिय पदार्थ होता है। न्याय के मत में अनेक स्थानों पर सम्बन्धी पदार्थ विशिष्ट समवाय सम्बन्ध का प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है। इसी प्रकार न्याय तथा वैशेषिक सम्प्रदाय के अनुसार अभाव पदार्थ का प्रत्यक्ष होता है। इस प्रत्यक्ष में अभाव का प्रतियोगी पदार्थ अभाव अंश में विशेषणरूप से विषय होता है। जैसे घटाभाव के प्रत्यक्ष करते समय उस अभाव में उसका प्रतियोगी घट विशेषणरूप में विषय होता है। केवल अभावविषयक प्रत्यक्ष नहीं होता। अत: समवाय सम्बन्ध और अभाव पदार्थ का प्रत्यक्ष सविकल्पक ही होता है। यह

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की अपेक्षा नहीं रखता। न्यायकुसुमाञ्जलि (४.४) में उदयानाचार्य ने इस बात का समर्थन किया है – "तयोर्विशेषणांशस्य प्राग् ग्रहणादनुमानादिवत् तदुपपत्तेः"। समवाय सम्बन्ध और अभाव पदार्थ में जो विशेषण होते हैं वह पहले से ज्ञात रहते हैं। उस विशेषण के स्मरणात्मक ज्ञान से वह विशिष्ट प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है। फलितार्थ यह हुआ कि सभी स्थलों में सर्वत्र ग्राह्य विषय के साथ इन्द्रिय के सन्निकर्ष होने पर पहले निर्विकल्पक और पश्चात् सविकल्पक प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है। कुमारिल भट्ट समवाय सम्बन्ध नहीं मानते और अभाव पदार्थ मानते हैं किन्तु इसका प्रत्यक्ष नहीं मानते। अतः इनके मत में प्रत्यक्ष स्थल में सर्वत्र पहले निर्विकल्पक और पश्चात् सविकल्पक प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है।[२९] बौद्ध सम्प्रदाय सविकल्पक प्रत्यक्ष का प्रामाण्य नहीं मानते। कुमारिल ने विशेष विचार करके इनके मत का भूरिशः खण्डन किया है जो आगे स्पष्ट होगा।

जिस प्रकार ग्राह्य विषय के साथ इन्द्रिय के सन्निकर्षरूप वृत्ति या व्यापार प्रत्यक्ष प्रमाण माना जाता है उसी प्रकार उक्त सन्निकर्षजन्य जो प्रत्यक्ष ज्ञान होता है वह भी प्रत्यक्ष प्रमाण के रूप में मान्य है। क्योंकि उक्त ज्ञान हान बुद्धि, उपादान बुद्धि एवं उपेक्षा बुद्धि रूप प्रत्यक्ष प्रमा का करण होता है। और उक्त बुद्धि ही ज्ञानरूप प्रमाण का फल होता है। अतः भाष्यकार ने कहा है कि "यदा ज्ञानं तदा हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः फलम्"। "हीयते त्यज्यतेऽनेन" जिससे हेयत्व ज्ञान होने पर त्याग किया जाए – इस व्युत्पत्ति के अनुसार त्यागार्थक हा धातु से करण अर्थ में ल्युट् प्रत्यय करके हान शब्द सिद्ध होता है। हानस्वरूप ज्ञान ही हान बुद्धि है। इसी प्रकार जिस बुद्धि से उपादेयत्व-ग्राह्यत्व-बोध करके उपादान-ग्रहण किया जाए वह है उपादान बुद्धि। जिस बुद्धि से उपेक्षात्व का बोध हो और उपेक्ष्य की उपेक्षा हो उसे उपेक्षा बुद्धि कहते हैं। प्राचीन विद्वान् इन तीन प्रकार की बुद्धि को ही "हान आदि बुद्धि" कहते हैं। श्लोकवार्तिक के प्रत्यक्ष सूत्र की व्याख्या में कुमारिल भट्ट ने कहा है – "हानादिबुद्धिफलता"। न्यायमञ्जरीकार जयन्त भट्ट ने कहा है – "फलं हानादिबुद्धयः" (पृ. ६६)। ज्ञान को प्रमाण मानने वाले जैन दार्शनिक हेमचन्द्र ने प्रमाणमीमांसा में कहा है – "हानादिबुद्धयो वा" (१.१.४१)।

उद्योतकर ने इसको समझाते हुए कहा है कि "ज्ञाते खल्वर्थे त्रिधा बुद्धिर्भवति, हेयो

---

[२९] अस्ति ह्यालोचनं ज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम्।
बालमूकादिविज्ञानसदृशं शुद्धवस्तुजम् ॥११२॥

ततः परं पुनर्वस्तुधर्मजात्यादिभिर्यया।
बुद्ध्यावसीयते सापि प्रत्यक्षत्वेन सम्मता ॥१२०॥ – श्लोकवार्तिक, प्रत्यक्ष सूत्र

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

वा, उपादेयो वा, उपेक्षणीयो वेति''। किसी पदार्थ का ज्ञान होने के पश्चात् ज्ञाता को उस विषय में हेय, ग्राह्य या उपेक्ष्य बुद्धि (ज्ञान) उत्पन्न होती है। हेय का ज्ञान होने पर उसका त्याग, ग्राह्य का ज्ञान होने पर उसका ग्रहण और उपेक्षणीय का ज्ञान होने पर उसकी उपेक्षा होती है। भाष्यकार ने इसी को पहले ही (सूत्र १ की व्याख्या में) कहा है – तत्त्व परिसमाप्ति। अत: उपेक्षणीय विषय में त्याग या ग्रहण की इच्छा उत्पन्न नहीं होती। अत: इस विषय में किसी की प्रवृत्ति उत्पन्न नहीं होती। यही कारण है कि आदि भाष्य में अर्थ शब्द की व्याख्या केवल ग्राह्य और त्याज्य अर्थात् ग्रहण और त्याग की व्याख्या की गई है। ''अर्थस्तु सुखं सुखहेतुर्दु:खं दु:खहेतुश्च'' (पृ. १) साधारण जीव के लिए सुख और सुख का कारणरूप पदार्थ ग्राह्य होता है और दु:ख और दु:ख का कारणरूप पदार्थ त्याज्य होता है। यह सुख और दु:ख भी नियम्य नहीं है, यह बात भी भाष्यकार ने आगे कही है – जिस पदार्थ के ज्ञान के बाद साधारण जीव उसको न तो उपकारी समझता है और न ही अपकारी – ऐसा पदार्थ उपेक्षणीय होता है। यह ग्राह्य और त्याज्य से भिन्न तीसरे प्रकार का पदार्थ होता है।[३०] तात्पर्य यह है कि किसी पदार्थ के ज्ञान के बाद उसका ग्रहण, त्याग तथा उपेक्षा होने से पहले जीव को उस विषय में ग्राह्यत्व, त्याज्यत्व और उपेक्ष्यत्व का बोध अवश्य उत्पन्न होता है।

जल के साथ चक्षु इन्द्रिय का संयोगरूप सन्निकर्ष होने के अव्यवहित परक्षण में जल और जलत्व धर्म का जो अविशिष्ट (सामान्य) प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है उसे निर्विकल्पक प्रत्यक्ष कहते हैं। विकल्प का अर्थ है दो पदार्थों में विशेषण-विशेष्य भाव। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में जल में जलत्व रूप धर्म विशेषणरूप में विषय नहीं होता। किन्तु केवल जल और जलत्व विषय होते हैं। इसी कारण इसको निर्विकल्पक प्रत्यक्ष कहते हैं। इसके बाद जलत्व धर्म विशेषणरूप से विषय होता है – इसको सविकल्पक प्रत्यक्ष या

---

[३०] पश्चात् बौद्ध सम्प्रदाय में उपेक्षणीय विषय को अग्राह्यत्व के कारण हेय कहा है। धर्मकीर्ति की न्यायबिन्दु की टीका में धर्मोत्तर ने कहा है – ''उपेक्षणीयो ह्यनुपादेयत्वाद्धेय एव'' (पृ. ६)। हेय और उपादेय दो ही प्रकार के पदार्थ होते हैं। इससे भिन्न पदार्थ का तीसरा प्रकार मान्य नहीं है। जैन दार्शनिक प्रभाचन्द्र ने भी प्रमेयकमलमार्तण्ड में इसका समर्थन किया है। किन्तु जयन्त भट्ट ने इसका प्रतिवाद करते हुए कहा है कि रास्ते पर जाते हुए तृण तथा पत्र आदि देखे जाते हैं और उन विषयों में छत्र आदि ग्राह्य पदार्थ की तरह या सर्प आदि त्याज्य पदार्थ की तरह ग्रहण या त्याग की बुद्धि उत्पन्न नहीं होती है – यह अनुभवसिद्ध है। जिस विषय में त्याग की इच्छा नहीं उत्पन्न होती उसकी गणना त्याज्य पदार्थ में नहीं होती है। जयन्त भट्ट के परवर्ती जैन दार्शनिक हेमचन्द्र ने प्रमाणमीमांसा में प्रमाण लक्षण की व्याख्या (पृ.५) में तृतीय प्रकार के उपेक्षणीय पदार्थ का समर्थन किया है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

विशिष्ट प्रत्यक्ष कहते हैं। इस प्रत्यक्ष के पश्चात् हम लोग यदि उस जल का उपादान अर्थात् ग्रहण करते हैं तो इससे पूर्व यह जल ग्राह्य है – इस प्रकार का ज्ञान हम लोगों को अवश्य उत्पन्न होता है – यह मानना होगा। परन्तु प्रश्न होता है कि किस प्रमाण से यह ज्ञान उत्पन्न होता है तो उत्तर में कहना होगा कि चूंकि जल का ग्रहण यदि भावी पदार्थ है तब उसके पहले उसमें ग्रहण योग्यता का लौकिक प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है। अतः अनुमान प्रमाण से वह ज्ञान उत्पन्न होगा – यही मानना होगा।

किन्तु इस जल के ग्राह्यत्व का अनुमान करने के लिए इसमें ग्राह्यत्व की व्याप्ति विशिष्ट किसी हेतु का निश्चयात्मक ज्ञान आवश्यक है। अतः पहले जो जल का ग्रहण करके उपकार का लाभ हुआ था वैसा जल ही ग्राह्य है, इस प्रकार के व्याप्तिनिश्चय से उत्पन्न संस्कारवश व्याप्ति का स्मरण होता है और उसका फल जल जातीय अर्थात् ग्राह्यत्व का व्याप्तिविशिष्ट वैसा जलत्व ही जल में विद्यमान है – इस प्रकार का दूसरा ही प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है। यही प्रत्यक्षात्मक ज्ञान इस स्थल में इस जल में ग्राह्यत्व का अनुमापक लिंगपरामर्श नामक अनुमान प्रमाण होता है। वही जलत्व उक्त अनुमान का हेतु होता है। यह जल उक्त जलजातीय है इस प्रकार का जो प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है – यही है उपादान बुद्धि। इस उपादान बुद्धि से जल में ग्राह्यत्व का अनुमितिरूप ज्ञान उत्पन्न होता है जिसके अनुसार जल का हम लोग उपयोग करते हैं। इसी तरह किसी जल में पूर्व परित्यक्त जल का सादृश्य देखने पर पश्चात् पूर्ववत् व्याप्तिस्मरणजन्य उस जल का जातीय ही यह जल है – इस प्रकार के प्रत्यक्ष की उत्पत्ति होती है – वही यहाँ हान बुद्धि है। उससे जल में हेयत्व का अनुमितिरूप ज्ञान उत्पन्न होता है – जिससे उस जल का हम लोक परित्याग करते हैं। इसी प्रकार किसी जल में पहले से उपेक्षित जल का सादृश्य देखने पर पहले की तरह व्याप्तिस्मरण आदि के आधार पर ''यह जल उसी जल का जातीय है'' इस प्रकार का प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है जो उपेक्षाबुद्धि होती है। उससे उस जल में उपेक्षात्व का अनुमितिरूपज्ञान उत्पन्न होता है और उसकी हम उपेक्षा करते हैं।

उक्त प्रकार की हान बुद्धि, उपादान बुद्धि और उपेक्षा बुद्धि प्रत्यक्ष स्थल में प्रत्यक्ष रूप प्रमिति है। अतः उसका करण पूर्वोत्पन्न निर्विकल्पक और सविकल्पक प्रत्यक्ष प्रमाण भी होता है। इसका फल ये ही हान, उपादान और उपेक्षा बुद्धि होती है। यह हानादि बुद्धि प्रत्यक्ष प्रमिति होकर भी प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं हो सकती क्योंकि उसका फल होता है अर्थात् हेयत्व, ग्राह्यत्व और उपेक्ष्यत्व की अनुमिति। उसका फल अनुमिति होती है। वह अनुमान प्रमाण ही होगा। उक्त हानादि बुद्धि के लिंगपरामर्शरूप अनुमान

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

होने पर भी वह जब प्रत्यक्ष प्रमिति है, तब उसका करण प्रत्यक्ष प्रमाण ही होना चाहिए। अतः भाष्यकार ने इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य प्रत्यक्षज्ञान का फल होता है हानादिबुद्धि और यह कहकर उसे प्रत्यक्ष प्रमाण ही माना है। प्राचीन वैशेषिक आचार्य प्रशस्तपाद ने प्रत्यक्ष की व्याख्या के बाद अथवा आदि सन्दर्भ से यह बात कही है। प्राचीन काल में इस विषय में विवाद रहा है। किसी सम्प्रदाय में इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण के रूप में मान्य नहीं है। अतः उद्योतकर ने कहा है – "केचितु सन्निकर्षमेव प्रत्यक्षं वर्णयन्ति, न तन्याय्यं प्रमाणाभावात्"। "उभयन्तु युक्तं परिच्छेदकत्वात् उभयं परिच्छेदकं सन्निकर्षो ज्ञानञ्च। एकान्तवादिनस्तु दोष इति"। इन्द्रियसन्निकर्ष जैसे उस विषय का परिच्छेदक अर्थात् यथार्थ निश्चय का जनक होने से प्रत्यक्ष प्रमाण होता है, उसी प्रकार सन्निकर्षजन्य प्रत्यक्षरूप ज्ञान भी पश्चात् उस विषय में हानादिबुद्धिरूप निश्चयात्मक यथार्थ प्रत्यक्ष का करण होकर प्रत्यक्ष प्रमाण होता है और हान, उपादान और उपेक्षा बुद्धि उसका फल होता है – यह मानना होगा। यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि केवल इन्द्रियसन्निकर्ष ही हानादिबुद्धिरूप फल के पक्ष में प्रत्यक्ष प्रमाण होता है। क्योंकि उस सन्निकर्ष से उस विषय में निश्चयात्मक प्रत्यक्ष के उत्पन्न नहीं होने पर उक्त हानादिबुद्धि की उत्पत्ति नहीं होती। अतः उस सन्निकर्ष को उसका करण नहीं कहा जा सकता। सन्निकर्षजन्य प्रत्यक्षज्ञानरूप व्यापार के द्वारा भी उस सन्निकर्ष को हानादिबुद्धि की करणता भी नहीं कही जा सकती। क्योंकि उस हानादिबुद्धि के अव्यवहित पहले उक्त प्रत्यक्षात्मकज्ञान विद्यमान नहीं रहता। गौतम के मत में ज्ञान दो ही क्षण तक विद्यमान रहता है। फलितार्थ यह हुआ कि इन्द्रियसन्निकर्ष उस विषय के प्रत्यक्ष में करण होने पर भी हानादिबुद्धि का करण नहीं हो सकता। किन्तु परम्परया उस सन्निकर्ष और इन्द्रिय को उस विषय का कारण होने से उसको इन्द्रियजन्य ज्ञान कहा जा सकता है।[३१]

इन्द्रियसन्निकर्षजन्य प्रथमोत्पन्न निर्विकल्पक प्रत्यक्ष पूर्वोक्त हानादिबुद्धि के

---

[३१] वाचस्पति मिश्र ने तात्पर्यटीका में – "इन्द्रियादिना प्रमाणेन प्रमायां फले प्रवृत्तेन" आदि सन्दर्भ से फलानुकूल चरम कारण के व्यापार को प्रमाण कहा है और परम्परया इन्द्रिय को प्रमाण कहा है। प्रत्यक्ष सूत्रवार्त्तिक में कुमारिल भट्ट ने "यद्वेन्द्रियं प्रमाणं स्यात्" आदि श्लोक के द्वारा एक पक्ष में इन्द्रिय को भी प्रमाण माना है। किन्तु पश्चात् उन्होंने भी वहाँ आत्ममनःसंयोग को प्रकृष्ट कारण कहकर इसी को मुख्य प्रमाण कहा है (द्रष्टव्य श्लोक ६८)। अतः चरम कारण ही मुख्य रूप से करण होता है – ऐसा प्राचीन मत ज्ञात होता है। व्याकरण में करण अर्थ में तृतीया विभक्ति का विधान है। शाब्दिक शिरोमणि भर्तृहरि ने करण कारक के लक्षण में कहा है –

क्रियायाः परिनिष्पत्तिर्यद्व्यापारादनन्तरम्।
विवक्ष्यते तदा तत्र करणं तत् प्रकीर्तितम्॥ – वाक्यपदीय

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अव्यवहित पूर्व में विद्यमान नहीं रहने के कारण किस रूप में उसका करण होगा? इस विषय में प्राचीनकाल से ही बहुत विवाद या मतभेद रहा है। न्यायमञ्जरीकार जयन्त भट्ट ने इस पूर्वपक्ष का समर्थन करके इसके समाधान हेतु अनेक मतों की व्याख्या की है। यहाँ इन्होंने पहले कहा है कि आचार्य का कहना है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष उक्त हानादिबुद्धि-रूप फल के पक्ष में प्रमाण नहीं होता। किन्तु यहाँ आचार्य पद से वाचस्पति मिश्र को नहीं लिया जा सकता क्योंकि तात्पर्यटीका में वाचस्पति मिश्र ने ऐसी बात नहीं कही है। बहुसम्मत यही है कि किसी विषय के प्रत्यक्ष के बाद पूर्वोक्त रूप हानादिबुद्धि सविकल्पक प्रत्यक्ष का फल होता है और निर्विकल्पक प्रत्यक्ष इसमें प्रमाण नहीं होता। प्रत्यक्ष सूत्र की व्याख्या (श्लोकवार्त्तिक) में कुमारिल भट्ट ने कहा है – ''हानादिबुद्धिफलता प्रमाणञ्च्चेद् विशेष्यधीः''।

अतः निर्विकल्पक प्रत्यक्ष दूसरे क्षण में यदि सविकल्पक प्रत्यक्ष को उत्पन्न करेगा तो वह (निर्विकल्पक प्रत्यक्ष) सविकल्पक प्रत्यक्षरूप फल के पक्ष में प्रमाण होगा। किन्तु विशेष्यज्ञान अर्थात् सविकल्पक प्रत्यक्षरूप प्रमाण का फल होगा हानादिबुद्धि। वैशेषिक आचार्य प्रशस्तपाद के अथवा आदि सन्दर्भ से प्रयोजन की व्याख्या (पृ. १९९) में श्रीधर भट्ट ने कन्दली में ऐसी ही व्याख्या की है।

किन्तु भाष्यकार वात्स्यायन के ''तदा ज्ञानं'' आदि उक्ति में ज्ञान शब्द से इसके अव्यवहित पूर्वोक्त इन्द्रियसन्निकर्षजन्य द्विविध प्रत्यक्ष ही इनको अभिप्रेत प्रतीत होता है। यही व्याख्या वाचस्पति मिश्र ने भी यहाँ की है – ''यदा ज्ञानमालोचनं वा विकल्पो वा व्यापार इन्द्रियादीनां तदा हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः फलम्''। वाचस्पति मिश्र ने इसको समझाने के लिए उपादेय जल को दृष्टान्त रूप में ग्रहण कर कहा है कि इस जल के साथ इन्द्रियसन्निकर्षजन्य पहला आलोचनात्मक ज्ञान (निर्विकल्पक प्रत्यक्ष) होता है और पश्चात् विकल्प (सविकल्पक प्रत्यक्ष) उत्पन्न होता है। इसके पश्चात् सविकल्पक प्रत्यक्षजन्यपूर्व संस्कार का उद्बोधन होता है। इस संस्कार से उत्पन्न तज्जातीयत्व हेतु से ग्राह्यत्व की व्याप्ति का स्मरण होता है। पुनश्च यह जल भी इस जल का जातीय ही है, इस प्रकार का लिंगपरामर्श उत्पन्न होता है। यही है प्रत्यक्षात्मक ज्ञान और उपादान बुद्धि। उक्त आलोचनात्मक (निर्विकल्पक प्रत्यक्ष) ज्ञान और विकल्पात्मक (सविकल्पक प्रत्यक्ष) ज्ञान पश्चाद् उत्पन्न उपादान बुद्धि के अव्यवहित पहले विद्यमान नहीं रहने के कारण कैसे कारण हो सकते हैं – इस प्रश्न के समाधान में वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि – ''तदुद्बोधितसंस्कारद्वारेण व्याप्तिस्मरणे परामर्शे च तस्य तदानीमसतोऽपि कारणत्वात्'' आदि।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

तात्पर्य यह है कि इन्द्रिय एवं अर्थ के सन्निकर्ष से निर्विकल्पक तथा सविकल्पक प्रत्यक्ष के उत्पन्न होने पर उस विषय के सजातीय विषय में पूर्वोत्पन्न संस्कार विशेष उद्बोधित (फलोन्मुख) होता है अर्थात् वह प्रत्यक्ष ही उस संस्कार का उद्बोधक होता है। अतः वह प्रत्यक्ष पूर्वोक्तहानादिबुद्धि के अव्यवहित पूर्व निश्चित व्याप्ति का स्मरण कराकर यह जल उस जल का जातीय है – इस प्रकार की उपादान बुद्धि का कारण होता है। जैसे स्वर्ग आदि फल की उत्पत्ति के अव्यवहित पहले याग आदि कर्म के विद्यमान नहीं रहने पर भी तज्जन्य अपूर्व (अदृष्ट) रूप व्यापार के रहने के कारण उसके द्वारा वह याग आदि स्वर्ग आदि का कारण होता है।

यद्यपि उक्त स्थल में पूर्व संस्कार उस निर्विकल्पक एवं सविकल्पक प्रत्यक्षजन्य नहीं होता किन्तु उसका उद्बोधन उस प्रत्यक्ष से होता है और वह उद्बुद्ध संस्कार ही स्मृति को उत्पन्न करता है। इसलिए वाचस्पति मिश्र ने उक्त संस्कार को ही उस प्रत्यक्ष के हानादिबुद्धि का करण कहा है। किन्तु यह मान्यता सर्वसम्मत नहीं हो सकती। अन्य सम्प्रदाय अन्य रूप में ही हानादिबुद्धि का उपपादन करते हैं – जयन्त भट्ट ने ऐसा कहा है। जो भी हो, भाष्यकार के मत में इन्द्रियसन्निकर्ष प्रत्यक्षज्ञान का करण होता है और वह प्रत्यक्षज्ञान हानादिबुद्धि का करण होता है – भाष्य की पंक्तियों से यह स्पष्ट ज्ञात होता है।

इस सम्बन्ध में जयन्त भट्ट ने पहले अपना मत समर्थित किया है। कार्य का कारण-विशेष करण ही नहीं होता किन्तु सभी कारणों की संहति रूप सामग्री ही करण होती है। पूर्वोक्त प्रमाज्ञान की सामग्री ही करण होती है, अतः उक्त सामग्री ही प्रमाज्ञान का करण होने से प्रमाण होती है। जिस किसी कारण को प्रमाण नहीं माना जा सकता। क्योंकि उक्त सामग्री के बिना किसी कारणविशेष से प्रमाज्ञान उत्पन्न नहीं होता। अतः प्रमाज्ञान की उक्त सामग्री ही साधकतम होने से करण होता है अतः वही प्रमाण है। इस करण सामग्री में बोध एवं बोध भिन्न अनेक पदार्थों के रहने से वह सामग्री बोधाबोध स्वभावा होती है। अभिप्राय यह है कि केवल बोध (ज्ञानविशेष) प्रमाण नहीं है एवं बोध से भिन्न पदार्थविशेष भी प्रमाण नहीं है किन्तु ज्ञान एवं ज्ञान से भिन्न समग्र कारणस्वरूप सामग्री ही प्रमाण है। जयन्त भट्ट ने इस मत के समर्थन में अनेक प्रयास किए हैं। पश्चात् अपर सम्प्रदाय ने इस मत में दोष दिखाकर प्रमाता और प्रमेय से भिन्न प्रमाज्ञान की उस सामग्री को प्रमाण नहीं माना परन्तु जयन्त के इस मत का प्रतिवाद भी नहीं किया। मीमांसक कुमारिल भट्ट ने प्रत्यक्ष सूत्र के वार्त्तिक में अन्तिम कल्प कहते समय इन्द्रियादि कारण समष्टि को प्रत्यक्ष प्रमाण माना है। किन्तु इनके मत में भी चरम कारण ही मुख्य

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

प्रमाण होता है। जयन्त भट्ट के मत में प्रमाण में गौण मुख्य भाव सम्भव नहीं है। क्योंकि प्रमाज्ञान की सामग्री ही प्रमाण होती है। बाद में जयन्त भट्ट ने प्रत्यक्ष प्रमाण की व्याख्या में सामग्रीरूप प्रमाण का फल प्रत्यक्षज्ञान को और प्रमाण की व्याख्या में सामग्रीरूप प्रमाण का फल हानादिबुद्धिरूप फल कहा है। अतएव इन्होंने लिखा है –

प्रमाणतायां सामग्र्यास्तज्ज्ञानं फलमिष्यते।
तस्य प्रमाणभावे तु फलं हानादिबुद्धयः ॥ – न्यायमञ्जरी पृ. ६६

किन्तु जयन्त भट्ट का समर्थित उक्त मतद्वय प्रतिष्ठित नहीं हो सका। कारकसमूह का करणत्व भी बहुत विवादों से घिरा है। जैन दार्शनिक प्रभाचन्द्र ने प्रमेयकमलमार्तण्ड के प्रथम भाग में इस मत के विरोध में बहुत-सी बातें कही हैं। परन्तु पाणिनि के ''साधकतमं करणम्'' इस सूत्र से कारकसमूह में असाधारण कारणविशेष में ही करणत्व ज्ञात होता है। इस सूत्र से कारणसामग्री की करणता ज्ञापित नहीं होती। स्वल्पाक्षर होने पर भी पाणिनि ने ''सामग्री करणं'' नहीं कहा। अतः वस्तुस्थिति यही है कि असाधारण कारण ही करण होता है। उस करण का असाधारणत्व ही साधकतमत्व है। नव्यनैयायिक गङ्गेश उपाध्याय आदि के मत में व्यापारवत्त्व या व्यापार द्वारा कार्य जनकत्व ही असाधारणत्व होता है। तदनुसार अनुमितिदीधिति टीका (सव्यभिचार प्रकरण) में गदाधर भट्टाचार्य ने कहा है – ''फलायोगव्यवच्छिन्नव्यापारवत् कारणत्वं करणत्वम्। न तु कारणत्वमात्रम्''। जो व्यापार उपस्थित होकर कार्य का जनक अवश्य होता है वह कार्य को अवश्य उत्पन्न करता है और उस व्यापारविशिष्ट कारण को ही करण कहते हैं। जिस कुठार का संयोगरूप व्यापार छेदनक्रियारूप फल की उत्पत्ति नहीं करता वह कुठार छेदनक्रिया का करण नहीं होता। गदाधर ने आगे जाकर उक्त करणलक्षण की समग्ररूप से व्याख्या की है। अभिप्राय यह है कि ऐसे व्यापार से युक्त कार्य का जनक पदार्थ करण होता है। इस नव्य मत में चरम करणरूप व्यापार का कोई अन्य व्यापार नहीं होता, अतः वह करण नहीं हो सकता। अतः घट आदि विषयक प्रत्यक्ष का चरम कारण इन्द्रियार्थसन्निकर्ष करण नहीं होने से प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं होता। किन्तु जैसे काष्ठ और कुठार के विलक्षण संयोगरूप व्यापार से वह कुठार ही छेदनरूप क्रिया का करण होता है इसी प्रकार इन्द्रियार्थसन्निकर्षरूप व्यापार से युक्त इन्द्रिय ही उस यथार्थ प्रत्यक्षज्ञान का करण होने से यहाँ इन्द्रिय ही प्रत्यक्ष प्रमाण होता है। किन्तु भाष्यकार ने इन्द्रियार्थसन्निकर्ष को भी प्रत्यक्ष प्रमाण कहा है। वार्त्तिककार ने पहले कहा है – ''इन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य करणभावात्''। पश्चात् पाणिनि के सूत्र में उक्त साधकतमत्व की व्याख्या की है।

अनुमानसूत्र के वार्त्तिक में अनुमिति के चरमकारण लिंगपरामर्श को प्रधान अनुमान

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

प्रमाण कहा है। तर्कसंग्रहदीपिका की टीका में नीलकण्ठ ने लिखा है – ''फलायोग-व्यवच्छिन्नं कारणं करणमिति ध्येम्'' । आगे अनुमान की व्याख्या में यह स्पष्ट होगा।

भाष्यकार ने पश्चात् अनुमान शब्द की व्युत्पत्ति की व्याख्या में कहा है – 'मितेन लिङ्गेन लिङ्गिनोऽर्थस्य पश्चान्मानम् अनुमानम् ।' अनुमान के प्रकृत हेतु को लिंग कहते हैं। वाचस्पति मिश्र ने यहाँ लिंग विशिष्टधर्मी को लिंगी कहा है। किन्तु अनुमानसूत्र के भाष्य में भाष्यकार के कथन से ज्ञात होता है कि लिंग का व्यापक अनुमेय धर्म लिंगी कहलाता है। अनु शब्द का अर्थ है पश्चात्। धर्मी पदार्थविशेष में अनुमेय धर्म का व्याप्ति विशिष्ट लिंग ''मित'' अर्थात् यथार्थ रूप में निश्चित होने पर वही लिंगपरामर्श के पश्चात् अनुमेय धर्मरूप लिंगी का जो भान अर्थात् यथार्थज्ञान उत्पन्न होता है उसके करण को अनुमान प्रमाण कहते हैं। चूँकि अनुमान पद भाववाच्य में निष्पन्न होता है अतः उससे ज्ञात होता है अनुमितिरूपज्ञान। तदनुसार उद्योतकर ने यहाँ भाष्यकारोक्त मान शब्द की भाववाच्य में ल्युट् प्रत्यय करके व्याख्या की है। ''पश्चान्मानं भवति यत इत्यर्थः'' । जिससे पूर्वोक्त मान या प्रमिति उत्पन्न हो वह अनुमान शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ होता है। किन्तु इस व्याख्या में यतः पद के अध्याहार की कल्पना करनी पड़ती है। अतः उद्योतकर ने पश्चात् कहा है कि ऐसे लिंग के ज्ञान से उत्पन्न जो लिंगी का मान अर्थात् यथार्थ अनुमितिरूप ज्ञान है वह अनुमान प्रमाण है – यही भाष्य का अभिप्राय है। इस प्रमाण का फल होता है हानादिबुद्धि। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि फलाभाव के कारण वह अनुमितिरूप प्रमिति प्रमाण नहीं हो सकता। उद्योतकर ने ''सर्वञ्च प्रमाणं स्वविषयं प्रतिभावसाधने प्रमितिः प्रमाण मिति'' इस सन्दर्भ के माध्यम से कहा है कि प्रमाण का बोधक प्रमाण शब्द एक पक्ष में भाववाची होकर ल्युट् प्रत्यय से सिद्ध होता है – उसका अर्थ होता है प्रमिति और यह भी एक पक्ष में प्रमाण पदार्थ है। प्रमितिरूप प्रमाण का फल होता है हानादिबुद्धि। अतः भाष्यकार के ''पश्चान्मानमनुमानम्'' रूप कथन से सूत्रोक्त अनुमान शब्द की उक्त रूप व्युत्पत्ति की व्याख्या भी की जा सकती है।

किन्तु भाष्यकार ने कहा है कि सूत्रोक्त प्रमाण शब्द करण अर्थ का बोधक है। ''प्रमीयतेऽनेन'' इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रमाज्ञान का करण ही उसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ होता है। अतः प्रमाण के चार प्रकार प्रत्यक्ष आदि विशेष संज्ञा को भी इसी प्रकार की व्याख्या समझनी चाहिए अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति एवं शाब्द (बोध) रूप प्रमाज्ञान का करण ही यथाक्रम प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द प्रमाण मान्य है। भाष्यकार के इस कथन से ज्ञात होता है कि इनके मत में अनुमान पद करण अर्थ में ल्युद प्रत्यय करके ''अनुमीयतेऽनेन'' करके उक्त वाक्य में करण अर्थ में ल्युद प्रत्ययसिद्ध

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

मान शब्द का प्रयोग किया है। अतः भाष्यकार की व्याख्या से ज्ञात होता है कि अनुमान के धर्मी में मित अर्थात् यथार्थ रूप में निश्चित लिंग या हेतु द्वारा पश्चात् अनुमेय धर्म का जो मिति अर्थात् प्रमाज्ञान उत्पन्न होता है उसका करण अनुमान शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ होता है। भाष्यकार ने अन्यत्र भी इस प्रकार एकदेशान्वय के तात्पर्य से वाक्य का व्यवहार किया है। परन्तु अनुमितिरूप प्रमाज्ञान अपर यथार्थ अनुमिति विशेष का करण होकर हानादिरूप फल के पक्ष में अनुमान प्रमाण होता है। अतः प्रथम अनुमिति का जो करण है वह भी अनुमान शब्द का अर्थ होता है। अतः सामान्यतः उक्त रूप यथार्थ अनुमिति का करण ही सूत्रोक्त अनुमान शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ होता है। हानादि-बुद्धिरूप फल के करण रूप अनुमित्यात्मक प्रमाज्ञान को अनुमान शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ मानने पर भी उससे सभी अनुमान प्रमाण का बोध नहीं होता – इसका भी विचार करना होगा। विद्वज्जन उद्योतकर की व्याख्या का विचार करेंगे।

भाष्यकार ने उपमान शब्द की व्युत्पत्ति का व्याख्यान करते हुए कहा है कि सामीप्यमान है उपमान और सामीप्य का अर्थ होता है सादृश्यमान से प्रत्यक्षरूप यथार्थज्ञान। इस विषय में विशेष बातें उपमान के लक्षणसूत्र के भाष्य में कही जाएंगी। सूत्रोक्त प्रमाणबोधक शब्द की व्युत्पत्ति की व्याख्या में भाष्यकार ने कहा है – ''शब्दचतेऽनेनार्थ इति'' अर्थात् जिससे अर्थ शाब्दित होता है – इस व्युत्पत्ति के अनुसार शब्द धातु से करण अर्थ में अल् प्रत्यय करके उक्त प्रमाणबोधक शब्द ज्ञात होता है। यहाँ भाष्यकार ने शब्दचते की व्याख्या अभिधीयते पद से की है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार अर्थविशेषबोध का साधन शब्द होता है। यद्यपि भाष्यकार ने शब्दचते की व्याख्या अभिधीयते पद से की है किन्तु अभिधावृत्ति से भिन्न लक्षणावृत्ति से भी अर्थविशेष का ज्ञान होता है, अतः पुनः उसकी व्याख्या करते हैं ज्ञाप्यते। फलतः 'शब्द' शब्द के अन्तर्गत शब्द धातु का अर्थ होता है अभिधा या लक्षणावृत्ति से अर्थ का ज्ञापन।

भाष्य – किं पुनः प्रमाणानि प्रमेयमभिसंप्लवन्ते अथ प्रतिप्रमेयं व्यवतिष्ठन्ते इति। उभयथा दर्शनम्। अस्त्यात्मेत्याप्तोपदेशात् प्रतीयते। तत्रानुमानम्-'इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्ग' मिति। प्रत्यक्षं युञ्जानस्य योगसमाधिजमात्ममनसोः संयोगविशेषादात्मा प्रत्यक्ष इति।[३२] **अग्निराप्तोपदेशात्**

[३२] योगज सन्निकर्षजन्य मन के द्वारा योगी को आत्मा का अलौकिक प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है – इस विषय में प्रतीत होता है कि प्रमाणरूप में भाष्यकार ने महर्षि कणाद के आत्ममनसोः आदि सूत्र उद्धृत किए हैं। प्रचलित वैशेषिकदर्शन (९.१.११) में सूत्र में पाठभेद रहने पर भी भाष्यकार के समय में उद्धृत स्वरूप ही उस सूत्र का रहा होगा। क्योंकि परिदृष्ट सभी भाष्य पुस्तकों में →

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

प्रतीयते अत्राग्निरिति। प्रत्यासीदता धूमदर्शनेनानुमीयते। प्रत्यासन्नेन च प्रत्यक्षत उपलभ्यते।

व्यवस्था पुनरग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम इति। लौकिकस्य स्वर्गे न लिंगदर्शनं न प्रत्यक्षम्। स्तनयित्नुशब्दे श्रूयमाणे शब्दहेतोरनुमानम्। तत्र न प्रत्यक्षं नागमः। पाणौ प्रत्यक्षतः उपलभ्यमाने नानुमानं नागम इति।

सा चेयं प्रमितिः प्रत्यक्षपरा। जिज्ञासितमर्थमाप्तोपदेशान् प्रतिपद्यमानो लिंग-दर्शनेनापि बुभुत्सते, लिंगदर्शनानुमितञ्च प्रत्यक्षतो दिदृक्षते प्रत्यक्षत उपलब्धेऽर्थे जिज्ञासा निवर्तते। पूर्वोक्तमुदाहरणमप्यग्निरिति। प्रमातुः प्रमातव्येऽर्थे प्रमाणानां संकरोऽभिसंप्लवः असंकरो व्यवस्थेति। इति त्रिसूत्रीभाष्यम्।

अनुवाद – (प्रश्न) अनेक प्रमाण क्या एक प्रमेय का अभिसम्प्लव अर्थात् क्रमशः विषय करता है या अपने-अपने विषय में व्यवस्थित होता है? (उत्तर) दोनों ही प्रकार देखे जाते हैं। एक विषय में अनेक प्रमाणों का संकर भी होता है और केवल एक प्रमाण की व्यवस्था भी होती है। दोनों के ही उदाहरण उपलब्ध हैं।

(अलौकिक तथा लौकिक विषय में यथाक्रम प्रमाणसम्प्लव और प्रमाणव्यवस्था का उदाहरण)

आत्मा का अस्तित्व पहले आप्राप्तोदेशरूप शब्दप्रमाण से प्रतीत होता है, पुनः इस आत्मा के विषय में अनुमान होता है – इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख, और ज्ञान उसका लिंग अर्थात् अनुमापक होता है (द्रष्टव्य दशम सूत्र) युञ्जान व्यक्ति का (ध्यान आदि में संलग्न) योगी विशेष का योगसमाधिजन्य प्रत्यक्ष भी होता है। आत्मा और मन के संयोगविशेष से भी आत्मा का प्रत्यक्ष होता है (वैशेषिकदर्शन ९३/आ.११ सूत्र द्रष्टव्य है)। यहाँ अग्नि है, ऐसे आप्तवाक्य (शब्द प्रमाण) से आग की प्रतीति होती है। प्रत्यासन्न होने पर धूमदर्शन से वह अनुमिति होती है और उस अग्नि के निकटस्थ होने पर वह प्रत्यक्ष से भी उपलब्ध होती है और तब अग्नि प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय होती है।

व्यवस्था (प्रमाण के असंकर) का उदाहरण है – "अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः" यह श्रुतिवाक्य ही स्वर्ग के विषय में प्रमाण होता है। लौकिक व्यक्ति का स्वर्ग के विषय में लिंगदर्शन रूप अनुमान प्रमाण नहीं होता और प्रत्यक्ष प्रमाण भी नहीं है। अलौकिक

→ उक्त पाठ ही देखा जाता है। युक्त एवं वियुक्त योगी को किस प्रकार आत्मा का प्रत्यक्ष होता है – इसका वर्णन प्रशस्तपाद आचार्य ने किया है। श्रीधर भट्ट ने उसकी विशद व्याख्या की है।
– द्रष्टव्य न्यायकन्दली, पृ. १९५-९७

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

स्वर्ग आदि के विषय में शास्त्र से भिन्न कोई प्रमाण सम्भव नहीं है अतः प्रमाणव्यवस्था ही मान्य है। इसी प्रकार मेघ का शब्द सुनने पर उसके शब्द हेतु का अर्थात् शब्द के अप्रत्यक्ष कारण का अनुमान होता है। यहाँ शब्द प्रमाण नहीं है। दृश्य के प्रत्यक्ष रूप से उपलब्ध रहने के कारण इस विषय में अनुमान प्रमाण नहीं होता और शब्द भी प्रमाण नहीं है। ऐसे लौकिक पदार्थ के विषय में अनेक स्थलों में प्रमाणव्यवस्था ही मान्य है।

किन्तु पूर्वोक्त प्रमाणसम्प्लव स्थलों में एक विषय में क्रमशः अनेक प्रमाणों से सभी ज्ञान उत्पन्न होते हैं लेकिन वहाँ प्रत्यक्ष प्रधान होता है। जिज्ञासित विषय का आप्तवाक्य से ज्ञान होने पर भी व्यक्ति अनुमान से उसे समझने की इच्छा करता है। लिंगदर्शन से अनुमित विषय में प्रत्यक्ष प्रमाण से उसको उपलब्ध करने की इच्छा, इस तरह प्रत्यक्ष प्रमाण से उपलब्ध विषय में पश्चात् उस विषय के प्रत्यक्ष होने पर उस विषय की जिज्ञासा निवृत्त होती है। इस विषय का उक्त उदाहरण है अग्नि। प्रमाता का एक प्रमेय के विषय में अनेक प्रमाणों के संकर को प्रमाणसम्प्लव और उनके असंकर को प्रमाणव्यवस्था कहते हैं।[३३]

(त्रिसूत्री – प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय सूत्रों का अर्थात् प्रधान तीन सूत्रों का भाष्य समाप्त हुआ।)

टिप्पणी – प्रमाणसम्प्लव सर्वसम्मत मान्यता नहीं है। प्राचीन काल से ही इस विषय में विवाद रहा है। अतः भाष्यकार ने यहाँ इस विषय में प्रश्न करके महर्षि गौतम के सिद्धान्त का प्रकाशन करते हुए कहा है – "उभयथा दर्शनम्"। प्रमाणसम्प्लव और प्रमाणव्यवस्था दोनों के उदाहरण उपलब्ध रहने से दोनों ही स्वीकरणीय हैं। भाष्यकार ने लौकिक और अलौकिक दोनों ही प्रकार के प्रत्यक्ष में प्रमाणसम्प्लव तथा प्रमाणव्यवस्था का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहा है – "सा चेयं प्रमितिः प्रत्यक्षपरा"। इस संदर्भ से प्रमाणसम्प्लव की मान्यता में युक्ति भी दिखाई है। भाष्यकार का अभिप्राय यह है कि प्रमाता किसी विषय को पहले शब्द प्रमाण द्वारा समझकर भी उस विषय के दृढ़तरज्ञान के लिए अनुमान प्रमाण से भी जानने की इच्छा करता है, पुनश्च प्रत्यक्ष प्रमाण से भी

---

[३३] भाष्यकार ने पहले "किं पुनः" आदि सन्दर्भ से प्रमाण का अभिसम्प्लव और व्यवस्था कहा है। इन दोनों की व्याख्या में कहा है कि एक विषय में अनेक प्रमाणों का संकर ही प्रमाण का अभिसम्प्लव है और असंकर प्रमाणव्यवस्था। प्रमाणसंकर प्रमाणसम्प्लव शब्द से कहा जाता है। अनेक ग्रन्थों में "प्रमाणानां सम्भवः" पाठ उपलब्ध है किन्तु उद्योतकर आदि ने संकर शब्द का ही व्यवहार किया है। सरल पाठ यही प्रतीत होता है। अतः संकर पाठ ही भाष्यकार को अभिमत पाठ के रूप में मान्य है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

जानने की इच्छा करता है। अतः सम्भव होने पर यथाक्रम एक ही विषय में शाब्द, अनुमिति एवं प्रत्यक्ष रूप प्रमितित्रय की उत्पत्ति होती है। इनमें अन्तिम ज्ञान प्रत्यक्ष ही प्रधान होता है। क्योंकि प्रत्यक्ष होने पर उस विषय में पुनः जिज्ञासा नहीं होती। अभिमत यह है कि प्रमाता की जिज्ञासा होने पर एक ही विषय में सम्भव रहने पर क्रमशः शाब्द, अनुमिति एवं प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है। इसके अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं। ऐसे स्थलों में द्वितीय और तृतीय ज्ञान को व्यर्थ भी नहीं कहा जा सकता। अतः ऐसे स्थलों में प्रमाणसम्प्लव अवश्य स्वीकार करना होगा। महर्षि गौतम ने आगे "प्रमाणतश्चार्थप्रतिपत्तेः" (४.२.२९) सूत्र में "प्रमाणतः" कहकर प्रमाणसम्प्लवरूप मान्यता की सूचना है। तदनुसार भाष्य के आरम्भ में वात्स्यायन ने भी "प्रमाणतः" पद से इसको अभिव्यक्त किया है। इस प्रसंग में उद्योतकर की बात पहले कही जा चुकी है (पृ. ७५)। उद्योतकर की व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र ने भाष्यकारोक्त "प्रमाणतः" पद में तृतीया और पञ्चमी विभक्ति की सार्थकता कही है।

यहाँ भाष्यकार ने बौद्ध सम्प्रदाय की बात नहीं की है। इससे ज्ञात होता है कि भाष्यकार प्रमाणद्वयवादी बौद्धाचार्यों से बहुत-बहुत पूर्ववर्ती रहे होंगे। बौद्ध आचार्य नागार्जुन प्राचीन बौद्धमत के अनुसार प्रमाणचतुष्टयवादी रहे हैं।[३४] पश्चात् वसुबन्धु तथा इनके शिष्य दिङ्नाग आदि ने विशेष विचार करके प्रमाण का द्वैविध्य – प्रत्यक्ष और अनुमान ही प्रमाण हैं – सिद्धान्तित किया है। क्योंकि विषय दो ही प्रकार के होते हैं – विशेष और सामान्य, प्रत्यक्ष और परोक्ष। जो विशेष है वह प्रत्यक्ष का विषय होता है क्योंकि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ही प्रमाणरूप में मान्य है। जैसे आग के प्रत्यक्ष के समय आग विशेष का प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है। वह्नित्व आदि उसमें विषय नहीं होता। सभी वह्नियों में रहने वाला सामान्य धर्म वह्नित्व कल्पित होता है वह सत् नहीं है क्योंकि उससे किसी प्रयोजन का निर्वाह नहीं होता। अतः कल्पनाप्रसूत वह्नित्व आदि सामान्य धर्म प्रत्यक्षप्रमाण का विषय नहीं होता। किन्तु वह केवल अनुमान का विषय होता है। अतएव इन दोनों प्रमाणों के विषयों के भिन्न होने के कारण दो प्रमाणों का संकररूप

---

[३४] अथ कतिविधं प्रमाणम्? चतुर्विधं प्रमाणम् प्रत्यक्षमनुमानमुपमानमागमश्चेति। चतुर्षु प्रमाणेषु प्रत्यक्षं श्रेष्ठम्। कुतः पुनः प्रत्यक्षं श्रेष्ठमिति चेदपरेषां त्रयाणां प्रमाणानां प्रत्यक्षोपजीवकत्वात् श्रेष्ठम् इत्यादि – (नागार्जुन, उपाय हृदय, पृ. १३, गायकवाड़ संस्करण और तुलनीय प्री दिङ्नाग बुद्धिष्ट टेक्स्ट)। किन्तु प्रमाणसमुच्चय ग्रन्थ में दिङ्नाग ने कहा है – प्रत्यक्षमनुमानञ्च प्रमाणं हि द्विलक्षणम्। प्रमेयं तत्र सिद्धं हि न प्रमाणान्तरं भवेत्॥ परवर्ती बौद्ध आचार्य शान्तरक्षित ने तत्त्वसंग्रह के प्रमाणान्तरपरीक्षा प्रकरण में (पृ. ४३३-८५) विचार करके अन्यान्य प्रमाणों का खण्डन किया है, जो अवश्य द्रष्टव्य है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

सम्प्लव उपपन्न नहीं होता। बौद्ध आचार्य धर्मकीर्ति ने इस विषय में विशेष विचार करके इसका समर्थन किया है। इन्होंने कहा है कि स्वलक्षण ही परमार्थसत् है जो प्रत्यक्ष का विषय होता है। इससे भिन्न सभी सामान्यलक्षण कहे जाते हैं जो कल्पित एवं अनुमान के विषय होते हैं। इस सन्दर्भ में धर्मकीर्तिकृत न्यायबिन्दु और उसकी धर्मोत्तराचार्यकृत व्याख्या द्रष्टव्य है।

धर्मकीर्ति से बहुत पहले न्यायवार्त्तिक में उद्योतकर ने संक्षेप में इस बौद्धमत का उल्लेख करके खण्डन करते हुए कहा है – ''एतच्च न अनभ्युपगमात्'' (पृ. 5)। विषय के द्वैविध्य के कारण प्रमाण का द्वैविध्य मान्य है और प्रमाणों का संकर सम्भव नहीं है। ये सब बातें हम लोग नहीं मानते क्योंकि हमारी दृष्टि में प्रमाण चार प्रकार के होते हैं और विषय तीन प्रकार के – (१) सामान्य (२) विशेष और (3) तद्वान् अर्थात् सामान्य और विशेष धर्म से विशिष्ट धर्मी। अतः इस एकधर्मी की अनेक प्रमाणों से उत्पन्न प्रमिति हो सकती है। अनेक स्थलों में ऐसा होता भी है। जैसे घट आदि अवयवीरूप धर्मी के चक्षुरिन्द्रिय से प्रत्यक्ष होने पर त्वगिन्द्रिय से भी उसका प्रत्यक्ष होता है। प्रत्यक्ष के विषय गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द और सुख आदि गुण पदार्थों में सत्ता और गुणत्व नामक जाति का यथाक्रम घ्राण आदि सभी इन्द्रियों से प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है। यहाँ उद्योतकर ने कणाद के सूत्रानुसार ही सभी बातें कही हैं। क्योंकि वैशेषिकदर्शन में कणाद महर्षि ने कहा है कि – ''एतेन गुणत्वे भावे च सर्वेन्द्रियं ज्ञानं व्याख्याताम्'' (४.१.१३)। अभिप्राय यह है कि यहाँ एक विषय में प्रत्यक्ष रूप सजातीय अनेक प्रमाणों के संकर का उदाहरण प्रदर्शन करके तुल्य युक्ति से सामान्य और विशेष धर्म विशिष्ट वह्नि आदि किसी एक अवयवी के विषय में क्रमशः शब्द, अनुमान और प्रत्यक्ष इन विजातीय प्रमाणत्रय का संकर जो उपपन्न होता है – इसका उपपादन उद्योतकर ने किया है।[३५]

---

[३५] बौद्ध सम्प्रदाय भाव रूप सामान्य या जाति नहीं मानता। इनके मत में जाति अपोहस्वरूप मान्य है। अतद्व्यावृत्ति रूप तद्भिन्न पदार्थ का भेद अपोह पदार्थ है। गो से भिन्न समस्त पदार्थों का भेद ही गोत्वधर्म होता है इसलिए वह अभावस्वरूप है। यह अनादि संस्कार सम्भूत विकल्प या कल्पना का विषय कल्पित धर्मविशिष्ट अतिरिक्त अवयवी भी कल्पित ही होता है, परमार्थ सत् नहीं है। अवयवी या जाति कथामात्र है। वस्तुतः इसकी सत्ता मान्य नहीं है। इसी तात्पर्य की व्याख्या में जयन्त भट्ट ने कहा है – तद्वानवयवी जातिरिति वार्तेव भद्रिका (न्यायमञ्जरी पृ. ३०)। इस विषय में परवर्ती बौद्ध सम्प्रदाय ने बहुसूक्ष्म विचार किया है। रत्नकीर्ति विरचित अपोहसिद्धि एवं पण्डित अशोकरचित ''अवयविनिराकरण एवं सामान्यदूषणदिक् प्रसारिता'' ग्रन्थ इस प्रसंग में द्रष्टव्य हैं। (एशियाटिक सोसायटी संस्करण)

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

इस विषय में किसी दूसरे पूर्वपक्ष के खण्डन में उद्योतकर ने पुनः कहा है कि ऐसा नहीं कहा जा सकता कि किसी एक प्रमाण के द्वारा विषय को अधिगत करने पर उसी विषय में दूसरे प्रमाण की प्रस्तुति व्यर्थ होगी।[३६] क्योंकि विभिन्न प्रमाणों के द्वारा विभिन्न रूप में उस विषय का ज्ञान उत्पन्न होता है। जैसे इन्द्रिय के साथ सम्बद्ध होने पर विषय प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय होता है और इन्द्रिय से असम्बद्ध विषय अनुमान का विषय होता है। इन्द्रियसन्निकर्ष के काल में जिस विषय में अनुमिति नहीं होती और तब अनुमानादिज्ञान काल में प्रत्यक्ष ज्ञान का वैशिष्ट्य रहता है। अनुमान आदि के बाद प्रत्यक्ष ज्ञान होने पर इस विषय में जिज्ञासा नहीं होती। अतएव शब्द वा अनुमान प्रमाण के द्वारा निर्णीत विषय में संभावितस्थल में यदि प्रत्यक्ष की इच्छा उत्पन्न होती है तब इस प्रत्यक्ष के कारण उपस्थित रहने पर प्रत्यक्षज्ञान अवश्य उत्पन्न होता है। इसको व्यर्थ मानने पर उसका निवारण सम्भव नहीं है। जिज्ञासा की निवृत्ति हेतु उसकी सार्थकता माननी होगी। किन्तु जिस समय में एकमात्र प्रमाण व्यवस्थित है उस समय में उस विषय में केवल एक प्रमाणजन्य प्रमिति उत्पन्न होती है। वहाँ अन्य प्रमाण से जिज्ञासा की उत्पत्ति नहीं होती, वहाँ उस समय में प्रमाण की व्यर्थता की आशंका भी नहीं होती।

महानैयायिक जयन्त भट्ट ने इस विषय में बहुत विचार करके कहा है कि प्रमाण सम्प्लव नहीं मानने पर बौद्ध सम्प्रदाय भी अनुमान का प्रामाण्य स्थापित नहीं कर सकता। जयन्त भट्ट ने इस सन्दर्भ में विचार करते हुए धर्मकीर्ति आदि बौद्ध आचार्यों की युक्तियों का उल्लेख करके खण्डन किया है। परिणाम यह हुआ कि एक विषय में अनेक प्रमाणों का संकररूप प्रमाणसम्प्लव मान्य है और वह अनेक स्थलों में आवश्यक भी है। याज्ञवल्क्य तथा मैत्रेयी के संवाद् में बृहदारण्यक उपनिषद् में वचन है – ''आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः''। इस वचन से एक ही आत्मा के विषय में यथाक्रम शब्द, अनुमान और प्रत्यक्ष – इन तीनों ही प्रमाणों से जन्य ज्ञान की कर्त्तव्यता उपदिष्ट हुई है। इसी के अनुसार भाष्यकार ने आत्मा के विषय में इस प्रकार के प्रमाणसम्प्लव का

---

[३६] उदयनाचार्य ने तात्पर्यपरिशुद्धि में कहा है कि द्वितीय प्रमाण को व्यर्थ मानकर मीमांसक प्रमाण सम्प्लव नहीं मानते हैं। किन्तु मीमांसक के मत में जो गृहीतग्राही अर्थात् पूर्णतः ज्ञात विषय का बोधक ज्ञान होता है वह प्रमाण नहीं होता। उद्योतकर ऐसे स्थल में इस प्रकार की कोई बात नहीं कहते। किन्तु पूर्वपक्ष की व्याख्या करते हुए द्वितीय प्रमाण को व्यर्थ कहा है। जयन्त भट्ट ने उक्त बौद्ध मत में पूर्वपक्ष का समर्थन करते हुए वैयर्थ्य दोष का उल्लेख किया है और प्रतीत होता है कि उद्योतकर के वार्त्तिक की पंक्ति का उद्धरण भी दिया है – ''अधिगतञ्चार्थं गमयता पिष्टं पिष्टं स्यादिति'' (न्यायमञ्जरी, पृ. ३०)।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

उदाहरण प्रस्तुत किया है। लौकिक विषय में भी इस प्रकार का प्रमाणसम्प्लव मान्य है। जैसे रोग विशेष के निर्णय हेतु तीनों ही प्रमाण आवश्यक होते हैं। चरकसंहिताकार ने चरकसंहिता के विमानस्थान के चतुर्थ अध्याय में कहा है – ''त्रिविधं खलु रोगविशेषविज्ञानं भवति। यद् यथा आप्तोपदेशः प्रत्यक्षमनुमानं चेति''। निदान के चतुर्थ श्लोक की टीका में महापण्डित विजय रक्षित ने कहा है ''प्रमाणसंप्लवस्यापि दृष्टत्वात्''। इस सन्दर्भ से यहाँ प्रमाणसम्प्लव का समर्थन किया गया है।

प्रारम्भिक तीन सूत्रों से न्यायदर्शन के मूल प्रतिपाद्य एवं प्रयोजन आदि सभी पदार्थों के व्यवस्थापक प्रथमतः उक्त प्रमाण पदार्थ के निरूपण हेतु ये तीन सूत्र विशेष रूप से व्याख्येय हैं जो न्यायदर्शन में ''त्रिसूत्री'' नाम से प्रसिद्ध हैं। भाष्यकार ने भाष्य में उपसंहार करते हुए कहा है – ''इति त्रिसूत्रीभाष्यम्''। ''त्रयाणां सूत्राणां समाहाराः त्रिसूत्री।'' वार्त्तिककार ने भी ''इतित्रिसूत्रीयवार्त्तिकम्'' कहा है। त्रिसूत्री के सम्बन्ध के कारण उदयनाचार्य कृत तात्पर्यपरिशुद्धिटीका भी त्रिसूत्री निबन्ध नाम से प्रसिद्ध है। १.१.३

***भाष्य* – अथ विभक्तानां लक्षणवचनम्।**

अनुवाद – इसके बाद विभक्त प्रमाणों का लक्षण करना है। इसमें क्रमानुसार पहला प्रमाण प्रत्यक्ष का लक्षणसूत्र कहा जाता है।

सूत्र – इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्। १.१.४।

अनुवाद – इन्द्रियग्राह्य विषयस्वरूप अर्थ के साथ इन्द्रिय के सम्बन्ध विशेष से उत्पन्न अव्यपदेश्य (अशाब्द), अव्यभिचारी (यथार्थ), व्यवसायात्मक (निश्चयात्मक) ज्ञान प्रत्यक्ष है और इसका करण प्रत्यक्ष प्रमाण होता है।

***भाष्य* – इन्द्रियस्यार्थेन सन्निकर्षादुत्पद्यते यज्ज्ञानं तत् प्रत्यक्षम्। न तर्हीदानीमिदं भवति? आत्मा मनसा संयुज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेनेति। नेदं कारणावधारणमेतावत् प्रत्यक्षे कारणमिति किन्तु विशिष्टकारणवचनमिति। यत्प्रत्यक्षज्ञानस्य विशिष्टकारणं तदुच्यते। यत्तु समानमनुमानादिज्ञानस्य न तन्निवर्त्यते इति। मनसस्तर्हीन्द्रियेण संयोगो वक्तव्यः भिद्यमानस्य प्रत्यक्षज्ञानस्य नायं भिद्यते इति समानत्वान्नोक्त इति।**

अनुवाद – अर्थ (इन्द्रियग्राह्य विषय) के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्षजन्य जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष है। (पूर्वपक्ष) ऐसा मानने पर अभी यह ऐसा नहीं होता है?

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

आत्मा मन के साथ सम्बद्ध होता है और मन इन्द्रिय के साथ और इन्द्रिय विषय के साथ संयुक्त होती है। अर्थात् मन के साथ आत्मा का संयोग और इन्द्रिय के साथ मन का संयोग भी प्रत्यक्ष ज्ञान का कारण होता है जो सूत्र में उक्त नहीं है। (उत्तर) सूत्र में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष का उल्लेख इस रूप में कारण का अवधारण नहीं है कि केवल यही प्रत्यक्षज्ञान का कारण होता है किन्तु इसका विशिष्ट कारण है – यह इसका तात्पर्य है। जो प्रत्यक्षज्ञान का विशिष्ट कारण अर्थात् असाधारण कारण है वही यहाँ सूत्र में कहा गया है। जो अनुमिति ज्ञान के भी समान कारण है अर्थात् जो जन्य ज्ञानमात्र का साधारण कारण है उसका निषेध नहीं हुआ है। (पूर्वपक्ष) तब तो मन के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध कहना चाहिए था। क्योंकि प्रत्यक्ष के असाधारण कारण के वक्तव्य होने से इन्द्रिय मनःसंयोग का कहना आवश्यक है। (उत्तर) भिद्यमान अर्थात् ''रूपज्ञान'' अथवा ''चाक्षुषज्ञान'' आदि नामों से अन्यान्य ज्ञान से भिन्नत्वरूप में ज्ञाप्यमान प्रत्यक्ष ज्ञान के सम्बन्ध में इन्द्रिय मनःसंयोग विशिष्ट नहीं है अर्थात् उक्त संयोग के आश्रय इन्द्रिय अथवा मन के वाचक संज्ञा से विभिन्न प्रकारक प्रत्यक्ष ज्ञान का भेद बोधित नहीं होता है इसलिए समानत्व प्रयुक्त (अर्थात् आत्ममनःसंयोग के समान) होने से वह सूत्र में नहीं कहा गया है।

टिप्पणी – तृतीय सूत्र में पहला पदार्थ प्रमाण का विभाग रूप विशेष उद्देश्य हुआ है। प्रमाण शब्द से वहाँ प्रमाण का लक्षण भी सूचित हुआ है। यह उन विभक्त चारों प्रमाणों का विशेषलक्षण कहना है। क्योंकि प्रत्यक्ष के बिना किसी प्रमाण का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। प्रत्यक्ष प्रमाण के सबसे श्रेष्ठ होने से सबसे पहले प्रत्यक्ष का उद्देश एवं लक्षण कहा गया है। लक्षण के बिना पदार्थ का तत्त्वज्ञान सम्भव नहीं है। अतः पदार्थ के तत्त्वज्ञान के सम्पादनार्थ उसका लक्षण कहना आवश्यक होता है। सजातीय और विजातीय पदार्थों से व्यवच्छेद या भेद का निश्चय ही लक्षण का प्रयोजन होता है। अनुमान आदि प्रमाण प्रत्यक्ष सजातीय हैं और प्रमाणाभास एवं प्रमेय आदि पदार्थ उनके विजातीय। प्रत्यक्ष प्रमाण के प्रकृत लक्षण के ज्ञात होने पर उस लक्षणरूप हेतु से उपपन्न होता है कि प्रत्यक्ष प्रमाण अपने सजातीय एवं विजातीय सभी पदार्थों से भिन्न है। अतः लक्षण से तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है। इसी प्रकार विभिन्न पदार्थों के लक्षण से तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है। उद्देश्य के बाद सभी पदार्थों का लक्षण कहना आवश्यक है।

जिस पदार्थ का लक्षण कहना है वह पदार्थ उस लक्षण का लक्ष्य होता है। सूत्र में प्रत्यक्ष पद से लक्ष्य पदार्थ का निर्देश हुआ है। पूर्व उक्त पाँच पदों में उसका लक्षण कहा गया है। इनमें से एक, दो, तीन या चार पदों से प्रत्यक्ष के लक्षण करने पर अतिव्याप्ति

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

दोष होगा। अतः महर्षि ने पाँच पदों से लक्षण किया है। अतएव वार्तिककार ने इस विषय में विचारपूर्वक कहा है – ''समस्तमित्याह यस्मादेकैकशोऽनुमानसुखशाब्दविपर्यय संशयज्ञानानि निवर्त्यन्त इति'। इस सूत्र के पाँचों ही पदों से प्रत्यक्ष का लक्षण कहा गया है। क्योंकि इनमें से एक-एक के द्वारा क्रमशः अनुमान, सुख, शाब्दज्ञान, विपर्ययात्मक ज्ञान, भ्रम तथा संशय का निवारण होता है, जो वस्तुतः प्रत्यक्ष के लक्षण के लक्ष्य नहीं होते। अलक्ष्य में लक्षण के समन्वय से अतिव्याप्ति दोष होता है। इस दोष के वारण हेतु लक्षण में यहाँ पाँच पदों का समावेश हुआ है। आगे यह अधिक विशद होगा। इन पाँच पदों के किसी-किसी पद के प्रयोजन के विषय में मतभेद भी पश्चात् विचारित होगा। तात्पर्य-टीकाकार वाचस्पति मिश्र तथा जयन्त भट्ट आदि ने सूत्र में यतः पद का अध्याहार करके व्याख्या की है कि जिससे उक्त स्वरूप का ज्ञान उत्पन्न होता है उस ज्ञान का समस्त करण प्रत्यक्ष नामक प्रमाण होता है। प्रत्यक्षात्मक प्रमाज्ञान का करण ही प्रत्यक्ष प्रमाण होता है। प्रमाज्ञान भी हानादिबुद्धि का करण होने से प्रत्यक्ष प्रमाण होता है और उस प्रमाज्ञान का करण इन्द्रिय तथा अर्थ का सन्निकर्ष प्रमाण होता है एवं परम्परया इन्द्रिय भी प्रमाण होती है क्योंकि वह (इन्द्रिय) भी प्रत्यक्ष प्रमाण का कारण होती है। इस प्रकार इस सूत्र से प्रत्यक्ष प्रमाण के मुख्य एवं गौण सभी प्रकार के लक्षण अभिहित हुए हैं। केवल प्रत्यक्षरूप प्रमाज्ञान के लक्षण कहने से सभी प्रकार के प्रत्यक्षात्मक प्रमाण के लक्षण अभिहित नहीं हो सकते। वस्तुतः प्रत्यक्षात्मक प्रमाण का लक्षण कहने के पहले प्रत्यक्षात्मक प्रमाज्ञान का लक्षण कहना आवश्यक है अन्यथा प्रत्यक्ष प्रमाण का ज्ञान सम्भव नहीं होगा। अतः महर्षि गौतम ने इस सूत्र से प्रत्यक्षात्मक प्रमाज्ञान का लक्षण कहकर उसके द्वारा उस ज्ञान के करण को प्रत्यक्ष प्रमाण कहा है। एक ही सूत्र से इस प्रमाण का फल प्रत्यक्षात्मक ज्ञान का लक्षण भी सूचित किया है। सूत्र से बहुत अर्थों की सूचना के कारण ही उसको सूत्र कहा जाता है।

महर्षि ने इस सूत्र में पहले ''इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानं'' कहा है। भाष्यकार ने पूर्वपक्ष करते हुए कहा है कि केवल इन्द्रिय एवं अर्थ के सन्निकर्ष को प्रत्यक्ष का कारण कहने पर यहाँ अभी यह नहीं होता है? क्या नहीं होता है – इसका स्पष्टीकरण देते हुए कहा है कि आत्मा मन से संयुक्त होती है, पश्चात् मन इन्द्रिय के साथ संयुक्त होता है, तत्पश्चात् इन्द्रिय ग्राह्य विषयरूप अर्थ के साथ संयुक्त होती है। यही महर्षि गौतम का सिद्धान्त है। किन्तु वे सभी कारण यहाँ अभी उक्त नहीं हुए हैं। उन सभी कारणों को न कहकर केवल इन्द्रियार्थसन्निकर्ष को ही कारण कहा गया है। अतः यह सूत्र उनके सिद्धान्त का विरोधी प्रतीत होता है। इसके समाधान में भाष्यकार ने कहा है कि महर्षि ने इस सूत्र

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

से यह नहीं कहा है कि इन्द्रियार्थसन्निकर्ष ही प्रत्यक्ष का कारण है। प्रत्यक्ष के कारणों का अभिधान यहाँ अभिप्रेत नहीं है अपितु उसका लक्षण कहना। अत: प्रत्यक्ष के असाधारण कारण का ग्रहण करके उसका लक्षण कहा गया है। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि आत्ममन:संयोग प्रत्यक्ष का करण नहीं है। क्योंकि जन्य ज्ञानमात्र के प्रति आत्ममन:-संयोग कारण होता है। आत्ममन:संयोगजन्य ज्ञान ही प्रत्यक्ष होता है, ऐसा लक्षण भी उसका नहीं हो सकता। अनुमान प्रमाणजन्य अनुमिति ज्ञान में अतिव्याप्ति दोष के निवारण हेतु महर्षि ने इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य कहा है।

प्रत्यक्ष के असाधारण कारण के वक्तव्य होने पर इन्द्रिय के साथ मनस् का संयोग का कथन भी उचित था। इसके उत्तर में भाष्यकार ने आगे कहा है – ''भिद्यमानस्य आदि''। वस्तुत: बहिरिन्द्रियों में जिस इन्द्रिय से जिस समय में जिस विषय का प्रत्यक्ष होता है उस इन्द्रिय के साथ उसके मन का संयोग प्रत्यक्ष का कारण होता है। किन्तु केवल मन से ही जिस प्रत्यक्ष की उत्पत्ति होती है उस मानस प्रत्यक्ष में इन्द्रिय मन:संयोग कारण नहीं होता। अत: इन्द्रियमन:संयोगजन्य ज्ञान भी प्रत्यक्ष का लक्षण नहीं हो सकता। भाष्यकार ने मानस प्रत्यक्ष की बात बाद में कही है। यहाँ केवल बाह्य प्रत्यक्ष का ग्रहण करके उक्त पूर्वपक्ष प्रस्तुत हुआ है। उक्त रूप इन्द्रियमन:संयोग बाह्य प्रत्यक्ष का असाधारण कारण होता है, वह अनुमान आदि ज्ञान का कारण नहीं होता। प्रत्यक्ष का असाधारण कारण कहते समय बाह्य प्रत्यक्ष के पक्ष में इस असाधारण कारण का कहना उचित था – यही पूर्वपक्ष का आशय है। इसके समाधान में भाष्यकार ने कहा है कि ''भिद्यमानस्य प्रत्यक्ष ज्ञानस्य नायं भिद्यते इत्यादि''।

वाचस्पति मिश्र ने भाष्यकार की इस व्याख्या के तात्पर्य को विशद करते हुए कहा है कि[३७] चक्षु इन्द्रिय द्वारा रूप का प्रत्यक्ष होने पर उस प्रत्यक्ष को रूपज्ञान या चाक्षुषज्ञान

[३७] तेन भाष्यस्यायमर्थ: प्रत्यक्षज्ञानस्य रूपज्ञानस्य रूपज्ञानमिति वा चक्षुर्विज्ञानमिति वा व्यपदेशेन भिद्यमानस्य आत्मन: संयोग इवायमिन्द्रियमन:संयोगो न भिद्यते एवं हि संभिद्यते यदि स्वसम्बन्धिवाचकेन व्यपदेशेन स्वमन्यतो व्यावर्त्यते'' इत्यादि – तात्पर्यटीका। प्राचीनकाल में अर्थ विशेष में भिद् धातु का भिद्यते प्रयोग होता रहा है – भाष्यकार के प्रयोग से ऐसा ज्ञात होता है। पश्चात् नव्यनैयायिक गङ्गेश उपाध्याय ने भी ''पृथिवी इतरेभ्यो भिद्यते गन्धवत्त्वात्'' कहकर ''भिद्यते'' प्रयोग किया है। किन्तु गदाधर भट्टाचार्य ने ऐसे स्थलों में विचार करके समाधान करते हुए कहा है कि यह कर्मवाच्य प्रयोग है। भिन्नत्व का ज्ञापन ही यहाँ भिद् धातु का अर्थ होता है। ''कर्तरि यगात्मनेपदासम्भवात्। अदैवादिकाच्च न श्यन्सम्भव: परस्मैपदित्वाच्च। अकर्मकधातुयोगे कर्मकर्तृविवक्षाया अप्ययोगात्। अतो भिन्नत्वेन ज्ञापनम् भिद्धातोरर्थ:'' इत्यादि – व्युत्पत्तिवाद (पञ्चमी कारक)।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

कहा जाता है। यहाँ इन्द्रिय चक्षु और विषय रूप होता है उसके वाचक संज्ञा के द्वारा उसके ज्ञान का अभिधान होता है। संज्ञा से पदार्थ के प्रकाशक को भी व्यपदेश कहा जाता है। जैसे अंकुर के अनेक कारणों के रहने पर भी उनमें बीज असाधारण कारण होने से बीजाङ्कुर संज्ञा का व्यपदेश होता है। इसी प्रकार इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के आधार इन्द्रिय विशेष अथवा उस (बहिरिन्द्रिय ग्राह्य) विषय के संज्ञा से उस प्रत्यक्ष ज्ञान का व्यपदेश होता है। जैसे रूप ज्ञान, चक्षुर्विज्ञान आदि। इस ज्ञान में आत्ममनःसंयोग एवं इन्द्रिय मनःसंयोग के कारण होने पर भी उस संयोग के आधार पर आत्मा या मन से उस ज्ञान का व्यपदेश नहीं हो पाता। चक्षु इन्द्रिय द्वारा रूप का प्रत्यक्ष होने पर उस ज्ञान को आत्मज्ञान या मनोज्ञान पद से प्रकाशन अर्थात् व्यपदेश नहीं होता। इस व्यपदेश का अभाव ही आत्ममनःसंयोग एवं इन्द्रियमनःसंयोग का साम्य दिखाता है। भाष्यकार ने इसी अभिप्राय को समझने के लिए कहा है – "समानत्वान्नोक्त इति"। आत्ममनःसंयोग के समान होने से महर्षि ने इन्द्रियमनःसंयोग का उल्लेख नहीं किया है। किन्तु प्राधान्य के कारण इन्द्रियार्थसन्निकर्ष का उल्लेख किया है। ये सभी बातें महर्षि ने आगे स्वयं कही हैं (द्रष्टव्य द्वितीय खण्ड पृ. ११६-१४०)।

महर्षि ने घ्राण, रसना, चक्षुष, त्वक् और श्रोत्र – इन पाँच बहिरिन्द्रियों को इन्द्रिय कहा है। इनके मत में मनस् भी इन्द्रिय है। अतः इस सूत्र में इन्द्रिय पद से उक्त छह इन्द्रियाँ ग्राह्य हैं। प्रत्यक्ष की व्याख्या में प्राचीन वैशेषिक आचार्य प्रशस्तपाद ने कहा है – "अक्षानीन्द्रियाणि घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्रमनांसि षट्"। इन्द्रियों से ग्राह्य विषय ही इन्द्रियार्थ कहलाता है। इस विषय के साथ इन्द्रिय के सन्निकर्ष के बिना प्रत्यक्ष उत्पन्न नहीं होता। किन्तु उस सन्निकर्षात्मक व्यापार के द्वारा ही इन्द्रिय वस्तु के प्रत्यक्ष का जनक होता है – इसकी सूचना के लिए ही महर्षि ने सन्निकर्ष शब्द का प्रयोग किया है। अर्थ पद का अभिप्राय है इन्द्रिय से ग्रहण करने योग्य पदार्थ। उसके साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष विशेष ही उसके प्रत्यक्ष का जनक होता है। आकाश आदि अतीन्द्रिय पदार्थ के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष प्रत्यक्ष का जनक नहीं होता। किन्तु प्रत्यक्ष के योग्य पदार्थ के साथ भी इन्द्रिय का किसी प्रकार का सन्निकर्ष प्रत्यक्ष का जनक नहीं होता। यही सूत्र के उत्पन्न पद से ज्ञात होता है। फलतः प्रत्यक्ष के ग्रहणयोग्य पदार्थ के साथ इन्द्रिय के जिस प्रकार के सन्निकर्ष से प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है, वह इन्द्रियार्थसन्निकर्ष प्रत्यक्ष का जनक होता है। अन्यथा जिस किसी प्रकार का सन्निकर्ष भी इन्द्रियार्थसन्निकर्ष होगा, जो मान्य नहीं है। जैसे किसी भित्ति के साथ चक्षु का संयोग होने पर उस भित्ति के व्यवहित और उससे संयुक्त वस्त्रादि के साथ इन्द्रिय का संयुक्त संयोग सम्बन्ध होता है। क्योंकि यहाँ चक्षुःसंयुक्त उस भित्ति के साथ उस वस्त्र का संयोग सम्बन्ध विद्यमान है। किन्तु

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

इस प्रकार का संयोग यहाँ उस वस्त्र आदि द्रव्य का प्रत्यक्ष उत्पन्न नहीं करता। अतः यहाँ उक्त इन्द्रियार्थसन्निकर्ष विद्यमान नहीं है।

महर्षि गौतम के मत में सभी इन्द्रियाँ प्राप्यकारी होती हैं अर्थात् ग्राह्य विषय को प्राप्त करके प्रत्यक्ष की जनक होती हैं। तृतीय अध्याय के प्रथम आह्निक में इन्द्रिय परीक्षा प्रकरण में विशेष विचार करके इनके इस सिद्धान्त का समर्थन किया गया है। इस मत में प्रदीप की तरह तैजस द्रव्य है चक्षुष् इन्द्रिय, इसमें किरण होती है, जैसे प्रदीप की किरण बहिर्गत होकर दूर में स्थित अव्यवहित द्रव्य के साथ संयुक्त होती है, इसी प्रकार चक्षुष् इन्द्रिय की किरण भी बहिर्गत होकर अव्यवहित दूरस्थ द्रव्य के साथ संयुक्त होती है। किन्तु चक्षुष् इन्द्रिय की किरण दृश्य विशेष के साथ उस चाक्षुष किरण का संयोग ही चक्षुःसंयोग रूप सन्निकर्ष होता है। अतएव स्वयं महर्षि ने बाद में कहा है – ''रश्म्यर्थसन्निकर्षविशेषात्तद्ग्रहणम्'' (३.१.३४)। इसी प्रकार श्रवण इन्द्रिय भी ग्राह्य शब्द विशेष के साथ सम्बद्ध होती है और तब श्रावण प्रत्यक्ष होता है। वेदान्ती सम्प्रदाय ने शब्द के उत्पत्तिस्थान श्रवणेन्द्रिय की गति का समर्थन करके शब्द के साथ श्रवणेन्द्रिय के सम्बन्ध का समर्थन किया है। किन्तु न्यायवैशेषिक मत में आकाशस्वरूप श्रवण इन्द्रिय की अन्यत्र गति सम्भव नहीं है। क्योंकि आकाश निष्क्रिय द्रव्य के रूप में मान्य है। किन्तु तरंग से तरंग की तरह प्रथम उत्पन्न शब्द से द्वितीय शब्द एवं इससे तृतीय शब्द यथाक्रम उत्पन्न होकर श्रोता के श्रवण इन्द्रिय में शब्द उत्पन्न करता है और इस शब्द के साथ श्रवण इन्द्रिय का समवाय सम्बन्धरूप सन्निकर्ष से उस शब्द का प्रत्यक्षज्ञान उत्पन्न होता है।

पश्चात् बौद्ध सम्प्रदाय ने इस मत का प्रतिवाद करते हुए कहा है कि चक्षुष् इन्द्रिय और श्रवण इन्द्रिय प्राप्यकारी नहीं हो सकती क्योंकि ग्राह्य विषय के साथ उनका सन्निकर्ष सम्भव नहीं है। जीव के शरीर में जिस स्थान को इन्द्रिय का अधिष्ठान कहा गया है वह अधिष्ठानप्रदेश ही इन्द्रिय है। उससे भिन्न इन्द्रियपदार्थ प्रसिद्ध नहीं है। जो चक्षुर्गोलक या कृष्णसार नाम से कहा जाता है वही चक्षुष् इन्द्रिय है एवं कर्णगोलक ही कर्णेन्द्रिय है। नेत्ररोग या कर्णरोग उत्पन्न होने पर उन स्थान विशेषों की चिकित्सा की जाती है। अतएव चक्षुष् इन्द्रिय से जब ''सान्तर ग्रहण'' अर्थात् दूरस्थ विषय का प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है एवं पृथुतर ग्रहण होता है तथा चक्षुष् इन्द्रिय से बृहत् द्रव्य का प्रत्यक्ष होता है तब उन विषयों के साथ उनका संयोग सम्भव नहीं होने से वह (इन्द्रिय) विषय के साथ असन्निकृष्ट रहकर ही उसका प्रत्यक्ष उत्पन्न करती है – यही मान्य होगा। जीव के कर्मफल के अनुसार इस प्रकार के शक्ति सम्पन्न इन्द्रियों की सृष्टि होती है। इसकी

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

शक्ति का भी तारतम्य अर्थात् ह्रास एवं वृद्धि होती रहती है। किन्तु इसको न मानकर चक्षुष् का बहिर्गमन स्वीकार करने पर उसकी उस विषय के दर्शन में सामर्थ्य नहीं मानी जाएगी। यदि ऐसी सामर्थ्य मानी जाए तो उस विषय दर्शन के लिए चक्षुष् का उन्मीलन करके पश्चात् निमीलन करने पर भी उस विषय का दर्शन हो सकता है। क्योंकि इस मत में पहले चक्षुष् की किरण के बहिर्गत होने पर उस विषय के साथ उसका बाद में भी संयोग रहेगा ही। ये किरण तब कहाँ जाएगी। तात्पर्यटीकाकार वाचस्पति मिश्र ने इस विषय में बौद्ध आचार्य दिङ्नाग के दो पद्यों को[३८] उद्धृत किया है। न्यायवार्त्तिक में उद्योतकर ने इस बौद्धमत की व्याख्या करते हुए युक्ति के आधार पर इस मत का खण्डन भी किया है। पश्चात् कुमारिल भट्ट आदि ने भी इसका प्रतिवाद[३९] किया है। उद्योतकर के वार्त्तिक को देखने पर दोनों पक्षों की बात समझ में आएगी। अभिप्राय यह है कि ग्राह्य विषय के साथ इन्द्रिय के सन्निकर्ष के बिना प्रत्यक्ष की उत्पत्ति नहीं होती। अतः महर्षि ने कहा है – ''इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नम्''।

प्राचीन न्यायाचार्य उद्योतकर ने इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के छह प्रकारों को कहा है जैसे – संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवेतसमवाय और विशेषण विशेष्य भाव। इनमें से द्रव्य के प्रत्यक्ष में उस द्रव्य के साथ उस इन्द्रिय का संयोग सम्बन्धरूप प्रथम सन्निकर्ष होता है। जैसे चक्षुष् इन्द्रिय एवं त्वगिन्द्रिय से घट के प्रत्यक्ष में उसके साथ यथाक्रम चक्षुष् इन्द्रिय एवं त्वगिन्द्रिय का संयोग सन्निकर्ष होता है। मनस् रूप अन्तःकरण या अन्तरिन्द्रिय से आत्मा के प्रत्यक्ष में उस आत्मा के साथ मन का संयोग विशेष सन्निकर्ष होता है। किन्तु इस घट के रूप एवं स्पर्श के प्रत्यक्ष में यथाक्रम उस रूप और स्पर्श के साथ चक्षुःसंयुक्तसमवाय एवं त्वक्संयुक्तसमवाय द्वितीय सन्निकर्ष एवं आत्मा में सुख-दुःख आदि विशेष गुण के मानस प्रत्यक्ष में सुख-दुःख आदि के साथ आत्ममनः संयुक्त समवाय रूप द्वितीय सन्निकर्ष कारण होता है। यहाँ विचारणीय है कि जैसे द्रव्य गुण का आश्रय होता है उसी प्रकार आगे भी आश्रय-आश्रयिभाव मानना

---

[३८] सान्तरग्रहणं न स्यात् प्राप्तौ ज्ञानेऽधिकस्य च।
अधिष्ठानाद्बहिर्नाक्षं तच्चिकित्सादियोगतः॥

सत्यपि च बहिर्भावे न शक्तिर्विषयेक्षणे।
यदि च स्यात्तदा पश्येदप्युन्मील्य निमीलनात्। – प्रमाणसमुच्चय

[३९] ततश्चाप्राप्यकारित्वाद् यद् बौद्धैः श्रोत्रचक्षुषोः।
चिकित्सादिप्रयोगश्च योऽधिष्ठाने प्रयुज्यते॥
सोऽपि तस्यैव संस्कार आधेयस्योपकारकः। – श्लोकवार्त्तिक, प्रत्यक्षसूत्र ४०-४५

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

आवश्यक है क्या? अवयव से अवयवी और द्रव्य से उसका गुण भिन्न होता है। इसी तरह क्रिया और जाति भी अपने आधार द्रव्य से भिन्न होती है। यह न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय की मान्यता है। अतएव संयुक्तसमवाय नामक द्वितीय सन्निकर्ष मानना आवश्यक है। किन्तु द्रव्य पदार्थ के प्रत्यक्ष में संयोग नामक प्रथम सन्निकर्ष ही मान्य है। तात्पर्यपरिशुद्धि की प्रकाश व्याख्या में वर्धमान उपाध्याय ने इस विषय में विचार करके कहा है कि आत्मा के मानस प्रत्यक्ष में मन के साथ आत्मा के संयोग विशेष को ही सन्निकर्ष मानना होगा। क्योंकि आत्मा के अवयव नहीं होने से उसके प्रत्यक्ष में मनःसंयुक्तसमवाय सम्भव नहीं है। अतः सर्वत्र द्रव्य पदार्थ के प्रत्यक्ष में इन्द्रिय के साथ ग्राह्य द्रव्य का संयोग सन्निकर्ष ही मान्य है। आगे अनेक नैयायिकों का कहना है कि त्रसरेणु नामक द्रव्य का अवयव द्वयणुक नामक द्रव्य में महत्परिमाण के नहीं रहने के कारण उसके साथ चक्षुःसंयोग और उस त्रसरेणु में चक्षुःसंयुक्तसमवाय रूप द्वितीय सन्निकर्ष प्रयोजक नहीं होता क्योंकि महत्परिमाण विशिष्ट चक्षुःसंयुक्तद्रव्य का ही कारण रहने पर चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है। अतः त्रसरेणु के प्रत्यक्ष के लिए संयोग सन्निकर्ष ही मान्य है (द्रष्टव्य ५ (पञ्चम) खण्ड, पृ. ८७)।

न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय में अवयव रूप द्रव्य में अवयवी द्रव्य समवाय सम्बन्ध से रहता है। गुण, क्रिया और जाति भी अपने-अपने आधार में आश्रय में समवाय सम्बन्ध से रहती हैं। क्योंकि इन पदार्थों को अपने-अपने आधार से अलग नहीं किया जा सकता और इन दोनों में संयोग सम्बन्ध नहीं माना जा सकता। इन सभी पदार्थों में आधार-आधेय भाव के कारण भेद के साधक प्रमाण रहने से उनका अभेद सम्बन्ध नहीं माना जा सकता। स्वरूप सम्बन्ध मानने पर अनन्त पदार्थों के सम्बन्धत्व की कल्पना करने पर महागौरव होगा। इस प्रकार चारों ओर से विचार करके न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय समवाय नामक एक अतिरिक्त नित्य सम्बन्ध मानता है। अतः इस मत में चक्षुःसंयुक्त घट में उसके रूप आदि गुण एवं घटत्व आदि जाति समवाय सम्बन्ध से रहने के कारण उसके साथ चक्षुःसंयुक्तसमवाय नामक द्वितीय प्रकार का सन्निकर्ष मान्य होता है। इसी प्रकार स्पर्श के साथ ''त्वक्संयुक्तसमवाय'' एवं आत्मगत सुख आदि गुण के साथ मनःसंयुक्त समवाय को ही द्वितीय सन्निकर्ष समझना चाहिए। किन्तु घटगत रूप में विद्यमान रूपत्व आदि जाति का एवं स्पर्शत्व तथा सुखत्व आदि के प्रत्यक्ष में यथाक्रम चक्षुः संयुक्तसमवेत समवाय, त्वक्संयुक्तसमवेतसमवाय और मनःसंयुक्तसमवेतसमवाय इत्यादि तृतीय प्रकार का सन्निकर्ष मान्य होता है। जो समवाय सम्बन्ध से रहता है उसे ''समवेत'' कहते हैं। जैसे चक्षुःसंयुक्त घट में रूप आदि गुण समवाय सम्बन्ध से रहते हैं, अतः वह चक्षुःसंयुक्तसमवेत होते हैं। और उन रूप आदि गुणों में रहने वाले रूपत्व आदि जाति

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

समवाय सम्बन्ध से रहते हैं, अतः वह चक्षुःसंयुक्तसमवेत समवाय रूप सम्बन्ध कहलाता है। त्वगिन्द्रिय के सम्बन्ध में त्वक्संयुक्तसमवेतसमवाय, मन के सम्बन्ध में मनःसंयुक्तसमवेतसमवाय को तीसरा सन्निकर्ष समझना चाहिए। अन्य इन्द्रियों के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार का सम्बन्ध समझना चाहिए। इस विषय में वैशेषिकदर्शन के अध्याय आठ आह्निक एक में महर्षि कणाद का सूत्र द्रष्टव्य है।

श्रवणेन्द्रिय के द्वारा शब्द के प्रत्यक्ष में उस श्रवणेन्द्रिय में उत्पन्न शब्द के साथ श्रवणेन्द्रिय का समवाय नामक चतुर्थ सन्निकर्ष मान्य है जो पहले कहा जा चुका है। किन्तु शब्दगत शब्दत्व जाति का भी श्रवणेन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है। क्योंकि श्रवणेन्द्रिय से ही शब्द का शब्दत्व और उसके मन्दत्व एवं तीव्रत्व आदि ज्ञात होते हैं। इनके साथ श्रवणेन्द्रिय का समवाय सम्बन्ध नहीं होता। शब्दत्व, मन्दत्व एवं तीव्रत्व आदि शब्द में समवेत अर्थात् समवाय सम्बन्ध से विद्यमान रहता है। अतः शब्दत्व आदि के साथ श्रवणेन्द्रिय का समवेतसमवाय सम्बन्ध नामक पाँचवाँ सन्निकर्ष मान्य है। श्रवणेन्द्रिय में समवाय सम्बन्ध से विद्यमान शब्द श्रवणेन्द्रिय समवेत होता है और उसमें शब्दत्व आदि समवाय सम्बन्ध से विद्यमान रहता है। अतः वह श्रवणेन्द्रिय का समवेत समवाय सन्निकर्ष कहा जाता है। अभिप्राय यह है कि आकाश में उत्पन्न होकर समवाय सम्बन्ध से विद्यमान शब्द में शब्दत्व आदि जाति का जो समवाय सम्बन्ध होता है उसको समवेत समवाय नामक पञ्चम सन्निकर्ष[४०] कहते हैं।

किन्तु समवाय नामक सम्बन्ध एवं अभाव पदार्थ के साथ इन्द्रिय का उपर्युक्त संयोग

---

४० भाषापरिच्छेद (न्यायसिद्धान्तमुक्तावली) के अन्त में विश्वनाथ ने कहा है ''कदम्बगोलक न्यायादुत्पत्तिः कस्यचिन्मते''। किन्तु उद्योतकर ने कदम्बगोलक न्याय से शब्द की उत्पत्ति मानी है, अतः नैयायिक सम्प्रदाय का यही प्राचीन मत प्रतीत होता है। वैशेषिक आचार्य प्रशस्तपाद ने वीचीतरंगन्याय से शब्द की उत्पत्ति कही है। परिशुद्धि व्याख्याकार उदयनाचार्य भी प्रशस्तपादाचार्य का ही यहाँ समर्थन करते हैं। किन्तु मीमांसक परम्परा में वर्णात्मक शब्द नित्य माना गया है और उसकी अभिव्यक्ति होती है उत्पत्ति नहीं। कुमारिल भट्ट ने शब्द को विभु एवं द्रव्य पदार्थ माना है। इस मत में शब्द के प्रत्यक्ष में श्रवणेन्द्रिय का संयोग सन्निकर्ष मान्य है। इन्होंने समवाय सम्बन्ध को नहीं माना और द्रव्य और गुण के मध्य तादात्म्य या अभेद सम्बन्ध कहा है। अतः संयोग, तादात्म्य और संयुक्ततादात्म्य यह तीन प्रकार का सन्निकर्ष माना गया है (द्रष्टव्य मानमेयोदय)। वेदान्त सम्प्रदाय भी इन्हीं तीन सन्निकर्षों को मानता है। किन्तु गुरु (प्रभाकर) के मत में संयोग, संयुक्तसमवाय और समवाय रूप तीन सन्निकर्ष माने गए हैं। रत्नकोषकार के मत में संयोग और विशेषणता रूप दो ही प्रकार के सन्निकर्ष मान्य हैं (द्रष्टव्य तात्पर्यपरिशुद्धिप्रकाश, पृ. ४६८)।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

आदि सम्बन्ध सम्भव नहीं है। अतः उद्योतकर ने कहा है कि ''समवाये चाभावे च विशेषणविशेष्यभावात्''। परवर्ती नैयायिकगण ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि समवाय सम्बन्ध और अभाव पदार्थ के प्रत्यक्ष में विशेषणता नामक सन्निकर्ष होता है किन्तु उससे भी इन्द्रिय सम्बद्ध विशेषणता आदि ही अवधेय है। यथा चक्षुःसंयुक्त विशेषणता, चक्षुःसंयुक्त समवेत विशेषणता तथा समवेत विशेषणता आदि। तात्पर्यपरिशुद्धि की प्रकाश व्याख्या (पृ. ८६४) में वर्धमान उपाध्याय ने ऐसी ही व्याख्या करके प्राचीनों का सिद्धान्त स्थापित किया है। यह विशेषणता सम्बन्ध अनेक प्रकारों का होने पर भी विशेषणतात्व रूप से एक होता है। इसी अभिप्राय से उसको सन्निकर्ष कहा गया है। वह स्वरूप या समवाय सम्बन्ध की तरह कोई अतिरिक्त सम्बन्ध नहीं है। जहाँ समवाय सम्बन्ध रहता है वहीं यह अपने स्वरूप में विद्यमान रहता है। समवाय सम्बन्ध का यह कोई पृथक् सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि उसे मानने पर उसका भी अलग सम्बन्ध पुनश्च इस अलग सम्बन्ध का भी अलग संबन्ध आदि अनन्त सम्बन्ध मानने पर अनवस्था दोष होगा। अतएव कहा है कि ''समवायस्यापि स्वात्मक एव स्वरूपसम्बन्धः''। जैसे घट में घटत्व जाति तथा उसका रूप आदि गुण समवाय सम्बन्ध से रहता है, वह समवाय सम्बन्ध उसमें विशेषणता अर्थात् स्वस्वरूप सम्बन्ध से रहता है। अतः चक्षुःसंयुक्त उस घट में घटत्व के समवाय सम्बन्ध के प्रत्यक्ष में चक्षुःसंयुक्त विशेषणता इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष होता है। इसी घटगतरूप के रूपत्व जाति के समवाय सम्बन्ध के प्रत्यक्ष में ''चक्षुःसंयुक्तसमवेतविशेषणता'' सन्निकर्ष होता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समवाय सम्बन्ध के प्रत्यक्ष में उक्त रूप विशेषणता सम्बन्ध को सन्निकर्ष समझना होगा। भाषापरिच्छेद (सिद्धान्तमुक्तावली) में उक्त है कि ''प्रत्यक्षं समवायस्य विशेषणतया भवेत्''।

इसी प्रकार अभाव के प्रत्यक्ष स्थल में उक्त रूप विशेषणता सम्बन्ध सन्निकर्ष होता है (विशेषणतया तद्वदभावानां ग्रहे भवेत् – भाषापरिच्छेद, न्यायसिद्धान्तमुक्तावली)। जैसे चक्षुःसंयुक्त भूतल में घटाभाव के प्रत्यक्ष होने में चक्षुःसंयुक्त विशेषणता रूप सन्निकर्ष उस प्रत्यक्ष का जनक होता है। यहाँ चक्षुःसंयुक्त उस भूतल में विशेषणता नामक सम्बन्ध से घटाभाव रहता है। यह विशेषणता स्वरूप सम्बन्ध नाम से भी कहा जाता है। क्योंकि वह अभावीयविशेषणता वहाँ तत्कालीन भूतल स्वरूप होती है, वह समवाय सम्बन्ध की तरह अतिरिक्त कोई सम्बन्ध नहीं है[४१]। किसी-किसी मत में वह विशेष्य एवं विशेषण

[४१] भाट्ट सम्प्रदाय ने अभाव पदार्थ का वैशिष्ट्य नामक सम्बन्ध स्वीकार किया है। वह वैशिष्ट्य भाट्ट मत में स्वतंत्र पदार्थ होता है। नव्यनैयायिक रघुनाथ शिरोमणि ने अभाव का प्रत्यक्ष →

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

रूप होता है। जैसे उक्त स्थल में यह विशेषणता सम्बन्ध से उस अभाव प्रत्यक्ष का विशेष्य होता है और विशेषण होता है, अभाव अतः उभयस्वरूप वह मान्य है। अतः उद्योतकर ने कहा है – ''विशेषणविशेष्यभावात्''। उपस्कार में शंकर मिश्र ने सूत्र ९.१.१ में ऐसे ही प्राचीन सिद्धान्त का वर्णन किया है।

अभिप्राय यह है कि छह प्रकारों का सन्निकर्षवाद न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय का प्राचीन मत प्रसिद्ध है। इस मत में इन छह प्रकारों के सन्निकर्ष हेतु महर्षि ने अन्य किसी पद का प्रयोग न करके सन्निकर्ष शब्द का ही व्यवहार किया है।[४२] इस मत के विरोध में प्राचीन समय में बहुत विचार हुआ है। तत्त्वचिन्तामणिकार गङ्गेश उपाध्याय ने प्रत्यक्ष वाद के सन्निकर्षवाद में बहुत सूक्ष्म विचार करके इस मत का समर्थन किया है। रहस्यटीका के साथ इस ग्रन्थ का अध्ययन करने से इस विषय में ज्ञातव्य बातों को जाना जा सकता है। गङ्गेश उपाध्याय आदि नव्य-नैयायिकगण ने समवाय सम्बन्ध एवं अभाव पदार्थ के संस्थापन हेतु प्रचुर विचार किया है। इन बातों को संक्षेप में कहना सम्भव नहीं है। वैशेषिकदर्शन के ७.२.२६ एवं ९.१.१ सूत्रों में (उपस्कार सहित) इसका विचार हुआ है जिससे सिद्ध होता है कि अभाव पदार्थ कणाद को मान्य है।

तात्पर्य यह है कि इन्द्रियग्राह्य विषय के साथ इन्द्रिय का जैसा सन्निकर्ष उस विषय के प्रत्यक्ष का जनक होता है वही इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष होता है। ईश्वर का प्रत्यक्ष इन्द्रियजन्य नहीं होता। श्रुति कहती है – ''पश्यत्यचक्षुः स श्रृणोत्यकर्णः''। ईश्वर को जिनसे जागतिक सभी विषयों का प्रत्यक्ष होता है उसमें किसी कारण की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि उसका प्रत्यक्ष भी नित्य होता है। अतः उस नित्य प्रत्यक्ष में उपर्युक्त

→ स्वीकार करके पदार्थतत्त्वनिरूपण ग्रन्थ में अपना मत इस प्रकार कहा है। ''वैशिष्ट्यमपि पदार्थान्तरम्'' इत्यादि (पृ. ७६)। इसके पहले गङ्गेश उपाध्याय आदि ने इस मत का निराकरण किया है। सिद्धान्तमुक्तावली में विश्वनाथ ने भी इस मत का खण्डन संक्षेप में करते हुए कहा है कि वैशिष्ट्य नामक अतिरिक्त सम्बन्ध को नित्य सम्बन्ध नहीं कहा जा सकता। अनित्य सम्बन्ध मानने पर इसकी उत्पत्ति और विनाश भी मानना होगा और तब अतिरिक्त असंख्य वैशिष्ट्य मानने पर इस मत में महागौरव होगा। किन्तु रघुनाथ शिरोमणि ने उक्त ग्रन्थ में इन बातों का उल्लेख नहीं किया है।

४२ सामान्य लक्षण, ज्ञान लक्षण और योगज नामक तीन प्रकार के अलौकिक सन्निकर्ष आगे कहे जाएंगे। वह भी सन्निकर्ष शब्द से उक्त होता है। (द्रष्टव्य तृतीय खण्ड, बंग संस्करण, पृ. १३२) किन्तु परिशुद्धिप्रकाश (पृ. ४६६) में वर्धमान उपाध्याय ने योगी के योगज सन्निकर्ष को पृथक् सन्निकर्ष कहकर ज्ञानलक्षणा और सामान्यलक्षणा सन्निकर्ष को उद्योतकर के उक्त षष्ठ सन्निकर्ष विशेषणता में अन्तर्भूत किया है। कणादरहस्य में शंकर मिश्र ने भी यही बात कही है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

सन्निकर्षयुक्त प्रत्यक्ष का लक्षण नहीं घटता। परवर्ती काल में महर्षि गौतम के इस प्रत्यक्ष लक्षण में अव्याप्ति दोष उठाया गया है, अतः गङ्गेश उपाध्याय ने पश्चात् विचार करके नित्य एवं अनित्य सभी प्रकारों के प्रत्यक्ष का एक लक्षण कहा है 'ज्ञानाकरणकं ज्ञानम्'। ज्ञान जिसका करण नहीं होता, इस प्रकार का ज्ञान प्रत्यक्ष होता है। गङ्गेश उपाध्याय के मत में इन्द्रिय भी प्रत्यक्ष ज्ञान का करण होता है किन्तु किसी प्रकार का ज्ञान उसका करण नहीं होता। अतः वह (प्रत्यक्ष) ज्ञानाकरणक ज्ञान होता है। ईश्वर के नित्य प्रत्यक्ष का कोई कारण ही नहीं होता। अतः वह भी ज्ञानाकरणक ज्ञान होता है। इस लक्षण का समन्वय यहाँ होने से अव्याप्ति दोष का समाधान हो जाता है। वृत्तिकार विश्वनाथ ने पश्चात् गङ्गेश उपाध्याय के इस लक्षण के अनुसार ही ''इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं'' पद की व्याख्या की है। किन्तु अवधेय है कि ''इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्नम्'' कहकर महर्षि ने जन्य प्रत्यक्ष का लक्षण कहा है, ईश्वर का प्रत्यक्ष उस लक्षण का लक्ष्य नहीं है। विश्वनाथ ने न्यायसिद्धान्तमुक्तावली में पहले यही बात कही है। वस्तुतः प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण कहने के लिए उस प्रमाण के फल के लिए प्रत्यक्ष का लक्षण ही महर्षि का वक्तव्य है। अवश्य ही ईश्वर को प्रमाण कहा गया है। शिवादित्य मिश्र ने सप्तपदार्थी ग्रन्थ में प्रत्यक्ष प्रमाण के मध्य ईश्वर का उल्लेख किया है। किन्तु वह प्रमाणपद कर्तृवाचक ल्युट् प्रत्यय से सिद्ध होता है और उसका अर्थ होता है सर्वदा सर्वविषयक प्रमावान् अर्थात् किसी भी समय में ईश्वर में उस सर्वविषयक यथार्थ प्रत्यक्षरूप सर्वज्ञता का अभाव नहीं रहता। इसी प्रकार की सर्वज्ञता गौतम के मत में भी ईश्वर का प्रामाण्य है। कुसुमाञ्जलि में उदयनाचार्य ने इस सिद्धान्त का प्रकाशन करते हुए कहा है कि ''तदयोगव्यवच्छेदः प्रामाण्यं गौतमे मते''। (४.५) आगे इन्होंने कहा है कि ''इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नत्वस्य च लौकिकमात्रविषयत्वात्''। किन्तु भाष्यकार आदि प्राचीन नैयायिकों के मत में ज्ञानाकरणकज्ञानत्व को प्रत्यक्ष का लक्षण नहीं कहा जा सकता क्योंकि यहाँ स्मरणीय है कि सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान भी हानादिबुद्धिरूप प्रत्यक्ष का करण होता है।

किसी विषय के साथ इन्द्रिय के सन्निकर्ष होने पर सुख तथा दुःख भी उत्पन्न होता है। अतः महर्षि ने सूत्र में द्वितीय पद ज्ञानम् कहा है। सुख और दुखः ज्ञानपदार्थ नहीं हैं। अतः सुख आदि में इस लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी। बौद्ध सम्प्रदाय सुख तथा दुःख आदि को भी ज्ञान का प्रकार विशेष मानता है। अतः उसका प्रतिवाद भी महर्षि को अभिप्रेत है। जयन्त भट्ट तथा उदयनाचार्य आदि ने विचार करके बौद्ध परम्परा की युक्तियों का निराकरण किया है। किन्तु जयन्त भट्ट ने यह भी किसी के मत के रूप में समर्थन किया है कि सूत्रगत ''व्यवसायात्मकम्'' पद से सुख तथा दुःख आदि का

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

व्यवच्छेद किया गया है, क्योंकि व्यवसायात्मक पद का अर्थ होता है निश्चयात्मक ज्ञान। अतः सुख आदि के व्यवच्छेद के लिए पहले ज्ञानपद का उल्लेख आवश्यक नहीं है। किन्तु व्यवसायात्मक पद के पूर्ववत् विशेषणबोधक होने से विशेष्यपद का प्रयोग आवश्यक होता है अन्यथा सरल रूप में विशेष्य भूत पदार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिए महर्षि ने ज्ञानपद कहा है। किन्तु उद्योतकर आदि ने सुख तथा दुःख आदि में अतिव्याप्ति का वारण ही उक्त ज्ञानपद का प्रयोजन कहा है। जयन्त भट्ट ने पहले अथवा कल्प में इसी का समर्थन किया है। महर्षि के सूत्र में तीसरा पद है ''अव्यपदेश्यम्''। अब भाष्यकार इसका प्रयोजन कहते हैं।

भाष्य – **यावदर्थं वै नामधेयशब्दास्तैरर्थसम्प्रत्ययः, अर्थसंप्रत्ययाच्च व्यवहारः। तत्रेदमिन्द्रियार्थसन्निकर्षादुत्पन्नमर्थज्ञानं रूपमिति वा रस इत्येवं वा भवति। रूपरसशब्दाश्च विषयनामधेयम्। तेन व्यपदिश्यते ज्ञानम् रूपमिति वा जानीते रस इति जानीते। नामधेयशब्देन व्यपदिश्यमानं सत् शाब्दं प्रसज्यते। अत आह ''अव्यपदेश्य'' मिति।**

यदिदमनुपयुक्ते शब्दार्थसम्बन्धेऽर्थज्ञानम्, तन्न नामधेयशब्देन व्यपदिश्यते। गृहीतेऽपि च शब्दार्थसम्बन्धेऽस्यार्थस्यायं शब्दो नामधेयमिति। यदा तु सोऽर्थो गृह्यते तदा तत् पूर्वस्मादर्थज्ञानान्न विशिष्यते तदर्थविज्ञानं तादृगेव भवति। तस्य त्वर्थज्ञानस्यान्यः समाख्या शब्दो नास्ति येन प्रतीयमाने व्यवहाराय कल्पेत। न च प्रतीयमानेन व्यवहारः, तस्मात् ज्ञेयस्यार्थस्य संज्ञा शब्देनेतिकरणयुक्तेन निर्दिश्यते रूपमिति ज्ञानं रस इति ज्ञानमिति। तदेवमर्थज्ञानकाले स न समाख्याशब्दो व्याप्रियते। तस्मादशाब्दमर्थज्ञानमिन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमिति।

अनुवाद – जितने पदार्थ हैं उनमें से प्रत्येक का संज्ञा शब्द अर्थात् वाचक शब्द होता है। उन वाचक शब्दों के साथ अर्थ (विषय) की सम्यक् प्रतीति होती है और उस प्रतीति के कारण व्यवहार होता है। उनमें यह इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से उत्पन्न अर्थ का ज्ञान भी यह रूप है, यह रस है – इस प्रकार का होता है। रूप अर्थ की संज्ञा होती है। उस संज्ञा के द्वारा इस रूप को मैं जानता हूँ, इस रस को मैं जानता हूँ – इस तरह का ज्ञान कहा जाता है जो अन्यान्य ज्ञान से विशिष्ट होता है। संज्ञा शब्द से कहा जाने वाला यह ज्ञान शाब्दज्ञान होने के कारण इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य ज्ञान भी रूपादि शब्दविषयक होने से शब्दजन्य हो जाएगा। अतः महर्षि ने ''अव्यपदेश्यं'' पद सूत्र में कहा है।

शब्द और अर्थ का सम्बन्ध अनुपयुक्त (अज्ञात) होने से (जिनको शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का ज्ञान नहीं है, ज्ञेयविषयक वाचक शब्द को जो नहीं जानते हैं उनके लिए)

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

यह अर्थज्ञान संज्ञा शब्द से व्यपदिष्ट नहीं होता। अथ च शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का ज्ञान होने पर भी अर्थात् जिनको शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का ज्ञान है उनको भी यह शब्द-विषयक अर्थ का ज्ञान नहीं होता। किन्तु जिस समय में वह अर्थ (विषय) ज्ञात होता है, उस समय में उक्त ज्ञान पूर्वोक्त अर्थज्ञान से अर्थात् शब्दार्थ सम्बन्धज्ञान से रहित बालक आदि के ज्ञान से विशिष्ट नहीं होता, वैसा ही वह अर्थज्ञान होता है। उस अर्थ ज्ञान के सम्बन्ध में अन्य संज्ञा शब्द नहीं है, जिससे प्रतीयमान होकर व्यवहार में वह समर्थ होगा और अप्रतीयमान पदार्थ से व्यवहार सम्भव नहीं है। अतएव ज्ञेय विषय में इति शब्द लगाकर संज्ञा बनाकर उस संज्ञा शब्द से अर्थज्ञान कहा गया है। जैसे ''रूपम् इति ज्ञानम्'' ''रस इति ज्ञानम्'' अर्थरूप शब्द से रूपज्ञान, रस शब्द से रसज्ञान प्रकाशित होता है। अतः इस प्रकार अर्थज्ञान के काल में संज्ञाशब्द व्यापार विशिष्ट नहीं होता किन्तु व्यवहार काल में अर्थात् दूसरों को समझाते समय व्यापार विशिष्ट होता है। किसी अर्थ-ज्ञान में उस अर्थ के वाचक शब्द विषय नहीं होते किन्तु कैसा अर्थज्ञान होता है – यह जब दूसरे का समझाना होता है तब उसका संज्ञा शब्द नहीं रहने के कारण अर्थवाचक शब्द का ही प्रयोग होता है। अतः इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न अर्थज्ञान शब्द नहीं होता अर्थात् शब्दविषयक नहीं होने से शब्दजन्य नहीं होता।

टिप्पणी – भाष्यकार ने पहले पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया है – ''यावदर्थं वै नामधेयशब्दाः''। ''यावन्तोऽर्थाः'' इस प्रकार विग्रह करने पर यावदर्थं पद में साकल्य अर्थ में अव्ययीभाव समास होता है और वै शब्द अवधारणार्थक है। अतः ''यावदर्थं वै'', का ''यावदर्थमेव'' अर्थ होता है। संसार में जितने पदार्थ हैं उनमें से प्रत्येक का वाचक शब्द विद्यमान है। इन सभी शब्दों के साथ उसके अर्थों की अच्छी तरह प्रतीति होने पर व्यवहार चलता है। रूप आदि विषय के साथ इन्द्रिय के सन्निकर्ष से रूपज्ञान तथा रस आदि ज्ञान उत्पन्न होता है। उन विषयों के नाम रूप तथा रस आदि शब्द के द्वारा कहे जाते हैं। यथा रूप ज्ञान के होने पर रूप शब्द का उल्लेखपूर्वक ''रूप को मैं जानता हूँ'' – यह कहा जाता है। रस का ज्ञान होने पर रस शब्द का उल्लेखपूर्वक ''रस को मैं जानता हूँ'' – यह कहा जाता है। इस तरह सर्वत्र ज्ञान का विषय वाचक शब्द से व्यपदेश (कथन) होता है। अतः सभी शब्द भी उस ज्ञान का विषय होते हैं – यह मानना होगा। क्योंकि ज्ञान का विषय ही अन्यज्ञान से उसका (भेदक) विशेषक होता। रूप आदि शब्द सभी ज्ञानों का विषय नहीं होने के कारण उससे भिन्न-भिन्न ज्ञान का उस रूप में व्यपदेश नहीं होता। अतः समस्त रूप आदि के ज्ञान उस रूप आदि शब्दविषयक होने से शब्दजन्य होते हैं। अतएव शाब्दज्ञान रूप में मान्य होना चाहिए। इसके समाधान हेतु महर्षि ने सूत्र में

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

''अव्यपदेश्यम्'' कहा है। भाष्यकार ने महर्षि के सिद्धान्त के कथन के बाद ''यदिदं'' सन्दर्भ से उक्त युक्ति का निराकरण करके उपसंहार में कहा है – ''तस्मादशाब्दमर्थज्ञान मिन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमिति''। इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से जन्य रूप आदि का ज्ञान शाब्दज्ञान नहीं होता किन्तु प्रत्यक्ष होता है। इस ज्ञान में रूप आदि शब्द विषय नहीं होते।

वाचस्पति मिश्र ने भाष्य के इस सन्दर्भ की व्याख्या करते हुए तात्पर्यटीका में कहा है कि सभी पदार्थ सर्वथा और सर्वदा नाम से अन्वित होते हैं। ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो कभी भी किसी प्रकार के नाम से रहित हो। भाष्यकार ने इस प्रकार कहकर पदार्थ और उसके नाम अर्थात् वाच्य अर्थ और वाचक शब्द का अभेद ही साध्य रूप में व्यक्त किया है। इसके साधकहेतुरूप में ''तैरर्थसम्प्रत्ययः'' कहा है। क्योंकि गो आदि शब्द के साथ अभिन्न रूप में गो आदि अर्थ की सम्यक् प्रतीति होती है। अतएव ''गो यह अर्थ'' ''अश्व यह अर्थ' इस प्रकार शब्द और अर्थ के अभेद की प्रतीति होती है। फलतः शब्द और अर्थ अभिन्न होता है। किन्तु ऐसी प्रतीति यदि भ्रमात्मक होगी तो इससे शब्द और अर्थ का वास्तव अभेद सिद्ध नहीं होगा। इसलिए पश्चात् भाष्य में उक्त है कि ''अर्थसम्प्रत्ययाच्च व्यवहारः''। उक्त प्रतीति के कारण ही जब व्यवहार चलता है तब उसको भ्रमात्मक नहीं कहा जा सकता। अभिप्राय यह है कि दीर्घकाल से व्युत्पन्न व्यक्ति गो आदि अर्थ के ज्ञान होने पर उसके वाचक गो आदि शब्द का ग्रहण करके ''गो यह अर्थ है'' इत्यादि वाक्य का प्रयोग करता है। शब्द और अर्थ के वास्तव अभेद के बिना इस प्रकार का व्यवहार सम्भव नहीं है। इस अभेदज्ञान के भ्रमत्व का निश्चायक कोई प्रमाण भी नहीं है।

भाष्यकार ने यहाँ इसकी योजना करके कहा है कि इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से उत्पन्न रूप आदि का ज्ञान वह रूप यह ज्ञान, वह रस यह ज्ञान इस रूप में रूप आदि अर्थ के साथ अभिन्न होकर ही होता है। ऐसा होने से ही क्या होगा? इसके लिए बाद में कहा गया है कि रूप तथा रस आदि शब्द सभी विषयों के नाम होते हैं। इससे ही क्या सिद्ध होता है? इसके समाधान में कहा है कि सभी शब्दविशेष से सभी ज्ञानविशेष का व्यपदेश होता है। यह व्यपदेश कैसे होता है? इसकी अभिव्यक्ति हेतु कहा है – ''रूपमिति जानीते रस इति जानीते''। किसी का रूपज्ञान होने पर ''रूप को यह जानता है'' एवं ''रस को यह जानता है'' – इस तरह ज्ञान का नामकरण होता है। अतः रूप आदि शब्द से इन समस्त ज्ञानों का नामकरण होता है और जब रूप आदि से शब्द द्वारा इन ज्ञानों का परिचय होता है तब इसको शाब्दज्ञान कहना ही उचित है। इसी मत के अनुसार भाष्य में

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

उक्त है – ''शाब्दं प्रसज्यते अत आह अव्यपदेश्यमिति'' | शाब्द से यहाँ शब्दप्रमाणजन्य अभिप्रेत नहीं है किन्तु ''शब्दे जातम् शाब्दं'' शब्दविषयक होने से शब्दजन्य अभिप्रेत है | वाचस्पति मिश्र ने कहा है – ''शब्दश्चास्य विषयत्वेन जनकोऽर्थतादात्म्यात्'' | शब्द और अर्थ में अभेद होने से अर्थविषयक ज्ञान में शब्द भी विषय होता है, अतः विषयरूप में शब्द भी अर्थ का जनक होता है – इस प्रकार शब्दजन्य होने से शाब्द होता है | इस मत में सभी ज्ञानशब्द से अनुविद्ध होते हैं – ''न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते'' | ऐसा कोई भी ज्ञान नहीं है जो शब्दविषयक नहीं होता, अतः निर्विकल्पक प्रत्यक्ष नहीं होता | क्योंकि सभी ज्ञानों के विषयवाचक शब्द विशेषणरूप में विषय होते हैं, तब निर्विकल्पक (अविशिष्ट) ज्ञान सम्भव ही नहीं है | इस मत में बालक तथा मूक आदि का ज्ञान भी शब्द के अनादि संस्कार के कारण शब्दानुविद्ध ही होता है | शब्द भावना के बिना किसी शब्द का उच्चारण नहीं होता | वाचस्पति मिश्र ने इस मत की व्याख्या में भर्तृहरि की दो कारिकाओं[४३] का उद्धरण देकर कहा है कि इस सूत्र में अव्यपदेश्य पद से उक्त मत का निराकरण किया गया है | क्योंकि अव्यपदेश पद का अर्थ आलोचन अर्थात् निर्विकल्पक प्रत्यक्ष होता है | व्यपदेश्य का अर्थ विशेषण विशिष्ट विशेष्य होता है | जो प्रत्यक्ष इस व्यपदेश्य से भिन्न होता है वही अव्यपदेश्य होता है | जो ज्ञान विशेषण विशिष्ट विशेष्य विषयक नहीं होता किन्तु जिससे वस्तु के स्वरूप मात्र का ज्ञान होता है वह अविशिष्ट प्रत्यक्ष है और यह अवश्य मान्य है | अतः महर्षि ने अव्यपदेश्य पद से प्रत्यक्ष के निर्विकल्पक प्रकार का ही उपदेश किया है |

महर्षि के सिद्धान्त का समर्थन करते हुए भाष्यकार ने भर्तृहरिसम्मत मत के निराकरण हेतु आगे कहा है – ''यदिदमनुपयुक्ते शब्दार्थसम्बन्धेऽर्थज्ञानं तन्न नामधेयशब्देन व्यपदिश्यते'' | भाष्यकार के गूढ़ अभिप्राय का वर्णन करते हुए वाचस्पति मिश्र ने यहाँ पर कहा है कि यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि रूप आदि अर्थ को जो शब्दात्मक कहा गया है वह क्या नित्य स्फोटरूप शब्द ब्रह्मात्मक[४४] होता है अथवा श्रूयमाण शब्द विशेषात्मक

---

[४३] तथा च नाविकल्पकं शब्दरहितमस्तीति तात्पर्यार्थः | तथा चाहुः – न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते | अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन गम्यते || – वाक्यपदीय | बालमूकादीनामपि विज्ञानं शब्दानुवेधवदेवानादिशब्दभावनावशात् | यदवोचत् – आद्यः करणविन्यासः प्राणस्योदूर्ध्वं समीरणम् | स्थानानामभिघातश्च न विना शब्दभावनाम् ||
– वाक्यपदीय

तदस्य निराकरणं लक्षणगतेन आलोचनज्ञानावरोधार्थेनाव्यपदेश्यपदेन सूचितम् |
– तात्पर्यटीका १.१.४

[४४] स्फोटवादी पतञ्जलि के महाभाष्य से यह ज्ञात नहीं होता कि इस मत में शब्द और अर्थ का →

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

होता है। इनमें से एक भी पक्ष मान्य नहीं है। क्योंकि स्फोटवादी का सम्मत यह स्फोटरूप शब्दब्रह्म और रूप आदि अर्थ दोनों ही अभिन्न हैं – यह लौकिक व्यक्ति नहीं समझता और न तो समझ ही सकता है। दूसरे पक्ष में श्रूयमाण वर्णात्मक शब्द और उसका अर्थ परस्पर अभिन्न है – यह प्रमाण से सिद्ध नहीं होता क्योंकि बाल एवं मूक आदि अव्युत्पन्न व्यक्तियों का रूप आदि ज्ञान रूप आदि शब्द से नहीं कहा जाता। क्योंकि जो इन शब्दों को नहीं जानता अथवा उस शब्द का उच्चारण नहीं कर सकता उन सबको भी उसका अर्थज्ञान उन सभी शब्दों का विषय विधया अवगाहन करता है – इसमें कोई प्रमाण नहीं है। वाचस्पति मिश्र आदि ने इस विषय में बहुत विचार करके इस मत का निराकरण किया है। उन्होंने यह भी कहा है कि यह अवश्य मानना होगा कि शब्द और अर्थ के अभिन्न होने पर अन्धा व्यक्ति भी श्रवणेन्द्रिय से शब्दात्मक रूप का प्रत्यक्ष करता है और बधिर व्यक्ति भी चक्षुरिन्द्रिय से अर्थात्मक रूप शब्द का प्रत्यक्ष करता है। किन्तु यह कभी भी मान्य नहीं है। शब्द और अर्थ वस्तुतः भिन्न होता है – इसके साधक अनेक प्रमाण हैं और इसके विपरीत के साधक प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। अतः यह मानना होगा कि अव्युत्पन्न बालक आदि का रूप आदि विषयक प्रत्यक्ष शब्दरहित निर्विकल्पक प्रत्यक्ष होता है।

जिनको शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का ज्ञान होता है उन समस्त व्युत्पन्न व्यक्तियों को यह ज्ञान शब्दविषयक नहीं होता किन्तु इनको पदार्थ ज्ञान के बाद यह शब्द इस पदार्थ का नाम है – इस प्रकार का ज्ञान होता है। अर्थात् प्रत्यक्षतः ज्ञात पदार्थ की संज्ञा शब्द का स्मरण होता है। किन्तु पूर्वोत्पन्न वह अर्थज्ञान शब्दविषयक नहीं होता वरन अर्थ का ज्ञान ही उस संज्ञा का स्मारक होता है। अतः मानना होगा कि उन सभी व्युत्पन्न व्यक्तियों को अर्थ के विषय में नामरहित शब्द का अविषयक निर्विकल्पक प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है। भाष्यकार ने कहा है – "तत्पूर्वस्मादर्थज्ञानान्न विशिष्यते"। अर्थात् पूर्वोक्त बालक

→ तत्त्वतः अभेद मान्य है। भर्तृहरि अपने वाक्यपदीय ग्रन्थ के प्रथम श्लोक में "विवर्ततेऽर्थभावेन" पद में विवर्तते की परिणमते अर्थ में व्याख्या करते हैं। अतः प्राचीन काल में किसी-किसी की दृष्टि में शब्द ब्रह्म का परिणामवाद ही भर्तृहरि की मान्यता के रूप में मान्य है। किसी-किसी ग्रन्थ से यह जाना जाता है। इस मत में परिणामी शब्दब्रह्म और उसका परिणाम अर्थ अभिन्न होता है।

किन्तु "विवर्तते" पद से शब्दब्रह्म का विवर्तवाद ही उनको सम्मत है – यह भी बहुत-से वैयाकरण मानते हैं और प्रसिद्ध भी है। वाचस्पति मिश्र और जयन्त भट्ट आदि ने बहुत प्रकार से शब्द ब्रह्मवाद का प्रतिवाद किया है। उदयनाचार्य ने स्पष्ट भाषा में इस शब्द ब्रह्मवाद को निष्प्रमाण कहा है। किन्तु शब्दब्रह्मवाद का समर्थन प्राचीन काल से होता आ रहा है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

आदि अव्युत्पन्न का उक्त अर्थ के ज्ञान से व्युत्पन्न व्यक्ति के अर्थ का ज्ञान विशिष्ट नहीं होता है। ''तदर्थविज्ञानं तादृगेव भवति'' व्युत्पन्न व्यक्ति का वह प्रथमोत्पन्न अर्थ का ज्ञान शब्दविषयक न होकर अव्युत्पन्न व्यक्ति के ज्ञान के सदृश ही होता है। आशय यह है कि व्युत्पन्न एवं अव्युत्पन्न सभी व्यक्तियों को पहले निर्विकल्पक प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है। वही बाद में उस विषय के सविकल्पक प्रत्यक्ष का कारण होता है। किन्तु वह सविकल्पक प्रत्यक्ष भी उस विषय में नाम का विषयावगाही नहीं होता।

शंका हो सकती है कि किसी विषय का ज्ञान उत्पन्न होने पर जब दूसरे को उस ज्ञान के विषय को समझाना होता है तब उस ज्ञान को नाम से समझाया जाएगा अर्थात् रूप यह ज्ञान, रस यह ज्ञान – इस तरह के वाक्य का व्यवहार करके ही दूसरे को समझाया जाएगा। अतः उस ज्ञान को पदार्थाकारत्व या संज्ञाकारत्व अवश्य मानना होगा। किन्तु उस ज्ञात पदार्थ और उसके संज्ञा शब्द में अभेद नहीं मानने पर वह ज्ञान संज्ञाकार नहीं होगा और तब संज्ञा शब्द से उस ज्ञान का निर्देश नहीं हो पाएगा। अतः मानना होगा कि वह ज्ञान संज्ञाविषयक होता है। इसके उत्तर में भाष्यकार ने कहा है कि ''तस्य त्वर्थज्ञानस्यान्यः समाख्याशब्दो नास्ति''। तात्पर्य यह है कि अर्थज्ञान के परिचायक अन्य किसी संज्ञा शब्द के नहीं रहने के कारण अर्थवाचक संज्ञा शब्द का इति शब्द लगाकर ''रूपम् इति'' ''रस इति'' इत्यादि वाक्य से व्यक्त किया जाएगा। यह कैसा ज्ञान है – इसे दूसरे व्यक्ति को समझाने के लिए रूप यह ज्ञान, रस यह ज्ञान – इस तरह के वाक्य का प्रयोग करना होगा। अतः इस व्यवहार के समय उस संज्ञा शब्द का व्यापार होता है – किन्तु इसके पहले अर्थज्ञान के काल में संज्ञा शब्द का व्यापार नहीं होता। अर्थात् ज्ञान में संज्ञा शब्द विषय नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न अर्थ का ज्ञान शब्द नहीं होता।

महर्षि गौतम के प्रत्यक्ष लक्षण सूत्रगत ''अव्यपदेश्यम्'' पद के प्रयोजन के विषय में प्राचीन काल से ही बहुत मतभेद एवं विविध प्रकार का विचार हुआ है। बहुविज्ञ नैयायिक जयन्त भट्ट के न्यायमञ्जरी ग्रन्थ में इसकी समालोचना देखी जा सकती है। इन आलोचनाओं का ज्ञान एवं विशेष विवेचन आवश्यक है। यहाँ संक्षेप में उसका दिग्दर्शन कराया जा रहा। जयन्त भट्ट ने पहले वृद्ध नैयायिकों के व्याख्यानों का उल्लेख करके युक्ति के आधार पर उसको अपव्याख्यान कहा है। किन्तु इन वृद्ध नैयायिकों का परिचय इन्होंने नहीं दिया है। यहाँ भाष्यकार भी उनके बुद्धिस्थ हो सकते हैं। इसके बाद जयन्त भट्ट ने आचार्य मत का उल्लेख किया और कहा कि जिस स्थल में इन्द्रियसन्निकर्ष और शब्द – इन दोनों से जन्य ज्ञान होता है वह प्रत्यक्षज्ञान नहीं माना जाएगा किन्तु उससे

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

शाब्दज्ञान होता है। इस शाब्दज्ञान में प्रत्यक्षलक्षण की अतिव्याप्ति के वारण हेतु महर्षि ने "अव्यपदेश्यम्" यह तृतीय पद कहा है। किन्तु जयन्त भट्ट द्वारा उल्लिखित आचार्य पद से वाचस्पति मिश्र को नहीं समझा जा सकता क्योंकि यहाँ पहले जो आचार्य मत के रूप में सिद्धान्त कहा गया है वह वाचस्पति का अनुमत नहीं है। बाद में यह समझ में आएगा।[४५] इस सूत्र में "अव्यपदेश्य" पद के प्रयोजन के विषय में उदयनाचार्य ने वाचस्पति मिश्र की व्याख्या का समर्थन किया है। प्रशस्तपादभाष्य की प्रत्यक्ष प्रमाण की व्याख्या में अव्यपदेश्यम् पद के प्रयोजन की व्याख्या करते हुए उदयनाचार्य तथा श्रीधर भट्ट ने एक ही युक्ति का उल्लेख किया है। जो व्यक्ति पहले गो का दर्शन नहीं किया है उसका पहली बार किसी गो के साथ चक्षु सन्निकर्ष होने पर "अयं गौः" इस वाक्य के कहने से वाक्य श्रवण के पश्चात् गोत्वरूप में उसे गो का ज्ञान उत्पन्न होता है। किन्तु इस ज्ञान में चक्षुःसन्निकर्ष रूप कारण के रहने पर भी वह ज्ञान प्रत्यक्षात्मक नहीं होता किन्तु शब्द प्रमाणजन्य शाब्दज्ञान कहलाता है। क्योंकि उस स्थल में श्रुत वाक्य ही उस ज्ञान का साधकतम होने से करण होकर प्रमाण होता है। उक्त ज्ञान वहाँ प्रत्यक्ष प्रमाण का फल नहीं होता। किन्तु उक्त यथार्थ ज्ञान के भी इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य होने से उसमें प्रत्यक्ष लक्षण घटता है अतः प्रशस्तपाद ने अव्यपदेश्यं कहा है। संज्ञा शब्द से निर्देश होने के कारण तज्जन्य ज्ञान जो उत्पन्न होता है उसे व्यपदेश्य कहते हैं और जो व्यपदेश्य नहीं होता है उसे अव्यपदेश्य अर्थात् शब्द से अजन्य कहते हैं। "व्यपदेशे भवः व्यपदेश्यम्, न व्यपदेश्यमव्यपदेश्यम् शब्दाजन्यम्" (न्यायकन्दली)।

प्राचीन न्यायाचार्य उद्योतकर ने शाब्दज्ञान में अतिव्याप्ति के कारण ही गौतम के प्रत्यक्ष सूत्र में "अव्यपदेश्य" पद का प्रयोजन कहा है। अतः उपर्युक्त स्थल में

---

[४५] जयन्त भट्ट ने पहले भी "अत्राचार्यास्तावदाचक्षते" इत्यादि सन्दर्भ से आचार्य के मत का उल्लेख किया है। बहुतों का कहना है कि आचार्य से वाचस्पति मिश्र ही अभिप्रेत हैं। काशी के चौखम्बा से प्रकाशित न्यायमञ्जरी के पृ. ६२ में इस स्थल पर तात्पर्यटीका की पंक्तियाँ भी उद्धृत हैं किन्तु यहाँ यह समझना आवश्यक है कि वाचस्पति मिश्र ने यहाँ निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को प्रमाण कहा है (इस ग्रन्थ का पृ. १८२ दृष्टव्य है) और यहाँ जयन्त भट्ट ने आचार्य मत का उल्लेख करते हुए कहा है कि – "न वयं प्रथमालोचनज्ञानस्य उपादानादिषु प्रमाणतां ब्रूमः"। यह भी लक्ष्य करना आवश्यक है – आचार्य मत की व्याख्या में जयन्त भट्ट ने कहा है कि – "इन्द्रियसन्निकर्षादिसामग्रीस्वभावस्य प्रत्यक्षस्य प्रमाणस्य फलमेव"। यह आचार्य जयन्त भट्ट की गुरु-परम्परा में रहे होंगे, ऐसा प्रतीत होता है। क्योंकि इन्द्रियसन्निकर्ष आदि प्रत्यक्ष की कारण सामग्री ही प्रत्यक्ष प्रमाण होता है – यह मत वाचस्पति मिश्र का नहीं है किन्तु जयन्त भट्ट ने इसका समर्थन किया है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

इन्द्रियसन्निकर्ष व शब्द दोनों से जन्य ज्ञान को शाब्दज्ञान कहा है। किन्तु तात्पर्यटीकाकार वाचस्पति मिश्र इन्द्रियसन्निकर्ष और शब्दउभयजन्य किसी शाब्दज्ञान को नहीं मानते। इनके मत से उक्त स्थल में अभिज्ञ व्यक्ति का ''अयं गौः'' वाक्य उस ज्ञान का सहायक होता है किन्तु वह शाब्दज्ञान नहीं है। वास्तव में वह इन्द्रियसन्निकर्षजन्य प्रत्यक्ष ही है क्योंकि वह शाब्दज्ञान से अधिक स्पष्ट ज्ञान होता है। परोक्ष शाब्दज्ञान ऐसा स्पष्ट ज्ञान नहीं हो सकता। इस प्रसंग में वाचस्पति मिश्र ने अपने गुरु की गाथा[४६] का उल्लेख करके अपने गुरु सम्प्रदाय में इसी मत की मान्यता की अभिव्यक्ति की है। जयन्त भट्ट ने भी कहा है कि ''तदेतद्व्याख्यातारो नानुमन्यन्ते''। व्याख्याता वृन्द उपर्युक्त आचार्य का मत नहीं मानते। विचारपूर्वक व्याख्याता वृन्द के मत का समर्थन करके जयन्त भट्ट ने मतान्तर प्रदर्शित करते हुए सूत्रोक्त अव्यपदेश्य पद की दूसरे प्रकार से भी व्याख्या की है। जयन्त भट्ट ने कहा है कि किसी के मत में असम्भव दोष के निवारण हेतु उक्त पद की सार्थकता होती है। क्योंकि लक्ष्य रहने पर ही लक्षण कहना उचित है। किन्तु किसी के मत में इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य प्रत्यक्ष नामक किसी ज्ञान के नहीं रहने से उक्त प्रत्यक्ष लक्षण का लक्ष्य ही उपलब्ध नहीं है। सभी ज्ञानों में शब्द विशिष्ट अर्थ ही विषय होता है, केवल अर्थविषयक कोई ज्ञान होता ही नहीं है। अतः जिस ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा जाता है उस ज्ञान के विषयबोधक संज्ञा विषय के विशेषणरूप में उस ज्ञान का विषय होता है। जैसे किसी को घट के साथ चाक्षुष-संयोग होने पर पहले घट इस संज्ञा का अर्थात् घट शब्द का स्मरण होता है और पश्चात् इस स्मरणरूप विशेषणज्ञान से घट संज्ञा विशिष्ट घटरूप अर्थ का विशिष्ट ज्ञान होता है। अतः इस ज्ञान को इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं कहा जा सकता क्योंकि इस ज्ञान का विशेषण घट शब्द चक्षुरिन्द्रिय से ग्राह्य नहीं है और विशेष्य घट श्रवणेन्द्रिय ग्राह्य नहीं है। एक काल में दो इन्द्रियों से एक ज्ञान की कहीं उत्पत्ति भी नहीं होती। अतः उक्त ज्ञान में स्मृति का विषय वह घट शब्द ही करण होता है। वह शब्दजन्य होने से शाब्दज्ञान होता है। इस प्रकार सर्वत्र जो प्रत्यक्ष ज्ञान कहा जाता है वह शाब्दज्ञान ही होता है। ''तस्मात् प्रत्यक्षस्य लक्ष्यस्यासद्भावात् कस्येदं लक्षणमुपक्रान्तमित्यसम्भवदोषमाशंक्याह सूत्रकार अव्यपदेश्यमिति'' (न्यायमञ्जरी पृ. ८०)

अभिप्राय यह है कि समस्त ज्ञानों के शाब्दज्ञान होने से प्रत्यक्ष ज्ञानरूप लक्ष्य ही उपलब्ध नहीं होगा। अतः उसका लक्षण नहीं कहा जा सकता, यही प्रत्यक्ष लक्षण के

---

[४६] तत्र गुरूपदिष्टा गाथा पठितव्या –

शब्दजत्वेन शाब्दं चेत् प्रत्यक्षं चाक्षजन्मतः।
स्पष्टग्रहणरूपत्वाद् युक्तमैन्द्रियकं हि तत् ॥इति॥ – तात्पर्यटीका

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

असम्भवदोषवादी का आशय है। महर्षि इस असम्भव दोष के वारण हेतु सूत्र में "अव्यपदेश्यम्" इस तृतीय पद का निवेश कर अपना सिद्धान्त सूचित करते हैं। इस सिद्धान्त में प्रत्यक्ष रूप ज्ञात होता है चूंकि वह अव्यपदेश्य, अशब्दविषयक होता है। अतः अशाब्द कभी भी विषय नहीं होता और वह शब्दजन्य शाब्दज्ञान नहीं होता। फलितार्थ यह हुआ कि प्रत्यक्ष लक्षण में असम्भवदोष नहीं होता। वस्तुतः किसी प्रकार के प्रत्यक्षज्ञान का अपलाप नहीं किया जा सकता। प्रत्यक्षज्ञान के बिना शाब्दज्ञान का भी अस्तित्व सम्भव नहीं है। कारणों में भेद के कारण प्रत्यक्ष और शाब्दज्ञान में भेद होता है। किसी विषय के प्रत्यक्षज्ञान के पहले उसकी संज्ञा के स्मरण होने पर भी वह संज्ञा प्रत्यक्षज्ञान की बाधक नहीं हो सकती क्योंकि वह संज्ञा उस संज्ञा के अर्थ (द्रव्य या विषय) के स्वरूप का आच्छादन नहीं कर सकती। उसके प्रत्यक्ष के सभी कारणों के रहने पर भी प्रत्यक्ष नहीं हो पाता। उसका बाधक भी कुछ नहीं है। अतः कहा है –

> संज्ञा हि स्मर्यमाणापि प्रत्यक्षत्वं न बाधते।
> संज्ञिनः सा तटस्था हि न रूपाच्छादनक्षमा॥

जयन्त भट्ट ने आगे कहा है कि "तदेतदाचार्याः न क्षमन्ते"। यहाँ भी आचार्य से पूर्व उक्त आचार्य ही समझा जाता है। इनका कहना है कि इन्द्रियसन्निकर्ष से जन्य गोत्व आदि के रूप में जो गो आदि अर्थ का ज्ञान होता है वह कभी भी उस अर्थ के वाचक गो आदि शब्दविषयक नहीं होता है – "अतश्च न शाब्दं तत् अपि तु सुस्पष्टं प्रत्यक्षमेव" अतएव प्रत्यक्ष ज्ञान रूप लक्ष्य के विद्यमान रहने से उक्त असम्भव दोष की आशंका नहीं रहती। अतः असम्भव दोष के वारण हेतु महर्षि ने "अव्यपदेश्यम्" पद का व्यवहार नहीं किया। तब क्यों महर्षि ने उक्त पद कहा है – इस प्रश्न के उपस्थित होने पर जयन्त भट्ट ने आगे कहा है – "उक्तमाचार्यैः उभयजज्ञानव्यवच्छेदार्थमिति"। उक्त स्थल में इन्द्रियसन्निकर्ष और शब्द उभयजन्य शाब्दज्ञान होता है और उसमें प्रत्यक्षत्व के निवारण हेतु अव्यपदेश्यं पद आवश्यक होता है – यही आचार्य का अभिमत है। प्रतीत होता है कि जयन्त भट्ट को यही अनुमत है इस मत में उक्त स्थल में इन्द्रियसन्निकर्ष एवं शब्द उभयजन्य जो ज्ञान होता है वह शब्दविषयक नहीं होता। किन्तु व्यपदेश्य अर्थात् शब्दप्रमाणजन्य शाब्दज्ञान होता है। पश्चात् उस व्यक्ति से जिज्ञासा करने पर वह कहता है कि जिसे मैंने पहले प्रत्यक्ष से नहीं समझ सका था कि "यह गौ है" उसे पश्चात् अमुक के वाक्य का श्रवण करके समझ पाया हूँ। अतः मानना होगा कि उक्त ज्ञान प्रत्यक्ष न होकर शाब्द ही होगा। महर्षि ने अव्यपदेश्यं पद से इसी सिद्धान्त की सूचना दी है।

जयन्त भट्ट ने इस विषय में बहुत विचार करके अनेक मत-मतान्तरों की आलोचना

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

की है। किन्तु तात्पर्यटीकाकार वाचस्पति मिश्र ने जिस प्रकार भाष्य के तात्पर्य की व्याख्या की है तदनुसार इन्होंने उक्त मत की आलोचना नहीं की। वाचस्पति मिश्र के मत में प्रत्यक्ष लक्षण सूत्र में अव्यपदेश्यं पद से प्रत्यक्ष का निर्विकल्पकरूप प्रकार भेद ही अभिप्रेत है। वह प्रत्यक्ष के लक्षण हेतु नहीं उक्त है। किन्तु जयन्त भट्ट ने इस विषय में अपने परिज्ञात सभी मतों का उल्लेख एवं व्याख्या करके भी वाचस्पति मिश्र के विशिष्ट मत का उल्लेख नहीं किया है। आगे जाकर यह विषय और अधिक स्पष्ट होगा। वाचस्पति मिश्र ने भी जयन्त भट्ट के विशिष्ट मत का उल्लेख नहीं किया है। जयन्त भट्ट ने इस विषय में अपना मत स्पष्ट करके नहीं कहा। अनेक मतों का उल्लेख एवं विचार करके इन्होंने आगे कहा है –

इत्याचार्यमतानीह दर्शितानि यथागमम्।
यदेभ्यः सत्यमाभाति सभ्यैस्तदवलम्ब्यताम्॥ – न्यायमञ्जरी, पृ. ८८

***भाष्य* – ग्रीष्मे मरीचयो भौमेनोष्मणा संसृष्टाः स्पन्दमाना दूरस्थस्य चक्षुषा सन्निकृष्यन्ते, तत्रेन्द्रियार्थसन्निकर्षादुदकमिति ज्ञानमुत्पद्यते। तच्च प्रत्यक्षं प्रसज्यत इत्यत आह "अव्यभिचारी" ति। यदतस्मिँस्तदिति तद्व्यभिचारि। यत्तु तस्मिँस्तदिति तदव्यभिचारि प्रत्यक्षमिति। दूराच्चक्षुषा ह्ययमर्थं पश्यन्नवधारयति धूम इति वा रेणुरिति वा, तदेतदिन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमनवधारणज्ञानं प्रत्यक्षं प्रसज्यत इत्यत आह "व्यवसायात्मक" मिति।**

न चैतन्मन्तव्यम्, आत्ममनःसन्निकर्षजमेवानवधारणज्ञानमिति। चक्षुषा ह्ययमर्थं पश्यन्नवधारयति यथाचेन्द्रियेणोपलब्धमर्थं मनसोपलभते। एवमिन्द्रियेणानवधारयन् मनसा नावधारयति। यच्च तदिन्द्रियानवधारणपूर्वकं तद् विशेषापेक्षं विमर्शमात्रं संशयो न पूर्णमिति। सर्वत्र प्रत्यक्षविषये ज्ञातुरिन्द्रियेण व्यवसाय उपहतेन्द्रियाणामनुव्यवसायाभावादिति।

अनुवाद – ग्रीष्मकाल में पार्थिव उष्मा के साथ संसृष्ट स्पन्दमान (क्रियाविशिष्ट) सूर्य की किरणें दूरस्थ व्यक्ति की चक्षु से संयुक्त होती हैं। उससे सूर्य की किरणों में इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष से उदक का ज्ञान होता है। वह विपरीत निश्चय रूप भ्रमज्ञान भी प्रत्यक्ष प्रमा हो जाएगा अर्थात् इस भ्रमात्मक प्रत्यक्ष में भी प्रत्यक्ष का लक्षण घटित होता है। अतः इसके निवारणार्थ सूत्र में महर्षि ने अव्यभिचारि पद का निवेश किया है। तद् भिन्न पदार्थ में तद्रूप प्रत्यक्ष (जो वस्तुतः जो पदार्थ नहीं है उसमें उस पदार्थ का प्रत्यक्ष) व्यभिचारी प्रत्यक्ष कहलाता है और तत् पदार्थ में उस यथार्थ पदार्थ के रूप में प्रत्यक्ष जो वस्तुतः जो पदार्थ है उसका उस रूप में प्रत्यक्ष अव्यभिचारी प्रत्यक्ष कहलाता है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

जो व्यक्ति (कोई द्रष्टा) दूर से चक्षुष्इन्द्रिय के द्वारा अर्थ का चक्षुग्राही किसी द्रव्य पदार्थ का दर्शन करके अवधारण नहीं कर पाता कि यह धूम है या धूली पटल? अर्थात् दृश्यमान पदार्थ में धूम और धूली पटल के समान धर्म का दर्शन होने पर यह धूम है या धूली, इस प्रकार का संशय होता है। इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न उस अनवधारण रूप ज्ञान (संशयात्मक ज्ञान) प्रत्यक्षलक्षण से समन्वित हो जाएगा – इसलिए महर्षि ने प्रत्यक्षलक्षणसूत्र में ''व्यवसायात्मक'' पद का समावेश किया है।

अनवधारण ज्ञान (संशयात्मक ज्ञान) आत्ममनःसन्निकर्ष से उत्पन्न होता है, इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से नहीं – यह नहीं माना जा सकता क्योंकि यह व्यक्ति (यह द्रष्टा) चक्षुष् से पदार्थ विशेष का (समान धर्माधर्मी का) दर्शन करके अनवधारण अर्थात् पदार्थ के विशेष रूप में संशय करता है। जैसे इन्द्रिय से उपलब्ध (इन्द्रिय के साथ सन्निकर्ष से युक्त) पदार्थ को मन से (नेत्र के सहायक मन से) उपलब्ध किया जाता है, इन्द्रिय से अनवधृत पदार्थ का मन से अनवधारण किया जाता है। यह इन्द्रिय से अनवधारणपूर्वक इन्द्रियार्थसन्निकर्षपूर्वक मन से अनवधारण विशेषापेक्ष होता है। (इसमें विशेषज्ञान की आकांक्षा रहती है) इसका विमर्श अर्थात् एक धर्मी में विरुद्ध दो धर्मों का ज्ञानरूप संशय प्रत्यक्ष के लक्षण में घटित होकर आपत्ति का जनक होता है। यहाँ इन्द्रिय व्यापार के निवृत्त होने पर केवल आत्ममनःसंयोगजन्य मानससंशय आपत्तिकारी के मन में विद्यमान है, उक्त संशय नहीं। अब इस संशय में प्रत्यक्ष लक्षण के घटित नहीं होने से यह आपत्ति का विषय नहीं होता। सभी प्रत्यक्ष ज्ञान में ज्ञाता का (आत्मा का) इन्द्रिय से व्यवसाय (विषय का सविकल्प ज्ञान) होता है। क्योंकि इन्द्रिय से रहित व्यक्ति का अनुव्यवसाय इन्द्रियजन्यज्ञान का मानस प्रत्यक्ष होता है।

टिप्पणी – प्रत्यक्ष के इस लक्षणसूत्र में महर्षि ने ''अव्यभिचारि'' रूप चतुर्थ पद का एवं व्यवसायात्मकं रूप पञ्चम पद का निवेश किया है। भाष्यकार ने क्रमशः इन दोनों पदों के प्रयोजन की व्याख्या करते हुए कहा है कि ग्रीष्मकाल में पार्थिव ऊष्मा के साथ संसृष्ट और स्पन्दमान सूर्यकिरणों के साथ चक्षुरिन्द्रिय के संयोगरूप सन्निकर्ष से ''यह जल है'' इस प्रकार का भ्रमज्ञान उत्पन्न होता है। इसको मरीचिका में जल का भ्रम कहते हैं। यह जल या जलत्व रूप विशेषण अंश में भ्रम है। इस प्रकार रस्सी में सर्प का भ्रम, शुक्तिका में चाँदी का भ्रम आदि असंख्य भ्रमात्मक प्रत्यक्ष उत्पन्न होते हैं। किन्तु विशेषण अंश में इन सभी भ्रमज्ञानों का करण प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं होता। अतः ये सभी भ्रमात्मक प्रत्यक्ष उक्त प्रत्यक्ष लक्षण के लक्ष्य नहीं होते। अब इन सभी भ्रमात्मक प्रत्यक्षों में इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नत्व एवं अशाब्दनिश्चयात्मकज्ञानत्व रहने से उस प्रत्यक्ष लक्षण

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

में अतिव्याप्ति दोष आता है। इसके वारण हेतु ही महर्षि ने उक्त प्रत्यक्षलक्षणसूत्र में "अव्यभिचारि" पद का समावेश किया है। भाष्यकार ने व्याख्या करते हुए कहा है कि जो पदार्थ नहीं है उसमें उसका उस पदार्थ के रूप में जो प्रत्यक्ष होता वह व्यभिचारी प्रत्यक्ष कहलाता है। भाष्यकार की इस व्याख्या से नैयायिक सम्प्रदाय का भ्रमज्ञान अन्यथा ख्यातिस्वरूप अर्थात् अन्य पदार्थ में अन्य पदार्थ का ज्ञान ज्ञात होता है। (द्रष्टव्य इस ग्रन्थ का पञ्चम खण्ड, बंग संस्करण, पृ. १७३, जहाँ इसकी व्याख्या हुई है)। अन्यथाख्यातिवाद में सत्पदार्थ में सत्पदार्थ का भ्रम होता है अर्थात् भ्रम का विषय असत् या अलीक नहीं होता। वाचस्पति मिश्र के मत में किसी स्थल में अलीक पदार्थ भी विशेष्य या विशेषण के सम्बन्ध रूप में भ्रम का विषय होता है। किन्तु तत्त्वचिन्तामणिकार गङ्गेश उपाध्याय को यह मान्य[४७] नहीं है।

अभिप्राय यह है कि उक्त रूप की सूर्यकिरणों के साथ चक्षुष्इन्द्रिय का संयोग सम्बन्ध रूप सन्निकर्ष होने पर उस किरणसमूह में अन्यत्र पूर्वदृष्टजल का सादृश्य रहने से तज्जन्य जल के विषय में पूर्व का संस्कार उद्बुद्ध होता है। पश्चात् उस संस्कारजन्य पूर्वदृष्टजल का स्मरण होने से उन दृश्यमान सूर्यकिरणों में स्थानान्तर सम्बन्धी उस जल का या जलत्व का भ्रमात्मक प्रत्यक्ष होता है। किन्तु जिस व्यक्ति ने कभी भी जल का दर्शन नहीं किया है उसको जलविषय संस्कार भी नहीं रहता, अतः उसको जल का भ्रम उत्पन्न नहीं होता। अतः जल के विषय में पूर्व संस्कारजन्य उस जल का स्मरण उस भ्रमात्मक प्रत्यक्ष के चरम कारण के रूप में माना जाता है। परवर्ती नैयायिकगण भ्रमात्मक प्रत्यक्ष के स्थल में उस स्मरणात्मक ज्ञान को ही ज्ञानलक्षणरूप अलौकिक सन्निकर्ष कहते हैं। इस सन्निकर्ष से विशेषण अंश में उक्त रूप भ्रम को एक प्रकार का अलौकिक प्रत्यक्ष कहते हैं। क्योंकि भ्रमात्मक प्रत्यक्ष स्थल में यहाँ उस विषय के नहीं रहने से उसके साथ इन्द्रिय का संयोग आदि लौकिक सन्निकर्ष सम्भव नहीं है।

किन्तु इस प्रकार भ्रमज्ञान भी विशेष्यांश में भ्रमरहित होता है। उक्त है कि "धर्मिणि सर्वमभ्रान्तं प्रकारे तु विपर्ययः"। जैसे "इदं जलम्", "अयं सर्पः" आदि रूप में जो

---

[४७] व्याप्तिपञ्चकदीधिति की टीका के अन्त में जगदीश भट्टाचार्य ने कहा है कि "सदुपरागेणा- प्यसतः संसर्गतया भानस्य मणिकृतानङ्गीकारात्"। किन्तु पहले अनुमितिदीधिति की टीका में इन्होंने वाचस्पति मिश्र के मत का भी उल्लेख किया है। यहाँ गदाधर भट्टाचार्य ने कहा है – "अलीकस्य संसर्गतयैव विषयतायाः वाचस्पत्यनुमतत्वात्"। वाचस्पति मिश्र के मत में विशेष्य या विशेषण रूप में अलीक पदार्थ कहीं भी ज्ञान का विषय नहीं है। इस रूप में असत्-ख्यातिवाद उनका सम्मत नहीं है। (दृष्टव्य पञ्चम खण्ड, बंग संस्करण, पृ. १७६ लिखित कथन में यह भी ज्ञातव्य है।)

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

भ्रमात्मक ज्ञान होता है इसमें सम्मुखीन पदार्थ विशेष्य या धर्मी होता है जहाँ इदन्त्व धर्म रूप में उस धर्मी का ज्ञान अभ्रान्त होता है क्योंकि समक्ष में विद्यमान पदार्थ में इदन्त्व धर्म विद्यमान रहता है। अतः इदन्त्व रूप में विद्यमान विशेष्य अंश में यह ज्ञान भ्रमात्मक नहीं होता। जल और जलत्व रूप विशेषण अंश में यह ज्ञान भ्रमात्मक होता है। इसी अभिप्राय से भाष्यकार ने भ्रमज्ञान को व्यभिचारी अर्थात् उस भ्रम विषय का व्यभिचारी कहा है। महर्षि ने सूत्र में यथार्थज्ञान को अव्यभिचारी कहा है। अव्यभिचारी से यहाँ विषय का अव्यभिचारी अर्थात् व्याप्य ज्ञात होता है। अतएव भाष्यकार ने आदिभाष्य में इसी अभिप्राय से प्रमाण पदार्थ को अर्थ का अव्यभिचारी अर्थात् व्याप्य कहा है। यहाँ वाचस्पति मिश्र की व्याख्या भी पहले लिखी गई है। उस व्याख्या के कारण का प्रकाशन करते हुए उदयनाचार्य ने तात्पर्यपरिशुद्धि में कहा है – ''अर्थाव्यभिचारेऽपि व्याप्यव्यापकभावलक्षणः प्रमाणप्रमेययोर्नास्ति''। किसी साक्षात् सम्बन्ध से प्रमाण पदार्थ प्रमेय पदार्थ का व्याप्य नहीं होता। वाचस्पति मिश्र ने ऐसी व्याख्या नहीं की है किन्तु नव्यनैयायिकगण ने विशेष्यता सम्बन्ध से एवं विभिन्न परम्परा सम्बन्ध से व्याप्यत्व स्वीकार किया है। जिस सम्बन्ध से वह व्याप्य होता है उसको व्याप्यतावच्छेदक सम्बन्ध कहते हैं और जिस सम्बन्ध से व्यापक होता है उसे व्यापकतावच्छेदक सम्बन्ध।[४८]

---

[४८] चार्वाक मत के खण्डन में अनुमितिदीधिति के अन्त में रघुनाथ शिरोमणि ने लिखा है कि ''भ्रमस्य विषयबाधाधीनतया''। टीकाकार गदाधर भट्टाचार्य ने इसकी व्याख्या में कहा है – ''विषयबाधाधीनतया विशेष्यतासम्बन्धेन विषयबाधव्याप्यतया''। अर्थात् भ्रमज्ञान के विशेष्य पदार्थ में विशेष्यता सम्बन्ध से वह भ्रमज्ञान रहता है और उसमें उस भ्रमविषय (पदार्थ) का बाध अवश्य रहता है। अतः विशेष्यता सम्बन्ध से भ्रमज्ञान उस विषयभाव का व्याप्य होता है। ऐसी स्थिति में प्रमाज्ञान को भी उस विशेष्यता सम्बन्ध से उस विषय का व्याप्य कहा जाता है और स्वजन्य ज्ञान का विशेष्यता सम्बन्ध से प्रमाण पदार्थ को उस प्रमेय पदार्थ का व्याप्य कहा जाएगा। जैसे जहाँ-जहाँ विलक्षण संयोग सम्बन्ध से धूम रहता है उन सभी स्थानों में संयोग सम्बन्ध से वह्नि रहता है। इसलिए इस संयोग सम्बन्ध से धूम वह्नि का व्याप्य होता है। इसी प्रकार किसी प्रमाण से जन्य प्रमाज्ञान के विशेष्य पदार्थ में स्वजन्य अर्थात् उस प्रमाण से जन्य ज्ञान का विशेष्यता-सम्बन्ध से वह प्रमाणपदार्थ रहता है। उस पदार्थ में विशेषणीभूत वह प्रमेयपदार्थ उस विशेषणतावच्छेदक सम्बन्ध से रहता है। इस तरह से वह प्रमाणपदार्थ उस प्रमेयपदार्थ का व्याप्य होता है और वह प्रमेयपदार्थ विशेषणतावच्छेदक सम्बन्ध से उसका व्यापक। जिस सम्बन्ध से कोई भी पदार्थ विशेषणरूप में ज्ञान का विषय होता है उसे ही विशेषणतावच्छेदक सम्बन्ध कहते हैं। (इस खण्ड का पृ.७० द्रष्टव्य है)

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

प्रश्न उठता है कि प्रमाण के सामान्य लक्षण से ज्ञात होता है कि जो भ्रम प्रत्यक्ष का कारण होता है वह प्रमाण नहीं होता। जिसमें प्रमाण का सामान्य लक्षण समन्वित नहीं होता वह प्रमाण लक्षण नहीं हो सकता। तथापि महर्षि ने प्रत्यक्ष के इस लक्षण सूत्र में अव्यभिचारित्व का निवेश क्यों किया और उसके वक्तव्य होने पर अनुमान आदि प्रमाण के लक्षण में भी इसको क्यों नहीं कहा गया। इसके उत्तर में वाचस्पति मिश्र ने बहुत विचार किया और अन्त में कहा कि प्रत्यक्ष की अव्यभिचारिता से अन्य प्रमाणों की भी अव्यभिचारिता सिद्ध होती है। प्रत्यक्ष के विषय में इस विशेष सूचना से अन्य प्रमाणों में भी इसका समावेश ज्ञात होता है। अतएव प्रत्यक्ष सूत्र में अव्यभिचारि पद का निवेश महर्षि को अभीष्ट है। वाचस्पति मिश्र ने कुमारिल भट्ट की उक्ति से इस बात का समर्थन करते हुए आगे कहा है – ''यथाह मीमांसावार्त्तिककारः–''

प्रत्यक्षाव्यभिचारेण स्वलक्षणबलेन च।
प्रसिद्धाव्यभिचारित्वान्नानुमानं परीक्ष्यते[४९] ॥इति॥

भाष्यकार की उक्त व्याख्या के अनुसार संशयात्मक प्रत्यक्ष भी अव्यभिचारी होता है। दूर से किसी द्रव्य को देखने पर उस द्रव्य में धूम और धूलि के समान धर्म का दर्शन होता है, इससे संशय होता है कि यह धूम है या धूलि? यहाँ इस तत्पदार्थ में तद्बुद्धि विद्यमान है। क्योंकि यह दृश्यमान द्रव्य धूम या धूलि में से एक तो होगा ही। यदि वह धूम होगा तो उसमें धूमबुद्धि तत्पदार्थ में तद्बुद्धि होगी और धूलि होने पर उसमें धूलिबुद्धि तत्पदार्थ में तद्बुद्धि होगी। इस प्रकार के संशय के विशेष्य पदार्थ में विशेषण युगल में से कोई एक जब अवश्य रहेगा तब उक्त संशयात्मक प्रत्यक्ष भी उस प्रकृत विषय का अव्यभिचारी होगा। अभिप्राय यह है कि भाष्यकार ने विपरीत निश्चय रूप भ्रमात्मक प्रत्यक्ष को व्यभिचारी प्रत्यक्ष कहा है। अतएव इस प्रकार संशयात्मक प्रत्यक्ष में भी उक्त प्रत्यक्ष लक्षण का समन्वय होता है। किन्तु इस प्रकार के संशयात्मक प्रत्यक्ष के करण को प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं माना जा सकता। संशयात्मक ज्ञान किसी भी प्रमाण का फल नहीं होता। निश्चयात्मक ज्ञान विशेष ही प्रमाण का फल हेतु है। अतः इस संशयात्मक प्रत्यक्ष के

---

[४९] कुमारिल भट्ट के श्लोकवार्त्तिक के अनुमानपरिच्छेद के आरम्भ में भिन्न प्रकार का श्लोकपाठ उपलब्ध है –

प्रत्यक्षाव्यभिचारित्वादेवंलक्षणकञ्च यत्।
प्रसिद्धमनुमानादि न परीक्ष्यं तदप्यतः॥

पार्थसारथि मिश्र ने इसी पाठ की व्याख्या की है। इससे ज्ञात हाता है कि वाचस्पति मिश्र के बाद या पहले भी देशविशेष में उक्त श्लोकपाठ प्रचलित रहा होगा।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

वारण हेतु महर्षि ने पञ्चम पद व्यवसायात्मकं कहा है। व्यवसाय पद का अर्थ होता है निश्चय। व्यवसायात्मक से निश्चयात्मक अर्थ ज्ञात होता है। चूंकि संशयात्मकज्ञान व्यवसायात्मक नहीं होता, अतः उसमें प्रत्यक्ष लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती।

शंका हो सकती है कि संशय मात्र मानस ज्ञान होता है क्योंकि वह आत्ममनःसन्निकर्ष से उत्पन्न होता है। अतः संशयात्मक ज्ञान में अतिव्याप्ति का वारण तो प्रथम पद ''इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नम्'' से ही हो जाएगा। पुनः शेषोक्त पञ्चम पद व्यवसायात्मकम् की आवश्यकता नहीं है। अतः भाष्यकार ने आगे कहा है – ''न चैतन्मन्तव्यम्''। अवधेय है कि प्राचीन काल में संशय अर्थ में अनवधारण पद का व्यवहार होता रहा है। भाष्यकार कहते हैं कि ऐसा नहीं माना जा सकता कि अनवधारण रूप ज्ञान सर्वत्र आत्ममनःसन्निकर्ष से ही उत्पन्न होता है और वह चक्षुष् आदि किसी बहिरिन्द्रिय से उत्पन्न नहीं होता[१०] क्योंकि पूर्वोक्त प्रकार का संशय करने वाला व्यक्ति चक्षुरिन्द्रिय से विद्यमान पदार्थ का दर्शन करके अनवधारण अर्थात् संशय करता है। जैसे इन्द्रिय से उपलब्ध पदार्थ विशेष को मन से उपलब्ध करता है ऐसे ही इन्द्रिय से अनवधारण करके मन से अनवधारण करता है। वाचस्पति मिश्र ने भाष्यकार की इस बात की व्याख्या में कहा है कि जैसे चक्षुष् इन्द्रियसन्निकर्ष से जन्य पदार्थ को चक्षुष् के सहायक मन से अर्थात् चक्षुष् इन्द्रिय के साथ संयुक्त मन से उपलब्ध करता है उसी प्रकार उक्त स्थल में इन्द्रियार्थसन्निकर्षपूर्वक मन से अनवधारण (संशय) करता है। तात्पर्य यह है कि उक्त संशयात्मक प्रत्यक्ष समक्ष में विद्यमान द्रव्य के साथ चक्षुरिन्द्रिय का सन्निकर्ष नहीं होने पर उत्पन्न नहीं हो सकता। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि उक्त प्रकार का संशय चक्षुरिन्द्रिय से निरपेक्ष होकर केवल मन से उत्पन्न होता है। यहाँ यही मानना होगा कि चक्षुरिन्द्रिय से संयुक्त मन से वह संशय उत्पन्न होता है। अतः उसे चाक्षुष संशय कहना उपयुक्त होगा। क्योंकि बाह्य प्रत्यक्ष में विषय के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष और उस इन्द्रिय के साथ मन का सन्निकर्ष कारण होते हैं। अतः उक्त संशय बाह्य प्रत्यक्ष के रूप में मान्य है।

भाष्यकार ने अपना मूल वक्तव्य व्यक्त करते हुए कहा है कि ''यच्च तदिन्द्रिया-नवधारणपूर्वकम्'' आदि। वार्तिककार के वक्तव्य के अनुसार वाचस्पति मिश्र ने

---

[१०] प्राचीन वैशेषिक आचार्य प्रशस्तपाद भी दो प्रकार के संशय मानते हैं – बाह्य और आन्तर। किन्तु भाष्यकार के विचार से ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में भी एक सम्प्रदाय संशयमात्र को मानस मानता रहा है। किन्तु इस मत के खण्डन हेतु बहुत विचार किया गया है। इस सन्दर्भ में उदयनाचार्य की तात्पर्यपरिशुद्धि तथा वर्धमान की प्रकाशटीका (एशियाटिक संस्करण, पृ. ६३१) और न्यायलीलावतीप्रकाश (चौखम्बा संस्करण, पृ. ४१३) द्रष्टव्य है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

इस भाष्य सन्दर्भ की तात्पर्य व्याख्या में कहा है[५१] कि मानस और बाह्य – इन द्विविध संशय के मध्य इन्द्रिय के द्वारा अनवधारणपूर्वक अर्थात् इन्द्रियार्थसन्निकर्ष संयुक्त मन से जो अनवधारणा होती है वह विशेषापेक्ष विमर्श मात्र संशयात्मक ज्ञान है और वही यहाँ अभिप्रेत है। किन्तु ''न पूर्वं'' अर्थात् जो व्यक्ति (पूर्वपक्षी) मानस संशय को दृष्टान्त रूप में ग्रहण करके संशय मात्र को मानस कहते हैं, वह मानस संशय यहाँ महर्षि को बुद्धिस्थ नहीं है। अर्थात् उक्त बाह्य संशय के वारण हेतु महर्षि ने सूत्र में व्यवसायात्मकं कहा है। इस सन्दर्भ में भाष्यकार के ''न पूर्वं'' उक्ति से सरल रूप से ज्ञात होता है कि इन्द्रियसन्निकर्ष से युक्त मन के द्वारा इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य अनवधारण अर्थात् संशय – ''न पूर्वम्'' प्रथमोक्त मानस अनवधारण नहीं है। अतः संशय मात्र मानस होता है – यह नहीं कहा जा सकता। प्राचीन वैशेषिक आचार्य प्रशस्तपाद ने मानस संशय के उदाहरण में कहा है कि ज्योतिर्विद्पण्डित ग्रहसञ्चार आदि से गणना करके जो फलादेश करते हैं, उन फलों में किसी फल के बाद में मिथ्या होने पर पुनः अन्य समय में गणना के द्वारा जो सभी फलों का निर्णय करता है, उन विषयों में कभी उस ज्योतिर्विद् को प्रामाण्य का संशय उत्पन्न होता है। इस संशय के अव्यवहित पहले उसके कारण रूप में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के नहीं रहने से केवल मन से उत्पन्न अर्थात् मानस प्रत्यक्ष रूप संशय होता है। जयन्त भट्ट ने प्रशस्तपाद के उक्त इस मानस संशय का उल्लेख करके कहा है कि यहाँ यही मनोमात्रजन्य संशय भाष्यकार को अभिप्रेत है। अभिप्राय यह है कि धूम या धूलि के साथ चक्षुःसन्निकर्ष से जन्य जो संशय भाष्यकार ने कहा है वह उक्त रूप मानस संशय नहीं है। किन्तु वह चाक्षुष संशय है – यही भाष्यकार को अभिप्रेत है।

पूर्वपक्षी कह सकता है कि बहिरिन्द्रिय से घट आदि पदार्थ के प्रत्यक्ष होने पर ''मैं घट को जानता हूँ'' इस रूप में मनस् अन्तरिन्द्रिय से उस प्रत्यक्ष का प्रत्यक्ष होता है और तब बाह्य घट आदि पदार्थ मानस प्रत्यक्ष के विषय होते हैं। अतः यह मानना होगा कि बाह्य विषय में भी अन्तःकरणरूप मनस् की प्रवृत्ति होती है। अब यह कहने में कोई भी बाधा नहीं है कि बाह्य विषय में जो संशय होता है वह मानस प्रत्यक्ष है। अतः भाष्यकार ने आगे कहा है – ''सर्वत्र प्रत्यक्षविषये ज्ञातुरिन्द्रियेण व्यवसाय उपहतेन्द्रियाणामनु व्यवसायाभावात्''। भाष्यकार का कहना है कि कहीं भी बाह्य घट आदि के विषय में

---

[५१] ''तदनयोः संशयज्ञानयोर्मध्ये यत्तदिन्द्रियानवधारणपूर्वकमिन्द्रियार्थसन्निकर्षपूर्वकं मनसानवधारणं संशयज्ञानमित्यर्थः। न पूर्वम् यदुपरतेन्द्रियव्यापारस्य संशयज्ञानं दृष्टान्ततया हृदिस्थितं शंकितुरित्यर्थः। दृष्टान्ततया पूर्वत्वम्''। – तात्पर्यटीका

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

स्वतंत्र रूप से मनस् की प्रवृत्ति नहीं होती। बाह्य घट आदि बाह्य विषयों के प्रत्यक्ष में पहले चक्षुरादि इन्द्रियों से प्रत्यक्ष होता है जिसे ''व्यवसाय'' कहते हैं। पश्चात् अन्तःकरण मन से उस प्रत्यक्ष का प्रत्यक्ष होता है जिसे ''अनुव्यवसाय'' कहते हैं। यहाँ विषयरूप में पूर्वोत्पन्न व्यवसाय की कारणता माननी होगी क्योंकि विनष्टेन्द्रिय अन्ध एवं बधिर आदि को जिन्हें इन्द्रिय के अभाव में इन्द्रियजन्य व्यवसायात्मक प्रत्यक्ष उत्पन्न नहीं होता, मन से उनको अनुव्यवसाय भी नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि जिनको बाह्य घट आदि प्रत्यक्ष का मानस प्रत्यक्ष रूप अनुव्यवसाय उत्पन्न होता है उनको इससे पहले घट आदि विषय का व्यवसाय रूप प्रत्यक्ष अवश्य उत्पन्न होता है। अतएव पूर्व उक्त इस अनुव्यवसाय को दृष्टान्त रूप में ग्रहण करके बाह्यविषय में भी स्वतंत्र रूप से मनस् की प्रवृत्ति माननी होगी और बाह्यविषयक संशय को भी मानस संशय के रूप में नहीं माना जा सकता क्योंकि बाह्य प्रत्यक्ष के अनुव्यवसाय स्थल में किसी बहिरिन्द्रिय की अपेक्षा करके ही बाह्य विषय में मनस् की प्रवृत्ति होती है। बाह्य विषय में कहीं भी स्वतन्त्र रूप से मनस् की प्रवृत्ति नहीं होती, अतः उक्त है – ''चक्षुराद्युक्तविषयं परतन्त्रं बहिर्मनः''।

किन्तु घट आदि प्रत्यक्ष का मानस प्रत्यक्ष रूप अनुव्यवसाय कैसे होता है? घट आदि पदार्थ में मन की प्रवृत्ति कैसे होगी? विषय के साथ मनस् का सन्निकर्ष ही मन की प्रवृत्ति है। किन्तु उस सन्निकर्ष का स्वरूप क्या होगा? पुनः बाह्य पदार्थ में वह कैसे सम्भव होगा – यह कहना आवश्यक है। महानैयायिक उदयनाचार्य ने कुसुमाञ्जलि के चतुर्थ स्तबक में चतुर्थ कारिका की व्याख्या के अन्त में स्वयं इन प्रश्नों को उठाकर स्पष्ट रूप से उत्तर देते हुए कहा है – ''ज्ञानेन संयुक्तसमवायः, तदर्थेन संयुक्तसमवेत विशेषणत्वम्'' आदि। तात्पर्यपरिशुद्धि में यही बात संक्षेप में कही गई है।[५२] तात्पर्य यह है कि जिस ज्ञान का मानस प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है उस ज्ञानरूप विशेष्य में विषयिता सम्बन्ध से उसका विषय बाह्य घट आदि पदार्थ विशेषण रूप से उस मानस प्रत्यक्ष का विषय होता है। जैसे घट का प्रत्यक्ष होने पर दूसरे क्षण में ''घटमहं जानामि'' ''मैं घट को जानता हूँ'' – ''मैं घटविषयक ज्ञानवान् हूँ'' इस प्रकार से घट प्रत्यक्ष का मानस प्रत्यक्ष

[५२] ''मनसा ह्यनुव्यवसीयमानज्ञानलक्षणविशेष्यसन्निकृष्टेनासन्निकृष्टो घटादिरवच्छेदकतया प्रतीयते, चक्षुषेव घटसन्निकृष्टेन प्रागुपलब्धा तदवस्था'' (तात्पर्यपरिशुद्धि, पृ. ६३३) मनसेति। मनः संयुक्तात्मसमवेतज्ञानविषयके ज्ञाने संयुक्तसमवेतविशेषणतया प्रत्यासत्त्या घटादिरपि भासते, चाक्षुष इव प्रत्यभिज्ञाने तत्ता इत्यर्थः। (वर्धमानकृत प्रकाशटीका, पृ. ६३२, सोसाइटी संस्करण)

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

होता है। इस स्थल में आत्मा में समवाय सम्बन्ध से वह घट प्रत्यक्ष रूप ज्ञान विशेषण होता है और उस ज्ञान में वह घटविषयिता सम्बन्ध से विशेषण होता है। अतः वहाँ मनः-संयुक्त उस आत्मा में समवेत समवाय सम्बन्ध से विद्यमान रहता है घटविषयक वह प्रत्यक्षज्ञान और ज्ञानरूप विशेष्य में उस घट का विशेषणत्व रूप सम्बन्ध से घट के साथ मनस् का सन्निकर्ष होता है। इसी दृष्टि से उस सम्बन्ध को मन की संयुक्तसमवेत विशेषणता प्रत्यासत्ति (सन्निकर्ष) कहा जाता है। वस्तुतः इस स्थल में वह घट ज्ञान स्वरूप ही है, कोई भिन्न पदार्थ नहीं है। अतएव गङ्गेश उपाध्याय आदि इस सन्निकर्ष को ज्ञानलक्षण कहते हैं। उदयनाचार्य के मत की व्याख्या करते हुए वर्धमान उपाध्याय ने इस ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष को उद्योतकर के अनुसार पष्ठ सन्निकर्ष विशेषणता के अन्तर्गत कहा है – यह बात पहले ही कही जा चुकी है।

मूल बात यह है कि संशय मात्र मानस नहीं होता है। बहिरिन्द्रियजन्य बहुत संशय होते हैं जो इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य अशाब्द एवं अव्यभिचारी ज्ञान होते हैं। भाष्यकार का कहना है कि इसी प्रकार के संशयात्मक प्रत्यक्ष के वारण हेतु महर्षि ने प्रत्यक्ष के लक्षणसूत्र में ''व्यवसायात्मकं'' पद कहा है। न्यायमञ्जरीकार जयन्त भट्ट ने इस प्रकार से सूत्र की व्याख्या का समर्थन किया कि सूत्रोक्त अव्यभिचारी पद से संशयात्मक प्रत्यक्ष का वारण नहीं होता। अतः महर्षि ने व्यवसयात्मकं पद कहा है। सूत्रोक्त सभी विशेषणों से विशिष्ट ज्ञान जिससे उत्पन्न होता है वही है प्रत्यक्ष प्रमाण – यही है सूत्र का अभिप्राय।[५३]

किन्तु तात्पर्यटीकाकार वाचस्पति मिश्र ने किसी कारण से कहा है कि संशयात्मक प्रत्यक्ष भी व्यभिचारी प्रत्यक्ष होता है। क्योंकि वह भ्रमात्मकज्ञान होता है। भ्रमात्मकज्ञान अव्यभिचारी नहीं हो सकता। अतः सूत्रगत ''अव्यभिचारी'' पद से विपर्यय और संशय रूप दोनों प्रकार के भ्रमात्मक प्रत्यक्ष का वारण हो जाएगा। महर्षि ने संशयात्मक प्रत्यक्ष के वारण हेतु व्यवसायात्मकं पद नहीं कहा, किन्तु उस पद से यथार्थ सविकल्पक प्रत्यक्ष मान्य होता है और उसका करण भी प्रत्यक्ष प्रमाण होता है। वाचस्पति मिश्र ने इसके समर्थन में आगे कहा है कि व्यवसाय, विकल्प और विनिश्चय शब्द सविकल्पक प्रत्यक्ष का वाचक होता है। अतः व्यवसायात्मक पद से सविकल्पक प्रत्यक्ष ही ज्ञात होता है। पुनश्च संशयात्मक प्रत्यक्ष के वारण हेतु भाष्यकार तथा वार्त्तिककार ने इसका अन्वाचय भी किया है और इसको उक्त पद का गौण प्रयोजन कहा है। सूत्रगत व्यवसायात्मक पद का यह अर्थ (सविकल्पक रूप अर्थ) और उद्देश्य बहुत स्पष्ट है, शिष्यगण स्वयं समझ

---

[५३] तेनेन्द्रियार्थजत्वादिविशेषणगणान्वितः।
यतो भवति विज्ञानं तत् प्रत्यक्षमिति स्थितम्॥ -- न्यायमञ्जरी, पृ.९२

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

लेंगे – इसलिए भाष्यकार तथा वार्त्तिककार ने इसकी व्याख्या नहीं की। मैंने अपने गुरु त्रिलोचन के उपदेशानुसार ऐसी यथार्थ व्याख्या की है।[५४] अवधेय है कि वाचस्पति मिश्र के मत में सूत्रगत अव्यपदेश्यम् और व्यवसायात्मकं रूप दो पदों से निर्विकल्पक और सविकल्पक रूप दो प्रकार का प्रत्यक्ष सूचित होता है। उक्त दोनों ही पद प्रत्यक्ष के लक्षण हेतु नहीं हैं। वृत्तिकार विश्वनाथ ने वाचस्पति मिश्र के मत का ग्रहण कर यहाँ व्याख्या की है – "तस्य विभागः, अव्यपदेश्यम् व्यवसायात्मकमिति निर्विकल्पकं सविकल्पकं चेति द्विविधं प्रत्यक्षमित्यर्थः"।

त्रिलोचन आचार्य के उपदेश के अनुसार वाचस्पति मिश्र ने उद्योतकर के न्यायवार्त्तिक की व्याख्या की है। उदयनाचार्य ने तात्पर्यपरिशुद्धि के आरम्भ में ही यह बात कही है। उद्योतकर ने ऐसी बात (सविकल्पक और निर्विकल्पक की चर्चा) नहीं की है। इन्होंने सूत्रगत पाँचों ही पदों को कहा है (पृ. ९२ द्रष्टव्य है) और सबसे अंत में इन्होंने स्पष्ट कहा है – "पञ्चपदपरिग्रहेण प्रत्यक्षलक्षणमुक्तम् यत्रान्यतर-पदपरिग्रहो नास्ति तत् प्रत्यक्षाभासमिति"। लक्षणगत उन पाँच पदों में से जिस किसी एक पद का परित्याग करने पर प्रत्यक्षलक्षण की अतिव्याप्ति होती है वह भी वहाँ कहा गया है। वाचस्पति मिश्र ने यहाँ उसी प्रकार इन सभी बातों की व्याख्या की है तथापि उद्योतकर के मत की व्याख्या में उन्होंने उक्त व्याख्या (सविकल्पक निर्विकल्पक प्रभेद) क्यों नहीं की है – यह समझ में नहीं आता। सूत्रगत व्यवसायात्मक पद से सविकल्पक प्रत्यक्ष का ग्रहण रूप अर्थ अति स्पष्ट होने से शिष्यगण स्वयं समझ ही जाएंगे – अतः भाष्यकार तथा वार्त्तिककार ने वैसी व्याख्या नहीं की किन्तु उक्त पद के गौण उद्देश की व्याख्या की है। यह बात भी समझ में नहीं आती। सूत्रगत व्यवसायात्मक पद का उक्त रूप उद्देश्य प्रकृत होने पर उसको न कहकर अनावश्यक बात क्यों कहेंगे? सूत्र में यदि प्रत्यक्ष का प्रकार भेद महर्षि को विवक्षित होता तो जैसे अनुमान सूत्र (१.१.१५) में त्रिविधं कहा है वैसे इस सूत्र में भी द्विविधं कहते अथवा परवर्ती पञ्चम सूत्र में ही त्रिविधं क्यों कहते। इस प्रसंग में उस सूत्र के भाष्य में भाष्यकार का वक्तव्य द्रष्टव्य है। प्रतीत होता है कि वस्तुतः बौद्ध मत

[५४] व्यवसायात्मकपदं साक्षात् सविकल्पकस्य वाचकम्। तथाहि व्यवसायो विनिश्चयो विकल्प इत्यनर्थान्तरम्। स एवात्मा रूपं यस्य तत् सविकल्पकप्रत्यक्षम्। तदेतदतिस्फुटत्वात् शिष्यैर्गम्यत एवेति भाष्यवार्त्तिककाराभ्यामव्याख्यातम्। अस्माभिः –

त्रिलोचनगुरून्नीतमार्गानुगमनोन्मुखैः।
यथामानं यथावस्तु व्याख्यातमिदमीदृशम्॥ – तात्पर्यटीका

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

के खण्डन में नितान्त आग्रह के कारण त्रिलोचन गुरु के उपदेशानुसार वाचस्पति मिश्र ने सूत्रगत अव्यपदेश्यम् और व्यवसायात्मकम् रूप दो पदों से ऐसे प्रयोजन का व्याख्यान किया है। किन्तु यह प्राचीन व्याख्या नहीं है। जैन दार्शनिक हेमचंद्र ने प्रमाण-मीमांसा में कहा है[५५] कि त्रिलोचन और वाचस्पति मिश्र आदि विद्वद्वृन्द ने गौतम के प्रत्यक्षलक्षणसूत्र की पूर्व आचार्यकृत व्याख्या में वैमुख्य के कारण ऐसे अर्थ का समर्थन किया है। हेमचंद्र के पूर्ववर्ती जयन्त भट्ट ने अनेक प्राचीन मतों का वर्णन किया है किन्तु वाचस्पति मिश्र की ऐसी व्याख्या का उल्लेख नहीं किया। यदि वे वाचस्पति मिश्र की तात्पर्यटीका देखे होते तो उनकी बातों की आलोचना आवश्य करते। बाद में भी कहीं तात्पर्यटीका का सन्दर्भ इन्होंने उद्धृत नहीं किया, ऐसा हमें प्रतीत होता है।[५६] यहाँ यह भी लक्ष्य करने योग्य है कि जयन्त भट्ट ने आगे जाकर (पृ.१०९) ईश्वर कृष्ण के प्रत्यक्ष लक्षण के खण्डन में सांख्यकारिका की प्राचीन व्याख्या राजवार्त्तिक का उल्लेख किया है किन्तु वाचस्पति मिश्र की तत्त्वकौमुदी का उल्लेख नहीं किया। यदि वे तत्त्वकौमुदी देखे होते तो उस प्रकार का दोष नहीं दिखाते।

***भाष्य* – आत्मादिषु सुखादिषु[५७] च प्रत्यक्षलक्षणं वक्तव्यमनिन्द्रियार्थसन्निकर्षजं हि तदिति। इन्द्रियस्य वै सतो मनस इन्द्रियेभ्यः पृथगुपदेशो धर्मभेदात्। भौतिकानीन्द्रियाणि नियतविषयाणि, सगुणानां चैषामिन्द्रियभाव इति। मनस्त्वभौतिकं सर्वविषयञ्च, नास्य सगुणस्येन्द्रियभाव इति। सति**

---

[५५] अत्र च पूर्वाचार्यकृतव्याख्यावैमुख्येन संख्यावद्भिस्त्रिलोचनगुरुवाचस्पतिप्रमुखैरयमर्थः समर्थितो यथा इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यभिचारि प्रत्यक्षमित्येवं प्रत्यक्ष लक्षणं यतः शब्दाध्याहारेण चे'त्यादि। – प्रमाणमीमांसा, पृ. ३६

[५६] जयन्त भट्ट आगे (पृ. ३१२) जाति का समवाय सम्बन्ध समर्थन करते हुए लिखते हैं – ''तदपि परिहृतमाचार्यैः। जातञ्च संबद्धञ्चेत्येकः काल इतिवदद्भिः''। यहाँ आचार्य पद से वाचस्पति का ग्रहण करने का कोई भी कारण नहीं है। इसके बहुत पहले अवयव रूप द्रव्य में अवयवी द्रव्य के समवाय सम्बन्ध का समर्थन करते हुए न्यायवार्त्तिक (२.१.३३) में उद्योतकर ने लिखा है – ''जातः संबद्धश्चेत्येकः कालः'' वाचस्पति मिश्र ने तात्पर्यटीका (पृ. २६७) में इसका अनुवाद किया है। जयन्त भट्ट इस सन्दर्भ में आचार्यशब्द से उद्योतकर का ग्रहण कर सकते हैं किन्तु तात्पर्यटीका के संदर्भ को उद्धृत नहीं करते।

[५७] ''सुखादिषु'' पद में आदि पद से अनित्य ज्ञान, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न और दुःख, इसी प्रकार ''आत्मादिषु'' पद में आदि शब्द से ज्ञानत्वादिजाति गृहीत होता है। ''भाष्ये-चात्मादिषु सुखादिष्विति नित्यानित्याभिप्रायं वर्गद्वयम् आत्मसुखत्वादयो नित्या अनित्याश्च सुखदुःखादय इति''। – तात्पर्यटीका

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

चेन्द्रियार्थसन्निकर्षे सन्निधिमसन्निधिं चास्य युगपज् ज्ञानानुत्पत्तिकारणं वक्ष्याम इति। मनसश्चेन्द्रियभावान्न वाच्यं लक्षणान्तरमिति। तन्त्रान्तरसमाचाराच्चैतत् प्रत्येतव्यमिति। परमतमप्रतिषिद्धमनुमतमिति हि तन्त्रयुक्तिः। व्याख्यातं प्रत्यक्षम्। १.१.४।

अनुवाद – (पूर्वपक्ष) आत्मा आदि एवं सुख आदि के विषय में प्रत्यक्ष का (दूसरा) लक्षण कहना होगा। क्योंकि आत्मा एवं सुख आदि का प्रत्यक्ष इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से नहीं होता। (उत्तर) इन्द्रिय रूप में ही विद्यमान मन का धर्म भेद के कारण (घ्राण आदि इन्द्रियों के वैधर्म्य के कारण) उसका इन्द्रिय वर्ग से अलग उपदेश हुआ है। जिन धर्मों के भेद के कारण मनस् का पृथक् उपदेश हुआ है उन धर्मों को क्रमशः दिखाते हैं। इन्द्रिय समूह (घ्राण आदि पाँच बहिरिन्द्रियाँ) भौतिक (भूतजन्य वा भूतात्मक) होते हैं, नियतविषयक होते हैं (उनके विषयों का नियम है) और गुणविशिष्ट होने से इनका (घ्राण आदि का) इन्द्रियत्व होता है। मनस् किन्तु भौतिक नहीं होता, इनके विषय सभी होते हैं, नियतविषयता इनकी नहीं होती और गुणविशिष्ट होने पर भी इसमें इन्द्रियत्व नहीं है। इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष होने पर मन की सन्निधि एवं असन्निधि अर्थात् किसी एक इन्द्रिय के साथ मनस् का संयोग एवं उस समय में मन का अन्य इन्द्रिय से असंयोग को एक काल में ज्ञान की अनुत्पत्ति का (अर्थात् एक समय में अनेक इन्द्रियजन्य अनेक प्रत्यक्ष नहीं होने का) कारण (प्रयोजक) कहा जाएगा। अतः मनस् का इन्द्रियत्व होने से (मानस प्रत्यक्ष का) दूसरा लक्षण नहीं कहना है।

तन्त्रान्तर समाचार अर्थात् शास्त्रान्तर का संवाद या अविरोध के कारण मनस् का इन्द्रियत्व ज्ञात होता है। क्योंकि अप्रतिषिद्ध परमत भी अनुमत होता है – ऐसी तन्त्र-युक्ति है। प्रत्यक्ष की व्याख्या हुई।

टिप्पणी – महर्षि के प्रत्यक्ष लक्षण की व्याख्या करते हुए भाष्यकार ने अंत में एक पूर्वपक्ष उठाया है कि महर्षि ने इन्द्रिय के विभागसूत्र में इन्द्रियों में मनस् का उल्लेख नहीं किया। प्रतीत होता है कि इनके मत में मनस् इन्द्रिय नहीं है। अब मनस् से आत्मा और सुख-दुःख आदि अनेक पदार्थों का जो प्रत्यक्ष होता है तो उन सभी मानस प्रत्यक्षों में इस लक्षण की अव्याप्ति होगी। क्योंकि ऐसे प्रत्यक्ष इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न नहीं होते। अतः इन मानस प्रत्यक्षों की उपपत्ति हेतु प्रत्यक्ष का दूसरा ही लक्षण कहना होगा। इसके उत्तर में भाष्यकार ने कहा है कि ''इन्द्रियस्य वै'' आदि। यहाँ वै शब्द का अर्थ अवधारण होता है। ''इन्द्रियस्य वै'' का अर्थ ''इन्द्रियस्यैव'' होता है। भाष्यकार

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

का आशय है कि महर्षि गौतम के मत में मनस् इन्द्रिय है। तथापि उन्होंने मनस् का इन्द्रिय से अलग उपदेश किया है, उसका कारण है धर्मभेद। घ्राण आदि पाँच इन्द्रियों से मन का वैधर्म्य देखा जाता है। आगे भाष्यकार ने उन सभी वैधर्म्यों को दिखाया है। घ्राण आदि पाँच इन्द्रियाँ भौतिक हैं और उनके विषयों का नियम है। वे गन्ध आदि सभी गुणों का प्रत्यक्ष कराती हैं । इन्द्रियों का गन्ध आदि गुणविशिष्ट होने से ही इन्द्रियत्व होता है किन्तु मनस् इसके विपरीत होता है। मन भौतिक नहीं होता, वह सर्वविषयक होता है अर्थात् मनस् के ग्राह्य विषय का कोई नियम नहीं है। सभी विषयक ज्ञानों में मनस् आवश्यक है। मनस् में गन्ध आदि गुणों के नहीं रहने पर भी वह गन्ध आदि गुणों का ग्राहक होता है। किन्तु उद्योतकर यहाँ भाष्यकार के अभिहित समस्त वैधर्म्यों का ग्रहण नहीं करते। इनकी दृष्टि में अभौतिकत्व अनित्य पदार्थ का ही धर्म होता है। अतः वह नित्य पदार्थ मनस् का धर्म नहीं हो सकता। यदि ऐसा ही मान्य हो तो नित्य श्रवणेन्द्रिय में भी अभौतिकत्व मानना होगा। अतः इन्द्रिय और मनस् का वैधर्म्य है सर्वविषयत्व और असर्वविषयत्व। मनस् सर्वविषयक होता है – ''मनः सर्वविषयं स्मृतिकारण-संयोगाधारत्वात् आत्मवत्'' इस प्रकार के अनुमान से मनस् का सर्वविषयत्व सिद्ध होता है। भाष्यकार ने आगे कहा है कि विभिन्न विषयों के साथ एक समय में विभिन्न इन्द्रियों का सन्निकर्ष रहने पर भी अतिसूक्ष्म मन का अनेक इन्द्रियों के साथ एक समय में संयोग सम्भव नहीं होने से एक काल में अनेक इन्द्रियजन्य अनेक विषयों का अनेक प्रत्यक्ष उत्पन्न नहीं होता। एक काल में एक इन्द्रिय के साथ मनस् की सन्निधि या संयोग और दूसरी इन्द्रिय के साथ मनस् का असंयोग ही एक काल में अनेक प्रत्यक्ष नहीं होने देता। अतः इसका प्रयोजक या हेतु उक्त इन्द्रिय संयोग एवं असंयोग को मानना होगा। महर्षि ने स्वयं आगे यह बात कहकर मनस् के अस्तित्व का साधक अनुमान प्रमाण प्रदर्शित किया है। इसे अवसर आने पर कहा जाएगा।

अभिप्राय यह है कि महर्षि गौतम के मत में मन भी इन्द्रिय है। अतः मानस प्रत्यक्ष का दूसरा लक्षण नहीं करना है – ''न वाच्यं लक्षणान्तरं'' महर्षि गौतम के मनस् के अस्तित्व साधक प्रमाण आदि कहने पर भी यह ज्ञात नहीं होता कि इनके मत में मनस् इन्द्रिय है। अतः यह कैसे समझा जाए? अतः वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि इसके लिए भाष्यकार ने आगे कहा है – ''तन्त्रान्तरसमाचाराच्च'' इत्यादि। ''तन्त्र्यते व्युत्पाद्यतेऽनेनेति तन्त्रम्'' इस व्युत्पत्ति के अनुसार तन्त्र पद का अर्थ होता है शास्त्र। दूसरे शास्त्र में मनस् का इन्द्रियत्व कहा गया है। महर्षि ने उसका खण्डन नहीं किया है। अतः प्रतीत होता है कि वह उनको अनुमत है। क्योंकि परमत का निराकरण नहीं होने

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

पर वह अनुमत होता है – ऐसी तन्त्रयुक्ति है[५८]।

भाष्यकार के प्रतिवादी बौद्ध आचार्य दिङ्नाग ने पश्चात् अपने मत के समर्थन के उद्देश्य से कहा है कि[५९] न्यायसूत्रकार के मत में या तो सुख आदि प्रमेय मान्य नहीं है और या फिर मनस् नामक भिन्न इन्द्रिय भी मान्य नहीं है। यदि कोई कहे कि सूत्रकार ने मनस् के इन्द्रियत्व का खण्डन नहीं किया है अतएव उसका इन्द्रियत्व उनको मान्य है तो उत्तर है – ''अन्येन्द्रियरुतं वृथा''। तब घ्राण आदि पञ्चेन्द्रिय का कथन व्यर्थ हो जाएगा। इन इन्द्रियों का खण्डन नहीं करने से ही वह अनुमत होता है। जब उन्होंने घ्राण आदि पाँच इन्द्रियों का उल्लेख किया है तब प्रतीत होता है कि इनके मत में मनस् का इन्द्रियत्व मान्य नहीं है। न्यायवार्त्तिक में उद्योतकर ने दिङ्नाग के नामोल्लेख के बिना इस बात का निराकरण करने के लिए कहा है – ''न भवता तन्त्रयुक्तिः परिज्ञायते''। उक्त तन्त्रयुक्ति को समझे बिना ही इस प्रकार बिना मूल का खण्डन आप करते हैं। कोई भी व्यक्ति अपना मत यदि नहीं कहता है तो उसका अपना मत क्या है और परमत क्या है – यह समझ में नहीं आता। किसी विषय में अपना मत कहकर उसके अविरुद्ध परमत का खण्डन नहीं करने पर उस परमत को अनुमत कहा जाता है। ऐसे स्थल में तन्त्रयुक्ति होती है। वस्तुतः महर्षि ने इन्द्रिय का उल्लेख किए बिना उनके द्वारा अवश्य वक्तव्य द्वादश प्रमेयों का कथन सम्भव नहीं था। आत्मा आदि बारह प्रमेयों में तीसरा प्रमेय इन्द्रिय है। इन्द्रिय के उद्देश्य के बिना उसका लक्षण और परीक्षा भी सम्भव नहीं है। अन्यथा शिष्यवृन्द को इन्द्रियतत्त्व का परिज्ञान नहीं हो सकता। परन्तु महर्षि ने मनस् के तत्त्वज्ञान सम्पादनार्थ बारह प्रमेयों में मनस् का अलग से उल्लेख करके तृतीय प्रमेय इन्द्रिय के विभागसूत्र में मनस् का उल्लेख नहीं किया – यह समझना भी आवश्यक है।

प्रश्न आता है कि अन्य शास्त्र में तो मनस् की तरह वाक्, पाणि, पाद, पायु तथा उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ भी उक्त हैं। मनु ने कहा है – ''एकादशेन्द्रियाण्याहुर्यानि पूर्वे मनीषिणः। एकादशं मनो ज्ञेयम्'' (अ. २ श्लोक ९१-९२) यहाँ पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और मनस् का ग्रहण करके एकादश इन्द्रियाँ उक्त हुई हैं। इस मत की प्राचीनता

---

[५८] सुश्रुत ग्रन्थ के उत्तरतन्त्र में बत्तीस (३२) प्रकार की तन्त्र युक्तियों का लक्षण और उदाहरण कहा गया है। उनमें एक का नाम अनुमत है। परमतमप्रतिषिद्धमनुमतं भवति, यथा अन्यो ब्रूयात् सप्तरसा इति (सुश्रुत)। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के उपसंहार भाग में भी इन सभी तन्त्र युक्तियों का उल्लेख है।

[५९] न सुखादि प्रमेयं वा मनो वास्तीन्द्रियान्तरम्।
अनिषेधादुपात्तं चेदन्येन्द्रियरुतं वृथा॥ – प्रमाणसमुच्चय, प्रथम परिच्छेद

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

को समझाने के लिए ही कहा गया है – ''यानि पूर्वे मनीषिणः''। किन्तु महर्षि गौतम ने उक्त वाक् तथा पाणि आदि के इन्द्रियत्व का खण्डन नहीं किया है तो क्या इनको उनका सम्मत माना जाएगा? इस विषय में वाचस्पति मिश्र ने आगे कहा है कि महर्षि गौतम ने विचार करके बहिरिन्द्रिय के पञ्चत्व सिद्धान्त का समर्थन किया है और वाक् तथा पाणि आदि पाँच कर्मेन्द्रियाँ इनके मत में इन्द्रिय नहीं मानी गई हैं। प्रतीत होता है कि शास्त्र में इनमें इन्द्रिय शब्द का गौण प्रयोग हुआ है। वाचस्पति मिश्र ने इसमें यहाँ युक्ति भी कही है – (द्रष्टव्य इस ग्रन्थ का तृतीय खण्ड, बंग संस्करण, पृ. १५३)। वस्तुतः महर्षि गौतम के मत में मनस् भी इन्द्रिय है किन्तु यह कैसे ज्ञात हो सकता है – इस विषय में यहाँ भाष्यकार ने आगे गौण रूप से तन्त्रान्तर समाचार को हेतु कहा है। भाष्यकार के ''तन्त्रान्तरसमाचाराच्च'' इस वाक्य में च शब्द समुच्चयार्थक नहीं है किन्तु अन्वाचयार्थक प्रतीत होता है। अतः च शब्द से उस हेतु का अप्राधान्य ही ज्ञात होता है।[६०] अब जिज्ञासा होती है कि भाष्यकार की दृष्टि में प्रधान या प्रकृत हेतु क्या है? जिससे गौतम के मत में मनस् का इन्द्रियत्व ज्ञात होगा? इसके उत्तर में कहना है कि इस प्रत्यक्षलक्षणसूत्र से ज्ञात होता है कि मनस् भी इनके मत में इन्द्रिय है। क्योंकि इनके मत में ज्ञान का जो मानस प्रत्यक्ष होता है उसका वह आगे – ''ज्ञानविकल्पानां भावाभाव-संवेदनादध्यात्मम्'' (५.१.३१) सूत्र के द्वारा कहा है। यदि इनके मत में मनस् इन्द्रिय नहीं होता तो यह बात वे नहीं कहते। क्योंकि पहले ही प्रत्यक्ष लक्षण में उन्होंने ''इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानम्'' कहा है। किन्तु घ्राण आदि इन्द्रियों से मनस् के वैशिष्ट्य के कारण मनस् के विशेष रूप से तत्त्वज्ञान के लिए महर्षि ने प्रमेय पदार्थों में इन्द्रिय से पृथक् रूप में मनस् का उल्लेख किया है। उपनिषद् में भी इसी कारण से इन्द्रिय से पृथक् मनस् का उल्लेख हुआ है। इसी के अनुसार चरक संहिता में कहा गया है – ''मनो दशेन्द्रियाण्यर्थाः''। ''बुद्धीन्द्रियमनोऽर्थानाम्'' (शरीरस्थान, अ. १ श्लोक १५-२३)।

---

[६०] जैसे किसी ब्रह्मचारी वटुक को गुरु कहता है – ''भो वटो ! भिक्षामट यदि पश्यसि गां चानय''। इस वाक्य में च शब्द का अर्थ अन्वाचय होता है। यहाँ ब्रह्मचारी का भिक्षाचरण ही प्रधान कर्त्तव्य है और सम्भव होने पर गो का आनयन भी कर्त्तव्य है, गो के नहीं लाने से भी कोई हानि नहीं होती। उक्त वाक्य से गुरु का यही विवक्षित है। अतः च शब्द का अर्थ सर्वत्र समुच्चय नहीं होता। पूर्वाचार्यगण ऐसे स्थलों में च शब्द और तदर्थक अपि शब्द का अन्वाचय नामक एक पृथक् अर्थ मानते हैं। अतः अनेक ग्रन्थों में टीकाकार ऐसे स्थलों में ''अन्वाचये चकारः'' ''चकारस्यान्वाचयशिष्टत्वात्'' लिखते हैं। इस सूत्र के व्यवसायात्मकं पद की व्याख्या में वाचस्पति मिश्र का अभिप्राय भी द्रष्टव्य है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

पश्चाद्वर्ती नव्यवेदान्ती धर्मराजाध्वरीन्द्र ने वेदान्तपरिभाषा में उपनिषद् में उक्त इन्द्रियों से भिन्न मनस् का पृथक् से उल्लेख दिखाकर मनस् का इन्द्रियत्व नहीं माना। शारीरकभाष्य में आचार्य शंकर ने मनस् को इन्द्रिय[६१] कहा है। यहाँ यह भी देखना है कि भामती टीकाकार वाचस्पति मिश्र ने भी इसका समर्थन करते हुए उपनिषद् में इन्द्रिय वर्ग से पृथक् मनस् के उल्लेख को उपर्युक्त कारण ही कहा है। वेदान्तपरिभाषाकार ने इन बातों का उल्लेख नहीं किया है किन्तु इन्होंने कहा है कि "मन: षष्ठानीन्द्रियाणि" नामक भगवद्गीतोक्त वाक्य से मनस् का इन्द्रियत्व सिद्ध नहीं होता। गीता में मनस् का इन्द्रियत्व प्रतिपादित नहीं है। किन्तु भगवद्गीता के दशम अध्याय में "इन्द्रियाणां मनश्चास्मि" वाक्य से सरल रूप में ही स्पष्ट ज्ञात होता है कि मनस् का इन्द्रियत्व सिद्ध है। भाष्यकार शंकर भगवत्पाद आदि ने भी यहाँ अन्य प्रकार की व्याख्या नहीं की है और न तो कर ही सकते हैं। इन्होंने "इन्द्रियाणां मनश्चास्मि" का उल्लेख नहीं किया। अत: वेदान्तपरिभाषाकार के इस नवीन मत को वेदान्त मत नहीं समझा जा सकता क्योंकि वेदमूलक स्मृतिशास्त्र में मनस् का इन्द्रियत्व प्रतिपादित है। उसी के अनुसार शंकर भगवत्पाद ने उक्त सिद्धान्त (मनस् का इन्द्रियत्व) स्वीकार किया है। सांख्यशास्त्र के आचार्यगण मनस् को इन्द्रिय कहते हैं। पूर्वमीमांसादर्शन में महर्षि जैमिनि ने "सत् सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षम्" सूत्र में इन्द्रिय पद से मनस् का भी ग्रहण किया है। इस प्रत्यक्ष सूत्र के वार्त्तिक में कुमारिल भट्ट ने स्पष्ट कहा है – "मनसस्त्विन्द्रियत्वेन सुखदु:खादिबुद्धिषु" इत्यादि (श्लोक १२६)।

उपर्युक्त जैमिनिसूत्र में संशयादि प्रत्यक्ष के वारक किसी पद का प्रयोग नहीं रहने से उद्योतकर ने जैमिनि के प्रत्यक्ष लक्षण को अलक्षण कहा है तथा वृद्ध सांख्य वार्षगण्य के लक्षण[६२] का भी निराकरण किया है। क्योंकि संशय एवं विपर्यय तथा भ्रमात्मक प्रत्यक्ष में इस लक्षण की अतिव्याप्ति होती है। पश्चात् मीमांसा के आचार्यवृन्दों ने अनेक प्रकार

---

६१ स्मृतौ त्वेकादशेन्द्रियाणीति मनोऽपीन्द्रियत्वेन श्रोत्रादिवत् संगृह्यते। – शारीरकभाष्य २.४.९६

६२ "वार्षगण्यस्यापि लक्षणमयुक्तमित्याह – श्रोत्रादिवृत्तिरिति। पञ्चानां खल्विन्द्रियाणामर्थाकारेण परिणतानामालोचनमात्रं वृत्तिरिष्यते। सा च संशयादिव्यापकत्वादलक्षणमिति"। (तात्पर्यटीका, पृ. १०३) जयन्त भट्ट ने वार्षगण्य के इस मत के खण्डन में कहा है – "श्रोत्रादिवृत्तिरपरैरविकल्पिकेति प्रत्यक्षलक्षणमवर्णि तदप्यसारम्" इत्यादि। (न्यायमञ्जरी, पृ.१००) प्रमाणसमुच्चय की वृत्ति में इसका कापिलमत के रूप में और जैन हेमचंद्र की प्रमाणमीमांसा में वृद्ध सांख्यमत के रूप में उल्लेख हुआ है। सांख्यकारिका की युक्तिदीपिका में वार्षगण्य के बहुत मत मिलते हैं। किन्तु वार्षगण्य का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

से जैमिनि के प्रत्यक्ष लक्षण की व्याख्या करके अपने-अपने मत से इस लक्षण का परिष्कार किया है। किन्तु जयन्त भट्ट ने इनका प्रतिवाद करके गौतम के प्रत्यक्ष लक्षण का समर्थन किया है। इस प्रसंग में इन्होंने बहुत विचार करके कहा है कि योगी विशेष के योगज सन्निकर्ष से उत्पन्न अलौकिक प्रत्यक्ष और एक काल में सर्वविषयक प्रत्यक्ष रूप सर्वज्ञता उत्पन्न होती है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि मीमांसक के प्रत्यक्ष सूत्र में जैमिनि ने धर्म के विषय में प्रत्यक्ष को अप्रमाण कहा है। क्योंकि योगी विशेष का अलौकिक प्रत्यक्ष भी धर्म के विषय में प्रमाण हो सकता है। किन्तु जयन्त भट्ट के ऐसा कहने का मूल है मनु का यह वक्तव्य जो – ''वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद् विदाम्'' – धर्म के विषय में स्मृतिशास्त्र और सदाचार का प्रामाण्य भी वेदमूलकता के कारण मान्य है। उदयनाचार्य आदि नैयायिकगण ने भी विचार करके ही इस सिद्धान्त का समर्थन किया है। जयन्त भट्ट ने भी बाद में (पृ. २६४) इसको मान लिया है। ऋषिवृन्द वेद की अपेक्षा न करके केवल अदृष्ट का प्रत्यक्ष करके ही स्मृति की रचना नहीं कर सकते। इसी तात्पर्य से कुसुमाञ्जलि (२.३ में) उदयनाचार्य ने कहा है – ''मन्वादीनामतीन्द्रियार्थदर्शने प्रमाणाभावात्'' । भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में कहा है – ''ऋषीणामपि यज्ज्ञानं तदप्यागमहेतुकम्'' । वेद के अनुसार अनेक जन्मों की साधना के उपरान्त योग संसिद्ध महर्षिवृन्द को सर्वज्ञता का लाभ होता है, ऐसा योगशास्त्र में कहा गया है। उपनिषद् में भी एक विज्ञान से सर्वविज्ञान के लाभ की बात उपदिष्ट है। न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय भी योगी के योगजसन्निकर्षजन्य सर्वविषयक अलौकिक प्रत्यक्ष का समर्थन करता है। किन्तु मीमांसाचार्य प्रभाकर और कुमारिल भट्ट आदि ने योगी के अलौकिक प्रत्यक्ष एवं सर्वज्ञपुरुष के अस्तित्व का खण्डन किया है। किन्तु उनका यह मत उद्देश्यमूलक प्रौढ़िवाद भी कहा जा सकता है। वेद किसी पुरुष की रचना नहीं है, वह नित्य है और धर्म के विषय में किसी का प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं हो सकता। आदि-आदि मीमांसाचार्यों की वेद के प्रति एक असामान्य निष्ठा ही है।

पूर्वमीमांसादर्शन में महर्षि जैमिनि ने सर्वज्ञ परमेश्वर के अस्तित्व का प्रतिवाद नहीं किया है। वेदान्तदर्शन में महर्षि बादरायण ने अनेक वेदान्त सिद्धान्तों में जैमिनि के मत विशेष का उल्लेख किया है और स्वर्ग से भिन्न मुक्ति और सर्वज्ञ ईश्वर को जैमिनि का सम्मत कहा है। पूर्वमीमांसादर्शन में जैमिनि ने इन्द्रियों के लौकिक सन्निकर्ष से उत्पन्न प्रत्यक्ष को वर्तमानविषयक कहा है। इसके अनुसार श्लोकवार्तिक में कुमारिल भट्ट ने कहा है – ''सम्बद्धं वर्तमानञ्च गृह्यते चक्षुरादिना'' (सूत्र ४ श्लोक ८४)। यह हम लोगों के समझ में नहीं आता है कि जैमिनि के मत में महायोगी के मन से भी कभी अतीत और भविष्यत् पदार्थ के विषय में प्रत्यक्ष उत्पन्न नहीं होता और उत्पन्न हो भी नहीं

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

सकता। जयन्त भट्ट कहते हैं कि कुमारिल भट्ट ने आगे जाकर भविष्यत् पदार्थ का प्रत्यक्ष स्वीकार किया है। वस्तुतः योगशक्ति के असाधारण प्रभाव से अनेक महायोगी जातिस्मर भी हुए हैं और अनेक योगियों ने अतीत और भविष्यत् सभी प्रकार के विषयों का प्रत्यक्ष किया है – इसमें बहुत प्रमाण उपलब्ध हैं। किसी तर्क से उन सभी योगसिद्ध महर्षियों की त्रिकालदर्शिता का अपलाप नहीं किया जा सकता। जैन सम्प्रदाय ने व्यक्ति विशेष की सर्वज्ञता[६३] का समर्थन किया है। बौद्ध आचार्य धर्मकीर्ति ने चतुर्विध प्रत्यक्ष का निरूपण करते हुए कहा है – ''भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्तजं योगिज्ञानञ्चेति'' (न्यायबिन्दु)। किन्तु बौद्ध मत में योगियों का भी निर्विकल्प प्रत्यक्ष ही प्रमाण होता है। किसी का भी सविकल्प प्रत्यक्ष प्रमाण रूप में मान्य नहीं है।

क्षणभंगवादी बौद्ध सम्प्रदाय के मत में प्रत्यक्ष का विषय वस्तुतः क्षणिक होता है। जिस क्षण में विषय की उत्पत्ति होती है उसके दूसरे क्षण में उसका विनाश हो जाता है और उसके सजातीय विषय की उत्पत्ति होती है – यह परम्परा चलती रहती है। अतः विषय की उत्पत्ति के परक्षण में उसका प्रत्यक्ष होने पर उसके अव्यवहित पूर्ववर्ती विषय कारण हो सकता है किन्तु पश्चात् सविकल्पक प्रत्यक्ष के अव्यवहित पहले उस विषय के विद्यमान नहीं रहने से उस प्रत्यक्ष का वह विषय कारण नहीं हो सकता। अतः सविकल्पक प्रत्यक्ष सद्विषयक नहीं होता। इसलिए उसे प्रमाण नहीं कहा जा सकता। विषयजन्य प्रत्यक्ष ही प्रमाण होता है अतः प्रथमोत्पन्न निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ही प्रमाण होता है। इसी सिद्धान्त के आधार पर विज्ञानवादी किसी बौद्ध सम्प्रदाय ने कहा है – ''ततोऽर्थाद् विज्ञानं प्रत्यक्षम्''। काव्यालङ्कारग्रन्थ में भामह ने भी इस मतान्तर का उल्लेख करते हुए कहा है – ''ततोऽर्थादिति केचन''। बौद्ध सम्प्रदाय के प्रबल विरोधी न्यायाचार्य उद्योतकर ने न्यायवार्त्तिक में इस मत के निराकरण हेतु कहा है – ''अपरे पुनर्वर्णयन्ति ततोऽर्थाद् विज्ञानं प्रत्यक्षमिति तन्न''। उद्योतकर इस मत की व्याख्या में कहते हैं कि जिस विषय का प्रत्यक्ष होता है केवल उस विषय से जन्य विज्ञान ही प्रत्यक्ष प्रमाण होता है। अनुमान आदि ज्ञान केवल उस विषय से जन्य नहीं होते, अतः उन्हें प्रत्यक्ष नहीं माना जाता। उद्योतकर ने आगे विचार करके उक्त लक्षण में ''अर्थाद्'' पद को और प्रथमोक्त ''ततः'' पद को निरर्थक कहा है। बौद्ध सम्प्रदाय के अनेक मूल सिद्धान्तों का प्रतिवाद करके उक्त लक्षण का खण्डन किया है। तात्पर्यटीकाकार वाचस्पति मिश्र ने उद्योतकर के अभिप्राय का प्रकाश करते हुए इस प्रत्यक्ष लक्षण का निराकरण

---

[६३] सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद् यथा।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः ॥ – आप्तमीमांसा। जैन धर्म भूषण यति की न्यायदीपिका में इस श्लोक की व्याख्या द्रष्टव्य है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

किया है। इन्होंने पहले कहा है कि – ''वासुबन्धवं तावत् प्रत्यक्षलक्षणं विकल्पयितुमुपन्यस्यति'' ''अपरे पुनरिति''। ''वसुबन्धोरिदं वासुबन्धवं'' – अर्थात् उद्योतकर ने बौद्धाचार्य वसुबन्धु के उक्त लक्षण का उल्लेखपूर्वक खण्डन किया है। वस्तुतः प्रमाणसमुच्चय में दिङ्नाग के कथन से भी ज्ञात होता है कि वादविधि नामक ग्रन्थ में ''ततोऽर्थाद् विज्ञानं प्रत्यक्षम्'' यह प्रत्यक्ष लक्षण उक्त है और यह ग्रन्थ वसुबन्धु की रचना के रूप में लोक में प्रसिद्ध भी रही होगी। अतः वाचस्पति मिश्र ने बाद में भी इस लक्षण को वसुबन्धु का लक्षण कहा है। किन्तु दिङ्नाग ने कहा है कि उक्त वादविधि ग्रन्थ आचार्य वसुबन्धु की कृति नहीं है। इस प्रकार से दोषयुक्त ग्रन्थ उनकी कृति नहीं हो सकती। वसुबन्धु ने उस प्रकार का प्रत्यक्ष लक्षण नहीं कहा है। दिङ्नाग ने स्वयं उस लक्षण का खण्डन किया है।[६४]

दिङ्नाग के मत में जिस ज्ञान में विषय के नाम तथा जाति आदि की योजना नहीं रहती अर्थात् नाम आदि से जिसका व्यपदेश नहीं होता, ऐसा स्वतःप्रकाशज्ञान ही (निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ही) प्रत्यक्ष प्रमाण होता है। अतः दिङ्नाग ने कहा है – ''प्रत्यक्षं कल्पनापोढम्''। ''कल्पनया अपोढम् हीनम् कल्पनापोढम्''। इसकी भी व्याख्या करते हुए दिङ्नाग ने कहा है – ''नामजात्याद्यसंयुतम्''[६५]। न्यायवार्त्तिक में उद्योतकर ने दिङ्नाग के उक्त मत का उल्लेख करके पश्चात् कहा है – ''अपरे तु मन्यन्ते प्रत्यक्षं

---

[६४] प्रमाणसमुच्चय में दिङ्नाग ने कहा है – ''नाचार्यस्य वादविधिर्नाकूतं सारनिश्चयः। कथनादन्यथांशानां परीक्ष्यास्ते न ते मया॥ ततोऽर्थाज्जातं विज्ञानं प्रत्यक्षमिति तत्र तु। ततोऽर्थादिति सर्वश्चेत् तद् यत् तन्मात्रतो नहि''॥ १४-१५॥ न्यायवार्त्तिक (१.१.३३) में उद्योतकर ने भी ''यदपि वादविधौ'' आदि सन्दर्भ से वादविधि नामक ग्रन्थ का उल्लेख किया है किन्तु यह किसकी रचना है – इसका उल्लेख दिङ्नाग ने भी नहीं किया। दिङ्नाग के कथन से ज्ञात होता है कि ये विज्ञानवादी महायान बौद्ध सम्प्रदाय के आचार्य वसुबन्धु के सम्प्रदाय के रहने पर भी इनका साक्षात् शिष्य नहीं है। इनके ग्रन्थ के लिखते समय निश्चय ही वसुबन्धु जीवित नहीं थे।

[६५] मैसूर विश्वविद्यालय से प्रकाशित रंगास्वामी आयंगार द्वारा तिब्बती से संस्कृत में अनूदित सम्पादित प्रमाणसमुच्चय के प्रथम परिच्छेद में ''प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम्'' पाठ देखा जाता है। किन्तु विधिविवेक की न्यायकणिका टीका में वाचस्पति मिश्र लिखते हैं ''न खलु प्रत्यक्षं कल्पनापोढमन्यनिर्दिष्टलक्षणमिति प्रणयतो दिङ्नागस्यैव कल्पनापोढत्वमात्रम् लक्षणमपितु तदेवाभ्रान्तत्वसहितं प्रत्यक्षलक्षणमिति मन्यते स्म कीर्तिः।''(पृ. १९२)। वाचस्पति मिश्र इस स्थल में दिङ्नाग के अन्य किसी ग्रन्थ का उक्त रूप श्लोकार्ध भी उद्धृत कर सकते थे। किन्तु ये तात्पर्यटीका में दिङ्नाग के प्रमाणसमुच्चय के प्रथम परिच्छेद के अनेक श्लोक उद्धृत करते हैं। इनमें से कुछ श्लोक प्रमाणसमुच्चय में यथावत् उपलब्ध नहीं होते।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

कल्पनापोढमिति''[६६] । दिङ्नाग के अनुसार ही उद्योतकार ने भी लक्षणगत कल्पनापद की व्याख्या की है – ''अथ केयं कल्पना ! नामजातियोजनेति । यत् किल न नाम्ना अभिधीयते यच्च न जात्यादिभिर्व्यपदिश्यते विषयस्वरूपानुविधायि परिच्छेदकमात्मसंवेद्यं तत् प्रत्यक्षमिति''। नाम तथा जाति आदि कल्पित पदार्थ की योजना ही कल्पना पदार्थ है। जिस ज्ञान में वह कल्पना सम्भव नहीं है जो केवल उस विषय का स्वलक्षण अर्थात् स्वरूप मात्र का निश्चायक आत्मसंवेद्यज्ञान है उसी को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं।

उद्योतकर ने बाद में इस मत का सयुक्तिक खण्डन करते हुए कहा है कि इस मत में प्रत्यक्ष शब्द का अर्थ क्या है। यदि पूर्वोक्त रूप प्रत्यक्षज्ञान ही इसका अर्थ होता है तो इसको अवाच्य या नाम से अप्रकाश्य नहीं कहा जा सकता। अन्य कोई अर्थ तो इसका होता नहीं है – यह कहने पर वह अवाचक शब्द हो जाएगा। किन्तु प्रत्यक्ष शब्द का उक्त रूप अर्थ होने पर कल्पनापोढ शब्द व्यर्थ हो जाएगा। यहाँ यह भी वक्तव्य है कि कल्पनापोढ शब्द का अर्थ क्या है और वह कैसे ज्ञात होता है। अश्वकर्ण आदि शब्द की तरह इस कल्पनापोढ शब्द की कोई व्युत्पत्ति नहीं होती – यह कहने पर भी उसका अर्थ कहना होगा। अतः ''कल्पनापोढं प्रत्यक्षं'' का अभिधेय क्या है – यह कहना होगा। उक्त रूपज्ञान को अभिधेय कहने पर उसको अवाच्य नहीं कहा जा सकता। ''न चाभिधेयमिति कोऽन्यो भदन्ताद् वक्तुमर्हति'' । उक्त वाक्य का अभिधेय या प्रतिपाद्य कुछ नहीं है – यह तो भदन्त से भिन्न कोई नहीं कह सकता। यहाँ भदन्त से दिङ्नाग ही उद्योतकर को अभिप्रेत हैं। इन्होंने अन्यत्र भी ऐसा प्रयोग किया है। उद्योतकर ने इस प्रकार बहुत विचार करके अंत में कहा है – ''एवं यथा यथेदं लक्षणं विचार्यते तथा तथा न्यायं न सहते'' । अभिप्राय यह है कि दिङ्नाग का उक्त प्रत्यक्षलक्षण विचार को नहीं सहता है। तात्पर्य यह है कि सविकल्पकज्ञान का प्रामाण्य नहीं स्वीकार करने पर किसी शब्द या वाक्य से तत्त्व का प्रतिपादन ही सम्भव नहीं है। सविकल्पकज्ञान के विषय जाति आदि पदार्थ कल्पित या अयथार्थ हैं – यह किसी भी रूप में प्रमाण से सिद्ध नहीं होता। सभी पदार्थ क्षणिक होते हैं – यह भी प्रमाण से किसी भी प्रकार से सिद्ध नहीं होता। पश्चात् कुमारिल भट्ट एवं मण्डन मिश्र आदि मीमांसा के आचार्यवृन्द ने सूक्ष्मरूप

---

[६६] प्राचीन आलंकारिक भामह ने भी काव्यालंकार (पञ्चम परिच्छेद) में दिङ्नाग के मतानुसार प्रत्यक्ष तथा अनुमान इन दोनों प्रमाणों का यथाक्रम असाधारण तथा सामान्य नामक द्विविध विषय कहकर पश्चात् प्रत्यक्ष का लक्षण कहा है – ''प्रत्यक्षं कल्पनापोढं ततोऽर्थादिति केचन । कल्पनां नामजात्यादियोजनां प्रतिजानते'' । (५.६) भामह प्रधानरूप से दिङ्नाग के मत का उल्लेख करते हैं। प्रतीत होता है कि ये दिङ्नाग के ही सम्प्रदायानुसारी बौद्ध रहे होंगे तथापि इस विषय में मतभेद हैं।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

से विशेष विचार करके बौद्ध सम्प्रदाय के सभी सिद्धान्तों का खण्डन किया है। किन्तु बौद्ध सम्प्रदाय के आचार्य महामनीषी धर्मकीर्ति ने अनेक ग्रन्थों का प्रणयन कर अपने सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा (रक्षा) की है।

दिङ्नाग ने कहा है – ''प्रत्यक्षं कल्पनापोढम्'' किन्तु धर्मकीर्ति ने इसमें अभ्रान्तं पद का निवेश किया है – ''प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम्'' (न्यायबिंदु) अन्य ग्रथों में स्पष्ट उक्त है –

''कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षं निर्विकल्पकम्'' ।
विकल्पोऽवस्तुनिर्भासादसंवादादुपप्लवः[६७] ॥

सविकल्पकज्ञान का ही नाम है विकल्प, इसमें जाति आदि अवस्तु की अभिव्यक्ति (प्रकाशन) से इस मत में वह उपप्लव अर्थात् भ्रमज्ञान होता है। वैशेषिकदर्शन के अष्टम् अध्याय में द्वितीय सूत्र के उपस्कार में शंकर मिश्र ने कहा है – ''सविकल्पकं ज्ञानं न प्रमाणमिति कीर्तिदिङ्नागादयः'' । दिङ्नाग के बहुत परवर्ती धर्मकीर्ति ही इस सन्दर्भ में कीर्ति पदं से अभिहित हुए हैं। वाचस्पति मिश्र ने भी कीर्ति पद से धर्मकीर्ति का उल्लेख किया है। शंकर मिश्र ने इस स्थल में धर्मकीर्ति की मान्यता की व्याख्या करके संक्षेप में उसका निराकरण किया है। किन्तु वाचस्पति मिश्र आदि प्राचीन आचार्यगणों ने अनेक ग्रन्थों में विस्तार से विचार करके बौद्ध मतों का खण्डन किया है। न्यायमञ्जरीकार जयन्त भट्ट ने धर्मकीर्ति के प्रत्यक्ष लक्षण के खण्डन में असामान्य पाण्डित्य का प्रदर्शन किया है। सविकल्पक प्रत्यक्ष के प्रामाण्य का समर्थन करके अन्त में कहा है –

तस्माद् यत् कल्पनापोढपदं प्रत्यक्षलक्षणे।
भिक्षुणा पठितं तस्य व्यवच्छेद्यं न विद्यते॥

अर्थात् धर्मकीर्ति के प्रत्यक्ष लक्षण में कल्पनापोढ पद व्यर्थ है। पुनश्च इस पद से ही भ्रम

---

[६७] उक्त श्लोक धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्त्तिक का है – यही प्रसिद्ध (प्रचलित) है। किन्तु आज तक (व्याख्या लिखने के काल तक) वह ग्रन्थ प्रकाशित नहीं है। धर्मकीर्ति ने इस प्रत्यक्ष लक्षण के कल्पनापोढ पद की व्याख्या की है – अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासप्रतीतिः कल्पना तया रहितम्'' (न्यायबिन्दु) अर्थात् अभिलाप से पदार्थ का वाचक शब्द, उस शब्द का संसर्ग योग्य प्रतिभास अर्थात् अभिधेय अर्थ का प्रकाश जिस प्रतीति से होता है वही है कल्पना। इस मत में सविकल्पक ज्ञान में विषयवाचक शब्द से संसृष्ट अर्थ प्रकाशित होता है। शब्दानभिज्ञ बालक आदि का ऐसा ज्ञान नहीं होने पर भी वह शब्द के संसर्गयोग्य होता है। किन्तु निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में जो अर्थ प्रकाशित होता है वह शब्दसंसर्ग के योग्य नहीं होता। अतः निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ही कल्पनापोढ होता है। अधिक विचार के लिए धर्मोत्तर की टीका द्रष्टव्य है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

प्रत्यक्ष का वारण हो जाएगा "अभ्रान्त" पद भी व्यर्थ है। क्योंकि भ्रम प्रत्यक्ष कल्पनापोढ नहीं हो सकता। तात्पर्यपरिशुद्धि में उदयनाचार्य ने कहा है – "दिङ्नागस्यातिव्यापकतयाऽलक्षणं कीर्तिस्वव्यापकतया विकल्पप्रत्यक्षानवरोधात्, तस्य च प्रत्यक्षत्वव्युत्पादनात् अनिष्टमात्रस्यातिप्रसंगकत्वादिति सिद्धान्तः"। दिङ्नाग के प्रत्यक्ष लक्षण का भ्रम प्रत्यक्ष में अतिव्याप्ति दोष के कारण वह लक्षण नहीं हो सकता। धर्मकीर्ति के लक्षण में अभ्रान्त पद से उक्त दोष के वारण होने पर भी सविकल्पक यथार्थ प्रत्यक्ष अव्याप्ति दोष के कारण वह भी लक्षण नहीं है। दिङ्नाग के लक्षण में भी वह अव्याप्ति दोष विद्यमान ही है। क्योंकि सविकल्पक प्रत्यक्ष विशेष का प्रामाण्य अवश्य मान्य है। अन्यथा निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का प्रामाण्य भी उपपन्न नहीं होगा। क्योंकि सविकल्पक प्रत्यक्ष के विषय जाति आदि भी सत्पदार्थ ही हैं।

उदयनाचार्य से पहले वाचस्पति मिश्र ने पहले न्यायकणिका में और पुनश्च तात्पर्यटीका तथा भामती में विस्तार से विचार करके बौद्ध सम्प्रदाय के अनेक सिद्धान्तों का खण्डन किया है। किन्तु इन सभी दुर्बोध सिद्धान्तों को अच्छी तरह समझने के लिए बौद्धाचार्यों के अनेक ग्रन्थों का अध्ययन आवश्यक है। पश्चात् बौद्ध आचार्य रत्नकीर्ति ने अपोहसिद्धि आदि ग्रन्थों में त्रिलोचन, वाचस्पति मिश्र तथा न्यायभूषणकार के मतों का उल्लेख करके खण्डन किया है। इसका परिज्ञान आवश्यक है एवं बौद्ध आचार्यों के सम्मत प्रमाण का स्वरूप, विज्ञानवाद तथा इन विषयों में मतभेद आदि को भी पहले जानना आवश्यक है।[६८] भारत के धर्मरक्षक साधक ब्राह्मण दार्शनिकगणों ने आरम्भ से

---

[६८] उपर्युक्त बौद्ध सिद्धान्त केअनुसार ज्ञान स्वतःप्रकाश होता है। सम्यक् ज्ञान अर्थात् अविसंवादक ज्ञान ही प्रमाण होता है और उसका फल अर्थ की प्रतीति भी वस्तुतः उस प्रमाण से अभिन्न होता है। अतः बौद्ध फल प्रमाणवादी कहे जाते हैं। धर्मकीर्ति ने कहा है – "तदेव प्रत्यक्षं ज्ञानं प्रमाणफलमर्थप्रतीतिरूपत्वात्। अर्थसारूप्यमस्य प्रमाणम् तद्वशादर्थप्रतीतिसिद्धेरिति।" (न्यायबिन्दु)। टीकाकार धर्मोत्तर की व्याख्या से ज्ञात होता है कि जिस विषय से किसी ज्ञान की उत्पत्ति है, वह ज्ञान उस विषय के सदृश होता है। ज्ञान का यह विषयसारूप्य उस ज्ञान का आकार और आभास कहा जाता है। ज्ञानगत यह विषयसादृश्य ही प्रमाण होता है। यह सादृश्य भी ज्ञान से भिन्न पदार्थ नहीं है। वस्तुतः उक्त रूप ज्ञानविशेष ही प्रमाण होता है। विज्ञानवादी बौद्ध सम्प्रदाय की तरह बाह्य पदार्थ का पृथक् सत्तावादी सौत्रान्तिक बौद्ध सम्प्रदाय भी इसी तरह का साकार विज्ञानवादी है। किन्तु जो ज्ञान का इस प्रकार विषयसारूप्य नहीं मानता है उनको निराकार विज्ञानवादी कहते हैं। तात्पर्यटीका (पृ. १४) में वाचस्पति मिश्र ने दोनों ही उक्त मतों का उल्लेख किया है। उदयनाचार्य ने निराकार विज्ञानवाद की व्याख्या करते हुए कहा है – इति निराकारवादिनो वैभाषिकादयः (द्रष्टव्य तात्पर्यपरिशुद्धि, पृ. १५२-५५)।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

ही अनेक ग्रन्थों में अनेक प्रकारों से विचार करके भिन्न-भिन्न स्थानों में अवसर पाकर बौद्ध मतों का खण्डन किया है। सभी सम्प्रदायों के अनेक ग्रन्थ लुप्त हो गए हैं। पश्चात् शिवाराधक मिथिला के वरदपुत्र महानैयायिक आचार्य उदयनाचार्य के अखण्डनीय प्रभाव से भारत में बौद्ध सम्प्रदाय का प्रभाव ध्वस्त हुआ। बौद्धाधिकार रूपी आत्मतत्त्वविवेक में उदयनाचार्य की और न्यायमञ्जरी में कश्मीर के बौद्ध विजय जयन्त भट्ट की जयश्री विशेष रूप से द्रष्टव्य है। इस विषय में अभी अधिक आलोचना सम्भव नहीं है। अतः आगे अनुमान प्रमाण की व्याख्या की जाती है ।

सूत्र – अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतोदृष्टञ्च ।१.१.५

अनुवाद – अथ – अनन्तर अर्थात् प्रत्यक्ष निरूपण के बाद अनुमान का निरूपण किया जा रहा है, तत्पर्वूकम् – प्रत्यक्ष विशेषमूलक ज्ञान अनुमान प्रमाण, त्रिविधम् – तीन प्रकार का होता है – १. पूर्ववत् २. शेषवत् और ३. सामान्यतोदृष्ट।

टिप्पणी – किसी विषय के निरूपण के बाद अन्य विषय के निरूपण में निरूपणीय विषय की संगति आवश्यक है अन्यथा उसका निरूपण असंगत हो जाएगा। इस संगति की ही सूचना के लिए महर्षि ने सूत्र में सबसे पहले 'अथ' शब्द का प्रयोग किया है। इसके अनुसार तत्त्वचिन्तामणिकार गङ्गेश उपाध्याय ने प्रत्यक्ष खण्ड की रचना के बाद अनुमान खण्ड की रचना के आरम्भ में संगति का प्रदर्शन किया है। टीकाकारवृन्द ने उसकी व्याख्या की है। अनुमिति दीधिति की व्याख्या में जगदीश तथा गदाधर भट्टाचार्य की संगति व्याख्या का अध्ययन करने पर इस विषय का सूक्ष्म विचार तथा ज्ञातव्य विषय जाना जा सकता है। गङ्गेश उपाध्याय ने उपमान खण्ड की रचना के बाद तथा शब्द खण्ड की रचना के प्रारम्भ में कहा है – "अथ शब्दो निरूप्यते"। यहाँ व्याख्याकार मथुरानाथ तर्कवागीश ने इस 'अथ' अव्यय के बाद क्रियाविशेषण में द्वितीया विभक्ति का प्रयोग करके उस अर्थ को अभेद सम्बन्ध से निरूपित क्रिया का विशेषण कहा है। इनके इस सिद्धान्त के अनुसार ही यहाँ महर्षि के अनुमान सूत्र में – "अथ प्रत्यक्षनिरूपणानन्तरम् अनुमानं निरूप्यते" की व्याख्या की गई है। इस अथ शब्द का वाच्य तथा लाक्षणिक अर्थ के विषय में उक्त स्थान में विशद विचार मथुरानाथ भट्टाचार्य की रहस्यटीका में देखा जा सकता है।

न्यायसूत्र के वृत्तिकार विश्वनाथ ने यहाँ पहले संक्षेप में कहा है कि इस सूत्र में अथ शब्द आनन्तर्यबोधक होकर भी हेतुहेतुमद्भाव संगति का सूचक होता है। अभिप्राय यह है कि पहले के आचार्यगणों ने १. प्रसंग, २. उपोद्घात, ३. हेतुता, ४. अवसर, ५. एक

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

निर्वाहकत्व, तथा ६. एक कार्यत्व नामक छह प्रकार की संगति कहा है।[६९] अभिप्राय यह है कि हेतुता नामक संगति ही हेतुहेतुमद्भाव संगति कहलाती है। हेतु शब्द का अर्थ होता है कारण और हेतुमत् शब्द का अर्थ कार्य। जो जिस कार्य में जिस परम्परा में आवश्यक होता है वह उस कार्य में हेतु या कारण होता है। अतः प्रत्यक्ष प्रमाण प्रत्यक्ष से जन्य ज्ञान विशेष रूप अनुमान प्रमाण का हेतु होता है। अतएव प्रत्यक्ष प्रमाण के निरूपण के अनन्तर उसके कार्यरूप अनुमान प्रमाण का निरूपण संगत होता है। क्योंकि इन दोनों प्रमाणों में परस्पर हेतुहेतुमद्भाव है। किन्तु अनुमान निरूपण के बाद प्रत्यक्ष का निरूपण संगत नहीं होगा। महर्षि ने अथ शब्द से इसकी सूचना दी है। किन्तु प्रत्यक्ष ज्ञान के बिना अनुमान का ज्ञान नहीं हो पाता है। अतः इन दोनों ज्ञानों में भी परस्पर कार्य-कारण भाव मान्य है। अनुमिति दीधिति की व्याख्या में संगति विचार के समय रघुनाथ शिरोमणि ने कहा है – ''सम्भवति चेह निरूपणयोरपि कार्यकारणभावः। अथ तत्पर्वूकमित्यादिसूत्रे प्रत्यक्ष-पूर्वकत्वेनानुमान निरूपणात्, तच्छब्देन व्याप्त्यादिप्रत्यक्षपरामर्शात् इत्यादि''।

इस सूत्र में अनुमान पद से लक्ष्य का निर्देश हुआ है और तत्पर्वूकं से लक्षण सूचित होता है। अनुमान प्रमाण का लक्षण ही महर्षि का यहाँ वक्तव्य है। ''अनुमीयते अनेन'' जिससे अनुमिति का जन्म होता है – इस व्युत्पत्ति के अनुसार इस सूत्र में अनुमान शब्द करण वाच्य ल्युट् प्रत्यय करने पर सिद्ध होता है। उद्योतकर ने कहा है – ''कः पुनरनुमानार्थः? अनुमीयतेऽनेनेति करणार्थः''। भाव अर्थ में ल्युट्प्रत्यय करने पर अनुमान से अनुमिति रूप ज्ञान समझा जा सकता है। यथार्थ अनुमित्यात्मक ज्ञान भी अनुमान

---

[६९] अनुमितिदीधिति की जागदीशी व्याख्या में संगति विचार के समय जगदीश लिखते हैं – सङ्गतिः षड्विधा। तदुक्तमभियुक्तैः –
''सप्रसङ्ग उपोद्घातो हेतुताऽवसरस्तथा।
निर्वाहकैक्यकार्यैक्ये षोढा सङ्गतिरिष्यते॥''

तत्र निर्दिष्टोपपादकत्वम् उपोद्घातः। चिन्तां प्रकृतसिद्ध्यर्थामुपोद्घातं विदुर्बुधाः। इति प्राचीनगाथायामपि चिन्तापदं कृदभिहितो भावो द्रव्यवत् प्रकाशते इति न्यायेन चिन्तनीयपरम्। अवसरोऽनन्तरवक्तव्यत्वम् अनन्तरोद्दिष्टत्वम् तथेति न्यायभास्करकृतः।

इस मतान्तर को व्यक्त करने पर कहते हैं – अनन्तरोद्दिष्टत्वमेवावसरः अतएव अवसरतः कथकाशक्तिनिरूपणमिति परिशिष्टव्याख्याने न्यायभास्करकृता – ''उद्देशलक्षणा चात्र संगतिरित्युक्तमित्यपि केचित्''। उदयनाचार्य की प्रबोधसिद्धि ही न्यायपरिशिष्ट या परिशिष्ट शब्द से कही जाती है। (द्रष्टव्य इसका बंग संस्करण पञ्चम खण्ड, पृ. २५६) इसकी टीका का नाम न्यायभास्कर है। इस व्याख्या के उपलब्ध होने पर ग्रन्थ सुगम होता तथा गलत या सही पाठ के भेद को भी समझा जा सकता था।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

प्रमाण होता है और उसका फल होता है हानादिबुद्धि। उद्योतकर ने कहा है – ''यदा भावस्तदाहानादिबुद्धयः फलम्'' । हानादिबुद्धि का परिचय तृतीय सूत्र के भाष्य की व्याख्या में विवेचित हुआ है। सूत्रगत तत्पूर्वक पद का अर्थ प्रत्यक्षपूर्वक होता है। किन्तु प्रत्यक्ष से जन्य संस्कार अनुमान प्रमाण नहीं होता। अतः प्रतीत होता है कि पूर्वसूत्र से ज्ञानपद की अनुवृत्ति महर्षि को अभिप्रेत है। अब ''तत्पर्वूकं ज्ञानमनुमानम्'' इस वाक्य से ज्ञात होता है कि प्रत्यक्षपूर्वक ज्ञानविशेष अनुमान प्रमाण होता है। अभी ''तत्पूर्वकं'' से महर्षि को विवक्षित क्या है – यह समझना पहले आवश्यक है।

भाष्य – **तत्पूर्वकमित्यनेन लिंगलिङ्गिनोः सम्बन्धदर्शनं लिंगदर्शनञ्चाभिसंबध्यते। लिङ्गलिङ्गनोः सम्बद्धयोर्दर्शनेन लिङ्गस्मृतिरभिसंबध्यते। स्मृत्या लिंगदर्शनेन चाप्रत्यक्षोऽर्थोऽनुमीयते।**

अनुवाद – तत्पूर्वकं पद घटक तत् पद से लिंग और लिंगी के (हेतु और साध्य) धर्म का सम्बन्ध दर्शन अर्थात् व्याप्य-व्यापक भाव सम्बन्ध का प्रत्यक्ष और लिंगदर्शन (हेतु का प्रत्यक्ष) का अभिसम्बद्धत्व महर्षि को अभिप्रेत है। सम्बद्ध अर्थात् व्याप्य-व्यापक भावरूप सम्बन्ध विशिष्ट लिंग और लिंगी के दर्शन से लिंग स्मृति अर्थात् अनुमेय पदार्थ के व्याप्यत्व रूप में उस हेतु का स्मरण अभिसम्बद्ध अर्थात् महर्षि को अभिप्रेत है। स्मृति से तथा लिंगदर्शन से अप्रत्यक्ष पदार्थ अनुमित होता है।

टिप्पणी – पूर्व सूत्र के प्रत्यक्षात्मक ज्ञान इस सूत्र में तत्पद से अभिप्रेत हैं। अतः तत्पूर्वकम् का अर्थ होता है – प्रत्यक्षपूर्वकम्। किन्तु जिस किसी प्रत्यक्षपूर्वक ज्ञान को अनुमान प्रमाण कहने पर शब्दश्रवणरूप प्रत्यक्षपूर्वक शाब्दबोध में अतिव्याप्ति दोष होगा। अतः प्रतीत होता है कि तत् पद से प्रत्यक्षविशेष महर्षि को विवक्षित है। किन्तु यह प्रत्यक्ष विशेष किस प्रकार का होता है – यह कहना आवश्यक है। अतः भाष्यकार ने कहा है – ''लिंगलिङ्गिनोः सम्बन्धदर्शनं लिंगदर्शनञ्च ''। जिस स्थल में अनुमान का जो प्रकृत हेतु होता है उसे लिंग कहते हैं और वह जिस पदार्थ का लिंग (अनुमापक) होता है उस अनुमेय पदार्थ को लिंगी कहते हैं। जिस-जिस स्थान में यह लिंगी पदार्थ रहता है उस-उस स्थान में वह लिंग पदार्थ अवश्य रहता है। अतः लिंग पदार्थ व्याप्य और लिंगी पदार्थ व्यापक होता है।

इस तरह लिंग और लिंगी पदार्थों के मध्य व्याप्यव्यापक भाव सम्बन्ध रहता है। पहले किसी स्थान में उस सम्बन्ध का जो प्रत्यक्ष होता है, उसी को लिंग-लिंगी के सम्बन्ध का दर्शन कहते हैं। जैसे धूम लिंग होता है और वह्नि लिंगी। वह्नि से रहित स्थल में धूम की उत्पत्ति नहीं होती। अतः धूम और वह्नि के कार्यकारणभाव सम्बन्ध के कारण

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

धूम के सभी उत्पत्ति स्थानों में वह्नि की सत्ता अवश्य मान्य है। यहाँ धूमत्व रूप से धूम व्याप्य होता है और वह्नित्वरूप से वह्नि उसका व्यापक अतएव धूम और वह्नि में व्याप्य-व्यापक भाव सम्बन्ध मान्य है। व्याप्ति विशिष्ट पदार्थ को व्याप्य कहते हैं। धूमत्व रूप से धूम में वह्नि की व्याप्ति के रहने से धूम वह्नि का व्याप्य होता है। वह्नि से रहित किसी स्थान में विलक्षण संयोग सम्बन्ध से धूम नहीं रहता। अतः वह्नि से रहित स्थान में उक्त संयोग सम्बन्ध से धूम की विद्यमानता का अभाव ही धूम में वह्नि की व्याप्ति सिद्ध करती है। पहले उक्त व्याप्ति सम्बन्ध के निश्चय के बिना किसी स्थान में धूम के दर्शन करने पर भी उससे वहाँ वह्नि की अनुमिति नहीं होती। अवएव भाष्यकार ने पहले लिंग और लिंगी के सम्बन्ध का प्रत्यक्ष कहकर उस व्याप्ति रूप सम्बन्ध के प्रत्यक्ष को महर्षि का अभिप्रेत कहा है।

व्याप्तिनिश्चय का उपाय

व्यभिचार का अज्ञान एवं सहचार का ज्ञान व्याप्तिनिश्चय का उपाय अर्थात् कारण होता है। जैसे ''वह्निमान् धूमात्'' स्थल में धूम में वह्नि के व्यभिचार का (अर्थात् वह्नि से रहित स्थल में विलक्षण संयोग सम्बन्ध से धूम की विद्यमानता का) अदर्शन और महानस (पाकशाला) में धूम में वह्नि के सहचार का (सामानाधिकरण्य का) दर्शन धूमत्वरूप से धूम में और वह्नित्वरूप से वह्नि के व्याप्ति सम्बन्ध का प्रत्यक्ष व्याप्तिनिश्चय का कारण (उपाय) होता है। वेदान्तपरिभाषाकार भी यही कहते हैं किन्तु श्लोकवार्तिक में कुमारिल भट्ट ने कहा है – ''भूयोदर्शनगम्या च व्याप्तिः सामान्यधर्मयोः''। (अनुमान परिच्छेद)। अन्य अनेक विद्वान् इस तरह की बातं कहते हैं। किन्तु यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि किन स्थानों में कितनी बार सहचार दर्शन होने पर किसी स्थान में दो पदार्थों के एक बार सहचार दर्शन होने पर भी उनमें एक पदार्थ के साथ अपर पदार्थ का व्याप्तिनिश्चय होता है और अनेक स्थलों में अनेक बार सहचार दर्शन होने पर भी किसी एक स्थान में व्यभिचार का दर्शन होने पर व्याप्ति का निश्चय नहीं होता। इसके अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं। अतः कहना है कि सभी प्रकार से व्यभिचार के अज्ञान (अदर्शन) को जब सर्वत्र व्याप्तिनिश्चय का कारण कहना ही होगा तो पुनः स्थल विशेष में विशेष करके भूयोदर्शन को व्याप्तिनिश्चय का कारण कहना आवश्यक नहीं है। किन्तु किसी-किसी स्थल में भूयोदर्शन भी व्यभिचार के संशय की निवृत्ति करके व्याप्तिनिश्चय का सहायक होता है, किन्तु वह (भूयोदर्शन) व्याप्तिनिश्चय का कारण नहीं होता। किसी स्थल में अव्यभिचारी हेतु में किसी के व्यभिचार का संशय होने पर व्याप्ति का ग्राहक अनुकूल तर्क ही उस संशय का निवारक होता है। अतः यह नहीं कहा जा सकता

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

कि सर्वत्र व्यभिचार का संशयात्मक ज्ञान उत्पन्न होने के कारण कहीं भी व्यभिचार का अज्ञान सम्भव नहीं होगा। इस विषय में विस्तार से विचार हुआ है जो इस ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड में देखा जा सकेगा।

बौद्ध सम्प्रदाय तादात्म्य तथा तदुत्पत्ति अर्थात् कार्यकारण भाव सम्बन्ध को व्याप्ति का नियामक या ग्राहक कहा है। किन्तु कुमारिल भट्ट आदि ने तथा जैन दार्शनिकों ने इस मत के खण्डन में विस्तार से युक्तियों का प्रदर्शन किया है। कुमारिल भट्ट का अनुसरण करके नारायण भट्ट ने मानमेयोदय में कहा है कि कृत्तिका नक्षत्र का उदय देखकर उसके पश्चाद् भावी रोहिणी नक्षत्र का उदय होगा – इस प्रकार की अनुमिति होती है। किन्तु यहाँ हेतु और साध्य (अनुमेय पदार्थ) का कार्यकारण भाव सम्बन्ध नहीं है और न तो तादात्म्य (अभेद) सम्बन्ध ही है। अतः इस स्थल में तथा इस प्रकार के अनेक स्थलों में बौद्ध मत के अनुसार व्याप्ति का निश्चय सम्भव नहीं है और न तो उक्त स्वरूप अनुमिति ही हो सकती है। बौद्ध मतों के खण्डन में वाचस्पति मिश्र तथा जयन्त भट्ट ने बहुत विस्तार से विचार किया है। (द्वितीय खण्ड, बंग संस्करण, पृ. २४९-५२ में बौद्ध मत की व्याख्या तथा वाचस्पति मिश्रकृत उसका खण्डन और न्याय का सिद्धान्त द्रष्टव्य है)। वाचस्पति मिश्र ने वैशेषिकदर्शन में महर्षि कणाद के "अस्येदं कार्यकारणं" (९.२.१) आदि सूत्रगत चार प्रकारों के सम्बन्धों को अनुमान का अंग नहीं कहा – इस बात का युक्तिपूर्वक विचार करके समर्थन किया है। इन्होंने आगे कहा है –

एतेनैव –
मात्रानिमित्तसंयोगिविरोधिसहचारिभिः।
स्वस्वामिवध्यघाताद्यैः साङ्ख्यानां सप्तधानुमा॥ इत्यपि पराकृतं वेदितव्यम्।[७०]

– तात्पर्यटीका, पृ. १०९

[७०] तात्पर्यपरिशुद्धि में उदयनाचार्य ने इस प्राचीन श्लोक के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा है। किन्तु परिशुद्धिप्रकाश में वर्धमान उपाध्याय ने अत्यन्त संक्षेप में कहा है – "सांख्यवार्त्तिके मात्रा स्वभावः। वध्यघाताद्यैरिति पूर्वार्द्धोक्तविशेषणम् नातः सप्तत्वविरोधः" (पृ. ६७१)। इससे ज्ञात होता है कि यह श्लोक प्राचीन सांख्यवार्त्तिक का है और यहाँ प्रथमोक्त मात्रा पद का अर्थ स्वभाव होता है अर्थात् मात्रा से तादात्म्य सम्बन्ध अभिप्रेत है। निमित्त से कार्यकारणभाव सम्बन्ध अभिप्रेत है। "संयोगिविरोधिसहचारिभिः" आदि अंश से संयोगादि सम्बन्धों का ग्रहण करके सांख्य मत में सात प्रकारों के सम्बन्ध को अनुमान का अंग कहा है। किन्तु वर्धमान उपाध्याय ने सप्तत्व के विरोध की आशंका करके पश्चात् अत्यन्त संक्षेप में जो कुछ कहा है वह समझ में नहीं आता। मैंने उक्त सांख्यवार्त्तिक ग्रन्थ देखा नहीं है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

वस्तुत: वैशेषिकदर्शन में कणाद के "अस्येदं कार्यं कारणम्" आदि सूत्र में केवल उदाहरण के लिए चतुर्विध सम्बन्धों का उल्लेख हुआ है। कणाद को यह विवक्षित नहीं है कि उक्त चतुर्विध सम्बन्ध अनुमान का अंग है। प्राचीन वैशेषिक आचार्य प्रशस्तपाद ने कहा है – "शास्त्रे कार्यादिग्रहणं निदर्शनार्थम् कृतं नावधारणार्थम्" इत्यादि। न्यायमञ्जरी (पृ. ११६) में जयन्त भट्ट ने कहा है – "कणादसूत्रे कार्यादिग्रहणञ्चोपलक्षणम्"। कणाद के इस सूत्र के बाद द्वितीय सूत्र (९.२.२) के उपस्कर में शंकर मिश्र ने व्याख्या की है – "तेनोदाहरणमनुरुध्य कार्यकारणभावादेः सम्बन्धस्योपन्यास इह दर्शने सांख्यादिदर्शने च भवतीत्यर्थः"। इससे प्रतीत होता है कि शंकर मिश्र के मत में भी सांख्यमत में परिगणित उक्त सप्तविध सम्बन्ध अनुमान का अंग नहीं होता, किन्तु कुछ दृष्ट उदाहरणों के अनुसार ही उन सम्बन्धों का उल्लेख हुआ है। सो जो भी हो, स्वाभाविक नियत सम्बन्ध ही वस्तुत: व्याप्ति होती है। शंकर मिश्र ने कहा है – "एवञ्च स्वाभाविकसम्बन्धशालित्वं व्याप्यत्वं"। सांख्यसूत्रकार ने इसी अभिप्राय से व्याप्ति का लक्षण कहा है – "नियतधर्मसाहित्यमेकतरस्य वा व्याप्तिः" (५.२९)।

तात्पर्यटीकाकार वाचस्पति मिश्र ने विचार करते हुए उपसंहार में कहा है कि स्वाभाविक अर्थात् अनौपाधिक सम्बन्ध ही व्याप्ति होती है। जैसे धूम और वह्नि का समानाधिकरण्य रूप सम्बन्ध औपचारिक नहीं है, वह अनौपचारिक अर्थात् स्वाभाविक होता है। किंतु वह्नि में धूम का सामानाधिकरण्य औपचारिक होता है। यहाँ आर्द्रइंधन संयोग उपाधि होता है। आर्द्रइंधन के साथ व्यप्ति के संयोग के बिना वहाँ धूम उत्पन्न नहीं होता। अत: वह्नित्व रूप से विद्यमान वह्नि में धूम की व्याप्ति नहीं होती। महानैयायिक उदयनाचार्य अनौपाधिक सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं। पश्चात् तत्त्वचिन्तामणिकार गङ्गेश उपाध्याय ने विस्तृत विचारपूर्वक व्याप्ति के अनेक लक्षणों को कहकर विशेषव्याप्ति ग्रन्थ में उदयनाचार्य के इस व्याप्ति लक्षण की नवीन रीति से परिष्कारपूर्वक व्याख्या की है। परवर्ती नैयायिक शंकर मिश्र आदि ने भी सूक्ष्म आलोचन करके अनौपाधिक सम्बन्ध को व्याप्ति कहा है। इन ग्रन्थों के अध्ययन से यह विषय विशदरूप से ज्ञात हो सकता है।

प्राचीनकाल में व्याप्ति के लिए केवल सम्बन्ध शब्द का प्रयोग होता था। सांख्य सूत्रकार ने कहा है – "सम्बन्धाभावान्नानुमानम्" (५.११) इस सम्बन्ध पद से स्वाभाविक अर्थात् अनौपाधिक सम्बन्ध ही विवक्षित है। पूर्वमीमांसा के भाष्य में शबरस्वामी ने अनुमान के लक्षण में कहा है – "ज्ञातसम्बन्धस्य"। श्लोकवार्तिक में कुमारिल भट्ट ने सम्बन्ध शब्द का अर्थ इस प्रकार किया है – "सम्बन्धो व्याप्तिरिष्टात्र

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

लिङ्गधर्मस्य लिङ्गिना '' (अनुमान परिच्छेद) । वाचस्पति मिश्र से भी पहले कुमारिल भट्ट ने व्याप्ति पद का प्रयोग किया है। प्राचीन समय में व्याप्ति के अर्थ में समय, नियम, प्रतिबन्ध, अव्यभिचार तथा अविनाभाव आदि पद का प्रयोग होता रहा है। न्यायदर्शन (२.२.१५) में अव्यभिचार पद का प्रयोग हुआ है। पश्चात् तीसरे अध्याय के द्वितीय आह्निक के ११, ६८ तथा ७० सूत्रों में नियम और अनियम शब्द से इस व्याप्ति एवं इसके अभाव का कथन हुआ है। वैशेषिकदर्शन (३.१.१४) में भी व्याप्ति के लिए प्रसिद्धि शब्द का प्रयोग हुआ है। दीर्घकाल से ही अनुमान प्रमाण एवं उसके प्रधान अंग व्याप्ति का उल्लेख एवं आलोचना होती आ रही है। न्यायवैशेषिक सूत्रों में व्याप्ति का कहीं भी किसी रूप में उल्लेख नहीं है। वात्स्यायन-भाष्य में भी इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं है – आधुनिकों का इस प्रकार का कथन नितान्त मिथ्या एवं निर्मूल है। आगे अवसर आने पर यह बात स्पष्ट होगी।

मूल अभिप्राय यहाँ पर यह है कि तत् शब्द से यहाँ प्रत्यक्षविशेष ही महर्षि को बुद्धिस्थ है। वह प्रत्यक्षविशेष भाष्यकार के मत में प्रथमोत्पन्न लिंग और लिंगी के सम्बन्ध का और पश्चात् उत्पन्न लिंग का प्रत्यक्ष है।[७१] उपर्युक्त उदाहरण में पाकशाला आदि किसी स्थान में पहले जो धूम-दर्शन होता है वही प्रथम लिंगदर्शन है। पश्चात् पर्वत आदि में जो धूम का दर्शन होता है वह द्वितीय लिंगदर्शन कहलाता है। ''लिंगदर्शनञ्च'' से भाष्यकार ने इस द्वितीय लिंगदर्शन का ही उल्लेख किया है। पहले पाकशाला आदि किसी स्थान में धूमत्वरूप से धूम में वह्नित्व रूप से वह्नि का जो व्याप्तिरूप सम्बन्ध का प्रत्यक्ष होता है वही वहाँ लिंग तथा लिंगी का सम्बन्ध दर्शन कहलाता है। उस प्रत्यक्ष से धूम में वह्नि के व्याप्यत्व का संस्कार उत्पन्न होता है। पश्चात् पर्वत आदि किसी स्थान में उस पूर्वदृष्ट धूम के सदृश धूम के दर्शन होने पर तज्जन्य उक्त विषयक पूर्वोत्पन्न

---

[७१] अनुमितिदीधिति की व्याख्या में (संगति विचार के अवसर पर) रघुनाथशिरोमणि ने कहा है – ''तच्छब्देन व्याप्त्यादिप्रत्यक्षपरामर्शात्''। व्याख्याकार जगदीश ने यहाँ ''व्याप्त्यादेः प्रत्यक्षं यस्मात्'' इस प्रकार विग्रह करके बहुव्रीहि समास कहा है। किन्तु पश्चात् नव्यमत में इस सूत्र में भाव अर्थ में ल्युट् प्रत्यय करके अनुमान पद की सिद्धि करके उसका अर्थ अनुमिति किया है। वृत्तिकार विश्वनाथ ने पहले यही व्याख्या करके कहा है – ''यत इत्याध्याहारेण च करणलक्षणम्''। अर्थात् सूत्र में अनुमान पद के बाद यतः पद का अध्याहार करके जिससे ऐसी अनुमिति की उत्पत्ति होती है वह अनुमान प्रमाण होता है – ऐसा अर्थ समझना चाहिए। पुनश्च पश्चात् विश्वनाथ ने कहा है – ''अथवा करणलक्षणमेवेदम्'' इत्यादि। गङ्गेश उपाध्याय के मत में व्याप्तिज्ञान ही अनुमिति के प्रति करण होता है। अतः वृत्तिकार विश्वनाथ ने कहा है – ''तच्च व्याप्तिज्ञानं प्रत्यक्षपूर्वकम् सहचारप्रत्यक्षपूर्वकम्''।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

संस्कार उद्‌बुद्ध होकर धूम वह्नि का व्याप्य होता है – इस प्रकार का स्मरण उत्पन्न होता है। इस प्रकार से लिंग की स्मृति के अभाव में वहाँ अनुमिति नहीं हो सकती। इसी को भाष्यकार ने कहा है – ''लिङ्गस्मृतिरभिसम्बद्ध्यते'' अर्थात् लिंग और लिंगी के सम्बन्ध के दर्शन से जन्य उक्त रूप में लिंग की स्मृति महर्षि को अभिप्रेत है। किन्तु इस प्रकार की लिंग स्मृति होने पर भी वहाँ उसके दूसरे क्षण में अनुमिति उत्पन्न नहीं होती। उस लिंग स्मृति के बाद वहाँ व्याप्तिविशिष्ट लिंगदर्शन होने पर दूसरे क्षण में अनुमिति होती है। अतः भाष्यकार ने आगे कहा है – ''स्मृत्या लिंगदर्शनेन चाप्रत्यक्षोऽर्थोऽनुमीयते''। भाष्यकार का यह पश्चाद् भावी लिंगदर्शन अनुमेय धर्म का व्याप्तिविशिष्ट लिंगदर्शन है। इसको व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मताज्ञान कहते हैं इसी का नाम है – तृतीय लिंगपरामर्श। यथा पाकशाला में प्रथम धूम दर्शन होता है तत्पश्चात् पर्वत में धूम दर्शन होने पर पुनः धूम वह्नि का व्याप्य है – इस प्रकार से वह्नि में व्याप्तिविशिष्ट धूम का स्मरण होता है। इसके दूसरे क्षण में ''वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः'' इस प्रकार पुनः पर्वत में जो धूम का दर्शन होता है – यही है तृतीय लिंगपरामर्श। इसके बाद ''पर्वतो वह्निमान्'' इस रूप से पर्वत में अप्रत्यक्ष वह्नि की अनुमिति होती है। उपर्युक्त तृतीय लिंगपरामर्श के पहले लिंग तथा लिंगी के सम्बन्ध का दर्शन, द्वितीय लिंगदर्शन और पूर्वदृष्ट उस व्याप्तिविशिष्ट लिंग का स्मरण ही अनुमिति का चरम कारण होता है। यही लिंग परामर्शात्मक ज्ञान ''तत्पूर्वक-ज्ञान'' से अभिप्रेत है। अतः पूर्वोक्त व्याख्या के अनुसार वह अनुमान प्रमाण के लक्षण से युक्त होता है।

किन्तु सभी अनुमान प्रमाण इस प्रकार प्रत्यक्षजन्य नहीं होते। अनुमान या शब्द प्रमाण के द्वारा किसी हेतु का ज्ञान एवं उसमें किसी पदार्थ की व्याप्ति निश्चित होने पर उस हेतु से उस पदार्थ की अनुमिति होती है। अतः भाष्यकार की व्याख्यानुसार अनुमान प्रमाण का उक्त लक्षण नहीं कहा जा सकता। इसी को ध्यान में रखकर वार्त्तिककार उद्योतकर ने सूत्र में कहा है कि ''तानि पूर्वाणि यस्य'', ''ते पूर्वे यस्य'' तथा ''तत् पूर्वं यस्य'' इस प्रकार से तीन विग्रहवाक्य के आधार पर ''तत्पूर्वकम्'' शब्द के तीन प्रकार के अर्थ ज्ञात होते हैं।[७२] ''तानि पूर्वाणि यस्य'' इस तरह के

[७२] जयन्त भट्ट ने पहले व्याख्या की है – ''तत्पूर्वकमिति लक्षणम्''। ''तदिति सर्वनाम्ना प्रक्रान्तं प्रत्यक्षमवमृश्यते। तत्पूर्वं कारणं यस्य तत् तत्पूर्वकम्''। किन्तु उपमान आदि प्रमाण में इस लक्षण की अतिव्याप्ति की आशंका करके जयन्त भट्ट ने – ''ते द्वे प्रत्यक्षे पूर्वं यस्य'' इस प्रकार का विग्रहवाक्य कहा है। एवम् सबसे अन्त में ''तानि प्रत्यक्षादीनि पूर्वं यस्य'' इस विग्रहवाक्य का ही ग्रहण किया है। पश्चात् अन्य सम्प्रदायों के अन्य प्रकारों की सूत्रार्थ की व्याख्याओं का उल्लेख किया है किन्तु उनको माना नहीं है। (न्यायमञ्जरी, पृ. २२५-२६)

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

विग्रहवाक्य के पक्ष में तत् शब्द से तृतीय सूत्रोक्त प्रत्यक्ष आदि चार प्रकार के प्रमाणों का ग्रहण होता है। इससे ज्ञात होता है कि प्रत्यक्ष आदि जिस किसी प्रमाण से व्याप्तिज्ञानादिजन्य जो लिंगपरामर्श होता है वही अनुमान प्रमाण होता है। ''ते पूर्वे यस्य'' इस विग्रहवाक्य के पक्ष में तत् शब्द से अनुमान प्रमाण भी समझना चाहिए – ऐसा वाचस्पति मिश्र ने कहा है। उद्योतकर ने बाद में कहा है कि यद्यपि भाष्यकार के उक्त लिंग और लिंगी का प्रत्यक्ष, लिंग का प्रत्यक्ष तथा लिंग की स्मृति इत्यादि भिन्न पदार्थ हैं तथापि इनमें भेद की विवेक्षा न करके ''तत्पूर्वं यस्य'' इस प्रकार के विग्रहवाक्य के पक्ष में एकवचनान्त तत् शब्द से एक साथ उक्त तीनों ही ग्रहीत होते हैं। प्रत्येक अनुमान परस्पर या प्रत्यक्षमूलक होता है। अनुमान प्रमाण के मूल में प्रत्यक्ष अवश्य रहता है इसलिए महर्षि ने ''तत्पूर्वकम्'' कहा है। श्लोकवार्त्तिक में कुमारिल भट्ट ने कहा है –

यत्राप्यनुमिताल्लिङ्गाल्लिङ्गिनि ग्रहणं भवेत्।
तत्रापि मौलिकं लिङ्गं प्रत्यक्षादेव गम्यते॥
– अनुमान परिच्छेद, श्लोक १७०

वस्तुतः उपर्युक्त प्रत्यक्षजन्य अनुमान को प्रधान रूप में ग्रहण करके भाष्यकार ने सूत्रकार के ''तत्पूर्वकम्'' पद की ऐसी व्याख्या की है। जयन्त भट्ट ने पहले कहा है – ''यद्वा प्राधान्याभिप्रायेण प्रत्यक्षपूर्वकत्वमुच्यते। न नियमार्थमिति नाव्याप्तिः''। किन्तु अनेक अतीन्द्रिय पदार्थ भी अनुमान प्रमाण से सिद्ध होते हैं। महर्षि गौतम के अनेक सूत्रों से यह ज्ञात होता है। फलतः सूत्रगत ''तत्पूर्वकं'' पद से महर्षि ने केवल भाष्यकारोक्त प्रत्यक्ष विशेषजन्य ज्ञान को ही अनुमान प्रमाण नहीं कहा। किन्तु सूत्र से बहुत अर्थों की सूचना होती है, इसीलिए तो वह सूत्र कहलाता है। महर्षि ''तत्पूर्वकम्'' से सूचित करते हैं कि प्रत्यक्ष एवं प्रत्यक्ष सदृश जिस किसी प्रमाण से व्याप्ति निश्चयादिजन्य यथार्थ लिंग-परामर्श के उत्पन्न होने पर उससे जो अनुमितिज्ञान होता है, उसका कारण अनुमान प्रमाण होता है।

अनुमिति के करण के विषय में मतभेद

प्राचीनकाल में अनेक नैयायिकों ने लिंग और लिंगी के सम्बन्ध में स्मरण को अर्थात् अनुमापक हेतु पदार्थ में अनुमेय धर्म के व्याप्ति सम्बन्ध के स्मरण को अनुमिति का करण कहा है। किन्तु बहुत से नैयायिकों ने अनुमिति के चरम कारण के रूप में लिंगपरामर्श को ही अनुमिति का करण माना है। न्यायवार्त्तिक में उद्योतकर ने उक्त मतभेद का

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

उल्लेख करके अपना मत कहा है कि[७३] प्रथम लिंगदर्शन से लेकर चरम लिंगपरामर्श पर्यन्त सभी अनुमिति के कारण अनुमान प्रमाण होते हैं किन्तु इनमें चरम कारण लिंग-परामर्श ही मुख्य अनुमान प्रमाण होता है। क्योंकि इसके अव्यवहित पश्चात् अनुमिति होती है। अनुमान के हेतु में अनुमेय पदार्थ की व्याप्ति-स्मरण के अव्यवहित पश्चात् अनुमिति नहीं होती क्योंकि वह लिंगपरामर्श की अपेक्षा करता है। उक्त लिंगपरामर्श को अनुमिति के कारण होने से ही प्रतिज्ञा आदि पञ्चावयवों के मध्य चतुर्थ अवयव ''उपनय वाक्य'' की सार्थकता होती है। क्योंकि उससे (उपनय वाक्य से) लिंगपरामर्श रूप ज्ञान उत्पन्न होता है। उद्योतकर ने पहले भी कहा है कि कार्य का मुख्य कारण वही होता है जिसकी उपस्थिति से कार्य अवश्य होता है तथा जो अन्य किसी कारण की अपेक्षा नहीं करता। नैयायिकों ने इसे फलायोगव्यवच्छिन्न कारण कहा है। तत्त्वचिन्तामणि के शब्द-खण्ड के आरम्भ में पूर्वपक्ष की व्याख्या करते हुए गङ्गेश उपाध्याय ने कहा है कि ''करणविशेषः प्रमाणं करणं च तत् यस्मिन् सति क्रिया भवत्येव''। इसकी व्याख्या में मथुरानाथ तर्कवागीश ने कहा है – ''करणत्वञ्च फलायोगव्यवच्छिन्न-कारणत्वम् फलोपधायकत्वम् इति यावत्।'' किन्तु यह गङ्गेश का अपना मत नहीं है। मथुरानाथ ने बौद्ध मत के अनुसार यहाँ पूर्वपक्ष की व्याख्या में करण का वैसा लक्षण कहा है। वस्तुतः उद्योतकर के मत में भी फलायोगव्यवच्छिन्न कारण अर्थात् चरम कारण ही मुख्य कारण होता है। अतः इनके मत में लिंगपरामर्श ही अनुमिति का मुख्य कारण होता है। नव्यनैयायिक अन्नम् भट्ट ने तर्कसंग्रह में कहा है – ''स्वार्थानुमिति परार्थानुमित्योर्लिङ्गपरामर्श एवं करणम्''।[७४] तर्कभाषा में केशव मिश्र ने कहा है –

---

[७३] वयं तु पश्यामः सर्वमनुमानमनुमितेस्तन्नान्तरीयकत्वात्। प्रधानोपसर्जनताविवक्षायां लिङ्ग परामर्श इति न्याय्यम्। किं पुनरत्र न्यायः? आनन्तर्यप्रतिपत्तिः। यस्माल्लिङ्गपरामर्शादनन्तरम् शेषार्थप्रतिपत्तिरिति, तस्माल्लिङ्गपरामर्शो न्याय्य इति। स्मृतिर्न प्रधानम्। किं कारणम् स्मृत्यनन्तरमप्रतिपत्तेः। ...... एवञ्च उपनयस्यार्थवत्ता इत्यादि। – न्यायवार्त्तिक

[७४] अन्नम् भट्ट तर्कसंग्रह की दीपिका में कहते हैं – ''व्यापारवत् कारणं करणमिति मते परामर्श द्वारा व्याप्तिज्ञानं करणम्''। दीपिका के प्रकाश में नीलकण्ठ ने कहा है ''फलायोग-व्यवच्छिन्नकारणं करणमिति मते तु परामर्श एव करणमिति ध्येयम्''। यद्यपि प्रत्यक्ष खण्ड में अन्नम् भट्ट ने इस मत के अनुसार इन्द्रिय को प्रत्यक्ष का करण कहा है किन्तु बाद में इन्होंने प्राचीन आचार्य उद्योतकराचार्य के मत का ग्रहण करके लिंग परामर्श को अनुमिति का करण कहा है। अतः पहले करण लक्षण की व्याख्या में नीलकण्ठ ने इन्द्रियसन्निकर्ष रूप व्यापार को प्रत्यक्ष का करण मानकर लिखा है – ''एतच्च लिङ्गपरामर्शो अनुमानमिति मूल एव स्फुटीभविष्यति''।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

'लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम्' । यहाँ प्रदीपकार ने उद्योतकर के मत का उल्लेख करके इसका समर्थन किया है।[७५] नवद्वीप के नव्यनैयायिक भावानन्द सिद्धान्त वागीश ने कारकचक्र में करण के लक्षण की व्याख्या में पहले उपर्युक्त प्राचीन मत का ही उल्लेख किया है।[७६]

अनुमानचिन्तामणि में गङ्गेश उपाध्याय ने पहले अनुमिति का लक्षण करके बाद में कहा है – ''तत्करणमनुमानं तच्च लिङ्ग परामर्शो न तु परामृश्यमानं लिङ्गमिति वक्ष्यते'' । इससे प्रतीत होता है कि गङ्गेश उपाध्याय ने पहले उद्योतकर के मतानुसार लिंगपरामर्श को अनुमिति का करण कहा है,सरल रूप में यही अर्थ समझना चाहिए।[७७] अन्यथा यहाँ लिंगपरामर्श शब्द के प्रयोग की सार्थकता ही नहीं होगी । किन्तु गङ्गेश उपाध्याय ने परामर्श ग्रन्थ में विचारपूर्वक अपना मत व्यक्त करते हुए कहा है कि लिंगपरामर्श अनुमिति का करण नहीं हो सकता क्योंकि वह अनुमिति का अन्तिम कारण है, उसके बाद अनुमिति के जनक को किसी व्यापार की अपेक्षा नहीं होती। किन्तु जिसके व्यापार से फल की उत्पत्ति अवश्य होती है उस व्यापार को फलायोगव्यवच्छिन्न व्यापार कहते हैं और इस व्यापार से युक्त कारण को ही करण कहते हैं (द्रष्टव्य पृ. ८७)। अतः अनुमेय धर्म के व्याप्तिविशिष्टत्व रूप में जो लिंग स्मरण होता है अर्थात् अनुमापक हेतु में उक्त रूप से जो व्याप्तिस्मरण होता है वह अनुमिति का करण होता है और तज्जन्य लिंगपरामर्श उस करण का व्यापार होता है । इस व्यापार से अनुमितिरूप फल की उत्पत्ति होती है। इसी को फलायोगव्यवच्छिन्न व्यापार कहते हैं। उस व्यापार से युक्त व्याप्तिज्ञान ही अनुमिति का करण होता है । किन्तु गङ्गेश के पहले नैयायिकवरेण्य

---

[७५] ननु लिलिङ्गपरामर्शस्य चरमकारणत्वात् तस्य च स्वोत्तरभाविभावभूतकारणानपेक्षत्वरूपत्वाद् व्यापाराभावेन करणत्वाभावात् कथमनुमानत्वमितिचेन्न वार्त्तिककारमते ''यस्मिन् सति क्रिया भवत्येवेति'' तस्यैव करणत्वेन निर्व्यापारस्यादोषत्वात् । – न्यायप्रदीप तर्कभाषा व्याख्या

[७६] एवञ्च तदनुकूलव्यापारमद्वारीकृत्य तज्जनकत्वं फलायोगव्यवच्छिन्नकारणत्वं पर्यवसितं करणत्वमिति लब्धम् । एवञ्च एतन्मते चरमकारणत्वमेव करणत्वमिति कुठारादौ करणपदं गौणमिति । – कारकचक्र ।

[७७] नीलकण्ठ भट्ट ने यही समझकर तर्कसंग्रहदीपिका प्रकाश में करणलक्षण की व्याख्या में उक्त उद्धृत सन्दर्भ के बाद कहा है – ''अतएव मणिकारैरप्युक्तं तच्च लिङ्गपरामर्श इति ग्रन्थेनेति तु नव्याः''। किन्तु इस प्राचीन मत को कैसे नीलकण्ठ ने नव्यमत कहा है – यह विचारणीय है। नीलकण्ठ के पुत्र लक्ष्मीनृसिंह ने वहाँ व्याख्या की है – ''नव्या दीधितिकारादयः'' । किन्तु दीधितिकार रघुनाथ शिरोमणि ने ऐसी व्याख्या नहीं की। रघुनाथ के मत में अनुमिति का करण मन ही होता है। पक्षतादीधिति की व्याख्या में (प्रगल्भाचार्य के मत के खण्डन के सन्दर्भ में) जगदीश भट्टाचार्य ने भी कहा है – ''न च स्वमते मनस एव करणत्वात्'' ।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

उदयनाचार्य ने उस लिंगपरामर्श के विषय लिंग को अनुमिति का करण कहा है। अतः उन्होंने प्रशस्तपाद द्वारा उद्धृत श्लोक ''तल्लिङ्गमनुमापकम्'' की व्याख्या में कहा है – ''अनुमितिरूपप्रमाकरणं एतेन परामृश्यमानं लिङ्गमनुमानम्'' (किरणावली)। उदयनाचार्य ने तात्पर्यपरिशुद्धि में इस मत के समर्थन में कहा है कि तात्पर्यटीकाकार वाचस्पति मिश्र की भी यही मान्यता है। इसके समर्थन के लिए इन्होंने अनेक युक्तियाँ प्रदर्शित की हैं। किन्तु मुझे तो यही प्रतीत होता है कि वाचस्पति मिश्र ने उद्योतकर के मत का ही समर्थन किया है।

अस्तु जो भी हो, उदयनाचार्य का वह मत भी प्राचीन मत ही माना जाएगा। इस मत का नाम ही है ज्ञायमान लिंग की करणता का मत[७८]। प्रतीत होता है कि वैशेषिकदर्शन का ''हेतूपदेशो लिङ्गं प्रमाणमित्यनर्थान्तरम्'' (९.२.४) सूत्र ही इस मत का मूल है। क्योंकि इस सूत्र में कणाद ने एक ही पदार्थ को लिंग, प्रमाण और करण कहा है। उदयनाचार्य के इस मत में गङ्गेश उपाध्याय ने अनेक दोषों को दिखाया है किन्तु शंकर मिश्र ने उपस्कार (९.२.१ सूत्र की व्याख्या) में इस मत का समर्थन तथा गङ्गेश उपाध्याय के मत का प्रतिवाद किया है। शंकर मिश्र ने वैशेषिक मत की व्याख्या करते हुए पहले ही सिद्धान्त कहा है – ''एतेन लिङ्गमेवानुमितिकरणं न तु तस्य व्यापारः तस्य निर्व्यापारत्वेनाकरणत्वात्, लिङ्गस्य तु स एवं व्यापारः''। किन्तु शंकर मिश्र से बहुत पहले वरदराज ने तार्किकरक्षा में कहा है – ''लिङ्गपरामर्शोऽनुमानमित्याचार्याः''। इसकी व्याख्या में मल्लिनाथ ने कहा है कि उदयाचार्य ने भी प्रकारान्तर से लिंगपरामर्श को अनुमान प्रमाण कहा है। क्योंकि लिंगपरामर्श के बिना इस मत में भी अनुमिति नहीं होती। अनुमितिदीधिति की व्याख्या में जगदीश तर्कालंकार ने आचार्य के मत में स्थलविशेष में दोष दिखाकर इसके उत्तर में कहा है कि ''आचार्यमतेऽपि तद्धेतुकानुमितौ परामर्शस्यैव करणत्वात्''। इससे प्रतीत होता है कि उदयनाचार्य के मत की इस प्रकार की व्याख्या बाद में भी हुई है। किन्तु उदयनाचार्य के अपने कथन से ज्ञात होता है कि

---

[७८] जैन न्याय के श्लोकवार्तिक में उक्त है – ''साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानं विदुर्बुधाः''। धर्मभूषण यति इस ग्रन्थ की व्याख्या न्यायदीपिका में करते हैं – ''साधनाज्ज्ञायमानाद् धूमादेः साध्येऽग्न्यादौ लिङ्गिनि यद् विज्ञानं तदनुमानम्''। इस मत में ज्ञायमान लिंग अनुमिति का करण होता है। यहाँ विशेष यह है कि जैनमत में स्वतःप्रकाश सम्यक् ज्ञान ही प्रमाण होता है। अतः यथार्थ अनुमिति रूप ज्ञान अनुमान प्रमाण होता है। प्रमाणभूत अनुमिति का करण ज्ञायमान लिंग होता है। धर्मभूषण यति ने आगे कहा – ''ज्ञायमानलिङ्गकरणकस्य साध्यज्ञानस्यैव साध्याव्युत्पत्तिनिराकारकत्वेनानुमानत्वम् न तु लिङ्गपरामशदिरिति बुधाः प्रामाणिका विदुरिति वार्त्तिकार्थः''। (न्यायदीपिका, तृतीयप्रकाश)

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

उनके मत में लिंगपरामर्श का विषयीभूत लिंग (हेतु) ही अनुमिति का करण होता है। यद्यपि शंकर मिश्र ने इस मत का समर्थन किया है तथापि रघुनाथ शिरोमणि ने इस मत के प्रतिवाद में युक्तियाँ दिखाई हैं। किन्तु गङ्गेश उपाध्याय के परामर्श ग्रन्थ की दीधिति में रघुनाथ शिरोमणि ने अपना मत कहते हुए प्रतिपादित किया है कि सर्वत्र अनुमितिकर्ता का मनस् ही अनुमिति का करण होता है। मनस् के करण होने पर भी मनोजन्य इस अनुमितिरूप ज्ञान को मानस प्रत्यक्ष से विलक्षण मानना होगा। क्योंकि यह ज्ञान व्याप्तिज्ञान तथा लिंगपरामर्शरूप विशेषकारण से उत्पन्न होता है। रघुनाथ शिरोमणि द्वारा इस मत के समर्थित होने पर भी नैयायिक सम्प्रदाय में यह मत प्रतिष्ठित नहीं हो सका। नव्यन्याय के सम्प्रदाय में गङ्गेश का मत ही प्रतिष्ठित है। इसके अनुसार भाषापरिच्छेद में विश्वनाथ ने कहा है – ''व्यापारस्तु परामर्शः करणं व्याप्तिधीर्भवेत्''।

अद्वैतवादी धर्मराजाध्वरीन्द्र ने वेदान्त परिभाषा में कहा है कि पूर्वोत्पन्न व्याप्तिज्ञान ही अनुमिति का करण होता है और तज्जन्य संस्कार ही उसका व्यापार होता है। अनावश्यक लिंगपरामर्श को अनुमिति का कारण नहीं माना जा सकता। अतः वह करण भी नहीं हो सकता। किन्तु व्याप्तिविषयक पूर्व संस्कार उद्‌बुद्ध होकर अनेक स्थलों में व्याप्तिस्मरण के पहले उस संस्कार से अनुमिति उत्पन्न होती है। अतः व्याप्ति का स्मरण भी अनुमिति का कारण नहीं होता। किन्तु इस मत में वक्तव्य यह है कि अनुमिति के पहले सर्वत्र अनुमापक हेतु में अनुमेय धर्म की व्याप्ति का स्मरण होता है – यह अनुभवसिद्ध है। इसमें प्रमाण नहीं है कि धूम में वह्नि की व्याप्ति का स्मरण नहीं होने पर धूम हेतु से वह्नि की अनुमिति हो सकती है। श्लोकवार्त्तिक में कुमारिल भट्ट ने कहा है – ''धूमतज्ज्ञानसम्बन्धस्मृतिप्रामाण्यकल्पने'' । (अनुमान परि. ५२) इस मत में धूम, धूम का ज्ञान और धूम में वह्नि की व्याप्तिरूप सम्बन्ध का स्मरण ही मुख्य तथा गौणरूप से अनुमिति का करण होता है। इससे प्रतीत होता है कि व्याप्तिस्मरण के बाद लिंगपरामर्श का होना अनुमिति के लिए आवश्यक नहीं है। मीमांसक प्रभाकर के मत में भी लिंगदर्शन तथा व्याप्तिस्मरणरूप ज्ञान-युगल के पश्चात् ही अनुमिति उत्पन्न होती है। और भी अनेक सम्प्रदाय इसका समर्थन करते हैं। प्रशस्तपादाचार्य की उक्ति से भी सरल रूप में यही ज्ञात होता है।[७९] न्यायकन्दलीकार श्रीधरभट्ट ने मीमांसक मत में पक्षपात दिखाते

---

[७९] अनुमान की व्याख्या में प्रशस्तपाद ने कहा है – ''एवं प्रसिद्धसमयस्यासन्दिग्धधूमदर्शनात् साहचर्यानुस्मरणात् तदनन्तरमग्न्यध्यवसायो भवतीति'' (पृ. २०५)। किसी-किसी पुस्तक में इसके पश्चात् ''तत्परं तद्‌भवतीति'' इतना अधिक पाठ भी है। तदनुसार उदयनाचार्य ने यह कल्पना करके व्याख्या की है – ''अग्निरध्यवसीयतेऽनेनेति अग्न्यध्यवसायः परामर्शः। →

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

हुए स्पष्ट कहा है – ''नहि नस्तेन प्रयोजनं लिंगदर्शनव्याप्तिस्मरणाभ्यामेवानुमेय-प्रतीत्युपपत्तेः'' (पृ. २०६)। किन्तु उदयनाचार्य तथा व्योमशिवार्य आदि ने वैशेषिक मत की व्याख्या करते हुए व्याप्तिस्मरण के बाद तृतीय लिंगपरामर्श को अनुमिति का चरम कारण कहकर समर्थन किया है। न्यायवार्त्तिक में उद्योतकर ने भी इसका समर्थन करते हुए कहा है कि इस लिंगपरामर्श के लिए ही परार्थ अनुमान में चतुर्थ अवयव ''उपनयवाक्य'' की सार्थकता होती है। अतः उद्योतकर के मन में भाष्यकार के वचन ''स्मृत्या लिङ्गदर्शनेन च'' से व्याप्तिस्मरण और उसके बाद उत्पन्न तृतीय लिंगपरामर्श विवक्षित है। तात्पर्यपरिशुद्धि (पृ. ६५९ तथा ७०७) में उदयनाचार्य ने विशेष विचार करके इस मत का समर्थन किया है। इन्होंने अन्त में कहा है कि स्वार्थानुमान में तृतीय लिंगपरामर्श अनावश्यक होगा तो परार्थानुमान में उसके अभाव से चतुर्थ अवयव उपनयवाक्य व्यर्थ होगा। अनुमेय धर्म के व्याप्तिविशिष्ट हेतु और उस हेतु से युक्त पक्ष इस तरह का ज्ञान उस अनुमिति के पहले आवश्यक है – यह मानना होगा। इसी को कहते हैं – व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मता का ज्ञान तथा तृतीय लिंगपरामर्श। इसी को कहा है- ''नूनं परामर्शोऽपि तृतीयः स्वीकार्यः'' (तात्पर्यपरिशुद्धि, पृ. ७०७)। तत्त्वचिन्तामणि में गङ्गेश उपाध्याय ने इस मत के समर्थन में बहुत ही सूक्ष्म आलोचन किया है। न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय का यही प्रसिद्ध एवं प्रचलित मत है। अवयव प्रकरण में चतुर्थ अवयव उपनयवाक्य की व्याख्या में यह अधिक स्पष्ट होगा।

अनुमान प्रमाण के प्रमेय के विषय में मतभेद

अनुमेय पदार्थ अनुमान प्रमाण का प्रमेय होता है। किन्तु वह अनुमेय क्या है – इस विषय में प्राचीनकाल से ही मतभेद देखा जा रहा है। किसी सम्प्रदाय का कहना है कि अनुमान के धर्मी में धर्म विशेष अनुमेय होता है। क्योंकि उस धर्म विशेष के साथ उसमें लिंग का अव्यभिचार अर्थात् व्याप्तिरूप सम्बन्ध है। जैसे धूम में वह्नि का व्याप्तिरूप सम्बन्ध रहने से धूम हेतु से पर्वत आदि धर्मी में वह्निरूप धर्म अनुमेय होता है। अपर सम्प्रदाय कहता है कि यहाँ पर्वत आदि धर्मी और वह्निरूप धर्म जब पूर्व से ही सिद्ध पदार्थ है तब वह साध्य वा अनुमेय नहीं हो सकता। ऐसे स्थल में धूम और वह्नि का सम्बन्ध ही

→ तत्परं तद्भवति प्रमाणं भवतीत्यर्थः। नूनं परामर्शोऽपि तृतीयः स्वीकर्त्तव्यः''। (किरणावली)
किन्तु श्रीधर भट्ट न तो ''तत्परं तद्भवति इति'' इस पाठ को मानते हैं और न तो उस पाठ की कोई व्याख्या करते हैं। वे यदि उदयनाचार्य की किरणावली देखे होते तो उसका प्रतिवाद अवश्य करते।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अनुमेय होता है। क्योंकि वह पहले से पर्वत आदि स्थान में सिद्ध नहीं है। बौद्ध आचार्य दिङ्नाग ने प्रमाणसमुच्चय में दोनों ही मतों का उल्लेख करके खण्डन किया है और अन्त में अपना मत कहा है। तात्पर्यटीका में वाचस्पति मिश्र ने दिङ्नाग के इन श्लोकों को उद्धृत किया है।[८०] तात्पर्यपरिशुद्धि की प्रकाशटीका (पृ. ७४८) में वर्धमान ने इसकी व्याख्या की है।

उपर्युक्त प्रथम मत के खण्डन में दिङ्नाग ने कहा है कि वह्निरूप धर्म में धूमरूप लिंग पहले से ही प्रसिद्ध है अर्थात् व्याप्तिविशिष्ट पक्ष धर्म के रूप में निश्चित है तो धूमरूप हेतु से अन्य क्या अनुमेय होगा? वह्नि जब पूर्व से ही सिद्ध है तो साध्य वा अनुमेय कैसे होगा? अथ च यदि वह धूमरूप लिंग पर्वतरूप धर्मी में निश्चित है तो पर्वत ही क्यों नहीं वह्नि विशिष्ट रूप में अनुमेय होगा? उपर्युक्त दूसरे मत के निराकरण में दिङ्नाग ने कहा है कि वह्नि और धूम के सम्बन्ध को भी अनुमेय नहीं कहा जा सकता क्योंकि तब ''पर्वते वह्निधूमयोः सम्बन्धोऽस्ति'' इस प्रकार षष्ठी विभक्तियुक्त प्रतिज्ञा वाक्य कहना होगा। किन्तु इस तरह के प्रतिज्ञावाक्य से सम्बन्ध वक्तव्य नहीं है। क्योंकि ''धूमादत्र वह्निरास्ति'' इस तरह कहने पर अर्थतः इस स्थान में धूम और वह्नि का सम्बन्ध ज्ञात होगा ही। किन्तु यह सम्बन्ध लिंगसंगत नहीं है अर्थात् यहाँ धूम के साथ वह्निसंवाद नहीं है। तात्पर्यटीका में वाचस्पति मिश्र ने दिङ्नाग के इस कथन की व्याख्या में कहा है – ''वह्निसम्बन्धधर्मतया लिङ्गं प्रमीयते अपितु देशसंगतमित्यर्थः''। अर्थात् उस सम्बन्ध के धर्मरूप में लिंग का यथार्थज्ञान उत्पन्न नहीं होता। किन्तु पर्वत आदि देश के धर्मरूप में उस लिंग का यथार्थज्ञान होता है। अतः उस लिंग से वह सम्बन्ध अनुमेय नहीं होता है। अभिप्राय यह है कि दिङ्नाग के मत में अनुमापक लिंग जिसका धर्म होता है उसको अनुमान नहीं कहा जा सकता। अतः बाद में उन्होंने अपना सिद्धान्त कहा है – ''तत्र प्रसिद्धं तद्युक्तं धर्मिणं गमयिष्यति''। अनुमापक लिंग जिस धर्मी में सिद्ध या निश्चित है उसी धर्मी को ही तद्युक्त अर्थात् किसी धर्मविशिष्ट रूप में सिद्ध करता है, जिस धर्म के साथ पहले अन्य स्थान में उस लिंग का अव्यभिचार या व्याप्तिसम्बन्ध का निश्चय उत्पन्न होता है। जैसे पाकशाला (महानस) में पहले वह्निरूप धर्म के साथ धूमरूप लिंग

---

८० केचिद्धर्मान्तरं मेयं लिंगस्याव्यभिचारतः। सम्बन्धं केचिदिच्छन्ति सिद्धत्वात् धर्मधर्मिणोः॥
लिंगं धर्मे प्रसिद्धं चेत् किमन्यत् तेन मीयते। अथ धर्मिणि तस्यैव किमर्थं नानुमेयता॥
सम्बन्धेऽपि द्वयं नास्ति षष्ठी श्रूयेत तद्वति। अवाच्योऽनुगृहीतत्वान्नचासौ लिंगसंगतः॥
लिंगस्याव्यभिचारस्तु धर्मेणान्यत्र दृश्यते। तत्र प्रसिद्धं तद्युक्तं धर्मिणं गमयिष्यति॥
– प्रमाणसमुच्चय, द्वितीय परिच्छेद

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

का व्याप्तिनिश्चय होता है और पश्चात् उस धूम हेतु से उस वह्निविशिष्ट रूप में पर्वत आदि धर्मी की अनुमिति उत्पन्न होती है। मीमांसाचार्य कुमारिल भट्ट ने श्लोकवार्त्तिक में इस विषय में सभी मतों का खण्डन करके इस सिद्धान्त का समर्थन किया है।[८१] इस मत में धर्म विशिष्ट धर्मी ही अनुमेय होता है। जैसे जिसको वह्निविशिष्टत्व रूप में पर्वत का ज्ञान पहले नहीं है उसको पर्वत में धूम के दर्शन तथा धूम में वह्नि के व्याप्तिसम्बन्ध का स्मरण होने पर वह्निविशिष्टत्व रूप में पर्वत की अनुमिति होती है।

न्यायवार्त्तिक में उद्योतकर ने इस विषय में अनेक मतों के साथ दिङ्नाग का खण्डन करके गत्यन्तर के अभाव में अपना सिद्धान्त कहा है – "अनुमेयोऽग्निमानयं धूम इति"। उद्योतकर ने सूत्र २.१.४६ के वार्त्तिक में कहा है – "यथा प्रत्यक्षेण धूमधर्मेण ऊर्ध्वगतादिनाऽप्रत्यक्षो धूमधर्मोऽग्निरनुमीयते"। उद्योतकर के मत में ऊर्ध्वगमन आदि समस्त धर्म विशिष्ट धूमविशेष के दर्शन करने पर वह्निविषय की अनुमिति होती है। ये सभी धूमधर्म अनुमान के हेतु होते हैं। इस अनुमान में वह धूम विशेष पक्ष होता है। उस धूम के दर्शन काल में उन समस्त धर्मों के दर्शन होने पर उसमें पूर्व से निश्चित वह्निव्याप्ति के स्मरण के बाद उस धूम में व्याप्ति विशिष्ट धर्मरूप लिंग के परामर्श से "वह्निमानयं धूमवान्" इस रूप में वह धूम एकाधिकरण्य सम्बन्ध से वह्निविशिष्ट रूप में अनुमित होता है। ऐसा होने पर उस धूम के अधिकरण पर्वत आदि में वह्नि का निश्चय होता है। किन्तु धूमत्वरूप से धूम हेतु को वह्नि का अनुमापक नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह्नि से रहित आकाश आदि में भी धूम रहता है। अतः धूम वह्नि का व्यभिचारी होने से उसमें वह्नि की व्याप्ति नहीं होती। कुमारिल भट्ट द्वारा उपरि उद्धृत श्लोक के चतुर्थ पाद के "धूमस्यान्यैश्च कल्पिता" कथन से उद्योतकर के मत का ही समर्थन होता है। कल्पित पद के प्रयोग से इन्होंने लोकविरुद्ध इस मत में अपना अस्वारस्य भी समझाया है। स्वयं उद्योतकर ने इस मत में लोकविरुद्धता की शंका उठाकर उसके उत्तर में लोकविरोध का परिहार किया है।

किन्तु अन्य सम्प्रदायों ने उद्योतकर के इस मत का समर्थन नहीं किया है। भाष्यकार वात्स्यायन ने बाद में पूर्ववत् अनुमान का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहा है कि "यथा धूमेनाग्निरिति"। अतः भाष्यकार के मत में धूमत्वरूप से धूम में वह्नित्वरूप से वह्नि की अनुमिति होती है। सामान्य रूप से संयोग सम्बन्ध से धूमत्वरूप में धूम के वह्नित्वरूप से वह्नि के व्यभिचारी होने पर भी विलक्षण संयोग सम्बन्ध से धूम वह्नि का व्यभिचारी

---

[८१] तस्माद् धर्मविशिष्टस्य धर्मिणः स्यात् प्रमेयता।
सा देशस्याग्नियुक्तस्य धूमस्यान्यैश्च कल्पिता॥ – श्लोकवार्त्तिक, अनुमान परिच्छेद

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

नहीं होता अपितु धूम का व्याप्य ही वह्नि होता है। तत्त्वचिन्तामणि में हेत्वाभास की सामान्यनिरुक्तिटीका दीधिति में रघुनाथ शिरोमणि ने लिखा है – ''अथ पर्वतत्वेन पक्षत्वे वह्नित्वेन साध्यत्वे विशिष्ट धूमत्वेन हेतुत्वे''। तात्पर्यटीकाकार वाचस्पति ने भी विशिष्ट धूम को वह्नि का अनुमापक हेतु कहा है। (द्वितीय खण्ड, बंग संस्करण, में इस विषय की विशेष आलोचना (पृ. २४५-४६) दृष्टव्य है।) किसी नव्यनैयायिक सम्प्रदाय की यह भी मान्यता रही है कि परार्थ अनुमान स्थल में ''पर्वतो वह्निमान्'' इस प्रतिज्ञावाक्य के द्वारा पर्वत में अभेद सम्बन्ध से वह्निमान् का बोध होता है। अतः इस दृष्टि से पर्वत में अभेद सम्बन्ध से वह्निमान् ही साध्य होता है, वह्नि नहीं। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए। अनुमानचिन्तामणि के अवयव ग्रन्थ की व्याख्या दीधिति में रघुनाथ शिरोमणि ने इसका उल्लेख किया है किन्तु इसका प्रतिवाद नहीं किया। अनुमिति का विधेय ही अनुमेय होता है। किन्तु पदार्थ के व्याप्य लिंग के परामर्श से जो अनुमिति होती है उस पदार्थ में अनुमिति की विधेयता नामक विषयता मान्य होती है। पक्षता दीधिति की व्याख्या में जगदीश तर्कालंकार ने युक्ति से सिद्ध इस सिद्धान्त के समर्थन में लिखा है – ''यद्व्याप्यवत्ताज्ञानजन्यत्वमनुमितौ, तदंश एवं विधेयताख्यविषयता स्वीकारात्''। ''वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः'' इस प्रकार लिंगपरामर्श के उत्पन्न होने पर परक्षण में पर्वत में वह्निविषयक अनुमिति उत्पन्न होगी। इस स्थिति में यहाँ पर्वत में वह्नि ही अनुमेय होता है। वह्नि पदार्थ के अन्यत्र पूर्व से सिद्ध रहने पर भी इस प्रकार के अनुमान से पहले उस पर्वत में वह असिद्ध रहता है। अतः पर्वत में वह साध्य या अनुमेय हो सकता है।

किन्तु पूर्वोक्त रूप लिंगपरामर्श के पश्चात् अनुमिति होने पर पश्चात् उस अनुमितिकर्ता के मन में – ''मैंने पर्वत में वह्नि की अनुमिति की'' इस प्रकार का उस अनुमिति का मानस प्रत्यक्ष (अनुव्यवसाय) होता है। इससे सिद्ध होता है कि यहाँ पर्वत में वह्नि ही अनुमेय होता है। उदयनाचार्य के मत में ''वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः'' इस आकार की अनुमिति उत्पन्न होती है। इस प्रकार सर्वत्र अनुमिति में पूर्वोत्पन्न लिंगपरामर्श के विषयीभूत वह लिंग भी पक्ष के विशेषण रूप में विषय होता है। इसी को ''लिंगोपधान'' मत कहा गया है और इसी कारण से अनुमिति को ''लिंगोपहित लैंगिक भान'' कहा गया है। किन्तु गङ्गेश उपाध्याय आदि नव्यनैयायिकगणों तथा वात्स्यायन आदि प्राचीन आचार्यवृन्दों ने अनुमिति के आकार के विषय में इस प्रकार की कल्पना नहीं की है। वेदान्ती आदि सम्प्रदाय में ''पर्वतो वह्निमान् या वह्निमान् पर्वतः'' इस प्रकार की अनुमिति मान्य है। किसी स्थल में ''अयं वह्निमान्'' इस आकार की अनुमिति भी हो सकती है। ऐसे स्थल में इदन्त्वरूप में पर्वत आदि धर्मी ही अनुमिति के उद्देश्य रूप में विषय होता

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

है। यहाँ उस अनुमिति की विधेयता नामक विषयता नहीं रहने पर भी उद्देश्यता नामक विषयता रहती है। वेदान्त परिभाषाकार ने कहा है कि प्रत्यक्ष दृष्ट पर्वत में "पर्वतो वह्निमान्" इस आकार की जो अनुमिति होती है वहाँ वह वह्निविषयकत्व अंश में अनुमिति है और पर्वतविषयकत्व अंश में प्रत्यक्ष है। किन्तु वहाँ यदि पर्वत में उस अनुमिति की कोई विषयता ही नहीं रहती है तो वहाँ पर्वतविषयक प्रत्यक्ष और वह्निविषयक अनुमिति रूप दोनों ही को ज्ञान मानना होगा। किन्तु पर्वत को विषय किए बिना केवल वह्निमान् यह अनुमिति नहीं होती। अतः मानना होगा कि "पर्वतो वह्निमान्" एक ही ज्ञान होता है। और एक ही ज्ञान में प्रत्यक्षत्व और परोक्षत्व मानना न्यायवैशेषिक सम्प्रदाय में युक्तिविरुद्ध है। अनुमिति का जो विशेष्य होगा उसमें विशेष्यता रूप विषयता माननी होगी अन्यथा उसको विशेष्य नहीं कहा जा सकता। अथ च कोई भी अनुमिति निर्विशेष्यक नहीं होती।

भाष्य – **"पूर्ववदिति – यत्र कारणेन कार्यमनुमीयते। यथा मेघोन्नत्या भविष्यति वृष्टिरिति।" "शेषवत्" तत् यत्र कार्येण कारणमनुमीयते पूर्वोदकविपरीतमुदकं नद्याः पूर्णत्वम् शीघ्रत्वञ्च दृष्ट्वा स्रोतसोऽनुमीयते भूता वृष्टिरिति। "सामान्यतोदृष्टम्" व्रज्यापूर्वकमन्यत्र दृष्टस्यान्यत्र दर्शनमिति तथा चादित्यस्य, तस्मादस्त्यप्रत्यक्षापि आदित्यस्य व्रज्येति।**

अनुवाद – जिस स्थल में कारण से कार्य अनुमित होता है अर्थात् कारणविशेष के ज्ञान से उसके व्यापक कार्यविशेष की अनुमिति होती है उस स्थल में अनुमान प्रमाण पूर्ववत् शब्द से कहा जाता है। जैसे बादल की उन्नति देखकर अनुमिति होती है कि वृष्टि होगी। जिस स्थल में कार्य से कारण अनुमित होता है, कार्यविशेष के ज्ञान से उसके व्यापक कारणविशेष की अनुमिति होती है उस स्थल में अनुमान प्रमाण शेषवत् शब्द से कहा जाता है। जैसे नदी के पूर्व स्थित जल के विपरीत जलरूप पूर्णत्व एवं धारा की शीघ्रता, प्रखरताविशेष देखकर वृष्टि हो रही है – यह अनुमिति होती है। सामान्यतोदृष्ट अनुमान में अन्यत्र दृष्ट द्रव्य का अन्यत्र दर्शन होता है। यथा व्रज्यापूर्वक अर्थात् उस द्रव्य की गति क्रियाप्रयुक्त सूर्य का प्रातःकाल एक स्थान में देखने पर कालान्तर में उस सूर्य का अन्यत्र दर्शन होता है। अतः अप्रत्यक्ष होने पर भी सूर्य की गति अनुमित होती है।

टिप्पणी – महर्षि ने इस सूत्र में अनुमान प्रमाण को तीन प्रकार का कहा है और इनके पूर्ववत् आदि नामों की व्याख्या इस सन्दर्भ में भाष्कार ने की है। भाष्यकार ने पूर्व शब्द का अर्थ यहाँ कारण तथा शेष शब्द का अर्थ कार्य कहा है। कार्य तथा कारण में कारण पहले तथा कार्य बाद में होता है। इसलिए कारण के अर्थ में पूर्व और कार्य के अर्थ में शेष

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

शब्द का प्रयोग हुआ है। ''पूर्वं विद्यते यत्र'' अर्थात् जिस अनुमान प्रमाण में कारण विशेष हेतु रूप में विद्यमान रहे एवं ''शेषो विद्यते यत्र'' अर्थात् अनुमान प्रमाण में कार्यविशेष हेतु रूप में विद्यमान रहे – इस तरह की व्युत्पत्ति के अनुसार यथाक्रम पूर्ववत् एवं शेषवत् पदों से कारणहेतुक एवं कार्यहेतुक अनुमान ज्ञात होता है। कारणविशेष अपने व्यापक कार्यविशेष का अनुमापक होता है एवं कार्यविशेष अपने व्यापक कारणविशेष का अनुमापक होता है। जैसे बादल की उन्नतिरूप कारण के दर्शन से उसके कार्य भावी वृष्टि की अनुमिति होती है। इसी प्रकार नदी की पूर्णता और धारा की प्रखरताविशेष रूप कार्य के दर्शन से उसके कारण अतीत वृष्टि की अनुमिति होती है। उद्योतकर ने इन दोनों ही अनुमानों का प्रयोग कहा है[८२]। न्यायमञ्जरी (पृ. १२९-३०) में जयन्त भट्ट ने इन अनुमानों के विषय में विशेष विचार किया है। अनुमिति दीधिति की व्याख्या में (संगति विचार के अवसर पर) गदाधर भट्टाचार्य ने कहा है – ''पूर्ववदित्यादेः कारणलिंगकम्, कार्यलिङ्गकं तदन्यलिङ्गकं चेत्यर्थः''। यहाँ पूर्ववत् से कारणलिंगक, शेषवत् से कार्यलिंगक और सामान्यतोदृष्ट से अन्यलिंगक अनुमान को इन्होंने कहा है- जो लिंग या हेतु अनुमेय पदार्थ का कारण भी नहीं है और कार्य भी नहीं है, ऐसे लिंग से अनुमिति होने पर उसे सामान्यतोदृष्ट कहते हैं। जैसे ''इदं द्रव्यं पृथिवीत्वात्'' इस तरह पृथिवीत्व हेतु से द्रव्यत्व के अनुमान स्थल में पृथिवीत्व हेतु द्रव्यत्व का न कार्य है न ही कारण। प्राचीन न्यायाचार्य उद्योतकर ने सामान्यतोदृष्ट का यही अर्थ किया है और उदाहरण दिया है – ''यथाबलाकया सलिलानुमानम्''। दूर से बलाका देखने पर उसके आधार जल का अनुमान होता है। किन्तु वह बलाका सलिल का न तो कार्य है न ही कारण।

किन्तु भाष्यकार ने ऐसी व्याख्या नहीं की है। भाष्यकार के मत में जिस स्थल में अनुमेय पदार्थ लौकिक प्रत्यक्ष के अयोग्य है। अतः किसी पदार्थ में उसके व्याप्तिसम्बन्ध का प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है, इस स्थल में अन्य किसी पदार्थ में अपर किसी पदार्थ का सामान्यतः व्याप्तिसम्बन्ध के प्रत्यक्ष के फलरूप में इस अप्रत्यक्ष पदार्थ की अनुमिति होने पर इस अनुमान प्रमाण का नाम ''सामान्यतोदृष्ट'' है। जैसे सूर्य की गतिक्रिया लौकिक प्रत्यक्ष के योग्य नहीं है। अतः किसी पदार्थ में उसके व्याप्तिसम्बन्ध का लौकिक प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है। किसी एक स्थान में दृष्ट दृव्य का अन्यत्र दर्शन उस द्रव्य की गतिक्रिया के बिना सम्भव नहीं है। ऐसे बहुत द्रव्यों का प्रत्यक्ष होता है। इस प्रकार

[८२] वृष्टिमन्त एते मेघाः गम्भीरध्वानवत्त्वे बहुलबलाकावत्त्वे सति अचिरप्रभावत्त्वे सति उन्नतिमत्त्वात् वृष्टिमन्मेघवत्। उपरि वृष्टिमद्देशसम्बन्धिनी नदी स्रोतःशीघ्रत्वे सति पर्णफलकाष्ठादिवहनवत्त्वे सति पूर्णत्वात् पूर्णवृष्टिमन्नदीवत्।

– न्यायवार्तिक, द्वितीय खण्ड, पृ. २१५ द्रष्टव्य

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

सामान्यतः व्याप्तिप्रत्यक्ष के फलस्वरूप सूर्य में अप्रत्यक्ष गतिक्रिया की अनुमिति होती है – "सूर्यः गतिमान्" । क्योंकि प्रातःकाल में एक स्थान में देखे गए सूर्य का मध्याह्न आदिकाल में अन्य स्थान में दर्शन होता है । अतः ऐसे दर्शनविषयत्व हेतु से सूर्य में गतिक्रिया की अनुमिति होती है। योगदर्शनभाष्य (१.६) में इस अनुमान का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए व्यास देव ने कहा है – "देशान्तरप्राप्तेर्गतिमच्चन्द्रतारकम्"। भाष्यकार ने पश्चात् "सामान्यतोदृष्ट" अनुमान का अन्य उदाहरण भी प्रस्तुत किया है। अतीन्द्रिय घ्राण आदि के साधक अनुमान भी इसके उदाहरण रूप में अनेक ग्रन्थों में उक्त हैं।

वार्त्तिककार उद्योतकर ने सूर्य की गतिक्रिया स्वीकार करके भाष्यकार वात्स्यायन के उक्त उदाहरण का खण्डन किया है। न्यायमञ्जरी में जयन्त भट्ट ने विशेष विचार करके उक्त अनुमान को शेषवत् कहकर समर्थन किया है। उद्योतकर ने सूर्य की देशान्तर प्राप्ति को प्रत्यक्ष के अयोग्य कहा है। अतः पहले "देशान्तरप्राप्तिमान् आदित्यः" इस प्रकार सूर्य में देशान्तरप्राप्ति के अनुमान प्रमाण से सिद्ध होने पर उस अनुमित देशान्तरप्राप्ति रूप हेतु से सूर्य में गतिक्रिया की सिद्धि अनुमान से होती है। क्योंकि सूर्य की देशान्तरप्राप्ति सूर्य की गतिक्रिया से होती है अर्थात् उसके देशान्तरप्राप्ति का कारण गतिक्रिया होती है। अतः यहाँ वह अनुमान प्रमाण भाष्यकार के उपर्युक्त शेषवत् अनुमान ही होता है। उसे सामान्यतोदृष्ट नहीं कहा जा सकता। किस प्रकार के हेतु से पहले सूर्य में देशान्तर की प्राप्ति अनुमान से सिद्ध होती है – यह भी बाद में उद्योतकर ने कहा है।[८३] वाचस्पति मिश्र ने इस दण्डकानुमान का दण्ड की तरह दीर्घ हेतु की व्याख्या की है। उद्योतकर का उक्त अनुमान, भाष्यकार के पक्ष में वक्तव्य तथा सामान्यतोदृष्ट शब्द की व्याख्या द्वितीय खण्ड, बंग संस्करण (पृ. २०६-०८) में द्रष्टव्य है।

उद्योतकर ने अन्य प्रकार से भी सूत्रकार के अनुमान के इस त्रैविध्य की व्याख्या की है। सामान्यतोदृष्ट के मध्य नञ् का समावेश करके "सामान्यतोदृष्ट" कहकर अपने मत में इसकी अन्य प्रकार की व्याख्या भी इन्होंने की है। तात्पर्यटीका में वाचस्पति ने (१) पूर्ववत् शेषवत् (२) सामान्यतोदृष्ट तथा (३) शेषवत् सामान्यतोऽदृष्ट कहकर अनुमान

---

[८३] किन्तु शंकर मिश्र ने उद्योतकर के हेतु वाक्य का यथायथ पाठ उद्धृत नहीं किया है। इन्होंने कहा है – "देशान्तरप्राप्तिमानादित्यः, अविनाशित्वे द्रव्यत्वे च सति प्राङ्मुखोपलब्धस्य प्रत्यङ्मुखेन तेनैवोपलभ्यतया प्रत्यभिज्ञायमानत्वादित्युद्योतकराचार्याः" । वैशेषिकदर्शन के सूत्र १.२.५ के उपस्कार एवं उसकी परिष्कार व्याख्या देखने से यह शंकर मिश्र का कथन ज्ञात होता है। इस संदर्भ में उद्योतकर की वार्त्तिक व्याख्या तथा इसकी तात्पर्यटीका भी द्रष्टव्य है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

के त्रैविध्य को दिखाया है[८४]। इन बातों को संक्षेप में नहीं कहा जा सकता। उद्योतकर का वार्त्तिक तथा वाचस्पति मिश्र की तात्पर्यव्याख्या इस संदर्भ में पठनीय है।

भाष्य – **अथवा पूर्ववदिति, यत्र यथापूर्वं प्रत्यक्षभूतयोरन्यतरदर्शनेनान्यतरस्याप्रत्यक्षस्यानुमानम्, यथा धूमेनाग्निरिति। शेषवन्नाम परिशेषः, स च प्रसक्त प्रतिषेधेऽन्यत्राप्रसंगात् शिष्यमाणे सम्प्रत्ययः। यथा सदनित्यमित्येवमादिना द्रव्यगुणकर्मणामविशेषेण सामान्यविशेषसमवायेभ्यो निर्भक्तस्य शब्दस्य तस्मिन् द्रव्यगुणकर्मसंशये न द्रव्यमेकद्रव्यत्वात् न कर्म शब्दान्तरहेतुत्वात्, यस्तु शिष्यते सोऽयमिति शब्दस्य गुणत्वप्रतिपत्तिः।**

सामान्यतोदृष्टम् नाम यत्राप्रत्यक्षे लिङ्गलिङ्गिनोः सम्बन्धे केनचिदर्थेन लिङ्गस्य सामान्यादप्रत्यक्षो लिंगी गम्यते। यथेच्छादिभिरात्मा, इच्छादयो गुणाः, गुणाश्च द्रव्यसंस्थानाः, तद् यदेषां स्थानं स आत्मेति।

अनुवाद – अथवा जिस स्थल में यथापूर्व प्रत्यक्षभूत दो पदार्थों के बीच अर्थात् व्याप्ति के प्रत्यक्षकाल में पहले किसी स्थान में जिन दो पदार्थों का प्रत्यक्ष हुआ है उनमें से एक का अर्थात् पूर्वदृष्ट व्यापक पदार्थ के सजातीय पदार्थ की अनुमिति होती है, उस स्थल का अनुमान प्रमाण ''पूर्ववत्'' नाम से कहा जाता है। जैसे धूम से अग्नि की अनुमिति होती है। (अर्थात् किसी स्थान में पूर्वदृष्ट धूम के सजातीय धूम के दर्शन करने पर वहाँ पूर्वदृष्ट वह्नि के सजातीय वह्नि की अनुमिति होने पर उस स्थल के अनुमान प्रमाण को ''पूर्ववत्'' कहते हैं।)

शेषवत् कहने से परिशेष का बोध होता है। अर्थात् परिशेष अनुमान का नाम शेषवत् होता है। किन्तु यह परिशेष प्रसक्त पदार्थ का (आपत्ति के विषयभूत पदार्थ का) प्रतिषेध खण्डन होने पर अन्य पदार्थ में प्रसंग के (आपत्ति के) अभाव से शिष्यमाण (अवशिष्ट) पदार्थ के विषय में सम्प्रत्यय (यथार्थ अनुमिति) रूप सम्यक् प्रतीति का करण होता है अर्थात् इस प्रकार शेष पदार्थ विषयक यथार्थ अनुमिति का करण ही परिशेष अनुमान होता है जिसे शेषवत् नाम से कहा जाता है। (उदाहरण) जैसे द्रव्य, गुण और

---

८४ अनुमितिदीधिति की व्याख्या में (संगति विचार के अवसर पर) जगदीश तर्कालंकार ने लिखा है – ''वाचस्पतिमिश्रास्तु दृष्टमिति सर्वत्रान्वितः। तथाच पूर्वमन्वयसहचारः, तद्वत्तया दृष्टं गृहीतम्। शेषो व्यतिरेकसहचारः तद्वत्तया दृष्टं गृहीतम्। सामान्यतस्तदुभयसहचारवत्तया दृष्टं गृहीतमित्येवं त्रैविध्यविवरणमाहुः''। किन्तु तात्पर्यटीका में वाचस्पति मिश्र ने ऐसी व्याख्या नहीं की है। न्यायसूत्रोद्धारकार परवर्ती स्मार्त वाचस्पति मिश्र की न्यायतत्त्वालोक नामक वृत्तिग्रन्थ दृष्टव्य है। क्या वहाँ वैसी व्याख्या उपलब्ध है?

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

कर्म पदार्थों का सत् तथा अनित्य आदि प्रकार रूप अविशेष धर्म से "सदनित्यं" आदि सूत्र में महर्षि कणाद का उक्त द्रव्य, गुण और कर्म पदार्थ की सत्ता तथा अनित्यत्व आदि साधर्म्य ज्ञान होता है और इस साधर्म्य ज्ञान से सामान्य, विशेष और समवाय से भिन्न होने से निश्चित शब्द का। शब्द है क्या? इसके समाधान में कहते हैं। शब्द में द्रव्य, गुण तथा कर्म का संशय होने पर क्या शब्द द्रव्य है, या गुण है या कर्म है – इस प्रकार संशय होने पर एकद्रव्यत्व (एकद्रव्यसमवायिकारणत्व हेतुकत्व) शब्द में रहने से वह द्रव्य नहीं हो सकता। वह कर्म भी नहीं हो सकता क्योंकि शब्द में शब्दान्तरहेतुत्व विद्यमान है (सजातीय पदार्थ का उत्पादकत्व रहने से शब्द कर्म नहीं हो सकता। किन्तु जो पदार्थ शिष्ट है अर्थात् पूर्वोक्त द्रव्य, गुण और कर्म में जो अवशिष्ट है अर्थात् गुण वही शब्द है। इस तरह शब्द का गुणत्व सिद्ध होता है)।

सामान्यतोदृष्ट कहने से जिस स्थल में लिंग और लिंगी का सम्बन्ध (व्याप्य-व्यापकभाव रूप सम्बन्ध) लौकिक प्रत्यक्ष के अयोग्य होकर किसी पदार्थ के साथ लिंग के समानत्व प्रयुक्त अर्थात् उस लिंग से अप्रत्यक्ष (लौकिक प्रत्यक्ष के अयोग्य) लिंगी अनुमित होता है जैसे इच्छा आदि से आत्मा अनुमित होती है। कैसे अनुमित होती है? तो इच्छा आदि गुण पदार्थ होते हैं और गुण का आधार द्रव्य होता है। अतः उसे द्रव्य संस्थान कहते हैं, एतावता गुण पदार्थ इच्छा आदि का जो आधार या स्थान है उस द्रव्य में इच्छा आदि गुण उत्पन्न होते हैं। वही द्रव्य आत्मा कहलाती है। इस प्रकार इच्छा आदि गुणों से आत्मा के साधक अनुमान प्रमाण सामान्यतोदृष्ट अनुमान कहलाता है।

टिप्पणी – भाष्यकार ने बाद में महर्षि के पूर्ववत् अनुमान की दूसरे प्रकार से व्याख्या करते हुए कहता है कि – "अथवा पूर्ववदिति"। यह उनकी अपनी व्याख्या प्रतीति होती है। भाष्यकार का कहना है कि जिन दो पदार्थों के पहले अर्थात् व्याप्ति के प्रत्यक्षकाल में जिस प्रकार का प्रत्यक्ष होता है उनके मध्य अन्यत्र उस पूर्वदृष्ट व्याप्य पदार्थ के तुल्य या सजातीय पदार्थ के दर्शन से उसके व्यापक पदार्थ के तुल्य के सजातीय पदार्थ की अनुमिति होती है – इस स्थल का अनुमान प्रमाण पूर्ववत् अनुमान कहलाता है। यहाँ पूर्ववत् पद क्रियातुल्यता अर्थ में वति प्रत्यय से सिद्ध होता है जिसका अर्थ होता है पूर्वतुल्य। भाष्यकार ने इसका प्रसिद्ध उदाहरण कहा है – "यथा धूमेनाग्निरिति"। धूमत्वरूप से धूम हेतु के द्वारा वह्नित्वरूप से विद्यमान वह्नि की अनुमिति होती है – यह पहले कहा जा चुका है। भाष्यकार ने पश्चात् २.१.४६ भी इसका स्पष्ट प्रतिपादन किया है – "यथा धूमेन प्रत्यक्षेणाप्रत्यक्षस्य वह्नेर्ग्रहणमनुमानम्" (द्वि.खण्ड, बंग संस्करण, पृ. २६५ द्र.)। पहले महानस (पाकशाला) में धूम और वह्नि का जिस रूप में प्रत्यक्ष हुआ था और पश्चात् पर्वत

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

आदि स्थान में उसी तरह पूर्वदृष्ट धूम के सजातीय धूम के दर्शन से पूर्वदृष्ट वह्नि सजातीय अप्रत्यक्ष वह्नि की अनुमिति होती है। इस अनुमिति का अंतिम कारण वह्निव्याप्य धूम की दर्शनात्मक क्रिया होती है जो पाकशाला में प्रथम धूमदर्शन क्रिया के सजातीय होकर उक्त रूप अनुमान प्रमाण पूर्ववत् नाम से कहा जाता है। वाचस्पति मिश्र यहाँ कहते हैं कि भाष्य में उक्त ''प्रत्यक्षभूत'' पद केवल प्रदर्शन है, पहले अन्य किसी प्रमाण से दो पदार्थों में व्याप्य-व्यापकभाव सम्बन्ध के निश्चय होने पर अन्यत्र उस व्याप्य पदार्थ के सजातीय पदार्थ के निश्चय से उस व्यापक के सजातीय पदार्थ की अनुमिति होने पर उस स्थल के अनुमान प्रमाण भी ''पूर्ववत्'' होते हैं।

इसी तरह भाष्यकार शेषवत् पदार्थ की दूसरी व्याख्या करते हैं। शेषवत् पद का अर्थ है परिशेष। ''शिष्यते अवशिष्यते'' इस प्रकार व्युत्पत्ति करके शेष का अर्थ अवशिष्ट पदार्थ होता है। अर्थात् जो पदार्थ किसी प्रमाण से खण्डित ना हो। ''शेषोऽस्ति यस्य प्रतिपाद्यतया''। शेष है अनुमान प्रमाण का प्रतिपाद्य – इस व्युत्पत्ति के अनुसार ज्ञात होता है कि शेष पदार्थ का साधक होता है अनुमान प्रमाण। शेषवत् अनुमान का नाम है – परिशेष अनुमान। अतएव भाष्यकार ने कहा है – ''स च प्रसक्तप्रतिषेधे'' आदि। इसके उदाहरण रूप मे शब्द के गुणत्व साधक अनुमान प्रमाण को कहा है। यहाँ ''सदनित्य'' से ''शब्दस्य'' पर्यन्त सन्दर्भ से शब्द के गुणत्व का साधन हुआ है और ''तस्मिन् द्रव्यगुणकर्म संशये'' आदि सन्दर्भ से उस अनुमान प्रणाली का प्रदर्शन यहाँ हुआ है।

भाष्यकार का तात्पर्य यह है कि महर्षि कणाद ने वैशेषिकदर्शन में द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय – इन छह पदार्थों का उल्लेख किया है। पश्चात् ''सदनित्यं द्रव्यवत् कार्यं कारणं सामान्यविशेषवदिति द्रव्यगुणकर्मणामविशेषः'' इस आठवें सूत्र से सत्ता, अनित्यत्व आदि कुछ धर्मों को द्रव्य, गुण तथा कर्म रूप तीन पदार्थों का साधर्म्य कहा है। अर्थात् इन धर्मों का आश्रय द्रव्य, गुण और कर्म होते हैं। सामान्य, विशेष तथा समवाय पदार्थों में ये धर्म नहीं रहते। कणाद के मत में शब्द में सत्ता एवं अनित्यत्व आदि धर्म रहते हैं। अतः इस मत में शब्द सामान्य, विशेष तथा समवाय से भिन्न होता है। भाष्यकार ने इसी तात्पर्य से पहले शब्द को सामान्य, विशेष तथा समवाय से निर्भक्त कहा है। तात्पर्य यह है कि शब्द में सामान्यत्व, विशेषत्व तथा समवायत्व नहीं रहते, किन्तु शब्द में द्रव्य, गुण और कर्म का साधर्म्य और सत्ता तथा अनित्यत्व आदि रहते हैं। अतः साधर्म्य ज्ञान के कारण संशय होता है कि शब्द द्रव्य है या गुण या कर्म। भाष्यकार ने ''तस्मिन् द्रव्यगुणकर्मसंशये'' कथन से शब्द में अभेद सम्बन्ध से द्रव्यादि

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

का अन्वय करने पर संशय होता है। इससे उपपन्न होता है कि केवल भाव पदार्थ कोटिक अथवा अनेक भाव पदार्थ कोटिक संशय भी भाष्यकार को मान्य है। शब्द से समवाय सम्बन्ध से द्रव्यत्व आदि त्रिकोटिक संशय भी हो सकता है। किन्तु भेदकोटिक संशय भी प्राचीन आचार्यों का अभिमत रहा है।

भाष्यकार ने बाद में कहा है- ''न द्रव्यमेकद्रव्यत्वात्, न कर्म शब्दान्तरहेतुत्वात्''। इनका तात्पर्य यह है कि कणाद के मत में शब्द अनित्य होता है एवं एकमात्र द्रव्य आकाश में विद्यमान रहता है। अतः शब्द का समवायिकरण आकाश होता है। शब्द में एक द्रव्यत्व है। ''एकं द्रव्यं समवायिकरणतया यस्य'' इस तरह विग्रह करने पर बहुव्रीहि समास में ''एक द्रव्यं'' शब्द से ज्ञात होता है कि जिसका समवायिकरण एकमात्र आकाश होता है। शब्द में एक द्रव्यत्व है। ''एकं द्रव्यं समवायिकारणतया यस्य'' इस तरह विग्रह करने पर बहुव्रीहि समास में ''एक द्रव्य'' शब्द से ज्ञात होता है कि जिसका समवायिकरण एकमात्र द्रव्य होता है। अतः एकद्रव्यत्व का तात्पर्य है एकमात्रद्रव्यसमवायिकारणवत्त्व। किन्तु केवल एक द्रव्य किसी द्रव्य पदार्थ का समवायिकारण नहीं होता जैसे वस्त्र का समवायिकारण होता है तन्तु (सूत्र), किन्तु केवल एक सूत्र वस्त्र का उत्पादक नहीं होता। सर्वत्र एक से अधिक द्रव्यविशेष ही अपर द्रव्यविशेष का समवायिकारण होता है। अतः कणाद के मतानुसार उक्त एकद्रव्यत्व हेतु से शब्द का द्रव्यत्व सिद्ध नहीं होता। इसी तरह शब्द कर्म पदार्थ भी नहीं है। भाष्यकार ने इसके साधक हेतु के रूप में ''शब्दान्तर हेतुत्व'' कहा है। शब्द शब्दान्तर का हेतु होता है अर्थात् सजातीय पदार्थ का उत्पादक होता है। यहाँ सजातीयोत्पादकत्व ही उक्त हेतु से भाष्यकार को अभिप्रेत है। क्योंकि इस हेतु से शब्द में कर्म पदार्थ का भेद सिद्ध होता है। वस्तुतः कणाद के मतानुसार पूर्वोत्पन्न शब्द से अपर शब्द उत्पन्न होता है किन्तु कर्म से कर्म उत्पन्न नहीं होता क्योंकि किसी द्रव्य में क्रिया के उत्पन्न होने पर परक्षण में उसका विभाग उत्पन्न होता है। अतः क्रिया मात्र विभाग का जनक होता है, किन्तु यह विभाग केवल प्रथम क्रिया से ही उत्पन्न होता है। विभाग का विभाग नहीं होता अतः प्रथम क्रिया से उत्पन्न अपर क्रिया की उत्पत्ति के विषय में प्रमाण उपलब्ध नहीं है। जो विभाग का जनक नहीं होता उसमें क्रिया या कर्मता नहीं रहती। तात्पर्य यह है कि कर्म पदार्थ में सजातीयोत्पादकत्व नहीं है। कणाद ने स्पष्ट कहा है कि ''द्रव्यगुणयोः सजातीयारम्भकत्वम् साधर्म्यम्''। ''द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते गुणाश्च गुणान्तरम्''। ''कर्म कर्मसाध्यं न विद्यते'' (९.१०.११)। अतः ''शब्दो न कर्म सजातीयोत्पादकत्वात् द्रव्यवत्'' इस अनुमान से शब्द पदार्थ में कर्म का भेद सिद्ध होता है। शब्द में द्रव्य और कर्म का भेद सिद्ध होने पर उसमें द्रव्यत्व तथा कर्मत्व का अत्यन्ताभाव सिद्ध होता है। द्रव्यधर्मी का भेद और द्रव्यत्व का अत्यन्ताभाव एक ही

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

पदार्थ होता है – यह प्राचीनों का एक मत है। शब्द में प्रसक्त द्रव्यत्व, गुणत्व तथा कर्मत्व में से द्रव्यत्व तथा कर्मत्व का अभाव सिद्ध होने पर गुणत्व ही अवशिष्ट रहता है। अतः शब्द का गुणत्व सिद्ध होता है। गुणत्वरूप अवशिष्ट पदार्थविषयक अनुमिति ही शब्द में गुणत्व की सिद्धि है। उक्त स्थल में उस शेष पदार्थ का साधक अनुमान प्रमाण शेषवत् अनुमान का उदाहरण होता है[८५]।

तीसरे प्रकार के अनुमान का नाम है ''सामान्यतोदृष्ट''। यह पूर्ववत् अनुमान का विपरीत होता है। क्योंकि पूर्ववत् अनुमान के स्थल में लिंग और लिंगी का व्याप्य-व्यापकभाव सम्बन्ध लौकिक प्रत्यक्ष के योग्य होता है किन्तु जिस स्थल में लिंग और लिंगी का उक्त रूप सम्बन्ध लौकिक प्रत्यक्ष के योग्य नहीं होता उस स्थल में सामान्यतोदृष्ट अनुमान से प्रकृत साध्य की सिद्धि होती है। जैसे आत्मा देह आदि से भिन्न रूप में लौकिक प्रत्यक्ष का विषय नहीं होता। अतः आत्मा में उत्पन्न इच्छा आदि विशेष गुण उस आत्मा के मानस प्रत्यक्ष का विषय होने पर भी उन गुणों में आत्मा के व्याप्ति सम्बन्ध का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि जिसमें इच्छा आदि गुणों की उत्पत्ति होती है वह देह आदि से भिन्न आत्मा होता है – इस तरह की व्याप्तिनिश्चय के लिए प्रत्यक्षसिद्ध कोई उदाहरण नहीं है। किन्तु जो गुण होता है वह द्रव्य के आश्रित होता है, जैसे रूप आदि गुण, इस प्रकार गुण पदार्थ या गुणत्व में द्रव्याश्रिततत्व रूप व्याप्ति सम्बन्ध का प्रत्यक्ष उपपन्न होता है। क्योंकि बहिरिन्द्रिय ग्राह्य रूप आदि गुणों का द्रव्याश्रिततत्व प्रत्यक्षसिद्ध है। अतः उपर्युक्त रीति से सामान्यतः व्याप्ति सम्बन्ध के प्रत्यक्ष का फलस्वरूप इच्छा आदि मनोग्राह्य किसी द्रव्य का आश्रित होता है जो द्रव्य पदार्थ उसका आश्रय वा आधार होता है – यह उत्पन्न होता है। इस प्रकार इच्छा आदि गुणों के आश्रय रूप में आत्मा नामक द्रव्य पदार्थ सिद्ध होता है।

---

८५ यहाँ तात्पर्यटीकाकार वाचस्पति मिश्र ने कहा है – ''इदन्तु परिशेषस्योदाहरणं नादरणीयम्। व्यतिरेकिणो हि नामान्तरमिदं परिशेष इति। एष पुनरन्वयव्यतिरेकी द्रव्यकर्मान्यत्वे सति सदाद्यभेदस्य सपक्षे रूपादौ सत्त्वात् विपक्षे च सामान्यादावभावात्। तस्मादात्मतन्त्रता साधनमिच्छादीनां परिशेषोदाहरणं द्रष्टव्यम्''। बाद में यह ज्ञात होगा। न्यायवार्त्तिक (१.१.३५) में उद्योतकर ने व्यतिरेकी अनुमान को अवीत अनुमान कहा है। इसके अनुसार वाचस्पति मिश्र ने सांख्यतत्त्वकौमुदी में पहले अनुमान प्रमाण को दो भागों वीत तथा अवीत कहकर विभक्त किया है और शेषवत् को अवीत कहा है। ''व्यतिरेकमुखेन प्रवर्तमानं निषेधकमवीतम् तत्रावीतं शेषवत्''। यहाँ वाचस्पति मिश्र ने शेषवत् अनुमान की व्याख्या में वात्स्यायन के ''प्रसक्तप्रतिषेध'' आदि सन्दर्भ का उल्लेख करके भी पूर्वोक्त उदाहरण को ग्रहण नहीं किया है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

उद्योतकर तथा वाचस्पति मिश्र का कहना है कि इस स्थल में सामान्यतोदृष्ट अनुमान से आत्मा की सिद्धि नहीं होती क्योंकि आत्मा उस अनुमिति का विषय नहीं होता। किन्तु प्रत्येक गुण पदार्थ परतन्त्र अर्थात् पराश्रित होता है। इस तरह सामान्य रूप से गुण पदार्थ में पराश्रितत्व की व्याप्तिनिश्चय होने पर सामान्यतोदृष्ट अनुमान से इच्छा आदि गुणों में पराश्रितत्व सिद्ध होता है। पश्चात् इच्छा आदि गुण पृथिवी आदि किसी द्रव्य में आश्रित नहीं होते – इसके सिद्ध होने पर शेषवत् अनुमान के द्वारा उसमें आत्माश्रितत्व सिद्ध होता है। अतः बाद में शेषवत् अनुमान से आत्मा की सिद्धि होती है। पहले का अनुमान जो इच्छा आदि गुणों के पराश्रितत्व का साधक है वह सामान्यतोदृष्ट अनुमान होता है और पश्चात् इच्छा आदि गुणों का आत्माश्रितत्व का साधक अनुमान शेषवत् होता है। किन्तु महर्षि ने सूत्र १.१.१० में इच्छा आदि को आत्मा का ही हेतु (लिंग) कहा है। तदनुसार भाष्यकार ने यहाँ सामान्यतोदृष्ट अनुमान का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहा है – ''यथेच्छादिभिरात्मा''। तृतीय अध्याय में महर्षि ने अनुमान से देह आदि से भिन्न नित्य आत्मा की सिद्धि करके पश्चात् ज्ञान जो आत्मा का ही गुण है, अपने सिद्धान्त कथन के समय उपसंहार में कहा है कि ''परिशेषाद् यथोक्तहेतूपपत्तेश्च'' (३.२.३९)। यहाँ महर्षि ने परिशेष अनुमान को शेषवत् नामक अनुमान का द्वितीय प्रकार कहा है। परिशेष पद शेषवत् का ही वाचक है। भाष्यकार ने यहाँ परिशेष की व्याख्या में कहा है – ''परिशेषो नाम प्रसक्तप्रतिषेधेऽन्यत्राप्रसंगाच्छिष्यमाणे सम्प्रत्ययः'' (दृष्टव्य तृतीय खण्ड, बंग संस्करण, पृ. २८०)।

तात्पर्य यह है कि उपर्युक्त सूत्र के अनुसार भाष्यकार के मत में प्रसक्त पदार्थों में पहले अन्य प्रमाण से अपर पदार्थ का बाधनिश्चय या अभावनिश्चय हो जाने पर अवशिष्ट पदार्थ (जिसका खण्डन सम्भव नहीं है, उस शेष पदार्थ) का साधक अनुमान किसी स्थल में अन्वयव्यतिरेकी पद से कहे जाने पर भी शेषवत् या परिशेष अनुमान कहलाता है। भाष्यकार ने पहले शब्द के गुणत्व साधक अनुमान को शेषवत् अनुमान का उदाहरण कहा है किन्तु इच्छा आदि गुणों के आश्रयस्वरूप आत्मा के साधक अनुमान को शेषवत् अनुमान नहीं कहा। क्योंकि भाष्यकार की दृष्टि में उस अनुमान में पहले प्रसक्त पदार्थ का प्रतिषेध सिद्ध नहीं किया जा सका अर्थात् वह अनुमान इस पदार्थ के बोध का निश्चयपूर्वक नहीं हुआ है। सामान्यतः व्याप्तिनिश्चय के फलस्वरूप इच्छा आदि गुणों के आधार रूप में किसी द्रव्य के सिद्ध होने पर भाष्यकार के मत में अनुमान द्वारा आत्मा की सिद्धि होती है। हेतु यह है कि इच्छा आदि गुणों का आधार यह द्रव्य (आत्मा) देह आदि से भिन्न है – यह पश्चात् सिद्ध होता है। किन्तु महर्षि ने तृतीय अध्याय के प्रथम आह्निक में आत्मपरीक्षा प्रकरण में देह आदि से भिन्न आत्मा को

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अनुमान प्रमाण से सिद्ध किया है। यह समझना आवश्यक है कि आत्मा के पहले सिद्ध नहीं होने पर उस विषय में अनुमान नहीं हो सकता। तृतीय अध्याय के द्वितीय आह्निक में अनुमान प्रमाण से पहले सिद्ध किया गया है कि ज्ञान भूत, इन्द्रिय तथा मन का गुण नहीं है और पश्चात् परिशेष अनुमान से सिद्ध किया गया है कि ज्ञान आत्मा का ही गुण है। भाष्यकार ने वहाँ कहा है – ''भूतेन्द्रियमनसां प्रतिषेधे द्रव्यान्तरं न प्रसज्यते शिष्यते चात्मा, तस्य गुणो ज्ञानमिति ज्ञायते'' (३.२.३९) किन्तु आत्मा के पहले सिद्ध हुए बिना यह बात नहीं कही जा सकती। अतः पहले सामान्यतोदृष्ट अनुमान से आत्मा की सिद्धि होती है – यही महर्षि को अभिप्रेत रहा है। इससे प्रतीत होता है कि भाष्यकार को यह मान्य नहीं है कि व्यतिरेकी अनुमान के रूप में परिचित शेषवत् अनुमान आत्मा का साधक है जैसाकि वाचस्पति मिश्र ने कहा है। व्यतिरेकी अनुमान ही शेषवत् की प्राचीन व्याख्या है। न्यायवार्त्तिक (१.१.५) में उद्योतकर ने पहले कहा है कि ''त्रिविधमिति, अन्वयी, व्यतिरेकी अन्वयव्यतिरेकी च''। पश्चात् गङ्गेश उपाध्याय ने तत्त्वचिन्तामणि में ऐसी व्याख्या की है। अनुमान के इन तीन प्रमाणों की व्याख्या में उदाहरण तथा क्रम को लेकर बहुत मतभेद है। पश्चात् हेतुवाक्य तथा उदाहरणवाक्य आदि के लक्षण आदि की व्याख्या के समय इस विषय में आलोचना होगी। वैशेषिकदर्शन के द्वितीय अध्याय के प्रथम आह्निक में तथा तृतीय अध्याय के द्वितीय आह्निक में महर्षि कणाद ने कहा है – ''सामान्यतोदृष्टाच्चाविशेषः'' (२.१.१६, ३.२.७)। इन दोनों सूत्रों का उपस्कार यहाँ आलोचनीय है। प्रथमोक्त सूत्र के उपस्कार में शंकर मिश्र ने अनुमान प्रमाण के पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट नाम से तीन प्रकार कहे हैं और वायु के साधक अनुमान प्रमाण को सामान्योदृष्ट अनुमान का उदाहरण कहा है। कहाँ कैसे सामान्यतोदृष्ट अनुमान होगा तथा कहाँ किस रूप में केवलव्यतिरेकी अनुमान होगा – यह भी यहाँ कहा गया है। कुसुमाञ्जलि के तृतीय स्तबक में उपमान प्रमाण में अनुमानत्व का निराकरण के अवसर पर प्रकार व्याख्याकार वर्धमान उपाध्याय एवं मकरन्द व्याख्याकार रुचिदत्त ने भी इस विषय में बहुत बातें कही हैं जो संक्षेप में यहाँ नहीं कही जा सकती।

किन्तु यहाँ इतना कहना आवश्यक है कि शंकर मिश्र ने वैशेषिक मत के अनुसार त्रिविध अनुमान अवश्य कहा है किन्तु कणादसूत्र के अनुसार शेषवत् अनुमान ज्ञात नहीं होता। वास्तविकता तो यह है कि वैशेषिक सम्प्रदाय के अनुसार अनुमान के दो ही प्रकार होते हैं तीन नहीं। वैशेषिक आचार्य प्रशस्तपाद ने अनुमान की व्याख्या में स्पष्ट कहा है – ''तत्तु द्विविधं दृष्टं सामान्यतोदृष्टञ्च''। गौतम के पूर्ववत् अनुमान को ही इन्होंने ''दृष्ट'' नाम से कहा है। भासर्वज्ञ ने भी न्यायसार में लिंग को दृष्ट एवं सामान्यतोदृष्ट नाम से दो प्रकार का कहकर इन्द्रिय पदार्थ के अनुमापक लिंग को सामान्यतोदृष्ट का उदाहरण

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

कहा है। मानमेयोदय में मीमांसक नारायण भट्ट ने शेषवत् का उल्लेख न करके इन्हीं दो नामों से अनुमान के दो प्रकारों को कहा है। किन्तु इस मत में पूर्वदृष्ट एवं पश्चात् दृष्ट हेतु पदार्थ के अभिन्न होने से तथा इसी प्रकार अनुमेय पदार्थ के पूर्वदृष्ट पदार्थ से अभिन्न होने से ऐसे स्थल के अनुमान का नाम ''दृष्ट'' कहा गया है। ''कृत्तिकोदयमालक्ष्य रोहिण्यनुमितिर्यथा'' (मानमेयोदय) जहाँ पूर्वदृष्ट पदार्थ के सजातीय भिन्न पदार्थ के दर्शन से पूर्वदृष्ट पदार्थ के सजातीय भिन्न पदार्थ की अनुमिति होती है उस स्थल में प्रयुक्त अनुमान को ''सामान्यतोदृष्ट'' कहते हैं।

''तद्धि सामान्यतोदृष्टं यथा वह्न्यनुमादिकम्'' (मानमेयोदय) इस मत में अतीन्द्रिय पदार्थ की अनुमिति नहीं होती। अर्थापत्ति नामक पृथक् प्रमाण से अनेक अतीन्द्रिय पदार्थों की सिद्धि होती है। किन्तु मीमांसा से भिन्न सम्प्रदाय (दर्शन) में यह मान्य नहीं है। सांख्यकारिका में ईश्वरकृष्ण ने स्पष्ट कहा है – ''सामान्यतस्तु दृष्टादतीन्द्रियाणां प्रतीतिरनुमानात्''। मीमांसा तथा वेदान्त दर्शन में व्यतिरेकव्याप्ति मान्य नहीं है किन्तु अर्थापत्ति प्रमाण से ये कार्य सम्पादन करते हैं। इस मत में सर्वत्र अन्वय दृष्टान्त के साहाय्य से अन्वयव्याप्तिज्ञानजन्य अनुमिति उत्पन्न होती है। अतः इस मत में सभी अनुमान अन्वयी होते हैं। व्यतिरेकी तथा अन्वयव्यतिरेकी नामक अनुमान इस मत में मान्य नहीं हैं। आगे हेतुवाक्य और उदाहरणवाक्य की व्याख्या में इस विषय में अधिक आलोचना होगी। अनुमान के प्रकार भेद तथा उनकी व्याख्या में पर्याप्त मतभेद है।

भाष्य **– विभागवचनादेव त्रिविधमिति सिद्धे त्रिविधवचनं महतो महाविषयस्य न्यायस्य लघीयसा सूत्रेणोपदेशात् परं वाक्यलाघवं मन्यमानस्यान्यस्मिन् वाक्य लाघवेऽनादरः। तथा चायमस्येत्थं भूतेन वाक्यविकल्पेन प्रवृत्तः सिद्धान्ते छले शब्दादिषु च बहुलं समाचारः शास्त्रे[८६] इति।**

सद्विषयञ्च प्रत्यक्षं सदसद्विषयञ्चानुमानम्। कस्मात्? त्रैकाल्यग्रहणात्। त्रिकालयुक्ता अर्था अनुमानेन गृह्यन्ते, भविष्यतीत्यनुमीयते, भवतीति, चाभूदिति च। असच्च खल्वतीतमनागतञ्चेति।

---

[८६] महतस्त्रिविधस्य महाविषयस्य अतीतानागतवर्तमानविषयस्य लघीयसा सूत्रेण तत्पूर्वकमित्येतावतैव उपदेशात् परं वाक्यलाघवं मन्यमानस्यान्यस्मिन् वाक्यलाघवेऽनादरः सूत्रकारस्येति शिष्यान् व्युत्पादयिषोः। अत्र निदर्शनं तथा चायमस्य समाचार इत्थंभूतेन वाक्यविकल्पेन वैचित्र्येण प्रवृत्त इति योजना। – तात्पर्यटीका

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अनुवाद – विभागवाक्य (पूर्ववत् आदि वाक्य) से अनुमान के त्रैविध्य के सिद्ध होने पर सूत्र में त्रिविध पद का प्रयोग महाविषयन्याय (अनुमान प्रमाण) के अतिलघु एक सूत्र से उपदेश में अत्यन्त वाक्यसंक्षेप के कारण सूत्रकार का अन्य वाक्यसंक्षेप में अनादर (इससे भी अधिक वाक्यसंक्षेप में इच्छा नहीं रहने) के कारण सूत्रकार ने त्रिविध पद का प्रयोग किया है। इस प्रकार सूत्रकार महर्षि का ऐसे वाक्यविन्यास के कारण शास्त्र (न्यायदर्शन) में सिद्धान्त में छल तथा शब्द आदि में यह समाचार अर्थात् अतिरिक्त वाक्यसंक्षेप में इच्छा नहीं रहने से स्पष्टार्थ वाक्यप्रयोग में अधिक व्यवहार देखा जाता है।

प्रत्यक्ष सद्‌विषयक अर्थात् केवल वर्तमान पदार्थविषयक होता है किन्तु अनुमान सद्‌विषयक एवं असद्‌विषयक होता है। कैसे? तीनों काल के पदार्थों का यहाँ ग्रहण होता है। अनुमान प्रमाण से त्रैकालिक पदार्थ परिगृहीत होते हैं। होगा – ऐसा अनुमान होता है, हो रहा है – यह भी अनुमान किया जाता है और हुआ था – ऐसा भी अनुमान होता है। असत् का अभिप्राय अविद्यमान होता है जो भूत एवं भविष्यत् में देखा जाता है।

टिप्पणी – प्रश्न आता है कि सूत्र में विभाग वचन अर्थात् अनुमान प्रमाण का तीन प्रकार पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट कथन से अनुमान प्रमाण का त्रैविध्य ज्ञात होता है। तथापि सूत्रकार ने इस विभाग के पहले त्रिविध पद का प्रयोग क्यों किया क्योंकि सूत्र का पहला लक्षण है स्वल्पाक्षरत्व, तब सूत्रकार ने अनावश्यक यह अधिक "त्रिविध" पद क्यों प्रयुक्त किया।[८७] इसके उत्तर में भाष्यकार ने कहा है कि सूत्रकार का अत्यधिक वाक्यसंक्षेप में अनादर अर्थात् ही कारण है। क्योंकि अनुमानरूप न्याय बहुत

---

८७ वाचस्पति मिश्र ने इस भाष्य सन्दर्भ की व्याख्या में कहा है – "त्रिविधमिति विभागवचनादेव त्रिविधे पूर्ववदादौ सिद्धे किमर्थं पूर्ववदाद्युपादानं सूत्रेणेति, तत्र समाधानम् 'त्रिविधवचनं त्रिविधस्य पूर्ववदादेर्वचनमुक्तिः" (तात्पर्यटीका, पृ. १२१) "विभागवचनादेवेत्यादिभाष्यपंक्ति व्याख्यायाः शंकापोषणे तात्पर्यम्" (परि. पृ. ७५९) "ऋजुभाष्यं कुतो वक्रगत्या व्याख्यायत इत्यत आह शंकापोषण इति। पूर्ववदादिपदत्वव्याख्यानमेव शंकापुष्टिः" (परिशुद्धि प्रकाश) प्रथम संस्करण में वाचस्पति मिश्र की व्याख्या में लिखित है। किन्तु इस प्रकार व्याख्या का कारण ज्ञात नहीं है। परिशुद्धि में उदयनाचार्य ने अतिसंक्षेप में जो कहा है वह भी समझ में नहीं आता है। किन्तु अनुमान प्रमाण के पूर्ववत् आदि नाम का कथन ही उसका विभाग है जो अवश्य कर्त्तव्य है। केवल त्रिविध पद कहने से उक्त नामत्रय का कथन नहीं होता न तो वे नाम ज्ञात ही होते हैं। भाष्यकार के द्वारा अंत में "उक्तं तथा चायं" सन्दर्भ से सरल रूप से प्रथम कथन का उक्त रूप तात्पर्य ही ज्ञात होता है। जयन्त भट्ट ने भी भाष्यकार की बात को सरल रूप से उल्लिखित किया है (न्यायमञ्जरी, पृ. १२७ पर द्रष्टव्य)।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

बड़ा है जो तीन प्रकार का है और उनके अवान्तर प्रकार भी बहुत हैं। उस अनुमान का विषय भी बहुत बड़ा है – अतीत, भविष्यत् और वर्तमान उसके विषय होते हैं। इस प्रकार के अनुमान प्रमाण का अति लघुरूप सूत्र से उपदेश करने के पश्चात् सूत्रकार ने इसी को अति संक्षिप्त मानकर और अधिक वाक्यसंक्षेप करने की इच्छा नहीं की। तात्पर्य यह है कि – ''स्वल्पाक्षरमसन्दिग्धम्'' रूप सूत्र के लक्षण में स्वल्पाक्षरत्व की तरह असंदिग्धत्व भी कहा गया है। अतः सूत्र में पूर्ववत् आदि अनुमान प्रमाण के प्रमाणत्रय का नाम कहकर शिष्यों के सन्देह का निराकरण किया गया है। इसी अभिप्राय से महर्षि ने त्रिविध पद का सूत्र में व्यवहार किया है। भाष्यकार ने इसका दृष्टान्त प्रदर्शित करते हुए कहा है कि सूत्रकार को इस शास्त्र में ऐसे वाक्यविन्यास से इस तरह के अनेक समाचार प्रवृत्त होते हैं जैसे सिद्धान्त पदार्थ का प्रकार भेद कहने के लिए कहा है – ''स चतुर्विधः'' छल पदार्थ का प्रकार भेद कहने के लिए ''तत् त्रिविधम्'' तथा शब्द प्रमाण का प्रकार भेद कहने के लिए सूत्र में कहा गया है ''स द्विविधः''। इस प्रकार बहुत स्थलों में अत्यन्त वाक्यसंक्षेप में इच्छा नहीं रहने से कुछ-कुछ अधिक वाक्य उन्होंने कहे हैं। इसी प्रकार ''त्रिविधम्'' भी कहा है। भाष्यकार के इस कथन से यह भी ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में विरोधी सम्प्रदाय जो न्यायसूत्र के अनेक स्थलों में व्यर्थत्व दिखाते रहे उसका समाधान भी यहाँ भाष्यकार ने किया है। आगे सूत्र १.२.३ के भाष्य में भाष्यकार का कथन और अधिक स्पष्ट होगा।

प्रत्यक्ष और अनुमान में विषय भेद के कारण जो भेद है उसका प्रदर्शन करते हुए भाष्यकार ने कहा है – ''सदविषयञ्च प्रत्यक्षम्''। अभिप्राय यह है कि लौकिकसन्निकर्ष से सभी लौकिक प्रत्यक्ष की उत्पत्ति होती है जो केवल वर्तमान पदार्थविषयक होता है किन्तु अनुमान वर्तमान तथा अवर्तमान सभी पदार्थविषयक होता है। भाष्यकार ने इसका हेतु कहा है – ''त्रैकाल्यग्रहणात्''। बाद में इसकी व्याख्या में कहा है कि त्रैकाल्य का अर्थ होता है – त्रिकालयुक्त पदार्थों का अनुमान प्रमाण में परिग्रह। विद्यमान पदार्थ जैसे अनुमान का विषय होता है, इसी प्रकार अतीत और भविष्यत् पदार्थ भी अनुमान का विषय होता है। भाष्यकार के कथन से कालत्रय के भेद के कारण भी अनुमान प्रमाण का त्रैविध्य सूचित होता है। चरकसंहिता में इसी तात्पर्य से उक्त है – ''प्रत्यक्षपूर्वं त्रिविधं त्रिकालञ्चानुमीयते''। आगे क्रमशः वर्तमान, भूत तथा भविष्यत् पदार्थविषयक अनुमान का उदाहरण दिखाया गया है।[८८] भाष्यकार ने पहले (पृ. ८०) भाव और अभाव अर्थ में

---

[८८] प्रत्यक्षपूर्वं त्रिविधं त्रिकालञ्चानुमीयते।
वह्निर्निगूढो धूमेन मैथुनं गर्भसम्भवात्॥
एवं व्यवस्यतेऽतीतं बीजात् फलमनागतम्।
दृष्ट्वा बीजात् फलं जातमिहैव सदृशं बुधाः। – चरक संहिता, सूत्रस्थान ११.१३-१४

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

सत् तथा असत् पद का प्रयोग किया है। चरकसंहिता के सूत्रस्थान (अ. ११) में पदार्थ के दो प्रकार भाव और अभाव सिद्धान्त रूप में कहे गए हैं – "द्विविधमेव खलु सर्वं सच्चासच्च" । भाष्य में भाष्यकार का असत् शब्द का अभाव अर्थ में प्रयोग भ्रम हो सकता है अतः उन्होंने असत् से अतीत और अनागत को लिया है। अस् धातु का अर्थ है विद्यमानता । जो तत्काल में विद्यमान रहता है उसको सत् कहा जाता है और जो तत्काल में विद्यमान नहीं रहता उस अतीत एवं भविष्यत् पदार्थ को असत् कहा जाता है। इसी अभिप्राय से भाष्यकार ने कहा है कि "सदसद्विषयञ्चानुमानम्" । जो बाद में उत्पन्न होता है या हो सकता है उस अर्थ में प्राचीन काल में अनागत शब्द का व्यवहार होता रहा है। यथा "हेयं दुःखमनागतम्" योगदर्शन में उक्त है।

यद्यपि बङ्ला में सम्भावना अर्थ में अनुमान शब्द का प्रयोग होता है और सम्भावना संशयात्मक ज्ञानविशेष को कहते हैं और अनुमान या अनुमितिज्ञान दर्शन में निश्चयात्मक होता है। अनुमानरूप द्वितीय प्रमाण से निश्चयात्मक यथार्थज्ञान की उत्पत्ति होती है। किसी विषय में सम्भावना मात्र से अथवा भ्रमात्मक अनुमिति होने से उसको अनुमान प्रमाण का फल नहीं कहा जा सकता। बङ्ला में अनुमान प्रमाण के अर्थ में भी अनुमान शब्द का प्रचुर प्रयोग देखा जाता है। जैसे श्री चैतन्यचरितामृत में उक्त है – "शिष्य कहे ईश्वरतत्त्व साधि अनुमाने" । (मध्य, षष्ठ प.) वस्तुतः यह सनातन सत्य है कि ईश्वर आदि अतीन्द्रिय पदार्थ का प्रतिपादन करके नास्तिक मत के निराकरण हेतु परवर्ती काल में अनुमान प्रमाण की अलग कल्पना नहीं हुई है। किसी समय में किसी उद्देश्य से नास्तिक शिरोमणि चार्वाक अपने बुद्धिबल से इस सत्य का भले ही अपलाप करें किन्तु उन्होंने स्वयं अनुमान के आधार पर अनेक बातें कही हैं। अन्यथा प्रतिवादी के साथ उनका विचार ही सम्भव नहीं है। केवल प्रत्यक्ष प्रमाण के आधार पर तथा अनेक विषयों में केवल सम्भावना के आधार पर उनकी भी जीवनयात्रा नहीं चल सकती। यह परम सत्य है कि अनादिकाल से सभी प्राणी अनेक अप्रत्यक्ष विषय में अनुमान प्रमाण से यथार्थ का निश्चय करके जीवनयात्रा का निर्वाह करते आए हैं। प्राचीन आचार्यगण ने अनुमान प्रमाण को सफल लोकयात्रा निर्वाहक कहा है। वेद में भी ऐसा उल्लेख मिलता है। वेदमूलक मनुस्मृति में धर्मतत्त्व के निर्णय हेतु प्रत्यक्ष के साथ अनुमान के सम्यक् ज्ञान की कर्त्तव्यता उपदिष्ट है।[८९]

---

८९. स्मृतिः प्रत्यक्षमैतिह्यमनुमानं चतुष्टयम्।
एतैरादित्यमण्डलं सर्वैरेव विधास्यते ॥ – तैत्तिरीय आरण्यक, १ प्रपाठक, तृतीय अनुवाक

प्रत्यक्षमनुमानञ्च शास्त्रञ्च विविधागमम्।
CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता ॥ – मनुस्मृति १२.१०५

अनुमान के प्रामाण्य के खण्डन में चार्वाक का कथन तथा उसके खण्डन हेतु कुसुमाञ्जलि में उदयनाचार्य के कथन, पश्चात् खण्डनखण्डखाद्य में श्रीहर्ष द्वारा उदयनाचार्य के कथन का प्रतिवाद तथा इसकी व्याख्या, पुनश्च तत्त्वचिन्तामणि में गङ्गेश द्वारा श्रीहर्ष के कथन का प्रतिवाद और अनुमान के दूषक उपाधि का लक्षण, विभाग एवं उदाहरण, इनमें मतभेद तथा अनुमान के प्रामाण्य में वाचस्पति मिश्र आदि की अकाट्य युक्तियाँ इस ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड, बंग संस्करण, में पृ. २१६-४९ पर द्रष्टव्य है।

***भाष्य* – अथोपमानम्**

अनुवाद – अनुमान प्रमाण के निरूपण के बाद उपमान प्रमाण का निरूपण करना है।

सूत्र – प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम् ।१.१.६

अनुवाद – प्रसिद्ध अर्थात् अच्छी तरह ज्ञात पदार्थ के साथ सादृश्य प्रयुक्त साध्य-साधन अर्थात् किसी साध्य पदार्थ के यथार्थ निश्चय का करण उपमान प्रमाण होता है।

***भाष्य* – प्रज्ञातेन सामान्यात् प्रज्ञापनीयस्य प्रज्ञापनमुपमानमिति । यथा गौरेवं गवय इति । किं पुनरत्रोपमानेन क्रियते? यदा खल्वयं गवा समानधर्मं प्रतिपद्यते तदा प्रत्यक्षतस्तमर्थं प्रतिपद्यते इति। समाख्यासम्बन्धप्रतिपत्तिरुपमानार्थ इत्याह। यथा गौरेवं गवय इत्युपमाने प्रयुक्ते गवा समानधर्माणमर्थमिन्द्रियार्थ-सन्निकर्षादुपलभ्यमानोऽस्य गवयशब्दः संज्ञा इति संज्ञासंज्ञिसम्बन्धं प्रतिपद्यत इति। यथा मुद्गस्तथा मुद्गपर्णी, यथा माषस्तथा माषपर्णीत्युपमाने प्रयुक्ते उपमानात् संज्ञा-संज्ञिसम्बन्धं प्रतिपद्यमानस्तामोषधीं भैषज्यायाहरति । एवमन्यो-ऽप्युपमानस्य लोके विषयो बुभुत्सितव्य इति।**

अनुवाद – अच्छी तरह से ज्ञात पदार्थ के साथ सादृश्य के कारण प्रज्ञापनीय पदार्थ का प्रज्ञापन अर्थात् जिससे उसका यथार्थज्ञान होता है वह उपमान प्रमाण कहलाता है। उदाहरण है गवय नामक पशु गो के सदृश होता है। (पूर्वपक्ष) यहाँ उपमान प्रमाण करता क्या है अर्थात् उपमान प्रमाण यहाँ अकिंचित्कर होता है। उसका कोई प्रयोजन नहीं है। क्योंकि जिस समय में व्यक्ति पूर्वोक्त वाक्य का श्रोता गवय पशु में गो के साथ समान धर्म अर्थात् सादृश्य का प्रत्यक्ष करता है उस समय में प्रत्यक्ष प्रमाण से उस पदार्थ के सादृश्य के कारण गवय पशु को जानता है। (उत्तरपक्ष) समाख्या (संज्ञा) शब्द से सम्बन्ध का ज्ञान अर्थविशेष में वाच्यत्व सम्बन्ध का ज्ञान उपमान प्रमाण का प्रयोजन होता है – महर्षि गौतम ने यही कहा है। "यथा गौस्तथा गवयः" इस उपमान वाक्य के प्रयुक्त होने पर गो के साथ समान धर्मविशिष्ट पदार्थ गवय पशु की इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

उपलब्धि होने पर पश्चात् सादृश्य विशिष्ट उस गवय पशु के प्रत्यक्ष होने के कारण गवय शब्द इसकी संज्ञा है – इस प्रकार का संज्ञा संज्ञि सम्बन्ध का ज्ञान अर्थात् यहाँ उस व्यक्ति का गवयत्व रूप जाति विशिष्ट पशुओं में गवय शब्द का वाच्यत्वरूप शक्ति का निर्णय ही उपमान प्रमाण का फल होता है। अन्य उदाहरण भी है। ''यथा मुद्गस्तथा मुद्गपर्णी'' अर्थात् मुद्गपर्णी नामक औषधि विशेष मूंग के सदृश होती है और माषपर्णी औषधि विशेष माष के सदृश होती है – इस प्रकार उपमान वाक्य के प्रयोग होने पर उपमान प्रमाणजन्य संज्ञा-संज्ञिसम्बन्ध का निर्णय होता है। और तब उसका औषधि के लिए संग्रह किया जाता है। इस प्रकार अन्य भी अनेक विषय उपमान प्रमाण के होते हैं जो इच्छा करने पर जाने जा सकते हैं।

टिप्पणी – उद्देशक्रम के अनुसार महर्षि ने इस सूत्र से तृतीय प्रमाण उपमान का लक्षण कहा है। ''प्रसिद्धसाधर्म्यमुपमानम्'' कहने पर जो प्रकृत उपमान नहीं है किन्तु उपमान का आभास है उसमें लक्षण की अतिव्याप्ति होती है। अतः ''साध्यसाधने'' पद कहा गया है। ''साध्यसाधनमुपमानम्'' कहने पर प्रत्यक्ष के साधन एवं सुख आदि के साधन में भी यह उपमान लक्षण अतिव्याप्त होता। अतः ''प्रसिद्धसाधर्म्यात्'' कहा गया है। उद्योतकर ने इस पद में बहुव्रीहि समास माना है। जयन्त भट्ट ने कहा है – ''कर्म धारयस्तृतीयासमासो बहुव्रीहिर्वा''। भाष्यकार का अभिमत है यहाँ तृतीया समास। अतः इन्होंने भाष्य में कहा है – ''प्रज्ञातेन सामान्यात्'' जो पदार्थ पहले से अच्छी तरह ज्ञात हो उसके साथ समानत्व या सादृश्य ही ''प्रसिद्धसाधर्म्य'' पद से अभिप्रेत है। अप्रसिद्ध का साधर्म्य किसी साध्य के सिद्धि का प्रयोजक नहीं होता अतः साधर्म्य का भी प्रसिद्ध या प्रज्ञात होना आवश्यक है – यह भी उक्त पद से जाना जाता है। अब लक्षण यह हुआ कि प्रसिद्धसाधर्म्य के आधार पर अदृष्ट पूर्व किसी पदार्थ के सादृश्य का दर्शन होने पर जो अज्ञात साध्यविशेष का साधन अर्थात् साध्यसिद्धि का कारण होता है वही उपमान प्रमाण है। भाष्यकार ने ''साध्य साधन'' की व्याख्या में कहा है – ''प्रज्ञापनीयस्य प्रज्ञापनम्'' और इसके उदाहरण में कहा है – ''यथा गौरेवं गवय इति''। गवय नामक एक प्रकार का पशु होता है जिसे किसी-किसी प्रान्त में ''नीलगाय'' कहते हैं। इसको गलकम्बल (लम्बा सा चर्म) गला में नहीं होता अतः इसे गो नहीं कहते किन्तु उसके सदृश कहते हैं। जिसने जीवन में कभी गवय को नहीं देखा, जिसे गवय शब्द का अर्थ ज्ञात नहीं है किन्तु गो का अच्छी तरह ज्ञान है और यह देखा-सुना है उसको जिस वनवासी ने गवय को देखा है और जानता है वह कहता है कि गो के सादृश ही गवय होता है। पश्चात् वह व्यक्ति किसी समय में कहीं पर जब गवय को देखता है तो उसमें गो का सादृश्य देखकर उस पूर्वश्रुत वचन के अनुसार अर्थस्मरण करके गवयत्व जाति विशिष्ट

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection.

पशु गवय शब्द का वाच्य है – इस प्रकार का यथार्थ बोध करता है। इसी का नाम है उपमिति और इसी उपमिति का करण यहाँ उपमान प्रमाण कहलाता है। स्वयं महर्षि ने भी आगे जाकर उपमान की प्रामाण्य परीक्षा के समय (सू. २.१.४७-४८) इस प्रकार के संज्ञा-संज्ञिसम्बन्ध के निर्णय को ही उपमान प्रमाण का फल कहा है। जो (निर्णय) किसी अन्य प्रमाण से उत्पन्न नहीं होता है। इसके अनुसार ही भाष्यकार ने यहाँ कहा है – ''समाख्यासम्बन्धप्रतिपत्तिरुपमानार्थ इत्याह'' इसी सिद्धान्त के आधार पर कुसुमाञ्जलि में उदयनाचार्य ने कहा है –

सम्बन्धस्य परिच्छेदः संज्ञायाः संज्ञिना सह।
प्रत्यक्षादेरसाध्यत्वादुपमानफलं विदुः॥ – ३.१०

उदयनाचार्य ने इस कारिका के विवरण में कहा है –''यथा गौस्तथा गवय इति श्रुत्यतिदेशवाक्यस्य गोसदृशं पिण्डमनुभवतः स्मरतश्च वाक्यार्थमयमसौ गवयशब्द वाच्य इति भवति मतिः'' किन्तु ''अयं गवयपदवाच्यः'' इस प्रकार की उपमिति के उत्पन्न होने पर उस दृष्ट गवय में ही गवय शब्द के वाच्यत्व का निर्णय होता है। गवयत्वरूप से सकल गवय में गवय शब्द के वाच्यत्व का निर्णय नहीं होता। इसलिए परवर्ती काल में अनेक नव्यनैयायिकों ने ''गवयो गवयपदवाच्यः'' इत्याकारक उपमिति का समर्थन किया है। उदयनाचार्य ने विचार के द्वारा समर्थित किया है कि गवयत्व ही गवय शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त अर्थात् शक्यतावच्छेदक है, गोसादृश्य उसका प्रवृत्तिनिमित्त नहीं है।

भाष्यकार ने उपमान का अन्य उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहा है – ''यथा मुद्गस्तथा मुद्गपर्णी, यथा माषस्तथा माषपर्णी'' इस प्रकार का उपमान वाक्य का प्रयोग करके उपमाण प्रमाण से औषधि विशेष मुद्गपर्णी तथा माषपर्णी शब्द के साथ उसके वाच्यत्व के सम्बन्ध का निर्णय किया जाता है। तब जिज्ञासु व्यक्ति औषधि के लिए मुद्गपर्णी तथा माषपर्णी का संग्रह करता है। अभिप्राय यह है कि किसी औषध के लिए मुद्गपर्णी तथा माषपर्णी की आवश्यकता होने पर उनके जानकार व्यक्ति से उनके बारे में पूछता है और वह जानकार व्यक्ति उनके बारे में पूछता है और वह जानकार व्यक्ति कहता है कि ''यथा मुद्गस्तथा मुद्गपर्णी यथा माषस्तथा माषपर्णी'' अर्थात् मूंग और माष (उरद) की तरह यथाक्रम मुद्गपर्णी तथा माषपर्णी होती है। पश्चात् वह जिज्ञासु व्यक्ति किसी जगह में मुद्गपर्णी तथा माषपर्णी को देखकर उनमें क्रमशः मूंग और माष का सादृश्य देखता है। अब पूर्वश्रुत वाक्यार्थ का स्मरण होता है पश्चात् उन औषधिविशेष में मुद्गपर्णी तथा माषपर्णी शब्द के वाच्य का बोध होता है – यह भी उपमान प्रमाण का फल उपमिति ज्ञान होता है। यद्यपि इन सभी स्थलों में उपदेष्टा का वचन अर्थात् आगम प्रमाण (दृष्टार्थक शब्द प्रमाण)

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

विद्यमान है और उससे केवल सादृश्य का ज्ञान होता है तथापि उक्त वाक्य से संज्ञा-संज्ञिसम्बन्ध का ज्ञान नहीं होता क्योंकि उक्त सम्बन्ध का ज्ञान वाक्य प्रतिपाद्य नहीं होता। पश्चात् गवय आदि के प्रत्यक्ष होने पर भी गवयादि शब्द के साथ वाच्यत्व के सम्बन्ध का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान नहीं होता क्योंकि वह लौकिक प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। अतः प्रत्यक्ष तथा शब्द प्रमाण से उपमान प्रमाण की फलसिद्धि नहीं हो सकती। अतः तृतीय प्रमाण उपमान अनावश्यक नहीं हो सकता। उद्योतकर ने दिङ्नाग की ऐसी कथा के खण्डन में कहा है – ‘‘अहो प्रमाणभिज्ञता भदन्तस्य। गवा गवयसारूप्यप्रतिपत्तेस्तु संज्ञा-संज्ञिसम्बन्धं प्रतिपद्यते इति सूत्रार्थः। तस्मादपरिज्ञाय सूत्रार्थं यत्किंचिदुच्यते’’। दिङ्नाग ने महर्षि के सूत्र का अर्थ नहीं समझकर वैसी व्यर्थ बात कही है। उक्त रूप सादृश्य के प्रत्यक्ष से उत्पन्न संज्ञा-संज्ञिसम्बन्ध का बोध ही उपमिति ज्ञान होता है। पूर्वश्रुत वाक्यजनित संस्कारजन्य स्मृतिसापेक्ष उक्त रूप सादृश्य का प्रत्यक्ष ही उपमिति का कारण अर्थात् उपमान प्रमाण होता है।

किन्तु उपमान प्रमाण के स्वरूप के विषय में मतभेद है। यहाँ भाष्यकार की उक्ति से ज्ञात होता है कि इनके मत में उपर्युक्त स्थलों में पूर्वश्रुत ‘‘यथा गौरेवं गवयः’’ इस प्रकार का उपमान वाक्य ही उपमान प्रमाण है। न्यायमञ्जरीकार जयन्त भट्ट ने उपर्युक्त मत को वृद्धनैयायिकों का मत मानकर व्याख्या की है। किन्तु तात्पर्यटीकाकार वाचस्पति मिश्र ने भाष्यकार के उक्त सन्दर्भ की व्याख्या दूसरी तरह से की है। गवय शब्द के वाच्यत्व रूप में प्रज्ञापनीय और जिसमें गो का सादृश्य देखा जाए उस गवयत्व विशिष्ट पिण्ड का गवय रूप में प्रज्ञापन ही उपमिति ज्ञान होता है। उपमान नामक तृतीय व्यापार से उक्त रूप में गवयत्वविशिष्ट पिण्ड (देह विशेष) का प्रज्ञापन ही उस प्रमाण का व्यापार या कार्य होता है। अतः कहा है कि ‘‘प्रमाणव्यापारः प्रज्ञापनमुक्तम्’’। भाष्यकार ने सूत्रगत साधन शब्द का अर्थ प्रज्ञापन किया है वही उपमान प्रमाण का फल उपमिति है। जिससे उपमिति रूप साध्य की सिद्धि हो अर्थात् उक्त साध्य (प्रज्ञापनीय पदार्थ) का साधन (सिद्धि का कारण) उपमान प्रमाण होता है। अतः वाचस्पति मिश्र ने सूत्रार्थ की व्याख्या करते हुए पहले ही कहा है कि – ‘‘अत्रापि यत इत्याध्याहार्यम् सिद्धिसाधनम्’’। किन्तु यह हम लोगों की समझ में नहीं आता है कि भाष्यकार के उक्त संदर्भ में साधन शब्द भाव अर्थ में ल्युट् प्रत्यय करके सिद्ध होता है और उसका अर्थ होता है सिद्धि। अतः यहाँ ‘‘यतः’’ का अध्याहार करके उपमान प्रमाण के लक्षण की व्याख्या करणीय है। जयन्त भट्ट इस प्रकार की व्याख्या नहीं करते। वृत्तिकार विश्वनाथ ने कहा है – ‘‘अथवा साध्यसाधनमिति करणल्युटा करणलक्षणमेवेदम्’’।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

पुनश्च वृत्तिकार विश्वनाथ ने कहा है – ''अत्र च वैधर्म्योपमितिमपि मन्यन्ते टीकाकृतः''। वस्तुतः तात्पर्यटीकाकार वाचस्पति मिश्र ने वैधर्म्योपमिति का भी समर्थन किया है। भाष्यकार, वार्त्तिककार तथा जयन्त भट्ट ने ऐसा नहीं कहा है किन्तु वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि सूत्रगत साधर्म्य पद धर्म मात्र का उपलक्षण है। अतः साधर्म्य से वैधर्म्य भी समझना चाहिए।[९०] प्रसिद्ध पदार्थ के वैधर्म्य के दर्शन से जो उपमिति उत्पन्न होती है उसको वैधर्म्योपमिति कहते हैं। यथा उत्तर प्रान्त का रहने वाला व्यक्ति किसी दाक्षिणात्य से ऊँट की निंदा में कहता है कि करभ कुत्सिताकार का होता है, कठोर होता है, तीक्ष्ण काँटा खाता है, उसकी ग्रीवा लम्बी तथा वक्र होती है आदि। किन्तु दाक्षिणात्य ने कभी ऊँट को देखा नहीं है। पश्चात् किसी समय में जब वह उत्तर पथ आया और ऊँट को देखा तो उस दृश्यमान पशु (ऊँट) में उसके दृष्ट अन्यान्य पशुओं का वैधर्म्य देखने से पूर्वश्रुत उस वाक्यार्थ का स्मरण होने पर दूसरे क्षण उसका अथवा उसके सजातीय पशु में करभ शब्द के वाच्यत्व का निर्णय करता है। इस स्थल में उसके इस तरह का संज्ञा-संज्ञिसम्बन्ध का निर्णय किसी अन्य प्रमाण से सम्भव नहीं है। इसके लिए किसी अन्य अर्थात् पञ्चम प्रमाण का मानना भी सम्भव नहीं है। अतः उसको उपमान प्रमाण का ही फल अर्थात् उपमिति विशेष मानना होगा। वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि इसी अभिप्राय से भाष्यकार ने उपमिति के अनेक उदाहरणों को दिखाकर पश्चात् यह कहा है – ''एवमन्योऽप्युपमानस्य विषयो लोके बुभुत्सितव्यः''। अर्थात् वाचस्पति मिश्र के मतानुसार इस वैधर्म्योपमिति को लेकर ही भाष्यकार ने अंत में वैसा कहा है। अन्यथा ''एवमन्योऽपि'' कहना तो निरर्थक ही हो जाएगा। तार्किकरक्षाकार वरदराज ने भाष्यकार के इसी प्रकार से तात्पर्य का ही प्रतिपादन किया है। किन्तु वृत्तिकार विश्वनाथ ने भाष्यकार के इस सन्दर्भ का उल्लेख करके उदाहरण के रूप में कहा है कि कोई ''मुद्गपर्णी सदृशी औषधिः विषं हन्ति'' इस प्रकार के अतिदेश वाक्य का अर्थ समझकर पश्चात् किसी औषधिविशेष में मुद्गपर्णी का सादृश्य देखकर पूर्वश्रुत वाक्य का स्मरण करके यह औषधि विष का नाशक है – इस प्रकार से उस औषधि में विषनाशकत्व का निश्चय करता है – यह उपमिति है। अर्थात् केवल गवय आदि कुछ शब्दों के वाच्यत्व का सम्बन्ध ही उपमान प्रमाण का विषय नहीं होता बल्कि अन्य पदार्थ भी उसका विषय होते हैं। उपमान

---

९० कुसुमाञ्जलि के तृतीय स्तवक की बारहवीं कारिका की व्याख्या में उदयनाचार्य ने कहा है कि – ''वाक्यार्थश्च क्वचित् साधर्म्यं क्वचिद् वैधर्म्यमतो नाव्यापकम्''। इसके व्याख्याकार वरदराज ने उपमान प्रमाण स्थल में अतिदेश वाक्यार्थ को साधर्म्य, धर्ममात्र तथा वैधर्म्य रूप से तीन प्रकार का कहा है और इसका उदाहरण भी दिखाया है। (वरदराजकृत कुसुमाञ्जलि की व्याख्याबोधिनी, पृ. ११८ तथा तार्किकरक्षा की उपमान व्याख्या द्रष्टव्य है।)

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

प्रमाण से अनेक स्थलों में अन्य पदार्थों की भी सिद्धि होती है। वस्तुतः भाष्यकार का भी यही मत है – इसकी पुष्टि अन्य बातों से भी होती है। आगे सूत्र ३९ का भाष्य इस प्रसंग में द्रष्टव्य है। इस विषय में तथा उपमान प्रमाण के सम्बन्ध में अन्य बातें एवं अन्य विचार पश्चात् कहे जाएंगे। (द्रष्टव्य द्वितीय खण्ड, बंग संस्करण, पृ. २६८-८२)

***भाष्य* – अथ शब्दः**

अनुवाद – उपमान प्रमाण के निरूपण के बाद शब्द प्रमाण का निरूपण करना है।

सूत्र – आप्तोपदेशः शब्दः। १.१.७।

अनुवाद – आप्त का अर्थात् प्रतिपाद्य विषय के यथार्थज्ञान सम्पन्न अप्रतारक उपदेष्टा का उपदेश (वाक्य) शब्द प्रमाण है।

***भाष्य* – आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा यथादृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा। साक्षात्करणमर्थस्याप्तिः, तया प्रवर्तते इत्याप्तः। ऋष्यार्यम्लेच्छानां समानं लक्षणम्। तथा च सर्वेषां व्यवहाराः प्रवर्तन्ते इति। एवमेभिः प्रमाणैर्देव-मनुष्यतिरश्चां व्यवहाराः प्रकल्पन्ते नातोऽन्यथेति।**

अनुवाद – साक्षात्कृतधर्मा जिन्होंने धर्म अर्थात् अपने वक्तव्य पदार्थ का सुदृढ़ प्रमाणों से अवधारण कर लिया है, यथादृष्ट पदार्थ के ख्यापन की इच्छा से वाक्यप्रयोग हेतु प्रयत्नशील हैं, ऐसा उपदेश में समर्थ व्यक्ति आप्त कहलाता है। (आप्तपद की व्युत्पत्ति दिखाई जा रही है) अर्थ (पदार्थ) का साक्षात्कार (सुदृढ़ प्रमाण द्वारा) अवधारण है, आप्ति और उस आप्ति के अनुसार वाक्य के प्रयोग में होना है आप्त। ऋषिगण, आर्यगण और म्लेच्छगण के सम्बन्ध में यह आप्त का लक्षण समान ही है। अतः सभी (ऋषि से मलेच्छपर्यन्त) व्यवहार में प्रवृत्त होते हैं। इस तरह समस्त प्रमाणों से (व्याख्यात प्रत्यक्ष आदि चार प्रमाणों से) देवता, मनुष्य और पशु आदि का व्यवहार सम्पन्न होता है। इसके विपरीत अर्थात् प्रमाणों के बिना व्यवहार नहीं होता।

टिप्पणी – सूत्रगत आप्तोपदेश पद में षष्ठी तत्पुरुष समास ही भाष्यकार आदि को मान्य है। सूत्र का अर्थ होता है आप्त व्यक्ति का उपदेश या वचन[९१]। किन्तु आप्त किसे

[९१] वृत्तिकार विश्वनाथ ने व्याख्या की है – "आप्तो यथार्थ उपदेशः शाब्दबोधो यस्मात्" इनकी दृष्टि में यथार्थ शाब्दबोध का करण ही शब्द प्रमाण होता है। नवीन नैयायिकों के मतानुसार वाक्य में विद्यमान पदसमूह का स्मरणात्मक ज्ञान ही शाब्दबोध का करण होता है और उन समस्त पदार्थों का स्मरणात्मक ज्ञान ही शब्द प्रमाण होता है। किन्तु महर्षि ने आगे कहा है – "आप्तोपदेशसामर्थ्याच्छब्दादर्थसम्प्रत्ययः" (२.१.५२)। अतः महर्षि का तात्पर्य यहाँ आप्त →

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

कहा जाए – इसका उत्तर करना आवश्यक है। अत: भाष्यकार ने पहले आप्तलक्षण कहा है और पुन: आप्त शब्द की व्युत्पत्ति का प्रदर्शन किया है। प्राचीनकाल में पदार्थ मात्र को समझाने के लिए धर्म शब्द का व्यवहार होता रहा है। जो किसी पदार्थ का साक्षात्कार करता है उसे साक्षात्कृतधर्मा कहते हैं। तात्पर्यटीकाकार वाचस्पति मिश्र ने व्याख्या की है – ''सुदृढ़प्रमाणेनावधारिता: साक्षात्कृताधर्मा: पदार्था: हिताहितप्राप्ति-परिहारार्था येन''। किसी सुदृढ़ प्रमाण से पदार्थ का निश्चय होने पर भाष्यकार ने उसको साक्षात्कार के समान कहा है। इसी तात्पर्य से भाष्य में साक्षात्कृत शब्द का प्रयोग हुआ है। अत: वह भी आप्त कहलाएंगे जिन्होंने अनुमान या शब्द प्रमाण से किसी तत्त्व का निर्णय करके तत्त्व के प्रतिपादक वाक्य का प्रयोग किया है। किन्तु जो व्यक्ति साक्षात्कृतधर्मा होकर भी उपदेश करने की इच्छा नहीं करते अथवा विपरीत उपदेश करते हैं उनको आप्त नहीं माना जा सकता। इसी तात्पर्य से भाष्यकार ने कहा है – ''यथादृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया'' अर्थात् जो पदार्थ जिस रूप में अवधारित होता है उसी रूप में उस पदार्थ का ख्यापन की इच्छा होना आवश्यक है। किन्तु यथादृष्ट पदार्थ के ख्यापन की इच्छा होने पर भी जो आलस्य आदि के कारण उसके उपदेश में प्रयत्नशील नहीं है वह भी आप्त नहीं माने जा सकते। अत: भाष्यकार ने कहा है – ''प्रयुक्त:'' वाचस्पति मिश्र ने इस पद की व्याख्या में कहा है – ''उत्पादितप्रयत्न:''। पुनश्च इस प्रकार के आप्त व्यक्ति होकर भी इन्द्रियों की पटुता के अभाव में उपदेश की सामर्थ्य नहीं रहने पर वह आप्त नहीं हो सकते। अत: भाष्यकार ने ऋषि, आर्य और म्लेच्छ सभी प्रकार के लोगों के पक्ष में एक ही इस आप्त के लक्षण का कथन किया है। अलौकिक अतीन्द्रिय पदार्थों के विषय में जो ऋषि हैं वही आप्त होंगे किन्तु अनेक लौकिक पदार्थों के विषय में ऋषियों से भिन्न आर्य तथा म्लेच्छगण भी आप्त होते हैं। अत: विषयविशेष में आप्त का लक्षण सबके लिए समान ही घटित होता है[९२]। (१.१.७)

सूत्र – स द्विविधो दृष्टादृष्टार्थत्वात्। १.१.८।

→ व्यक्ति का उपदेश या वाक्य रूप शब्द में ही शब्द प्रमाण मानने में है। अत: ज्ञायमान वाक्य-रूप शब्द ही शाब्दबोध का करण होता है जो प्राचीन नैयायिकों को मान्य है तथा इस सूत्र से यही ज्ञात होता है। शब्दचिन्तामणि के आरम्भ में गङ्गेश उपाध्याय ने कहा है – ''शब्द: प्रमाणम्''। टीकाकार मथुरानाथ ने यहाँ कहा है – ''एतच्च ज्ञायमानशब्दस्य प्रमाणत्वपक्षे''।

९२ आप्तलक्षणस्य व्यापकत्वमाह – ऋषीति। दर्शनादृषि: साक्षात्कृतत्रैकाल्यवृत्तिप्रमेयमात्र:। आराद् यात: पातकेभ्यो इत्यार्यो मध्यलोक:। म्लेच्छा: प्रसिद्धा:। – तात्पर्यटीका

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अनुवाद – पूर्व सूत्र में उक्त शब्द प्रमाण दो प्रकार का होता है – दृष्टार्थक और अदृष्टार्थक।

भाष्य – **यस्येह दृश्यतेऽर्थः सदृष्टार्थो यस्यामुत्र प्रतीयते सोऽदृष्टार्थः। एवमृषि-लौकिकवाक्यानां विभाग इति। किमर्थं पुनरिदमुच्यते? स न मन्येत दृष्टार्थ एवाप्तोपदेशः प्रमाणमर्थस्यावधारणादिति। अदृष्टार्थोऽपि प्रमाणमर्थस्या-नुमानादिति। इति प्रमाणभाष्यम्।**

अनुवाद – इस लोक में जिसका अर्थ (प्रतिपाद्य) देखा जाता है उसे दृष्टार्थक कहते हैं। परलोक में जिसका अर्थ प्रतीत हो उस वाक्य का प्रतिपाद्य जो इस लोक में देखा नहीं जा सकता उसे अदृष्टार्थक कहते हैं। इस तरह से ऋषिवाक्य तथा लौकिकवाक्य का विभाग होता है। पूर्वपक्ष आता है कि यह सूत्र क्यों कहा गया है? उत्तर है कि वह (नास्तिक) यह न मान ले कि वाक्य के प्रतिपाद्य पदार्थ (अर्थ) का अवधारण प्रत्यक्ष के द्वारा निश्चित होकर दृष्टार्थक आप्तवाक्य ही प्रमाण है किन्तु अर्थ के अनुमान प्रमाण द्वारा निश्चय होने पर अदृष्टार्थक आप्तवाक्य भी प्रमाण होता है – इसे समझाने के लिए महर्षि ने यह सूत्र कहा है। (प्रमाणभाष्य समाप्त)

टिप्पणी – महर्षि ने चतुर्थ प्रमाण शब्द का लक्षण कहकर इस सूत्र के द्वारा शब्द प्रमाण के द्वैविध्य का प्रदर्शन किया है कि दृष्टार्थक एवं अदृष्टार्थक के भेद से शब्द प्रमाण दो प्रकार के होते हैं। लौकिक आप्त व्यक्ति का वाक्य दृष्टार्थक शब्द प्रमाण सर्वमान्य है। अन्यथा लौकिक व्यवहार का सम्पादन सम्भव नहीं है। इस लोक में सत्यवादी विज्ञ व्यक्ति का वाक्य सुनकर तदनुसार असंख्य व्यवहार चलता है। विवादस्थल में सत्यवादी साक्षी का वाक्य सुनकर कितने ही यथार्थ निर्णय किए जाते हैं। तथापि महर्षि ने इस सूत्र को क्यों कहा है। इसके उत्तर में भाष्यकार ने कहा है कि जो नास्तिक केवल दृष्टार्थक आप्तवाक्य को ही शब्द प्रमाण मानता है इसी को लक्ष्य करके महर्षि ने इस सूत्र से अदृष्टार्थक वेद आदि शास्त्र रूप को भी आप्तवाक्य मानकर शब्द प्रमाण कहा हैं। इन सभी शास्त्र वाक्य के प्रतिपाद्य स्वर्ग आदि पदार्थ हम लोगों को दृष्ट नहीं होने के कारण कैसे प्रमाण के रूप में मान्य होगा। अतः भाष्यकार ने कहा है कि ''अर्थस्यानुमानात्''। वाचस्पति मिश्र ने इस वाक्य की व्याख्या में कहा है कि वेद आदि शास्त्र के प्रतिपाद्य स्वर्ग आदि अलौकिक पदार्थ इस लोक में हम लोगों के द्वारा दृष्ट नहीं होने पर भी अनुमान प्रमाण से सिद्ध हैं। क्योंकि उन सभी पदार्थों के प्रतिपादक वेद आदि शास्त्र का प्रामाण्य अनुमान प्रमाण से सिद्ध है। जो नास्तिक अपने मत के स्थापन हेतु अनुमान प्रमाण को

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

मानता है[९३] उसे अनुमान प्रमाण के द्वारा वेद का प्रामाण्य सिद्ध होने पर उसको मानने के लिए बाध्य होना होगा। अब अदृष्टार्थक वेदवाक्य के प्रतिपाद्य स्वर्ग आदि पदार्थ भी परम्परया उस अनुमान प्रमाण से सिद्ध होकर उनको मान्य होता है। अवधेय है कि भाष्यकार ने महर्षि के सूत्र में कथित दृष्टार्थ एवं अदृष्टार्थ रूप द्विविध आप्तवाक्य से ऋषिवाक्य एवं लौकिकवाक्य रूप प्रकार भेद को कहा है। इनके मत में ऋषिवाक्य से भिन्न सभी वाक्य लौकिकवाक्य ही होते हैं। किन्तु ऋषिवृन्द अनेक दृष्टार्थक वाक्य ही कहते हैं। जिस वाक्य का अर्थ (प्रतिपाद्य) इस लोक में दृष्ट नहीं होता किन्तु अनुमानादि किसी प्रमाण से सिद्ध होता है उसे अदृष्टार्थक वाक्य कहते हैं – इस प्रकार की व्याख्या भी अदृष्टार्थक की होती है। अतः इस लोक में अनुमान आदि पदार्थ से ज्ञात पदार्थ के प्रतिपादक सभी लौकिकवाक्य अदृष्टार्थक होते हैं। किन्तु भाष्यकार ने व्याख्या की है कि जिस वाक्य का प्रतिपाद्य परलोक में प्रतीत हो वह अदृष्टार्थक वाक्य यहाँ विवक्षित है। इससे ज्ञात होता है कि भाष्यकार के मत में स्वर्ग आदि पदार्थ के प्रतिपादक वेद आदि के वाक्य अदृष्टार्थक आप्तवाक्य होते हैं। वृत्तिकार विश्वनाथ ने कहा है कि जिस वाक्य का प्रतिपाद्य शब्द प्रमाण एवं शब्द प्रमाण मूलक अनुमानादि प्रमाण से भिन्न किसी प्रमाण से ज्ञात नहीं हो सकता वही अदृष्टार्थक शब्द प्रमाण होता है। तत्त्वचिन्तामणि के शब्द-खण्डगत तात्पर्यवाद में वेद का लक्षण कहते हुए गङ्गेश उपाध्याय ने ऐसी बात कही है। इसकी व्याख्या ''रहस्य'' में मथुरानाथ ने इस विषय में बहुत सी ज्ञातव्य बातें कही हैं। भाष्यकार ने पश्चात् जो कुछ कहा है, उससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि इन्होंने दृष्टार्थक एवं अदृष्टार्थक सभी वेदवाक्यों को ऋषिवाक्य कहा है। किन्तु वाचस्पति मिश्र, उदयनाचार्य, जयन्त भट्ट तथा गङ्गेश उपाध्याय आदि ने विचारपूर्वक सिद्ध किया है कि परमेश्वर का वचन वेद है और परमेश्वर ही वेद का आदिवक्ता है – यह श्रुति तथा युक्ति से सिद्ध है। इस विषय में विशेष आलोचना तथा

---

[९३] वाचस्पति मिश्र ने कहा है – ''स इति विप्रकृष्टो नास्तिकः परामृश्यते'' (तात्पर्यटीका) इससे ज्ञात होता है कि प्रथम सूत्र के भाष्य में दृष्टान्त पदार्थ के पृथक् उल्लेख का प्रयोजन वर्णन में भाष्यकार ने जो नास्तिक का उल्लेख किया है वही दूरस्थ नास्तिक यहाँ तत् पद से अभिप्रेत है। यहाँ यह भी लक्ष्य करना आवश्यक है कि जो शब्द प्रमाण नहीं मानते, ऐसा नास्तिक यहाँ भाष्यकार को अभिप्रेत नहीं है। किन्तु जो शब्द प्रमाण मानते हैं किन्तु अदृष्टार्थक वेदादि का प्रामाण्य नहीं मानते, ऐसा नास्तिक यहाँ भाष्यकार को बुद्धिस्थ (अभिप्रेत) है। प्राचीन बौद्ध सम्प्रदाय प्रत्यक्ष आदि चार प्रमाण मानते थे। पश्चात् बौद्ध आचार्य दिङ्नाग ने दो प्रमाणों का समर्थन किया है। यह बात पहले ही (पृ. १५८ में) कही जा चुकी है। न्यायवार्त्तिक में उद्योतकर ने विचारपूर्वक दिङ्नाग के इस मत का सयुक्तिक निराकरण किया है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

भाष्यकार के अभिप्राय की व्याख्या इस ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड, बंग संस्करण, में पृ. ३५६-६५ में तथा चतुर्थ खण्ड के पृ. ३०६-१० में द्रष्टव्य है।

यहाँ यह भी कहना आवश्यक है कि महर्षि गौतम ने आगे शब्द के नित्यत्व पक्ष का खण्डन करके उसके अनित्यत्व पक्ष का समर्थन किया है। इस मत में वेद नित्य नहीं है किन्तु पौरुषेय अर्थात् आप्तपुरुष की रचना है। अतः आप्तपुरुष के प्रामाण्य के कारण वेद का प्रामाण्य सिद्ध होता है। आगे द्वितीय अध्याय के प्रथम आह्निक के अन्तिम सूत्र में वेद का प्रामाण्य सिद्ध करने के लिए महर्षि ने "आप्तप्रामाण्यात्" कहा है। वैशेषिकदर्शन में महर्षि कणाद ने कहा है – "बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे" (६.१.१) अर्थात् लौकिकवाक्यों की रचना की तरह वेदवाक्यों की रचना रचयिता की बुद्धि से होती है। इसी के आधार पर न्याय तथा वैशेषिक मतों के व्याख्याता आचार्यवृन्द ने वेद के स्वतःप्रामाण्यवाद का खण्डन करके परतःप्रामाण्यवाद का समर्थन किया है। इस मत में जैसे ज्ञान का प्रमात्व अनुमान प्रमाण से बोध्य होता है उसी प्रकार प्रमाज्ञान का करणत्व भी अर्थात् प्रमाण का प्रामाण्य भी अनुमान प्रमाण से समझा जाता है। अतः इस अनुमान की अभिव्यक्ति हेतु भाष्यकार वात्स्यायन ने प्रथम वाक्य में यही कहा है – "प्रमाणतोऽर्थ प्रतिपत्तौ प्रवृत्ति सामर्थ्यादर्थवत् प्रमाणम्"।

मीमांसक सम्प्रदाय अनेक प्रकारों से प्रमाज्ञान के प्रकारों का स्वतोग्राह्य कहकर समर्थन किया है। इनके मत में पहले ज्ञान के बोधक सामग्री के द्वारा ज्ञान का प्रमात्व-निश्चय हो जाने से उसके लिए अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है[१४]। ज्ञान के प्रमात्व-निश्चय के लिए अन्य अनुमान के आवश्यक होने पर, उस अनुमिति के प्रमात्वनिश्चय के लिए पुनः अन्य अनुमान प्रमाण आवश्यक होगा – इस प्रकार अनवस्था दोष होता है। इन मीमांसकों के मत में यह भी मानना होगा कि समान युक्ति के आधार पर प्रमाण के प्रामाण्य के निश्चय के लिए भी अन्य अनुमान प्रमाण की आवश्यकता नहीं होगी। इसका स्पष्ट प्रतिपादन श्लोकवार्त्तिक (श्लोक ८१) में कुमारिल भट्ट ने किया है –

---

[१४] इस विषय में मीमांसकों में गुरु (प्रभाकर) कुमारिल भट्ट तथा मुरारि मिश्र में मतभेद है। गङ्गेश उपाध्याय के तत्त्वचिन्तामणि प्रामाण्यवाद तथा उसकी रहस्य व्याख्या में इस विषय में बहुत सूक्ष्म विचार हुआ है। संक्षेप में उसको नहीं कहा जा सकता। भाषारत्न ग्रन्थ में कणाद तर्क वागीश ने एवं तर्कसंग्रहदीपिका की नीलकण्ठी व्याख्या की भास्करोदया में लक्ष्मीनृसिंह ने संक्षेप में इन मीमांसकों के मतों का सरलरूप में व्याख्यान किया है। मेरे प्रणीत न्याय-परिचय के नवम अध्याय में संक्षेप में इन मतभेदों की व्याख्या तथा परतः प्रामाण्यवादी न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय का अभिप्राय कहा गया है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

न चानुमानतः साध्या शब्दादीनां प्रमाणता।
सर्वस्यैव हि मा प्रापत् प्रमाणान्तरसाध्यता॥

अतः यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि कुमारिल भट्ट के मत में शब्द प्रमाण रूप वेद का प्रामाण्य अनुमान प्रमाण से उपपन्न नहीं होता। कुसुमाञ्जलि के द्वितीय स्तक की प्रथम कारिका के प्रथम चरण के विवरण में महानैयायिक उदयनाचार्य ने विशेष विचार करके मीमांसक सम्मत स्वतःप्रामाण्यवाद तथा वेद के नित्यत्ववाद का खण्डन किया है। यहाँ इन्होंने पूर्वपक्ष रूप में कुमारिल भट्ट के मत का उल्लेख करके कहा है – ''स्वत एव प्रामाण्य निश्चयः किन्तु शंकामात्रमनेनापनीयते'' इत्यादि। अपौरुषेय वेद का कोई वक्ता या रचयिता नहीं होने से वक्ता के दोषप्रयुक्त वेद का अप्रामाण्य सम्भव नहीं है। अतः वेद के स्वरूप निश्चय होते ही उसमें प्रामाण्य का निश्चय होता है। तथापि किसी कारण से किसी को उसमें अप्रामाण्य की शंका होने पर उस शंका की निवृत्ति के लिए वेद में वक्तृ-दोषशून्यत्व कहा गया है किन्तु वह वेद के प्रामाण्यानुमान का हेतु नहीं है[९५]। उदयनाचार्य पश्चात् महाजन परिगृहीतत्व हेतु से नित्य वेद के प्रामाण्य का निश्चय होता है – इस मत का भी उल्लेख करके खण्डन किया है। कारिका के व्याख्याकार हरिदास भट्टाचार्य ने इसी मत का पूर्वपक्ष रूप में उल्लेख किया है। किसी एकदेशी का यह भी मत है कि उक्त (उपर्युक्त) मत कुमारिल भट्ट आदि का नहीं है। कुमुमाञ्जलि की बोधिनीटीका (पृ. ६५) में वरदराज ने ऐसा कहा है। महाजन परिग्रह कुमारिल के अनुसार वेद के प्रामाण्यानुमान का हेतु नहीं है – यह पश्चात् उनके अन्य कथन से भी ज्ञात होता है।[९६]

भाष्यकार वात्स्यायन की पंक्ति ''प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ'' आदि की व्याख्या में वाचस्पति मिश्र ने वेद के प्रामाण्य को महर्षि गौतम के अनुसार अनुमान प्रमाण से सिद्ध किया है। तात्पर्यपरिशुद्धि में उदयनाचार्य ने विशेष विचार करके इसका समर्थन किया है तथा कुमारिल भट्ट के उपर्युक्त मत का खण्डन किया है। किन्तु वाचस्पति मिश्र ने परतःप्रामाण्यवाद के समर्थन में उस प्रामाण्यानुमिति के प्रमात्व को स्वतोग्राह्य कहा है।

---

[९५] ''न तावद्वेदानां प्रामाण्यमपेतवक्तृदोषत्वेनानुमीयते, स्वतो बोधजनकत्वेन निश्चिते प्रामाण्ये हेत्वन्तरादप्रामाण्यशंकायां तन्निराकरणमात्रमप्रामाण्यकारणदोषाभावावधारणेन क्रियते'' इत्यादि – वरदराजकृत कुसुमाञ्जलिबोधिनी पृ. ६२ (काशी संस्करण)।

[९६] वक्ता गुणाश्च दोषाश्च महाजनपरिग्रहः।
एवमादि विना युक्त्या कल्प्यं मीमांसकैः पुनः॥
इदानीमिव सर्वत्र दृष्टान्नाधिकमिष्यते। – श्लोकवार्त्तिक, का. ९८

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

इन्होंने कहा है कि सभी अनुमितियों के निर्दोष हेतु के निश्चय के लिए उत्पन्न होने पर उसमें प्रमात्व का संशय उत्पन्न नहीं होता अतः स्वतः उनमें प्रमात्व का निश्चय हो जाता है और उसमें प्रमात्व निश्चय के लिए अन्य अनुमान की आवश्यकता इन्होंने नहीं मानी अतः इसमें अनवस्था दोष नहीं होता।

अद्वैतवादी वेदान्ती चित्सुख मुनि ने भी स्वतःप्रामाण्यवाद का समर्थन करते हुए वाचस्पति मिश्र के इस कथन का उल्लेख करके कहा है कि परतःप्रामाण्यवादी नैयायिक के मत में भी स्वतःप्रामाण्य स्वीकृत हुआ है। तत्त्वचिन्तामणि के प्रामाण्यवाद में स्वतः-प्रामाण्यवाद का खण्डन करते हुए गङ्गेश उपाध्याय ने वाचस्पति मिश्र के प्रति सम्मान के कारण उनके इस विरुद्धवाद के अभिप्राय की विशेष रूप में व्यांख्या की है। किन्तु इनके पुत्र वर्धमान उपाध्याय ने वाचस्पति मिश्र के ''स्वत एव प्रामाण्यं'' कथन से विचलित होकर पहले ''सु सुष्ठु अतएव स्वत एव'' इस तरह की अनुचित व्याख्या की है। पश्चात् इन्होंने वाचस्पति मिश्र के इस मत को समझकर व्याख्या की है। इस मत में ''निःसन्दिग्ध प्रामाण्य'' के अर्थ में स्वतःप्रामाण्य शब्द का प्रयोग हुआ है। जैन दार्शनिकवृन्द प्रामाण्य के संशयस्थल में परतःप्रामाण्यवाद मानते हैं। प्राचीनकाल से ही ज्ञान से प्रमात्व एवं अप्रमात्व के विषय में स्वतः तथा परतः स्वरूप नामक दो पक्षों का अवलम्बन करके बहुत गंभीर तथा सूक्ष्म विचार एवं विभिन्न प्रकार के मतभेद होते रहे हैं[१७]। संक्षेप में यह नहीं कहा जा सकता। विभिन्न सम्प्रदायों के ग्रन्थों के अध्ययन से यह ज्ञात हो सकता है। प्रमाण पदार्थ के प्रसंग में महर्षि गौतम और भाष्यकार वात्स्यायन आदि की अन्यान्य बातें द्वितीय अध्याय में उपलब्ध होंगी।

(प्रमाण प्रकरण समाप्त)

---

[१७] प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः सांख्याः समाश्रिताः।
नैयायिकास्ते परतः सौगताश्चरमं स्वतः॥

प्रथमं परतः प्राहुः प्रामाण्यं वेदवादिनः।
प्रमाणत्वं स्वतः प्राहुः परतश्चा प्रमाणताम्॥

(सर्वदर्शनसंग्रह, जैमिनिदर्शन द्रष्टव्य) सौगताः बौद्धाः चरमम् अप्रमात्वम् स्वतः प्रथमं प्रमात्वं परतः प्राहुः। वेदवादिनो मीमांसकाः वेदान्तिनश्च प्रमात्वं स्वतः अप्रमात्वञ्च परतः प्राहुः।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

प्रमेय प्रकरण

भाष्य – **किं पुनरनेन[१८] प्रमाणेनार्थजातं प्रमातव्यमिति तदुच्यते –**

अनुवाद – इन प्रमाणों से किन पदार्थों का यथार्थ ज्ञान करना है। इस प्रश्न के समाधान में यहाँ महर्षि ने उन पदार्थों को कहा है।

सूत्र – आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम्। १.१.९।

अनुवाद – १. आत्मा, २. शरीर, ३. इन्द्रिय, ४. अर्थ, ५. बुद्धि, ६. मनः, ७. प्रवृत्ति, ८. दोष, ९. प्रेत्यभाव, १०. फल, ११. दुःख, और १२. अपवर्ग। ये बारह प्रकार के पदार्थ प्रमेय कहे जाते हैं।

भाष्य – तत्रात्मा सर्वस्य द्रष्टा, सर्वस्य भोक्ता, सर्वज्ञः सर्वानुभावी। तस्य भोगायतनं शरीरम्। भोगसाधनानि इन्द्रियाणि भोक्तव्या इन्द्रियार्थाः। भोगो बुद्धिः। सर्वार्थोपलब्धौ नेन्द्रियाणि प्रभवन्ति इति सर्वविषयमन्तःकरणं मनः। शरीरेन्द्रियार्थबुद्धिसुखवेदनानां निर्वृत्तिकारणं प्रवृत्तिर्दोषाश्च। नास्येदं शरीरमपूर्वमनुत्तरश्च। पूर्वशरीराणामादिर्नास्ति उत्तरेषामपवर्गोऽन्त इति प्रेत्यभावः। ससाधनसुखदुःखोपभोगः फलम्। दुःखमिति नेदमनुकूलवेदनीयस्य प्रतीतेः प्रत्याख्यानम्। किं तर्हि? जन्मन एवेदं सुखसाधनस्य दुःखानुषङ्गाद् दुःखेनाविप्रयोगाद् विविधबाधनायोगाद् दुःखमिति समाधिभावनमुपदिश्यते। समाहितो भावयति भावयन् निर्विद्यते निर्विण्णस्य वैराग्यम् विरक्तस्यापवर्ग इति। जन्ममरणप्रबन्धोच्छेदः सर्वदुःखप्रहाणमपवर्ग इति। अस्त्यन्यदपि द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाः प्रमेयं तद्भेदेन चापरिसंख्येयम्। अस्य तु तत्त्वज्ञानादपवर्गो मिथ्याज्ञानात्संसार इत्यत एतदुपदिष्टं विशेषेणेति।

अनुवाद – इन आत्मा आदि प्रमेयों के बीच (१) आत्मा – सभी सुख तथा दुःख आदि के कारणों का द्रष्टा (बोद्धा) है। सभी सुख-दुःखों का भोक्ता है। सर्वज्ञ अर्थात् अपने सुख-दुःख का भी भोक्ता तथा उनके कारणों का ज्ञाता है। सर्वानुभावी अर्थात् अपने सुख-दुःख के सभी कारणों का ज्ञाता तथा सुख-दुःख का अनुभव करने वाला है। इस आत्मा के भोग का स्थान है (२) शरीर – इसके भोग का साधन है। (३) इन्द्रिय –

---

[१८] ''किं पुनरनेन प्रमाणेनेति। जात्यभिप्रायमेकवचनम् प्रकृते प्रमेये यथायथं प्रमाणानामुपयोगात्'' – तात्पर्यटीका।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अर्थात् घ्राण रसना, चक्षुष्, श्रोत्र तथा त्वक् रूप बहिरिन्द्रिय। (४) भोग्य – इन्द्रिय के अर्थ गन्ध आदि इन्द्रियग्राह्य विषय होते हैं। (५) बुद्धि अर्थात् ज्ञान है। बहिरिन्द्रियाँ सभी पदार्थों की उपलब्धि में समर्थ नहीं हैं इसलिए सभी पदार्थ जिसके विषय होते हैं ऐसा अन्तःकरण अन्तरिन्द्रिय है (६) मन। शरीर, इन्द्रिय, गन्ध आदि इन्द्रियों के अर्थ, बुद्धि और वेदना (दुःख) की उत्पत्ति का कारण होता है (७) प्रवृत्ति एवं (८) दोषवर्ग अर्थात् शुभ और अशुभ कर्म एवं राग, द्वेष और मोह। इस आत्मा का (संसारी जीवात्मा का) यह शरीर अपूर्व नहीं है अनुत्तर भी नहीं है अर्थात् इसके पहले इसका शरीर नहीं था – ऐसा नहीं है। ऐसा भी नहीं है कि इसके बाद इसका शरीर नहीं होगा। पूर्व शरीरों का आदि नहीं है और परवर्ती शरीर का मोक्ष ही अवसान है अर्थात् मोक्ष होने पर आत्मा का शरीर से सम्बन्ध नहीं होता। यह पूर्वोक्त अनादि जन्म-मरण प्रवाह है (९) प्रेत्यभाव। साधन सहित सुख-दुःख को उपभोग अर्थात् सुख-दुःख का उपभोग और उसका साधन देह तथा इन्द्रिय आदि हैं (१०) फल व (११) दुःख। जो कहा जाता है यह अनुकूल वेदनीय अर्थात् अनुकूल रूप से सभी जीवों के अनुभव के विषय सुख के अनुभव का अपलाप नहीं किया जा सकता। अतः महर्षि ने प्रमेय पदार्थों में सुख नहीं कहा है किन्तु सभी के अनुभवसिद्ध सुख पदार्थ को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। प्रश्न आता है तब क्यों नहीं कहा गया तो उत्तर में कहते हैं – सुख साधन के साथ जन्म का दुःख के साथ सम्बन्ध रहने के कारण दुःख से अलग सुख के नहीं रहने से प्रतीत होता है कि सुख के कारण अनेक प्रकारों के दुःखों से सम्बद्ध रहते हैं। सुख और दुःख – इस तरह की समाधि भावना से एकाग्रचित्त से भावना करने के कारण दुःख ही कहा है यहाँ। मुमुक्षु समाहित होकर जन्म आदि सभी सुख साधनों को दुःख समझकर भावना करके निर्विण्ण होते हैं। सांसारिक विषयों के प्रति उपेक्षाबुद्धि उनकी होती है और तब उनको वैराग्य होता है अर्थात् सांसारिक विषयों में तृष्णा की निवृत्ति होती है। विरक्त अर्थात् इस प्रकार की भावना का फल वैराग्यसम्पन्न होने पर आत्मा की मुक्ति हो जाती है। जन्म-मरण प्रवाह का उच्छेद हो जाता है। सभी प्रकार के दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्तिरूप (१२) अपवर्ग होता है। अन्य भी इस आत्मा आदि बारह प्रकार के प्रमेयों से भिन्न भी द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष तथा समवाय (कणादोक्त छह पदार्थ) और इनके प्रभेद से द्रव्यादि का असंख्य प्रकार होने के कारण प्रमेय अनन्त होते हैं। किन्तु इन आत्मा आदि बारह प्रमेयों के तत्त्वज्ञान से अपवर्ग होता है और इनके मिथ्याज्ञान से संसार। इस कारण से आत्मा आदि बारह पदार्थों को विशेष रूप में यहाँ प्रमेय कहा गया है।

टिप्पणी – प्रमाण के चारों प्रकारों का लक्षण कहा गया है। इन चार प्रमाणों की सहायता से जिन पदार्थों के ज्ञान से मोक्ष होता है, उस प्रमेय पदार्थ के निरूपण के लिए

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

महर्षि ने पहले प्रमेय पदार्थों का विभाग एवं उनके विशेष नाम को कहा है। विभाग सूत्रगत प्रमेय शब्द से प्रमेय पदार्थ का सामान्य लक्षण भी सूचित होता है। जो प्रकृष्टमेय है अर्थात् साक्षात् मोक्ष के जनक ज्ञान का विषय होता है उसे प्रमेय कहते हैं। प्रमेयों का विशेष लक्षण महर्षि ने स्वयं अलग-अलग सूत्रों में किया है। भाष्यकार ने यहाँ यथाक्रम महर्षि के सूत्रोक्त प्रमेयों का परिचय कहा है। प्रमेय वर्ग में पहला पदार्थ है जीवात्मा। उसको भाष्यकार ने सर्वद्रष्टा, सर्वभोक्ता, सर्वज्ञ और सर्वानुभावी कहा है। यहाँ सर्व शब्द से भाष्यकार ने सभी सुख-दुःख साधनों एवं सभी प्रकार के सुख-दुःखों का ग्रहण किया है[९९]। भाष्यकार का तात्पर्य यह है कि प्रमेयों में जीवात्मा अनादिकाल से अपने सभी सुख तथा दुःख साधनों का ज्ञाता एवं सभी सुख-दुःख का भोक्ता है। जिसे जीवात्मा के सम्बन्ध में जितने सुख-दुःख और इनके कारण उपस्थित होते हैं वह जीवात्मा उन समस्त सुख-दुःखों के कारण का ज्ञाता और सुख-दुःखों का भोक्ता है अपर जीवात्मा उनमें से एक का भी ज्ञाता या भोक्ता नहीं है। देह तथा इन्द्रिय आदि जड़ पदार्थ ज्ञाता नहीं हो सकते। बुद्धिरिन्द्रियों के विषय निर्दिष्ट हैं या वे नियमबद्ध हैं। उनको ज्ञाता मानने पर वे सभी विषयों की ज्ञाता नहीं हो सकतीं। किन्तु आत्मा सभी इन्द्रियों से ग्राह्य विषयों की ज्ञाता होती है – इसी तात्पर्य से भाष्यकार ने यहाँ और आत्मपरीक्षाप्रकरण में जीवात्मा को सर्वज्ञ कहा है। सुख-दुःख तथा इनके साधनों के प्राप्त नहीं होने पर उनका ज्ञाता नहीं हो सकता अतः अन्त में आत्मा को सर्वानुभावी कहा है। अनुपूर्वक भू धातु का अर्थ यहाँ प्राप्ति होता है। भाष्यकार ने अन्यत्र भी प्राप्ति के लिए अनुभव पद का प्रयोग किया है। अभिप्राय यह है कि वही जीवात्मा है जो सुख-दुःख और उनके साधनों को प्राप्त करता है, उनका ज्ञाता और भोक्ता होता है। तात्पर्यटीकाकार ने कहा है कि प्रमेय वर्गों में आत्मा और अपवर्ग उपादेय होने पर भी मुमुक्षुओं की अपनी आत्मा भी हेय होती है और स्वस्वरूप में उपादेय होती है। इस मत में आत्मा का सुख तथा दुःख आदि विशेष गुणों से रहित अवस्था ही आत्मा का स्वस्वरूप या केवल रूप होता है। अतः आत्मा की मुक्तावस्था को कैवल्य कहा जाता है। किन्तु आत्मा को सुख-दुःख आदि का भोक्ता कहने से अपनी आत्मा में भी उस प्रकार से हेयत्व बोध उत्पन्न होता है और उससे वैराग्य उत्पन्न होता है। इसलिए भाष्यकार ने इस तरह से यहाँ आत्मा का वर्णन किया है। किन्तु महर्षि गौतम के मत में ज्ञान, इच्छा, सुख तथा दुःख आदि आत्मा में उत्पन्न होते हैं। अतः वे आत्मा के गुण माने जाते हैं। आगे यह विषय अधिक स्पष्ट होगा।

---

९९ सर्वस्य सुखदुःखसाधनस्य द्रष्टा सर्वस्य सुखदुःखस्य भोक्ता, यतः सुखदुःखसाधनं सर्वं सर्वञ्च सुखदुःखं जानाति अतः सर्वज्ञः न चाप्राप्तानि एतानि जानातीत्यत आह 'सर्वानुभावी'। अनुभवः प्राप्तिः। – तात्पर्यटीका।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

इस प्रमेय के विभागसूत्र में सुख का उल्लेख महर्षि ने नहीं किया है। इससे शंका हो सकती है कि महर्षि को सुख पदार्थ मान्य नहीं है। अतः भाष्यकार ने कहा है कि सुख प्रत्येक प्राणी का अनुकूल वेदन रूप अनुभवसिद्ध है। अतः महर्षि ने प्रमेयों में दुःख का उल्लेख करके सुख का अपलाप नहीं किया है किन्तु सुख तथा सुख के साधन जन्म आदि सभी दुःख ही होते हैं – ऐसी भावना करने पर निर्वेद और वैराग्य उत्पन्न होता है और विरक्त व्यक्ति को तत्त्वज्ञान का फल मोक्ष होता है। अतः मुक्तिकामी व्यक्ति सुख की भी दुःखरूप में भावना करता है। इस प्रकार के उपदेश के अभिप्राय से महर्षि ने प्रमेयों में सुख का उल्लेख न करके दुःख का उल्लेख किया है। आगे चतुर्थ अध्याय में दुःख का परीक्षाप्रकरण में स्वयं महर्षि ने इस बात को स्पष्ट कहा है। भाष्यकार ने भी वहाँ महर्षि के अभिप्राय और सिद्धान्त का विशद रूप में व्याख्यान किया है। जैन दार्शनिक हरिभद्र सूरि ने षड्दर्शन समुच्चय के न्यायदर्शनप्रकरण में गौतम के प्रमेयों में सुख का उल्लेख किया है। यह देखकर किसी-किसी ऐतिहासिकों ने कल्पना की है कि प्राचीन काल में गौतम के प्रमेय विभाग परक इस सूत्र में सुख शब्द ही था और दुःख शब्द नहीं था। पश्चात् सुख पद के स्थान में दुःख पद का समावेश कर दिया गया। किन्तु ऐसा मानने पर चतुर्थ अध्याय के दुःख परीक्षाप्रकरण को भी कल्पित मानना पड़ेगा। यदि इस सूत्र में सुख पद का भी निवेश करेंगे तो आगे इसका लक्षण कहना होगा और परीक्षा भी करनी होगी। किन्तु न्यायसूत्र में यह सब है नहीं। किन्तु जो प्राचीन न्यायसूत्र को अध्यात्मविद्या या दर्शन नहीं मानते और केवल हेतुविद्या कहते हैं, उनके मत में इस प्रमेय विभागसूत्र को परवर्ती रचना मानना होगा। अब यह कैसे कहा जाएगा कि प्राचीन काल में इस सूत्र में सुख शब्द का ही उल्लेख था और दुःख शब्द का नहीं। इस विषय में अधिक विचार चतुर्थ खण्ड, बंग संस्करण, के पृ. २६१-६३ में द्रष्टव्य है।

यहाँ भाष्यकार ने महर्षि के इस सूत्र में उक्त आत्मा आदि अपवर्गपर्यन्त बारह प्रमेयों का परिचय देकर पश्चात् कहा है कि इससे भिन्न द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष तथा समवाय और इनके असंख्य प्रभेद भी प्रमेय होते हैं। अतः असंख्य प्रमेय मान्य हैं। किन्तु आत्मा आदि बारह प्रमेयों के विषय में नाना प्रकार के मिथ्याज्ञान से जीवात्मा का संसार में प्रवेश होता है और इनके तत्त्वज्ञान से मुक्ति होती है। इसलिए उपर्युक्त बारह प्रमेयों को विशेष रूप से यहाँ कहा गया है। भाष्यकार का कहना है कि महर्षि के प्रथम सूत्र में उक्त प्रमेय शब्द उक्त आत्मा आदि बारह पदार्थों में मर्यादित रूप से पारिभाषिक है। अतः आत्मा आदि बारह पदार्थों को उन्होंने सूत्र में प्रमेय के रूप में कहा है। यह मुमुक्षु का प्रकृष्ट मेय है अर्थात् तत्त्वज्ञान से सभी विषयों के मिथ्याज्ञान की निवृत्ति होती है और वह मुक्ति का साक्षात् कारण होता है। इसलिए विशेष रूप से ये

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

बारह पदार्थ प्रमेय रूप से उनके द्वारा उल्लिखित हुए हैं। किन्तु जो प्रमाण से सिद्ध होता है वह प्रमेय कहलाता है – इस अर्थ में प्रमेय शब्द पदार्थमात्र का बोधक होता है। महर्षि गौतम ने भी इस अर्थ में अपने सम्मत अन्यान्य पदार्थों को प्रमेय कहा है। वार्त्तिककार उद्योतकर ने इसका समर्थन करते हुए ''प्रमेयता च तुलाप्रामाण्यवत्'' (२.१.१६) सूत्र का उल्लेख करके दिखाया है कि महर्षि ने इस सूत्र में तुलादण्ड को प्रमेय कहा है और उसको दृष्टान्त मानकर प्रमाण के भी प्रमेयत्व का समर्थन किया है। उद्योतकर ने दूसरे कल्प में कहा है कि सूत्रगत तु शब्द का सबके अंत में योग करके ''प्रमेयन्तु प्रमेयमेव'' ऐसी व्याख्या भी की है किन्तु यह कल्पान्तर की व्याख्या उनका केवल व्याख्याकौशल ही माना जाएगा। क्योंकि आत्मा से अपवर्गपर्यन्त बारह पदार्थ ही महर्षि के प्रथम सूत्र के उक्त विशेष प्रमेय के रूप में मान्य हैं। यही सूत्र में प्रतिपाद्य है। वाचस्पति मिश्र ने भी यही कहा है। फलितार्थ यह हुआ कि इन विशेष प्रमेयों से भिन्न सामान्य प्रमेय भी असंख्य हैं जो महर्षि गौतम के सम्मत हैं। भाष्यकार ने उन सभी प्रमेय पदार्थों को समझाने के लिए यहाँ वैशेषिकदर्शन के चतुर्थ सूत्र में महर्षि कणाद के उक्त द्रव्य आदि छह पदार्थों का उल्लेख किया है। भाष्यकार ने इस कथन के अनुसार सिद्धान्तमुक्तावली में नव्यनैयायिक विश्वनाथ ने कहा है – ''एते च पदार्थाः वैशेषिकप्रसिद्धाः नैयायिकानामप्यविरुद्धाः प्रतिपादितञ्चैवमेव भाष्ये''।[१००]

वस्तुतः पश्चात् गौतम के न्यायसूत्र में कणाद के उक्त द्रव्य आदि पदार्थों का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। समवाय के सम्बन्ध में भी प्रकाश वहाँ दिया गया है। पश्चात् वह उपलब्ध होगा। न्यायसूत्र में कणाद के विशेष पदार्थ का उल्लेख नहीं रहने पर भी उसका खण्डन उपलब्ध नहीं है। भाष्यकार ने यहाँ उस विशेष पदार्थ का उल्लेख किया है। नव्यनैयायिक रघुनाथ शिरोमणि ने अपने मतानुसार पदार्थतत्त्वनिरूपण में विशेष पदार्थ को नहीं माना है किन्तु विश्वनाथ ने सिद्धान्तमुक्तावली में द्रव्य आदि सात पदार्थों को

---

१०० विश्वनाथ ने सप्तम पदार्थ अभाव को वैशेषिक प्रसिद्ध कहा है। क्योंकि वैशेषिकदर्शन के नवम अध्याय के प्रथम आह्निक में महर्षि कणाद ने अभाव पदार्थ का समर्थन किया है। इसके अनुसार वैशेषिक मत के व्याख्याकारगण ने अभाव पदार्थ को कणाद का सम्मत मानकर स्वीकार किया है। म.म. चन्द्रकान्त तर्कालंकार ने फेलोशिप लेक्चर में वैशेषिकदर्शन के विषय में (पृ. १००) में लिखा है कि सबसे पहले प्रशस्तपाद ने ही कणाद को सप्तपदार्थवादी कहा है – ''षण्णां पदार्थानामभावसप्तमानाम्''। किन्तु प्रशस्तभाष्य के किसी ग्रन्थ में ''अभावसप्तमानां'' पाठ उपलब्ध नहीं है। उदयनाचार्य आदि टीकाकारों ने भी ऐसा पाठ कहीं भी ग्रहण नहीं किया है। किन्तु कणाद और प्रशस्तपाद पदार्थों का उद्देश करते समय अभाव का उद्देश क्यों नहीं करते – इस विषय में कारण कहे गए हैं। इसके लिए किरणावली तथा न्यायकन्दली द्रष्टव्य हैं।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

नैयायिक सम्प्रदाय का सम्मत कहा है। अतः उक्त विशेष नामक नित्य पदार्थ केवल वैशेषिक सम्प्रदाय को सम्मत है। अतः वैशेषिक नाम उसका पड़ा है – यह बात सत्य नहीं है। परन्तु यह भी समझना चाहिए कि विश्वनाथप्रणीत न्यायसिद्धान्तमुक्तावली वैशेषिक ग्रन्थ नहीं है। इसमें न्याय मत के अनुसार – प्रत्यक्ष आदि चार प्रमाणों का उल्लेख और व्याख्या हुई है। उपमान और शब्द प्रमाण वैशेषिक मत के अनुसार अनुमान में अन्तर्भूत होते हैं – इसका खण्डन भी हुआ है। वैशेषिक मत में समवाय सम्बन्ध का प्रत्यक्ष नहीं होता है वह अनुमेय है। किन्तु इस ग्रन्थ मे विश्वनाथ ने कहा है – ''प्रत्यक्षं समवायस्य विशेषणतया भवेत्''। पश्चात् कहा है कि ''तत्रापि परमाणौ स्यात् पाको वैशेषिके नये''। इस विषय में सिद्धान्तमुक्तावली नैयायिक मत का ही समर्थन करती है। अन्य विविध कारणों से निःसन्देह कहा जा सकता है कि विश्वनाथ ने न्यायमत के वर्णन के लिए ही इस ग्रन्थ की रचना की है। अब प्रश्न हो सकता है कि तब आरम्भ में उन्होंने द्रव्य आदि सात पदार्थों का उद्देश्य क्यों किया है। अतः इन्होंने उपर्युक्त बात कही है कि ये सभी पदार्थ वैशेषिक मत में भी प्रसिद्ध हैं। किन्तु नैयायिक सम्प्रदाय के भी अविरुद्ध हैं अर्थात् सम्मत हैं। वस्तुस्थिति तो यह है कि न्याय सम्प्रदाय वैशेषिक सम्प्रदाय की तरह नियत पदार्थवादी नहीं वरन अनियत पदार्थवादी है। इस मत में प्रमाण से सिद्ध जो है वही पदार्थ होता है। पश्चात् नव्यनैयायिकों में अनेक द्रव्य आदि सात पदार्थों से भिन्न पदार्थों को मानकर अनेक विषय में समाधान किया है। (१.१.९)

***भाष्य* – तत्रात्मा तावत् प्रत्यक्षतो न गृह्यते[१०१]। स किमाप्तोपदेशमात्रादेव प्रतिपद्यत इति? नेत्युच्यते, अनुमानाच्च प्रतिपत्तव्य इति। कथम्?**

---

[१०१] वैशेषिकदर्शन में महर्षि कणाद का सूत्र है – तत्रात्मा मनश्चाप्रत्यक्षे (८.१.२)। इसके अनुसार प्रशस्तपाद ने आत्मा को अप्रत्यक्ष कहा है। यहाँ न्यायकन्दलीकार श्रीधर भट्ट ने कहा है कि सभी जीवों को ''अहं मम'' आदि रूप में निजदेहवर्ती आत्मा का मन से प्रत्यक्ष होता है। अतः बहिरिन्द्रिय से आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं होता – प्रशस्तपाद के कथन का यही अभिप्राय है। किन्तु यह मेरे समझ में नहीं आता है क्योंकि देह आदि से भिन्न रूप आदि से रहित आत्मा का किसी बहिरिन्द्रिय से प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है – यह सर्वसिद्ध है। अतः यह कथन अपेक्षित नहीं है। किन्तु प्रशस्तपाद ने आत्मा के अप्रत्यक्ष होने का कारण कहा है उसका सूक्ष्म होना। श्रीधर भट्ट ने उसकी व्याख्या में कहा है – ''प्रत्यक्षोपलब्धियोग्यताविरहः सौक्ष्म्यम्''। यद्यपि भाषापरिच्छेद (सिद्धान्तमुक्तावली) में विश्वनाथ तथा उनके पूर्ववर्ती अनेक नैयायिकों ने जीव के अपनी आत्मा में उत्पन्न सुख एवं दुःख आदि विशेष गुणों के मानस प्रत्यक्ष काल में (मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, आदि में) मन से अहंज्ञान के विषय में अपनी आत्मा के प्रत्यक्ष होने की बात कही है। तथापि मन से भी देहादि से भिन्न प्रकृत आत्मा का लौकिक प्रत्यक्ष नहीं होता →

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अनुवाद – इनमें आत्मा का प्रत्यक्ष प्रमाण से ग्रहण नहीं होता अर्थात् देह आदि से भिन्न रूप में जीवात्मा का लौकिक प्रत्यक्ष नहीं होता। (प्रश्न) क्या वह आत्मा केवल शब्द प्रमाण से ज्ञात होती है? (उत्तर) नहीं, अनुमान प्रमाण से भी वह ज्ञातव्य है। (प्रश्न) कैसे? आत्मा का अनुमापक लिंग क्या है? (उत्तर) सूत्र कहते हैं –

सूत्र – इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्। १.१.१०।

अनुवाद – इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान आत्मा का लिंग अर्थात् देह आदि से भिन्न चिरस्थायी जीवात्मा का अनुमापक होते हैं।

भाष्य – **यज्जातीयस्यार्थस्य सन्निकर्षात् सुखमात्मोपलब्धवान् तज्जातीयमेवार्थं पश्यन्नुपादातुमिच्छति। सेयमुपादातुमिच्छा एकस्यानेकार्थदर्शिनो दर्शनप्रतिसन्धानाद् भवति[१०२] लिङ्गमात्मनः। नियतविषये हि बुद्धिभेदमात्रे न सम्भवति देहान्तरवदिति।**

एवमेकस्यानेकार्थदर्शिनो दर्शनप्रतिसन्धानाद् दुःखहेतौ द्वेषः। यज्जातीयोऽस्यार्थः सुखहेतुः प्रसिद्धस्तज्जातीयमर्थं पश्चन्नादातुं प्रयतते। सोऽयं प्रयत्न एकमनेकार्थदर्शिनं दर्शनप्रतिसन्धातारमन्तरेण न स्यात्। नियतविषये हि बुद्धिभेद मात्रे न सम्भवति दोषान्तरवदिति। एतेन दुःखहेतौ प्रयत्नो व्याख्यातः।

सुखदुःखस्मृत्या चायं तत्साधनमाददानः सुखमुपलभते, दुःखमुपलभते, सुखदुःखे वेदयते, पूर्वोक्त एव हेतुः। बुभुत्समानः खल्वयं विमृशति किं स्विदिति। विमृशंश्च जानीते इदमिति। तदिदं ज्ञानं बुभुत्साविमर्शाभ्यामभिन्नकर्तृकं गृह्यमाणमात्मलिङ्गं, पूर्वोक्त एव हेतुरिति।

→ है – यही यहाँ भाष्यकार वात्स्यायन को अभिप्रेत प्रतीत होता है। अतः इन्होंने तृतीय सूत्र के भाष्य के अन्त में आत्मा के योगसमाधिजन्य अलौकिक प्रत्यक्ष की बात कही है। वहाँ इन्होंने कणाद के सूत्र का भी उल्लेख किया है। उक्त कणाद सूत्र की उपस्कार व्याख्या में शंकर मिश्र ने कणाद के इसी अभिप्राय को कहा है। जीवात्मा के प्रत्यक्ष के विषय में मतभेद तथा विशेष विचार न्यायमञ्जरी (पृ. ४२९ से ४३४ तक) में द्रष्टव्य हैं।

१०२ किसी-किसी पुस्तक में यहाँ ''भवन्ती लिङ्गमात्मनः'' पाठ उपलब्ध है। इस पाठ में ''भवन्ती उत्पद्यमाना सेयमुपादातुमिच्छा आत्मनो लिङ्गम्'' इस तरह व्याख्या ज्ञातव्य है। किन्तु पूर्वोक्त इच्छा के बाद विशेषणरूप में भवन्ती पद का प्रयोग समीचीन प्रतीत नहीं होता और इसका कुछ प्रयोजन भी नहीं देखा जाता। वार्त्तिक आदि ग्रन्थों से ऐसा पाठ उचित भी प्रतीत नहीं होता।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

तत्र देहान्तरवदिति विभज्यते। यथा अनात्मवादिनो देहान्तरेषु नियतविषया बुद्धिभेदा न प्रतिसन्धीयन्ते, तथैकदेहविषया अपि न प्रतिसन्धीयेरन् अविशेषात्। सोऽयमेकसत्त्वस्य समाचारः स्वयं दृष्टस्य स्मरणं नान्यदृष्टस्य नादृष्टस्येति। एवं खलु नानासत्त्वानां समाचारोऽन्यदृष्टमन्यो न स्मरतीति। तदेतदुभयमशक्य-मनात्मवादिना व्यवस्थापयितुमिति एवमुपपन्नमस्त्यात्मेति।

अनुवाद – जिस जातीय पदार्थ के सन्निकर्ष से आत्मा ''अहंज्ञान का विषय पदार्थ'' पहले सुख को प्राप्त करता है, उस जातीय पदार्थ के दर्शन करने पर उसे पाने की इच्छा करता है। यह पाने की इच्छा अनेकार्थदर्शी अर्थात् विभिन्न काल में अनेक पदार्थ के दर्शनकर्ता एक व्यक्ति के दर्शन का प्रतिसन्धान आत्मा का लिंग (अनुमापक) होता है। नियत विषय बुद्धिविशेष मात्र में अर्थात् विज्ञानवादी बौद्धसम्मत क्षणिक विज्ञान विशेष में (पूर्वोक्त दर्शन प्रतिसन्धान) सम्भव नहीं है, जैसे अन्य शरीर में सम्भव नहीं है। अर्थात् किसी सुखजनक पदार्थ को पहले देखकर सुख प्राप्त करता है पुनश्च उस जातीय पदार्थ का दर्शन होने पर उसको पाने की जो इच्छा होती है, इससे सिद्ध होता है कि वह द्रष्टा पूर्वापर काल में विद्यमान रहने वाला एक ही है। क्योंकि वहाँ जो मैंने पहले इस जातीय पदार्थ का दर्शन किया था वही मैं अभी उसको देखकर प्राप्त करने की इच्छा करता हूँ – इस तरह का उस दर्शन के प्रतिसन्धान या प्रत्यभिज्ञारूप मानस प्रत्यक्ष का जन्म होता है। किन्तु क्षणकाल मात्र स्थायी विज्ञानविशेष को आत्मा मानने पर उस आत्मा के नहीं रहने पर उक्त रूप प्रतिसन्धान नहीं हो पाएगा।

इसी तरह पूर्वोक्त प्रकार से उत्पन्न दुःखजनक पदार्थ के विषय में द्वेष अनेकार्थदर्शी एक व्यक्ति के दर्शन के प्रतिसन्धान से आत्मा का लिंग होता है। जिस जातीय पदार्थ से इस आत्मा को सुख होना निश्चित है उस जातीय पदार्थ के दर्शन से उस पदार्थ को प्राप्त करने का प्रयत्न वह आत्मा करता है। वह प्रयत्न अनेक अर्थों का दर्शक एक व्यक्ति ही दर्शन और प्रतिसन्धान का आश्रय होता है अर्थात् उपर्युक्त रीति से दर्शन का मानस प्रत्यभिज्ञाकारी एक व्यक्ति के होने के बिना सम्भव नहीं है। नियतविषयक विज्ञानविशेष मात्र में यह दर्शन और प्रतिसन्धान सम्भव नहीं है। जैसे अन्य शरीर में यह दर्शन और प्रतिसन्धान सम्भव नहीं है। इससे दुःखजनक पदार्थ में प्रयत्न का व्याख्यान भी हुआ है। अर्थात् उपर्युक्त रीति से दुःखजनक के विषय में कृत प्रयत्न भी आत्मा का अनुमापक (लिंग) होता है।

सुख और दुःख का स्मरण करके आत्मा उस सुख एवं दुःख के साधन की उपलब्धि कर सुख एवं दुःख की प्राप्ति करता है अर्थात् सुख एवं दुःख का अनुभव करता है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

पूर्वोक्त हेतु अर्थात् (जो मैंने सुख एवं दुःख का अनुभव किया था वही मैं आज सुख तथा दुःख का स्मरण करके उसके साधनों को ग्रहण कर तज्जन्य सुख-दुःख की प्राप्ति करता हूँ – इस सुख एवं दुःख के प्रतिसन्धान की पूर्वापर काल स्थायी एक आत्मा का साधक हेतु) किसी पदार्थ के जानने की इच्छा करने पर यह आत्मा क्या है इस प्रकार का संशय करता है और संशय होने पर यही आत्मा है – इस प्रकार का निश्चय होता है। यह ज्ञान अर्थात् निश्चयात्मक ज्ञान समझने की इच्छा और उक्त संशय के एक कर्तृक रूप में ज्ञायमान होकर अर्थात् जो मैंने पहले समझाने की इच्छा से संशय किया था वही मैं अभी उसका निश्चय कर रहा हूँ – इस तरह के मानस प्रत्यभिज्ञा का विषय होकर आत्मा का लिंग (अनुमापक) होता है। इस प्रकार उपर्युक्त प्रतिसन्धान पूर्वापर काल स्थायी एक आत्मा का साधक हेतु होता है।

इस वाक्य में पूर्वोक्त ''नियतविषये'' आदि वाक्य की ''देहान्तरवत्'' पद से व्याख्या होती है। जैसे अनात्मवादी अर्थात् क्षणिक विज्ञानवादी बौद्ध सम्प्रदाय के मत में देहान्तर समूह में नियत विषय बुद्धि विशेष समूह अर्थात् भिन्न-भिन्न क्षणिक विज्ञान प्रतिसंहित (प्रत्यभिज्ञा का विषय) नहीं होता इसी प्रकार एक देहस्थ बुद्धि भेद (भिन्न-भिन्न क्षणिक विज्ञानविशेष) भी प्रतिसंहित नहीं हो सकता क्योंकि विशेष नहीं है (क्षणिक विज्ञानविशेष को आत्मा कहने पर वह परदेह की तरह स्वदेह में भी प्रतिक्षण भिन्न-भिन्न आत्मा होगी। तब जो मैंने पहले उस पदार्थ को देखा था वही मैं अभी उस पदार्थ को या तज्जातीय पदार्थ को देखता हूँ – इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा सम्भव नहीं है)। इस एक आत्मा का समाचार है कि स्वयं दृष्ट पदार्थ का ही स्मरण होता है अन्य दृष्ट पदार्थ का नहीं है। अज्ञात पदार्थ का भी स्मरण नहीं होता। अनेक आत्मा का भी यही समाचार है कि अन्य कर्तृक दृष्ट पदार्थ का अन्य व्यक्ति स्मरण नहीं कर पाता। इन दोनों का अर्थात् स्वयं दृष्ट पदार्थ का स्मरण और अन्य दृष्ट पदार्थ के स्मरणाभाव का अनात्मवादी व्यवस्थापन नहीं कर सकते। अतः उपपन्न होता है कि आत्मा चिरस्थायी तथा अहंज्ञान का विषय होता है।

टिप्पणी – न्याय दर्शन का परम प्रयोजन अपवर्ग जीवात्मा का परम पुरुषार्थ के रूप में मान्य है। अतः प्रमेय पदार्थों में जीवात्मा ही प्रधान है। इसलिए महर्षि ने पहले जीवात्मा का उल्लेख करके इस सूत्र में अपने सम्मत जीवात्मा के अस्तित्व प्रतिपादक लिंगों को कहा है[१०३]। इससे स्वसम्मतलक्षण भी आत्मा का सूचित होता है। क्योंकि इनके मत में

---

[१०३] वैशेषिकदर्शन (३.२.४) में महर्षि कणाद ने सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न को एवं इसके पहले (३.१.१८ में) ज्ञान को जीवात्मा का साधक लिंग कहा है। इसी आधार पर प्रशस्तपाद ने कहा है – ''सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नैश्च गुणैर्गुण्यनुमीयते''। न्यायकन्दलीकार श्रीधर भट्ट →

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

इच्छा आदि विशेष गुण आत्मा में ही उत्पन्न होते हैं। अन्यथा इनको जीवात्मा का गुण नहीं कहा जा सकता। अतः इच्छावत्त्व तथा द्वेषवत्त्व आदि आत्मा के लक्षण होते हैं – इसी सूत्र से यह भी ज्ञात होता है। किन्तु वृत्तिकार विश्वनाथ ने कहा है कि महर्षि ने पूर्वसूत्र (१.१.९) में पहले आत्मा का उल्लेख करके इस सूत्र में उसका लक्षण कहा है। आत्मा की परीक्षा यहाँ उनका कर्त्तव्य नहीं है। अतएव इस सूत्र में लिंग शब्द का अर्थ लक्षण होता है। इच्छावत्व तथा द्वेषवत्व आदि आत्मा का लक्षण है – यही इस सूत्र का अर्थ होता है। इनमें इच्छावत्त्व, प्रयत्नवत्त्व, और ज्ञानवत्त्व – जीवात्मा और परमात्मा (दोनों प्रकार) का सामान्य लक्षण है। क्योंकि परमेश्वर में भी नित्य इच्छा, नित्य प्रयत्न और नित्य ज्ञान रहता है। किन्तु द्वेषवत्त्व, सुखवत्त्व और दुःखवत्त्व केवल जीवात्मा का लक्षण होता है। क्योंकि परमेश्वर में सुख, दुःख और द्वेष नहीं रहते। विश्वनाथ ने सिद्धान्तमुक्तावली में पश्चात् परमेश्वर में नित्य सुख की सत्ता मान ली है। जयन्त भट्ट ने इसका समर्थन किया है। अतः सुखवत्त्व भी परमात्मा का लक्षण हो सकता है। परमेश्वर के ज्ञान आदि गुणों के विषय में मतभेद एवं आलोचना चतुर्थखण्ड, बंग संस्करण (पृ. ६२-६३) में द्रष्टव्य है। सारांश यह हुआ कि वृत्तिकार विश्वनाथ के मत में महर्षि ने पूर्वसूत्र (१.१.९) में आत्मन् पद से जीवात्मा और परमात्मा दोनों प्रकार के आत्मा का ग्रहण किया है। आत्मत्व रूप से दोनों प्रकार के आत्मा आत्मन् शब्द का वाच्य होते हैं। अतः महर्षि गौतम ने प्रमाण आदि सोलह पदार्थों के मध्य प्रमेयरूप में ईश्वर का भी उल्लेख किया है।

किन्तु भाष्यकार आदि ने इस प्रकार की व्याख्या नहीं की है। सूत्र में लिंग पद से लक्षण और उसकी सार्थकता ज्ञात नहीं होती। महर्षि ने अन्य किसी पदार्थ का लक्षण कहते समय लिंग शब्द का प्रयोग नहीं किया। लिंग पद से अनुमापक हेतु ही ज्ञात होता है। यद्यपि इच्छा आदि गुण आत्मा के अनुमान में हेतु नहीं होते किन्तु उनसे आत्मा का अस्तित्व अनुमान प्रमाण से सिद्ध होता है। अतः उनको आत्मा का अनुमापक कहा जाता है। इस अनुमापक अर्थ में ही महर्षि ने सूत्र में लिंग शब्द का प्रयोग किया है। पहले अनुमान सूत्र (१.१.५) के भाष्य में भाष्यकार ने कहा है –

→ ने इस अनुमान की व्याख्या करते हुए "सामान्यतोदृष्ट" अनुमान दिखाया है। सूक्ति टीकाकार जगदीश तर्कालंकार ने अनुमान दिखाते हुए कहा है कि "सुखादिकं द्रव्यसमवेतं गुणत्वात्" "ज्ञानं क्वचिदाश्रितं कार्यत्वाद् गन्धवत्"। कणाद के मत में उक्त ज्ञान आदि जीवात्मा के ही गुण हैं – इसको समझाने के लिए जगदीश ने पश्चात् कहा है – "बुद्ध्यादीनां तद्गुणत्वाभावे तल्लिङ्गवचनानुपपत्तेरिति भावः"।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

''यथेच्छादिभिरात्मा''। इच्छा आदि गुण किस प्रकार से आत्मा के गुण होते हैं – यह भी वहाँ भाष्यकार ने कहा है। भाष्यकार के मत में सामान्यतोदृष्ट अनुमान से इच्छा आदि गुणों के आधार रूप आत्मा की सिद्धि होती है। भाष्यकार ने यहाँ विज्ञानवादी बौद्ध सम्प्रदाय के मत के खण्डन के उद्देश्य से महर्षि के इस सूत्र से चिरस्थायी तथा नित्य आत्मा के अस्तित्व के साधक अनुमान की व्याख्या की है। क्षणिक विज्ञानवादी बौद्ध सम्प्रदाय मैं, मेरा आदि (अहं मम) बुद्धि या विज्ञान से भिन्न किसी आत्मा को नहीं मानता किन्तु उक्त रूप विज्ञान आत्मा नहीं हो सकता। भाष्यकार ने उक्त मतवादी बौद्ध सम्प्रदाय को अनात्मवादी कहकर उल्लेख किया है। जो चिरस्थायी तथा नित्य आत्मा को मानते हैं उनको आत्मवादी कहते हैं।

भाष्यकार ने यथाक्रम इस सूत्र में उक्त इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान को चिरस्थायी तथा नित्य आत्मा के लिंग रूप में व्याख्या करके पहले कहा है कि जिस जातीय पदार्थ के सन्निकर्ष से दर्शन करके जो आत्मा पहले सुख का अनुभव किया पश्चात् उस जातीय पदार्थ का दर्शन करके उस आत्मा की इच्छा उसे पाने की होती है। इस पाने की इच्छा से सिद्ध होता है कि पदार्थ विशेष का प्रथम द्रष्टा और पश्चात् उसका इच्छुक आत्मा एक ही है। क्योंकि यहाँ अनेकार्थदर्शी एक आत्मा के उस दर्शन का ही प्रतिसन्धान होता है। प्रतिसन्धान पद से यहाँ प्रत्यभिज्ञारूप मानस प्रत्यक्ष ही भाष्यकार को अभिप्रेत प्रतीत होता है। मैंने जो पहले इस जातीय पदार्थ का दर्शन करके सुख प्राप्त किया था वही मैं अभी इसको देखकर उसे प्राप्त करने की इच्छा करता हूँ – इस प्रकार का मानस प्रत्यक्षरूप प्रतिसन्धान होने पर इससे वह इच्छा पूर्वापर कालस्थायी आत्मा का लिंग (अनुमापक) होती है। भाष्यकार के अभिप्राय को कहते हुए उद्योतकर ने पहले कहा है –''तत्रेच्छादीनां प्रतिसन्धानमात्मास्तित्वप्रतिपादकम्'' । वाचस्पति मिश्र ने भाष्यकार के तात्पर्य की व्याख्या में कहा है[१०४] कि वह आत्मा उस दृष्ट पदार्थ के सुखजनकत्व का अनुमान करके उसके ग्रहण हेतु इच्छा करता है। अतः उसकी वह इच्छा पूर्वोत्पन्न व्याप्तिज्ञान एवं उस व्याप्ति के स्मरण,पक्षधर्मताज्ञान (लिंगपरामर्श) तथा अनुमान की इच्छा आदि के एक कर्तृकत्व की सूचना देती है। क्योंकि इन सभी के

---

१०४ इच्छाया आत्मलिंगत्वकथनपरं भाष्यं ''यज्जातीयस्येति'' । यज्जातीयस्येति व्याप्तिस्मृतिकथनम्। यज्जातीयं पश्यन्निति पक्षधर्मोपनयः। तस्मादयं सुखहेतुरित्यनुमायादातुमिच्छति। सेयमिच्छेदृशी व्याप्तिग्रहणतत्स्मरणपक्षधर्मताग्रहणानुमानेच्छादीनामेककर्तृकत्वं सूचयति। भेदे प्रतिसन्धानाभावेन एतदनुपपत्तेः। तदिदमुक्तमेकस्येति। यश्चासावेकोऽनुभविता च स्मर्ता चानुमाता चेषिता च स आत्मा'। – तात्पर्यटीका

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

भिन्न कर्तृक होने पर उक्त रूप प्रतिसन्धान नहीं हो सकता। भाष्यकार ने पश्चात् कहा है ''नियतविषये हि बुद्धिभेदमात्रे न सम्भवति देहान्तरवदिति''।

भाष्यकार का तात्पर्य यह है कि क्षणिक विज्ञानवादी को अभिमत बुद्धिभेद अर्थात् अहं मम रूप विज्ञानविशेष यह नियतविषयक होता है। अर्थात् वह विषयविशेष का ज्ञाता हो सकता है किन्तु बाद में वह विद्यमान नहीं रहने के कारण पूर्ववर्ती तथा परवर्ती विषय का ज्ञाता नहीं हो सकता। अतः उससे उपर्युक्त स्वरूप प्रतिसन्धान नहीं हो सकता। किन्तु विज्ञानवादी बौद्ध सम्प्रदाय के मत में 'आलय विज्ञान' नामक विज्ञान विशेष की सन्तान ही आत्मा होता है – उसका नाम है चित्त। उस विज्ञान के सन्तानी अर्थात् प्रत्येक विज्ञान के क्षणिक होने पर भी उसकी सन्तान के स्थायित्व के कारण उक्तरूप प्रतिसन्धान हो सकता है और होता भी है। क्योंकि वह विज्ञानसन्तान उसके पूर्वदृष्ट विषय का स्मरण करती है। भाष्यकार ने ''बुद्धिभेदमात्रे'' पद में मात्र पद से इसको व्यक्त किया है[१०५]। उपर्युक्त विज्ञान की समष्टि रूप सन्तान भी विज्ञान ही है और प्रत्येक विज्ञान से वह भिन्न नहीं है। अतः क्षणिकत्व के कारण प्रत्येक विज्ञानविशेष में जब उक्त प्रतिसन्धान सम्भव नहीं है तब उस विज्ञान की सन्तान में भी वह सम्भव नहीं है और यदि प्रत्येक विज्ञान से उस सन्तान को भिन्न माना जाए तो हम लोगों की तरह अतिरिक्त आत्मा ही मान्य होगा।

पश्चात् भाष्यकार ने दुःखजनक पदार्थ में आत्मा का द्वेष और सुखजनक तथा दुःखजनक पदार्थ में प्रयत्न, सुख, दुःख, किसी विषय में जिज्ञासा के बाद संशय एवं यथाक्रम निश्चयात्मकज्ञान को उपर्युक्त रूप चिरस्थायी आत्मा का लिंग (अनुमापक हेतु) कहा है। पुनश्च कहा है – ''पूर्वोक्त एवं हेतुः''। पहले जिस पदार्थ को देखकर जो मैंने दुःख का अनुभव किया था, वही मैं तज्जातीय पदार्थ को देखकर द्वेष करता हूँ – इस रूप में जो आत्मा का प्रतिसन्धान होता है उससे सिद्ध होता है कि आत्मा पूर्वापर कालस्थायी एक होता है क्योंकि एक के अनुभूत विषय का स्मरण दूसरा नहीं कर सकता। स्मरण को छोड़ देने पर भी प्रत्यभिज्ञारूप प्रतिसन्धान नहीं हो सकता।[१०६] अतः

---

[१०५] नियतविषये इति बुद्धिभेदस्य प्रतिसन्धानमपाकरोति। मात्रग्रहणेन च सन्तानं सन्तानिव्यतिरिक्तमपाकरोति। तदभ्युपगमे वा स एवात्मेति सिद्धं नः समीहितम्। – तात्पर्यटीका

[१०६] न्यायवार्त्तिक में उद्योतकर ने इस विषय में बौद्ध सम्प्रदाय के समाधान को बहुत विचार करके खण्डन करते हुए कहा है – ''विशेषितञ्चैतत् प्रतिसन्धानं स्मृत्या सह पूर्वापरप्रत्ययैकविषयत्वेन प्रतिसन्धानं, सा च स्मृतिर्भवत् पक्षेऽनुपपन्ना, कस्मात् अन्येनानुभूतस्यान्येनास्मरणात्।' अर्थात् इच्छा आदि के उत्पन्न होने पर पश्चात् पूर्व दृष्ट पदार्थ का स्मरण के साथ →

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

विज्ञानवादी बौद्ध सम्प्रदाय विशेष को सम्मत क्षणिक विज्ञानविशेष में उक्त रूप प्रतिसन्धान नहीं हो सकता। भाष्यकार ने सबसे अन्त में अपने पूर्वोक्त वाक्य ''देहान्तरवत्'' पद की व्याख्या करके यही समझाया है।

भाष्यकार ने कहा है कि अनात्मवादी अर्थात् क्षणिक विज्ञानवादी बौद्ध सम्प्रदाय के मत में भी भिन्न-भिन्न शरीर में उन समस्त विज्ञानविशेष का प्रतिसन्धान नहीं होता। क्योंकि एक देहगत विज्ञान से अपर देहगत विज्ञान के भिन्न होने के कारण एक विज्ञान के अनुभूत विषय का स्मरण अपर विज्ञान नहीं कर सकता। यदि ऐसा मान लिया जाए तो तुल्य न्याय के आधार पर एक देहगत समस्त विज्ञानविशेष भी परस्पर भिन्न होने से एक देह में भी एक विज्ञान के अनुभूत विषय का स्मरण तद् देहगत अन्य विज्ञान नहीं करेगा और पुनश्च प्रतिसन्धान उस विषय का नहीं हो पाएगा। क्योंकि एक देहगत विज्ञान समूह का कोई विशेष उपलब्ध नहीं है। वे विज्ञान भी भिन्न-भिन्न देहगत विज्ञान समूह की तरह परस्पर भिन्न होते हैं। किन्तु स्वयं दृष्ट पदार्थ का स्मरण होता है लेकिन अन्य का देखा हुआ या नहीं देखा हुआ पदार्थ स्मरण नहीं होता – यही एक सत्त्व अर्थात् एक आत्मा के पक्ष में समाचार अर्थात् सिद्धान्त है। इसी प्रकार अन्य के दृष्ट पदार्थ का अन्य व्यक्ति स्मरण नहीं कर सकता – यह नाना सत्त्व अर्थात् अनेक आत्मा के पक्ष में समाचार या सिद्धान्त हैं क्षणिक विज्ञानवादी उक्त दोनों सिद्धान्तों का व्यवस्थापन करने में समर्थ नहीं हैं क्योंकि उनके मत में जीव के देह में क्षणिक विज्ञान-विशेष रूप से आत्मा प्रत्येक क्षण में भिन्न होता है। यदि एक आत्मा के अनुभूत विषय्र का अपर आत्मा स्मरण करेगा तो इस सिद्धान्त की हानि होगी किन्तु क्षणिक विज्ञानवादी भी इस सिद्धान्त को मानते हैं। अन्यथा उनके मत में वह विज्ञानविशेषरूप आत्मा अन्य देहगत विज्ञानविशेषरूप से आत्मा के दृष्ट विषय का स्मरण क्यों नहीं करता। क्षणिक विज्ञानवादी स्वयं जिसका कभी अनुभव नहीं करते, ऐसे अन्य के अनुभूत विषय का स्मरण क्यों नहीं करते?

→ पूर्वज्ञात ज्ञान और पश्चात् उत्पन्न ज्ञान के एक विषयत्व रूप में जो प्रतिसन्धान उत्पन्न होता है वही पूर्वापर काल स्थायी आत्मा के अनुमान में व्यतिरेकी हेतु होता है। टीकाकार वाचस्पति मिश्र ने इस अनुमान का आकार कहा है – स्मृतिः पूर्वापरप्रत्ययाभ्यामेककर्त्तृका उभाभ्यां सहैकविषयत्वेन प्रतिसन्धीयमानत्वात्। या पुनर्नाभ्यामेककर्त्तृका सा न तथा प्रतिसन्धीयते। यथा देवदत्तस्य स्मृतिर्यज्ञदत्तप्रत्ययाभ्याम् नत्वियं न तथा तस्मात्तथेति।

उद्योतकर ने पश्चात् अन्वय दृष्टान्त का ग्रहण करके इस विषय में अन्वयव्यतिरेकी अनुमान प्रदर्शन करते हुए कहा है – अथवा अन्वयेनान्यः सूत्रार्थोऽभिधीयते। इत्यादि।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

वसुबन्धुं तथा दिङ्नाग आदि विज्ञानवादी बौद्ध आचार्यगण ने स्वयं विचार करके इस मत का समर्थन किया है। इनके मत में एक देहगत इन सभी विज्ञान समूहों में कार्यकारणभाव सम्बन्ध रहने से अन्य देहगत विज्ञानसमूह से इसका विशेष उपपन्न होता है। एक शरीरगत उन समस्त विज्ञानसमूह का सन्तानरूप चित्त प्रवाह ही उस देह के पक्ष में आत्मा होता है। जो आत्मा जन्मान्तर में भी अपने पूर्व जन्म के अनुभूत विषय का स्मरण कर सकता है। किन्तु इस बौद्ध सम्प्रदाय के प्रबल विरोधी उद्योतकर ने नाना स्थलों पर उनके सिद्धान्त या कथन का उल्लेख या व्याख्या करके विचारपूर्वक खण्डन किया है। पश्चात् वाचस्पति मिश्र आदि ने भी इन विचारों की व्याख्या करके उनके कथन का खण्डन किया है। संक्षेप में इन सभी बातों को नहीं कहा जा सकता। उस विज्ञानवाद की व्याख्या में वसुबन्धु के मत में कुछ विशेष भी है। वसुबन्धु की विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि आदि ग्रन्थ एवं स्थिरमतिकृत भाष्य के अध्ययन से इन बातों को जाना जा सकता है। बौद्ध विज्ञानवाद की व्याख्या एवं समालोचना पञ्चम खण्ड (बंग संस्करण) में द्रष्टव्य है। १.१.१०

***भाष्य* – तस्य भोगाधिष्ठानम् –**

अनुवाद – उस आत्मा के भोग का अर्थात् सुख और दुःख के अनुभव का अधिष्ठान (स्थान) है (शरीर)।

सूत्र – चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्। १.१.११।

अनुवाद – चेष्टा का आश्रय, इन्द्रिय का आश्रय और अर्थ (सुख-दुःख) का आश्रय शरीर होता है। शरीर के तीन लक्षण होते हैं – चेष्टाश्रयत्व, इन्द्रियाश्रयत्व और भोगाश्रयत्व।

***भाष्य* – कथं चेष्टाश्रयः? ईप्सितं जिहासितं वार्थमधिकृत्य ईप्साजिहासा-प्रयुक्तस्य तदुपायानुष्ठानलक्षणा समीहा चेष्टा, सा यत्र वर्तते तच्छरीरम्। कथमिन्द्रियाश्रयः? यस्यानुग्रहेणानुगृहीतानि उपघाते चोपहतानि स्वविषयेषु साध्वसाधुषु प्रवर्तन्ते, स एषामाश्रयस्तच्छरीरम्। कथमर्थाश्रयः? यस्मिन्नायतने इन्द्रियार्थसन्निकर्षादुत्पन्नयोः सुखदुःखयोः प्रतिसंवेदनं प्रवर्तते स एषामाश्रय-स्तच्छरीरम् इति।**

अनुवाद – (पूर्वपक्ष) वह चेष्टा का आश्रय कैसे होता है। क्रियारूप चेष्टा शरीर से भिन्न पदार्थ में भी रहती है, पुनश्च किसी शरीर विशेष में नहीं भी रहती। अतः चेष्टा का आश्रय होना शरीर का लक्षण नहीं हो सकता। (उत्तर) प्राप्ति की इच्छा के विषय अथवा

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

परित्याग की इच्छा के विषय पदार्थ को उद्देश्य करके प्राप्ति की इच्छा या परित्याग की इच्छा के कारण किसी व्यक्ति के द्वारा किए गए यत्न से प्राप्ति के या परिहार के उपाय का अनुष्ठानरूप समीहा चेष्टा जहाँ रहती है उसे शरीर कहते हैं। (पूर्वपक्ष) इन्द्रिय का आश्रय वह कैसे होता है। घट आदि द्रव्य में चक्षुःसंयोग के काल में वे समस्त द्रव्य भी इन्द्रिय का आश्रय होते हैं। अतः इन्द्रिय का आश्रय होना शरीर का लक्षण नहीं हो सकता। (उत्तर) जिसके अनुग्रह से अनुगृहीत अर्थात् जिसकी सत्ता से सत्ता विशिष्ट एवं जिसके विनाश से विनष्ट होता है, ऐसा इन्द्रियवर्ग साधु तथा असाधु अपने विषय-समूह में प्रवृत्त होकर यथाक्रम गन्ध आदि विषयों का ग्राहक होता है, वही पदार्थ उस इन्द्रियवर्ग का आश्रय शरीर कहलाता है। (पूर्वपक्ष) अर्थ का आश्रय वह कैसे होता है अर्थात् घट आदि द्रव्य एवं गन्ध आदि अर्थ का आश्रय होने से अर्थाश्रयत्व शरीर का लक्षण नहीं हो सकता। (उत्तर) जिस अधिष्ठान में इन्द्रिय एवं अर्थ के सन्निकर्ष हेतु से उत्पन्न सुख और दुःख का अनुभव होता है वह पदार्थ इस सुख-दुःखरूप अर्थसमूह का आश्रय शरीर कहलाता है।

टिप्पणी – आत्मा के बाद इस सूत्र में द्वितीय प्रमेय शरीर का लक्षण कहा गया है। भाष्यकार ने पहले कहा है कि आत्मा का भोगाधिष्ठान शरीर है अर्थात् आत्मा सुख-दुःख का अनुभव शरीरावच्छेद से करता है। अतः शरीर के बिना भोग नहीं हो सकता – इस सिद्धान्त के प्रकाशन हेतु आत्मा के बाद शरीर का लक्षण कर्त्तव्य है – इसी अभिप्राय से इन्होंने ''तस्य भोगाधिष्ठानम्'' कहा है। महर्षि ने इस सूत्र से शरीर के तीन लक्षणों को कहा है – १. चेष्टाश्रयत्व २. इन्द्रियाश्रयत्व ३. अर्थाश्रयत्व। चेष्टा पद का अर्थ क्रियामात्र होने पर चेष्टाश्रयत्व शरीर का लक्षण नहीं हो सकता। अतः भाष्यकार ने कहा है कि हितप्राप्ति एवं अहित परिहार की इच्छा से यत्नवान् जीव का उसके उपाय के अनुष्ठान रूप समीहा को चेष्टा कहते हैं। इससे प्रतीत होता है कि किसी चेतन के प्रयत्नजन्य उक्त रूपक्रिया विशेष ही चेष्टा है। अतः घट आदि पदार्थ में वह नहीं रहती वह जीव के शरीर का ही धर्म है। शरीर विशेष में उसके नहीं रहने पर भी उसकी योग्यता रहती है। वृक्ष आदि में भी वह चेष्टा पाई जाती है[१०७]। इन्द्रियाश्रयत्व शरीर का दूसरा लक्षण है।

---

[१०७] वैशेषिक आचार्य प्रशस्तपाद, न्यायकन्दली व्याख्या के प्रणेता श्रीधर भट्ट, तात्पर्यटीकाकार वाचस्पति मिश्र, न्यायमञ्जरीकार जयन्त भट्ट एवं न्यायबिन्दु के प्रणेता बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति आदि के मत में वृक्ष आदि का शरीर मान्य नहीं है। किन्तु किरणावली टीका में उदयनाचार्य ने वृक्ष आदि के जीवनमरण का समर्थन करके उसके सजीवत्व को सिद्ध किया है। सिद्धान्त-मुक्तावली में विश्वनाथ ने उदयनमत का समर्थन किया है। जैन सम्प्रदाय में भी स्थावर जीव को मानकर उनकी एकमात्र इन्द्रिय त्वक् को कहा है। जैन दार्शनिक उमास्वाति कहते हैं – →

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

इन्द्रियाश्रय कहने से इन्द्रिय संयुक्त या जिस किसी सम्बन्ध से इन्द्रिय का अधिकरण अभिप्रेत नहीं है। किन्तु शरीर के अस्तित्व के कारण इन्द्रिय का अस्तित्व सिद्ध होता है। शरीर का नाश होने पर इन्दियों का भी नाश होता है। अतः शरीर ही इन्द्रिय का आश्रय होता है। इसी अर्थ में इन्द्रियाश्रयत्व शरीर का लक्षण माना जाता है। वृत्तिकार विश्वनाथ ने कहा है – ''चक्षुष्मान् देवदत्तोऽयम्'' इस प्रतीति के आधार पर देवदत्त का शरीर चक्षु से विशिष्ट है – ऐसा ज्ञात होता है। इस शरीर में चक्षुरिन्द्रिय की अवच्छेदकता नामक स्वरूप सम्बन्ध विशेष मान्य है। इससे ज्ञात होता है कि इस विलक्षण स्वरूप सम्बन्ध से इन्द्रिय का आश्रयत्व शरीर का दूसरा लक्षण होता है।

अर्थाश्रयत्व शरीर का तीसरा लक्षण है। अर्थ शब्द से यहाँ महर्षि के उक्त चतुर्थ प्रमेय गन्ध आदि इन्द्रियों के अर्थ ज्ञात नहीं होते, किन्तु अवधेय है कि गन्ध आदि अर्थ के कारण आत्मा में जो सुख एवं दुःख उत्पन्न होते हैं उसी में यहाँ अर्थ शब्द का लाक्षणिक प्रयोग हुआ है। जैसे ''अन्नं वै प्राणिनः प्राणाः'' श्रुतिवाक्य में अन्न का साध्य अर्थ में प्रयोग हुआ है। शरीर के नहीं रहने पर आत्मा में सुख-दुःख की उत्पत्ति नहीं हो सकती। शरीरावच्छेद में आत्मा में सुख-दुःख का मानस प्रत्यक्ष रूप अनुभव उत्पन्न होता है। जीव का शरीर ही आत्मा के सुख-दुःख का तथा उसके अनुभव का अवच्छेदक होता है। अतः अवच्छेदकता सम्बन्ध से सुख एवं दुःखरूप अर्थ का आश्रयत्व शरीर का लक्षण कहा गया है। (१.१.११)

***भाष्य* – भोग साधनानि पुनः –**

अनुवाद – और भोग के साधन अर्थात् सुख तथा दुःख रूप भोग का परम्परया साधन क्या है?

सूत्र – घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेम्यः। १.१.१२।

अनुवाद – भूत वर्गों से उत्पन्न अर्थात् यथाक्रम पृथिवी आदि पाँच महाभूतों से घ्राण रसन चक्षुष् त्वक् तथा श्रोत्र इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है।

→ ''पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः'' (तत्त्वार्थसूत्र २.१३)। वस्तुतः वृक्ष आदि का सजीवत्व एवं सुखदुःख शास्त्र सिद्ध है। छान्दोग्य उपनिषद् (६.१.१.१) में इसका वर्णन देखा जाता है। मनु स्पष्ट कहते हैं – ''अन्तः संज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः'' (१.४९) मनु बाद में कहते हैं ''शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः'' (१२.९) शारीरिक पाप विशेष का फल है कि मनुष्य स्थावर जन्मलाभ करता है किन्तु वाचिक पाप विशेष के फलस्वरूप निकृष्ट वृक्ष के रूप में जन्म होता है – यह भी शास्त्र में वर्णित है। ''गुरूं हुंकृत्य त्वंकृत्य श्मशाने जायते तरुः'' आदि वचन शास्त्र में उपलब्ध है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

भाष्य – **जिघ्रत्यनेनेति घ्राणम् गन्धं गृह्णातीति। रसयत्यनेनेति रसनं रसं गृह्णातीति। चष्टेऽनेनेति चक्षुः रूपं पश्यतीति। त्वक्स्थानमिन्द्रियं त्वक् तदुपचारः स्थानादिति। शृणोत्यनेनेति श्रोत्रं शब्दं गृह्णातीति। एवं समाख्यानिर्वचनसामर्थ्याद् बोध्यम् स्वविषयग्रहणलक्षणानीन्द्रियाणि इति। भूतेभ्य इति नानाप्रकृतीनामेषां सतां विषयनियमो नैकप्रकृतीनाम्, सति च विषयनियमे स्वविषयग्रहणलक्षणत्वं भवतीति।**

अनुवाद – जिघ्रति अनेन इस प्रकार की व्युत्पत्ति के कारण इससे गन्ध का ग्रहण होता है। इसलिए घ्राण गन्ध की ग्राहक होने से घ्राण नामक इन्द्रिय होती है। रसयति अनेन इस व्युत्पत्ति के अनुसार इससे रस का ग्रहण होता है। अतः रसन रस की ग्राहक होने से यह रसन इन्द्रिय कहलाती है। चष्टे अनेन इस व्युत्पत्ति के अनुसार इससे रूप का दर्शन होता है। इसलिए चक्ष् धातु का अर्थरूप दर्शन होता है। अतः चक्षु रूपदर्शन का साधन होने से चक्षुष् इन्द्रिय कहलाती है। त्वक् अर्थात् चर्म ही जिसका स्थान है, आधार है, ऐसी इन्द्रिय त्वक् स्थान के कारण उसमें उपचार से त्वक् इन्द्रिय मान्य है। त्वक् पद का मुख्य अर्थ चर्म है और चर्मस्थ इन्द्रिय विशेष में त्वक् शब्द का लाक्षणिक प्रयोग होता है। क्योंकि चर्म ही उस इन्द्रिय का स्थान या आधार होता है। शृणोति अनेन इस व्युत्पत्ति के अनुसार इससे शब्द का श्रवण होता है इसलिए श्रोत्र शब्द की ग्राहक इन्द्रिय होती है। इस प्रकार समाख्या की पाँचों संज्ञाओं का निर्वचन सामर्थ्य के अनुसार इन्द्रिय वर्ग अपने विषय के ग्रहण के पटु होते हैं। अर्थात् यथाक्रम गन्ध आदि अपने-अपने विषय के प्रत्यक्ष का साधनत्व ही घ्राण आदि पाँचों इन्द्रियों का लक्षण होता है। ''नाना प्रकृति'' अर्थात् पृथिवी आदि भूत रूप भिन्न-भिन्न उपादानमूलक होने से इन सभी इन्द्रियों की विषय में व्यवस्था है। एक प्रकृति अर्थात् किसी एक उपादान से सम्भूत होने पर इनमें विषय-व्यवस्था नहीं हो सकती। तब सभी इन्द्रियाँ सभी विषयों की ग्राहक हो जाएंगी। विषय की व्यवस्था होने पर स्वविषयग्रहणस्वभावत्व सिद्ध होता है। ऐसी स्थिति में अपने-अपने विषय के ग्राहकत्व सभी इन्द्रियों का लक्षण कहा जा सकता है। इसलिए सूत्र में ''भूतेभ्यः'' पद कहा गया है।

टिप्पणी – शरीर के बाद तृतीय प्रमेय इन्द्रिय का निरूपण करना है। महर्षि गौतम के मत में मनस् के इन्द्रिय होने पर भी उसको उन्होंने स्वतन्त्र रूप से छठवाँ प्रमेय कहा है। इस सूत्र में इन्द्रियों में मन का उल्लेख नहीं करने का कारण भाष्यकार ने पहले ही चतुर्थ सूत्र की व्याख्या के अन्त में कहा है। फलितार्थ यह हुआ कि महर्षि ने घ्राण आदि पाँच इन्द्रियों को तृतीय प्रमेय कहा है। भाष्यकार ने सूत्र के अवतरण में ''भोगसाधनानि''

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

कहकर इन पाँच इन्द्रियों का सामान्य लक्षण भी सूचित किया है। जीव के सुख तथा दु:ख के भोग का स्थान है शरीर। घ्राण आदि इन्द्रियाँ हैं उस भोग की साधन। यद्यपि भोग का साक्षात् साधन है मन तथापि घ्राण आदि इन्द्रियाँ उसके परम्परया भोग की साधन होती हैं। वाचस्पति ने इसी भाव से भाष्यकार के तात्पर्य की व्याख्या की है। भाष्यकार ने सूत्रोक्त घ्राण आदि शब्द की व्युत्पत्ति प्रदर्शित कर कहा है कि यद्यपि इस सूत्र से इन्द्रियों का विभाग अर्थात् विशेष नामकीर्तन ही हुआ है तथापि उक्त व्युत्पत्ति के अनुसार घ्राण आदि शब्द का विशेष लक्षण भी ज्ञात होता है। गन्धग्राहक इन्द्रियत्व और रसग्राहक इन्द्रियत्व आदि पाँच विशेष लक्षण तथा सामान्य लक्षण भी इस सूत्र से सूचित होते हैं।

वृत्तिकार विश्वनाथ कहते हैं कि महर्षि ने घ्राण आदि को इन्द्रिय कहकर घ्राण, रसना, चक्षुष्, त्वक् तथा श्रोत्र के अन्यतमत्व को बहिरिन्द्रिय का सामान्य लक्षण कहा है। भाष्यकार ने सूत्रोक्त त्वगिन्द्रिय बोधक त्वक् शब्द की व्युत्पत्ति की व्याख्या करते हुए कहा है कि उपचारवश शरीर के चर्म में अवस्थित स्पर्श का ग्राहक पदार्थत्वक् इन्द्रिय होती है। उसी में त्वक् शब्द का प्रयोग होता है। महर्षि ने पश्चात् स्वयं इस लाक्षणिक त्वक् पद के प्रयोग को कहा है। पश्चात् भाष्यकार ने इसकी व्याख्या की है। द्वितीय आह्निक के सूत्र १४ का भाष्य और द्वितीय अध्याय, द्वितीय आह्निक के सूत्र ५९ का भाष्य इस सम्बन्ध में विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं।

सांख्य मत में बुद्धि के परिणाम अहंकार से सभी इन्द्रियों की उत्पत्ति कही गई है। इसलिए इन्द्रियवर्ग को आहंकारिक कहा गया है। किन्तु महर्षि गौतम के मत में घ्राण आदि पञ्चेन्द्रिय भौतिक मानी गई हैं। यथाक्रम पृथिवी आदि पञ्चभूत उनकी प्रकृति या मूल है। महर्षि ने इसी सिद्धान्त को समझाने के लिए सूत्र के अंत में ''भूतेभ्य:'' कहा है[१०८]।

---

[१०८] महर्षि गौतम के मत में कर्णगोलकावच्छिन्न आकाश ही श्रवणेन्द्रिय है। किन्तु आकाश का मूल कोई परमाणु नहीं होता। आकाश एक एवं नित्य होता है। महर्षि ने सूत्र (४.२.२२) में आकाश को विभु कहकर इस सिद्धान्त का प्रकाशन किया है। किन्तु तब यह नहीं कहा जा सकता कि श्रवणेन्द्रिय आकाश से उत्पन्न होती है। अत: वाचस्पति मिश्र यहाँ कहते हैं – अत्र च कर्णशष्कुलीसंयोगोपाधिना श्रोत्रञ्च नभस: कथंचिद् भेदं विवक्षित्वा ''भूतेभ्य: इति पञ्चम्यर्थो व्याख्यात:''। किन्तु श्रवणेन्द्रिय की उपाधि के उत्पन्न होने पर भी श्रवणेन्द्रिय के स्वरूप को आकाश से उत्पन्न नहीं माना जा सकता। सूत्रगत ''भूतेभ्य:'' पद में पञ्चमी विभक्ति का प्रयोज्यत्व अर्थ मानने पर उसकी उत्पत्ति सम्भव है। क्योंकि श्रवणेन्द्रिय भले ही आकाशजन्य नहीं हो किन्तु आकाशप्रयोज्य होती है। क्योंकि पञ्चमभूत आकाश के अस्तित्व के बिना श्रवणेन्द्रिय का अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता। बाद में इस विषय में आलोचना होगी।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

महर्षि ने तृतीय अध्याय में इन्द्रियपरीक्षाप्रकरण में विचार करके सांख्य मत का निराकरण और अपने मत का समर्थन किया है। भाष्यकार ने संक्षेप में यहाँ महर्षि की युक्ति का प्रकाशन किया है कि घ्राण आदि पाँच इन्द्रियों की प्रकृति यथाक्रम पृथिवी आदि पञ्चभूत के होने से ही विषय की व्यवस्था उपपन्न होती है। अहंकार रूप एक प्रकृतिक होने से उसकी उपपत्ति नहीं हो सकती। ऐसा मानने पर रूप आदि भी घ्राणेन्द्रिय का विषय या ग्राह्य हो सकते थे। गन्ध आदि भी अन्य इन्द्रिय का ग्राह्य विषय हो सकते थे। सांख्य मत में उपादान कारण और उसके कार्य में भेद मान्य नहीं है बल्कि अभेद ही कहा गया है। अतः अहंकार से घ्राणेन्द्रिय का आविर्भाव होता है और उसी से अन्य इन्द्रियों का भी। अब सभी इन्द्रियों का मूल अहंकार होता है, ऐसा होने से सभी विषयों की ग्राहकता सभी इन्द्रियों में माननी होगी। किन्तु घ्राणेन्द्रिय केवल गन्ध के ग्रहण में समर्थ है, रूप आदि के ग्रहण में समर्थ नहीं। इस प्रकार घ्राण आदि सभी इन्द्रियों के विषय का नियम सर्वसम्मत है। इसी को अन्त में भाष्यकार ने कहा है – ''सति च विषयनियमे स्वविषयलक्षणग्रहणत्वं भवतीति''। अपने-अपने विषय के ग्रहण या प्रत्यक्ष जिसका लक्षण या लिंग (अनुमापक) होता है उसी अर्थ में इन्द्रिय को ''स्वविषय ग्रहण लक्षण' कहा गया है। वाचस्पति मिश्र ने तात्पर्यटीका में कहा है कि घ्राण आदि इन्द्रियाँ अतीन्द्रिय अर्थात् प्रत्यक्ष की अविषय होती हैं। अतः अपने-अपने विषय के ग्रहण या प्रत्यक्ष के कारणत्व रूप में वह अनुमेय होती है। अतः गन्ध आदि अपने-अपने विषयों का प्रत्यक्ष साधनत्व ही घ्राण आदि पाँच इन्द्रियों का लक्षण होता है। भाष्यकार की अन्तिम उक्ति से ही यह ज्ञात होता है। अतः घ्राण आदि पद पंकज की तरह योगरूढ़ रूप में मान्य हैं। (१.१.१२)

***भाष्य* – कानि पुनरिन्द्रियकारणानि?**

अनुवाद – (प्रश्न) इन्द्रियवर्ग का मूलभूत कारण क्या है?

सूत्र – पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशमिति भूतानि। १.१.१३।

अनुवाद – (उत्तर) पृथिवी, जल, तेज, वायु तथा आकाश – ये सभी पाँचों द्रव्य हैं भूत।

***भाष्य* – संज्ञाशब्दैः पृथगुपदेशो भूतानां विभक्तानां सुवचं कार्यं भविष्यतीति।**

अनुवाद – विभक्त भूतवर्ग का कार्य सुवच होगा अर्थात् सहज ही कहा जाएगा। अतः संज्ञा शब्द से भूतवर्ग का पृथक् उपदेश हुआ है।

टिप्पणी – पूर्व सूत्र में इन्द्रियों के कारणरूप में भूतवर्ग का उपदेश होने पर भी विशेष संज्ञा नहीं कही गई थी। अतः महर्षि ने पश्चात् भूतवर्ग के विशेष-विशेष कार्य जो कहेंगे

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

उसे सुखबोध्य करने के लिए प्रमेय लक्षण के प्रकरण में इस सूत्र से भूतवर्ग की संज्ञा कही गई है। वार्त्तिककार ने इस सूत्र के भाष्य का किसी प्रकार उल्लेख नहीं किया। अतः बहुतों का कहना है कि यह सूत्र ही नहीं है। ''कानि पुनरिन्द्रियकारणानि'' कहकर प्रश्न करके उत्तर में स्वयं भाष्यकार ने यह ''पृथिव्यापः'' आदि वाक्य कहा है। अतः यह भाष्य का अंश प्रतीत होता है किन्तु वाचस्पति मिश्र ने न्यायसूचीनिबन्ध में इसको सूत्र रूप में ग्रहण करके ५२८ न्यायसूत्रों की गिनती (गणना) की है। ''संज्ञाशब्दैः पृथगुपदेशः'' आदि भाष्य से इस सूत्र के प्रयोजन का निर्देश हुआ है। अतः प्रतीत होता है कि भाष्यकार की दृष्टि से भी यह सूत्र है। वृत्तिकार विश्वनाथ ने भी सूत्र रूप में इसका ग्रहण किया है। (१.१.१३)

***भाष्य* – इमे तु खलु –**

अनुवाद – ये सभी आगे कहे जाने वाले सूत्र की बात।

सूत्र – गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थाः। १.१.१४।

अनुवाद – पृथिवी आदि के गुण (उपर्युक्त पञ्चभूतों के गुण) गन्ध, रस, रूप, स्पर्श तथा शब्द इन्द्रियों के अर्थ होते हैं।

***भाष्य* – पृथिव्यादीनां यथाविनियोगं गुणा इन्द्रियाणां यथाक्रममर्था विषया इति।**

अनुवाद – पृथिवी आदि की व्यवस्था के अनुसार गुणसमूह अर्थात् पञ्चभूतों में जो जिसके गुण व्यवस्थित हैं वे गुणसमूह (गन्ध, रस, रूप, स्पर्श तथा शब्द) यथाक्रम से इन्द्रिय वर्ग के अर्थ या विषय होते हैं।

टिप्पणी – इन्द्रिय के बाद चतुर्थ प्रमेय ''अर्थ'' का निरूपण हो रहा है। वैशेषिकदर्शन में महर्षि कणाद ने द्रव्य, गुण तथा कर्म (इन तीनों पदार्थों) को अर्थ कहा है। किन्तु महर्षि का चतुर्थ प्रमेय रूप अर्थ है – इन्द्रियों का विषय अर्थात् इन्द्रियार्थ। इसी को गौतमसूत्र में तदर्थाः कहा गया है – ''तेषाम् इन्द्रियाणामर्थाः विषयास्तदर्थाः''। यथाक्रम घ्राण आदि इन्द्रियों के ग्राह्य विषय गन्ध, रस, रूप, स्पर्श तथा शब्द – ये पाँच गुण इन्द्रियार्थ होते हैं। इसी तात्पर्य से महर्षि कणाद ने कहा है – ''प्रसिद्धाः इन्द्रियार्थाः'' (३.१.१)।

इस सूत्र में ''पृथिव्यादिगुणाः'' पद में षष्ठी तत्पुरुष समास ही भाष्यकार को अभिमत है। इस पद से यह भी सूचित होता है कि पृथिवी आदि गुणी द्रव्य और उनके गुण परस्पर भिन्न पदार्थ हैं। वृत्तिकार विश्वनाथ ने भी यही कहा है। गन्ध आदि पाँचों ही गुण पृथिवी आदि पाँच भूतों के नहीं होते। गौतम के मत में उनमें से गन्ध, रस, रूप और स्पर्श पृथिवी के गुण हैं, रूप, रस और स्पर्श जल के गुण हैं, रूप और स्पर्श तेजस् द्रव्य के गुण

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

हैं। स्पर्श वायु का गुण है और शब्द केवल आकाश का गुण है। तृतीय अध्याय के द्वितीय आह्निक में अर्थपरीक्षा प्रकरण में महर्षि ने विचारपूर्वक इस सिद्धान्त का समर्थन किया है। उसी को भाष्यकार ने उस उक्त पद की व्याख्या में कहा है – ''पृथिव्यादीनां यथाविनियोगं गुणाः''। वार्त्तिककार उद्योतकर ने यहाँ व्याख्या की है – ''पृथिव्यादयश्च गुणाश्च'' इस प्रकार का विग्रह एवं द्वन्द्व समास महर्षि को अभिप्रेत है। एवंभूत पृथिव्यादि शब्द से इन्द्रिय ग्राह्य क्षिति, जल और तेज तथा गुण शब्द से अन्यान्य सभी गुणों को समझना चाहिए। क्योंकि ये ही इन्द्रियग्राह्य होने से इन्द्रियार्थ होते हैं। अतः इन्द्रियार्थ से ये सभी महर्षि के वक्तव्य हैं। केवल गन्ध आदि पाँच गुणों को ही ये इन्द्रियार्थ नहीं कहते। उद्योतकर ने इसका समर्थन करते हुए कहा है कि महर्षि ने तृतीय अध्याय में ''दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात्'' इस सूत्र में घट आदि पदार्थ को भी अर्थ शब्द से उल्लेख करके इन्द्रिय ग्राह्य पदार्थ मात्र को अर्थ कहा है – यह स्पष्ट ज्ञात होता है।

किन्तु उद्योतकर ने अपनी इस व्याख्या के समर्थन में यद्यपि बहुत बातें कही हैं तथापि सूत्रकार महर्षि का ऐसा तात्पर्य ज्ञात नहीं होता क्योंकि पश्चात् अर्थपरीक्षा-प्रकरण में महर्षि ने तृतीय अध्याय में उन गन्ध आदि पाँच गुणों की ही परीक्षा की है। अतः ज्ञात होता है कि पूर्व उद्दिष्ट प्रमेय-पदार्थ के अंतर्गत चतुर्थ प्रमेय रूप अर्थ गन्ध आदि पाँच गुण ही हैं। इसी अर्थ में यह अर्थ पद पारिभाषिक है। तृतीय अध्याय के प्रथम सूत्र में महर्षि ने इस पारिभाषिक अर्थ शब्द का प्रयोग नहीं किया। यदि इन्द्रियग्राह्य वस्तु मात्र को महर्षि चतुर्थ प्रमेय रूप अर्थ मानने के पक्ष में होते तो सूत्र में और अनेक पदार्थों का उल्लेख कर्त्तव्य होता। वस्तुतः गन्ध आदि पाँच गुणों का तत्त्वसाक्षात्कार ही अपवर्ग का साक्षात् कारण होने से महर्षि ने विशेष रूप से प्रमेयों में अर्थनाम से उन पाँच गुणों का ही उल्लेख किया है। भाष्यकार ने भी सूत्र के अवतरण में ''इमे तु खलु'' वाक्य में तु शब्द से अन्यान्य अर्थों का व्यवच्छेद किया है। तात्पर्यटीकाकार वाचस्पति मिश्र ने यहाँ तु शब्द से उपर्युक्त तात्पर्य की ही व्याख्या की है। वस्तुतः गन्ध आदि पाँच गुण ही प्राचीन काल में इन्द्रियार्थ के रूप में प्रसिद्ध थे। इसलिए महर्षि कणाद ने भी उन गन्ध आदि पाँच गुणों को स्वीकार कर कहा है – ''प्रसिद्धाः इन्द्रियार्थाः''। (१.१.१४)

***भाष्य* – अचेतनस्य करणस्य बुद्धेर्ज्ञानं वृत्तिः, चेतनस्याकर्तुरुपलब्धिरिति युक्तिविरुद्धमर्थं प्रत्याचक्षाणक इवेदमाह –**

अनुवाद – अचेतन करण बुद्धि की (जड़ अन्तःकरण की) वृत्ति (परिणाम विशेष) है ज्ञान, अकर्ता चेतन (पुरुष) की उपलब्धि अर्थात् अन्तःकरण का ज्ञान होना पुरुष की उपलब्धि होती है। ज्ञान और उपलब्धि भिन्न पदार्थ होते हैं – इस युक्तिविरुद्ध अर्थ

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अर्थात् सांख्य सिद्धान्त के खण्डन में महर्षि न्याय का यह सूत्र कहते हैं।

सूत्र – बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम्। १.१.१५।

अनुवाद – बुद्धि, उपलब्धि और ज्ञान भिन्न-भिन्न पदार्थ नहीं बल्कि एक ही पदार्थ हैं।

***भाष्य* – नाचेतनस्य करणस्य बुद्धेर्ज्ञानं भवितुमर्हति, तद्धि चेतनं स्यात् एकश्चायं चेतनो देहेन्द्रियसंघातव्यतिरिक्त इति। प्रमेयलक्षणार्थस्य वाक्यस्यार्थप्रकाशनमुपपत्तिसामर्थ्यादिति।**

अनुवाद – अचेतन करण ''बुद्धि'' अर्थात् जड़ अन्तःकरण को ज्ञान नहीं हो सकता। क्योंकि (ऐसा मानने पर) वह अन्तःकरण भी चेतन होगा। अर्थात् ज्ञानाश्रय पदार्थ ही चेतन होता है। अन्तःकरण में ज्ञान की उत्पत्ति मानने पर उसे भी चेतन पदार्थ के रूप में मानना होगा। किन्तु यह चेतन देह और इन्द्रिय के संघात से भिन्न एक होता है। प्रमेयलक्षणार्थ वाक्य के अन्यार्थ प्रकाशन अर्थात् पूर्वोक्त बुद्धि नामक पञ्चम प्रमेय का लक्षणरूप उद्देश्य में कथित इस सूत्रवाक्य का सांख्य मत के निषेध रूप अन्यार्थ प्रकाशकत्व की उपपत्ति की सामर्थ्य के कारण होता है। अर्थात् युक्ति के सामर्थ्य से सांख्य मत का निषेध इस सूत्र में हुआ है।

टिप्पणी – महर्षि गौतम के मत में जन्यज्ञान जीवात्मा के विशेष गुण होते हैं। क्योंकि जीवात्मा में ही उसकी उत्पत्ति होती है। इसलिए ज्ञान ही बुद्धि नामक पञ्चम प्रमेय होता है। उपर्युक्त जीवात्मा, उसका शरीर, इन्द्रिय और गन्ध आदि अर्थ इस बुद्धि के कारण होते हैं। अतः उस प्रमेय चतुष्टय के निरूपण के पश्चात् महर्षि ने इस सूत्र से बुद्धि का निरूपण करते हुए कहा है कि बुद्धि, उपलब्धि और ज्ञान एक ही पदार्थ है। अर्थात् ये तीनों एकार्थक पर्याय माने गए हैं। ज्ञान सभी जीवों का प्रसिद्ध पदार्थ है। अतः जिसको ज्ञान कहते हैं अर्थात् जो अनुभवसिद्ध ज्ञानत्वरूप जातिविशिष्ट है वही बुद्धि पदार्थ होता है – बुद्धि का यही लक्षण है। इसी का दूसरा नाम है उपलब्धि। ज्ञा धातु, बुध धातु और उपपूर्वक लभ धातु समानार्थक होते हैं। वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि इस प्रकार प्रसिद्ध पर्याय शब्द से भी पदार्थ का लक्षण कहा जा सकता है। फलितार्थ यह हुआ कि महर्षि गौतम के मत में ज्ञान ही बुद्धि और उपलब्धि है। ज्ञान, बुद्धि और उपलब्धि भिन्न पदार्थ नहीं हैं। यद्यपि महर्षि ने उपर्युक्त बुद्धि नामक प्रमेय के लक्षण करने के उद्देश्य से ही यह सूत्र कहा है तथापि इस सूत्र से युक्तिपूर्वक सांख्य मत का निषेध भी हो जाता है। अतः भाष्यकार ने पहले सांख्यमत का उल्लेख करके उसको युक्तिविरुद्ध कहकर इस सूत्र

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

का अवतरण प्रस्तुत किया है। सांख्य मत का निराकरण इस सूत्र का प्रयोजन नहीं है – इसे समझाने के लिए ही अवतरणभाष्य में ''प्रत्याचक्षणाक इव'' स्थल में इव शब्द का प्रयोग किया है।

सांख्य मत में बुद्धि, उपलब्धि और ज्ञान भिन्न पदार्थ होते हैं। मूल प्रकृति का प्रथम परिणाम है बुद्धि और उसी का नाम है अन्तःकरण जो जड़ पदार्थ होता है। भाष्यकार ने उसे यहाँ अचेतनकरण कहा है। इस बुद्धि का परिणाम विशेष है ज्ञान जो बुद्धि का धर्म होता है। वह चेतन आत्मा का धर्म नहीं होता। आत्मा का कोई परिणाम या विकार नहीं होता। अतः आत्मा अपरिणामी, अकर्ता, नित्य और चैतन्य स्वरूप होती है। उपर्युक्त बुद्धि या अन्तःकरण में उस आत्मा के प्रतिबिम्बित होने पर उस बुद्धिस्थ ज्ञान के साथ उस आत्मा का जो अवास्तव सम्बन्ध होता है उसी को आत्मा की उपलब्धि कहते हैं। महर्षि ने तृतीय अध्याय के द्वितीय आह्निक में विचारपूर्वक इस सांख्य मत का खण्डन किया है। भाष्यकार ने यहाँ उक्त सांख्य मत का खण्डन करते हुए संक्षेप में कहा है कि बुद्धि या अन्तःकरण में यदि ज्ञान की उत्पत्ति होती है तो वह अन्तःकरण भी चेतन पदार्थ के रूप में मान्य होगा। किन्तु देह आदि से भिन्न चेतन पदार्थ तो केवल आत्मा ही मान्य है। भाष्यकार का अभिप्राय यह है कि ज्ञान और चैतन्य एक ही पदार्थ हैं। अतः जिसमें ज्ञान की उत्पत्ति होगी उसे चेतन पदार्थ मानना होगा। इस स्थिति में प्रत्येक जीव के शरीर में अन्तःकरण और आत्मा (दोनों) को चेतन मानना होगा। इस स्थिति में अन्तःकरण रूप चेतन से ज्ञात विषय को आत्मा नहीं जान पाएगी। अथ च एक शरीर में दो चेतन पदार्थों के मतभेद से अनेक अनर्थ घटित हो सकते हैं। अतः जीव के शरीर में एक ही चेतन पदार्थ मानना संगत होगा और अन्तःकरण में ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती – यह भी मानना होगा। किन्तु सांख्य मत में बुद्धि या अन्तःकरण में जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह बुद्धि का परिणाम विशेष है और वह चैतन्य पदार्थ नहीं है। चैतन्य वास्तव में नित्य पदार्थ के रूप में मान्य है। वह पुरुषस्वरूप होता है। बुद्धि में चैतन्यस्वरूप उस पुरुष के प्रतिबिम्ब से वह अचेतन होकर भी तब चेतन की तरह हो जाता है। किन्तु महर्षि गौतम को यह मान्य नहीं है। इनके मत में निराकार और निर्विकार आत्मा का प्रतिबिम्ब सम्भव नहीं है। अन्य किसी प्रकार से प्रतिबिम्ब की व्याख्या नहीं हो सकती। आत्मा में जो ज्ञानशक्ति रहती है उसे चैतन्य या चितिशक्ति नाम से कहा जाता है। वस्तुतः वह चैतन्य आत्मा नहीं है। किन्तु आत्मा में उत्पन्न विशेषगुणरूप ज्ञान ही उसका चैतन्य कहलाता है, और इस चैतन्य का आश्रय होता है – चेतन। अतः अचेतन अन्तःकरण में उस चैतन्य रूप ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती। जड़ पदार्थ के परिणाम विशेष को ज्ञान नहीं कहा जा सकता। (१.१.१५)

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

भाष्य – **स्मृत्यनुमानागमसंशयप्रतिभास्वप्नज्ञानोहाः सुखादिप्रत्यक्षमिच्छादयश्च मनसो लिङ्गानि। तेषु सत्सु इयमपि –**

अनुवाद – स्मृति, अनुमान, आगम (शाब्दबोध), संशय, प्रतिभा (इन्द्रिय आदि से निरपेक्ष ज्ञानविशेष), स्वप्नज्ञान, ऊह (तर्क), सुख आदि का प्रत्यक्ष एवं इच्छा आदि मन के लिंग (अनुमापक) होते हैं। इन सभी लिङ्गों के रहने पर भी यह (आगे के सूत्र में उक्त एक काल मे अनेक ज्ञानों की अनुत्पत्ति भी) मन का लिंग होता है।

***सूत्र* – युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्। १.१.१६।**

अनुवाद – एक ही समय में ज्ञान की (विजातीय नाना प्रत्यक्षों की) अनुत्पत्ति मनस् का लिंग (अनुमापक) होता है।

भाष्य – **अनिन्द्रियनिमित्ताः स्मृत्यादयः करणान्तरनिमित्ता भवितुमर्हन्तीति युगपच्च खलु घ्राणादीनां गन्धादीनाञ्च सन्निकर्षेषु सत्सु युगपज्ज्ञानानि नोत्पद्यन्ते। तेनानुमीयते, अस्ति तत्तदिन्द्रियसंयोगिसहकारि निमित्तान्तरमव्यापि। यस्यासन्निधेर्नोत्पद्यते ज्ञानम् सन्निधेश्चोत्पद्यते इति। मनः संयोगानपेक्षस्य हीरिन्द्रयार्थसन्निकर्षस्य ज्ञानहेतुत्वे युगपदुत्पद्येरन् ज्ञानानीति।**

अनुवाद – घ्राण आदि बहिरिन्द्रिय जिसके निमित्त नहीं होते वह अनिन्द्रियनिमित्तक स्मृति प्रभृति (उपर्युक्त स्मृति आदि तथा इच्छा आदि) करणान्तरनिमित्तक अर्थात् अन्य किसी करणरूप इन्द्रिय से होने योग्य होते हैं। एक समय में घ्राण आदि इन्द्रियों के और गन्ध आदि विषयों के सन्निकर्ष समूह से एक समय में अनेक ज्ञान (अनेक इन्द्रियजन्य अनेक प्रत्यक्ष) उत्पन्न नहीं होते। इससे अनुमित होता है – उस-उस इन्द्रिय से संयुक्त, अव्यापक (अणु परिमाण) प्रत्यक्ष का सहकारी भिन्न करण कोई अवश्य है जिसकी असन्निधि से (अन्य इन्द्रिय के साथ असंयोग से) ज्ञान (उस अन्य इन्द्रिय से होने वाला प्रत्यक्ष) उत्पन्न नहीं होता और जिसकी सन्निधि से (उस इन्द्रिय के साथ संयोग रहने पर) ज्ञान उत्पन्न होता है (उस इन्द्रिय से प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है)। मन:संयोग से निरपेक्ष इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष को (इन्द्रिय एवं अर्थ के सन्निकर्ष को) प्रत्यक्ष का हेतु मानने पर एक समय में अनेक ज्ञान अर्थात् अनेक इन्द्रियजन्य अनेक प्रत्यक्ष उत्पन्न होने लगेंगे।

टिप्पणी – बुद्धि के पश्चात् षष्ठ प्रमेय मन का लक्षण कहना है। मन को अन्तरिन्द्रिय कहते हैं। अतः महर्षि गौतम के मत में मन को अन्तःकरण कहा जाता है। इस करण पद का अर्थ होता है इन्द्रिय। प्रत्येक जीव के शरीर में एक मन रहता है। उसे परमाणु की तरह

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अतिसूक्ष्म तथा नित्य द्रव्य माना गया है। महर्षि इस सूत्र में अपने सिद्धान्त के अनुसार इस मन के साधक लिंग को कहकर उससे इसके लक्षण की सूचना भी देते हैं। महर्षि ने इसका लिंग कहा है – एक काल में ज्ञानों की अनुत्पत्ति। एक काल में अनेक इन्द्रियजन्य अनेक विषयों का प्रत्यक्ष नहीं होता। यही मन का साधक लिंग होता है। यह सिद्धान्त सर्वसम्मत नहीं होने पर यह लिंग भी सर्वसम्मत नहीं हो सकता। अतः मन के साधक अन्यान्य लिंगों को कहना भी आवश्यक है। भाष्यकार ने सूत्र के अवतरण में ही मन के अनुमापक सभी लिंगों को कहा है। पश्चात् ''अनिन्द्रियनिमित्ताः स्मृत्यादयः करणान्तर निमित्ताः भवितुमर्हन्ति'' सन्दर्भ से पूर्वकथित स्मृति आदि के इन्द्रियनिमित्तक नहीं होने पर स्वतः किसी अन्य करण (इन्द्रिय) की आवश्यकता होगी – कहते हुए मन के अस्तित्व के साधक अनुमान प्रमाण की सूचना दी है। वाचस्पति मिश्र ने भी इस अनुमान प्रमाण को दिखाया है। अभिप्राय यह है कि जीव के शरीर में बहिरिन्द्रिय से भिन्न ऐसे एक अन्तरिन्द्रिय के नहीं मानने पर उक्त स्मृति आदि की उत्पत्ति नहीं हो सकती। उन स्मृति आदि से अनुमान के द्वारा सिद्ध होता है कि मन नामक एक अन्तरिन्द्रिय होती है। भाष्यकार ने यहाँ प्रातिभज्ञान का उल्लेख किया है। वैशेषिकाचार्य प्रशस्तपाद ने आर्षज्ञान को प्रातिभज्ञान कहा है तथा कदाचित् लौकिक व्यक्ति में भी यह प्रातिभज्ञान उत्पन्न होता है – यह भी कहा है। जैसी कोई कन्या (छोटी लड़की) कहती है कि कल मेरा भाई आएगा – यह मेरा मन कहता है। कन्या के इस ज्ञान के यथार्थ होने पर यह प्रातिभज्ञान माना जाता है। न्यायकन्दलीकार श्रीधर भट्ट ने इस प्रतिभा को ही प्रातिभ कहा है किन्तु योगदर्शन में पतञ्जलि ने कहा है – ''प्रतिभाद्वा सर्वम्'' (३.३३)। यहाँ भाष्यकार व्यास कहते हैं – ''प्रातिभं नाम तारकम्''। योगियों की प्रतिभा से जन्य ज्ञानविशेष ही प्रातिभज्ञान कहलाता है। तृतीय खण्ड, बंग संस्करण (पृ. २५३) इस विषय की आलोचना के लिए द्रष्टव्य है।

भाष्यकार वात्स्यायन ने पश्चात् सूत्रार्थ की व्याख्या करते हुए कहा है कि एक क्षण में घ्राण आदि अनेक इन्द्रियों से उनके ग्राह्य गन्ध आदि अनेक विषयों के साथ सन्निकर्ष होने पर भी सभी विषयों का प्रत्यक्ष नहीं हो पाता। इससे अनुमान के द्वारा सिद्ध होता है कि प्रत्येक जीव के शरीर में प्रत्येक इन्द्रिय के साथ संयुक्त होने वाला अतिसूक्ष्म बाह्य प्रत्यक्ष का सहकारी करणान्तर कोई अवश्य है। जिसकी सन्निधि से इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष होता है और जिसकी असन्निधि से उससे प्रत्यक्ष नहीं होता। उसी अतिसूक्ष्म द्रव्य का नाम है मन। महर्षि ने मन को इस प्रकार का लिंग कहकर उसका लक्षण भी कहा है अर्थात् जिस अतिसूक्ष्म द्रव्य के साथ बहिरिन्द्रियविशेष का संयोग उस इन्द्रियजन्यप्रत्यक्ष का

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

कारण होता है उसी का नाम मन है। इस मनःसंयोग की अपेक्षा न करके ग्राह्यविषय के साथ इन्द्रियविशेष का सन्निकर्ष यदि प्रत्यक्ष का कारण होगा तो एक काल में अनेक विषयों के साथ अनेक इन्द्रियों का सन्निकर्ष होने पर एक काल में अनेक इन्द्रियजन्य अनेक विषयों का प्रत्यक्ष होने लगेगा किन्तु महर्षि के मत में ऐसा नहीं है। इनके मत में ऐसे स्थल में तत्काल में जिस इन्द्रिय के साथ उस अतिसूक्ष्म मन का संयोग रहता है उस काल में उस इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है। मन के अतिद्रुत गति के कारण परक्षण में अन्य इन्द्रिय के साथ उस मन का संयोग हो जाने पर परक्षण में अन्य इन्द्रिय से भी प्रत्यक्ष होता है। मन के विभु अर्थात् सर्वशरीरव्यापी युगपत् सभी इन्द्रियों के साथ उसका संयोग रहने से एक ही काल में अनेक प्रत्यक्ष भी हो सकते हैं। अतः मन को परमाणु की तरह अतिसूक्ष्म (अणु परिमाण) मानना होगा। महर्षि ने पश्चात् तृतीय अध्याय के द्वितीय आह्निक में मनःपरीक्षाप्रकरण में विचारपूर्वक इस सिद्धान्त का समर्थन किया है। पश्चात् गुरु (प्रभाकर) तथा कुमारिल भट्ट आदि ने यद्यपि मन के विभुत्ववाद का समर्थन किया है तथापि कुसुमाञ्जलि के तृतीय स्तवक की प्रथम कारिका के विवरण में महानैयायिक उदयनाचार्य ने उन मीमांसकों की युक्तियों का खण्डन करके अन्त में कहा है कि व्यासंग के स्थल में जब सबके मत में एक ही इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष की उत्पत्ति होती है तब उसी के दृष्टान्तानुसार सर्वत्र नाना प्रत्यक्षों का अनेककालिकत्व ही अनुमान प्रमाण से सिद्ध होता है।

वस्तुतः बृहदारण्यक उपनिषद् (१.५.३) में ''अन्यत्र मना अभूवम् नादर्शमन्यत्र मना अभूवं नाश्रौषम् मनसा ह्येष पश्यति मनसा शृणोति'' इस श्रुतिवाक्य से कहा गया है कि अन्यमनस्क रहने पर दर्शन तथा श्रवण आदि प्रत्यक्ष उत्पन्न नहीं होते। महर्षि गौतम के मत में मन के अणु होने के कारण एक इन्द्रिय में मन के स्थिर रहने पर अन्य इन्द्रिय के साथ उस मन का संयोग नहीं हो पाता। उस स्थिति में व्यक्ति को अन्यमनस्क कहा जाता है। इस अन्यमनस्कता को ही व्यासंग कहा जाता है और यह सर्वमान्य है कि व्यासंग स्थल में अन्य इन्द्रिय से प्रत्यक्ष नहीं होता। किन्तु मन के विभुत्ववाद में इसकी उपपत्ति नहीं होती। भगवद्गीता में कहा है कि ''चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्'' (६.३४)। मन को विभु मानने पर वायु की तरह उसका चंचलत्व सम्भव नहीं है। महर्षि ने पश्चात् कहा है – ''न गत्यभावात्'' (३.२.८) विभु पदार्थ में गति नहीं रहने के कारण गतिशील मन को विभु नहीं माना जा सकता। गौतम के मत में मन की द्रुतगति के कारण परक्षण में अन्य इन्द्रिय के साथ उसका संयोग होने पर उस इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष की उत्पत्ति होती है। अतः ऐसे स्थल में वस्तुतः एक काल में अनेक इन्द्रियजन्य अनेक प्रत्यक्ष के नहीं होने पर भी उन प्रत्यक्षों में एककालिकत्व का भ्रम होता है। महर्षि ने पश्चात् इस विषय में प्राचीन दृष्टान्त भी दिखाया है। (द्रष्टव्य तृतीय खण्ड, बंग संस्करण, पृ. ३२३-२७)। (१.१.१६)

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection.

भाष्य – **क्रमप्राप्ता तु –**

अनुवाद – क्रम प्राप्त प्रवृत्ति किन्तु।

सूत्र – प्रवृत्तिर्वागबुद्धिशरीरारम्भः। १.१.१७।

अनुवाद – वागारम्भ, बुद्ध्यारम्भ तथा शरीरारम्भ अर्थात् वाचिक, मानसिक तथा शरीरिक शुभाशुभ कर्म का नाम है प्रवृत्ति।

भाष्य – **मनोऽत्र बुद्धिरित्यभिप्रेतम्। बुध्यतेऽनेनेति बुद्धिः। सोऽयमारंभः शरीरेण मनसा वाचा च पुण्यः पापश्च दशविधः। तदेतत् कृतभाष्यं द्वितीयसूत्र इति।**

अनुवाद – इस सूत्र में बुद्धि पद से मन अभिप्रेत है। बुद्धि मन से जाना जाता है, अतः यह बुद्धि है। भाव अर्थ में निष्पन्न बुद्धि पद का अर्थ ज्ञान होने पर भी करण अर्थ में निष्पन्न बुद्धि पद का अर्थ मन होता है। महर्षि को यहाँ बुद्धि से मन ही अभिप्रेत है। शरीर, वचन और मन से पुण्य और पाप अर्थात् धर्मजनक एवं अधर्मजनक इस आरम्भ (कर्म) को प्रवृत्ति कहते हैं जो दस प्रकार की होती है। शुभ एवं अशुभ कर्म की दशविधता द्वितीय सूत्र के भाष्य में कही गई है।

टिप्पणी – प्रवृत्ति के लक्षण में मनोजन्य प्रवृत्ति कहना होगा। अतः मन के निरूपण के बिना प्रवृत्ति का निरूपण नहीं हो सकता। इसलिए महर्षि ने मन के निरूपण के पश्चात् क्रम प्राप्त सप्तम प्रमेय प्रवृत्ति का निरूपण किया है। भाष्यकार ने ''क्रमप्राप्ता तु'' इस वाक्य का उल्लेख करके सूत्र का अवतरण प्रस्तुत किया है। धर्म तथा अधर्म के जनक शुभ तथा अशुभ कर्म ही प्रवृत्ति पदार्थ हैं। अतः महर्षि ने कर्म के बोधक आरम्भ शब्द का प्रयोग किया है। तात्पर्यटीकाकार कहते हैं कि आरम्भ अर्थात् कर्म ही प्रवृत्ति है। यह दो प्रकार की होती है – ज्ञानजनक और क्रियाजनक। जो ज्ञान की उत्पत्ति द्वारा पुण्य या पाप का कारण होता है उसे वाक्प्रवृत्ति कहते हैं। सूत्रस्थ वाक् पद से ज्ञानजनक पदार्थ मात्र का ग्रहण होता है। अतः मन से इष्टदेवता आदि का चिन्तन और चक्षुष् आदि इन्द्रिय से साधु एवं असाधु पदार्थ का ज्ञान आदि वाक्प्रवृत्ति में आते हैं। क्रियाजनक प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है – शरीरजन्य एवं मनोजन्य। शरीर से रक्षा, सेवा तथा दान किए जाते हैं और वाक्य से सत्य, हित एवं प्रिय कथन के साथ स्वाध्याय किया जाता है। मन से दया, अस्पृहा और श्रद्धा की जाती है। इस प्रकार दश पुण्यप्रवृत्ति अर्थात् पुण्य-जनक प्रवृत्ति होती हैं। इसके विपरीत रूप में दश प्रकार की पापजनक प्रवृत्ति भी होती हैं। पहले ही द्वितीय सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने यह कहा है और वहीं यह भी कहा है कि प्रवृत्ति शब्द का अर्थ इस सूत्र के अनुसार

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

कर्म होता है जिसे प्रवृत्तिजन्य धर्म और अधर्म भी कहते हैं। सूत्र में वाक्‌बुद्धि और शरीर के बाद आरम्भ पद के रहने से उसका प्रत्येक के साथ सम्बन्ध है। अतः वागारम्भ, बुद्ध्यारम्भ तथा शरीरारम्भ – इस तरह तीन प्रकार की प्रवृत्ति होती है। मानसिक प्रवृत्ति भी कहना चाहिए, अतः महर्षि ने उसके लिए बुद्ध्यारम्भ कहा है। भाष्यकार ने स्पष्ट कहा है कि इस सूत्र में बुद्धिपद ज्ञान अर्थ में प्रयुक्त नहीं है किन्तु उसका अर्थ मन होता है। क्योंकि जिससे ज्ञान हो ''बुध्यते अनेन'' यह करण व्युत्पत्ति से युक्त पद है। अनेक पुस्तकों में इस सूत्र के अन्त में ''इति'' पद देखा जाता है। किन्तु वाचस्पति मिश्र ने इति शब्दान्त सूत्र-पाठ ग्रहण नहीं किया। यहाँ इति शब्द का कोई प्रयोजन भी प्रतीत नहीं होता है। (१.१.१७)

सूत्र – प्रवर्तनालक्षणा दोषाः। १.१.१८।

अनुवाद – प्रवृत्तिजनकत्व जिनके लक्षण एवं अनुमापक होते हैं उनको दोष अर्थात् राग, द्वेष और मोह कहते हैं।

भाष्य – **प्रवर्तना प्रवृत्तिहेतुत्वम्, ज्ञातारं हि रागादयः प्रवर्तयन्ति पुण्ये पापे वा, यत्र मिथ्याज्ञानं तत्र रागद्वेषाविति। प्रत्यात्मवेदनीया हीमे दोषाः कस्माल्लक्षणतो निर्दिश्यन्त इति। कर्मलक्षणाः खलु रक्तद्विष्टमूढाः, रक्तो हि तत्कर्म कुरुते येन कर्मणा सुखं दुःखं वा लभते, तथा द्विष्टस्तथा मूढ इति। रागद्वेषमोहा इत्युच्यमाने बहु नोक्तं भवतीति।**

अनुवाद – प्रवर्तना का अर्थ होता है प्रवृत्तिजनकत्व। राग आदि (राग, द्वेष तथा मोह) आत्मा को पुण्य या पाप कर्म में प्रवृत्त कराता है। जिस आत्मा में मिथ्याज्ञान (मोह) उत्पन्न होता है उस आत्मा में राग (विषयप्राप्ति की इच्छा) और द्वेष उत्पन्न होता है। (पूर्वपक्ष) प्रत्यात्मवेदनीय अर्थात् प्रत्येक जीव का मानस प्रत्यक्ष सिद्ध ये दोष (राग, द्वेष तथा मोह) लक्षण के द्वारा अर्थात् अनुमान के द्वारा कैसे निर्दिष्ट होता है। (उत्तर) क्योंकि रक्त (रागयुक्त) द्विष्ट (द्वेषयुक्त) एवं मूढ़ (भ्रान्त) जीवगण कर्मलक्षण होते हैं अर्थात् कर्म ही उनके उस रूप का अनुमापक होता है। रक्त (अनुरक्त) व्यक्ति वैसा कर्म करता है जिससे उसको सुख या दुःख की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार द्वेषयुक्त व्यक्ति वैसा कर्म करता है, जिससे उसको सुख या दुःख की प्राप्ति होती है। मूढ़ व्यक्ति वैसा कर्म करता है जिससे उसको सुख या दुःख की प्राप्ति होती है। ''रागद्वेषमोहाः'' केवल इतना कहने से अर्थात् ''दोषाः रागद्वेषमोहाः'' सूत्र रूप में कहने पर अधिक नहीं कहना होता।

टिप्पणी – राग, द्वेष और मोह का नाम है दोष। ये ही प्रवृत्ति के प्रयोजक होते हैं।
CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection
इसलिए महर्षि ने प्रवृत्ति के पश्चात् इस अष्टम प्रमेय दोष का निरूपण किया है। इन दोषों

में मोह प्रधान है। क्योंकि मोहरहित व्यक्ति को राग और द्वेष उत्पन्न नहीं होता। महर्षि ने स्वयं पश्चात् चतुर्थ अध्याय में यह बात कही है। ये ही राग, द्वेष तथा मोह पुण्यजनक या पापजनक कर्म में प्रवृत्ति का कारण होते हैं। अतः प्रवृत्तिजनकत्व इन तीनों दोषों का लक्षण होता है। सूत्रगत लक्षण शब्द से एक पक्ष में लिंग अर्थात् अनुमापक अर्थ भी महर्षि को विवक्षित है। कर्म में प्रवृत्ति से उक्त राग आदि दोषों की उपपत्ति अनुमान से होती है। भाष्यकार ने पहले ही पूर्वपक्ष उठाया है कि यद्यपि राग आदि दोषत्रय प्रत्यात्म वेदनीय होते हैं अर्थात् मनोग्राह्य गुण होने से प्रत्येक आत्मा मन से इनका प्रत्यक्ष करती है तथापि महर्षि ने लक्षण के द्वारा इनका निर्देश क्यों किया? इसके उत्तर में भाष्यकार ने कहा है कि प्रत्येक आत्मा में इन सभी दोषों के प्रत्यक्षसिद्ध होने पर भी अन्य आत्मा में ये अनुमेय होते हैं। किसी व्यक्ति के सुखजनक या दुःखजनक कर्म में प्रवृत्त होने पर उस कर्म से अनुमान करके ज्ञात होता है कि यह व्यक्ति अनुरक्त है, द्विष्ट है या मूढ़ है। क्योंकि मोह के बिना किसी व्यक्ति को राग या द्वेष नहीं होता। राग तथा द्वेष के बिना किसी की भी प्रवृत्ति सुखजनक या दुःखजनक कर्म में नहीं होती। अपनी-अपनी आत्मा में इन राग, द्वेष तथा मोह के प्रत्यक्ष होने पर भी ये सभी कर्म में प्रवृत्ति के जनक होते हैं – यह ज्ञात नहीं रहता। अतः महर्षि ने ''प्रवर्तनालक्षणाः'' कहा है। किन्तु ''दोषाः रागद्वेषमोहाः'' कहने से भी कार्य चल सकता था। (१.१.१८)

सूत्र – पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः। १.१.१९।

अनुवाद – मरण के बाद पुनः जन्म प्रेत्यभाव नामक पदार्थ है।

भाष्य – **उत्पन्नस्य क्वचित् सत्त्वनिकाये मृत्वा या पुनरुत्पत्तिः स प्रेत्यभावः। उत्पन्नस्य सम्बद्धस्य। सम्बन्धस्तु देहेन्द्रियबुद्धिवेदनादिभिः। पुनरुत्पत्तिः पुनर्देहादिभिः सम्बन्धः। पुनरित्यभ्यासाभिधानम्। यत्र क्वचित्प्राणभृन्निकाये वर्तमानः पूर्वोपात्तान् देहादीन् जहाति तत् प्रैति। यत्तत्रान्यत्र वा देहादीनन्यानुपादत्ते तद्भवति। प्रेत्यभावो मृत्वा पुनर्जन्म। सोऽयंजन्ममरण-प्रबन्धाभ्यासोऽनादिर-पवर्गान्तः प्रेत्यभावो वेदितव्य इति।**

अनुवाद – किसी प्राणिनिकाय में अर्थात् मनुष्य तथा पशु आदि किसी एक जातीय जीवसमूह में उत्पन्न की मरण के बाद जो पुनः उत्पत्ति होती है उसे प्रेत्यभाव कहते हैं। उत्पन्न का अर्थ होता है सम्बन्ध विशिष्ट। सम्बन्ध देह, इन्द्रिय, बुद्धि तथा वेदना अर्थात् सुख-दुःख के साथ आत्मा का होता है। पुनरुत्पत्ति का अर्थ होता है बार-बार देह आदि के साथ आत्मा का सम्बन्ध। पुनः पद का अर्थ है अभ्यास अर्थात् जन्म का पौनःपुन्य। जिस किसी प्राणिनिकाय में (एकजातीय जीवसमूह में) वर्तमान जीव पूर्वपरिगृहीत देह

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

का त्याग करता है वह प्रेत होता है। पूर्वगृहीत देह का त्याग ही जीव का प्रेतत्व या मरण कहलाता है। जीव अपने प्राणिनिकाय में अथवा भिन्न प्राणिनिकाय में जो भिन्न देह का ग्रहण करता है वही उसका उत्पन्न होना है। इस अभिनव देह आदि का ग्रहण ही जीव की उत्पत्ति या जन्म कहलाता है। तात्पर्य यह है कि मरण के बाद पुनर्जन्म ही प्रेत्यभाव पदार्थ है। यह इस जन्म-मरण प्रवाह का अभ्यास मरण के पश्चात् पुनः-पुनः जन्मरूप प्रेत्यभाव अनादि एवं मोक्षपर्यन्त होता है।

टिप्पणी – दोष के पश्चात् नवम प्रमेय प्रेत्यभाव का लक्षण कहना है। प्रपूर्वक इण् धातु से क्त्वा प्रत्यय करने पर प्रेत्य पद बनता है और भू धातु से भाव पद निष्पन्न होता है। प्र पूर्वक इण् धातु का अर्थ यहाँ मरण होता है और भू धातु का अर्थ होता है उत्पत्ति। अतः प्रेत्य-मरण के बाद भाव-उत्पत्ति ही प्रेत्यभाव पदार्थ होता है। भाष्यकार ने अन्त में तात्पर्य कहा है – ''प्रेत्यभावो मृत्वा पुनर्जन्म''। पहले भाष्यकार ने प्रेत्य पद की व्याख्या में कहा है – ''उत्पन्नस्य क्वचित् सत्त्वनिकाये मृत्वा''। यहाँ सत्त्व निकाय से मनुष्य आदि एकजातीय जीव का शरीर भाष्यकार को विवक्षित है। कोशकार अमरसिंह ने कहा है – ''सधर्मिणां स्यान्निकायः'' समानधर्मा जीवसमूह ही निकाय शब्द का अर्थ होता है। भाष्यकार ने द्वितीय सूत्र के भाष्य में जन्म के लक्षण में निकाय शब्द का व्यवहार किया है। यहाँ वाचस्पति मिश्र की व्याख्या भी उक्त है। नित्य आत्मा की उत्पत्ति नहीं होती है। अतः भाष्यकार ने पूर्वोक्त उत्पन्न पद की व्याख्या में सम्बद्ध पद कहा है (उत्पन्नस्य सम्बद्धस्य)। इस सम्बद्ध की व्याख्या में देह, इन्द्रिय, बुद्धि और वेदना अर्थात् सुख एवं दुःख के साथ सम्बन्ध को ही आत्मा की उत्पत्ति या जन्म कहा है। पुनश्च भाष्यकार ने सूत्रगत पुनरुत्पत्ति की व्याख्या में कहा है – ''पुनरुत्पत्तिः पुनर्देहादिभिः संबन्धः''। पुनः शब्द से आत्मा की उक्त रूप उत्पत्ति का अभ्यास या आवृत्ति अभिप्रेत है। अनादिकाल से मरण के पश्चात् आत्मा का पुनः-पुनः उक्त रूप उत्पत्ति या जन्म होता है। अपवर्ग के बिना उसकी आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं होती। भाष्यकार ने पश्चात् इसे स्पष्ट शब्द में कहा है कि आत्मा किसी एकजातीय जीव की देह में वर्तमान रहकर पूर्वगृहीत देह का जो परित्याग करता है उसी को मरण कहते हैं और पश्चात् उस जातीय या भिन्न जातीय जीव समूह में पुनः देह अनादि का जो परिग्रह करता है वही आत्मा का पुनर्जन्म पदार्थ है। मरण के बाद पुनर्जन्म को ही प्रेत्यभाव कहते हैं। यह प्रेत्यभाव अनादि है और अपवर्ग होने पर छूट जाता है। महर्षि पश्चात् इसको युक्तियों से सिद्ध करेंगे। (१.१.१९)

सूत्र – प्रवृत्तिदोषजनितोऽर्थः फलम्। १.१.२०।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अनुवाद – प्रवृत्ति एवं दोषजनित पदार्थ फल कहलाता है।

भाष्य – सुखदुःखसंवेदनं फलम्। सुखविपाकं कर्म दुःखविपाकञ्च। तत् पुनर्देहेन्द्रियविषयबुद्धिषु सतीषु भवतीति सह देहादिभिः फलमभिप्रेतम्। तथाहि प्रवृत्तिदोषजनितोऽर्थः फलमेतत् सर्वं भवति। तदेतत् फलमुपात्तमुपात्तं हेयं, त्यक्तं त्यक्तमुपादेयमिति। नास्य हानोपादानयोर्निष्ठा, पर्यवसानं वास्ति। स खल्वयं फलस्य हानोपादान स्रोतसोह्यते लोक इति।

अनुवाद – सुख तथा दुःख का अनुभव फल कहलाता है। कर्म का फल सुख और दुःख दोनों होते हैं। यह सुख तथा दुःख का भोगफलरूप, देह, इन्द्रिय, विषय और बुद्धि के रहने से ही होता है। इसलिए देह आदि के साथ फल अभिप्रेत है। महर्षि ने देह आदि को भी फल कहा है। सारांश यह हुआ कि प्रवृत्ति एवं दोषजनित पदार्थ – (सभी प्रकार के सुख एवं दुःख का भोग तथा उसका साधन देह आदि) – फल कहलाता है। यह फल गृहीत होकर पुनश्च गृहीत होकर त्याज्य होता है और त्यक्त एवं त्यक्त होकर ग्राह्य होता है। इस फल के त्याग एवं ग्रहण की निष्ठा (समाप्ति) अथवा सर्वतोभावेन अवसान नहीं होता। फल का त्याग एवं ग्रहण रूप स्रोत अर्थात् भोग के द्वारा एक फल का त्याग और कर्म के द्वारा अन्य फल का ग्रहण सतत चलता रहता है। यही फल का ग्रहण और त्यागरूप प्रवाह लोक को (जीवनिकाय को) वहन करता है। जीव कूल (वृन्द) के फल का त्याग एवं ग्रहणरूप स्रोत निरन्तर चलता रहता है।

टिप्पणी – प्रेत्यभाव के बाद दसवाँ प्रमेय फल का लक्षण निरूपणीय है। फल दो प्रकार के होते हैं – मुख्य और गौण। सुख तथा दुःख का उपभोग मुख्यफल कहलाता है तथा देह एवं इन्द्रिय आदि उनके साधन गौणफल कहलाते हैं। फल पद से यहाँ दोनों प्रकार के फल महर्षि को विवक्षित हैं। सूत्र में अतिरिक्त ''अथ'' पद का प्रयोग करने में महर्षि का यही अभिप्राय निहित है। यद्यपि शरीर आदि फल-पदार्थ का परिचय पहले ही कहा जा चुका है तथापि फलमात्र प्रवृत्ति दोषजनित होती है – इसके ज्ञान से निर्वेद की प्राप्ति होती है। इसलिए महर्षि ने ''प्रवृत्तिदोषजनितः'' कहा है। प्रवृत्ति पद से यहाँ उपर्युक्त प्रवृत्तिसाध्य धर्म और अधर्म अभिप्रेत है। दोष से जनित यह धर्म और अधर्म फलमात्र के जनक होते हैं। अतः फलमात्र प्रवृत्ति और दोषजनित होते हैं। तात्पर्यटीकाकार वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि केवल प्रवृत्ति के प्रति ही दोष कारण नहीं है किन्तु प्रवृत्तिजन्य सुख और दुःख के प्रति भी दोष कारण होता है। इसी को समझाने के लिए महर्षि ने फल को प्रवृत्ति दोषजनित कहा है। दोषात्मक जल से सिक्त आत्मरूप क्षेत्र में प्रवृत्ति (धर्म और अधर्म) रूप बीज सुख एवं दुःखरूप फल उत्पन्न करता है। प्रलयकाल में भी जीव के धर्म

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

और अधर्म रहते हैं। तज्जन्य पुनः सृष्टि के समय देह आदि फल का ग्रहण और त्याग होता है। अतः प्रलयकाल में उसका पर्यवसान सभी प्रकार से अन्त नहीं होता। जब तक मुक्ति नहीं होती उसका सभी प्रकार से अन्त नहीं हो सकता। इस अभिप्राय को समझाने के लिए भाष्यकार ने कहा है – "नास्य होनोपदानयोर्निष्ठा पर्यवसानं वास्ति"। (१.१.२०)

भाष्य – **अथैतदेव।**

सूत्र – बाधनालक्षणं दुःखम्[१०९]। १.१.२१।

अनुवाद – ये सभी शरीर से लेकर फलपर्यन्त सभी प्रमेय बाधनालक्षण अर्थात् दुःख से अनुषक्त रहने के कारण दुःखरूप हैं।

भाष्य – **बाधना पीड़ा ताप इति। तयानुविद्धमनुषक्तमविनिर्भागेण वर्तमानं दुःखयोगाद् दुःखमिति। सोऽयं सर्वं दुःखेनानुविद्धमिति पश्यन् दुःखजिहासुर्जन्मनि दुःखदर्शी निर्विद्यते, निर्विण्णो विरज्यते, विरक्तो विमुच्यते।**

अनुवाद – बाधना का अर्थ है – पीड़ा, ताप। इस बाधना से अनुविद्ध या अनुषक्त अलग नहीं रहने योग्य होकर (नियत सम्बन्ध विशिष्ट होकर) वर्तमान (पूर्वोक्त शरीर आदि सभी) दुःख के सम्बन्ध से युक्त रहने के कारण दुःख कहलाते हैं। वह दुःख का अनुभव करने वाला व्यक्ति इसे देखकर उसके परिहार के लिए इच्छुक होकर दुःख को देखकर निर्वेद को प्राप्त करता है। निर्वेदयुक्त होकर विराग को प्राप्त करता है और विरक्त होकर विमुक्त होता है अर्थात् संसार से ही छुटकारा पा जाता है।

टिप्पणी – महर्षि ने अपवर्ग के अव्यवहित पहले ग्यारहवें प्रमेय दुःख का उद्देश किया है और तदनुसार इस सूत्र से उसका लक्षण कहा है। भाष्यकार के मत में शरीर से लेकर फलपर्यन्त सभी प्रमेय दुःखस्वरूप ही हैं। यही महर्षि को विवक्षित है। अतः इस सूत्र के अवतरण में पहले भाष्यकार ने "अथैतदेव" कहा है। अथ पद का अर्थ यहाँ साकल्य अर्थात् समस्त होता है[११०]। "अथ समस्तं एतदेव बाधनालक्षणं दुःखं" इस तरह की व्याख्या ही भाष्यकार को अभिप्रेत है। बाधना पद का अर्थ होता है दुःख। उसी को पीड़ा तथा ताप भी कहते हैं। प्रत्येक जीव का प्रतिकूल वेदनीय यह दुःखपदार्थ सभी जीवों को

---

१०९ अनेक हस्तलेख ग्रन्थों में तथा प्रकाशित न्यायवार्त्तिक में इस सूत्र के अन्त में "इति" शब्द देखा जाता है। ऐसा ज्ञात होता है कि अनेक स्थानों में ऐसा इतिशब्दयुक्त सूत्र-पाठ के रूप में प्रचलित भी था। क्योंकि "भाष्यचन्द्रकार" रघूत्तम ने इतिशब्दयुक्त पाठ मानकर उस इति की व्याख्या भी की है। किन्तु प्राचीन वाचस्पति मिश्र ऐसा पाठ नहीं मानते।

११० मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकार्त्स्न्येष्वथो अथ। अमरकोष नानार्थ वर्ग।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

सुपरिचित है। किन्तु वैसे सभी पदार्थ जो इस दुःख के साथ अनुषक्त रहते हैं, उसका भी इस सूत्र में दुःखपद से ग्रहण हुआ है। भाष्यकार पूर्वोक्त अनुविद्ध पद की व्याख्या करते हैं – ''अनुषक्तम्''। पश्चात् इसकी भी व्याख्या करते हैं – ''अविनिर्भागेण वर्तमानम्''। अविनिर्भाग का अर्थ होता है अपृथग् भाव (नियत सम्बन्ध)। दुःख के सम्बन्ध से रहित शरीर आदि होते ही नहीं हैं। इसी अभिप्राय से भाष्य में कहा गया है – ''दुःखयोगाद् दुःखम् इति''। उपर्युक्त देह से लेकर फलपर्यन्त प्रमेय दुःख से सम्बद्ध रहने के कारण दुःख कहे जाते हैं। सूत्रगत लक्षण पद से अनुषंग रूप सम्बन्ध विवक्षित है। दुःख का अनुषंग रूप सम्बन्ध जिसमें है वह दुःख होता है। इस प्रकार के दुःखों का मुख्य दुःख के साथ अभेद सम्बन्ध है। शरीर में दुःख का निमित्तत्व सम्बन्ध (रहता) है। इन्द्रिय आदि में दुःख का साधनत्व सम्बन्ध (रहता) है। सुख और दुःख का अविनाभाव सम्बन्ध है। उद्योतकर के द्वारा कही गई दुःखानुषंग की व्याख्या पहले ही द्वितीय सूत्र के भाष्य में उक्त है। उद्योतकर ने इक्कीस प्रकारों के दुःखों को कहा है – छह प्रकार के इन्द्रिय, उनके छह प्रकार के ग्राह्य विषय, इनमें छह प्रकार की प्रत्यक्ष रूप, बुद्धि, शरीर, सुख और मुख्य दुःख। (इसके लिए चतुर्थ खण्ड, बंग संस्करण, में द्रष्टव्य है पृ. २४८)। यद्यपि सुख और दुःख षष्ठ इन्द्रिय अर्थात् मन के विषय होते हैं तथापि पृथक् रूप से उसका उल्लेख हुआ है। क्योंकि जो मुख्य दुःख है उसके सम्बन्ध से ही अन्य सभी दुःख कहलाते हैं। मुमुक्षु सुख की भी दुःख के रूप में भावना करते हैं। इसलिए दुःख के साथ सुख का भी पृथक् रूप में उल्लेख हुआ है। सारांश यह है कि दुःख के सम्बन्ध से रहित जन्म नहीं होता। अतः जीव का जन्म ही दुःख है। इस प्रकार की महर्षि की उक्ति के कारण की व्याख्या में भाष्यकार ने कहा है – उपर्युक्त शरीर आदि के अर्थात् जन्म के दुःख से अनुविद्ध होने के कारण दुःख होने से जन्म में दुःख देखकर व्यक्ति निर्वेद को प्राप्त करेगा और पश्चात् वैराग्य को प्राप्त करेगा। वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि सुख तथा उसके साधन में प्रयोजन के अभाव का ज्ञान ही निर्वेद पदार्थ है। भोग्य विषय के उपस्थित होने पर उसमें वितृष्णा या उपेक्षा बुद्धि ही वैराग्य है। जन्म में वैराग्य के बिना उसके उच्छेद के लिए प्रवृत्ति नहीं हो सकती। और वैराग्य के बिना मुक्ति का लाभ कभी भी सम्भव नहीं है। वैराग्य जिसको होता है उसे विरक्त कहते हैं। विरक्त व्यक्ति की साधना का ही परिणाम होता है अवसर आने पर मुक्ति। इसी अभिप्राय से भाष्यकार ने कहा है कि ''विरक्तो विमुच्यते''। (१.१.२१)

भाष्य – यत्र तु निष्ठा यत्र तु पर्यवसानं सोऽयम् –

सूत्र – तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः। १.१.२२।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अनुवाद – जिसमें किन्तु समाप्ति अर्थात् जिसमें सभी प्रकार से अवसान होता है वह है – उपर्युक्त मुख्य तथा गौण सभी प्रकार के दुःखों का अत्यन्त मोक्षस्वरूप अपवर्ग।

भाष्य – **तेन दुःखेन जन्मनाऽत्यन्तं विमुक्तिरपवर्गः। कथम्? उपात्तस्य जन्मनो हानमन्यस्य चानुपादानम्। एतामवस्थामपर्यन्तामपवर्गं वेदयन्तेऽपवर्गविदः। तदभयमजरममृत्युपदं[१११] ब्रह्म क्षेमप्राप्तिरिति।**

अनुवाद – इस जन्मरूप दुःख के साथ अर्थात् जायमान शरीर आदि सभी दुःखों के साथ अत्यन्त विमुक्ति है अपवर्ग। (प्रश्न) कैसे – किस प्रकार से जन्मरूप दुःख से छुटकारा मिलेगा? (उत्तर) गृहीत जन्म के त्याग और अपरजन्म के अग्रहण से। अवधिरहित अर्थात् चिरस्थायी इस अवस्था (आत्मा के शरीर आदि सभी दुःखों से रहित) को अपवर्ग के जानकार लोग अपवर्ग कहते हैं जो अभय, अजर, अमृत्युपद, ब्रह्म और क्षेमप्राप्ति स्वरूप होता है।

टिप्पणी – दुःख के स्वरूप ज्ञान के बिना अन्तिम प्रमेय अपवर्ग का स्वरूप नहीं जाना जा सकता। अतः दुःख के लक्षण के पश्चात् महर्षि ने इस सूत्र में अपवर्ग का लक्षण कहा है। भाष्यकार ने अवतरण में ही इसके परिचय में कहा है "यत्रतु निष्ठा" जिसके होने पर उपर्युक्त देह आदि फलपर्यन्त प्रमेयों का त्याग और पुनः ग्रहण की समाप्ति होती है। प्रलयकाल में भी जीव को शरीर आदि का परिग्रह नहीं होता। अतः उस समय में किसी प्रकार का दुःखभोग भी नहीं होता। किन्तु वह अवस्था मुक्ति नहीं है। अतः भाष्यकार ने पश्चात् अपने पूर्व कथन की व्याख्या की है – "यत्र तु पर्यवसानम्"। प्रलयकाल में जीव के दुःखों के अवसान होने पर भी उसका सभी प्रकार से अवसान नहीं होता क्योंकि पश्चात् पुनः सृष्टि होने पर उन सभी जीवों को शरीर का परिग्रह एवं नाना प्रकार के दुःखों का भोग होता है। किन्तु अपवर्ग होने पर पुनः उस जीव का जन्म नहीं होता अतएव उसको किसी प्रकार का दुःखभोग भी नहीं होता। जीव की सीमा है प्रलयकालिक सभी दुःखों का राहित्य किन्तु मोक्षावस्था की कोई सीमा नहीं है। मोक्ष हो जाने पर पुनः संसार में आना नहीं होता। इसी को श्रुति कहती है – "न च पुनरावर्तते"। इसी को समझाने के लिए भाष्यकार ने कहा है – "एतामवस्थामपर्यन्तामपवर्ग वेदयन्ते अपवर्गविदः" यहाँ वेदयन्ते पद में ज्ञानार्थक चुरादिगणीय विद् धातु का प्रयोग हुआ है।

---

१११ तस्मात् कृतकत्वेऽपि सुखसंवेदनसम्बन्धस्य विनाशकारणाभावान्नित्यत्वं स्थितम्। तत् सिद्धमेतन्नित्यसंवेद्यम्। अनेन सुखेन विशिष्टा आत्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिः पुरुषस्य मोक्ष इति। – न्यायसार का उपसंहार भाग।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

वृत्तिकार विश्वनाथ ने पूर्वसूत्र से केवल प्रत्येक जीव के मानस अनुभवसिद्ध सुख एवं दुःख की व्याख्या करके इस सूत्रगत तत् पद से उसी सुख-दुःख का ग्रहण करके सूत्रार्थ की व्याख्या की है। किन्तु भाष्यकार ने पूर्वसूत्र से दुःख से अनुषक्त शरीर आदि सभी गौण एवं मुख्य दुःख की व्याख्या करके इस सूत्र के तत् पद से सभी प्रकार के दुःखों को लिया है और तब इस प्रकार सूत्र की व्याख्या की है – ''तेन दुःखेन जन्मनाऽत्यन्तं विमुक्तिपवर्गः''। वाचस्पति मिश्र ने यहाँ कहा है कि तत् शब्द से केवल मुख्य दुःख ही विवक्षित है – ऐसे भ्रम के निवारण हेतु भाष्यकार ने ''जन्मना'' कहा है। ''जायते इति जन्म' इस व्युत्पत्ति के अनुसार उक्त जन्म शब्द से जीव का सम्बन्ध जायमान शरीर आदि गौण तथा मुख्य दुःख सभी तत् शब्द से विवक्षित हैं। उद्योतकर ने भी इक्कीस प्रकार के दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति को ही अपवर्ग कहकर व्याख्या की है। इसी अपवर्ग का नामान्तर है निर्वाणमुक्ति।

भाष्यकार ने पश्चात् जीव की इस अवस्थां को अर्थात् निर्वाणरूप मुक्ति को अभय, अजर, अमृत्युपद, ब्रह्म तथा क्षेमप्राप्ति कहा है जो ब्रह्मतुल्य होता है। वाचस्पति मिश्र ने भाष्यकार की तात्पर्य व्याख्या में कहा है कि इस निर्वाण के होने पर संसार का भय नहीं रहता। अतः वह निर्भय हो जाता है। श्रुति भी बार-बार ब्रह्म को अभय कहती है। जिसके मत में ब्रह्म ही संसार के रूप में परिणत होता है उनको लक्ष्य करके भाष्यकार ने यहाँ अजर कहा है अर्थात् जैसे नित्य एवं निर्विकार ब्रह्म में किसी प्रकार का जरा या परिणाम नहीं हो सकता उसी प्रकार निर्वाणरूपी मुक्ति में भी कभी किसी प्रकार का परिवर्तन सम्भव नहीं है। जिनके मत में प्रदीप की तरह चित्त का चिर निर्वाण ही मोक्ष है, उनको लक्ष्य करके भाष्यकार ने कहा है – ''अमृत्युपदम्''। ब्रह्म अमृत्युपद है और इसी ब्रह्म की तरह मुक्ति भी अमृत्युपद होती है। यह प्रदीप के निर्वाण के सदृश नहीं है क्योंकि नित्य जीवात्मा की निर्वाणरूप मुक्ति होने पर उसकी मृत्यु या विनाश नहीं होता। फलितार्थ यह हुआ कि ब्रह्म के साथ पूर्व उक्त इस निर्वाणमुक्ति का सादृश्य प्रस्तुत करने के उद्देश्य से शास्त्र में मुक्ति को ब्रह्मपद से कहा गया है। उक्त रूप मुक्ति की प्राप्ति ही ब्रह्म की प्राप्ति कही गई है – भाष्यकार का यही आशय है। इस मत में मुक्त आत्मा ब्रह्म नहीं हो जाता किन्तु ब्रह्म के सादृश्य को प्राप्त करता है। मुण्डक उपनिषद् के ''निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति'' श्रुतिवाक्य में तथा भगवद्गीता के ''इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्य-मागताः'' वाक्य में साम्य तथा साधर्म्य शब्द से यही कहा गया है। अन्यथा साम्य तथा साधर्म्य पद यहाँ अनर्थक हो जाएंगे। इस विषय में अधिक विचार चतुर्थ खण्ड, बंग संस्करण में किया जाएगा।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

भाष्य – **नित्यं सुखमात्मनो महत्त्ववन्मोक्षेऽभिव्यज्यते, तेनाभिव्यक्तेनात्यन्तं विमुक्तः सुखी भवतीति केचिन्मन्यन्ते। तेषां** *प्रमाणाभावादनुपपत्तिः*। **न प्रत्यक्षं नानुमानं नागमो वा विद्यते, नित्यं सुखमात्मनो महत्त्ववन्मोक्षेऽभिव्यज्यत इति।**

अनुवाद – महत्त्व की तरह अर्थात् आत्मा के परम महत्परिमाण की तरह आत्मा का नित्य सुख मोक्षकाल में अभिव्यक्त (अनुभूत) होता है। इस अनुभूत नित्य सुख से विमुक्त आत्मा अत्यन्त सुखी होती है – यह किसी सम्प्रदाय का मानना है। इनमें प्रमाणाभाव के कारण यह मत उपपन्न नहीं होता। महत्त्व की तरह मोक्ष में आत्मा के नित्य सुख का अनुभव होता है – इस विषय में प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है, अनुमान प्रमाण नहीं है और आगम प्रमाण भी नहीं है।

टिप्पणी – भाष्यकार महर्षि के सूत्रानुसार अन्तिम प्रमेय अर्थात् अपवर्ग के स्वरूप की व्याख्या करने के पश्चात् इस विषय में दूसरों का मत कहते हैं कि सर्वव्यापी जीवात्मा में नित्य महत्परिमाण की तरह जो नित्य सुख विद्यमान है उसकी संसारकाल में अभिव्यक्ति या अनुभूति नहीं होती किन्तु मुक्तिकाल में उसकी अभिव्यक्ति (अनुभूति) होती है। अतः मुक्त आत्मा उस अभिव्यक्त नित्य सुख में अत्यन्त सुखी होता है। अर्थात् मुक्त होने पर वह मुक्त आत्मा चिरकाल तक उस नित्य सुख का उपभोग करता है – यह किसी भिन्न सम्प्रदाय का मत है। तात्पर्यटीकाकार वाचस्पति मिश्र ने यहाँ इस मत की व्याख्या में कहा है कि ''विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'' इस श्रुतिवाक्य में ब्रह्म को जो सुखस्वरूप कहा गया है वह सुख नित्य होता है। क्योंकि ब्रह्म नित्य है। जीवात्मा वस्तुतः उस नित्य सुखस्वरूप ब्रह्म से अभिन्न है। अतः इस सन्दर्भ में ''राहोः शिरः'' प्रयोग की तरह ''नित्यं सुखमात्मनः'' प्रयोग में भाष्यकार ने अभेदार्थक षष्ठी विभक्ति का प्रयोग किया है – यह समझना चाहिए। इससे ज्ञात होता है कि मुक्ति में आत्मस्वरूप नित्य सुख की अभिव्यक्ति होती है। अर्थात् मुक्ति उस नित्यानन्द ब्रह्मस्वरूप होती है। किन्तु भाष्यकार के उक्त सन्दर्भ का ऐसा तात्पर्य हम लोगों की समझ में नहीं आता क्योंकि उक्त सन्दर्भ में भाष्यकार को आत्मनः पद में षष्ठी विभक्ति के प्रयोग का कोई प्रयोजन प्रतीत नहीं होता। महत्त्व पद भी इस मत में अनावश्यक लगता है। वाचस्पति मिश्र के द्वारा व्याख्यात वेदान्त मत में आत्मा के महान् होने पर भी महत् परिमाण उसके धर्मरूप में मान्य नहीं है। नित्य सुख भी उनका धर्म नहीं है किन्तु आत्मा नित्य सुखस्वरूप ही होता है। किन्तु भाष्यकार ने मुक्त आत्मा के सम्बन्ध में कहा है – ''अत्यन्तं सुखी भवति''। किन्तु भाष्यकार ने मुक्त आत्मा के नित्य सुख भोग के खण्डन में जो विचार किया है, उससे ही उनके खण्डनीय मत का विशदीकरण हो जाता है। पश्चात् इस प्रसंग में अधिक ज्ञात हो सकेगा।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

आत्मा में विद्यमान नित्य सुख की अभिव्यक्ति ही मोक्ष है – यह मत पश्चात् भट्ट मत के रूप में प्रचलित होने से कुमारिल भट्ट के मत के रूप में प्रसिद्ध हुआ। किन्तु श्लोकवार्त्तिक में कुमारिल भट्ट ने कहा है –

सुखोपभोगरूपश्च यदि मोक्षः प्रकल्प्यते।
स्वर्ग एव भवेदेष पर्यायेण क्षयी च सः ॥

अर्थात् श्लोकवार्त्तिक (सम्बन्धाक्षेप परिहार प्रकरण १०५-१०) में कुमारिल का अभिमत यह है कि मोक्ष को सुखोपभोग रूप मानने पर वह स्वर्ग की तरह क्रमशः किसी काल में विनष्ट भी हो जाएगा। अतः मोक्ष अभावात्मक अर्थात् सभी दुःखों के आत्यन्तिक अभाव रूप ही मान्य है। शास्त्रदीपिका के तर्कपाद में पार्थसारथि मिश्र ने आनन्दमोक्षवादियों के मत की व्याख्या करके पश्चात् विशेष विचार के द्वारा कुमारिल भट्ट के उपर्युक्त मत का ही समर्थन किया है। बहुतों का कहना है कि कुमारिल भट्ट के पूर्ववर्ती आचार्य मीमांसक तुतात भट्ट ने नित्य सुख की अभिव्यक्ति को मुक्ति कहा है। कुमारिल भट्ट ने इस मत का यद्यपि उल्लेख किया है तथापि अपने सिद्धान्त के रूप में इसका ग्रहण नहीं किया। किरणावली में उदयनाचार्य ने इस मत का उल्लेख करते समय ''तौतातिकास्तु'' कहा है। इस विषय में अधिक बातें चतुर्थ खण्ड, बंग संस्करण (पृ. ३४५-५०) में द्रष्टव्य हैं। वस्तुतः अनेक कारणों से ज्ञात होता है कि भाष्यकार वात्स्यायन से पहले किसी नैयायिक सम्प्रदाय ने कहा है कि कणाद के मत में आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति ही मुक्तिपदार्थ है, किन्तु गौतम के मत में नित्य सुख की अनुभूति भी मुक्तिकाल में होती है। अतः गौतम के मत में नित्य सुख का अनुभव विशिष्ट आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिरूप मुक्ति होती है। काश्मीर के नैयायिक भासर्वज्ञ की गुरु-परम्परा में यह मत प्रतिष्ठित रहा है। पश्चात् यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होगा। अतः हम समझ सकते हैं कि भाष्यकार वात्स्यायन गौतम के अभिमत मुक्ति के स्वरूप के विषय में इस भिन्न मत के खण्डन से अपनी गुरु-परम्परा के सम्मत मत की प्रतिष्ठा के लिए ही यहाँ उपर्युक्त भिन्न मत का उल्लेख किया है। पश्चात् उसमें अनुपपत्ति के प्रदर्शन हेतु विस्तृत विचार किया है। इसी का आगे विवरण भाष्य में उपलब्ध है।

भाष्य – *नित्यस्याभिव्यक्तिः संवेदनम्, तस्य हेतुवचनम्*। नित्यस्याभिव्यक्तिः संवेदनम् ज्ञानमिति तस्य हेतुर्वाच्यो यतस्तदुत्पद्यत इति। *सुखवन्नित्यमितिचेत् संसारस्थस्य मुक्तेनाविशेषः*। यथा मुक्तः सुखेन तत्संवेदनेन च सन्नित्येनोपपन्नस्तथा संसारस्थोऽपि प्रसज्यत इति उभयस्य नित्यत्वात्। *अभ्यनुज्ञाने च धर्माधर्मफलेन साहचर्यं यौगपद्यं गृह्येत*। यदिदमुत्पत्तिस्थानेषु धर्माधर्मफलं सुखं दुःखं वा संवेद्यते पर्यायेण, तस्य च नित्यसंवेदनस्य च सहभावो यौगपद्यं गृह्येत,

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

न सुखाभावो नानभिव्यक्तिरस्ति, उभयस्य नित्यत्वात्।

अनुवाद – नित्य अर्थात् नित्य सुख की अभिव्यक्ति (संवेदन) – उसका हेतु वचन करना है। (विशदार्थ) नित्य की (नित्य सुख की) अभिव्यक्ति अर्थात् संवेदन (ज्ञान) का हेतु कहना होगा, जिससे वह उत्पन्न होता है। सुख की तरह नित्य अर्थात् इस नित्य का सुख संवेदन भी नित्य होता है – यह यदि कहा जाए तो मुक्त आत्मा के साथ संसारी आत्मा का भेद नहीं होगा। (विशदार्थ) जैसे मुक्त आत्मा, सत् नित्य अर्थात् उत्पत्ति विनाशशून्य चिर विद्यमान सुख एवं उसके सत् नित्य अनुभव से विशिष्ट होता है उसी प्रकार संसारी आत्मा भी हो जाएगा। क्योंकि दोनों का नित्यत्व (इस मत में सुख और उसका अनुभव) दोनों ही जब सत् और नित्य अर्थात् सतत् सत्ता विशिष्ट नित्य होता है तब संसारी आत्मा भी इस सुख के अनुभव से युक्त होगा – यह मानना होगा। किन्तु इसके मानने पर अर्थात् अपने मत के रक्षार्थ संसारी आत्मा को नित्य सुख भोगी मानने पर नित्य सुख का धर्म और अधर्म के फल (सांसारिक सुख-दुःख) के साथ सहभाव अर्थात् यौगपद्य गृहीत होगा। (विशदार्थ) उत्पत्ति स्थानसमूह (चौदह भुवनों) में इन धर्म और अधर्म के फल सुख-दुःख यथाक्रम (संसारी जीव वृन्दकर्तृक) अनुभूत होते हैं। इस सांसारिक सुख एवं दुःख के अनुभवों का और नित्य संवेदन का अर्थात् नित्य सुख के नित्यानुभव का सहभाव या यौगपद्य अनुभूत हो। सांसारिक जीवगण के सुख एवं दुःख भोग के समय उस नित्य सुख भोग का भी अनुभव क्यों नहीं करेगा? दोनों की (सुख और उसके अनुभव की) नित्यता के कारण न तो सुख का, न ही अनुभव का अभाव माना जा सकता है।

भाष्य – ***अनित्यत्वे हेतुवचनम्।*** **अथ मोक्षे नित्यस्य सुखस्य संवेदनमनित्यम्, यत उत्पद्यते स हेतुर्वाच्यः।** ***आत्ममनः संयोगस्य निमित्तान्तरसहितस्य हेतुत्वम्।*** **आत्ममनः संयोगो हेतुरितिचेत् एवमपि तस्य सहकारि निमित्तान्तरं वचनीयमिति।** ***धर्मस्य कारणवचनम्।*** **यदि धर्मो निमित्तान्तरं तस्य हेतुर्वाच्यो यत उत्पद्यत इति।** ***योगसमाधिजस्य कार्यावसायविरोधात् प्रक्षये संवेदननिवृत्तिः।*** **यदि योगसमाधिजो धर्मो हेतुस्तस्य कार्यावसायविरोधात् प्रक्षये संवेदनमत्यन्तं निवर्त्तेत।** ***असंवेदने चाविद्यमानेना विशेषः।*** **यदि धर्मक्षयात् संवेदनोपरमो नित्यं सुखं न संवेद्यते इति किं विद्यमानं न संवेद्यतेऽथाविद्यमानमिति नानुमानं विशिष्टेऽस्तीति।**

अनुवाद – अनित्य मानने पर उसका हेतु कहना होगा।(विशदार्थ) यदि मोक्ष में नित्य सुख का अनुभव नित्य होगा, तो जिससे वह उत्पन्न होता है, उस हेतु को कहना

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

होगा। अन्य निमित्त के साथ आत्ममनःसंयोग को (सुखानुभव में) कारण मानना होगा। (विशदार्थ) आत्ममनःसंयोग नित्य सुख के अनुभव का यदि कारण होगा तो उसके सहकारी कारणों को भी कहना होगा। धर्म को कारण कहेंगे। (स्पष्टार्थ) यदि धर्म निमित्तान्तर होगा अर्थात् संसारावस्था में सुखानुभव के कारण आत्ममनःसंयोग का जब धर्म सहकारी कारण होता है तो इस दृष्टान्त से मोक्ष में भी (नित्य सुख के अनुभव में भी) सहकारी कारण धर्म होगा, अब उस धर्म का भी कारण कहना होगा, जिससे यह उत्पन्न होता है। योगसमाधिजन्य धर्म को कार्य समाप्ति के साथ विरोध के कारण प्रक्षय होने पर अनुभव की निवृत्ति होगी। (विशदार्थ) यदि योगसमाधिजन्य धर्म (मोक्षकालीन नित्य सुखानुभव का) कारण अर्थात् सहकारी कारण होगा तो कार्यसमाप्ति के साथ उसका विरोध रहने से धर्ममात्र उसके चरम कार्य या चरम फल से नाश्य होगा अर्थात् धर्म के कार्य या फल के समाप्त होने पर धर्म की स्थिति नहीं रहेगी। इसलिए उस धर्म के सम्पूर्ण रूप से क्षय (प्रक्षय) होने पर संवेदन (नित्य सुख के अनुभव) की अत्यन्त निवृत्ति हो जाएगी। अनुभव के अभाव में अविद्यमान के साथ इसका भेद नहीं होगा। (विशदार्थ) यदि धर्म के नाश के कारण संवेदन की (नित्य सुखानुभव की) निवृत्ति हो जाएगी, नित्य सुख का अनुभव नहीं होगा तो क्या ऐसी स्थिति में विद्यमान सुख का अनुभव नहीं होगा या अविद्यमान सुख का अनुभव नहीं होगा? विशिष्ट में अर्थात् किसी एक पक्ष में अनुमान प्रमाण (युक्ति) उपलब्ध नहीं है।

भाष्य – *अप्रक्षयश्च धर्मस्य निरनुमानम् उत्पत्तिधर्मकत्वात्*। योगसमाधिजो धर्मो न क्षीयत इति नास्त्यनुमानमुत्पत्तिधर्मकमनित्यमिति विपर्ययस्य त्वनुमानम्। यस्य मतेन तु संवेदनोपरमो नास्ति तेन संवेदनहेतुर्नित्य इत्यनुमेयम्। नित्ये च मुक्तसंसारावस्थयोरविशेष इत्युक्तम्। यथा मुक्तस्य नित्यं सुखं तत्संवेदनहेतुश्च, संवेदनस्य तूपरमो नास्ति कारणस्य नित्यत्वात्, तथा संसारावस्थस्यापि, एवञ्च सति धर्माधर्मफलेन सुखदुःखसंवेदनेन साहचर्यं गृह्येतेति।

***शरीरादिसम्बन्धः प्रतिबन्धहेतुरिति चेत्? न, शरीरादीनामुपभोगार्थत्वात्, विपर्ययस्य चाननुमानात्*। स्यान्मतं संसारावस्थस्य शरीरादिसम्बन्धो नित्यसुखसंवेदनहेतोः प्रतिबन्धकस्तेनाविशेषो नास्ति इति। एतच्चायुक्तम् शरीरादय उपभोगार्थास्ते भोगप्रतिबन्धं करिष्यन्तीत्यनुपपन्नम्। न चास्त्यनुमानमशरीरस्यात्मनो भोगः कश्चिदस्तीति।**

अनुवाद – धर्म के अप्रक्षय में (अत्यन्त विनाश से रहित होने में) अनुमान प्रमाण उपलब्ध नहीं है। क्योंकि उसमें उत्पत्तिधर्मकत्व रहता है। (स्पष्टार्थ) योगसमाधि से

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

जन्य धर्म विनष्ट नहीं होता – इस विषय में अनुमान प्रमाण उपलब्ध नहीं है। उत्पत्तिधर्मक पदार्थ अनित्य होता है अर्थात् उत्पत्ति विशिष्ट सभी भाव पदार्थ विनाशी होते हैं। इस प्रकार के यथार्थ व्याप्ति के निश्चय के कारण, विपर्यय का ही अर्थात् उपर्युक्त धर्म के विनाशित्व का ही अनुमान होता है। किन्तु जिसके मत में संवेदन की निवृत्ति नहीं होती अर्थात् जिसके मत में उस नित्य सुख का अनुभव उत्पन्न होकर भी कभी निवृत्त नहीं होता है – उसके द्वारा किया गया अनुभव का कारण नित्य होगा – ऐसा अनुमान करना चाहिए। नित्य होने पर मुक्त और संसारी आत्मा का अभेद होगा – यह पहले ही कहा जा चुका है। (स्पष्टार्थ) जैसे मुक्त आत्मा का सुख नित्य होता है एवं उसके अनुभव का कारण भी नित्य होता है। इस कारण के नित्य होने से उस सुखानुभव की निवृत्ति नहीं होती तब तो संसारी आत्मा के भी उस सुखानुभव की निवृत्ति नहीं होगी। ऐसा मानने पर धर्म और अधर्म के फल सुख और दुःख के अनुभव का अर्थात् सांसारिक अनित्य सुख-दुःख के भोग के साथ उस नित्य सुखानुभव का यौगपद्य क्यों नहीं गृहीत होगा?

शरीर आदि का सम्बन्ध प्रतिबन्धक होगा – यह यदि कहा जाए तो यह सम्भव नहीं है क्योंकि शरीर आदि का सम्बन्ध उपभोग के लिए होता है। विपर्यय का अर्थात् अशरीरी आत्मा के उपभोग का अनुमान नहीं हो सकता। (स्पष्टार्थ) यदि कहा जाए कि संसारी आत्मा का शरीर आदि के साथ सम्बन्ध नित्य सुखानुभव के प्रति प्रतिबन्धक होगा। अतएव संसारी तथा मुक्त आत्मा में अविशेष अर्थात् अभेद होगा, ऐसा नहीं है – यही मान्य हो? (उत्तर) यह युक्तिसंगत नहीं होगा। क्योंकि शरीर आदि उपभोग के लिए होता है अर्थात् सुखभोग का कारण होता है, वह भोग का प्रतिबन्धक नहीं हो सकता अर्थात् यह सर्वथा अयुक्त प्रतीत होता है कि नित्य सुखानुभव के नित्य कारण के रहने पर वह प्रतिबन्धक होगा। अशरीरी आत्मा का भोग होता है – इस विषय में अनुमान प्रमाण नहीं होता। अर्थात् अशरीरी आत्मा सुखभोग करता है – यह सर्वथा युक्तिरहित बात है।

भाष्य – इष्टाधिगमार्था प्रवृत्तिरिति चेत्, न अनिष्टोपरमार्थत्वात्। **इदमनुमानम्, इष्टाधिगमार्थो मोक्षोपदेशः प्रवृत्तिश्च मुमुक्षूणां नोभयमनर्थकमिति। एतच्चायुक्तम्, अनिष्टोपरमार्थो मोक्षोपदेशः प्रवृत्तिश्च मुमुक्षूणामिति, नेष्टमनिष्टेनाननुविद्धं संभवतीति इष्टमप्यनिष्टं संपद्यते। अनिष्टहानाय घटमान इष्टमपि जहाति। विवेकहानस्याशक्यत्वादिति।**

दृष्टातिक्रमश्च देहादिषु तुल्यः। **यथा दृष्टमनित्यं सुखं परित्यज्य नित्यं सुखं कामयते, एवं देहेन्द्रियबुद्धिरनित्या दृष्टा अतिक्रम्य मुक्तस्य नित्या देहेन्द्रियबुद्धयः कल्पयितव्याः। साधीयश्चैवं मुक्तस्य चैकात्म्यं कल्पितं भवतीति। उपपत्ति**

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

***विरुद्धमितिचेत् समानम्*।** **देहादीनां नित्यत्वं प्रमाणविरुद्धं कल्पयितुमशक्यमिति समानं सुखस्यापि नित्यत्वं प्रमाणविरुद्धं कल्पयितुमशक्यमिति।**

अनुवाद – यह नहीं कहा जा सकता कि इष्ट के लाभ हेतु प्रवृत्ति होती है क्योंकि मोक्ष के इच्छुक की प्रवृत्ति अनिष्ट की निवृत्ति हेतु होती है। (स्पष्टार्थ) मोक्ष का उपदेश और मुमुक्षु की प्रवृत्ति इष्ट (सुख) लाभ के लिए होती है – यह दोनों (उक्त उपदेश और प्रवृत्ति) निरर्थक नहीं है – ऐसा अनुमान है। अर्थात् प्रत्येक उपदेश और प्रत्येक प्रवृत्ति जब सुख की प्राप्ति हेतु होती है तब मोक्ष का उपदेश और मुमुक्षु की प्रवृत्ति भी सुख की प्राप्ति हेतु होगी। अतः मोक्ष में नित्य सुख की अभिव्यक्ति होती है – इस विषय में उपर्युक्त अनुमान प्रमाण हो सकता है। इसको प्रमाणरहित नहीं कहा जा सकता। (उत्तर) यह युक्तिरहित है। मोक्ष का उपदेश और मुमुक्षु की प्रवृत्ति अनिष्ट की निवृत्ति हेतु अर्थात् दुःख की निवृत्ति हेतु होती है। अनिष्ट (दुःख) से असम्बद्ध इष्ट (सुख) सम्भव नहीं है। इसलिए मुमुक्षु के लिए सुख भी दुःख हो जाता है। अतएव मुमुक्षु दुःख के परिहार हेतु प्रवृत्त होकर सुख का भी त्याग कर देता है। क्योंकि विवेकहान पृथक् करके दुःख का त्याग सम्भव नहीं है (दुःखसंवलित सुख में से केवल सुख का ग्रहण करके केवल दुःख भाग को छोड़ना सम्भव नहीं है। दुःख के परिहार के लिए सुख का भी परिहार करना ही होगा।)

दृष्ट का अतिक्रम तो देह आदि के विषय में भी समान ही है। (स्पष्टार्थ) जैसे दृष्ट अनित्य सुख का परित्याग करके मुमुक्षु व्यक्ति नित्य सुख की इच्छा करता है ऐसे ही दृष्ट अनित्य देह, इन्द्रिय तथा बुद्धि की कल्पना करके मुक्त व्यक्ति यदि नित्य सुख का भोग करे तो उक्त कल्पना कर लेनी चाहिए। ऐसा मानने पर मुक्त व्यक्ति का ऐकात्म्य अर्थात् कैवल्य साधुतर रूप में कल्पित होता है। (पूर्वपक्ष) यह उपपत्ति विरुद्ध होगा। (उत्तर) समान ही है। (स्पष्टार्थ) प्रमाणविरुद्ध होने से देह आदि के नित्यत्व की कल्पना नहीं की जा सकती तो पुनः प्रमाणविरुद्ध होने के कारण सुख के नित्यत्व की कल्पना भी नहीं हो सकती।

भाष्य – **आत्यन्तिके च संसारदुःखाभावे सुखवचनादागमेऽपि सत्यविरोधः। यद्यपि कश्चिदागमः स्यात्, मुक्तस्यात्यन्तिकं सुखमिति सुखशब्द आत्यन्तिके दुखाभावे प्रयुक्त इत्येवमुपपद्यते। दृष्टो हि दुःखाभावे सुखशब्दप्रयोगो बहुलं लोक इति।**

***नित्यसुखरागस्याप्रहाणे मोक्षाधिगमाभावो रागस्य बन्धनसमाज्ञानात्*।** **यद्ययं मोक्षे नित्यं सुखमभिव्यज्यते इति नित्यसुखरागेण मोक्षाय घटमानो न मोक्षमधि**

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

गच्छेन्नाधिगन्तुमर्हतीति बन्धनसमाज्ञातो हि रागः। न च बन्धने कश्चिन्मुक्त इत्युपपद्यत इति। *प्रहीणनित्यसुखरागस्याप्रतिकूलत्वम्*। अथास्य नित्यसुखरागः प्रहीयते तस्मिन् प्रहीणे नास्य नित्यसुखरागः प्रतिकूलो भवति। यद्येवं मुक्तस्य नित्यं सुखं भवति, अथापि न भवति, नास्योभयोः पक्षयोर्मोक्षाधिगमो विकल्प्यत इति।

अनुवाद – आत्यन्तिक सांसारिक दुःखाभाव अर्थ में सुख शब्द का व्यवहार मानने पर आगम के साथ विरोध नहीं होता। (स्पष्टार्थ) यदि मुक्त आत्मा के आत्यन्तिक सुख के बोधक कोई आगम अर्थात् शास्त्रवाक्य है तो सुख शब्द का प्रयोग आत्यन्तिक दुःखाभाव के अर्थ में हुआ है – यही मानना चाहिए। दुःखाभाव के अर्थ में सुख शब्द का बहुधा प्रयोग लौकिकवाक्य में देखा जाता है।

किन्तु नित्य सुख में राग को बिना छोड़े मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। क्योंकि राग का बन्धन रूप उपदेश है। (स्पष्टार्थ) मोक्ष में नित्य सुख अभिव्यक्त (उपलब्ध) होता है – इसलिए रागवश या आकांक्षावश यदि मुमुक्षु मोक्ष के लिए प्रवृत्त होगा तो वह मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकेगा, मोक्षलाभ के योग्य भी वह नहीं रहेगा। क्योंकि राग का बन्धन रूप में उपदेश हुआ है और यह कभी उपपन्न नहीं हो सकता कि बन्धन रहने पर कोई मुक्त हो। (पूर्वपक्ष) परित्यक्त नित्यसुखराग प्रतिकूल नहीं होता। (स्पष्टार्थ) यदि मुमुक्षु का नित्यसुखविषयक राग पश्चात् इसको (मुमुक्षु को) स्वयं छोड़ देता है तब प्रहीण अर्थात् परित्यक्त होने पर वह नित्यसुखराग प्रतिकूल अर्थात् मोक्षलाभ का प्रतिबन्धक नहीं होगा। (उत्तर) यदि ऐसा हो अर्थात् पश्चात् मुमुक्षु का नित्यसुखविषयक राग नहीं रहे तो नित्य सुख हो या नहीं हो, दोनों ही स्थिति में मोक्ष की प्राप्ति सन्दिग्ध नहीं रहती।

टिप्पणी – भाष्यकार ने उपर्युक्त मत में युक्ति द्वारा अनुपपत्ति दिखाते हुए बाद में कहा है कि नित्य पदार्थ की अभिव्यक्ति का अर्थ है उसका संवेदन (अनुभव)। अतः मुक्त आत्मा के नित्यसुखानुभव का उत्पादक (कारण) कहना होगा। यदि उक्त सुख की तरह उसके अनुभव को भी नित्य मानेंगे अर्थात् कोई कारण उसका नहीं मान्य होगा तो मानना होगा कि संसारी आत्मा भी सर्वदा नित्य सुख के अनुभव से सम्पन्न ही होगा। किन्तु इसके मानने पर चौदह भुवनों में विद्यमान सभी आत्मवृंद धर्म और अधर्म के फल सुख एवं दुःख का जो अनुभव करता है उसका वह अनुभव एवं इस नित्य सुख का अनुभव एक ही काल में होने लगेगा। अर्थात् एक ही काल में आत्मा सांसारिक सुख-दुःख का उपभोग और उस नित्य सुख का भोग कर रहा है – यह कैसे ज्ञात होगा।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

क्योंकि नित्य होने से वह सुख एवं उसका संवेदन अर्थात् अनुभव विद्यमान ही है। किन्तु संसारी आत्मा कभी भी नित्य सुख का अनुभव नहीं करता। दुःख के अनुभव के समय सुख का अनुभव होता भी नहीं है। अतः उस नित्य सुख के अनुभव को अनित्य ही मानना होगा। और तब उस अनुभव के उत्पादक (कारण) का कथन आवश्यक होगा। आत्ममनः-संयोग को उसका कारण कहने पर उसके किसी सहकारी कारण का कथन भी आवश्यक होगा। क्योंकि सहकारी कारण विशिष्ट आत्ममनःसंयोग सुखानुभव का कारण होता है। यदि धर्म को सहकारी कारण मानेंगे तो पुनः उस धर्म के उत्पादक कारण का कथन आवश्यक होगा। यदि कहा जाए कि मुमुक्षु का योगसमाधिजन्य धर्म उस आत्ममनः-संयोग का सहकारी होगा तो नित्य सुख का अनुभव चिरस्थायी नहीं होगा। क्योंकि कार्य का अवसाय (समाप्ति) के साथ इस धर्म का विरोध रहने से फल की समाप्ति के साथ इस धर्म का भी क्षय हो जाएगा। फलतः स्वर्ग आदि के जनक धर्म के नाश से जैसे स्वर्ग आदि फल की निवृत्ति होती है, उसी प्रकार योगसमाधिजन्य धर्म का सम्पूर्ण रूप में नाश होने पर उस नित्य सुखानुभव का अत्यन्त नाश हो जाएगा। पुनः यह नहीं कहा जा सकता कि किसी समय में उस नित्य सुख का अनुभव नहीं होने पर भी उस आत्मा में वह विद्यमान रहता है। क्योंकि तब विद्यमान नित्य सुख का अनुभव नहीं होता अथवा अविद्यमान नित्य सुख का अनुभव नहीं होता – इस तरह दोनों पक्षों के मध्य किसी एक पक्ष में अनुमान प्रमाण उपलब्ध नहीं है। अननुभूत सुख के अस्तित्व में कोई प्रमाण ही नहीं है।

योगसमाधिजन्य धर्म का कभी भी नाश नहीं होता किन्तु उसमें अनुमान प्रमाण का अभाव है। क्योंकि इस धर्म की उत्पत्ति होती है, और जो उत्पन्न होता है ऐसा भाव-पदार्थ विनाशी होता है। अतः उक्त धर्म का विनाशित्व ही अनुमान प्रमाण से सिद्ध होता है। किन्तु जिनके मत में इस नित्य सुखानुभव की कभी निवृत्ति नहीं होती वे तो इस नित्यसुखविषयक अनुभव के कारण को नित्य पदार्थ मानकर ही अनुमान करेंगे। चूँकि वह कारण नित्य है अतः मानना होगा कि संसारी आत्मा में सतत उसका कार्य नित्य सुखानुभव उत्पन्न होता रहेगा। ऐसी स्थिति में मुक्त आत्मा और संसारी आत्मा में भेद ही नहीं हो पाएगा – यह पहले ही कहा जा चुका है। यदि कहेंगे कि कारण रहने पर भी प्रतिबन्धक रहने पर कार्य नहीं होता और संसारी आत्मा का शरीर आदि का सम्बन्ध ही नित्यसुखविषयक अनुभव का प्रतिबन्धक होता है तो यह सर्वथा युक्तिहीन बात हुई। क्योंकि शरीर आदि का सम्बन्ध तो उपभोग के लिए ही होता है। जो पदार्थ सुखभोग का साधन है वह उसका प्रतिबन्धक नहीं हो सकता। शरीर से रहित आत्मा का किसी प्रकार का भोग हो सकता है – इस विषय में अनुमान या युक्ति नहीं मिलती।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

यदि कहें कि मोक्ष के साधन में मुमुक्षु की प्रवृत्ति तथा शास्त्र में मोक्षविषयक उपदेश इष्ट की प्राप्ति हेतु होते हैं। सुख ही सबका इष्ट पदार्थ होता है। यह अनुमान से सिद्ध है कि नित्य सुख का अनुभव ही उस प्रवृत्ति एवं उस उपदेश का प्रयोजन होता है तो यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि केवल दुःखनिवृत्ति के लिए भी अनेकों की प्रवृत्ति एवं अनेक प्रकार के उपदेश देखे जाने से प्रवृत्तिमात्र और उपदेशमात्र सुख की प्राप्ति के लिए होते हैं – इस प्रकार की व्याप्ति या नियम नहीं हो सकता। दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति के लिए ही मोक्ष के साधन में मुमुक्षुओं की प्रवृत्ति देखी जाती है। क्योंकि दुःख से सर्वथा असम्बद्ध सुख सम्भव ही नहीं है। इसी दृष्टि से मुमुक्षु व्यक्ति सभी प्रकार के सुख को दुःख ही समझता है। इसलिए मुमुक्षु व्यक्ति सभी प्रकार के दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति हेतु प्रवृत्त होकर सुख का भी त्याग करता है। यदि कहेंगे कि वह दृष्ट अर्थात् लौकिक अनित्य सुख का त्याग करके नित्यसुखभोग की कामना करता है तो दृष्ट अर्थात् अनित्य देहादि का परित्याग करके मुक्तिकाल में मुमुक्षु के लिए नित्य देह की कल्पना करनी होगी। इससे अच्छा तो उसके ऐकात्म्य की कल्पना ही होगी। (यह भाष्यकार की उपहासोक्ति प्रतीत होती है।) अर्थात् मुक्त आत्मा का देह आदि कुछ भी नहीं रहता है। केवल आत्मा ही अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है – इसी अर्थ में मुक्ति को ऐकात्म्य कहा जाता है। मुक्तिकाल में भी मुक्त आत्मा के देह आदि से सम्बन्ध की कल्पना करने पर उसका ऐकात्म्य भी इस रूप में कल्पित होगा जो प्रकृत ऐकात्म्य से अच्छा होगा। क्योंकि देहादि से रहित आत्मा के नित्य सुख भोग रूप मोक्ष से देहादि विशिष्ट आत्मा के नित्य भोग रूप कल्पित मोक्ष ही अच्छा प्रतीत होता है। अतः मुक्त पुरुष को नित्य देहादि की कल्पना करनी चाहिए। यदि कहेंगे कि देह आदि का नित्यत्व प्रमाणविरुद्ध होने से उसकी कल्पना नहीं हो सकती तो इसके उत्तर में भाष्यकार ने पश्चात् कहा है – ''समानम्''। अर्थात् सुख का नित्यत्व भी प्रमाणविरुद्ध होने से कल्पनातीत ही है।

इस स्थल पर पूर्वपक्षवादी अवश्य कहेंगे कि मुक्त पुरुष का नित्यसुखभोग के विषय में आगम प्रमाण उपलब्ध है। अतः उसे प्रमाणरहित नहीं कहा जा सकता। न्यायसार ग्रन्थ के अन्त में भासर्वज्ञ ने भी कहा है –

कुतो मुक्तस्य सुखोपभोग इतिचेत्, आगमात् –
उक्तं हि सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
तच्च मोक्षं विजानीयाद् दुष्प्रापमकृतात्मभिः ॥
तथा आनन्दं ब्रह्मणो रूपं तच्च मोक्षेऽभिव्यज्यते। विज्ञानमानन्दं ब्रह्मेति।

भाष्यकार का भी कहना है कि आगम के विरोधी अनुमान को प्रमाण नहीं माना जाता। अतः भाष्यकार ने अन्त में कहा है कि यदि मुक्त आत्मा के आत्यन्तिक सुख का बोधक

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

आगम या शास्त्रवाक्य उपलब्ध है तो उससे यहाँ विरोध नहीं होता। क्योंकि शास्त्रवाक्य (आगम) में मुक्त पुरुष की आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति को ही आत्यन्तिक सुख कहा गया है। अर्थात् दुःखाभाव के अर्थ में सुख शब्द का प्रयोग (आगमों में) हुआ है। लोक में भी दुःखाभाव के अर्थ में सुख शब्द का लाक्षणिक प्रयोग बहुधा देखा जाता है। जैसे सामयिक ज्वर विराम के बाद रोगी कहता है – ''मैं सुखी हो गया''। भारी बोझा उतारकर भारवाहक कहता है – ''मैं सुखी हो गया''। इन प्रयोगों में रोगी तथा भारवाहक ज्वर तथा भारवहनजन्य दुःख की निवृत्ति या अत्यन्ताभाव ही उस सुख शब्द का लाक्षणिक अर्थ होता है। यहाँ भाष्यकार के ''यद्यपि कश्चिदागमः स्यात्'' इत्यादि सन्दर्भ से ज्ञात होता है कि भाष्यकार ने परवर्ती न्यायाचार्य भासर्वज्ञ द्वारा उद्धृत ''सुखमात्यन्तिकम्'' आदि वचन को बुद्धिस्थ करके यह बात कही है। तथा भाष्यकार के समय में सम्प्रदाय विशेष में उक्त वचन के प्रचलित रहने पर भी उसका आगमत्व बहुतों को मान्य नहीं है। ''यद्यपि'' पद से भाष्यकार ने इसकी अभिव्यक्ति की है। जो भी हो, भाष्यकार के मत में ''आनन्दं ब्रह्मणो रूपम्'' आदि विविध श्रुतिवाक्यों में व्यवहृत आनन्द शब्द का दुःखाभाव अर्थ में ही प्रयोग हुआ है – यह भी भाष्य के कथन से ज्ञात होता है। यद्यपि मुख्य अर्थ में बाध रहने पर लाक्षणिक अर्थ का ग्रहण होता है। उपर्युक्त मत के समर्थन में भासर्वज्ञ ने कहा है – ''मुख्यार्थे बाधकाभावान्नोपचारकल्पना''। किन्तु भाष्यकार ने पहले विचार करके यह सिद्ध कर दिया है कि मुक्त पुरुष के नित्य सुख के अनुभव को नित्य भी नहीं कहा जा सकता और अनित्य भी नहीं कहा जा सकता। मुक्त पुरुष के नित्य सुख का अनुभव चूँकि अलीक होता है। अतः उसको आगम का अर्थ नहीं कहा जा सकता। आगम में दृष्ट सुख पद आत्यन्तिक दुःखाभाव के अर्थ में लाक्षणिक ही होता है। भाष्यकार के अनुगामी नैयायिकगण इसी का समर्थन करते हैं।

भाष्यकार ने अन्त में कहा है कि नित्य सुख में राग या इच्छा रहने पर मुमुक्षु को मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती क्योंकि राग और इच्छा से बन्धन होता है – इसमें किसी को विवाद नहीं है। और बन्धन रहने पर किसी को मुक्त नहीं कहा जा सकता। तात्पर्यटीकाकार वाचस्पति मिश्र का कहना है कि नित्य सुख की कामना से मोक्ष के साधन में मुमुक्षु के प्रवृत्त होने पर भी यह कामनापिशाची कभी उपस्थित विषय-सुख में भी उसको प्रवृत्त कराकर अभीष्ट मोक्ष से दूर कर सकती है। अतः मुमुक्षु को किसी भी प्रकार की कामना से सदा अलग रहना है। इसी प्रकार राग की तरह द्वेष भी बन्धन का साधन होता है। अतः सभी विषयों में द्वेष का भी त्याग मुमुक्षु को करना है। सुख की कामना का त्याग करने का अर्थ सुख के प्रति द्वेष करना नहीं है। दुःख की इच्छा का त्याग करने का अर्थ दुःख के प्रति द्वेष करना नहीं है। वैराग्य हो जाने पर जन्म आदि सभी दुःखों

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

के परिहार की इच्छा होती है। वैराग्य और द्वेष एक पदार्थ नहीं है। सारांश यह है कि मुमुक्षु को नित्य सुख की इच्छा रहने पर बन्धन ही रहेगा उसकी मुक्ति नहीं हो सकती। अतः मुक्त पुरुष के नित्य सुख के प्रतिपादक श्रुतिवाक्य में सुखवाचक शब्द का मुख्य अर्थ ग्राह्य नहीं है। भाष्यकार के इसी प्रकार के तात्पर्य की व्याख्या करके वाचस्पति मिश्र ने आगे कहा है – ''तस्मान्नित्यानन्दप्रतिपादकश्रुतिरात्यन्तिके दुःखवियोगे भवति युक्तमिति भावः''।

पूर्वपक्षी कह सकता है कि मुमुक्षु को पहले नित्य सुख में राग उत्पन्न होने पर भी पश्चात् उत्कट वैराग्य के कारण वह राग छूट जाता है अर्थात् वैराग्य होने पर नित्य सुख का राग स्वयं उस (मुमुक्षु) को छोड़ देता है। अतः उस समय में किसी बन्धन के नहीं रहने पर मोक्षलाभ का प्रतिकूल कुछ नहीं रहता। भाष्यकार ने उपसंहार में इस बात को उठाकर इसके उत्तर में ''यद्येवं'' आदि कहा है। वाचस्पति मिश्र ने तात्पर्यटीका में भाष्यकार की व्याख्या में कहा है – ''यदि नित्यं सुखं भवति-कामं भवतु मा भूत्, उभयोपि पक्षयोर्वीतरागप्रवृत्तौ न मोक्षाधिगमो विकल्प्यते न सन्दिग्धो भवतीत्यर्थः''। उत्कट वैराग्य के कारण मुमुक्षु व्यक्ति सभी विषयों में वीतराग होकर नित्य सुख के भोग के विषय में भी लेशमात्र राग नहीं रखता। अतः नित्य सुख का भोग उसे हो या न हो मोक्षलाभ के विषय में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रहता क्योंकि चरमतत्त्व के ज्ञान का फल होता है जन्म प्रवाह का उच्छेद और इससे आत्यन्तिक दुःख की निवृत्ति होना ही मुमुक्षु का मुक्त होना है। नित्यसुखविषयक भोग का राग भी इसने बहुत पहले ही छोड़ दिया है और इस नित्यसुखभोग के नहीं होने पर भी उसकी मुक्ति में किसी प्रकार की बाधा नहीं होती किन्तु सभी प्रकार के दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं होने पर मुक्ति नहीं हो सकती महर्षि गौतम के सूत्र से मुक्ति का यही लक्षण ज्ञात होता है। भगवान् ने गीता में कहा है – ''जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते''।

शैवाचार्य भासर्वज्ञ ने न्यायसार के अन्त में इस बात का प्रतिवाद करते हुए कहा है कि मुक्त पुरुष के नित्यसुखभोग के प्रतिपादक शास्त्रवाक्य में सुखवाचक पद के मुख्य अर्थ के ग्रहण में किसी भी प्रकार की बाधा नहीं है। उस नित्य सुख के भोग (संवेदन) का अनुभव नित्य होता है। इसे मानने पर संसारी और मुक्त आत्मा में भेद नहीं रहने की आपत्ति भी नहीं दी जा सकती क्योंकि संसार दशा में आत्मगत उस नित्य सुख और उसके अनुभव के मध्य विषयविषयिभाव सम्बन्ध नहीं रहता। जैसे चक्षुरिन्द्रिय और उसके ग्राह्य विषय के निकट रहने पर भी मध्य में दीवार खड़ी करने पर (व्यवधान हो जाने पर) विषय और इन्द्रिय के मध्य संयोग सम्बन्ध नहीं हो पाता और इस व्यवधान

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

के हट जाने पर इस दृश्य विषय के साथ इन्द्रिय का संयोग सम्बन्ध होता है; इसी प्रकार आत्मा में नित्यसुख और उसके अनुभव के चिरविद्यमान रहने पर भी संसार दशा में पाप आदि प्रतिबन्धक रहने के कारण दोनों में परस्पर विषयविषयिभाव सम्बन्ध घटित नहीं होता किन्तु मुक्तिकाल में किसी प्रतिबन्धक के नहीं रहने से उस नित्य सुख और उसके अनुभव के मध्य विषयविषयिभाव सम्बन्ध हो जाता है। अर्थात् वह नित्यसुख उस नित्य अनुभव का विषय होता है लेकिन संसारकाल में नहीं होता। मुक्तिकाल में नित्य सुख और उसका नित्य अनुभव का विषयविषयिभाव सम्बन्ध जन्य पदार्थ होकर भी कारण के अभाव में विनाशी नहीं होता। सभी जन्य पदार्थ विनाशी होते हैं – ऐसी व्याप्ति या नियम नहीं है। क्योकि जैसे किसी पदार्थ का ध्वंस उत्पन्न होने पर पुनः उस ध्वंस का ध्वंस नहीं होता अतः ध्वंस की तरह नित्य सुख एवं उसका अनुभव भी उत्पन्न (जन्य पदार्थ) होकर भी विनाशी नहीं होता क्योंकि इसके विनाश का कोई कारण है ही नहीं। इस विषय में भासर्वज्ञ ने अधिक विचार करते हुए उपसंहार में कहा है कि उक्त नित्यसुख नित्यसंवेद्य होता है। नित्यसुखविशिष्ट आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति ही जीवात्मा का मोक्ष कहलाता है।

यहाँ यह कहना आवश्यक है कि उदयनाचार्य के पूर्ववर्ती भासर्वज्ञ ने अपने मत के समर्थन में गौतम के किसी सूत्र का प्रदर्शन नहीं किया है। तथापि प्राचीन समय में भासर्वज्ञ की गुरु-परम्परा में यही मत (आनन्दमोक्षवाद) प्रतिष्ठित था – इसके और भी कारण हैं। (दृष्टव्य चतुर्थ खण्ड, बंग संस्करण, पृ. ३४२)। न्यायसार में भासर्वज्ञ द्वारा व्याख्यात कुछ न्यायमत्त प्राचीन काल में एकदेशीय मत के रूप में उक्त हुए हैं। शंकर भगवत्पाद के शिष्य सुरेश्वराचार्य ने मानसोल्लास में कहा है – "न्यायैकदेशिनोऽप्येवम्"। न्याय का एकदेशीय सम्प्रदाय प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द को प्रमाण मानता है। अतएव प्रमाणत्रयवादी कहलाता है। भासर्वज्ञाचार्य ने महर्षि गौतम के मत में उपमान प्रमाण को शब्द में अन्तर्भाव करके प्रमाणत्रयवाद के समर्थन में पर्याप्त कष्टकर कल्पना की है। सच तो यही है कि महर्षि गौतम के मत में चार प्रकार के ही प्रमाण मान्य हैं। सुरेश्वराचार्य उक्त प्रमाणत्रयवाद को नैयायिक का मत नहीं मानते किन्तु न्यायैकदेशीय का मत कहते हैं। इसी प्रकार गौतम की मुक्ति के स्वरूप विषय में भाष्यकार वात्स्यायन का समर्थित मत ही नैयायिक के मत के रूप में प्रतिष्ठित है। परवर्ती नैयायिकगण विचार करके इसी मत का समर्थन किया है। अतएव माधवाचार्य ने सर्वदर्शनसंग्रह (अक्षपाद दर्शन प्रकरण) में बहुत विचार करके अक्षपाद के उक्त रूप मत की व्याख्या तथा समर्थन किया है। मुक्ति के स्वरूप के विषय में बहुत बातें बाद में की गई हैं। (दृष्टव्य चतुर्थ खण्ड, बंग संस्करण, पृ. ३३३-६२)।

(प्रमेय लक्षण प्रकरण समाप्त)

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

न्यायपूर्वांगप्रकरण

संशय का लक्षण

भाष्य – **स्थानवत एव तर्हि संशयस्य लक्षणं वाच्यमिति तदुच्यते –**

अनुवाद – प्रथम सूत्र में पदार्थों के उद्देश्य के समय में क्रम प्राप्त संशय का लक्षण कहना यहाँ अवसरप्राप्त है। अतः इस सूत्र में वह कहा जाता है।

सूत्र – समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः ।१.१.२३

अनुवाद – साधारण धर्म विशिष्ट धर्मी के ज्ञान से, असाधारण धर्म विशिष्ट धर्मी के ज्ञान से, विप्रतिपत्ति से – एक पदार्थ में विरुद्ध अर्थ के प्रतिपादक वाक्यजन्य ज्ञान से, उपलब्धि की अव्यवस्था से और अनुपलब्धि की अव्यवस्था से जिसमें पहले से विशेष धर्म की उपलब्धि नहीं रहती किन्तु विशेष धर्म की स्मृति की अपेक्षा रहती है, ऐसे विमर्श अर्थात् एक पदार्थ में नाना विरुद्ध पदार्थों का ज्ञान संशय कहलाता है।

टिप्पणी – प्रमेय पदार्थों के लक्षण के पश्चात् तृतीय पदार्थ संशय का लक्षण करना अवसर प्राप्त है। क्योंकि प्रथम सूत्र में प्रमेय के बाद संशय का ही उद्देश्य रूप से कथन हुआ है। अतः वही स्थानवान क्रम प्राप्त है। भाष्यकार ने इसी अभिप्राय से सूत्र के अवतरण में कहा है – "स्थानवत एव तर्हि" इत्यादि[११२]।

सूत्र में सबसे अन्त में उक्त संशय पद से लक्ष्य का निर्देश हुआ है। उसके पहले उक्त विमर्श पद से संशय का सामान्य लक्षण सूचित किया गया है। विशेषापेक्ष पद से विशेष धर्म की उपलब्धि अभिप्रेत है जो संशय मात्र का प्रतिबन्धक होता है किन्तु इसी पद से सूचित होता है कि संशय के विषयीभूत उस विशेष धर्म का स्मरण इसमें आवश्यक होता है। समानानेकधर्मोपपत्तेः आदि तीनों ही सूत्रगत पञ्चम्यन्त पद से सूचित होता है कि पाँच प्रकार के इन विशेष कारणों से पाँच प्रकार के संशय होते हैं। सूत्रोक्त विमर्श पद से सूचित होता है कि संशय विशेष-कारण से उत्पन्न होता है। विशिष्ट विमर्श-ज्ञान इस व्युत्पत्ति के अनुसार विमर्श से विशेष संशय लिया जाता है। भाष्यकार ने संशयात्मक ज्ञान को केवल विमर्श अर्थात् अनवधारण रूप ज्ञान कहा है। संशय स्थल में इदन्त्व आदि किसी धर्मरूप में संशय के विशेष्य या धर्मी का अवधारण (निश्चय) होने पर भी

११२ स्थानं क्रमस्तद्वत एव। तर्हि तदानीमुद्देशसमये क्रमवतः संशयस्य प्रमेयानन्तरमुद्दिष्टस्य प्रमेयलक्षणानन्तरं स्थाने क्रमो लक्षणस्य इत्यर्थः। – तात्पर्यटीका

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

संशय के कोटिरूप विशेष धर्म का अवधारण नहीं होने से उस अंश में वह अनवधारण ही संशय कहलाता है। अतः सामान्य रूप से निश्चयात्मक ज्ञान से भिन्न ज्ञानत्व को ही संशय का सामान्य लक्षण नहीं कहा जा सकता और संशयत्व को ज्ञानगत जाति विशेष भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि धर्मी अंश में उस ज्ञान में संशयत्व नहीं रहता। और आंशिक रूप में जाति मान्य नहीं है। वैशेषिकदर्शन के उपस्कार ग्रन्थ (२.२.१७) में शंकर मिश्र ने यह कहकर संशय का सामान्य लक्षण इस प्रकार कहा है – "एकस्मिन् धर्मिणि विरोधिनानाप्रकारकं ज्ञानं संशयः"।

वस्तुतः विमर्श पद में मृश् धातु का अर्थ होता है ज्ञान और वि उपसर्ग का विरोध। अतः सूत्रगत विमर्श पद से नानाविरुद्ध पदार्थों का ज्ञान गृहीत होता है। एक धर्मी में नाना विरुद्ध पदार्थों का ज्ञान ही संशय कहलाता है। अतः विमर्श शब्द से इस प्रकार का ज्ञान विशेष ही महर्षि का अभिप्रेत है। संशय का सामान्यलक्षण होता है – एक धर्मी में नानाविरुद्धधर्मप्रकारकज्ञानत्व। किसी एक धर्मी में नानाविरुद्ध पदार्थों का समूहालम्बन ज्ञान होने पर उन समस्त विशेषणों के भेद से उस धर्मिगत विशेष्यता में भी भेद होता है, किन्तु संशय स्थल में धर्मिगत विशेष्यता एक होती है। फलतः विभिन्न प्रकारता निरूपित एक विशेष्यता विशिष्ट ज्ञान ही संशय होता है। यथा क्या यह स्थाणु (ठूंठ) है या पुरुष, इस प्रकार का संशय होता है। इसमें सम्मुख से विद्यमान इदं पदार्थ है मुख्य विशेष्य, इस विशेष्य पदार्थ में विशेष्यता एक ही रहती है। स्थाणुत्व और पुरुषत्व रूप दो विरुद्ध धर्म एक ही विशेष्य में मुख्य विशेषण रूप में विषय होते हैं। अतः इसमें प्रकारता नामक दो पृथक् विषयताओं के रहने से इसे एक विशेष्यतानिरूपक नानाविरुद्धधर्म प्रकारताशालि ज्ञान कहते हैं। इस विषय में मतभेद भी है। अन्य मत में संशय ज्ञान में कोटिद्वय का विरोध भी विषय होता है। नव्यनैयायिकों ने संशय के विषयीभूत कोटिद्वयस्थ विषयता का विशेष नाम कोटिता कही है।

बहुत से नव्यनैयायिकों ने सर्वत्र संशय स्थल में किसी भाव पदार्थ एवं उसके अभाव को संशय की कोटि मानकर केवल भाव कोटिक संशय को नहीं माना। इनके मत में उपर्युक्त उदाहरण का स्वरूप – "अयं स्थाणुर्न वा" अथवा "अयं पुरुषो न वा" इस आकार का होता है। यहाँ स्थाणुत्व और उसका अभाव, पुरुष एवं उसका अभाव संशय की कोटि होती हैं। किन्तु नव्यनैयायिक विश्वनाथ भट्टाचार्य ने न्यायसिद्धान्तमुक्तावली में पहले "नरो वा स्थाणुर्वा" इस प्रकार के ज्ञान को संशय कहा है। यहाँ वा शब्द से अभाव का बोध मानने पर "पर्वतो वह्निमान् न वा" आदि वाक्य में नञ् शब्द का प्रयोग व्यर्थ हो जाएगा। वस्तुतः जिस कोटिद्वय के विषय में संशय होता है उस विषय में पूर्व

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

संस्कारजन्य उस विषय का स्मरण ही संशय मात्र का कारण होता है। अतः जिस स्थल में किसी को स्थाणुत्व और पुरुषत्व रूप दो विरुद्ध भावरूप कोटिद्वय का स्मरण होता है उसको उक्त भावद्वय कोटिक संशय ही होता है। इस भावकोटिद्वयावगाही संशय का यहाँ कोई बाधक भी नहीं है। अतः प्राचीन नैयायिक भाव कोटिक संशय का भी प्रदर्शन करते हैं। भाष्यकार ने भी अनेक भावकोटिक संशय का प्रदर्शन किया है। अभिज्ञान-शाकुन्तल नाटक के षष्ठ अंक में ''स्वप्नो नु माया नु मतिभ्रमो नु'' आदि श्लोक में तथा ''किमिन्दुः किं पद्म'' आदि श्लोक में अनेक भावपदार्थ कोटिक संशय का वर्णन किया है[११३]।

***भाष्य* – समानधर्मोपपत्तेर्विशेषापेक्षो विमर्शः संशय इति। स्थाणुपुरुषयोः समानं धर्ममारोहपरिणाहौ पश्यन् पूर्वदृष्टञ्च तयोर्विशेषं बुभुत्समानः किं स्विदित्यन्यतरं नावधारयति, तदनवधारणं ज्ञानं संशयः। समानमनयोधर्ममुपलभे, विशेष-मन्यतरस्य नोपलभे इत्येषा बुद्धिरपेक्षा संशयस्य प्रवर्त्तिका वर्त्तते, तेन विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः।**

अनेकधर्मोपपत्तेरिति। समानजातीयसमानजातीयञ्चानेकम् तस्यानेकस्य धर्मोपपत्तेः। विशेषस्य उभयथा दृष्टत्वात्। समानजातीयेभ्योऽसमान-जातीयेभ्यश्चार्था विशिष्यन्ते। गन्धवत्त्वात् पृथिव्यादिभ्यो विशिष्यते गुणकर्मभ्यश्च। अस्ति च शब्दे विभागजत्वं विशेषः तस्मिन् द्रव्यं गुणः कर्म वेति सन्देहः। विशेषस्योभयथा दृष्टत्वात् किं द्रव्यस्य सतो गुण कर्मभ्यो विशेषः, आहोस्वित् गुणस्य सत इति, अथ कर्मणः सत इति। विशेषापेक्षा – अन्यतमस्य व्यवस्थापकं धर्मं नोपलभे इति बुद्धिरिति।

अनुवाद – समान धर्म की उपपत्ति से अर्थात् किसी साधारण धर्मविशिष्ट धर्मी के ज्ञान से विशेषापेक्ष अर्थात् पहले से जिसके विशेष धर्म की उपलब्धि नहीं है किन्तु स्मरण

---

११३ किमिन्दुः किं पद्मं किमु मुकुरबिम्बं किमु मुखम्
किमब्जे किं मीनौ किमु मदनबाणौ किमु दृशौ।
नगौ वा गुच्छौ वा कनककलशौ वा किमु कुचौ
तड़िद्वा तारा वा कनकलतिका वा किमबला॥

विक्रमादित्य के प्रश्न के उत्तर में कालिदासरचित कविता के रूप में प्राचीन पण्डित समाज में यह श्लोक प्रसिद्ध है। इसके चारों चरणों में चार कोटिक संशय हुआ है। चारों ही संशय यहाँ चतुष्कोटिक एवं केवल भाव कोटिक देखे जाते हैं। इसमें अभाव के समावेश से कविता का भाव समझ में नहीं आएगा।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

हुआ है ऐसा विमर्श संशय का प्रथम प्रकार होता है। जैसे स्थाणु (ठूंठ) और पुरुष के समान धर्म आरोह और परिणाम अर्थात् दोनों की समान लम्बाई-चौड़ाई देखने पर उस स्थाणु और पुरुष के पूर्वदृष्ट विशेष धर्म को जानने की इच्छा करने पर क्या यह स्थाणु है या पुरुष इस प्रकार किसी एक का अवधारण नहीं कर पाता बल्कि दोनों कोटि के विषय का अनवधारण ही रहता है। इसी अनवधारण ज्ञान को संशय कहते हैं। इन दोनों ही पदार्थों के समान धर्म की उपलब्धि होती है, किसी एक पक्ष के विशेष धर्म की उपलब्धि नहीं होती। इस प्रकार की बुद्धि "अपेक्षा" अर्थात् संशय की प्रवर्तिका होती है। इस संशय के पहले ऐसी बुद्धि आवश्यक होती है। अतएव विशेषापेक्ष विमर्श संशय कहलाता है।

अब "अनेकधर्मोपपत्तेः" पद की व्याख्या की जा रही है। समानजातीय और असमानजातीय को अनेक कहते हैं अर्थात् सूत्रगत अनेक पद का अर्थ होता है सजातीय और विजातीय पदार्थ। इस अनेक के धर्मों का अर्थात् उसके विशेषक या व्यावर्त्तक धर्म की उपपत्ति या ज्ञान से (अर्थात् उक्त रूप असाधारण धर्मविशिष्ट धर्मी के ज्ञान से) दूसरे प्रकार का संशय होता है। क्योंकि दोनों ही प्रकार के धर्मों का ज्ञान उत्पन्न होता है। सजातीय पदार्थ वर्ग से तथा विजातीय पदार्थ वर्ग से पदार्थसमूह विशिष्ट होता है। जैसे गन्धवत्त्व हेतुक पृथिवी जलादि सजातीय पदार्थ से और गुणकर्म आदि विजातीय पदार्थ से विशिष्ट होता है। यह दूसरे प्रकार के संशय का उदाहरण होता है। किन्तु शब्द में विभागजन्यत्वरूप विशेष धर्म है अतएव शब्द में द्रव्य, गुण तथा कर्म का संशय होता है। क्योंकि दोनों (सजातीय और विजातीय) प्रकार के विशेष का ज्ञान होता है। यथा क्या शब्द द्रव्य होने से गुण और कर्म से विशेष है अथवा गुण होने से वह द्रव्य और कर्म से विशेष है अथवा कर्म होने से वह द्रव्य और गुण से विशेष है। अन्यतम का अर्थात् शब्द में द्रव्यत्व, गुणत्व तथा कर्मत्व में से एकतर का (किसी एक का) व्यवस्थापक (निश्चायक) धर्म उपलब्ध नहीं है। इस प्रकार की बुद्धि विशेषापेक्षा इस संशय के पहले उत्पन्न होती है। इसलिए इसको विशेषापेक्ष कहा गया है।

टिप्पणी – सूत्र में प्रथमोक्त "समानानेकधर्मोपपत्तेः" पद में एक धर्म पद का दोनों के साथ सम्बन्ध रहने से "समानधर्मोपपत्तेः" एवं "अनेकधर्मोपपत्तेः" इस तरह के दो पद महर्षि को अभिप्रेत प्रतीत होते हैं। भाष्यकार ने पहले "समानधर्मोपपत्तेः" कहकर "अनेकधर्मोपपत्तेः" कहा है और व्याख्या की है। प्रथमोक्त पद से समान धर्म के ज्ञान से उत्पन्न प्रथम प्रकार का संशय होता है। द्वितीय पद से असाधारण धर्म के ज्ञान से जन्य द्वितीय प्रकार का संशय होता है। समान धर्म से तुल्य धर्म या साधारण धर्म यहाँ

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अभिप्रेत है। जैसे स्थाणु (खड़ा हुआ ठूंठ अर्थात् शाखा पल्लव रहित वृक्ष) और खड़ा हुआ पुरुष दोनों का समान धर्म आरोह और परिणाह (लम्बाई, चौड़ाई) बराबर रहने से संशय होता है कि स्थाणु है या पुरुष (स्थाणुर्वा पुरुषो वा)। किसी धर्मी में समान धर्म के ज्ञान से ही समान धर्म की उपपत्ति होती है। वार्त्तिककार उद्योतकर ने बहुत विचार करके समान धर्म पद का विग्रह ''समानो धर्मो यस्य'' किया है और समान धर्मविशिष्ट किसी धर्मी की उपपत्ति से संशय की उत्पत्ति कहा है। किन्तु भाष्यकार की व्याख्या से ज्ञात होता है कि भाष्यकार की दृष्टि में यहाँ कर्मधारय समास मान्य है। भाष्यकार ने प्रथम प्रकार के संशय का उदाहरण दिखाते समय कहा है – ''स्थाणुपुरुषयोः समानं धर्ममारोह परिणाहौ पश्यन्'' आदि। सन्ध्याकाल में किसी को दूर से पुरुष की तरह स्थिर रूप से खड़ा किसी स्थाणु के साथ या किसी पुरुष के साथ चक्षुष् इन्द्रिय का सन्निकर्ष होने पर वह व्यक्ति यदि उसमें स्थाणु के किसी विशेष धर्म या पुरुष के किसी विशेष धर्म को न देखकर उसमें स्थाणु तथा पुरुष के समान धर्म लम्बाई-चौड़ाई देखता है तो उस खड़े हुए स्थाणु में संशय होता है कि यह स्थाणु है या पुरुष। यहाँ इसमें साधारण धर्म का दर्शन ही इस प्रकार के संशय का विशेष कारण होता है। यह विशेषापेक्षा संशय मात्र में आवश्यक है। महर्षि ने संशय मात्र को विशेषापेक्ष कहा है। तात्पर्यटीकाकार वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि भाष्यकार ''विशेषं बुभुत्समानः'' कहकर सूत्रोक्त विशेषापेक्ष पद की व्याख्या करते हैं। किन्तु अपेक्षा पद का अर्थ इच्छा करने पर उससे ज्ञान की इच्छा मानने पर भी उस इच्छा को संशय का कारण नहीं कहा जा सकता क्योंकि संशय के बाद ही ऐसे विशेष निश्चय की इच्छा उत्पन्न होती है। इसीलिए भाष्यकार ने उक्त विशेषापेक्षा का फलितार्थ स्पष्ट करने हेतु कहा है – ''समानमनयोर्धर्ममुपलभे'' इत्यादि। भाष्यकार का तात्पर्य यह है कि सूत्र में विशेषापेक्ष पद से महर्षि का कहना है कि संशय के पहले किसी एक पदार्थ के विशेष धर्म की उपलब्धि नहीं रहे किन्तु उसके उस विशेषधर्म के स्मरण का रहना आवश्यक है। भाष्यकार ने विशेषापेक्षः पद का ही फलितार्थ कहा है – ''विशेषस्मृत्यपेक्षः''। इसका अभिप्राय पश्चात् स्पष्ट होगा।

''अनेकधर्मोपपत्तेः'' इस द्वितीय पद का उल्लेख करके इसकी व्याख्या में भाष्यकार ने पहले अनेक पद का अर्थ कहा है – सजातीय और विजातीय पदार्थ। भाष्यकार की दृष्टि में ''अनेकस्य धर्मः'' इस तरह के विग्रह में अनेक धर्म से सजातीय और विजातीय पदार्थ का व्यावर्त्तक धर्म विवक्षित है। वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि सूत्रोक्त अनेक शब्द की लक्षणा से सजातीय और विजातीय पदार्थ का विशेषक (व्यावर्त्तक) अर्थ होता है तथा भाष्यकार के उक्त अनेकस्य पद में षष्ठी विभक्ति के द्वारा विशेषकत्व रूप सम्बन्ध समझना चाहिए। सारांश यह हुआ कि सजातीय तथा विजातीय पदार्थों का व्यावर्त्तक

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

धर्म ही यहाँ अनेक धर्म से अभिप्रेत है। अतः ज्ञात होता है कि असाधारण धर्म का ज्ञान या उपपत्ति ही सूत्रगत अनेक धर्मोपपत्ति से विवक्षित है। क्योंकि पदार्थ का असाधारण धर्म ही उसको अपने सजातीय और विजातीय पदार्थ समूह से अलग करता है और उन सभी पदार्थों से भिन्न सिद्ध करता है। भाष्यकार ने इसका उदाहरण दिखाते हुए कहा है कि गन्धवत्त्व पृथिवी का असाधारण धर्म है क्योंकि वह अन्य किसी पदार्थ में नहीं रहता। अतः वह द्रव्यत्व रूप से पृथिवी के सजातीय जलादि द्रव्य से एवं विजातीय गुण तथा कर्म पदार्थ से पृथिवी को विशिष्ट (अलग) करता है। पृथिवी नामक द्रव्यमात्र में गन्धवत्त्व के कारण पृथिवीत्व रूप विशेष धर्म के पहले निश्चय होने पर उसमें असाधारण के ज्ञान से संशय नहीं हो सकता तब कहाँ और कैसे यह द्वितीय प्रकार का संशय होगा – यह कहना आवश्यक है। भाष्यकार ने इसी को "अस्ति च शब्दे विभागजत्वं विशेषः" इत्यादि पंक्ति में कहा है।

भाष्यकार का तात्पर्य यह है कि किसी बाँसखण्ड के अग्रभाग को विदीर्ण करके दोनों हाथों से उसको खींचने पर जो शब्द उत्पन्न होता है, वह उस बाँस के खण्ड के दो भागों का विभाग एवं उन दोनों अंशों के साथ आकाश का जो विभाग होता है उससे जन्य होता है। यहाँ जो शब्द उत्पन्न होता है उसके प्रति आकाश के साथ उपर्युक्त विभाग असमवायिकरण होता है। इसी तरह किसी वस्त्रखण्ड को दो हाथों से फाड़ते समय जो शब्द उत्पन्न होता है, वह भी इस प्रकार विभागजन्य पदार्थ होता है। अभिप्राय यह है कि विभाग जिसका असमवायिकरण होता है वही भाष्योक्त विभागजन्य पदार्थ है। इस तरह का विभागजन्यत्व शब्द से भिन्न किसी पदार्थ में नहीं रहता। अतः वह शब्द का असाधारण धर्म माना जाता है। यहाँ आपत्ति हो सकती है कि विभागजन्य जो विभाग होता है उस स्थल में द्वितीय विभाग का असमवायिकरण प्रथम विभाग होता है। अतः विभाग में भी विभागजत्व के रहने से शब्द का असाधारण धर्म वह कैसे होगा? इसके समाधान में उद्योतकर ने कहा है कि विभागज विभाग सर्वसम्मत नहीं है। सर्वत्र पूर्वजात क्रिया ही विभाग का कारण होती है। यदि वैशेषिक मत के अनुसार विभागजन्य विभाग मान्य हो तो उस विभागजन्य द्वितीय विभाग अन्य किसी विभाग का असमवायिकरण न होकर केवल उपर्युक्त शब्द का ही असमवायिकरण होता है। अर्थात् विभागजन्य विभागनिष्ठजनकता निरूपितजन्यतारूप धर्म के शब्द से भिन्न किसी पदार्थ में नहीं रहने के कारण वह केवल शब्द का ही असाधारण धर्म होता है। इसी अभिप्राय से भाष्यकार ने विभागजन्यत्व को शब्द का असाधारण धर्म कहा है। इसी अर्थ में विभागजन्य जो द्वितीय विभाग तज्जन्यत्व को यहाँ विभागजन्यत्व कहा गया है। ऐसा मानने पर वैशेषिक मत में भी भाष्यकार का कथन संगत हो जाता है। प्रकृत में

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

कहना यह है कि शब्द में विभागजन्यत्वरूप असाधारण धर्म के ज्ञान की जन्यता रहने से क्या शब्द द्रव्य है अथवा गुण अथवा कर्म – इस प्रकार का संशय होता है। क्योंकि गुण पदार्थों में जैसे रूपादि गुण विभागजन्य नहीं होते, केवल शब्द विभागजन्य होता है; इसी प्रकार द्रव्य पदार्थ तथा कर्म पदार्थों में अन्यान्य द्रव्य तथा कर्म यद्यपि विभागजन्य नहीं होते तथापि शब्दरूप द्रव्य या कर्म विभागजन्य हो सकता है। अतः विभागजन्यत्वरूप असाधारण धर्म शब्द को सजातीय और विजातीय पदार्थों से व्यावृत्त कर सकता है। क्योंकि विभागजन्यत्व शब्द से भिन्न किसी पदार्थ में नहीं रहता। भाष्यकार ने पञ्चम सूत्र के भाष्य में शेषवत् अनुमान का उदाहरण प्रदर्शन करते हुए शब्द में उक्त प्रकार का संशय उठाकर परिशेषानुमान के द्वारा शब्द में गुणत्व की सिद्धि की है। शब्द में विभागजन्यत्व रूप असाधारण धर्म का ज्ञान होने पर तज्जन्य शब्द में उक्त रूप संशय होता है – यही भाष्यकार का वक्तव्य है। महर्षि गौतम के द्वितीय प्रकार के संशय का उदाहरण प्रदर्शन ही यहाँ भाष्यकार का उद्देश्य रहा है। इस द्वितीय प्रकार के संशय के और भी उदाहरण हैं।

भाष्य – **विप्रतिपत्तेरिति। व्याहतमेकार्थदर्शनं विप्रतिपत्तिः। व्याघातो विरोधोऽसहभाव इति। अस्त्यात्मेत्येकं दर्शनम् नास्त्यात्मेत्यपरम्। न च सद्भावासद्भावौ सहैकत्र सम्भवतः। न चान्यतरसाधको हेतुरुपलभ्यते, तत्र तत्त्वानवधारणं संशय इति।**

उपलब्ध्यव्यवस्थातः खल्वपि – सच्चोदकमुपलभ्यते तडागादिषु मरीचिषु चाविद्यमानमुदकमिति। अतः क्वचिदुपलभ्यमाने तत्त्वव्यवस्थापकस्य प्रमाणस्यानुपलब्धेः किं सदुपलभ्यते, अथासदिति संशयो भवति।

अनुपलब्ध्यव्यवस्थातः खल्वपि, सच्च नोपलभ्यते मूलकीलकोदकादि, असच्चानुत्पन्नं निरुद्धं वा, ततः क्वचिदनुपलभ्यमाने किं सन्नोपलभ्यते उतासदिति संशयो भवति। विशेषापेक्षा पूर्ववत्। पूर्वः समानोऽनेकश्च धर्मो ज्ञेयस्थ उपलब्ध्यनुपलब्धी पुनर्ज्ञातृस्थे एतावता विशेषेण पुनर्वचनम्। समानधर्माधिगमात् समानधर्मोपपत्तेर्विशेषस्मृत्यपेक्षो विमर्श इति।

अनुवाद – "विप्रतिपत्तेः" सूत्रोक्त द्वितीय पद की व्याख्या का अवसर उपस्थित है। व्याघात विशिष्ट एकार्थदर्शन – एक पदार्थ में परस्पर विरुद्ध पदार्थों का बोधकवाक्य कहलाता है विप्रतिपत्ति। व्याघात का अर्थ होता है विरोध, असहभाव अर्थात् दो पदार्थों का सहानवस्थान रूप विरोध, यही है विप्रतिपत्ति। जैसे अस्ति आत्मा – यह एक दर्शन है वैसे ही नास्ति आत्मा – यह अपर दर्शन है। किन्तु एक आधार में किसी विषय का

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection.

सद्भाव और असद्भाव अर्थात् अस्तित्व और नास्तित्व का रहना सम्भव नहीं है। इनमें से किसी पक्ष में साधक हेतु भी उपलब्ध नहीं है। इसी स्थल में (अर्थात् जहाँ आत्मा का अस्तित्व और नास्तित्व रूप एकतरपक्ष का निश्चय नहीं होता) मध्यस्थ व्यक्ति को तत्त्व का अनवधारण रूप संशय होता है।

उपलब्धि की अव्यवस्था से संशय होता है। जैसे तड़ाग आदि में विद्यमान जल उपलब्ध होता है किन्तु मरीचिका में अविद्यमान जल भी उपलब्ध होता है। अतएव किसी वस्तु के रहने पर तत्त्व के व्यवस्थापक अर्थात् उस विषय के सत्त्व अथवा असत्त्व रूप तत्त्व के निश्चायक प्रमाण की अनुपलब्धि से क्या सत् अर्थात् इस स्थान में विद्यमान वस्तु उपलब्ध होता है? अथवा असत् अर्थात् अविद्यमान वस्तु उपलब्ध होता है – इस प्रकार का संशय होता है।

अनुपलब्धि की अव्यवस्था से संशय होता है। जैसे सत् अर्थात् भूगर्भ में विद्यमान मूल कीलक और जलादि उपलब्ध नहीं होता और असत् (अर्थात्) अनुत्पन्न अथवा निरुद्ध (विनष्ट) वस्तु भी उपलब्ध नहीं होती। अतएव किसी वस्तु के विद्यमान नहीं रहने पर क्या विद्यमान वस्तु उपलब्ध नहीं होती अथवा अविद्यमान वस्तु उपलब्ध नहीं होती – इस प्रकार का संशय होता है। विशेषापेक्षा अर्थात् विशेष धर्म की अनुपलब्धि पहले की तरह यहाँ भी संशय में आवश्यक है।

पहले कथित समानधर्म और अनेकधर्म ज्ञेय विषयों में रहते हैं और उपलब्धि तथा अनुपलब्धि ज्ञातृ विषय के अर्थात् ज्ञाता आत्मा के धर्म होते हैं – इस विशेष को समझाने के लिए पुनरुक्ति हुई है। (अर्थात् उपलब्धि की अव्यवस्था और अनुपलब्धि की अव्यवस्था के स्थलों में प्रथमोक्त साधारण धर्म अथवा असाधारण धर्म के ज्ञान से उत्पन्न संशय के सम्भव होने पर भी उसका विशेष ग्रहण करके महर्षि ने उपलब्धि की अव्यवस्था और अनुपलब्धि की अव्यवस्था को यथाक्रम चतुर्थ और पञ्चम प्रकार के संशय का विशेष कारण कहा है।) समान धर्म के ज्ञानरूप सामान्य धर्मोपपत्ति से जन्य विशेष स्मरण सापेक्ष अर्थात् जिसके अव्यवहित पहले विशेष धर्म की उपलब्धि नहीं होती किन्तु संशय के विषयीभूत उस विशेष धर्म का स्मरण आवश्यक होता है, ऐसा विमर्श (संशय) उत्पन्न होता है।

टिप्पणी – इस सूत्र के द्वितीय पद ''विप्रतिपत्तेः'' से संशय के तृतीय प्रकार और ''उपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातः'' पद से इसके चतुर्थ एवं पञ्चम प्रकार सूचित होते हैं। ''विप्रतिपत्तेः'' पद की व्याख्या में भाष्यकार ने कहा है ''व्याहतमेकार्थदर्शनं विप्रतिपत्तिः''। सरल रूप से इस पंक्ति से यही ज्ञात होता है कि एक पदार्थ में विरुद्ध का

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

दर्शन अर्थात् अनेक विरुद्ध धर्मों का निश्चय ही विप्रतिपत्ति पद से अभिप्रेत है। वस्तुतः विरुद्धा प्रतिपत्तिः (निश्चयः) इस व्युत्पत्ति के आधार पर विप्रतिपत्ति पद का मुख्य अर्थ होता है विरुद्ध निश्चय – किसी एक पदार्थ में भिन्न-भिन्न वादियों के नाना विरुद्ध पदार्थों का निश्चय। जैसे किसी वादी का निश्चय है कि आत्मा नित्य नहीं है। इसी प्रकार आत्मा का अस्तित्व और नास्तित्व भी परस्पर विरुद्ध धर्म होते हैं। अतः एक अधिकरण में दो विरुद्ध धर्मों का रहना सम्भव नहीं है। इसी तरह आत्मा में अन्य अनेक विशेष धर्मों के प्रसंग में भिन्न-भिन्न वादियों की विप्रतिपत्ति देखी जाती है। शारीरकभाष्य (१.१.१) में शंकर भगवत्पाद ने कहा है – ''तद्विशेषं प्रति विप्रतिपत्तेः'' इत्यादि। किन्तु आत्मा के प्रसंग में वादी तथा प्रतिवादी के विरुद्धार्थ निश्चय रूप विप्रतिपत्ति मध्यस्थ के संशय का कारण नहीं हो सकती। तात्पर्यटीकाकार वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि वादी तथा प्रतिवादी के उक्त विरुद्ध निश्चयात्मक विप्रतिपत्ति रहने के कारण उनके द्वारा प्रयुक्त वाक्य ही इस विप्रतिपत्ति शब्द से लक्षित होता है। भाष्यकार ने भी आग २.१.६ सूत्र के भाष्य में इस बात को कहा है – ''समानेऽधिकरणे व्याहतार्थौ प्रवादौ विप्रतिपतिशब्दस्यार्थः''। किसी एक अधिकरण में वादी और प्रतिवादी के विरुद्ध अर्थ के प्रतिपादक वाक्य युगल ही इस सूत्र में विप्रतिपत्ति शब्द का अर्थ होता है। यहाँ अवधेय है कि भाष्यकार ने वाक्य अर्थ में ही दर्शन पद का प्रयोग किया है। ''दृश्यते ज्ञायतेऽनेन'' इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्राचीनकाल में वाक्यात्मक शास्त्रविशेष के अर्थ में दर्शन पद का प्रयोग होता रहा है। महाभारत के शांतिपर्व (अ. ३००, बंगवासी संस्करण) में वचन है – ''एतदाहुर्महाप्राज्ञाः सांख्यं वै मोक्षदर्शनम्'' और ''यदेव शास्त्रं सांख्योक्तं योगदर्शनमेव तत्'' (अ. ३०१) इन दोनों पद्यों में शास्त्रविशेष अर्थ में दर्शन का प्रयोग हुआ है। भाष्यकार वात्स्यायन ने आगे (४.२.४९ सूत्र के भाष्य में) कहा है – ''अन्योन्यप्रत्यनीकानि प्रावादुकानां दर्शनानि''। प्रशस्तपाद ने कहा है – ''त्रयीदर्शनविपरीतेषु शाक्यादिदर्शनेषु'' (पृ. १८८)। इस सम्बन्ध में और बातें तृतीयखण्ड, बंग संस्करण (पृ. १८३) में द्रष्टव्य है।

परवर्ती नैयायिक उक्तरूप विरुद्ध अर्थों के प्रतिपादक एक वाक्य को ''विप्रतिपत्तिवाक्य'' कहते हैं। जैसे शब्द नित्य है या अनित्य – इस विचार के अवसर पर ''शब्दो नित्यो न वा'' इस प्रकार का वाक्य विप्रतिपत्तिवाक्य कहलाता है। इस प्रकार के वाक्य के श्रवण से शब्द नित्य है या अनित्य इस प्रकार का संशयात्मक शाब्दबोध नहीं होता क्योंकि एक शब्द में नित्यत्व और अनित्यत्व रूप दो विरुद्ध धर्मों की सत्ता के नहीं रहने से योग्यता का ज्ञान यहाँ सम्भव नहीं है। अतः उक्त रूप शाब्दबोध की सामग्री सम्भव ही नहीं है। किन्तु इस प्रकार के अयोग्य शब्द के श्रवण से शब्दरूप धर्मी और नित्यत्व एवं अनित्यत्व रूप कोटिद्वय का स्मरण होने से मन में संशय होता है कि

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection.

शब्द नित्य है या अनित्य। फलितार्थ यह हुआ कि बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के संशय ही सर्वत्र प्रत्यक्षात्मक संशय के रूप में मान्य होते हैं। क्योंकि परोक्षज्ञान कभी भी संशयात्मक नहीं होता। इस मत के अनुसार वृत्तिकार विश्वनाथ ने यहाँ कहा है – ''यद्यपि शब्दस्य न संशायकत्वम् तथापि शब्दात् कोटिद्वयोपस्थितौ मानसः संशय इति वदन्ति''। विश्वनाथ भट्टाचार्य ने सिद्धान्तमुक्तावली में संशय के कारण की व्याख्या करते समय इस मत का ग्रहण किया है। इस मत में विप्रतिपत्तिवाक्य के श्रवण से शाब्द संशय नहीं होता किन्तु किसी साधारण या असाधारण धर्म के ज्ञान से इस कोटिद्वय के विषय में मानस संशय उत्पन्न होता है। इसमें वह विप्रतिपत्ति वाक्य उस विपरीत कोटिद्वय का स्मारक होने से प्रयोजक होता है। अतः सूत्र में ''विप्रतिपत्तेः'' पद में पञ्चमी विभक्ति का अर्थ होता है प्रयुक्तत्व। किन्तु रघुनाथ शिरोमणि ने ज्ञायमान विप्रतिपत्ति वाक्य से शाब्द संशय का समर्थन करते हुए कहा है कि यह महर्षि गौतम को भी सम्मत है। अन्यथा सूत्र में तृतीय प्रकार के संशय के कारण के रूप में ''विप्रतिपत्तेः'' कहना संगत नहीं होगा। अतः विप्रतिपत्ति वाक्य के अन्तर्गत पद समूह का ज्ञान, उन समस्त पदार्थों का ज्ञान तथा संशयात्मक योग्यता ज्ञान आदि कारणों से जन्य उस विप्रतिपत्ति वाक्य से संशयात्मक शाब्दबोध होता है[११४]।

भाष्यकार के मत में वादी और प्रतिवादी के वाक्ययुगल ही विप्रतिपत्ति शब्द का अर्थ होता है। कणाद सूत्र के उपस्कार (२.२.१८) में नव्यवैशेषिक शंकर मिश्र ने इसका समर्थन करते हुए कहा है – ''विप्रतिपत्तिरपि विरुद्धप्रतिपत्तिद्वयजन्यं वाक्यद्वयम्''। जो भी हो, जहाँ एकतरपक्ष का निश्चय नहीं है वहाँ नानाविरुद्ध मतवादियों के विप्रतिपत्तिवाक्य जिस किसी भी प्रकार से संशय का प्रयोजक होता ही है और उस संशय से प्रकृत तत्त्व की जिज्ञासा होने पर उसके (जिज्ञासा के) फलस्वरूप विचार का आरम्भ होता है। यह प्राचीनों का सिद्धान्त है। संशय के बिना विचार का आरम्भ नहीं होता, इसका समर्थन तो उद्योतकर आदि ने भी किया है। भामती में वाचस्पति मिश्र ने शंकरभगवत्पाद के अभिप्राय की व्याख्या करते हुए कहा है – ''तदनेन विप्रतिपत्तिः साधकबाधकप्रमाणाभावे संशयबीजमुक्तम्, ततश्च संशयाज्जिज्ञासोपपद्यते इति भावः'' (भामती १.१.१)। अर्थात् वेदान्त दर्शन के प्रथम सूत्रोक्त ब्रह्मजिज्ञासा का कारण भी संशय होता है और

---

[११४] ''पदजन्यधर्मिकोटिद्वयतदुभयविरोधज्ञानसंशयात्मकयोग्यताज्ञानसहितात् शब्दादाहत्यैव संशयः। समानानेकेत्यादि सूत्रं प्रणयतो महर्षेरपि सम्मतमिदम्'' – शिरोमणिकृत पदार्थतत्त्वनिरूपण (काशी संस्करण, पृ. ६७-७०)। टीकाकार रामभद्र सार्वभौम तथा रघुदेव न्यायालंकार ने यहाँ दोनों मतों की युक्तियों की व्याख्या की है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

इस संशय का बीज है नाना प्रकार के विप्रतिपत्तिवाक्य। विप्रतिपत्तिवाक्य कैसे विचार का अंग होता है – इस विषय में बहुत सूक्ष्म विचार किया गया है। इस विषय में अद्वैत-सिद्धि के आरम्भ में किया गया मधुसूदन सरस्वती का चिन्तन और सिद्धान्त इस ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड, बंग संस्करण, के पृ. ४ में द्रष्टव्य है।

पश्चात् भाष्यकार ने उपलब्धि की अव्यवस्था से चतुर्थ प्रकार के संशय की एवं अनुपलब्धि की अव्यवस्था से पञ्चम प्रकार के संशय की व्याख्या की है और कहा है - ''उपलब्ध्यव्यवस्थातः खल्वपि''[११५]।

उपलब्धि पद से प्रत्यक्षात्मक उपलब्धि ही यहाँ अभिप्रेत है और अनुपलब्धि से उसका अभाव। सूत्र में उपलब्धि और अनुपलब्धि पद में द्वन्द्व समास करके पश्चात् उसमें अव्यवस्था शब्द का योग हुआ है। अतः दोनों के साथ अव्यवस्था का सम्बन्ध रहने से उपलब्धि की अव्यवस्था और अनुपलब्धि की अव्यवस्था समझनी चाहिए। व्यवस्था का अर्थ होता है नियम अतः अव्यवस्था का अर्थ होगा अनियम। विद्यमान पदार्थ की ही अथवा अविद्यमान पदार्थ की ही उपलब्धि या अनुपलब्धि होती है – ऐसा कोई नियम नहीं है। क्योंकि जिस विद्यमान पदार्थ का प्रत्यक्ष होता है इसी प्रकार से अनेक स्थलों में अविद्यमान पदार्थ का भी भ्रमात्मक प्रत्यक्ष होता है। जिस प्रकार भूगर्भ आदि स्थान में विद्यमान मूल, कीलक तथा जल आदि दृश्य द्रव्य का प्रत्यक्ष नहीं होता, उसी प्रकार जो अविद्यमान, अनुत्पन्न तथा विनष्ट हो गया है ऐसे पदार्थों का भी प्रत्यक्ष नहीं होता। अतः जो इस अव्यवस्था को जानते हैं उनको किसी स्थान में किसी पदार्थ का प्रत्यक्ष होने पर उसमें यदि विद्यमानत्व या अविद्यमानत्व रूप एक विशेष धर्म का निश्चय नहीं होता तो उनके मत से संशय होता है कि क्या मैं विद्यमान पदार्थ की उपलब्धि करता हूँ या अविद्यमान पदार्थ की? इस प्रकार किसी प्रदार्थ के प्रत्यक्ष नहीं होने पर उनको संशय होता है कि विद्यमान पदार्थ का प्रत्यक्ष नहीं करता हूँ अथवा अविद्यमान पदार्थ का

---

११५ भाष्य में पश्चात् ''अनुपलब्ध्यव्यवस्थातः'' इस तरह का पाठ सभी पुस्तकों में देखा जाता है। किन्तु भाष्यकार ने पहले समुच्चयार्थक ''खल्वपि'' कहा है, अतः बाद में भी वह कहना होगा। उदाहरण के प्रकाशनार्थ ''खल्वपि'' कहने से उक्त स्थल में बाद में भी वह अवश्य कहना होगा। वस्तुतः ''खल्वपि'' पद निपात हैं और उसका अर्थ होता है उदाहरण का प्रदर्शन। प्राचीन काल में इस अर्थ में इस पद का बहुत प्रयोग हुआ है। जैसे कुसुमाञ्जलि के प्रथम स्तबक में उदयनाचार्य ने कहा है – आयोजनात् खल्वपि। यहाँ प्रकाश टीकाकार वर्धमान उपाध्याय ने लिखा है – ''खल्वपीति निपातसमुदायः, उदाह्रियते इत्यर्थे वर्तते न समुच्चयार्थः''।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

प्रत्यक्ष नहीं करता हूँ? यहाँ यथाक्रम अव्यवस्था युगल का निश्चयात्मक ज्ञान उक्त दोनों प्रकार के संशय का विशेष कारण होता है जो सूत्र में उक्त दोनों अव्यवस्थाएं और दोनों प्रकार के संशयों के प्रयोजक रूप कहे गए हैं। किन्तु उपर्युक्त दोनों स्थलों में सद्विषयक तथा असद्विषयक ज्ञान के ज्ञानत्व आदि किसी समानधर्म व साधारणधर्म के मानस ज्ञान से मानस संशय होगा ही और तब विचारणीय है कि पुनः महर्षि ने पृथक् रूप से उक्त दोनों संशय के विशेष कारणों को क्यों कहा है? इस प्रकार का प्रश्न उठने पर भाष्यकार ने अंत में कहा है कि सूत्रोक्त समानधर्म तथा अनेकधर्म ज्ञेय विषयों के धर्म होते हैं और उपलब्धि तथा अनुपलब्धि ज्ञाता (आत्मा) के धर्म होते हैं – केवल इतना ही विशेष समझाने के लिए यहाँ महर्षि ने पुनरुक्ति की है। भाष्यकार ने कहा है कि ''समानधर्माधिगमात्'' इत्यादि सन्दर्भ से समानधर्म के ज्ञानरूप समानधर्मोपपत्ति से संशय होता है। किन्तु उपर्युक्त विशेष को समझाने के लिए महर्षि ने चतुर्थ और पञ्चम प्रकार के संशय को कहा है – यही भाष्यकार का तात्पर्य ज्ञात है।

वार्त्तिककार उद्योतकर ने बहुत विचार करके भाष्यकार की व्याख्या का प्रतिवाद किया है। समानधर्म विशिष्ट धर्मी के ज्ञान से, अनेकधर्म या असाधारणधर्म विशिष्ट धर्मी के ज्ञान से तथा विप्रतिपत्तिवाक्यजन्य ज्ञान से संशय होता है। अतः संशय तीन ही प्रकार का होता है पाँच प्रकार का नहीं। किन्तु इन तीन प्रकारों के संशय के सामान्य कारण के रूप महर्षि ने बाद में उपलब्धि की अव्यवस्था का अर्थात् एकतर कोटिक साधक प्रमाण के अभाव का तथा अनुपलब्धि की अव्यवस्था का अर्थात् बाधक प्रमाण के अभाव का उल्लेख किया है। क्योंकि एकतर कोटि के साधक प्रमाण या बाधक प्रमाण के रहने पर उस विषय में संशय नहीं होता अतः साधक प्रमाण तथा बाधक प्रमाण का अभाव रहने पर तीन प्रकार के विशेष कारणों से तीन प्रकार के संशय उत्पन्न होते हैं – यही सूत्र का अर्थ है। तार्किकरक्षाकार वरदराज ने इस मत को मानकर इसी अर्थ में सूत्र के अर्थ की व्याख्या की है[११६]। उद्योतकर ने पश्चात् वैशेषिकदर्शन के – ''सामान्य-प्रत्यक्षाद् विशेषाप्रत्यक्षाद् विशेषस्मृतेश्च संशयः'' (२.२.१७) सूत्र की व्याख्या अपने मत के अनुसार करके गौतम के असाधारण धर्मज्ञानजन्य संशय के द्वितीय प्रकार को कणाद का सम्मत सिद्ध किया है। पश्चात् नवीन वैशेषिक विवृतिकार ने उस कणाद सूत्र में च शब्द से गौतम के कथित असाधारण धर्मज्ञान एवं विप्रतिपत्ति को लेकर कणाद के

---

[११६] अत्र उपलब्ध्यानुपलब्धिशब्दाभ्यां साधकबाधकप्रमाणयोर्ग्रहणं, तयोरव्यवस्था अभावः, तस्मिन् सति विशेषस्मरणापेक्षः समानानेकधर्मविप्रतिपत्तिभ्यः संशयो भवतीति सूत्रार्थः। – तार्किकरक्षा।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

मत में संशय के त्रैविध्य का प्रतिपादन किया है।

किन्तु वैशेषिक मत में संशय का त्रैविध्य समझ में नहीं आता क्योंकि प्राचीन वैशेषिक आचार्य प्रशस्तपाद ने ऐसा नहीं कहा है। इन्होंने संशय से भिन्न अनध्यवसाय नामक ज्ञान के एक प्रकार को माना है जो असाधारण धर्म के ज्ञान से (यह अनध्यवसाय) उत्पन्न होता है, संशय उत्पन्न नहीं होता। न्यायकन्दली (पृ.१८३) में श्रीधर भट्ट ने विशेष विचार करके इस अनध्यवसाय का संशय से भिन्न रूप में समर्थन किया है। सप्तपदार्थी में शिवादित्य मिश्र ने यद्यपि इसका उल्लेख नहीं किया है और कणाद के किसी सूत्र में यह उपलब्ध भी नहीं होता है तथापि यह अनध्यवसाय वैशेषिक सम्प्रदाय के प्राचीन सिद्धान्त के रूप में मान्य है। अतएव कणाद सूत्र की उपस्कार टीका में सम्प्रदाय के ज्ञाता महामनीषी शंकर मिश्र ने स्पष्ट कहा है कि समानतन्त्र गौतम के न्यायदर्शन में अनध्यवसाय पृथक् ज्ञान के रूप में स्वीकृत नहीं है तथापि गौतम के मत में यह अनध्यवसाय ही असाधारण धर्मज्ञानजन्य संशय विशेष के रूप में मान्य है। कणाद के उपर्युक्त सूत्र से ज्ञात होता है कि वैशेषिक सम्प्रदाय साधारण धर्म के ज्ञान से ही संशय की उत्पत्ति मानता है। विशेष धर्म का अप्रत्यक्ष और विशेष धर्म का स्मरण भी यहाँ कारण होते हैं। शंकर मिश्र ने उपस्कार में विचार करके कहा है कि संशय एक ही प्रकार का होता है न तो तीन प्रकार का और न ही पाँच प्रकार का – "तथा च संशयो न त्रिविधो न पञ्चविधः किन्तु एकविध एव"।

गौतम के मत में संशय के पाँच प्रकार यद्यपि उद्योतकर आदि ने नहीं माने तथापि ये न्याय के प्राचीन सिद्धान्त के रूप में मान्य हैं। क्योंकि महर्षि गौतम द्वारा पश्चात् द्वितीय अध्याय के प्रारम्भ में संशय के परीक्षा प्रकरण में संशय के पाँच कारणों की जैसी परीक्षा की गई है उससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि इन्होंने पाँच प्रकार के विशेष कारणों से उत्पन्न पाँच प्रकार के संशय को माना है। इसी आधार पर भासर्वज्ञ ने न्यायसार के प्रथम भाग में संशय की पञ्चविधता कही है। यहाँ टीकाकार जयसिंह सूरि ने भी भाष्यकार के अंतिम कथन के अनुसार इसका समर्थन किया है। यहाँ अपने पूर्ववर्ती व्याख्याकार भूषणकार की बात भी इन्होंने कही है[११७]। न्यायसार की अट्ठारह टीकाओं में भूषण ही प्रधानतम है।

---

११७ भूषणकारस्तु ये उपलब्धिमात्रेण शब्दे स्थायित्वमनुपलब्धिमात्रेण स्वर्गेश्वरादीनामसत्त्वञ्चेच्छन्ति, तन्मतप्रतिक्षेपार्थमुपलब्ध्यनुपलब्ध्योः पृथक् संशयहेतुत्वमित्यूचिवान्।
– न्यायसारटीका, सोसाइटी संस्करण, पृ. ६४।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

पश्चात् किसी सम्प्रदाय ने महर्षि के इस सूत्र में प्रयुक्त च शब्द से अनुक्त का समुच्चय अर्थ करके व्याख्या की है कि किसी स्थल में व्याप्य पदार्थ में संशय होने पर उससे उसके व्यापक पदार्थ में संशय होता है – यही च शब्द से सूचित होता है। जैसे कहीं धूम का संशय होने पर उससे उसके व्यापक वह्नि का संशय होता है। तत्त्वचिन्तामणि के उपाधि विभाग की दीधिति में रघुनाथशिरोमणि ने इस व्याख्या का समर्थन किया है। महर्षि गौतम के इस सूत्र की व्याख्या में प्राचीनकाल में बहुत विचार एवं बहुत मतभेद देखा जाता है। उद्योतकर ने अनेक मतों का विचार एवं खण्डन किया है। संक्षेप में उसको नहीं कहा जा सकता। उद्योतकर ने भाष्यकार की व्याख्या के खण्डन में भी बहुत बातें कही हैं। इनके कथन की संक्षिप्त आलोचना, भाष्यकार के पक्ष में वक्तव्य तथा संशय पदार्थ के सम्बन्ध में और बहुत सी बातें द्वितीय खण्ड (बंग संस्करण) के प्रथम भाग में द्रष्टव्य हैं। (१.१.२३)

प्रयोजन का लक्षण प्रकरण

भाष्य – स्थानवतां लक्षणमिति समानम् –

अनुवाद – क्रम विशिष्ट पदार्थ वर्ग का लक्षण करना है – यह तो यहाँ भी समान है। (अर्थात् जैसे द्वितीय पदार्थ प्रमेय के सभी विशेष लक्षणों के बाद पूर्व सूत्र में क्रम से प्राप्त तृतीय पदार्थ संशय का लक्षण कहा गया है इसी प्रकार यहाँ चतुर्थ पदार्थ ''प्रयोजन'' का लक्षण और पश्चात् उद्देश क्रम के अनुसार दृष्टान्त आदि बारह पदार्थों का लक्षण कर्त्तव्य होगा – यह समझना चाहिए।)

सूत्र – यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते तत् प्रयोजनम्। १.१.२४।

अनुवाद – जिस प्रदार्थ के विषय में ग्राह्य या त्याज्य रूप में निश्चय करके जीव प्रवृत्त होता है उसे प्रयोजन कहते हैं।

भाष्य – यमर्थमाप्तव्यं हातव्यं वा व्यवसाय तदाप्तिहानोपायमनुतिष्ठति, प्रयोजनं तद् वेदितव्यम्। प्रवृत्तिहेतुत्वादिमर्थमाप्स्यामि हास्यामि वेति व्यवसायोऽर्थ स्याधिकारः। एवं व्यवसीयमानोऽर्थोऽधिक्रियत इति।

अनुवाद – जिस पदार्थ के विषय में ग्राह्य या त्याज्य का निश्चय करके जीव उस पदार्थ की प्राप्ति या त्याग के उपाय में प्रवृत्त होता है उसे प्रयोजन समझना चाहिए। प्रवृत्ति के जिस कारण से पदार्थ को प्राप्त करना है या त्याग करना है – इस व्यवसवाय का निश्चय करना ही पदार्थ का अधिकार होता है। इस रूप (पूर्वोक्त रूप) में निश्चीयमान पदार्थ अधिकृत होता है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

टिप्पणी – संशय की तरह प्रयोजन भी न्याय का पूर्वांग कहलाता है। क्योंकि प्रयोजन के बिना विचार के द्वारा तत्त्व की परीक्षा नहीं हो सकती। उद्योतकर ने इसके समर्थन में कहा है – ''या खलु निष्प्रयोजना चिन्ता सा न न्यायाङ्गमिति, परीक्षाविधेस्तु प्रधानाङ्गं प्रयोजनमेव, तन्मूलत्वात् परीक्षाविधेः''। भाष्यकार ने भी प्रथम सूत्र की व्याख्या में इस बात का समर्थन करते हुए विचारपूर्वक सिद्ध किया है कि वितण्डा भी प्रयोजनवती होती है। यह प्रयोजन दो प्रकार का होता है – गौण और मुख्य। जिस विषय में जीव की स्वतः इच्छा होती है, उसको मुख्य प्रयोजन या स्वतःप्रयोजन कहते हैं। जैसे सुख और दुःख की निवृत्ति के विषय में जीव की स्वतःइच्छा होती है। यह इच्छा किसी अन्य विषय की इच्छा से प्रेरित होकर नहीं होती, इसलिए सुख और दुःख की निवृत्ति जीव का मुख्य प्रयोजन होता है। किन्तु इस सुख और दुःख की निवृत्ति के विषय की इच्छा से जो उसके सभी उपायों के विषय में इच्छा होती है, वह होता है गौणप्रयोजन। इन दोनों प्रकार के प्रयोजन की सूचना के लिए महर्षि ने सूत्र में अर्थ पद का प्रयोग करके कहा है – ''यमर्थमधिकृत्य''। भाष्यकार ने इसकी व्याख्या में कहा है – ''यमर्थमाप्तव्यं हातव्यं वा व्यवसाय''। इस पदार्थ को पाना है, इस पदार्थ को छोड़ना है – इस तरह का निश्चय ही अर्थ का अधिकार कहलाता है। सूत्र में अधिकृत्य पद से इष्ट पदार्थ के ग्राह्यत्व और अनिष्ट पदार्थ के त्याज्यत्व का निश्चय ही विवक्षित है। क्योंकि इस निश्चय के बाद समर्थ जीव उस पदार्थ की प्राप्ति या परित्याग का उपाय करता है अर्थात् उस उपाय में प्रवृत्त होता है। जिस पदार्थ के विषय में जीव के ग्राह्यत्व या त्याज्यत्व का निश्चय होता है वह पदार्थ उसके लिए उस रूप में (ग्राह्यत्व या त्याज्यत्व रूप में) अधिकृत होता है। उस पदार्थ के विषय में इच्छा होने पर वह इच्छा उस जीव के कर्म में प्रवृत्ति का प्रयोजक होता है। यही कारण है कि उस पदार्थ को प्रयोजन कहते हैं। ''प्रयुज्यतेऽनेन'' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो पदार्थ जीव की कर्म में प्रवृत्ति का प्रयोजक होता है, वही भाष्यकार के मत में प्रयोजन पदार्थ है। (१.१.२४)

सूत्र – लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः। १.१.२५।

अनुवाद – जिस प्रदार्थ में लौकिक व्यक्ति एवं परीक्षक व्यक्ति की बुद्धि का साम्य (अविरोध) हो उसे दृष्टान्त कहते हैं।

भाष्य – लोकसामान्यमनतीता लौकिकाः, नैसर्गिकं वैनयिकं बुद्ध्यतिशय-मप्राप्ताः। तद् विपरीताः परीक्षकास्तर्केण प्रमाणैरर्थं परीक्षितुमर्हन्तीति। यथा यमर्थं लौकिका बुध्यन्ते तथा परीक्षका अपि, सोऽर्थो दृष्टान्तः। दृष्टान्तविरोधेन हि प्रतिपक्षाः प्रतिषेद्धव्या भवन्तीति। दृष्टान्तसमाधिना च स्वपक्षाः स्थापनीयाः

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

भवन्तीति। अवयवेषु चोदाहरणाय कल्पत इति[११८]।

अनुवाद – जो साधारण लोक की तुल्यता का अतिक्रम नहीं कर पाता, ऐसे व्यक्ति को लौकिक कहते हैं। स्वाभाविक एवं वैनयिक अर्थात् शास्त्र के परिशीलनजन्य बुद्धि प्रकर्ष को जिसने नहीं प्राप्त किया है। इसके विपरीत अर्थात् स्वाभाविक तथा वैनयिक बुद्धिप्रकर्ष को जिसने प्राप्त किया है ऐसे व्यक्ति को परीक्षक कहते हैं। क्योंकि ये (परीक्षक) तर्क तथा प्रमाणों से पञ्चावयव वाक्य के द्वारा (न्याय के द्वारा) पदार्थों की परीक्षा करने में समर्थ होते हैं। किसी पदार्थ को जिस प्रकार से लौकिक व्यक्ति समझते हैं उसी प्रकार से परीक्षक व्यक्ति भी समझते हैं तो वह पदार्थ दृष्टान्त कहलाता है। दृष्टान्त के विरोध से अर्थात् दृष्टान्त की साध्यशून्यता आदि दोष से प्रतिपक्ष का साधन समूह खण्डनीय होता है और दृष्टान्त की समाधि से अर्थात् दृष्टान्त के असत्य दोषारोप के प्रतिषेध से अपने पक्ष की स्थापना की जाती है। यह दृष्टान्त अवयव समूह के मध्य उदाहरण के लिए समर्थ होता है अर्थात् प्रतिज्ञा आदि पाँच अवयवों के अन्तर्गत तृतीय अवयव उदाहरणवाक्य का सम्पादक होता है। (दृष्टान्त पदार्थ के ज्ञात होने पर न्याय प्रयोग में उस दृष्टान्त बोधक को उदाहरणवाक्य कहा जाता है। अतः दृष्टान्त का लक्षण यहाँ वक्तव्य है।)

टिप्पणी – भाष्यकार ने यहाँ सूत्रगत लौकिक शब्द की व्युत्पत्ति दिखाते हुए कहा है कि "लोकसामान्यमनतीता लौकिकाः"। पश्चात् इसका फलितार्थ कहा है – "नैसर्गिकं वैनयिकं बुद्ध्यतिशयमप्राप्ताः" जिसकी स्वाभाविक बुद्धि का प्रकर्ष नहीं है और विनयजन्य (शास्त्र के परिशीलनजन्य) बुद्धि का प्रकर्ष भी नहीं है वही लौकिक कहलाता है। वाचस्पति मिश्र की व्याख्या के अनुसार[११९] ज्ञात होता है कि शास्त्र परिशीलन ही विनय शब्द का

---

[११८] भाष्यकार के तात्पर्य की व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र ने यहाँ लिखा है – "लक्षितश्च दृष्टान्त उदाहरणलक्षणाय कल्पते घटते इति भाष्यम्" यह भाष्य सन्दर्भ नहीं है। किन्तु भाष्यकार ने यहाँ पहले "अवयवेषु" पद का प्रयोग करके शेषोक्त उदाहरण शब्द से अवयव के अन्तर्गत उदाहरणवाक्य का ग्रहण किया है। इससे ज्ञात होता है कि दृष्टान्त पदार्थ तृतीय अवयव उदाहरणवाक्य के अनुकूल होता है। भाष्य में कल्पते पद में सामर्थ्य के वाचक कृप धातु का प्रयोग होने से "उदाहरणाय" पद में अलंशब्दार्थ के योग में चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग हुआ है – जैसे मेघदूत में "कल्पिष्यन्ते स्थिरगणपदप्राप्तये श्रद्धधानाः" (श्लोक ५६)। टीकाकार मल्लिनाथ ने यहाँ व्याख्या में कहा है – "कृपेः पर्याप्तिवचनस्य अलमर्थत्वात् तद्योगे नमः स्वस्तीत्यादिना चतुर्थी। अलमिति पर्याप्त्यर्थग्रहणमिति भाष्यकारः"।

[११९] शास्त्रपरिशीलनलब्धजन्या बुद्ध्यतिशयो वैनयिकः, तद्रहिताः लौकिकाः प्रतिपाद्या इति यावत्। तद्विपरीतास्तदुभयसम्पन्नाश्च परीक्षकाः प्रतिपादकाः इति यावत्। कथाबहुत्वाच्च बहुवचनं, तदनेन वादिप्रतिवादिनौ दर्शितौ। – तात्पर्यटीका।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अर्थ होता है किन्तु परिशुद्धि में उदयनाचार्य ने कहा है – ''विशिष्टो नयः शास्त्रं न्यायशास्त्रं तज्जन्यबुद्धिविरहेण इत्यर्थः'' । वस्तुतः न्यायशास्त्र के परिशीलनजन्य बुद्धि-प्रकर्ष के बिना न्याय द्वारा किसी तत्त्व की परीक्षा नहीं की जा सकती । भाष्यकार ने बाद में कहा है – ''तद्विपरीताः परीक्षकाः'' । जो उपर्युक्त दोनों प्रकार के बुद्धि-प्रकर्ष से युक्त हैं वे ही परीक्षक कहलाते हैं । भाष्यकार पश्चात् इसके हेतु का प्रदर्शन करते हैं – ''तर्केण प्रमाणैरर्थं परीक्षितुमर्हन्तीति'' । इस प्रकार के परीक्षक व्यक्ति ही वस्तुतः उन लौकिक व्यक्तियों को तत्त्व समझाने में समर्थ हो सकते हैं । अतः यहाँ लौकिक शब्द से बोद्धा और परीक्षक शब्द से बोधयिता समझना चाहिए । किन्तु वे दोनों ही विचार करने में समर्थ वादी और प्रतिवादी के रूप में रहते हैं अन्यथा विचार नहीं हो सकता । अतः वाचस्पति मिश्र ने कहा है – ''तदनेन वादिप्रतिवादिनौ दर्शितौ'' । इससे ज्ञात होता है कि जिस पदार्थ में वादी और प्रतिवादी का बुद्धिसाम्य हो अर्थात् दोनों ही जिस पदार्थ को एक जैसा समझें वह पदार्थ दृष्टान्त कहलाता है । तात्पर्य यह है कि वादी या प्रतिवादी का प्रतिज्ञा आदि पञ्चावयव रूप न्यायवाक्य के प्रयोग के स्थल में तीसरा अवयव उदाहरणवाक्य के द्वारा जिस पदार्थ में उनके गृहीत हेतु के साथ साध्यधर्म की व्याप्ति का प्रदर्शन किया जाए वही दृष्टान्त पदार्थ है । पश्चात् तीसरे अवयव उदाहरणवाक्य के लक्षण सूत्र से महर्षि का यह तात्पर्य ज्ञात होता है । वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि सूत्र में अर्थ शब्द से तृतीय अवयव उदाहरणवाक्य से बोध्य पदार्थविशेष ही महर्षि को विवक्षित है । पश्चात् उदाहरणवाक्य के लक्षण की व्याख्या में यह ज्ञात होगा । परन्तु यहाँ यह भी समझना चाहिए कि महर्षि गौतम के मत में दृष्टान्त दो प्रकार के होते हैं – साधर्म्य दृष्टान्त और वैधर्म्य दृष्टान्त । आगे दो प्रकार के उदाहरणवाक्य के दो लक्षणसूत्रों से यह सूचित होता है । इसके अनुसार तार्किकरक्षाकार वरदराज ने कहा है –

व्याप्तिसंवेदनस्थानं दृष्टान्त इति गीयते ।
स च साधर्म्यवैधर्म्यभेदेन द्विविधो भवेत् ॥

सूत्रोक्त लौकिक और परीक्षक व्यक्तियों के बुद्धि-साम्य की व्याख्या में भाष्यकार ने कहा है – ''यथा यमर्थं लौकिका बुध्यन्ते'' इत्यादि । सर्वत्र ही लौकिकवेद्य अर्थात् लोकसिद्ध पदार्थ ही दृष्टान्त होगा – ऐसा अभिप्राय महर्षि का नहीं है । क्योंकि तब अलौकिक आकाश आदि पदार्थ दृष्टान्त नहीं हो सकते । अतः उद्योतकर कहते हैं – बुद्धिसाम्यविषयो दृष्टान्त इति सूत्रार्थः । एवञ्चाकाशाद्यवरोधः इत्यादि । महर्षि ने स्वयं पश्चात् (द्वितीय अध्याय के प्रथम आह्निक के अन्तिम सूत्र में) मन्त्र तथा आयुर्वेद के प्रामाण्य को वेद के प्रामाण्य के दृष्टान्त रूप में उल्लेख किया है । ऐसे अनेक पदार्थ

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

दृष्टान्त रूप में कहे गए हैं जिसका ज्ञान साधारण लोगों को नहीं है किन्तु केवल विद्वत्समाज में प्रसिद्ध है। अतः प्रमाणसिद्ध उपर्युक्त रूप पदार्थ ही दृष्टान्त होता है – यही इस सूत्र से (मन्त्रायुर्वेद आदि सूत्र से) महर्षि को विवक्षित प्रतीत होता है। भामती में वाचस्पति मिश्र ने यह बात कही है[१२०]। भाष्यकार ने "दृष्टान्तविरोधेन हि" आदि सन्दर्भ से दृष्टान्त लक्षण का प्रयोजन कहा है। सारांश यह हुआ कि दृष्टान्त पदार्थ न्याय का पूर्वांग है। दृष्टान्त पदार्थ का स्वरूपज्ञान होने पर पञ्चावयव वाक्य का तीसरा अवयव उदाहरण कहा जा सकता है, अन्यथा वह सम्भव नहीं होगा। (१.१.२५)

न्यायाश्रय सिद्धान्त लक्षण प्रकरण

भाष्य – **अथ सिद्धान्तः, इदमित्थम्भूतञ्चेत्यभ्यनुज्ञायमानमर्थजातं सिद्धं, सिद्धस्य संस्थितिः सिद्धान्तः, संस्थितिरित्थम्भावव्यवस्था धर्मनियमः। स खल्वयम् –**

सूत्र – तन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थितिः सिद्धान्तः।१.१.२६।

अनुवाद – दृष्टान्त निरूपण के पश्चात् सिद्धान्त का लक्षण कहते हैं। यह इस प्रकार होता है – इस तरह से स्वीक्रियमाण पदार्थसमूह सिद्ध कहलाता है और सिद्ध की संस्थिति सिद्धान्त कहलाती है। संस्थिति का तात्पर्य है इत्थंभाव की व्याख्या अर्थात् धर्मनियम (यह पदार्थ इस धर्म से विशिष्ट है, अन्य धर्म से विशिष्ट नहीं है – इस प्रकार का प्रमाणसिद्ध नियम)।

सूत्रार्थ – यह सिद्धान्त तन्त्रसंस्थिति, अधिकरणसंस्थिति और अभ्युगमसंस्थिति कहलाता है। मतान्तर में तन्त्राधिकरण का अर्थात् प्रमाणबोधित पदार्थ समूह का स्वीकार (संस्थिति) सिद्धान्त कहलाता है।

टिप्पणी – दृष्टान्त पदार्थ का लक्षण कहने के बाद महर्षि ने पृथक् प्रकरण के द्वारा उद्देश्य के क्रम से प्राप्त सिद्धान्त पदार्थ का निरूपण किया है। भाष्यकार ने "अथ सिद्धान्तः" कहकर इसका प्रकाशन किया है। पश्चात् सिद्धान्त शब्द के अर्थ की व्याख्या में "स खल्वयं" पद का उल्लेख करके इस सूत्र की अवतारणा की है। "स खलु अयं सिद्धान्तः" इस रूप में सूत्र के साथ इस वाक्य की योजना होती है। खलु शब्द

---

[१२०] "लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्त इति चाक्षपादसूत्रम् प्रमाणसिद्धो दृष्टान्त इत्येतत्परम्, न पुनर्लोकसिद्धत्वमत्र विवक्षितम्। अन्यथा तेषां परमाण्वादिर्न दृष्टान्तः स्यात्, नहि परमाण्वादिर्नैसर्गिकवैनयिकबुद्ध्यतिशयरहितानां लोकानां सिद्ध इति।" – भामती २.१.१४

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

वाक्यालंकार में यहाँ प्रयुक्त हुआ है। मेदिनीकोष कहता है – ‘‘खलु स्याद् वाक्यभूषायां जिज्ञासायां च सान्त्वने’’ ।

महर्षि ने इस सूत्र से सिद्धान्त पदार्थ के सामान्यलक्षण की सूचना दी है और पश्चात् ‘‘स चतुर्विधः’’ सूत्र से इसके चार प्रकारों को कहा है। यहाँ उद्योतकर के वार्त्तिक से ज्ञात होता है कि यहाँ इस सूत्र को लक्षणार्थक नहीं कहा जा सकता और न तो विभागार्थक ही कहा जा सकता है। अतः इस प्रकरण का प्रथम या द्वितीय सूत्र व्यर्थ प्रतीत होता है। इन दोनों को ऋषि सूत्र नहीं माना जा सकता इनमें से कोई एक ही ऋषि का सूत्र हो सकता है। प्राचीन काल में इस प्रकार की शंका रही है। उद्योतकर ने इस आशंका की व्याख्या करके समाधान में कहा है कि दोनों ही महर्षि के सूत्र हैं। प्रथम सूत्र से सिद्धान्त का सामान्य लक्षण और द्वितीय सूत्र से इसका विभाग किया गया है। सामान्यलक्षण के ज्ञान के बिना उसके विशेषलक्षण का ज्ञान नहीं हो सकता। महर्षि ने प्रथम सूत्र में सिद्धान्त पदार्थ का सामान्यलक्षण कहा है और द्वितीय सूत्र में उसका विभाग प्रदर्शित किया है। सिद्धान्त पदार्थ अनेक प्रकार से भिन्न-भिन्न होने पर भी सभी सिद्धान्त मुख्य रूप से इनके इन चार प्रकारों में ही अन्तर्भूत होते हैं। इस नियम के ज्ञापनार्थ ही सिद्धान्त का यह विभाग किया गया है। अतः विभागसूत्र की सार्थकता के कारण उसे महर्षि का सूत्र मानने में आपत्ति नहीं है।

महर्षि का यह पहला सूत्र कैसे लक्षणार्थक है और इस सूत्र से कैसे सिद्धान्त का सामान्यलक्षण ज्ञात होता है? इसके उत्तर में उद्योतकर ने कहा है – ‘‘तन्त्राधिकरणानामर्थानामभ्युपगम इति सूत्रार्थः। तन्त्रमधिकरणं येषामर्थानां भवति ते तन्त्राधिकरणास्तेषामभ्युपगमसंस्थितिरित्यंभावव्यवस्था धर्मनियमः सिद्धान्तो भवति’’। वृत्तिकार विश्वनाथ ने ‘‘तन्त्रं शास्त्रं तदेवाधिकरणं ज्ञापकतया यस्य’’ ऐसी व्याख्या की है और तन्त्राधिकरण पद को कौटिल्य अर्थशास्त्र से बोधित पदार्थ कहा है। उद्योतकर ने बाद में यहाँ कहा है कि ‘‘योऽर्थो न शास्त्रितस्तस्याभ्युपगमो न सिद्धान्त इति’’। जो पदार्थ शास्त्र से बोधित नहीं है उसका स्वीकार सिद्धान्त नहीं कहलाता। इस सूत्र में तन्त्राधिकरण पद से यही सूचित होता है। मल्लिनाथ ने तार्किकरक्षा की व्याख्या में सूत्र के इस प्रकार के अर्थ की व्याख्या करके इसके समर्थन में उपर्युक्त वार्त्तिक के सन्दर्भ को उद्धृत किया है। तन्त्र शब्द शास्त्र में प्रसिद्ध है। परवर्ती तीन सूत्रों में महर्षि ने शास्त्र अर्थ में ही तन्त्र शब्द का प्रयोग किया है। किन्तु वाचस्पति मिश्र तथा जयन्त भट्ट ने सूत्रगत तन्त्र शब्द का अर्थ शास्त्र न करके प्रमाण कहा है[१२१]। तन्त्र जिसका ज्ञापक रूप अधिकरण है अर्थात्

---

[१२१] तन्त्र्यन्ते व्युत्पाद्यन्ते प्रमेयाण्यनेनेति तन्त्रं प्रमाणम् (तात्पर्यटीका)। ‘‘तन्त्र्यतेऽनेन पदार्थस्थितिरिति तन्त्रं प्रमाणमुच्यते’’। ‘‘प्रमाणमूलाभ्युपगमविषयीकृतः सामान्यविशेषवानर्थः →

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection.

जो पदार्थ किसी प्रमाण से ज्ञापित होता है उसकी अभ्युपगम संस्थिति होती है – सिद्धान्त। वस्तुतः शास्त्र के बोधक तन्त्र पद से शास्त्र अविरुद्ध प्रमाण मात्र ही लक्षित हो सकता है। यदि वादी तथा प्रतिवादी परस्पर विरोधी रहते हैं तो दोनों ही पक्ष प्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकते, किन्तु वादी और प्रतिवादी दोनों ही अपने-अपने पक्ष को प्रमाणसिद्ध या शास्त्रसिद्ध कहकर अभिमान करते हैं तो इसके अनुसार दोनों ही पक्ष ''तन्त्राधिकरण'' पद से लिए जा सकते हैं। वाचस्पति मिश्र तथा वरदराज ने यह बात स्पष्ट रूप से कही है।

उद्योतकर की व्याख्या के अनुसार वाचस्पति मिश्र ने भाष्यकार के मत में भी उसी प्रकार का सूत्रार्थ करके पश्चात् कहा है – ''तदेवं भाष्यकारेण व्याख्याय सामान्यलक्षण सूत्रं पठितमेवंव्याख्यानपूर्वकमेव विभागसूत्रं पठति''। भाष्यकार ने यहाँ पहले उक्त सामान्यलक्षणरूप सूत्र के अर्थ की व्याख्या करके विभागसूत्र को कहा है। मैं समझता हूँ कि भाष्यकार ने पहले सिद्धान्त शब्द के अर्थ की व्याख्या करके सामान्यलक्षणबोधक सूत्र कहा है और पश्चात् ''तन्त्रार्थसंस्थितिः'' आदि भाष्य के सन्दर्भ से सूत्र के अर्थ की व्याख्या की है। बाद में यह और अधिक स्पष्ट होगा। सिद्धान्त शब्द की व्याख्या में भाष्यकार ने कहा है – ''इदं'' और ''इत्थंभूत'' – यह और इस प्रकार – इस रूप में स्वीक्रियमाण सभी पदार्थ ''सिद्ध'' कहलाते हैं और सिद्ध की संस्थिति (स्वीकार) को सिद्धान्त कहते हैं। संस्थिति का अर्थ होता इत्थंभावव्यवस्था। इत्थं भाव का अर्थ होता है पदार्थ का विशेष धर्म और व्यवस्था का अर्थ होता है नियम। अतः इत्थंभाव व्यवस्था की व्याख्या ही पश्चात् ''धर्मनियमः'' कहकर भाष्यकार ने की है। प्रत्येक पदार्थ के सामान्य और विशेष धर्म होते हैं। जैसे शब्द का सामान्य धर्म होता है इदन्त्व और शब्दत्व तथा विशेष धर्म होता है नित्यत्व या अनित्यत्व। किसी को इदन्त्व रूप में शब्द के निश्चय के पश्चात् शब्द इत्थंभूत अर्थात् नित्य या अनित्य रूप किसी विशेष धर्म के उसमें निश्चय होने पर उस पक्ष में शब्द को उस रूप में सिद्ध माना जाएगा। अतः वर्णात्मक शब्द के नित्यत्वरूप विशेष धर्म का नियम अर्थात् उस रूप में स्वीकार मीमांसक सम्प्रदाय का सिद्धान्त कहलाता है। निश्चित धर्म के अर्थ में यहाँ अन्त शब्द का प्रयोग होने से सिद्धान्त पद का ऐसा अर्थ उपपन्न होता है। इस प्रकार निश्चय अर्थ में अन्त शब्द का प्रयोग होने से उस सिद्ध पदार्थ के स्वीकार रूप निश्चय को सिद्धान्त कहते हैं।

जयन्त भट्ट ने प्रमाणसिद्ध सामान्य तथा विशेषधर्म से युक्त पदार्थ को सिद्धान्त

→ सिद्धान्त इति सामान्यलक्षणमुक्तं भवति'' (न्यायमञ्जरी)।

अभ्युपेतः प्रमाणैः स्यादाभिमानिकसिद्धिभिः।
सिद्धान्तः सर्वतन्त्रादिभेदात्सोऽपि चतुर्विधः॥
– तार्किकरक्षा। अभिमानिकञ्च [illegible] (तात्पर्यटीका)।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

कहा है। भाष्यकार ने प्रथम सूत्र के भाष्य में कहा है – ''अस्त्ययमित्यभ्यनुज्ञायमानोऽर्थः सिद्धान्तः''। सूत्रकार महर्षि ने बाद में सिद्धान्त के विशेषलक्षण सूत्र में स्वीकृत पदार्थ-विशेष को सिद्धान्त कहा है किन्तु उद्योतकर तथा वाचस्पति मिश्र ने उस पदार्थविशेष के अभ्युपगम अर्थात् स्वीकार को सिद्धान्त कहा है। तात्पर्यपरिशुद्धि में उदयनाचार्य ने इसके समाधान में कहा है कि[१२२] पदार्थ और उसके स्वीकार में गौण और मुख्य भाव वक्ता के विवक्षा पर निर्भर करता है। अतः कोई उस पदार्थ के अभ्युपगम के प्राधान्य की विवक्षा करके उस अभ्युपगम को सिद्धान्त कहता है और कोई उस स्वीकृत पदार्थ के प्राधान्य की विवक्षा करके उसी को सिद्धान्त कहता है। पदार्थ का स्वीकार रूप निश्चय अथवा स्वीकृत वह पदार्थ – दोनों ही सिद्धान्त कहलाते हैं। अतः सूत्र, भाष्य, वार्तिक तथा तात्पर्यटीका में परस्पर विरोध नहीं है। परिशुद्धिप्रकाश में वर्धमान उपाध्याय ने उक्त स्थल में उदयन के तात्पर्य की व्याख्या में सिद्धान्त पद के दोनों ही अर्थों को वाच्य कहा है। सिद्धान्त पद को इन्होंने नानार्थक कहा है। वृत्तिकार विश्वनाथ ने त्रिसूत्री-निबन्ध कहकर उदयनाचार्य के तात्पर्यपरिशुद्धि के सन्दर्भ को उद्धृत किया है। इसी तात्पर्यपरिशुद्धि को न्यायनिबन्ध या निबन्ध कहते हैं। न्यायदर्शन के आरम्भिक तीन सूत्रों की तात्पर्यपरिशुद्धि ही ''त्रिसूत्रीनिबन्ध'' नाम से प्रसिद्ध है।

भाष्य – **तन्त्रार्थसंस्थितिस्तन्त्रसंस्थितिः। तन्त्रमितरेतराभिसम्बद्धस्यार्थ समूहस्योपदेशः शास्त्रम्। अधिकरणानुषक्तार्थसंस्थितिरधिकरणसंस्थितिः। अभ्युपगमसंस्थितिरनवधारितार्थपरिग्रहः। तद्विशेषपरीक्षणायाभ्युपगम-सिद्धान्तः।**

अनुवाद – तन्त्रार्थ की (शास्त्रप्रतिपादित पदार्थ की) संस्थिति अर्थात् स्वीकृति को ही तन्त्रसंस्थिति कहते हैं। तन्त्र से परस्पर सम्बन्ध विशिष्ट अर्थसमूह का उपदेशरूप शास्त्र अभिप्रेत है। प्रमाण द्वारा किसी सिद्धान्त की सिद्धि में उसके आश्रय के आनुषंगिक पदार्थ की संस्थिति स्वीकृति है (अधिकरणानुषक्त अर्थ की संस्थिति रूप) अधिकरण संस्थिति। अनवधारित पदार्थ का परिग्रह अर्थात् अपने असम्मत और परमत का बिना विचारे हुए स्वीकार को ''अभ्युपगमसंस्थिति'' कहते हैं। पदार्थ के विशेष धर्म की परीक्षा के लिए अभ्युपगम सिद्धान्त माना जाता है।

---

१२२ अत्रार्थाभ्युपगमयोर्गुणप्रधानभावस्य विवक्षातन्त्रत्वादर्थाभ्युपगमोऽभ्युपगम्यमानो वार्थः सिद्धान्तस्तेन सूत्रभाष्यवार्त्तिकटीकासु मिथो न विरोधः। – तात्पर्यपरिशुद्धि, पृ. २९७; अभ्युपगमस्याप्यर्थनिरूप्यत्वाद् विनिगमकाभावाद् द्वयोरपि तुल्यत्वाद् वाच्यतया सिद्धान्तपदं नानार्थम्। -- प्रकाशटीका

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

भाष्य – **तन्त्रभेदात्तु खलु –**

सूत्र – **स चतुर्विधः सर्वतन्त्रप्रतितन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थित्यर्थान्तरभावात्। १.१.२७।**

अनुवाद – किन्तु तन्त्र के भेद से यह सिद्धान्त चार प्रकार का होता है। यथा सर्वतन्त्र संस्थिति, प्रतितन्त्र संस्थिति, अधिकरण संस्थिति और अभ्युपगम संस्थिति। इनमें परस्पर भेद होता है।

भाष्य – **तत्रैताश्चतस्रः संस्थितयोऽर्थान्तरभूताः।**

अनुवाद – इन संस्थितिसमूह या सिद्धान्तसमूह में चारों संस्थितियाँ परस्पर भिन्न हैं।

टिप्पणी – पहले ही कहा जा चुका है कि वाचस्पति मिश्र ने लिखा है – ''व्याख्यानपूर्वकमेव विभागसूत्रं पठति'' अर्थात् भाष्यकार ने ''तन्त्रार्थसंस्थिति'' आदि भाष्य के सन्दर्भ से पहले ही विभागसूत्र की व्याख्या करके इस सूत्र का पाठ किया है। किन्तु भाष्यकार पूर्वसूत्र पाठ के पश्चात् इसकी व्याख्या नहीं करते। ''तन्त्रार्थसंस्थिति'' आदि सन्दर्भ इस विभागसूत्र का भाष्य है – ऐसा हम नहीं मानते। उक्त सन्दर्भ से भाष्यकार के मत में पूर्वसूत्र की यह व्याख्या समझ में आती है कि तन्त्र संस्थिति, अधिकरण संस्थिति और अभ्युपगम संस्थिति सिद्धान्त पदार्थ होते हैं। अन्त में उक्त संस्थिति शब्द का तन्त्र, अधिकरण और अभ्युपगम के साथ सम्बन्ध रहने से ऐसा अर्थ निष्पन्न होता है। इनमें तन्त्र संस्थिति की व्याख्या तन्त्रार्थ संस्थिति है। यहाँ तन्त्र का अर्थ होता है शास्त्र। अतः तन्त्रार्थ संस्थिति से शास्त्रप्रतिपादित पदार्थ की संस्थिति-स्वीकृति समझना चाहिए। अधिकरण संस्थिति से अधिकरण के साथ अनुषक्त अर्थात् आनुषगिक पदार्थ की संस्थिति-स्वीकृति अभिप्रेत है। पश्चात् अधिकरण सिद्धान्त की व्याख्या में यह अधिक स्पष्ट होगा। अन्तिम अभ्युपगम संस्थिति से ज्ञात होता है कि प्रमाण से अपरीक्षित परमत का स्वीकार। किसी पदार्थ में वादी के सम्मत धर्मविशेष को बिना विचारे ही स्वीकार कर लेना और उसी पदार्थ में अपर विशेषधर्म की परीक्षा करने पर यहाँ बिना विचार के ही स्वीकृतधर्म भाष्यकार की दृष्टि में अभ्युपगम सिद्धान्त होता है।

तात्पर्य यह है कि भाष्यकार द्वारा ''तन्त्रार्थ संस्थिति'' आदि सन्दर्भ से पूर्वसूत्र की व्याख्या हुई है – यह हम लोगों की समझ में आता है। तंत्र संस्थिति, अधिकरण संस्थिति और अभ्युपगम संस्थिति का अन्यतमत्व ही सिद्धान्त का सामान्यलक्षण है। वृत्तिकार विश्वनाथ ने यही समझकर कहा है – ''अत्र च भाष्यानुसारात् सर्वतन्त्र

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

प्रतितन्त्राधिकरणाभ्युपगमसिद्धान्तान्यतमः सिद्धान्त इति सूत्रार्थ इति तु न युक्तम्, अग्रिम सूत्रानुत्थानापत्तेः'' । अर्थात् भाष्य के अनुसार सूत्र की वैसी व्याख्या करने पर दूसरा विभागसूत्र व्यर्थ हो जाएगा । वृत्तिकार के बहुत पूर्ववर्ती न्यायमञ्जरीकार जयन्त भट्ट ने अपने मत से पूर्वसूत्र की व्याख्या करके ''अन्ये तु व्याचक्षते'' आदि सन्दर्भ से भाष्यकार की व्याख्या का व्याख्यान करते हुए इस मत को अपव्याख्या कहा है। किन्तु इन्होंने वाचस्पति मिश्र की तरह उक्त भाष्य सन्दर्भ को विभागसूत्र का भाष्य कहकर समाधान नहीं किया ।

किन्तु वृत्तिकार के कथन में भाष्यकार के पक्ष में वक्तव्य यह है कि उक्त प्रकार की व्याख्या के अनुसार पूर्वसूत्र से सिद्धान्त पदार्थ का उपर्युक्त सामान्यलक्षण और भेद व्यर्थ प्रतीत होने से सिद्धान्त पदार्थ चार प्रकार के ही होते हैं, तीन प्रकार के नहीं। यह स्पष्ट रूप से ज्ञात नहीं होता है । अतः महर्षि ने ''स चतुर्विधः'' आदि विभागसूत्र कहा है[१२३] । इस सूत्र में सिद्धान्त के चतुर्विधत्व के साधक हेतु भी इन्होंने कहा है। भाष्यकार ने बाद में उस हेतु की व्याख्या की है । पूर्वसूत्रोक्त त्रिविध सिद्धान्त का चतुर्विध होना कैसे संगत होता है? इसके स्पष्टीकरण हेतु भाष्यकार ने सूत्र-पाठ के पहले कहा है - ''तन्त्रभेदात्तु खलु'' । वाचस्पति मिश्र ने इसको और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है - ''तन्त्रग्रहणेन च सर्वतन्त्रप्रतितन्त्रयोरुपादानम्, तयोरपि तन्त्रत्वात् । तदिदमुक्तं तन्त्रभेदात्त्विति'' । तात्पर्य यह है कि पूर्वसूत्र में शास्त्रबोधक तन्त्र शब्द से सर्वतन्त्र और प्रतितंत्र दोनों का ग्रहण होता है । क्योंकि विभिन्न मतों के प्रतिपादक शास्त्रों को तन्त्र पद से लेने पर उनको प्रतितंत्र और उनके सिद्धातों को प्रतितंत्र सिद्धान्त कहते हैं। क्योंकि प्रतितंत्र सिद्धान्त समूह सर्वशास्त्रसम्मत नहीं होने से सर्वतंत्र सिद्धान्त से स्वभावतः

---

१२३ यहाँ यह स्मरण करना आवश्यक है कि महर्षि ने वाक्य संक्षेप की अनिच्छा से सूत्र में पहले ''स चतुर्विधः'' कहा है। इससे वाक्य का अर्थ अधिक स्पष्ट होता है। पञ्चम सूत्र के भाष्य में भाष्यकार के कथन से यह स्पष्ट ज्ञात होता है। किन्तु वृत्तिकार विश्वनाथ ने इसकी ओर ध्यान नहीं दिया और ''स चतुर्विधः'' को सूत्र का अंश नहीं माना। सर्वतन्त्र आदि सूत्र-पाठ मानकर इन्होंने व्याख्या की और ''स चतुर्विधः इति शेषः'' कहा है । अर्थात् सूत्र के अन्त में ''स चतुर्विधः'' ऊह करना चाहिए – यह कहा है। अनेक पुस्तकों में वृत्तिकार सम्मत सूत्र-पाठ ही देखा जाता है। किन्तु ''स चतुर्विधः'' सूत्र का ही अंश है। वाचस्पति मिश्र, जयन्त भट्ट, उदयनाचार्य, वरदराज आदि ने ''स चतुर्विधः'' को सूत्र-पाठ में सम्मिलित कर उसको सूत्र का अंश कहा है। तात्पर्य परिशुद्धि टीका (पृ. २२४) में उदयनाचार्य के वक्तव्य से उक्त रूप सूत्र-पाठ ही ज्ञात होता है। प्रकाशटीकाकार वर्धमान ने यहाँ स्पष्ट कहा है – स चतुर्विध इति सूत्रप्रतीकेनेत्यर्थः ।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

भिन्न होते हैं। तंत्र के भेद से पूर्व सूत्रोक्त तंत्र संस्थिति या तंत्र सिद्धान्त दो प्रकार के होते हैं सर्वतंत्र सिद्धान्त और प्रतितंत्र सिद्धान्त। अतः सिद्धान्त के चार प्रकार (१) सर्वतंत्र सिद्धान्त, (२) प्रतितंत्र सिद्धान्त, (३) अधिकरण सिद्धान्त और (४) अभ्युपगम सिद्धान्त उपपन्न (सिद्ध) होते हैं। उद्योतकर ने पहले ही कहा है कि सिद्धान्त पदार्थ के बहुत प्रकार से विभिन्न होने पर भी सभी सिद्धान्त इन चार प्रकार के सिद्धान्तों में अन्तर्भूत होते हैं। इस प्रकार के नियम के प्रदर्शन हेतु ही सिद्धान्तों का विभाग किया गया है। अतः विभागसूत्र की व्यर्थता नहीं कही जा सकती और न ही सूत्र को अनार्ष कहा जा सकता है। (१.१.२६-२७)

***भाष्य* – तासाम् –**

सूत्र – सर्वतन्त्राविरुद्धस्तन्त्रेऽधिकृतोऽर्थः सर्वतन्त्रसिद्धान्तः। १.१.२८।

***भाष्य* – यथा घ्राणादीनीन्द्रियाणि, गन्धादय इन्द्रियार्थाः, पृथिव्यादीनि भूतानि, प्रमाणैरर्थस्य ग्रहणमिति।**

अनुवाद – इन संस्थितियों में सभी शास्त्रों के अविरुद्धतया किसी एक शास्त्र में उक्त पदार्थ ''सर्वतन्त्र सिद्धान्त'' कहलाता है। जैसे घ्राण आदि का इन्द्रिय होना, गन्ध आदि का इन्द्रिय का अर्थ (विषय) होना, पृथिवी आदि का भूत होना तथा प्रमाण से पदार्थों का यथार्थ ज्ञान होना आदि सर्वतंत्र सिद्धान्त के उदाहरण होते हैं।

टिप्पणी – महर्षि ने क्रम के अनुसार चार प्रकार के सिद्धान्तों का विशेष लक्षण कहने के प्रसंग में पहले सर्वतन्त्र सिद्धान्त का लक्षण कहा है। पूर्वसूत्र में सिद्धान्त के बोधक स्त्री-लिंग संस्थिति शब्द का प्रयोग रहने से भाष्यकार ने तत् शब्द से उपर्युक्त चतुर्विध संस्थितियों का ग्रहण करके सूत्र के पहले ''तासाम्'' कहा है। उक्त पद के साथ सूत्र को सम्बद्ध करने पर सूत्र का अर्थ होता है कि इन चार प्रकार की संस्थितियों (सिद्धान्तों) के मध्य जो सभी शास्त्रों के अविरुद्ध एवं शास्त्र में अधिकृत (कथित) है, ऐसे पदार्थ को ''सर्वतंत्र सिद्धान्त'' कहते हैं। जो सभी शास्त्रों में कथित है केवल उसको ही सर्वतंत्र सिद्धान्त कहने पर केवल न्यायशास्त्र में उक्त छल तथा जाति नामक पदार्थों का असदुत्तरत्व सर्वतंत्र सिद्धान्त नहीं होगा। किन्तु उन पदार्थों को वादी, प्रतिवादी तथा मध्यस्थ सभी ने सर्वतंत्र सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया है। अतः महर्षि ने ''सर्वतन्त्राविरुद्धः न तु सर्वशास्त्रे उक्तः'' कहा है, अर्थात् सभी शास्त्रों में उक्त नहीं होने पर भी ये पदार्थ किसी शास्त्र के विरोधी नहीं हैं। जो पदार्थ किसी शास्त्र में उक्त नहीं है फिर भी ऐसे पदार्थ के सभी शास्त्रों के अविरोधी होने पर भी वह सर्वतंत्र सिद्धान्त नहीं हो सकता – इसी बात को समझाने के लिए महर्षि ने ''तन्त्रेऽधिकृतः'' कहा है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

वृत्तिकार विश्वनाथ ने यहाँ कहा है कि उक्त पद के नहीं कहने पर मनस् का इन्द्रियत्व भी सर्वतंत्र सिद्धान्त हो जाता। चूँकि न्यायशास्त्र में मनस् का इन्द्रियत्व उक्त नहीं है अतः वह सर्वतंत्र सिद्धान्त नहीं होता है – यही महर्षि का तात्पर्य है। किन्तु तंत्र पद से केवल न्यायशास्त्र ही अभिप्रेत नहीं है। अतः भाष्यकार की दृष्टि में मनस् का इन्द्रियत्व सर्वतंत्र सिद्धान्त ही है। इस प्रसंग का विचार चतुर्थ सूत्र की व्याख्या में ''मनसश्चेन्द्रियभावान्न वाच्यं लक्षणान्तरम् इति तन्त्रान्तरसमाचाराच्चैतत्प्रत्येतव्यम् इति'' इस भाष्य पंक्ति में हुआ है।

भाष्यकार ने सूत्र के सरल अर्थ की यहाँ व्याख्या न करके इसके कुछ उदाहरणों को प्रदर्शित किया है और अंत में आदि अर्थ में इति शब्द का प्रयोग करके समझा दिया है कि और भी सर्वतंत्र सिद्धान्त के उदाहरण हो सकते हैं। वस्तुतः सर्वतंत्र सिद्धान्त के नहीं रहने पर वादी और प्रतिवादी का विचार ही नहीं हो सकता क्योंकि किसी धर्मी के सिद्ध नहीं रहने पर उसमें नाना विरुद्धधर्मों का संशय और उस संशयमूलक विचार का होना सम्भव नहीं है और न तो कोई प्रतितंत्र सिद्धान्त सिद्ध हो सकता है। वादी और प्रतिवादी के मान्य दृष्टान्त पदार्थ से सर्वतंत्र सिद्धान्त का अभेद समझाने के लिए उद्योतकर ने कहा है कि दृष्टान्त पदार्थ पहले केवल वादी और प्रतिवादी के लिए निश्चित रहता है किन्तु सर्वतंत्र सिद्धान्त सभी के लिए निश्चित रहता है। दृष्टान्त पदार्थ केवल अनुमान और शब्द प्रमाण का आश्रय होता है किन्तु सर्वतंत्र सिद्धान्त का क्षेत्र व्यापक होता है। अतः दृष्टान्त से सर्वतंत्र सिद्धान्त में भेद रहने के कारण इसका पृथक् उल्लेख हुआ है। (१.१.२८)

सूत्र – समानतन्त्रसिद्धः परतंत्रासिद्धः प्रतितंत्रसिद्धान्तः। १.१.२९।

अनुवाद – एक (अपने) शास्त्र में सिद्ध और अन्य शास्त्र में असिद्ध पदार्थ प्रतितंत्र सिद्धान्त कहलाता है।

भाष्य – **यथा नासत आत्मलाभः, न सत आत्महानं निरतिशयाश्चेतनाः, देहेन्द्रियमनःसु विषयेषु तत्तत्कारणे च विशेष इति सांख्यानाम्। पुरुषकर्मादिनिमित्तो भूतसर्गः, कर्महेतवो दोषाः प्रवृत्तिश्च, स्वगुणविशिष्टाश्चेतनाः, असदुत्पद्यते उत्पन्नं निरुद्धयते इति योगानाम्।**

अनुवाद – जैसे असत् की उत्पत्ति नहीं होती और सत् का अत्यन्त विनाश नहीं होता, चेतन गण (आत्मवृन्द) निरतिशय अर्थात् अपरिणामी (निर्गुण) होते हैं। देह, इन्द्रिय और मन में, विषयसमूह में तथा इनके कारण महत् अहंकार तथा पञ्चतन्मात्रा रूप सूक्ष्म भूतसमूह में विशेष अर्थात् परिणाम विशेष रहता है – यह सांख्य सम्प्रदाय का

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

प्रतितंत्र सिद्धान्त कहलाता है। भूतसृष्टि (द्व्यणुक से लेकर ब्रह्माण्ड तक की उत्पत्ति) पुरुष के कर्म आदि जन्य अर्थात् जीव के अदृष्ट एवं परमाणुद्वय का संयोग आदि अपने-अपने कारण से उत्पन्न होते हैं। दोषसमूह अर्थात् राग, द्वेष और मोह एवं प्रवृत्ति कर्मों के अदृष्ट के हेतु होते हैं, सभी चेतन अपने ज्ञान आदि गुणों से विशिष्ट होते हैं। असत् की अर्थात् उत्पत्ति के पहले जिसकी सत्ता नहीं रहती, उत्पत्ति होती है और उत्पन्न वस्तु (सत् पदार्थ) निरुद्ध-अत्यन्त विनाश को प्राप्त होता है – यह योग (नैयायिक) सम्प्रदाय का प्रतितंत्र सिद्धान्त कहलाता है।

टिप्पणी – इस सूत्र से द्वितीय प्रकार के सिद्धान्त का अर्थात् प्रतितंत्र सिद्धान्त का लक्षण कहा गया है। वाचस्पति मिश्र के अनुसार इस सूत्र में समान पद का अर्थ होता है एक। उन्होंने कहा है – "समानशब्दः एकपर्यायः। नैयायिकानां हि समानं तन्त्रं न्यायशास्त्रम् परतन्त्रञ्च सांख्यादिशास्त्रम्"। इसी प्रकार सांख्यशास्त्र के लिए न्यायशास्त्र परतंत्र होता है और सांख्यशास्त्र समानतंत्र होता है। इस सूत्र से ज्ञात होता है कि जो पदार्थ अपने शास्त्र में सिद्ध है और अन्य शास्त्र में असिद्ध है वह अपने शास्त्र का प्रतितंत्र सिद्धान्त होता है। भाष्यकार ने इसका उदाहरण दिखाते हुए कहा है – "यथा नासत आत्मलाभः" आदि। यहाँ आत्मन् पद का अर्थ होता है स्वस्वरूप। आत्मलाभ का अर्थ स्वस्वरूप लाभ अर्थात् उत्पत्ति होता है। आत्महान का अर्थ होता है स्वस्वरूप का त्याग अर्थात् विनाश। सांख्य सम्प्रदाय में पहले से असत् की उत्पत्ति नहीं होती और सत् का अत्यन्त विनाश नहीं होता। चैतन्यस्वरूप आत्मा गुण-रहित एवं अपरिणामी माना जाता है और देह आदि और उसका कारण जड़ पदार्थ भी परिणामशील होता है। भाष्यकार ने इन समस्त सिद्धान्तों का उल्लेख करके कहा है – "इति सांख्यानाम्"।

किन्तु असत्कार्यवादी न्याय और वैशेषिक सम्प्रदाय के मत में पुरुष (जीवात्मा) के स्वगत अदृष्ट और नित्य परमाणु आदि कारणों से भूत की सृष्टि होती है और इस धर्माधर्मरूप अदृष्ट के जनक होते हैं जीवात्मा के राग, द्वेष तथा मोहरूप दोष और शुभाशुभकर्मरूप प्रवृत्ति। प्रत्येक आत्मा सगुण होता है। उत्पत्ति के पहले जो असत् रहता है उसकी उत्पत्ति होती है और उत्पन्न पदार्थ का समय आने पर नाश भी होता है। भाष्यकार ने पहले सांख्य के सिद्धान्त के विरुद्ध इन सिद्धान्तों का उल्लेख करके अन्त में "इति योगानाम्" कहा है। योग शब्द से अस्ति अर्थ में अच् प्रत्यय करने पर योग शब्द बनता है जिसका अर्थ होता है योगी (योगशास्त्र के अनुसार) ऐसा प्रयोग प्रसिद्ध भी है। यथा भगवद्गीता के – "यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते" (५.५) इस वाक्य में योग का अर्थ योगदर्शन के अनुसार योगी होता है। टीकाकार आनन्दगिरि

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

और मधुसूदन सरस्वती ने इस अर्थ की व्याख्या में कहा है – "अर्श आदित्वात् मत्वर्थीयोऽच् प्रत्ययः"। किन्तु न्यायभाष्यकार का उक्त "योगानाम्" पद पातञ्जलयोग के ज्ञाता प्रसिद्ध योगी का वाचक नहीं है। क्योंकि वह सांख्य सम्प्रदाय के अनुसार परिणामवादी होता है। उनके मत में असत् की उत्पत्ति और सत् का अत्यन्त विनाश नहीं होता। अतः न्यायभाष्य में उक्त इस योग पद से शैवयोगी अर्थात् नैयायिक और वैशेषिक का परिग्रह होता है। क्योंकि भाष्यकार द्वारा उक्त ये सिद्धान्त इन्हीं के प्रतितंत्र सिद्धान्त के रूप में प्रसिद्ध है। प्राचीनकाल में इनकी गुरु परम्परा से प्राप्त पृथक् योगशास्त्र एवं विशिष्ट योगानुष्ठान की पद्धति प्रचलित रही होगी। नैयायिक, वैशेषिक, और शैवयोगी तथा पाशुपत योगी रहे होंगे। षड्दर्शनसमुच्चय की टीका में गुणरत्न सूरि ने इसका वर्णन किया है।

जो भी कारण रहा हो प्राचीनकाल में वैशेषिकशास्त्र योग नाम से कहा जाता रहा है। अतएव प्रतीत होता है कि योगवित् सम्प्रदाय भी योग नाम से उक्त हुआ होगा। जैन दार्शनिकों ने वैशेषिकशास्त्र और उस शास्त्र के ज्ञाता का योग नाम से उल्लेख किया है[१२४]। जैन दार्शनिक नैयायिक सम्पद्राय का योग पद से भी उल्लेख करते हैं[१२५]। अतः प्राचीन संज्ञा के अनुसार भाष्यकार ने यहाँ "योगानाम्" कहकर वैशेषिक सम्प्रदाय का उल्लेख किया है। किसी-किसी प्राचीन विद्वान् का कहना है कि महर्षि कणाद ने किसी विशिष्ट योगविभूति से महेश्वर को सन्तुष्ट करके उनके प्रसाद से वैशेषिकशास्त्र की रचना की थी। प्रशस्तपादाचार्य ने भी यह बात कही है – "योगाचारविभूत्या यस्तोषयित्वा महेश्वरम्"। प्रशस्तपादभाष्य के अन्त में यह पंक्ति उपलब्ध है। अतः

---

१२४ योगस्य सदकारणवन्नित्यमित्यादिवत्।
सदकारणवन्नित्यमिति योगवचो यथा – विद्यानन्द स्वामीकृत पत्रपरीक्षा (जैनन्याय)। "सदकारणवन्नित्यम्" यह वैशेषिकदर्शन के चतुर्थ अध्याय का पहला सूत्र है। इसका उल्लेख करके विद्यानन्द स्वामी ने इसको योग वचन कहा है। अन्यत्र उक्त है – "सौगतसांख्ययोगानां तथाभूतपरिणामविशेषासिद्धेः"। – विद्यानन्द स्वामीकृत पत्रपरीक्षा

१२५ "सौगतसांख्ययोगप्राभाकरजैमिनीयानां प्रत्यक्षानुमानागमोपमानार्थापत्त्यभावैरेकैकाधिकैर्व्याप्तिवत्।" – परीक्षामुख ६ समुद्देश ५७ सूत्र। इस सूत्र में उक्त प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के यथाक्रम एक-एक अतिरिक्त का ग्रहण करने पर योग के पक्ष में प्रत्यक्ष आदि चार प्रमाण प्राप्त होते हैं। वैशेषिक चूँकि दो प्रमाणवादी हैं अतः यह मानना होगा कि यहाँ योग से प्रत्यक्ष आदि चार प्रमाणवादी नैयायिक का ही ग्रहण होगा। षड्दर्शन समुच्चय के टीकाकार गुणरत्न सूरि ने नैयायिक मत की व्याख्या के स्पष्ट कहा है – अथादौ नैयायिकानां योगापराभिधानानाम्। – नैयायिक मत की व्याख्या के आरम्भ में गुणरत्न सूरि की व्याख्या द्रष्टव्य है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

ज्ञात होता है कि कणादप्रोक्त वैशेषिकशास्त्र उनके विशिष्ट योग से लब्ध होने के कारण प्राचीन काल में योग नाम से कहा जाता रहा और शास्त्रविदों का सम्प्रदाय भी योग कहलाने लगा। इसी आधार पर भाष्यकार ने यहाँ ''योगानाम्'' कहा है और उसकी व्याख्या वैशेषिकाणाम्[१२६] के अर्थ में की है।

किन्तु इस व्याख्या में पहले यह कहना हैं कि भाष्यकार द्वारा उक्त सभी सिद्धान्त नैयायिक सम्प्रदाय के भी सिद्धान्त हैं। वार्त्तिककार उद्योतकर ने यहाँ प्रतितंत्र सिद्धान्त का उदाहरण दिखाते हुए संक्षेप में कहा है – ''भौतिकानीन्द्रियाणीति योगानाम-भौतिकानीति सांख्यानाम्''। किन्तु कणाद की तरह गौतम ने भी विचारपूर्वक बहिरिन्द्रियों के भौतिकत्व का समर्थन किया है। भाष्यकार और वार्त्तिककार भी यह नहीं कह सकते कि उपर्युक्त सिद्धान्त केवल वैशेषिक सम्प्रदाय का ही है। वार्त्तिक की व्याख्या में वाचस्पति मिश्र ने ''योगानामेव'' वाक्य में एव शब्द से सांख्य सम्प्रदाय का व्यवच्छेद किया है। अर्थात् बहिरिन्द्रियवर्ग का भौतिकत्व सांख्य सम्प्रदाय का सिद्धान्त नहीं है। यही वार्त्तिककार को विवक्षित है। यद्यपि उद्योतकर आदि वैशेषिक सम्प्रदाय के उल्लेख के अवसर पर अन्यत्र वैशेषिक शब्द का ही प्रयोग करते हैं किन्तु यह कहना भी आवश्यक है कि यहाँ भाष्यकार ने उसी के प्रतिपादनार्थ स्पष्टार्थक वैशेषिकाणाम् न कहकर योगानाम्

---

[१२६] प्रसिद्ध वेदान्ती लक्ष्मणशास्त्री द्रविड़ महोदय ने काशी चौखम्बा से प्रथम बार प्रकाशित विद्यासागरी टीका के साथ खण्डनखण्डखाद्य की भूमिका (पृ. १९) में अपने मन्तव्य के समर्थन में भाष्यकारोक्त ''योगानां'' पद उपर्युक्त वैशेषिकाभिमत व्याख्या मानकर लिखा है – ''तेन ज्ञायते भाष्यकारस्य नेदं स्वकीयं मतं परमतमेव उदाहरणप्रदर्शनायोपन्यस्तमिति न तत्र तात्पर्यम्''। किन्तु न्यायदर्शन के तृतीय और चतुर्थ अध्याय में सूत्रकार तथा भाष्यकार ने जब इन सभी मतों को अपने सिद्धान्त के रूप में समर्थन किया तब ये सिद्धान्त नैयायिक के नहीं किन्तु वैशेषिक के मत हैं, यह क्या भाष्यकार के ''योगानाम्'' पद से निर्णीत किया जा सकता है? शास्त्री महाशय का इस प्रकार का असम्भव निर्णय वस्तुतः आश्चर्यजनक है। शंकर भगवत्पाद के शिष्य सुरेश्वराचार्य ने मानसोल्लास में कहा है – ''इति वैशेषिकाः प्राहुस्तथा नैयायिका अपि''। शास्त्री महाशय ने इसी भूमिका में सिद्ध किया है कि वात्स्यायन की दृष्टि में भी न्यायदर्शन अध्यात्मविद्या नहीं है। इसका प्रतिपादन करने के लिए उन्होंने बहुत लिखा है। किन्तु भाष्यकार ने प्रथम सूत्र के ही उपसंहार भाष्य में कहा है कि ''इह त्वध्यात्मविद्यायाम्'' इत्यादि। न्यायमत के प्रतिवादी वेदान्तियों में खण्डनकार वेदान्तिक चूड़ामणि श्रीहर्ष ने नैषधीय-चरित के दशम् सर्ग के श्लोक ८१ में महर्षि गौतम की आन्वीक्षिकी विद्या को अध्यात्मविद्या के रूप में वर्णन किया है। न्यायदर्शन यदि अध्यात्मविद्या नहीं होगी तो वहाँ ''दुःखजन्म'' आदि द्वितीय सूत्र क्यों कहा गया है। वेदान्तदर्शन के चतुर्थ सूत्र के भाष्य में शंकर भगवत्पाद ने तो अत्यधिक सम्मान के साथ इस सूत्र का उल्लेख किया है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

क्यों कहा है। इसके उत्तर में कहना है कि भाष्यकार ने योगानाम् पद से नित्य परमाणुद्वय के योगवादी, यौगिक सृष्टिवादी अर्थात् आरम्भवादी वैशेषिक और नैयायिक दोनों ही सम्प्रदायों का उल्लेख किया है। अतएव उक्त पद का प्रयोग सार्थक एवं संगत ही है। वस्तुतः योग का प्रसिद्ध अर्थ होता है संयोग (मिलना)। माधवाचार्य ने सर्वदर्शन-संग्रह में योग पद की व्याख्या के अवसर पर स्पष्टतः इसका प्रतिपादन किया है। योग शब्द से कणाद और गौतम के सम्मत आरम्भवाद के मूल परमाणुद्वय संयोग रूप विशेष अर्थ का ग्रहण किया जाता है। ''योगाः सन्ति येषां मते'' इस प्रकार की व्युत्पत्ति के अनुसार यहाँ भाष्यकारोक्त योग पद से आरम्भवादी वैशेषिक एवं नैयायिक दोनों का ग्रहण होता है। जैसे द्वैतवादी को द्वैती कहा जाता है वैसे योगवादियों को योगी वा योग कहा जा सकता है। सुधीगण उपर्युक्त सभी बातों का विचार करके यहाँ प्रकृत अर्थ (उपयुक्त अर्थ) का निर्णय करेंगे। (१.१.२९)

सूत्र – **यत्सिद्धावन्यप्रकरणसिद्धिः सोऽधिकरणसिद्धान्तः। १.१.३०।**

अनुवाद – जिस पदार्थ की सिद्धि के अवसर में अन्य प्रकरण की अर्थात् अन्य आनुषंगिक पदार्थ की सिद्धि हो जाए तो उस पदार्थ को अधिकरण सिद्धान्त कहते हैं।

भाष्य – **यस्यार्थस्य सिद्धावन्येऽर्था अनुषज्यन्ते, न तैर्विना सोऽर्थः सिध्यति, तेऽर्थाः यदधिष्ठानाः सोऽधिकरणसिद्धान्तः। यथेन्द्रियव्यतिरिक्तो ज्ञाता ''दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणा'' दिति। अत्रानुषङ्गिणोऽर्था इन्द्रियनानात्वम् नियतविषयाणीन्द्रियाणि, स्वविषयग्रहणलिङ्गानि ज्ञातुर्ज्ञानसाधनानि, गन्धादिगुणव्यतिरिक्तं द्रव्यम् गुणाधिकरणम्, अनियतविषयाश्चेतना इति पूर्वार्थसिद्धावेतेऽर्थाः सिद्ध्यन्ति, न तैर्विना सोऽर्थः सम्भवतीति।**

अनुवाद – साध्य या हेतु भूत जिस पदार्थ की सिद्धि के विषय में (समय में) अन्य पदार्थ समूह अनुषक्त हो अर्थात् उन सभी अन्य पदार्थ के बिना इस पूर्वोक्त पदार्थ की सिद्धि सम्भव नहीं हो, वह अन्य पदार्थसमूह जिस पदार्थ का आश्रित होता है, वह (आश्रय) पदार्थ उन समस्त आनुषंगिक पदार्थ के साथ अधिकरण सिद्धान्त कहलाता है। जैसे ज्ञाता (आत्मा) इन्द्रिय से भिन्न होता है क्योंकि चक्षुरिन्द्रिय और त्वगिन्द्रिय से एक पदार्थ का ज्ञान होता है। यहाँ अर्थात् उक्त रूप अनुमान स्थल में इन्द्रिय का नानात्व, इन्द्रिय वर्ग का नियत विषयत्व (घ्राण आदि बहिरिन्द्रियों का ग्राह्य विषय में नियम), स्व-विषय के ग्रहण की अनुमापकता (गन्ध आदि अपने-अपने विषय के यथाक्रम प्रत्यक्ष ही घ्राण आदि पाँचों इन्द्रियों के अनुमापक होते हैं), ज्ञाता (जीवात्मा) के ज्ञान का गन्ध आदि निज-निज विषयों के प्रत्यक्ष का साधन, द्रव्य पदार्थ का गन्ध आदि गुण से भेद

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

और गुण का आधारत्व और चेतन समूह की अनियत विषयता (बहिरिन्द्रिय की तरह जीवात्मा के ग्राह्य विषय में उक्त रूप नियम का अभाव होना) – ये सभी इन्द्रिय का नानात्व, नियतविषयत्व, स्वविषयग्रहणलिङ्गत्व, ज्ञानसाधनत्व, द्रव्य का गुणभिन्नत्व तथा गुणाधारत्व और ज्ञाता का अनियत विषयत्व अनुषंगी पदार्थ हैं। पूर्वार्थ की सिद्धि के विषय में अर्थात् साक्षात् उक्त उस पूर्वपदार्थ की सिद्धि में अन्तर्भूत होकर ये सभी पदार्थ सिद्ध होते हैं। इन सभी आनुषंगिक पदार्थों की सिद्धि के बिना उस पूर्वार्थ की सिद्धि सम्भव नहीं है।

टिप्पणी – इस सूत्र से तीसरा सिद्धान्त अर्थात् अधिकरण सिद्धान्त का लक्षण कहा गया है। इसके स्वरूप की व्याख्या में मतभेद है। तात्पर्यटीकाकार वाचस्पति मिश्र सूत्र में उक्त यद् शब्द से साध्य और हेतु पदार्थ का ग्रहण करके व्याख्या करते हैं – ''यस्यार्थस्य साध्यस्य वा हेतोर्वा सिद्धाविति विषयसप्तमी नतु निमित्तसप्तमी''। इस सिद्धान्त की व्याख्या में इन्होंने कहा है – जिस पदार्थ के सिद्ध होने पर उसके अनुषंगी पदार्थ समूह उसी के अन्तर्गत होकर सिद्ध होते हैं वही साक्षात् अधिक्रियमाण पदार्थ अपने अनुषंगी उन सभी पदार्थों का अधिकरण या आश्रय होता है। क्योंकि उसको आश्रय करके वे सभी पदार्थ सिद्ध होते हैं। आश्रयभूत वह पदार्थ पक्ष या साध्य हो अथवा हेतु हो उस रूप में वह अधिकरण सिद्धान्त कहलाता है। वाचस्पति मिश्र साध्यरूप अधिकरण सिद्धान्त का उदाहरण कहते हैं कि सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न द्वयणुक आदि कार्य में चेतनकर्तृकत्वरूप साध्य के सिद्ध होने पर सर्वज्ञत्वादिविशिष्टचेतनकर्तृत्व सिद्ध होता है। क्योंकि उस कर्ता के सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट नहीं होने पर वह द्वयणुक आदि का कर्ता नहीं हो सकता। अतः उस चेतनकर्ता का सर्वज्ञत्व आदि उक्त साध्यसिद्धि के अन्तर्गत होने से वह साध्य का अनुषंगी होता है और अनुषंगी पदार्थ के साथ उस साध्य की सिद्धि अधिकरण सिद्धान्त होता है।

भाष्यकार ने इसके उदाहरण में ''यथेन्द्रियव्यतिरिक्तो ज्ञाता'' इत्यादि कहा है। अभिप्राय यह है कि घ्राण आदि इन्द्रिय से भिन्न जीवात्मा को अनुमान प्रमाण से सिद्ध करने के लिए तृतीय अध्याय के आरम्भ में महर्षि ने सूत्र कहा है – ''दर्शन स्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात्''। चक्षुष् इन्द्रिय और त्वगिन्द्रिय से किसी एक पदार्थ का प्रत्यक्ष होने पर ज्ञाता को प्रतिसन्धान होता है कि जो मैंने चक्षुष् इन्द्रिय से इस पदार्थ का प्रत्यक्ष किया था वही मैं त्वगिन्द्रिय से उस पदार्थ का प्रत्यक्ष कर रहा हूँ। इस प्रतिसन्धान से सिद्ध होता है कि ज्ञाता इन्द्रिय से भिन्न होता है। क्योंकि चक्षुरिन्द्रिय और त्वगिन्द्रिय से भिन्न किसी पदार्थ को ज्ञाता मानने पर ही उक्त प्रतिसन्धान हो सकता है। इस रूप

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

में उस ज्ञाता के सिद्ध होने पर, वह इन्द्रियनानात्व आदि आनुषंगिक पदार्थों के साथ सिद्ध होता है। क्योंकि जीव के शरीर में केवल एक इन्द्रिय के रहने पर और उसके विषयनियम के नहीं मानने पर उक्त रीति से प्रतिसन्धान सम्भव नहीं है। वाचस्पति मिश्र ने इसी प्रकार से भाष्यकार द्वारा उक्त उदाहरण इन्द्रियनानात्व आदि के साथ उक्त प्रतिसन्धानरूप हेतु को अधिकरण सिद्धान्त कहकर व्याख्या की है। वाचस्पति के मत में भाष्यकार ने हेतुरूप अधिकरण सिद्धान्त का यह उदाहरण प्रदर्शित किया है। वार्तिककार उद्योतकर ने यहाँ इस प्रकार व्याख्या की है – ''वाक्यार्थसिद्धौ तदनुषङ्गी योऽर्थः सोऽधिकरणसिद्धान्त इति तस्योदाहरणं भाष्ये'' इत्यादि। इससे ज्ञात होता है कि उद्योतकार ने भाष्यकार के मत में भी उपर्युक्त स्थल में इन्द्रियनानात्व आदि आनुषगिक पदार्थ को अधिकरण सिद्धान्त कहा है। वरदराज ने तार्किकरक्षा में कहा है – ''अनुमेयस्य सिद्ध्यर्थो योऽनुषङ्गेण सिद्ध्यति, स स्यादाधारसिद्धान्तो जगत्कर्त्ता यथेश्वरः॥'' वृत्तिकार विश्वनाथ ने जगत्कर्ता ईश्वर की सर्वज्ञता को अधिकरण सिद्धान्त कहा है क्योंकि सर्वज्ञत्व के बिना ईश्वर द्वारा सृष्टि के आदि में द्व्यणुक आदि का सकर्तृकत्व सिद्ध नहीं होता। जिस पदार्थ के बिना जो पदार्थ सिद्ध नहीं होता वह पदार्थ उसकी सिद्धि में अनुषंगी होता है। अतः भाष्यकार के मत में उक्त रूप अनुषंगी पदार्थ को अधिकरण सिद्धान्त कहा है।

महानैयायिक उदयनाचार्य ने आत्मतत्त्वविवेक में कहा है – ''सोऽयमधिकरण-सिद्धान्तन्यायेन स्थूलत्वसिद्धौ क्षणभंगभङ्गः''। अभिप्राय यह है कि बौद्ध सम्प्रदाय सत्पदार्थ को क्षणिक मानता है। इस मत में पदार्थ क्षणमात्र स्थायी होता है। एक क्षण के बाद उसका अत्यन्त विनाश होता है। उदयनाचार्य का कहना है कि ऐसी स्थिति में दृश्यमान घट आदि द्रव्य में स्थूलत्व का प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा। क्योंकि द्रव्य में चक्षुः-संयोग के बाद उसमें विद्यमान स्थूलत्व का प्रत्यक्ष होने के समय तक उसके स्थायित्व के बिना उसका प्रत्यक्ष होगा ही नहीं। अतः प्रत्यक्ष प्रमाण से द्रव्य में स्थूलत्व के सिद्ध होने पर उससे अनुषंगी क्षणभंग-भंग अर्थात् स्थायित्व अधिकरण सिद्धान्त के रूप में सिद्ध होता है। क्योंकि उस पदार्थ के क्षणभंग-भंग की सिद्धि के बिना उसमें प्रत्यक्ष प्रमाण से स्थूलत्व की सिद्धि नहीं होगी। उदयनाचार्य के इस कथन के अनुसार ज्ञात होता है कि इनके मत में समान युक्ति के आधार पर प्रत्यक्ष प्रमाण से वस्तुसिद्धि के स्थल में अधिकरण सिद्धान्त होता है। उद्योतकर ने कहा है – ''वाक्यार्थसिद्धौ''। वाचस्पति मिश्र ने व्याख्या की है – ''एवं हेतुरीदृशः पक्षश्च वाक्यार्थः'' किन्तु नव्यनैयायिक रघुनाथ शिरोमणि ने आत्मतत्त्वविवेक की व्याख्या में यहाँ उद्योतकर के उक्त सन्दर्भ की व्याख्या में कहा है – ''येन केनापि प्रमाणेन वाक्यार्थसिद्धौ जायमानायां योऽस्यार्थः सिद्ध्यति, स तथेत्यर्थः''। इन्होंने यह भी कहा है कि उद्योतकर के कथन के प्रसंग में

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu. Collection

वाचस्पति मिश्र ने जो भी कुछ कहा है वह उपलक्षणार्थक है। सार कथन यह हुआ कि पदार्थ की सिद्धि के बिना जो किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता वही पदार्थ प्रकृत सिद्धि में आनुषंगिक रूप में अधिकरण सिद्धान्त होता है। उदयनाचार्य के कथन के अनुसार रघुनाथ शिरोमणि ने ऐसी व्याख्या की है। वृत्तिकार विश्वनाथ ने इस प्रकार की व्याख्या उसकी स्वीकार की है – सूत्रगत यत् शब्द से उक्त रूप अनुषंगी पदार्थ ही महर्षि को विवक्षित रहा है। अतः उक्त रूप व्याख्या सहज ही ज्ञात होती है। किन्तु भाष्यकार ने कहा है – "तेऽर्थाः यदधिष्ठानाः सोऽधिकरणसिद्धान्तः"। अतः भाष्यकार के मत में और उनके उदाहरण में इन्द्रियनानात्व आदि अनुषंगी पदार्थ ही अधिकरण सिद्धान्त है – अनेक के द्वारा उक्त होने पर भी मेरे समझ में यह नहीं आता। भाष्यकार ने उपसंहार में कहा है – "पूर्वार्थसिद्धावेतेऽर्थाः सिद्धयन्ति, न तैर्विना सोऽर्थः सम्भवति"। वाचस्पति मिश्र ने यहाँ कहा है – "पूर्वोऽर्थो यः साक्षादधिकृतस्तस्य सिद्धावन्तर्गता इति भाष्यार्थः"। वाचस्पति मिश्र की व्याख्या के अनुसार ही पहले भाष्य के अर्थ कहे गए हैं। (१.१.३०)

सूत्र – अपरीक्षिताभ्युपगमात् तद्विशेषपरीक्षणमभ्युपगमसिद्धान्तः। १.१.३१।

अनुवाद – जिस स्थल में अपरीक्षित पदार्थ के स्वीकार प्रयुक्त अर्थात् प्रमाण आदि से विचारपूर्वक, निर्णय नहीं करके, अन्य किसी के सिद्धान्त को स्वीकार करके उस धर्मी के विशेष धर्म के विशेष धर्म का परीक्षण (विचार) करना (उस स्थल में उस स्वीकृत पर सिद्धान्त का) अभ्युपगम सिद्धान्त कहलाता है।

भाष्य – **यत्र किञ्चिदर्थजातमपरीक्षितमभ्युपगम्यते – अस्तु द्रव्यं शब्दः, स तु नित्योऽथानित्य इति द्रव्यस्य सतो नित्यताऽनित्यता वा तद्विशेषः परीक्ष्यते, सोऽभ्युपगमसिद्धान्तः स्वबुद्ध्यतिशयचिख्यापयिषया परबुद्ध्यवज्ञानाय च प्रवर्तत इति।**

अनुवाद – जिस स्थल में अपरीक्षित किसी पदार्थ सामान्य का अर्थात् किसी धर्मी में विचार द्वारा अनिर्णीत किसी सामान्य धर्म का स्वीकार करना (यथा) शब्द द्रव्य पदार्थ के रूप में मान्य हो किन्तु वह नित्य होता है या अनित्य, इस प्रकार की जिज्ञासा में द्रव्य रूप में सत् अर्थात् परमत में द्रव्य पदार्थ के रूप में स्वीकृत शब्द के नित्यत्व एवं अनित्यत्व रूप विशेष धर्म का प्रतिवादी द्वारा परीक्षित होना अभ्युपगम सिद्धान्त कहलाता है। यहाँ शब्द में द्रव्यत्व का स्वीकार अपनी बुद्धि के उत्कर्ष के ख्यापन की इच्छा और परबुद्धि (वादी की बुद्धि) की अवज्ञा के लिए होता है। अर्थात् प्रतिवादी इसी उद्देश्य से पहले बिना विचारे ही अपने अनभिमत अर्थात् परमत भी स्वीकार कर लेता है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

टिप्पणी – चतुर्थ सिद्धान्त का नाम है अभ्युपगम सिद्धान्त। इसकी व्याख्या में मतभेद है। भाष्यकार के अनुसार जहाँ प्रतिवादी अपने अनभिमत किसी सिद्धान्त को मानकर उस पदार्थ के विशेष धर्म की परीक्षा करता है उस स्थल में उसके द्वारा स्वीकृत वह पर-सिद्धान्त ही अभ्युपगम सिद्धान्त कहलाता है। भाष्यकार ने सूत्रार्थ की व्याख्या करके इसका एक उदाहरण प्रदर्शित किया है कि किसी वादी ने शब्द को नित्य और द्रव्य पदार्थ माना है। यहाँ प्रतिवादी नैयायिक यदि कहे कि शब्द द्रव्य पदार्थ भले ही हो किन्तु उसका नित्यत्व या अनित्यत्व परीक्षणीय है। यहाँ नैयायिक शब्द का द्रव्यत्व मानकर उसके विशेष धर्म नित्यत्व तथा अनित्यत्व के विषय में विचार करता है। यहाँ उसके स्वीकृत पर-सिद्धान्त शब्द का द्रव्यत्व नैयायिक के लिए अभ्युपगम सिद्धान्त होता है। भाष्यकार के इस उदाहरण से ज्ञात होता है कि उस समय में कोई मीमांसक सम्प्रदाय शब्द को द्रव्य मानता था। पश्चात् कुमारिल भट्ट ने इस मत का समर्थन भी किया है। यहाँ प्रतिवादी चतुर नैयायिक की अभिसन्धि यह है कि शब्द के द्रव्यत्व सिद्धान्त के निराकरण हेतु विचार करना आवश्यक नहीं है। क्योंकि उसके मानने पर भी शब्द के नित्यत्व का निराकरण हो जाने पर वादी (मीमांसक) पुनः पश्चात् शब्द के द्रव्यत्व सिद्धान्त का स्थापन नहीं कर सकेगा। क्योंकि उसके लिए उसके द्रव्यत्व की सिद्धि प्रयोजनहीन हो जाएगी। इस गूढ़ अभिप्राय को हृदय में रखकर प्रतिवादी नैयायिक उस समय में बिना विचार किए ही अपने अनभिमत शब्द के द्रव्यत्व सिद्धान्त को स्वीकार कर लेता है और उसके नित्यत्व के निराकरण से अपनी बुद्धि के उत्कर्ष का ख्यापन और वादी की बुद्धि की अवज्ञा-अपकर्ष सिद्ध होता है। अतः अपनी बुद्धि के उत्कर्ष के ख्यापन की इच्छा से और वादी की बुद्धि के अपकर्ष समझाने के लिए इस अभ्युपगम सिद्धान्त के मानने में प्रतिवादी प्रवृत्त होता है। भाष्य के उपसंहार में "परबुद्ध्यवज्ञानाय च" ऐसा पाठ किसी प्राचीन पुस्तक में देखा जाता है जिसे प्रकृत (अनुकूल) पाठ मानकर यहाँ परिगृहीत किया गया है। किन्तु वार्त्तिककार उद्योतकर ने भाष्यकार की व्याख्या का प्रतिवाद किया है। इनका कहना है कि विचार के समय अज्ञ या तीक्ष्णबुद्धि वादी की अवज्ञा नहीं की जा सकती। इस प्रकार की अवज्ञा अयुक्त है – "तस्मान्नायं सूत्रार्थोऽशास्त्रिताभ्युपगमः सिद्धान्त इति"। इस प्रकार भाष्यकार द्वारा व्याख्यात सूत्र का अर्थ असंगत है। यहाँ अपरीक्षित का अर्थ अशास्त्रीय वा असूत्रीय है अर्थात् जो सूत्र में साक्षात् उक्त नहीं है उसका अभ्युपगम या स्वीकार ही अभ्युपगम सिद्धान्त कहलाता है। सूत्र का यही अर्थ होता है। जैसे महर्षि गौतम के किसी भी सूत्र में मन का इन्द्रियत्व उक्त नहीं है तथापि महर्षि ने मन के विशेष धर्म की परीक्षा की है। इससे ज्ञात होता है कि मन का इन्द्रियत्व महर्षि का स्वीकृत सिद्धान्त है। यही अभ्युपगम सिद्धान्त है। वाचस्पति मिश्र तथा

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

उदयनाचार्य आदि ने उद्योतकर की व्याख्या का ही समर्थन करके मन के इन्द्रियत्व को अभ्युपगम सिद्धान्त कहा है। किन्तु भाष्यकार की दृष्टि में मन का इन्द्रियत्व सर्वशास्त्र के अविरुद्ध होने से सर्वतंत्र सिद्धान्त के अन्तर्गत भी आता है। तर्कभाषा में केशव मिश्र ने कहा है कि समानतंत्र वैशेषिकदर्शन में मन का इन्द्रियत्व उक्त होने से नैयायिक सम्प्रदाय का वह प्रतितंत्र सिद्धान्त है। किन्तु यह इनकी अभिनव व्याख्या है। वैशेषिक सूत्रों में मन के इन्द्रियत्व का स्पष्ट उल्लेख नहीं देखा जाता। केशव मिश्र ने भी इस प्रकार के सूत्र का प्रदर्शन नहीं किया।

वस्तुतः इस सूत्र के अपरीक्षित पद का अर्थ सरल रूप से यही ज्ञात होता है कि जो सिद्धान्त विचारपूर्वक निर्णीत नहीं है। यदि अशास्त्रित वा असूत्रित अर्थ महर्षि को अभिप्रेत होता तो वे स्वल्पाक्षर के कारण उसी का अपने सूत्र में प्रयोग करते। अतः भाष्यकार ने यत्र पद का अध्याहार करके सूत्र की व्याख्या की है – ''यत्र किञ्चिदर्थ जातमपरीक्षितमभ्युपगम्यते''। जिस स्थल में प्रतिवादी किसी पदार्थ में अपरीक्षित अर्थात् अपने अनभिमत किसी धर्म को स्वीकार करके उस पदार्थ में उसके अपने सम्मत किसी विशेष धर्म की परीक्षा अर्थात् विचारपूर्वक निर्णय करता है, इस स्थल में बिना विचार के पर सिद्धान्त का स्वीकार उस प्रतिवादी के पक्ष में अभ्युपगम सिद्धान्त कहलाता है। ऐसे स्थल में प्रतिवादी को प्रौढ़िवादी कहते हैं। पहले उसके द्वारा उस परमत का स्वीकार ही पश्चात् होने वाली उस पदार्थ के विशेष धर्म की परीक्षा का प्रयोजक होता है। इसी को समझाने के लिए महर्षि ने अपरीक्षिताभ्युपगमात् पद में पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग किया है। जयन्त भट्ट ने इसका समर्थन करते हुए सूत्र की व्याख्या के उपसंहार में कहा है – ''तस्माद् विशेषपरीक्षार्थोऽपरीक्षिताभ्युपगमः प्रौढ़िवादिना क्रियमाणोऽभ्युपगम-सिद्धान्त इति सूत्रार्थः। इत्थमेव च तत्र प्रावादुकानां व्यवहारः''। अनेक स्थलों में प्रतिवादी प्रौढ़िवादी होकर बिना विचार किए अपने अनभिमत वादी के मत विशेष को मानकर उनके मुख्य मत का खण्डन करते हैं – ऐसा व्यवहार चिरकाल से होता आ रहा है। जयन्त भट्ट ने अन्य व्याख्या का खण्डन करके भाष्यकार के मत के अनुसार इस सूत्र की व्याख्या करते हुए कहा है – ''तस्मादयं व्याख्यायते, अपरीक्षिताभ्युपगम एव स्वमतिकौशलेन क्रियमाणोऽभ्युपगमसिद्धान्तोऽस्तु द्रव्यं शब्द इति'। पश्चात् केशव मिश्र ने भी भाष्यकार के अभिमत का ही उदाहरण प्रस्तुत किया है। चरकसंहिता में भी चतुर्थ अभ्युपगम सिद्धान्त की ऐसी व्याख्या उपलब्ध है[१२७]। अतः ज्ञात होता है कि

[१२७] अभ्युपगमसिद्धान्तो नाम यमर्थमसिद्धमपरीक्षितमनुपादिष्टमहेतुकं वा वादकालेऽभ्युपगच्छन्ति भिषजः। – विमानस्थान अध्याय ८।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अभ्युपगम सिद्धान्त की यही (भाष्यानुकूल) व्याख्या प्राचीनकाल से होती आ रही है। (१.१.३१)

न्याय प्रकरण

***भाष्य* – अथावयवा: –**

अनुवाद – अथ अर्थात् सिद्धान्त पदार्थ के विभाग और लक्षण के अनन्तर क्रम प्राप्त अवयवों का लक्षण निरूपणीय है।

सूत्र – प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवा: । १.१.३२ ।

अनुवाद – प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन अर्थात् प्रतिज्ञा आदि नामक पाँच वाक्य अवयव कहलाते हैं।

टिप्पणी – महर्षि गौतम सिद्धान्त पदार्थ के निरूपण के बाद अलग प्रकरण के द्वारा क्रम-प्राप्त अवयव पदार्थ का निरूपण करते हैं। इसी अभिप्राय से भाष्यकार ने "अथावयवा:" कहा है। इस प्रकरण का नाम "न्याय प्रकरण" है। क्योंकि यथाक्रम उच्चारित प्रतिज्ञा आदि पाँच अवयव रूप वाक्यसमष्टिन्याय नाम से कही जाती है। भाष्यकार ने पहले ही (१.१.१ सूत्र की व्याख्या में) कहा है – "सोऽयं परमो न्याय:"। इस रूप में यथाक्रम प्रतिज्ञा आदि पाँच वाक्यों के प्रयोग को ही न्यायप्रयोग कहते हैं। अत: न्यायविद्या के प्रकाशक महर्षि गौतम ने इस प्रकरण के द्वारा न्याय नामक महावाक्य के प्रतिज्ञा आदि पाँच अवयवों का निरूपण किया है। इससे ही सूचित होता है कि अनुमान प्रमाण स्वार्थ और परार्थ के भेद से दो प्रकार के होते हैं। क्योंकि अपने तत्त्व निश्चय के लिए अनुमान प्रमाण का प्रयोग स्वार्थानुमान कहलाता है। इससे दूसरे का तत्त्वनिश्चय आवश्यक नहीं है। अत: इसमें दूसरे को अपना मत समझाने के लिए किसी वाक्य का प्रयोग नहीं होता। किन्तु जिस स्थल में वादी और प्रतिवादी की विप्रतिपत्ति के कारण विवादित विषय के पदार्थ में मध्यस्थ को संशय होता है, उस स्थल में मध्यस्थ को एकतर पक्ष का निश्चय हो, इस उद्देश्य से उनके निकट वादी और प्रतिवादी न्याय (पञ्चावयव वाक्य) का प्रयोग करके अपने मत का साधक अनुमान प्रमाण का प्रदर्शन करता है। इसे ही परार्थानुमान कहते हैं। न्यायप्रयोग के बिना यह सम्भव नहीं है। अत: इस न्याय का निरूपण अवश्य कर्त्तव्य है। तत्त्वचिन्तामणिकार गङ्गेश उपाध्याय ने अवयवग्रन्थ के आरम्भ में कहा है – "तच्चानुमानम् परार्थं न्यायसाध्यमिति न्यायस्तदवयवाश्च प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानि निरूप्यन्ते"। अभिप्राय यह है कि महर्षि ने इस प्रकरण के द्वारा प्रतिज्ञा आदि पाँच अवयवों का निरूपण करके अनुमान

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection.

प्रमाण के १. स्वार्थ, और २. परार्थ रूप द्वैविध्य को भी सूचित किया है। भासर्वज्ञ ने न्यायसार में स्पष्ट कहा है – ''तत् पुनर्द्विविधं स्वार्थं परार्थञ्चेति। परोपदेशानपेक्षम् स्वार्थम्। परोपदेशापेक्षं परार्थमिति। परोपदेशस्तु पञ्चावयववाक्यम्''।

प्राचीन वैशेषिक आचार्य प्रशस्तपाद ने कहा है – ''पञ्चावयवेन वाक्येन स्वनिश्चितार्थप्रतिपादनं परार्थानुमानम्''। अपने मत के अनुसार इस सन्दर्भ की व्याख्या में न्यायकन्दलीकार श्रीधर भट्ट ने कहा है – ''पञ्चावयवेन वाक्येन प्रतिपादनं तत् प्रतिपत्तिजननसमर्थपञ्चावयववाक्यप्रयोगः परार्थानुमानम्''। किसी सम्प्रदाय का कहना है कि परार्थानुमान नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अनुमिति के हेतु या तज्जनित ज्ञान विशेष को अनुमान कहा जाता है। किन्तु उस हेतु या ज्ञान को परार्थ इसलिए नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसकी परार्थता न तो लोक में प्रसिद्ध है न ही वेद में – ''तयोश्च न परार्थत्वं प्रसिद्धं लोकवेदयोः''। यदि कहा जाए कि अनुमान के बोधकवाक्य की परार्थता के कारण अनुमान को परार्थ कहा जाता है – ''वचनस्य परार्थत्वादनुमानपरार्थता'' तो दूसरे के समक्ष अपने प्रत्यक्ष के बोधकवाक्य के प्रयोग करने से उस वाक्य की परार्थता के कारण प्रत्यक्ष को भी परार्थ क्यों नहीं माना जाएगा – ''प्रत्यक्षस्यापि पारार्थ्यं तद्वारं किं न कल्प्यते''। इसके समाधान हेतु श्रीधर भट्ट का कहना है कि हमलोग प्रतिज्ञा आदि वाक्यों की परार्थता के कारण अनुमान प्रमाण का परार्थ भेद नहीं मानते किन्तु वह वाक्यसमूह उस स्थल में परम्परया मध्यस्थवृन्द की अनुमिति का हेतु होता है, इसलिए उस वाक्यसमूह को परार्थ अनुमान कहते हैं।

यह वास्तविकता है कि जयन्त भट्ट ने भी न्यायमञ्जरी में इस वाक्यसमूह को परार्थ अनुमान कहा है – ''तमेव परार्थानुमानमाचक्षते नीतिविदः''। पश्चात् इस मत के अनुसार नव्यनैयायिक अन्नम् भट्ट ने तर्कसंग्रह में पञ्चावयव वाक्य को परार्थानुमान कहा है। किन्तु नव्यन्याय के प्रवर्तक गङ्गेश उपाध्याय ने कहा है – ''तच्चानुमानं परार्थं न्यायसाध्यम्''। इस आधार पर तर्कसंग्रह की दीपिका व्याख्या में नीलकण्ठभट्ट ने अनुमान के परार्थत्व का समर्थन किया है। तथा कहा है – ''तथापि परार्थानुमानप्रयोजके पञ्चावयववाक्ये परार्थानुमानशब्दस्यौपचारिकः प्रयोग इति मनसिकृत्य मूलमवतारयति''। तात्पर्य यह है कि वादी और प्रतिवादी के प्रतिज्ञा आदि पञ्चावयव वाक्य के सुनने के पश्चात् मध्यस्थ के मन में लिंगपरामर्श उत्पन्न होता है वही वस्तुतः अन्नम् भट्ट के मतानुसार परार्थानुमान होता है। किन्तु वह पञ्चावयव वाक्य उस परार्थानुमान का प्रयोजक होने से उस वाक्य में परार्थानुमान शब्द का औपचारिक प्रयोग होता है। इसी अभिप्राय से अन्नम् भट्ट ने पञ्चावयव वाक्य को परार्थानुमान कहा है। अन्नम् भट्ट

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

का अभिप्राय जो भी हो लेकिन न्यायबिन्दु में बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति ने अपने स्पष्ट मत के अनुसार कहा है कि ''त्रिरूपलिङ्गाख्यानं परार्थानुमानं कारणे कार्योपचारात्''[१२८]। पक्षसत्त्व आदि धर्मत्रय से युक्त हेतु का वचन परम्परा सम्बन्ध से अनुमान का कारण होने से उसमें अनुमान शब्द का औपचारिक प्रयोग होता है। किन्तु वह वचन ही मुख्य अनुमान नहीं है। वस्तुतः न्याय के प्रयोगस्थल में मध्यस्थ के लिंगपरामर्शरूप अनुमान प्रमाण को परार्थ कहा जाता है। इस परार्थ पद की अनेक प्रकार की व्याख्या होती है। नीलकण्ठ भट्ट ने कहा है – ''परस्य मध्यस्थस्य अर्थः प्रयोजनम् साध्यानुमितिरूपं यस्मादिति व्युत्पत्त्या परसमवेतानुमितिकरणलिङ्गपरामर्शोऽर्थः'' ।

अवधेय है कि इस सूत्र से अवयव पदार्थ का विभाग होने पर भी इससे अवयव समूह का सामान्यलक्षण भी सूचित होता है। क्योंकि सामान्यलक्षण के बिना विशेषलक्षण का ज्ञान सम्भव नहीं है। प्रथम सूत्र के भाष्य में भाष्यकार द्वारा की गई अवयव पदार्थ की व्याख्या से भी ज्ञात होता है कि प्रतिज्ञा आदि पञ्चावयव वाक्यों का अन्यतमत्व अवयव का सामान्यलक्षण होता है। दीधिति में रघुनाथ शिरोमणि ने कहा है – ''अवयवत्वं तु न्यायान्तर्गतत्वे सति प्रतिज्ञाद्यन्यतमत्वम्''[१२९]। वृत्तिकार विश्वनाथ ने कहा है – ''अनेन विभागेन प्रतिज्ञाद्यन्यतमत्वमवयवत्वमिति सामान्यलक्षणं सूचितम्'' । पश्चात् इन्होंने कहा है कि इस सूत्र में प्रतिज्ञा आदि पञ्चावयव के कथन से दशावयववाद का खण्डन हो जाता है – यह भी समझना चाहिए। उद्योतकर ने कहा है कि किसी सम्प्रदाय में दश अवयव मान्य हैं और किसी सम्प्रदाय में तीन अवयव मान्य हैं, किन्तु प्रतिज्ञा आदि पाँच वाक्य ही अवयव होते हैं – न तो इससे अधिक न ही इससे न्यून अवयव मान्य हैं –

---

[१२८] कारणे कार्योपचारादिति। त्रिरूपलिंगाभिधानात् त्रिरूपलिंगस्मृतिरुत्पद्यते, स्मृतेश्चानुमानम्। तस्यानुमानस्य परम्परया त्रिरूपलिंगाभिधानं कारणम् । तस्मिन् कारणे वचने कार्यस्यानुमानस्योपचारः समारोपः क्रियते। ततः समारोपात् कारणं वचनमनुमानशब्देनोच्यते। औपचारिकं वचनमनुमानं न मुख्यमित्यर्थः। – धर्मोत्तरकृतन्यायबिन्दुटीका का तृतीय परिच्छेद

[१२९] प्राचीन न्याय के मतानुसार प्रतिज्ञा आदि पाँचों वाक्य मिलकर एकवाक्यता प्राप्त करके एक विशिष्ट अर्थ के बोधक होते हैं। इसी मत के आधार पर गङ्गेश उपाध्याय ने अवयव ग्रन्थ में न्याय और अवयव का लक्षण कहा है। किन्तु रघुनाथ शिरोमणि ने अपने सूक्ष्म चिन्तन के आधार पर उस मत का प्रतिवाद करके न्याय और अवयव के दूसरे प्रकार के लक्षण कहे हैं। इन्होंने पहले न्याय लक्षण कहा है – ''उचितानुपूर्वीकप्रतिज्ञादिपञ्चकसमुदायत्वम् न्यायत्वम्'' । प्रतिज्ञा आदि पाँच वाक्यों के अन्तर्गत क्रमिक वर्ग समूह का यथायथ आनुपूर्वीक्रम से उच्चारित उन पाँचों वाक्यों की समष्टि ही न्याय पदार्थ होती है। इस विषय में विशद विचार के जिज्ञासु के लिए रघुनाथ की दीधिति और उसकी व्याख्या द्रष्टव्य है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

इस प्रकार के नियम को समझाने के लिए महर्षि ने इस सूत्र में अवयव का इस प्रकार से विभाग किया है। यद्यपि भाष्यकार ने ऐसी बात कही नहीं तथापि इन्होंने दश अवयववाद का उल्लेख एवं उसकी व्याख्या करके खण्डन किया है। आगे इस दश अवयववाद का उल्लेख, व्याख्या तथा खण्डन होने जा रहा है।

भाष्य – **दशावयवानेके नैयायिका वाक्ये सञ्चक्षते। जिज्ञासा, संशयः, शक्यप्राप्तिः, प्रयोजनम्, संशयव्युदास इति। ते कस्मान्नोच्यन्ते इति?**

तत्राप्रतीयमानेऽर्थे प्रत्ययार्थस्य प्रवर्तिका जिज्ञासा। अप्रतीयमानमर्थं कस्माज्जिज्ञासते? तं तत्त्वतो ज्ञातं हास्यामि वा उपादास्ये उपेक्षिष्ये वेति। ता एता हानोपादानोपेक्षाबुद्धयस्तत्त्वज्ञानस्यार्थः तदर्थमयं जिज्ञासते। सा खल्वियमसाधनमर्थस्येति। जिज्ञासाधिष्ठानं संशयश्च व्याहतधर्मोपसंघातात् तत्त्वज्ञाने प्रत्यासन्नः। व्याहतयोर्हि धर्मयोरन्यतरत् तत्त्वं भवितुमर्हतीति। स पृथगुपदिष्टोऽप्यसाधनमर्थस्येति। प्रमातुः प्रमाणानि प्रमेयाधिगमार्थानि सा शक्यप्राप्तिर्न साधकस्य वाक्यस्य फलं नैकदेश इति। संशयव्युदासः प्रतिपक्षोपवर्णनम्, तत्प्रतिषेधे तत्त्वज्ञानाभ्यनुज्ञानार्थं, न त्वयं साधकवाक्यैकदेश इति। प्रकरणे तु जिज्ञासादयः समर्था अवधारणीयार्थोपकारात्। अर्थसाधकभावात्तु प्रतिज्ञादयः साधकवाक्यस्य भागा एकदेशा अवयवा इति।

अनुवाद – अन्य नैयायिक सम्प्रदाय न्यायवाक्य में दश अवयव मानता है – जिज्ञासा, संशय, शक्यप्राप्ति, प्रयोजन तथा संशयव्युदास और प्रतिज्ञा आदि अवयव। (प्रश्न) इन दशों को यहाँ क्यों नहीं कहा गया है। महर्षि ने जिज्ञासा आदि अतिरिक्त पाँच अवयवों को यहाँ क्यों नहीं कहा? (उत्तर) इनमें अप्रतीयमान पदार्थ में अर्थात् सामान्यतः ज्ञायमान तथा विशेष धर्म के रूप में अज्ञायमान पदार्थ के विषय में तत्त्वावधारण रूप ज्ञान के लिए उपर्युक्त हान, उपादान तथा उपेक्षा बुद्धि रूप फल की प्रवर्त्तिका (उत्पादिका) होती है जिज्ञासा। प्रश्नोत्तर के रूप में इस वाक्य की विशद व्याख्या करते हैं। (प्रश्न) अज्ञायमान पदार्थ की जिज्ञासा क्यों की जाएगी? (उत्तर) यथार्थरूप में ज्ञात होने पर ही उस पदार्थ का त्याग या उपादान या उपेक्षा की जा सकती है। यह हान बुद्धि, उपादान बुद्धि तथा उपेक्षा बुद्धि तत्त्वज्ञान का प्रयोजन होती है। इसलिए हानादिबुद्धिरूप फल प्राप्ति के लिए ज्ञाता जिज्ञासा करता है। किन्तु यह जिज्ञासा पदार्थ का साधन नहीं है अर्थात् यह किसी पदार्थ का प्रतिपादक वाक्य नहीं है, अतः यह न्यायवाक्य का अवयव नहीं हो सकता।

जिज्ञासा का कारणरूप आश्रय होता है संशय। यह दो विरोधी धर्मों के उपसंघात

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अर्थात् विषय-विषयिभाव सम्बन्ध के कारण तत्त्वज्ञान का निकटवर्ती होता है। क्योंकि दो विरोधी धर्मों में से एक पक्ष तत्त्व होने योग्य होता है। यह संशय सूत्र में पृथक् रूप से उपदिष्ट होने पर भी अर्थ का साधन नहीं होता अर्थात् वह किसी पदार्थ का प्रतिपादक वाक्य नहीं होता। प्रमाणसमूह प्रमाता के प्रमेयबोध के लिए होता है और वही है शक्यप्राप्ति अर्थात् प्रमाणसमूह की प्रमेय के बोधजनन में सामर्थ्य, प्रतिज्ञा आदिवाक्य की तरह साधकवाक्य के साथ (अर्थात् न्याय नामक महावाक्य के अंश के साथ) युक्त नहीं होती अर्थात् वह (शक्यप्राप्ति) पर प्रतिपादक वाक्य नहीं होती। तत्त्व के अवधारण रूप प्रयोजन अर्थ प्रतिपादक वाक्य का अर्थात् न्यायवाक्य का फल होता है, वह एक देश अर्थात् वाक्यसमष्टि का अंश नहीं हो सकता। अर्थात् उक्त प्रयोजन भी पर प्रतिपादक वाक्य नहीं हो सकता।

प्रतिपक्ष का उपवर्णन (प्रतिपक्षरूप साध्यधर्म में हेतु के अभाव का वर्णन) कहलाता है संशयव्युदास। यह प्रतिपक्ष का उपवर्णन प्रतिषेध में (प्रमाण के द्वारा प्रतिपक्ष के खण्डन में) तत्त्वज्ञान के (प्रमाण के) अभ्यनुज्ञानार्थ (तत्त्व के साधक प्रमाण का अनुग्रह) ही उसका प्रयोजन एवं संशय का निराकरण उसका फल होता है। यह संशयव्युदास (तर्क) साधकवाक्य का (न्यायवाक्य का) अंश नहीं होता अर्थात् वह न्यायवाक्य का अवयव नहीं है। प्रकरण में अर्थात् पक्ष और प्रतिपक्ष के संस्थापन में अवधारणीय पदार्थ के उपकारी होने के कारण उपर्युक्त जिज्ञासा तथा संशय आदि पदार्थ समर्थ होते हैं अर्थात् न्याय के द्वारा तत्त्व के निर्णय में आवश्यक होते हैं। किन्तु अर्थविशेष के बोधक होने से प्रतिज्ञा आदि पाँचों अवयव वाक्यतत्त्व के साधक न्याय नामक महावाक्य के अंश – एकदेश – होते हैं, अतएव अवयव कहलाते हैं।

टिप्पणी – भाष्यकार ने किसी नैयायिक सम्प्रदाय को दशावयववादी कहा है। इसके अनुसार तार्किकरक्षाकार वरदराज ने कहा है – "केचन जरन्नैयायिकास्तु जिज्ञासासंशय शक्यप्राप्तिप्रयोजनसंशयव्युदासैः सह दशावयवा इत्याचक्षते"। किन्तु इस दश अवयववादी वृद्ध नैयायिक सम्प्रदाय का परिचय उपलब्ध नहीं है। सांख्यकारिका की प्राचीन व्याख्या युक्तिदीपिका के अध्ययन से ज्ञात होता है कि सांख्य का कोई सम्प्रदाय दशअवयववादी रहा है[१३०]। क्या यह सांख्यज्ञाता नैयायिक है? हो सकता है। क्योंकि महाभारत कहता है – "न्यायतन्त्राण्यनेकानि"। सांख्यशास्त्र न्यायशास्त्र के मध्य

[१३०] ..... तदा अवयविवाक्यं परिकल्प्यते। तस्य पुनरवयवा जिज्ञासासंशयप्रयोजनशक्यप्राप्ति संशयव्युदासलक्षणाश्च व्याख्याङ्गम्। प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तोपसंहारनिगमनानि परप्रतिपादनाङ्गमिति। – युक्तिदीपिका, कलकत्ता संस्कृत सिरीज प्रकाशन, पृ. ४७-५१

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

परिगणित हो सकता है। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में सांख्यशास्त्र की गणना आन्वीक्षिकी में की है। प्राचीन सांख्याचार्य ईश्वरकृष्ण ने गौतम के कथित तीन प्रकार के अनुमान को मानकर कहा है – "त्रिविधमनुमानमाख्यातम्"। व्याख्याकारवृन्द सांख्य-मत में उक्त तीनों प्रकार के अनुमान की व्याख्या करते हैं। अतः इस प्रकार से अनुमान के व्याख्याता दश अवयववादी सांख्य सम्प्रदाय को नैयायिक कहा जा सकता है। किन्तु वे गौतम मतावलम्बी प्रसिद्ध नैयायिक नहीं हो सकते – इसी को समझाने के लिए भाष्यकार ने कहा है – "एके नैयायिकाः" अर्थात् अन्य नैयायिक दश अवयववादी होते हैं। यहाँ एक पद का अर्थ अन्य होता है – "एके मुख्यान्यकेवलाः" कोष कहता है। अतः एक पद से यहाँ सांख्य सम्प्रदायविशेष ही भाष्यकार को विवेक्षित हो सकता है।

यह कहना भी आवश्यक है कि युक्तिदीपिका में जिज्ञासा आदि के बोधक वाक्यों को व्याख्या का अंग कहा गया है तथा वीत अनुमान को दश अवयवों से युक्त कहा गया है – "तस्मात् सूक्तं दशावयवो वीतः"। यहाँ भाष्यकार वात्स्यायन ने दश अवयववाद का खण्डन करते हुए कहा है कि जिज्ञासा तथा संशय आदि वाक्य नहीं होने से न्यायवाक्य का अवयव नहीं हो सकता किन्तु वे न्याय प्रवृत्ति के अंगरूप में उपयोगी होते हैं। वस्तुतः न्याय-प्रयोग के स्थल में पहले जिज्ञासा आदि के बोधकवाक्यों का प्रयोग आवश्यक नहीं है। युक्तिदीपिकाकार ने भी कहा है – "नियमानभ्युपगमात्। नहि वयमेषामावश्यकमभिधानमाचक्ष्महे"। "यस्तु न पर्यनुयुंक्ते तं प्रत्येते वाच्याः"। अर्थात् जिज्ञासा आदि के विषय में प्रश्न होने पर उनके बोधकवाक्यों का प्रयोग करना है किन्तु जो वादी को इस विषय में प्रश्न नहीं करता उनके निकट जिज्ञासा आदि का कहना आवश्यक नहीं है। युक्तिदीपिकाकार ने भी जिज्ञासा आदि को पर का प्रतिपादक अवयव नहीं कहा। स्थलविशेष में व्याख्या के अंगरूप में उनका उल्लेख किया है। भाष्यकार ने उस मत की इस प्रकार से व्याख्या नहीं की है।

भाष्यकार ने जिज्ञासा के प्रयोजन की व्याख्या में पहले कहा है – "तत्राप्रतीय-मानेऽर्थे प्रत्ययार्थस्य प्रवर्तिका जिज्ञासा"। अकस्मात् अज्ञात पदार्थ में जिज्ञासा नहीं होती किन्तु जो सामान्य रूप से ज्ञायमान होने पर भी विशेषधर्म के रूप में अज्ञायमान होता है उस पदार्थ के उस विशेष धर्म के विषय में संशय होने पर उसके निराकरणार्थ उस विषय में जिज्ञासा होती है। वह तत्त्वजिज्ञासा यहाँ जिज्ञासा शब्द से ज्ञात होती है। क्योंकि इस तत्त्वजिज्ञासा का फल यह होता है कि प्रमाण आदि के द्वारा तत्त्व निश्चय होने पर उस निश्चित पदार्थ के विषय में हान बुद्धि, उपादान बुद्धि और उपेक्षा बुद्धि उत्पन्न होती है और इससे उस पदार्थ का त्याग, ग्रहण या उपेक्षा होती है। उक्त

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

हानादिबुद्धि ही जिज्ञासा का चरम फल होता है। इसी को भाष्यकार ने कहा है – ''प्रत्ययार्थस्य प्रवर्तिका जिज्ञासा''। यहाँ ज्ञानार्थक प्रत्यय शब्द से तत्त्व निश्चय रूप तत्त्वज्ञान और प्रयोजनार्थक अर्थ शब्द से हानादिबुद्धिरूप प्रयोजन ही भाष्यकार को विवक्षित है। भाष्यकार ने स्वयं व्याख्या के द्वारा इसको स्पष्टतः कहा है। हानादिबुद्धि की व्याख्या पहले तृतीय सूत्र के भाष्य में विशेष रूप से हुई। अभिप्राय यह है कि उक्त जिज्ञासा के परम्परया प्रमाण के चरम फल हानादिबुद्धि का कारण होने से, भाष्यकार ने उसे प्रत्ययार्थ (हानादिबुद्धि) की प्रवर्तिका कहकर उसके प्रयोजन का प्रदर्शन किया है। पश्चात् भाष्यकार ने उस तत्त्वजिज्ञासा के कारण संशय को तत्त्वज्ञान का प्रत्यासन्न कहकर उसका प्रयोजन प्रदर्शित किया है। तात्पर्य यह है कि परस्पर विरुद्ध धर्मद्वय के विषय में पहले संशय होता है, इसमें एकतर धर्म प्रकृत तत्त्व रहता है। अतः धर्मद्वयविषयक संशय यद्यपि तत्त्वविषयक होता है तथापि वह संशय तत्त्वज्ञान का निकटवर्ती होता है। उसे निश्चयात्मक नहीं होने से उसको तत्त्वज्ञान नहीं लेकिन तत्त्वज्ञान के सदृश कहते हैं। क्योंकि प्रकृत तत्त्व के विषय में जिसको संशय होता है वह एक पक्ष में उस तत्त्व का ग्रहण करके उसके निश्चय हेतु आगे बढ़ता है। किन्तु जिसको उस विषय में संशय नहीं होता उसको उस विषय में उस संशय से जन्य जिज्ञासा भी उस विषय की नहीं होती। अतः न्याय के पूर्वांग के रूप में प्रथम सूत्र में संशय पदार्थ पृथक् रूप में उद्दिष्ट हुआ है। किन्तु इतना होने पर भी जिज्ञासा की तरह संशय भी किसी अर्थ का प्रतिपादक वाक्य नहीं होने के कारण वह न्यायवाक्य का अवयव नहीं होता है।

तृतीय अवयव शक्यप्राप्ति की व्याख्या में भाष्यकार ने कहा है कि प्रमेय के बोध हेतु प्रमाणसमूह आवश्यक होता है। प्रमाणसमूह में प्रमेयबोध की शक्ति या कारणत्व रहता है। इसी को ''शक्यप्राप्ति'' कहते हैं। वाचस्पति ने इसकी व्याख्या में कहा है – ''शक्यं प्रमेयम् तस्मिन् प्राप्तिः शक्ता प्रमाणानां प्रमातुश्च''। प्रमाण और प्रमाता की शक्ति जो स्वरूपशक्ति तथा सहकारिताशक्ति रूप होती है किन्तु यह (शक्यप्राप्ति) प्रतिज्ञा आदि वाक्य की तरह पर के प्रतिपादक न्यायवाक्य का अंश नहीं होती। अतः इसको न्याय का अवयव नहीं कहा जा सकता। इसी तरह न्याय के द्वारा तत्त्व का निर्णय और तज्जन्य हानादिबुद्धिरूप प्रयोजन उस न्यायवाक्य का अंश नहीं होता। अतः उसको न्याय का अवयव नहीं कहा जा सकता और पञ्चम अवयव संशयव्युदास को भी न्याय अवयव नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह भी न्यायवाक्य का अंग नहीं होता। ''संशयो व्युदस्यतेऽनेन'' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिससे संशय की निवृत्ति हो अर्थात् संशय का निवर्तक तर्क कहलाता है – संशयव्युदास। भाष्यकार ने इसकी व्याख्या की है कि ''प्रतिपक्षोपवर्णनम्''। वाचस्पति मिश्र ने इसको स्पष्ट करते हुए कहा है – प्रतिपक्ष में

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

हेतु के अभाव का वर्णन। जैसे शब्द यदि नित्य है तो उच्चारण के पहले भी सुना जाना चाहिए। इस तरह से शब्द में अनित्य के प्रतिपक्ष नित्यत्व में हेतु के अभाव का समर्थन करने पर शब्द के विषय में नित्यत्व एवं अनित्य का संशय निवृत्त होता है अर्थात् अनित्यत्व सिद्ध होता है। अतः संशय निवर्तक तर्क ही संशयव्युदास पदार्थ होता है। वाचस्पति मिश्र ने बाद में कहा है – ''संशयव्युदासस्तर्कापरनामा''। प्रमाण द्वारा एकतर पक्ष का निषेध होने पर तर्क ही उस तत्त्व निश्चायक प्रमाण का सहायक होता है। आगे तर्कसूत्र के भाष्य में यह अधिक स्पष्ट होगा। किसी-किसी भाष्य की पुस्तक में ''तत्त्वाभ्यनुज्ञानार्थम्'' इस प्रकार स्पष्टार्थक तर्कसूत्र का पाठ मिलता है। किन्तु वाचस्पति मिश्र ने लिखा है – ''तत्त्वज्ञानाभ्यनुज्ञानार्थम् तत्त्वं ज्ञायतेऽनेनेति तत्त्वज्ञानं प्रमाणं तदभ्यनुज्ञानार्थम्''। भाष्यकार ने पश्चात् कहा है – ''प्रकरणे तु जिज्ञासादयः समर्थाः''। उद्योतकर ने यहाँ व्याख्या की है – ''प्रकरणमेते उत्थापयन्तीति। नहि जिज्ञासादीनन्तरेण प्रकरणस्योत्थानमस्तीति प्रकरणोत्थापका नावयवा जिज्ञासादय इति''। अर्थात् पूर्वोक्त जिज्ञासा आदि के बिना पक्ष एवं प्रतिपक्ष स्थापन रूप न्याय की प्रवृत्ति सम्भव नहीं है। अतः उक्त जिज्ञासा आदि न्यायप्रवृत्ति के अंगरूप में आवश्यक रहने पर भी अर्थ के साधकवाक्य नहीं होने के कारण अवयव नहीं होते। किन्तु प्रतिज्ञा आदि पाँच वाक्य ही अर्थ के साधक होने से न्याय नामक महावाक्य के अंगरूप में मान्य हैं। अतः भाष्यकार ने कहा है – ''अर्थसाधकभावात्तु'' आदि। अनेक भाष्य पुस्तकों में – ''तत्त्वार्थसाधकभावात्तु'' एवं ''तत्त्वसाधकभावात्तु'' पाठ उपलब्ध है। तत्त्वचिन्तामणिकार गङ्गेश उपाध्याय ने पञ्चावयव की व्याख्या करते हुए अन्त में कहा है – ''संशयादयस्तु अवयवलक्षणाभावादेव नावयवाः, किन्तु न्यायाङ्गतयोपयुज्यन्ते। कण्टकोद्धारस्य च न सार्वत्रिकत्वम् समयविशेषोपयोगित्वादिति''। वादी तथा प्रतिवादी अपने प्रयुक्त हेतु में हेत्वाभास के अभाव को समझाने के लिए ''नायं हेत्वाभासः'' इस प्रकार के वाक्य का जो प्रयोग करता है उसी का प्राचीन नाम है ''कण्टकोद्धार''। किन्तु अवसर विशेष में उसके उपयोगी होने पर भी वह सार्वत्रिक नहीं माना जाता। अतः वह न्यायांग नहीं है। (१.१.३२)

भाष्य – तेषां तु यथा विभक्तानाम् –

सूत्र – साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा। १.१.३३।

अनुवाद – विभाग के अनुसार अवयवों में से प्रतिज्ञा का लक्षण कहते हैं कि साधनीय धर्मविशिष्ट धर्मी का बोधकवाक्य प्रतिज्ञा कहलाता है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

भाष्य – **प्रज्ञापनीयेन धर्मेण धर्मिणो विशिष्टस्य परिग्रहवचनं प्रतिज्ञा साध्यनिर्देशः। अनित्यः शब्द इति।**

अनुवाद – प्रज्ञापनीय अर्थात् वादी या प्रतिवादी के मतानुसार प्रतिपादनीय धर्म से विशिष्ट धर्मी का बोधकवाक्य साध्यनिर्देश रूप प्रतिज्ञा कहलाती है। जैसे शब्द अनित्य होता है।

टिप्पणी – पूर्वसूत्र में विभक्त पाँच अवयवों में से पहला अवयव प्रतिज्ञा का लक्षण कहना यहाँ अवसरप्राप्त है। अतः महर्षि ने सूत्र द्वारा उसका लक्षण कहा है – "साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा"। साध्यस्य निर्देशः साध्यनिर्देशः अर्थात् साध्य का निर्देश (कथन) है प्रतिज्ञा। भाष्यकार ने इस विग्रह वाक्य के अन्तर्गत समागत साध्यस्य पद के अर्थ की व्याख्या में कहा है – "प्रज्ञापनीयेन धर्मेण धर्मिणो विशिष्टस्य"। निर्देश की व्याख्या में कहा है – "परिग्रहवचनम्"। वाचस्पति मिश्र ने कहा है – "परिगृह्यतेऽनेनेति परिग्रहः स च वचनञ्चेति परिग्रहवचनम्"। जिससे परिग्रह या बोध हो – ऐसा वचन या वाक्य होता है परिग्रहवचन। "निर्दिश्यते परिगृह्यतेऽनेन" इस व्युत्पत्ति के अनुसार सूत्र में कथित निर्देश पद उक्त रूप वाक्य ही अभिप्रेत होता है। यहाँ साध्यपद से साध्यधर्म और साध्यधर्म विशिष्ट धर्मी दोनों ही लिए जाते हैं। आगे इसकी अधिक स्पष्ट व्याख्या होगी। इस सूत्र में वादी और प्रतिवादी के प्रज्ञापनीय अर्थात् साधनीय धर्मविशिष्ट धर्मी साध्य शब्द से अभिप्रेत है।[१३१] अब सूत्र का अर्थ होता है कि साधनीय धर्मविशिष्ट धर्मी का बोधक वाक्य विशेष ही प्रतिज्ञा पदार्थ होता है। जैसे शब्द-अनित्यत्ववादी नैयायिक के लिए शब्द में अनित्यत्व साधनीय है अतः अनित्यत्वधर्म विशिष्ट शब्दरूप धर्मी ही उनका साध्य होता है। मीमांसक के साथ विचार के समय में मध्यस्थ के निकट नैयायिक प्रतिज्ञावाक्य कहता है – "अनित्यः शब्दः"। इस वाक्य से अनित्यत्वरूप धर्मविशिष्ट शब्दरूप धर्मी का बोध होने के कारण उपर्युक्त लक्षण के अनुसार यह प्रतिज्ञावाक्य कहलाता है।

---

[१३१] अवयवतत्त्वचिन्तामणि की दीधितिव्याख्या में रघुनाथ शिरोमणि ने इस सूत्र का उल्लेख करके व्याख्या की है – "साध्यो विधेयविशिष्टो धर्मी, तथा च पक्षतावच्छेदकपर्वतत्वादिविशिष्टे साध्यतावच्छेदकवह्नित्वादिविशिष्टवैशिष्ट्यज्ञानजनको न्यायावयव इति पर्यवसितोऽर्थः"। इस सूत्र के यथाश्रुत अर्थ का ग्रहण करने पर प्रतिज्ञालक्षण में अतिव्याप्ति दोष होता है। अतएव गङ्गेश उपाध्याय ने कहा है – "तत्र प्रतिज्ञा न साध्यनिर्देशः साध्यपदेऽतिव्याप्तेः"। किन्तु ऐसी बात नहीं है कि वे इस सूत्र का प्रकृत अर्थ न समझकर सूत्रोक्त प्रतिज्ञालक्षण का खण्डन करते हैं। गदाधर भट्टाचार्य ने यद्यपि ऐसी बात कही है किन्तु जगदीश भट्टाचार्य ने ऐसी बात नहीं कही है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

भाष्यकार ने सूत्र की उपर्युक्त व्याख्या के अनुसार ''अनित्यः शब्दः'' इस प्रकार का प्रतिज्ञावाक्य कहा है। प्राचीन वैशेषिक आचार्य प्रशस्तपाद ने प्रतिज्ञावाक्य का उदाहरण कहा है – ''द्रव्यं वायुः''। इन्होंने भी अनुमेय पद से साधनीयधर्म विशिष्ट धर्मी को लेकर प्रतिज्ञा का लक्षण कहा है – ''अनुमेयोद्देशोऽविरोधी प्रतिज्ञा''। किन्तु उदयनाचार्य आदि नैयायिकों ने ''शब्दोऽनित्यः'' रूप प्रतिज्ञावाक्य कहा है। क्योंकि इनके मत में पहले उद्देश्यबोधक पद का प्रयोग करके पश्चात् विधेयबोधक पद का प्रयोग करना चाहिए[१३२]। वस्तुतः भाष्यकार के मत में यहाँ शब्दरूप धर्मी में अनित्यत्वरूप धर्म ही अनुमेय है। वही अनुमिति का विधेयरूप साध्य है। उद्योतकर ने पहले अनुमेय के विषय में भिन्न मत का समर्थन किया है, किन्तु यहाँ सूत्रोक्त साध्य पदार्थ की व्याख्या में कहते हैं कि केवल धर्म या धर्मी साध्य नहीं है, वरन धर्मविशिष्ट धर्मी साध्य होता है। बौद्ध सम्प्रदाय इसको पक्ष कहते हैं और इस पक्ष में अनेक प्रकार के दोषों का प्रदर्शन करके पक्षाभास का उदाहरण दिखाते हैं। उद्योतकर ने इसका पर्याप्त प्रतिवाद किया है[१३३]। प्राचीन वैशेषिक आचार्य प्रशस्तपाद ने प्रतिज्ञालक्षण के अंत में अविरोधी पद का प्रयोग किया है। इससे प्रत्यक्षविरुद्ध, अनुमानविरुद्ध, आगमविरुद्ध, स्वशास्त्रविरुद्ध तथा स्ववचनविरुद्ध प्रतिज्ञाभास का निरास होता है। इन सभी में प्रतिज्ञा के लक्षण

---

[१३२] द्वितीय स्तबक कुसुमाञ्जलि की प्रथम कारिका की व्याख्या में उदयनाचार्य ने कहा है – ''अनुमानमप्युच्यते शब्दोऽनित्यः उत्पत्तिधर्मकत्वात् घटवत्''। वरदराज ने स्पष्ट करते हुए कहा है – धर्मिनिर्देशपूर्वकं साध्यनिर्देशः कार्यः शब्दोऽनित्य इति। यथाहुः ''साध्यधर्मिण-मुद्दिश्य साध्यधर्मो विधीयते'' इत्यादि। (तार्किकरक्षा)

[१३३] दिङ्नाग ने प्रमाणसमुच्चय में पक्ष विषयकप्रतिज्ञा के दोष को पक्षदोष कहकर पक्ष का लक्षण कहा है – ''साध्यत्वेनेप्सितः पक्षो विरुद्धार्थाऽनिराकृतः''। उद्योतकर ने इसके खण्डन हेतु कहा है कि ऐसी स्थिति में हेतु आदि के दोष को पक्षदोष कहना होगा। क्योंकि हेतु वैसे ही पक्षों के आश्रित होते हैं। अब कारिकागत पक्षलक्षण में ईप्सित पद अथवा अन्त में उक्त पद व्यर्थ हो जाएगा। यदि अन्त में उक्त पद का कथन आवश्यक ही है तो वसुबन्धुकृत लक्षण में भी वह वक्तव्य होगा। किन्तु वसुबन्धु ने कहा है – ''पक्षो यः साधयितुमिष्टः''। पश्चात् उद्योतकर ने ''यदपि वादविधानटीकायां'' इत्यादि सन्दर्भ उठाकर वादविधानटीका के कथन का खण्डन किया है। वह वसुबन्धु के ग्रन्थ की ही व्याख्या प्रतीत होती है। उद्योतकर की दृष्टि में वसुबन्धु की कृति ''वादविधि'' रही है। क्योकि पश्चात् इन्होंने ''यदपि वादविधौ साध्याभिधानं प्रतिज्ञेति प्रतिज्ञालक्षणमुक्तम्'' इस सन्दर्भ को उठाया है। इस लक्षण के खण्डन के समय पहले इन्होंने कहा है कि ग्रन्थकार के उपर्युक्त पक्ष पदार्थ को ग्रहण करके यह लक्षण कहा गया है। अतः तत्पद से उसका ग्रहण करके – ''तदभिधानं प्रतिज्ञा'' यही कहना चाहिए था। यह विचार पहले प्रत्यक्षलक्षण सूत्र में ही आया है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

समन्वित नहीं होते। इन्होंने इन पाँचों ही प्रतिज्ञाभासों का उदाहरण भी प्रस्तुत किया है। महर्षि गौतम के मत में इन सभी स्थलों में सभी हेतुओं के दुष्ट होने से हेत्वाभास ही माना जाता है। इन्होंने अलग से पक्षाभास तथा प्रतिज्ञाभास आदि का उल्लेख नहीं किया। न्यायमञ्जरीकार जयन्त भट्ट ने विचार करके इसका समर्थन किया है और उपसंहार में कहा है –

अतएव च शास्त्रेऽस्मिन् मुनिना तत्त्वदर्शिना।
पक्षाभासादयो नोक्ता हेत्वाभासास्तु दर्शिताः ॥१.१.३३।

सूत्र – उदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुः ।१.१.३४।

अनुवाद – उदाहरण के साधर्म्य से अर्थात् उदाहरण के साथ समान धर्म के (केवल दृष्टान्त पदार्थ के साथ साध्य धर्मी का समान धर्म के) रहने से साधनीय पदार्थ के साधन का बोधकवाक्यविशेष ''हेतु'' होता है।

भाष्य – **उदाहरणेन (पक्षस्य) सामान्यात् साध्यस्य धर्मस्य साधनं प्रज्ञापनं हेतुः। साध्ये प्रतिसन्धाय धर्ममुदाहरणे च प्रतिसन्धाय तस्य साधनतावचनं हेतुः। उत्पत्तिधर्मकत्वादिति। उत्पत्तिधर्मकमनित्यं दृष्टमिति।**

अनुवाद – दृष्टान्त पदार्थ के साथ समान धर्म प्रयुक्त साध्य धर्म का साधन अर्थात् साध्य धर्म के साधनता का बोधकवाक्यविशेष हेतु कहलाता है। (विशदार्थ) साध्य में – साधनीय धर्म विशिष्ट धर्मी में – धर्म का – हेतु पदार्थ रूप धर्मविशेष का – प्रतिसन्धान करके एवं दृष्टान्त पदार्थ में भी उस धर्म का प्रतिसन्धान करने पर दोनों में समानता देखकर उस धर्म के साधनत्व या ज्ञापकत्व का बोधकवचन (वाक्यविशेष) हेतु कहलाता है। यथा ''उत्पत्तिधर्मकत्वात्'' वाक्य। उत्पत्तिधर्मक घट आदि वस्तु अनित्य देखा जाता है। घट आदि पदार्थों को दृष्टान्त रूप में ग्रहण करके पश्चात् उदाहरणवाक्य का प्रयोग करने पर जो हेतु वाक्य होगा उसका कारण होता है साधर्म्य।

टिप्पणी – पहले अवयव प्रतिज्ञा के लक्षण के बाद दूसरे अवयव हेतु का लक्षण कहना है। हेतु दो प्रकार होते हैं – (१) साधर्म्य हेतु और (२) वैधर्म्य हेतु। महर्षि ने उपर्युक्त सूत्र से साधर्म्य हेतु का लक्षण कहा है। सूत्रगत ''उदाहरणसाधर्म्यात्'' पद की व्याख्या में भाष्यकार ने कहा है – ''उदाहरणेन सामान्यात्, उदाह्रियते दृष्टान्तरूपेण प्रदर्श्यते यत्'' इस व्युत्पत्ति के अनुसार उदाहरणपद से दृष्टान्त का ज्ञान होता है। वाचस्पति मिश्र ने कहा है – ''उदाह्रियते इत्युदाहरणं दृष्टान्तधर्मी''। इससे ज्ञात होता है कि दृष्टान्त के साथ साध्य धर्मी का समान धर्म ही उदाहरण साधर्म्य का तात्पर्य है। साधर्म्य दृष्टान्त या

CC-0 Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अन्वय दृष्टान्त के प्रदर्शित होने पर इस स्थल में प्रकृत हेतु पदार्थ में उदाहरण साधर्म्य रहता है। साधर्म्य से जहाँ साध्य धर्म का साधन होता है, वह साधर्म्य हेतु कहलाता है। चूँकि दूसरे अवयव हेतुवाक्य का लक्षण महर्षि को करना है अतः भाष्यकार ने पश्चात् अपने पूर्वकथन की व्याख्या में स्पष्ट कहा है – ''तस्य साधनतावचनं हेतुः''। सूत्रोक्त साध्य साधन शब्द से यहाँ हेतु पदार्थ का साध्य साधनत्व बोधकवाक्य ही समझना चाहिए। इस प्रकार के लाक्षणिक शब्दप्रयोग से सूचित होता है कि साध्य धर्म का साधनत्व ही हेतु का सामान्य लक्षण होता है।

किन्तु हेतुवाक्य का लक्षण कहने से पहले उसका सामान्यलक्षण कहना आवश्यक है। अतः वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि – ''श्रुत्यर्थाभ्यामुभयलक्षणसूचनात् सूत्रम्''। इस सूत्र-पाठ से साधर्म्य हेतु के लक्षण के सूचित होने से इसके अर्थ का आलोचन करने पर हेतुवाक्य का सामान्यलक्षण भी ज्ञात हो जाता है। अतः एक ही सूत्र से दोनों का लक्षण ज्ञात होता है। इनमें हेतुवाक्य का सामान्यलक्षण है आर्थ। अर्थात् अर्थ के पर्यालोचन करने पर वह ज्ञात होता है। महर्षि ने साध्यसाधनपद से इस सामान्यलक्षण के ज्ञात होने पर न्यायवाक्य के अन्तर्भूत साध्य के साधनत्व के बोधकवाक्य को ही द्वितीय अवयव अर्थात् हेतु माना है। ''उदाहरणसाधर्म्यात्'' पद के योग से उसका विशेष लक्षण ज्ञात होता है। दृष्टान्त के साधर्म्य से उस प्रकार के साध्य के साधनत्व का बोधकवाक्य साधर्म्य हेतु कहलाता है। इस पक्ष में हेतु शब्द का अर्थ होता है साधर्म्य हेतु। साध्य पद का अर्थ होता है साध्य धर्म। भाष्यकार ने स्पष्ट कहा है – ''साध्यस्य धर्मस्य साधनम्''। पश्चात् ''साध्ये प्रतिसन्धाय'' आदि वाक्य में साध्य से साध्यधर्मी अभिप्रेत है। क्योंकि साध्यधर्मी में हेतु पदार्थ का ज्ञान नहीं होने पर हेतुवाक्य का प्रयोग नहीं किया जा सकता। केवल साध्यधर्मी में हेतु पदार्थ का ज्ञान होने पर भी हेतुवाक्य का प्रयोग नहीं हो सकता। अतः भाष्यकार ने कहा है – ''उदाहरणे च प्रतिसन्धाय''। साध्यधर्मी और दृष्टान्त पदार्थ में एक ही धर्म के नहीं रहने पर भी समान धर्म रहता है। इस तुल्यधर्म का ज्ञान ही उसका प्रतिसन्धान कहलाता है। इस प्रतिसन्धान के कारण उस धर्म का जो साध्यसाधनत्वबोधक वाक्य कहा जाता है वहाँ पञ्चम्यन्त वाक्य से उस धर्म में साध्यधर्म की ज्ञापकता ज्ञात होती है। अतएव उस वाक्य को साधर्म्य हेतुवाक्य कहते हैं। जैसे पूर्वोक्त ''अनित्यः शब्दः'' वाक्य के पश्चात् नैयायिक हेतुवाक्य कहता है – ''उत्पत्तिधर्मकत्वात्'' यहाँ उत्पत्तिधर्मकत्वरूप धर्म ही हेतु पदार्थ है जो स्थाली प्रभृति दृष्टान्त पदार्थ एवं अनित्यत्व रूप साध्य के धर्मी शब्द का साधर्म्य समान धर्म होता है। अतः वादी नैयायिक इस उत्पत्तिधर्मकत्व को स्थाली आदि तथा शब्द का साधर्म्य समझकर साधर्म्य के कारण ''उत्पत्तिधर्मकत्वात्'' वाक्य कहता है तो वह साधर्म्य

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

हेतुवाक्य होता है। किन्तु इसके बाद साधर्म्योदाहरण कहने पर वह उस स्थल में साधर्म्य हेतु होता है। भाष्यकार ने इस उदाहरण के प्रदर्शनार्थ ही कहा है – ''उत्पत्तिधर्मकमनित्यं दृष्टमिति''। इसका स्पष्टीकरण आगे दिया जाएगा। (१.१.३४)

***भाष्य* – किमेतावद्धेतुलक्षणमिति? नेत्युच्यते। किं तर्हि?**

सूत्र – तथा वैधर्म्यात्।१.१.३५।

अनुवाद – क्या इतना ही हेतु का लक्षण है। (उत्तर) नहीं, (प्रश्न) तो हेतु का अन्य लक्षण क्या है? (उत्तर) इसी प्रकार उदाहरण के वैधर्म्य के कारण साध्यधर्म के साधनत्व का बोधकवाक्य विशेष भी हेतु होता है।

***भाष्य* – उदाहरणवैधर्म्याच्च साध्यसाधनं हेतुः। कथम्, अनित्यः शब्दः उत्पत्तिधर्मकत्वात्, अनुत्पत्तिधर्मकं नित्यम् आत्मादि द्रव्यमिति।**

अनुवाद – उदाहरण वैधर्म्य से अर्थात् वैधर्म्य दृष्टान्त के आधार पर वैधर्म्य से साध्य का साधन अर्थात् पूर्वोक्त रूप साध्यधर्म के साधनत्व बोधकवाक्य (भी) हेतु कहलाता है। (प्रश्न) कैसे? उक्त द्वितीय प्रकार के हेतु का स्वरूप क्या होता है? (उत्तर) शब्द अनित्य होता है, उत्पत्तिशाली होने से, अनुत्पत्तिशाली (उत्पत्ति से रहित) पदार्थ नित्य होता है जैसे आत्मा आदि द्रव्य। यहाँ अनित्यः शब्दः प्रतिज्ञावाक्य है और उदाहरणवाक्य के द्वारा आत्मा आदि द्रव्य रूप वैधर्म्य के प्रदर्शन से उत्पत्तिधर्मकत्व रूप वाक्य वैधर्म्य हेतु होता है।

टिप्पणी – केवल साधर्म्य हेतु ही हेतु नहीं होता – इसे समझाने के लिए महर्षि ने पश्चात् कहा है – ''तथा वैधर्म्यात्''। यहाँ सूत्रगत समुच्चयार्थक तथा शब्द पूर्वसूत्र से ''उदाहरणं'' और ''साध्यसाधनं हेतुः'' अंश की अनुवृत्ति को कहता है। अतः भाष्यकार ने सूत्र का अर्थ करते हुए कहा है – ''उदाहरणवैधर्म्याच्च साध्यसाधनं हेतुः''। वैधर्म्य शब्द के योग से यहाँ उदाहरण शब्द से वैधर्म्य दृष्टान्त परिगृहीत होता है। अब सूत्र का अर्थ होता है – वैधर्म्यदृष्टान्त के वैधर्म्य प्रयुक्त साध्य के साधनत्व का बोधकवाक्य विशेष भी हेतु होता है। इस द्वितीय प्रकार के हेतु का नाम है वैधर्म्य हेतुवाक्य। भाष्यकार ने इसका उदाहरण प्रदर्शित करते हुए पूर्वोक्त प्रतिज्ञावाक्य ''अनित्यः शब्दः'' के पश्चात् ''उत्पत्तिधर्मकत्वात्'' हेतुवाक्य का उल्लेख किया है। पुनश्च ''अनुत्पत्तिधर्मकं नित्यं यथा आत्मादि द्रव्यम्' इस प्रकार वैधर्म्य उदाहरणवाक्य का उल्लेख किया है। जिन पदार्थों की उत्पत्ति नहीं होती, अर्थात् उत्पत्ति जिनका धर्म नहीं है वे सभी पदार्थ अनुत्पत्तिधर्मक होते हैं अर्थात् वे पदार्थ नित्य होते हैं यथा आत्मा आदि द्रव्य नित्य होते

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

हैं। यहाँ अनुमान में वादी यदि इस प्रकार आत्मा आदि वैधर्म्य दृष्टान्त को लेकर उदाहरणवाक्य का प्रयोग करता है तो उत्पत्तिधर्मकत्व रूप हेतुवाक्य वैधर्म्य उदाहरण-वाक्य कहलाएगा। यह विषय उदाहरण सूत्र के भाष्य में अधिक स्पष्ट होगा।

वार्त्तिककार उद्योतकर ने भाष्यकार के इस उदाहरण का खण्डन करते हुए कहा है कि यहाँ इस प्रकार का उदाहरणवाक्य कहने पर केवल प्रयोग का भेद होगा, हेतुवाक्य का वास्तव भेद नहीं होगा। यदि उदाहरणवाक्य के भेद से हेतुवाक्य का भेद महर्षि को अभिप्रेत है तो द्वितीय सूत्र को कहना आवश्यक नहीं है। क्योंकि बाद में उदाहरणसूत्र से ही महर्षि का अभिमत ज्ञात हो जाएगा। अतः महर्षि के हेतु लक्षण के द्वितीय सूत्र से ज्ञात होता है कि महर्षि के मत में वैधर्म्य हेतुवाक्य का उदाहरण दूसरे प्रकार का होता है। भाष्यकार का यह उदाहरण संगत नहीं है। अतः उन्होंने स्पष्ट कहा है – ''तस्मान्नेदमुदाहरणं न्याय्यमिति, उदाहरणं तु नेदं निरात्मकं जीवच्छरीरमप्राणादिमत्त्व-प्रसंगादिति''। तात्पर्य यह है कि नैरात्म्यवादी (बौद्ध सम्प्रदाय) के मत में किसी भी जीव के शरीर में नित्य आत्मा की सत्ता मान्य नहीं है अपितु प्रत्येक जीवित व्यक्ति का शरीर निरात्मक होता है। उस जीवित शरीर में सात्मकत्व का अनुमान करते समय किसी जीव देह का ग्रहण साधर्म्य दृष्टान्त या अन्वय दृष्टान्त के रूप में नहीं हो सकता। अतः साधर्म्य ही वैधर्म्य दृष्टान्त के रूप में ग्रहण होगा। जीवित जीव के शरीर में प्राण आदि रहते हैं किन्तु घट आदि पदार्थ में प्राण आदि नहीं रहते – यह बात प्रतिवादी को भी मान्य है। यदि जीवित जीव शरीर भी घट आदि पदार्थ की तरह निरात्मक होगा तो मानना होगा कि वह भी प्राण आदि से रहित है। किन्तु नैरात्म्यवादी इसको भी नहीं मानते। अतः जीवित व्यक्ति का शरीर निरात्मक नहीं माना जा सकता। वह सात्मक ही मान्य होगा क्योंकि उस शरीर का प्राणादिमत्व देखा जाता है। निरात्मक पदार्थ प्राण आदि से रहित होते हैं यथा घट आदि। इस प्रकार प्राणादिमत्व हेतु से जीवित व्यक्ति के शरीर में सात्मकत्व सिद्ध होता है। इस अनुमान स्थल में प्राणादिमत्त्व रूप हेतु पदार्थ में घट आदि वैधर्म्य दृष्टान्त का वैधर्म्य रहने से इसको वैधर्म्य हेतु या व्यतिरेकी हेतु कहते हैं। अतः यहाँ प्राणादिमत्त्वात् रूप हेतुवाक्य ''वैधर्म्य हेतुवाक्य'' कहलाएगा।[१३४] तत्त्वचिन्तामणिकार

---

१३४ उद्योतकर ने इस प्रकार के केवलव्यतिरेकी हेतु को प्राचीन नाम के अनुसार ''अवीत'' हेतु कहा है। उनकी पंक्ति है – ''तावेतौ वीतावीतहेतू लक्षणाभ्यां पृथगभिहिताविति'' पूर्वसूत्र से वीत हेतु का और इस सूत्र से अवीत हेतु का लक्षण अलग-अलग कहा गया है। वाचस्पति मिश्र ने इस मत का समर्थन करते हुए गौतम के शेषवत् अनुमान को अवीत अनुमान कहा है। इस प्रसंग में पहले ही अनुमानसूत्र की व्याख्या में आलोचना हो चुकी है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

गङ्गेश उपाध्याय ने उद्योतकर के इस उदाहरण की व्याख्या की है और कहा है कि जिस स्थल में सपक्ष या अन्वय दृष्टान्त उपलब्ध नहीं है उस स्थल में केवलव्यतिरेकी में व्यतिरेकव्याप्ति का निश्चय होने के कारण केवलव्यतिरेकी अनुमान होता है।

किन्तु भाष्यकार के पक्ष से कहना यह है कि दृष्टान्त पदार्थ के साधर्म्य तथा वैधर्म्य के कारण यथाक्रम महर्षि ने इस वाक्य के दो प्रकार कहे हैं। इस दृष्टान्त के बोधक उदाहरणवाक्यों के भेद से हेतुवाक्यों का भेद ही महर्षि के इन सूत्रों का अर्थ सरल रूप में ज्ञात होता है। पश्चात् द्वितीय उदाहरणसूत्र से भी यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है। फिर भी द्वितीय अवयव हेतुवाक्य दो प्रकार के होते हैं – इस प्रकार के नियम के लिए महर्षि ने यहाँ हेतुवाक्य के दूसरे प्रकार के बोध हेतु – ''तथा वैधर्म्यात्'' सूत्र कहा है। अतः इसे व्यर्थ नहीं कहा जा सकता। बाद में हेत्वाभास के विभागसूत्र के प्रयोजन के समर्थन में उद्योतकर ने कहा है – ''विभागोद्देशो नियमार्थ इत्युक्तः''। अभिप्राय यह है कि उदाहरण के भेद से हेतुवाक्य का भेद होता है। महर्षि के सूत्र से इस बात को समझकर भाष्यकार ने साधर्म्य हेतु को उक्त स्थल में वैधर्म्य हेतु कहा है। उद्योतकर द्वारा प्रदर्शित उदाहरण भी भाष्यकार को अनुमत ही है। पश्चात् बहुतों ने उचित ही कहा है – ''ऋजुमार्गेण सिद्ध्यन्तं को हि वक्रेण साधयेत्''। सरल पथ से अर्थात् अन्वय दृष्टान्त (साधर्म्य दृष्टान्त) से जो सिद्ध हो सकता है, उसको वक्र पथ से अर्थात् व्यतिरेक (वैधर्म्य) दृष्टान्त से क्यों कोई सिद्ध करना चाहेगा। किन्तु यह भी शपथपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि कोई भी वैधर्म्य दृष्टान्त का उपयोग ही नहीं करता या नहीं करेगा। जहाँ अन्वय दृष्टान्त के सम्भव रहने पर भी व्यतिरेक दृष्टान्त ही पहले वादी के बुद्धि का विषय होता है या अन्य किसी कारण से ही ऐसा होता है अथवा अपनी इच्छा से ही वादी व्यतिरेक दृष्टान्त का ग्रहण करता है या फिर प्रकृत हेतुवाक्य के पश्चात् वैधर्म्य उदाहरणवाक्य का प्रयोग करता है। ऐसी स्थिति में वहाँ वही पूर्वोक्त हेतुवाक्य वैधर्म्य हेतु होता है – यह नहीं माना जा सकता। वह पश्चात् साधर्म्य उदाहरणवाक्य का प्रयोग नहीं करता, अतः उसके उस हेतु को दुष्ट नहीं कहा जा सकता। भाष्यकार ने ऐसे ही स्थल में वैधर्म्य हेतुवाक्य का उक्त उदाहरण प्रदर्शित किया है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि अन्य प्रकार के स्थलों में वैधर्म्य हेतु होगा ही नहीं।

न्यायमञ्जरीकार जयन्त भट्ट ने कहा है कि महर्षि ने यहाँ पूर्वसूत्र में ''साध्यसाधनं हेतुः'' वाक्य से साध्यधर्म के साधनत्व को ही हेतु का सामान्य लक्षण कहा है। क्योंकि हेतु पदार्थ के स्वरूप ज्ञान के द्वितीय अवयव हेतुवाक्य और हेत्वाभास का स्वरूप ज्ञात नहीं हो सकता। अतः महर्षि ने हेतु का लक्षण ही पहले कहा है। इनमें प्रथम सूत्र से

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अन्वयव्यतिरेकी और द्वितीय सूत्र से केवलव्यतिरेकी हेतु कहा गया है। इन सूत्रों के द्वारा प्रकरण के अनुसार साध्यसाधनत्व बोधकवाक्य ही हेतु होता है, जो दो नामों से अभिहित होता है। केवलान्वयी नामक कोई हेतु नहीं होता। जयन्त भट्ट ने यह भी कहा है कि महर्षि ने पहले अनुमानसूत्र में ''तत्पूर्वकं'' पद से हेतु पदार्थ में व्याप्ति के निश्चय के उपाय मात्र की सूचना दी है और इस हेतु लक्षण सूत्र में साध्यसाधन पद से हेतु पदार्थ में साध्यधर्म का साधनत्वरूप व्याप्ति के स्वरूप की सूचना दी है। आगे द्वितीय आह्निक में हेत्वाभास की पञ्चविधता कहते हुए व्याप्ति पदार्थ के पाञ्चविध्य की सूचना देंगे। क्योंकि अव्यभिचारित्व एवं अविरुद्धत्व आदि पाँच प्रकार की व्याप्तियों में एक-एक अभाव के ग्रहण करने पर महर्षि ने हेत्वाभास के पाँच प्रकारों को कहा है। पश्चात् इस प्रसंग में अधिक कहा जाएगा। जयन्त भट्ट ने कहा है कि किसी का कहना है कि महर्षि के हेतुलक्षणपरक दोनों सूत्रों की एकवाक्यता से ज्ञात होता है कि ''साधर्म्य वैधर्म्य हेतु'' एक ही प्रकार का होता है। इसी को अन्वयव्यतिरेकी हेतु कहते हैं। भाष्यकार का भी यही मत है। अतएव इन्होंने द्वितीय सूत्र के अवतरण में कहा है कि – ''किमेतावद्धेतु-लक्षणमिति, नेत्युच्यते''।

किन्तु जयन्त भट्ट द्वारा उल्लिखित उस मतान्तर का कथमपि समर्थन नहीं किया जा सकता क्योंकि महर्षि को यदि यही अभिमत रहता तो एक ही सूत्र से इस ''साधर्म्यवैधर्म्य हेतु'' का लक्षण करते। अपि च यह भी नहीं कहा जा सकता कि केवल साधर्म्य हेतु या केवल अन्वयी हेतु नहीं होता। भाष्यकार के कथन से ऐसा तात्पर्य किसी भी प्रकार ज्ञात नहीं होता क्योंकि भाष्यकार ने उनतालीसवें सूत्र के भाष्य में स्पष्ट कहा है कि उदाहरण के भेद से हेतु दो प्रकार के होते हैं। किन्तु भाष्यकार ने महर्षि के इन दोनों सूत्रों से दो प्रकार के हेतुवाक्यों के लक्षण की व्याख्या की है न कि हेतु पदार्थ के लक्षण की व्याख्या। यहाँ प्रकरण के अनुसार द्वितीय अवयव हेतुवाक्य का लक्षण ही महर्षि का मुख्य वक्तव्य है। पहले ही कहा जा चुका है कि इससे हेतु पदार्थ का स्वरूप भी सूचित होता है। उदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुः – इस सूत्र वचन से यदि हेतु के लक्षण की व्याख्या की जाए तो सूत्रगत साधर्म्यात् पद के पञ्चमी विभक्ति की संगति नहीं होती है। क्योंकि सूत्रोक्त उदाहरणसाधर्म्य ही तो हेतु पदार्थ होता है। उसको उसका साधर्म्य-प्रयुक्त नहीं कहा जा सकता क्योंकि कोई भी पदार्थ स्वयं अपना प्रयोजक नहीं हो सकता। यदि हेतु पदार्थ का लक्षण कहना होता तो ''उदाहरणसाधर्म्यं साध्यसाधनं हेतुः'' इस प्रकार सूत्र होता।

जयन्त भट्ट अपनी व्याख्या के समर्थन में सूत्रोक्त पञ्चमी विभक्ति का किसी

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

प्रकार से उपपादन कर लेते हैं और उपर्युक्त किसी सम्प्रदाय के लिए कहते हैं कि ''उदाहरणसाधर्म्ये साध्यसाधर्म्यं हेतुः'' ऐसा सूत्र पढ़कर इससे हेतु पदार्थ के लक्षण की व्याख्या करते तो अच्छा होता। किन्तु महर्षि का उचित सूत्र पाठ ''उदाहरणसाधर्म्यात्'' आदि ही है। अतएव बौद्धाचार्य दिङ्नाग ने प्रमाणसमुच्चय में इसका प्रतिवाद करते हुए कहा है – ''साधर्म्यं यदि हेतुः स्यान्न वाक्यांशो न पञ्चमी''। यदि दृष्टान्त पदार्थ का साधर्म्य हेतु होगा तो वह न्यायवाक्य का अंशरूप अवयव (हेतुवाक्य) नहीं होगा, क्योंकि वह साधर्म्य वाक्य न होकर हेतु पदार्थ होगा। यदि कहेंगे कि उक्त सूत्र से हेतु पदार्थ का लक्षण कहा गया है तो उसमें पञ्चमी विभक्ति नहीं होगी अर्थात् ''उदाहरणसाधर्म्यात्'' पद में पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग नहीं होगा। दिङ्नाग के प्रबल प्रतिपक्षी उद्योतकर और जयन्त भट्ट आदि ने दिङ्नाग के इस कथन का प्रतिवाद किया है। वस्तुतः महर्षि के इन दोनों सूत्रों में पञ्चमी विभक्ति के प्रयोग से स्पष्ट ज्ञात होता है कि यहाँ द्वितीय अवयव हेतुवाक्य का ही लक्षण कहा गया है। पञ्चमी विभक्ति का अर्थ प्रयुक्तत्व होता है। हेतु पदार्थ के ही दृष्टान्त पदार्थ के साधर्म्य अथवा वैधर्म्य रूप होने पर उस साधर्म्य एवं वैधर्म्य के ज्ञान से विवक्षावश वैसा हेतुवाक्य का प्रयोग होता है। अतः वह साधर्म्य या वैधर्म्य परम्परया उस हेतुवाक्य का प्रयोजक रूप निमित्त होता है। इसलिए उस हेतुवाक्य को साधर्म्य या वैधर्म्य प्रयुक्त कहा जाता है। पूर्वसूत्र के वार्त्तिक में (हेतुवाक्य बोधक प्रथम सूत्र के वार्त्तिक में) उद्योतकर ने उदाहरण साधर्म्य में हेतुवाक्य के निमित्तत्व का समर्थन करके कहा है – ''तस्मात् पञ्चम्याभिधानमेव ज्यायः''। इसके पहले कहा है – ''उदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधनवचनं हेतुरित्येवं व्याचक्षाणेन समस्त एव दोषोऽपाकृतो भवतीति'' उद्योतकर ने इस सूत्र के वार्त्तिक में दिङ्नाग तथा अन्य बौद्ध नैयायिकों के हेतुलक्षण का विशेष विचारपूर्वक खण्डन करके उपसंहार में कहा है – ''तदेवमेतानि न हेतुलक्षणानि सम्भवन्तीदमेवार्षं हेतु लक्षणं न्याय्यमिति''। (१.१.३५)

सूत्र – साध्यसाधर्म्यात्तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम् ।१.१.३६।

अनुवाद – साध्यधर्मी के साथ समानधर्मवत्ता से प्रयुक्त उस साध्यधर्मी के धर्म का अर्थात् साध्यधर्म का भाव विशिष्ट पदार्थ होता है – दृष्टान्त, और उस दृष्टान्त का बोधक-वाक्य होता है – उदाहरण अर्थात् तृतीय अवयव (साधर्म्य उदाहरण)।

***भाष्य* – साध्येन साधर्म्यं समानधर्मता साध्यसाधर्म्यात् कारणात् तद्धर्मभावी दृष्टान्त इति। तस्य धर्मस्तद्धर्मः। तस्य साध्यस्य। साध्यञ्च द्विविधम् धर्मिविशिष्टो वा धर्मः शब्दस्यानित्यत्वम्, धर्मविशिष्टो वा धर्मी, अनित्यः शब्द इति। इहोत्तरं तद् ग्रहणेन गृह्यत इति। कस्मात्? पृथग् धर्मवचनात्। तद्धर्मस्य भावस्तद्धर्मभावः,**

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

स यस्मिन् दृष्टान्ते वर्तते स दृष्टान्तः साध्यसाधर्म्यात्तद्धर्मभावी भवति, स चोदाहरणमिष्यते। (स्थाल्यादिद्रव्यमुत्पत्तिधर्मकमनित्यं दृष्टमिति)।[135]

तत्र यदुत्पद्यते तदुत्पत्तिधर्मकम्, तच्च भूत्वा न भवति, आत्मानं जहाति निरुध्यते इत्यनित्यम्। एवमुत्पत्तिधर्मकत्वं साधनमनित्यत्वम् साध्यं सोऽयमेकस्मिन् द्वयोर्धर्मयोः साध्यसाधनभावः साधर्म्याद् व्यवस्थित उपलभ्यते तं दृष्टान्ते उपलभमानः शब्देऽप्यनुमिनोति, शब्दोऽप्युत्पत्तिधर्मकत्वादनित्यः स्थाल्यादिवदिति। उदाह्रियते तेन धर्मयोः साध्यसाधनभाव इत्युदाहरणम्।

अनुवाद – साध्यधर्मी के साथ साधर्म्य समानधर्मता है। साध्यधर्मी के साथ साधर्म्य-रूप प्रयोजक रहने से ''तद्धर्मभावी'' पदार्थ होता है – दृष्टान्त। उसका धर्म-तद्धर्म-उसका – साध्य का – अर्थात् उक्त साध्यधर्मी का। साध्य दो प्रकार के होते है – धर्मीविशिष्ट धर्म, जैसे शब्द का अनित्यत्व अथवा धर्मविशिष्ट धर्मी जैसे अनित्यत्व विशिष्ट शब्द। सूत्रगत तत् पद से दो प्रकार के साध्यों में से दूसरा प्रकार धर्मविशिष्ट धर्मी ही ज्ञात होता है। (प्रश्न) क्यों अर्थात् कैसे ज्ञात होता है? (उत्तर) धर्म शब्द के पृथक् से प्रयोग होने से (तद् शब्द से धर्मरूप साध्य के ही गृहीत होने पर पश्चात् सूत्र में धर्म शब्द का प्रयोग निरर्थक होगा)। अतः तद् पद से साध्यधर्मी ही गृहीत होता है। तद्धर्म का भाव विद्यमानता अर्थात् तद्धर्मभाव है। जिस दृष्टान्त पदार्थ में वह तद्धर्मभावी होता है वही उदाहरण कहलाता है। इस दृष्टान्त पदार्थ को साधर्म्योदाहरण मानकर उसके बोधकवाक्य को तृतीय अवयव साधर्म्योदाहरणवाक्य कहा जाता है। जैसे ''स्थाल्यादिद्रव्य-मुत्पत्तिधर्मकमनित्यं दृष्टम्'' यह वाक्य।

इस स्थल में जो उत्पन्न होता है वह उत्पत्तिधर्मक होता है। इस उदाहरणवाक्य में उत्पत्तिधर्मक पद से ज्ञात होता है कि जिसकी उत्पत्ति होती है किन्तु वह पहले विद्यमान

---

[135] ब्रैकेट में दिया गया पाठ किसी भाष्यपुस्तक में उपलब्ध नहीं है किन्तु उद्योतकर के ''उदाहरणं स्थाल्यादिद्रव्यम्'' नामक उक्ति से ज्ञात होता है कि उन्होंने इस प्रकार के भाष्य का ही पाठ ग्रहण किया है। वस्तुतः भाष्यकार को सूत्रार्थ की व्याख्या के पश्चात् उदाहरणवाक्य का प्रदर्शन भी कर्त्तव्य कोटि में आता है। परवर्ती सूत्र के भाष्य में भी इन्होंने ऐसा किया है। यहाँ उक्त उदाहरणवाक्य कहने पर ही ''तत्र यदुत्पद्यते'' आदि सन्दर्भ संगत होता है। तात्पर्यटीका में – ''साध्यसाधर्म्यात् उत्पत्तिधर्मकत्वात् इति भाष्यम्'' देखा जाता है। इसके अनुसार प्रथम संस्करण में उक्त रूप भाष्य पाठ ही परिगृहीत हुआ। किन्तु यहाँ सूत्रार्थ की व्याख्या के समय तात्पर्यटीकाधृत पाठ ''उत्पत्तिधर्मकत्वात्'' पद का कथन संगत प्रतीत नहीं होता। अतः यह पाठ दिया गया है जो अनेक पुस्तकों में नहीं मिलता।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

रहकर उत्पन्न नहीं होता अर्थात् उत्पत्ति से पहले उत्पत्तिधर्मक वस्तु की किसी प्रकार की सत्ता नहीं रहती है और वह अपने स्वरूप का त्याग भी करता है, निरुद्ध होता है, किसी काल में सर्वथा विनष्ट हो जाता है – इसलिए वह अनित्य होता है। इस प्रकार उत्पत्तिधर्मक सभी वस्तु के अनित्य होने पर उत्पत्तिधर्मकत्व होता है – साधन और अनित्यत्व होता है – साध्य धर्म। फलतः उत्पत्तिधर्मकत्व और अनित्यत्व में साध्य-साधन भाव मान्य है। साधर्म्य के कारण किसी एक वस्तु में व्यवस्थित रूप से धर्मद्वय का साध्य-साधन भाव उपलब्ध होता है, इस साध्य-साधन भाव को दृष्टान्त पदार्थ में उपलब्ध करके शब्द में अनुमान किया जाता है और अनुमान से सिद्ध होता है – शब्दगत उत्पत्तिधर्मकत्व और तद्गत अनित्यत्व का साधन या व्याप्य होना। अतः स्थाली आदि द्रव्य की तरह शब्द भी उत्पत्तिधर्मकत्व हेतु से अनित्य सिद्ध होता है।

इसके द्वारा उन दोनों धर्मों का साध्य-साधन भाव उदाहृत (प्रदर्शित) होता है – इस अर्थ में उदाहरण शब्द की व्युत्पत्ति करके इससे तृतीय अवयव उदाहरण वाक्य समझना चाहिए।

टिप्पणी – तृतीय अवयव का नाम उदाहरण है। यह दो प्रकार का होता है – साधर्म्य उदाहरण और वैधर्म्य उदहारण। इस सूत्र से महर्षि ने पहले साधर्म्य उदाहरण का लक्षण कहा है। अतः सूत्रगत उदाहरण पद से साधर्म्य उदाहरण समझना चाहिए। किन्तु उदाहरण का जब तक सामान्य लक्षण ज्ञात नहीं होगा तब तक उसका विशेष लक्षण ज्ञात नहीं हो सकता। अतः भाष्यकार ने अन्त में उदाहरण शब्द की व्युत्पत्ति प्रस्तुत करके इसके सामान्यलक्षण की सूचना दी है। भाष्यकार का तात्पर्य यह है कि उदाहरण शब्द का दृष्टान्त अर्थ प्रसिद्ध होने पर भी तथा महर्षि द्वारा हेतुलक्षण सूत्र में उस अर्थ में उदाहरण शब्द का प्रयोग करने पर भी इस सूत्र में उदाहरणपद से तृतीय अवयव अर्थात् उदाहरणवाक्य अभिप्रेत है। क्योंकि वही यहाँ लक्ष्य है। ‘‘उदाह्रियते धर्मयोः साध्यसाधन भावो येन वाक्येन’’ इस व्युत्पत्ति के अनुसार उदाहरण शब्द से उक्त वाक्य ही ज्ञात होता है। अतः इस व्युत्पत्ति से यह भी सूचित होता है कि न्यायवाक्य में दो धर्मों के साध्यसाधन भाव का प्रदर्शक वाक्यत्व ही उदाहरण का सामान्य लक्षण होता है। वाचस्पति मिश्र ने कहा है – ‘‘समाख्यानिर्वचनसामर्थ्यात् सामान्यलक्षणमप्यनेन सूचितमित्याशयवता भाष्यकृता समाख्यानिरुक्तिः कृता’’। समाख्या की निरुक्ति से उदाहरण नाम का व्युत्पत्ति प्रदर्शन ही अभिप्रेत है।

महर्षि ने सूत्र में कहा है ‘‘दृष्टान्त उदाहरणम्’’। इससे ज्ञात होता है कि दृष्टान्त ही उदाहरण होता है। किन्तु दृष्टान्त जब तक वाक्य नहीं होगा तब तक उसको तृतीय

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अवयव कैसे कहा जाएगा। इसके समाधान हेतु प्राचीनकाल से ही बहुत विवाद एवं मतभेद होता आ रहा है। एक सम्प्रदाय यदि अपने अनुकूल एक प्रकार का सूत्र-पाठ करता है तो दूसरा सम्प्रदाय उसका खण्डन करता है। इसका उल्लेख करते हुए उद्योतकर ने कहा है – ''अस्माकं तु नायं सूत्रपाठस्तस्मान्नायं दोषः''। पुनश्च शंका तो अपने स्थान पर रह ही गई कि दृष्टान्त पदार्थ उदाहरण कैसे हो सकता है? इसके समाधान में उद्योतकर ने पहले कहा है कि महर्षि ने सूत्र में दृष्टान्त शब्द से स्वतन्त्र दृष्टान्त पदार्थ का ग्रहण नहीं किया है किन्तु वचन के विशेषण रूप में उसको लिया है। कैसा वचन उदाहरण होगा – इसके उपपादनार्थ दृष्टान्त पदार्थ का उल्लेख हुआ है – ''नैष दोषः, वचनविशेषणत्वेन दृष्टान्तस्योपादानान्न स्वतन्त्रो दृष्टान्त उदाहरणम् किन्तु साध्यसाधर्म्यात्तद्धर्मभावित्वे सत्यभिधीयमान इति''। अतः न्याय के प्रयोग स्थल में अभिधीयमान या कथ्यमान दृष्टान्त ही उक्त सूत्रगत दृष्टान्त पद से लिया जाता है। फलतः प्रकरण के अनुसार ज्ञात होता है कि दृष्टान्त पदार्थ का बोधक वाक्यविशेष ही तृतीय अवयव उदाहरण कहलाता है। दृष्टान्तबोधक कैसा वाक्य साधर्म्योदाहरण होगा? तो ''साध्यसाधर्म्यात्तद्धर्मभावी दृष्टान्तः''। भाष्यकार ने सूत्रार्थ की व्याख्या में कहा है – ''साध्येन साधर्म्यं समानधर्मता'' इत्यादि। ''समानो धर्मो यस्य'' इस प्रकार विग्रह करने पर समानधर्मा पद निष्पन्न होता है। समानधर्मणोः भावः – इस अर्थ में समानधर्मता पद निष्पन्न होता है जिससे समान धर्म ही ज्ञात होता है। यही सूत्रगत साधर्म्य शब्द का अर्थ होता है। सूत्र में साधर्म्य पद गत पञ्चमी विभक्ति का अर्थ होता है व्याप्यत्व रूप प्रयोजकत्व। साध्यधर्मी के साथ दृष्टान्त पदार्थ का जो साधर्म्य अर्थात् उस धर्म का व्याप्य, वही साधर्म्य सूत्र में साध्यसाधर्म्य शब्द से गृहीत होता है। भाष्यकार ने इस प्रयोजक अर्थ में ही कारण शब्द का प्रयोग करके व्याख्या की है – साध्यसाधर्म्यात् कारणात्। वाचस्पति मिश्र ने इसको स्पष्ट कहा है। सूत्रोक्त तद्धर्मभावी पद की व्याख्या में भाष्यकार ने कहा है कि साध्य पदार्थ दो प्रकार होता है – धर्मिविशिष्ट धर्म और धर्मविशिष्ट धर्मी। इस सूत्र में तद् पद से धर्मविशिष्टधर्मीरूप साध्य अभिप्रेत है। भाष्यकार ने इसका हेतु कहा है – ''पृथग् धर्मवचनात्''। भाष्यकार का अभिप्राय यह है कि सूत्रगत प्रथम साध्य शब्द से धर्म रूप साध्य लिया जाता है, अतः तद्धर्मभावी पदगत तत् पद से साध्य धर्म ही लिया जाना चाहिए। चूँकि तत् पद के बाद धर्म पद का प्रयोग सूत्र में किया गया है अतः तत् पद से साध्यधर्मी गृहीत होता है। अतः भाष्यकार ने कहा है – ''तस्य धर्मस्तद्धर्मः, तस्य साध्यस्य''।

भाष्यकार ने ''तद्धर्मभावी'' पद की व्याख्या में कहा है – ''तद्धर्मस्य भावस्तद्धर्मभावः, स यस्मिन् दृष्टान्ते वर्तते स दृष्टान्तः साध्यसाधर्म्यात्तद्धर्मभावी भवति।''

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

उद्योतकर ने उक्त ''भवति'' पद की व्याख्या ''विद्यते'' की है। वाचस्पति मिश्र ने इसके कारण की व्याख्या में कहा है कि भू धातु का उत्पत्ति अर्थ यहाँ उपपन्न नहीं होता, अतः उसका विद्यमानत्व अर्थ ही यहाँ समझना चाहिए। विद्यमानत्व अर्थ में भू धातु का प्रयोग होने पर विवाद का अवसर नहीं होता किन्तु ''तद्धर्मभावी'' पद की व्याख्या में बहुत विवाद और मतभेद है। वृत्तिकार विश्वनाथ ने भाष्यकार की व्याख्या में भाव शब्द को व्यर्थ समझकर अपनी व्याख्या इस प्रकार की है – ''तं साध्यरूपं धर्मं भावयति इति तद्धर्मभावी''। किन्तु परवर्ती सूत्र के वार्त्तिक में उद्योतकर ने अन्य सम्प्रदाय के प्रतिवाद का खण्डन करते हुए कहा है – ''तद्धर्मश्चासौ भावश्चेति तद्धर्मभावः स यस्यास्ति स भवति तद्धर्मभावी''। उद्योतकर का कहना है कि साधर्म्य दृष्टान्त पदार्थ में जो तद्धर्मवत्ता कही गई है वह तद्धर्मवत्ता भाव रूप विधीयमान है। निषिद्ध्यमान तद्धर्म नहीं – इसे समझाने के लिए ही भाव शब्द का प्रयोग हुआ है। उपर्युक्त स्थाली प्रभृति साधर्म्य दृष्टान्त पदार्थ में अनित्यत्व रूप तद्धर्म भावरूप अर्थात् विधीयमान तद्धर्म है। उद्योतकर की व्याख्या के अनुसार वाचस्पति मिश्र ने भी व्याख्या की है – ''तदनित्यत्वं तद्धर्मः स एव भावस्तद्धर्मभावः, सोऽस्यास्तीति तद्धर्मभावी, स्थाल्यादिरनित्यत्वधर्मवानिति यावत्''। यद्यपि भाष्यकार ने ऐसी व्याख्या नहीं की है तथापि वाचस्पति मिश्र ने ऐसी व्याख्या करते समय आरम्भ में कहा है – ''साध्येन साधर्म्यमित्यादि भाष्यं, तस्यार्थः''। विद्वज्जन स्वयं इस विषय में भाष्य तथा तात्पर्यटीका देखकर निर्णय करेंगे।

उक्त स्थल में साधर्म्य उदाहरणवाक्य कैसा होगा – यह समझना होगा। भाष्यकार ने निगमन सूत्र में कहा है – ''उत्पत्तिधर्मकं स्थाल्यादिद्रव्यमनित्यमित्युदाहरणम्''। इसके पहले उपनय सूत्र के भाष्य में कहा है – ''स्थाल्यादिद्रव्यमुत्पत्तिधर्मकमनित्यं दृष्टम्''[१३६]। वार्त्तिककार ने यहाँ बाद में कहा है – उदाहरणं स्थाल्यादिद्रव्यमिति।

---

[१३६] सूत्रकार तथा भाष्यकार के मतानुसार उदाहरणवाक्य में सर्वत्र दृष्टान्तबोधक शब्द का प्रयोग कर्त्तव्य है – इनके द्वारा प्रदर्शित उदाहरणवाक्य से ही यह ज्ञात होता है। तात्पर्यटीका में देखा जाता है कि ''तद्यथा अनित्यः शब्दः उत्पत्तिमत्त्वात् घटवदिति। यो योऽनित्यः स स उत्पत्तिमान् यथा घट इति''। यहाँ ''यः उत्पत्तिमान् सोऽनित्यः'' ऐसा पाठ ही संगत प्रतीत होता है। गङ्गेश उपाध्याय ने कहा है – ''वीप्सा तु यत्पदे न तु तत्पदेऽपि''। किन्तु इन्होंने पहले कहा है – ''दृष्टान्तप्रयोगस्य सामयिकत्वेनासार्वत्रिकत्वात्''। इनके मत में समयविशेष में उदाहरण-वाक्य में दृष्टान्तबोधक शब्द का प्रयोग होता है। किन्तु वह सर्वत्र अवश्य कर्त्तव्य नहीं है। क्योंकि ''यो यो धूमवान् स वह्निमान्'' इतना कहने पर ही धूम से वह्नि का व्याप्तिबोध होता है। इस नव्यनैयायिक के मतानुसार वृत्तिकार विश्वनाथ ने इस सूत्र की व्याख्या में कहा है – ''दृष्टान्तो दृष्टान्तवचनं दृष्टान्तकथनयोग्यवाक्यमित्यर्थः'' इत्यादि

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

इससे ज्ञात होता है कि भाष्यकार ने यहाँ पश्चात् कहा है – "स्थाल्यादिद्रव्यमुत्पत्तिधर्मकमनित्यं दृष्टम्"। इस वाक्य में "उत्पत्तिधर्मक" पद का अर्थ क्या है तथा उत्पत्तिधर्मक होने से अनित्य क्यों होगा? इसके समाधान में इन्होंने कहा है – "तत्र यदुत्पद्यते तदुत्पत्तिधर्मकम् इत्यादि"। जो पदार्थ उत्पन्न होता है वह पहले किसी रूप में विद्यमान नहीं रहता और किसी काल में उसका अत्यन्त विनाश नहीं होता – इसलिए वह अनित्य कहलाता है। किन्तु ध्वंस नामक अभाव पदार्थ उत्पन्न होने पर भी विनष्ट नहीं होता। अतः समवायिकरण में जो उत्पन्न होता है अर्थात् सभी जन्य भाव पदार्थ यहाँ उत्पत्तिधर्मक पद से भाष्यकार को विवक्षित हैं। जन्य भाव पदार्थ मात्र में उक्त स्वरूप अनित्यत्व के रहने से उत्पत्तिधर्मकत्व साधन और अनित्यत्व साध्य रूप उन दोनों धर्मों में व्याप्यव्यापक भाव सम्बन्ध स्वीकार्य है। साधर्म्य प्रयुक्त ही किन्हीं पदार्थों से व्यवस्थित रूप से व्याप्यव्यापक भाव सम्बन्ध की उपलब्धि होती है। स्थाली आदि साधर्म्य दृष्टान्त से उक्त दोनों धर्मों के व्याप्यव्यापक भाव सम्बन्ध की उपलब्धि से शब्द में उसका अनुमान किया जाता है। इसी का परिणाम होता है कि पश्चात् शब्द में अनित्यत्वरूप साध्यधर्म की अनुमिति होती है। आगे के भाष्य में यह और अधिक स्पष्ट होगा। (१.१.३६)

***सूत्र* – तद्विपर्ययाद्वा विपरीतम् ।१.१.३७।**

अर्थ – उसके – साध्यसाधर्म्य के विपर्यय से – अभाव से – (साध्य के वैधर्म्य से) तद्धर्मभावी के विपरीत – अतद्धर्मभावी दृष्टान्त भी अर्थात् ऐसे दृष्टान्त का बोधकवाक्य विशेष भी उदाहरण अर्थात् वैधर्म्योदाहरण होता है।

भाष्य – **दृष्टान्त उदाहरणमिति प्रकृतम्। साध्यवैधर्म्यादतद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणमिति। अनित्यः शब्दः उत्पत्तिधर्मकत्वात् अनुत्पत्तिधर्मकं नित्यमात्मादि। सोऽयमात्मादिदृष्टान्तः साध्यवैधर्म्यादनुत्पत्तिधर्मकत्वादतद्धर्मभावी, योऽसौ साध्यस्य धर्मोऽनित्यत्वं स तस्मिन् न भवतीति। अत्रात्मादौ दृष्टान्ते उत्पत्तिधर्मकत्वस्याभावादनित्यत्वं न भवतीति उपलभमानः शब्दे विपर्ययमनुमिनोति, उत्पत्तिधर्मकत्वस्य भावाद नित्यः शब्द इति।**

साधर्म्योक्तस्य हेतोः साध्यसाधर्म्यात् तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम्। वैधर्म्योक्तस्य हेतोः साध्यवैधर्म्यादतद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम्। पूर्वस्मिन् दृष्टान्ते यौ तौ धर्मौ साध्यसाधनभूतौ पश्यति, साध्येऽपि तयोः साध्यसाधनभावमनुमिनोति। उत्तरस्मिन् दृष्टान्ते ययोर्धर्मयोरेकस्याभावादितरस्याभावं पश्यति,

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

तयोरेकस्य भावादितरस्य भावं साध्येऽनुमिनोतीति[१३७] । तदेतद्धेत्वाभासेषु न संभवतीत्यहेतवो हेत्वाभासाः । तदिदं हेतुदाहरणयोः सामर्थ्यं परमसूक्ष्मं दुःखबोधं पण्डितैरुपवेदनीयमिति ।

अनुवाद – ''दृष्टान्त उदाहरणम्'' की पूर्वसूत्र से यहाँ अनुवृत्ति की जाती है । सूत्र का अर्थ होता है – साध्यधर्मी के वैधर्म्य से अतद्धर्मभावी दृष्टान्त का बोधकवाक्य भी उदाहरण कहलाता है । यथा ''अनित्यः शब्दः उत्पत्तिधर्मकत्वात् अनुत्पत्तिधर्मकं नित्यमात्मादि'' । यहाँ ''उत्पत्तिधर्मकत्वात्'' इस हेतुवाक्य के पश्चात् ''अनुत्पत्तिधर्मकं नित्यमात्मादि'' वाक्य कहने से वैधर्म्य उदाहरण होता है । यहाँ आत्मा आदि दृष्टान्त साध्यधर्मी (अनित्य विशिष्ट शब्द) का वैधर्म्य अर्थात् अनुत्पत्तिधर्मकत्व के कारण अतद्धर्मभावी होता है । कारण यह है कि साध्यधर्मी का अनित्यत्व रूप धर्म आत्मा आदि दृष्टान्त में नहीं रहता । इस स्थल में आत्मा आदि दृष्टान्त में उत्पत्तिधर्मकत्व के अभाव के कारण अनित्यत्व का अभाव (नित्यत्व) रहता है । इसकी उपलब्धि का परिणाम हुआ कि शब्द में नित्यत्व के अभाव रूप अनित्यत्व का अनुमान होता है कि उत्पत्तिधर्मकत्व की उपलब्धि से शब्द अनित्य होता है । साधर्म्यप्रयुक्त उक्त हेतुवाक्य के सम्बन्ध में साध्यधर्मी के साधर्म्य रहने से तद्धर्मभावी दृष्टान्त का बोधकवाक्य उदाहरण होगा । वैधर्म्यप्रयुक्त उक्त हेतुवाक्य के सम्बन्ध में साध्यधर्मी का वैधर्म्य रहने से अतद्धर्मभावी दृष्टान्त का बोधकवाक्य उदाहरण होगा । उपर्युक्त दृष्टान्त पदार्थ में उन दोनों धर्मों का साध्य एवं साधन रूप में जो उपलब्ध करता है, वह साध्यधर्मी में उन दोनों धर्मों के साध्यसाधन भाव का अनुमान करता है । वैधर्म्य दृष्टान्त में दो धर्मों में से एक के अभाव से अपर के अभाव की उपलब्धि करता है । वहाँ दो धर्मों में से एक की सत्ता से अपर की सत्ता का साध्यधर्मी में अनुमान करता है । यह उपर्युक्त उदाहरण बोध्य साध्य-साधन

---

[१३७] प्रचलित पुस्तकों में यहाँ ''तयोरेकस्याभावादितरस्याभावं साध्येऽनुमिनोति'' ऐसा पाठ मिलता है । किन्तु यहाँ साध्यधर्मी शब्द में उत्पत्तिधर्मकत्व का अभाव प्रयुक्त अनित्यत्व के अभाव का अनुमान होता है ऐसा नहीं कहना चाहिए । किन्तु उत्पत्तिधर्मकत्व के रहने से अनित्यत्व का अनुमान होता है – यही वक्तव्य है । अतः भाष्यकार ने पहले ही कहा है कि ''शब्दे विपर्ययमनुमिनोति । उत्पत्तिधर्मकत्वस्य भावादनित्यः शब्द इति'' । अतः यहाँ ''तयोरेकस्य भावादितरस्य भावं साध्येऽनुमिनोति'' इस प्रकार का पाठ ही संगत प्रतीत होता है । अपि च भाष्य के अन्त में ''पण्डितरूपवेदनीयं'' पाठ प्रकृत पाठ होना चाहिए । वाचस्पति मिश्र ने कहा है – ''भाष्ये पण्डितरूपवेदनीयमिति प्रशस्तपण्डितवेदनीयमित्यर्थः'' । प्रशंसायां रूपम् – इस पाणिनि-सूत्र के अनुसार पण्डित पद से रूप प्रत्यय करके प्रशस्त पण्डित अर्थ उसका ज्ञात होता है ।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

भाव हेत्वाभासों में सम्भव नहीं है। अतः हेत्वाभास हेतु नहीं होते हैं। हेतु और उदाहरण की यह सामर्थ्य अतिसूक्ष्म अर्थात् दुर्बोध तथा अच्छे पंडितों को बोध्य होती है।

टिप्पणी – इस सूत्र में वा पद समुच्चयार्थक है और विपरीत पद का नपुंसक लिंग में प्रयोग होने से ज्ञात होता है कि दूसरे प्रकार के उदाहरण का लक्षण यहाँ महर्षि को अभिप्रेत है। भाष्यकार ने सूत्रार्थ की व्याख्या में कहा है – ''दृष्टान्त उदाहरणमिति प्रकृतम्'' अर्थात् पूर्वसूत्र से ''दृष्टान्त उदाहरणम्'' की यहाँ अनुवृत्ति होती है। एवं ''विपरीतमुदाहरणम्'' इस प्रकार की व्याख्या करनी होगी। सूत्रोक्त तद्विपर्ययात् से साध्यवैधर्म्यात् लिया जाता है। विपरीत पद का अर्थ अतद्धर्मभावी होता है। भाष्यकार ने इसको समझाने के लिए कहा है – ''सध्यवैधर्म्यादतद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणमिति''। भाष्यकार ने शब्द के अनित्यत्व की सिद्धि-स्थल में दूसरे प्रकार का वैधर्म्य उदाहरण प्रदर्शित करते हुए कहा है – ''अनुत्पत्तिधर्मकं नित्यमात्मादि''। आत्मा आदि नित्य पदार्थ कैसे वैधर्म्य दृष्टान्त होता है इसे समझाने के लिए भाष्यकार ने लिखा है – ''सोऽयमात्मादिर्दृष्टान्तः'' इत्यादि। तात्पर्य यह है कि यहाँ हेतु पदार्थ उत्पत्तिधर्मकत्व है जो साध्य का साधर्म्य है। अतः उसका विपर्यय अर्थात् अभाव होगा अनुत्पत्तिधर्मकत्व जो उक्त हेतुक साध्य का वैधर्म्य होगा। आत्मा आदि नित्य पदार्थ में इस अनुत्पत्तिधर्मकत्व के रहने से यह तद्धर्मभावी का विपरीत अतद्धर्मभावी होता है। क्योंकि यहाँ साध्यधर्मी अनित्यत्व विशिष्ट शब्द का धर्म अनित्यत्व आत्मा आदि पदार्थ में नहीं रहता। अनुत्पत्तिधर्म विशिष्ट भाव पदार्थ नित्य होता है। अतः उपर्युक्त स्थल में आत्मा आदि वैधर्म्य दृष्टान्त का बोधकवाक्य ही वैधर्म्य उदाहरण वाक्य कहलाता है।

भाष्यकार ने इस उदाहरणवाक्य के चरमफल के प्रकाशन में कहा है – ''अत्रात्मादौ दृष्टान्ते'' इत्यादि। तात्पर्य यह है कि इस स्थल में आत्मा आदि दृष्टान्त पदार्थ में उत्पत्ति धर्मकत्व के अभाव के कारण अनित्यत्व के अभाव का ज्ञान होने पर उत्पत्तिधर्मकत्व का अभाव अनित्यत्व के अभाव का व्याप्य होता है। अतः जिन पदार्थों में उत्पत्ति धर्मकत्व नहीं रहता उसमें अनित्यत्व नहीं रहता है – इस प्रकार का निश्चय होता है। इसी को ''व्यतिरेकव्याप्तिनिश्चय'' कहते हैं। व्यतिरेक का अर्थ अभाव होता है। उत्पत्तिधर्मकत्व के अभाव में अनित्यत्व के अभाव की व्याप्ति ''व्यतिरेकव्याप्ति'' कहलाती है। भाष्य में उपलभमानः पद में हेतु अर्थ में शानच् प्रत्यय हुआ है इससे व्यतिरेकव्याप्ति के निश्चय से उपर्युक्त स्थल में शब्द में अनित्यत्व की अनुमिति का हेतु ज्ञात होता है। इसी को भाष्यकार ने कहा है – ''शब्दे विपर्ययमनुमिनोति उत्पत्तिधर्मकत्वस्य भावादनित्यः शब्द इति''। भाष्यकार का तात्पर्य है कि नित्य पदार्थ मात्र अनुत्पत्तिधर्मक होता है – इस

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

बोध के बिना आत्मा आदि पदार्थ में उत्पत्तिधर्मकत्व के अभाव के कारण अनित्यत्व का अभाव ज्ञात नहीं होता। अतः उपर्युक्त उदाहरणवाक्य के द्वारा जिसको उक्त रूप व्यतिरेकव्याप्ति का निश्चय होता है उसको – नित्यत्व का व्यापक होता है अनुत्पत्तिधर्मकत्व – यह ज्ञान भी अवश्य होता है। अब शब्द में उस अनुत्पत्तिधर्मकत्व का अभाव रूप उत्पत्तिधर्मकत्व अर्थात् नित्यत्व के व्यापक पदार्थ के अभाव के कारण नित्यत्व का अभाव रूप अनित्यत्व अनुमान से सिद्ध होगा। क्योंकि यहाँ निर्विवाद है कि व्यापक पदार्थ का अभाव रहने पर उस हेतु से उसके व्याप्य पदार्थ का अभाव सिद्ध होता है।

किसी सम्प्रदाय के मत में उक्त स्थल में अनित्यत्वरूप साध्यधर्म के अभाव में उत्पत्तिधर्मकत्वरूप हेतु के अभाव का समानाधिकरण्य ज्ञान अर्थात् नित्य पदार्थ में उत्पत्तिधर्मकत्व के अभाव का ज्ञान ही ''व्यतिरेकसहचारज्ञान'' कहलाता है। इस सहचार ज्ञान से उक्त स्थल में हेतु पदार्थ में साध्यधर्म की अन्वयव्याप्ति का ज्ञान होता है। पश्चात् उस अन्वयव्याप्ति के आधार पर शब्द में अनित्यत्व की अनुमिति होती है। ''केवलान्वयिदीधिति'' की टीका में जगदीश तर्कालंकार ने इस मत को आचार्य का मत कहा है तथा इस मत में ''केवलव्यतिरेकी'' अनुमान का लक्षण इस प्रकार कहा है – ''व्यतिरेकसहचारमात्रगृहीतान्वयव्याप्तिकत्वं केवलव्यतिरेकित्वम्''। किसी सम्प्रदाय के मत में – ''व्यतिरेकव्याप्त्या अन्वयव्याप्तिमनुमाय यत्रानुमितिः स एव व्यतिरेकीत्युच्यते''। व्यतिरेकव्याप्ति का निश्चय होने पर उससे प्रकृत साध्यधर्म की अन्वयव्याप्ति का अनुमान होने पर उस अन्वय व्याप्ति विशिष्ट हेतुमत्ता के निश्चय (अन्वय परामर्श) से जो अनुमिति होती है उस अनुमान को ''व्यतिरेकी'' नाम से कहा जाता है। किन्तु गङ्गेश उपाध्याय ने अनुमानचिन्तामणि के ''व्यतिरेकी अनुमान'' प्रकरण में इस प्राचीन मत का खण्डन किया है। इनकी दृष्टि में जहाँ अन्वय दृष्टान्त सम्भव नहीं है, उस स्थल में व्यतिरेक दृष्टान्त की सहायता से प्रकृत हेतु पदार्थ में साध्यधर्म की व्यतिरेकव्याप्ति के निश्चय से अनुमिति होती है। साध्यधर्म के अभाव का व्यापक जो अभाव उसकी प्रतियोगिता है, वही ''व्यतिरेकव्याप्ति'' पदार्थ होता है। जो पदार्थ उस साध्यधर्म से शून्य रहता है वह उस हेतु से भी रहित ही रहता है – यह ज्ञात होने पर उस हेतु का अभाव साध्य के अभाव का निश्चय ही व्यापक होता है। उस हेतु के अभाव की प्रतियोगिता के उस हेतु पदार्थ में रहने से वैसी ''व्यतिरेकव्याप्ति'' का निश्चय होता है।

वाचस्पति मिश्र ने यहाँ कहा है कि भाष्यकार द्वारा कथित अन्वयव्यतिरेकी हेतु के स्थल में व्यतिरेकी उदाहरण के सम्भव रहने पर भी केवल अन्वयी उदाहरण ही कहना उनको अभिप्रेत है। क्योंकि सरल रास्ते से जो सिद्ध हो सकता है उसे टेढ़े रास्ते से सिद्ध

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

करना उचित नहीं है। ''ऋजुमार्गेण सिद्ध्यतोऽर्थस्य वक्रेण साधनायोगात्''। किन्तु यह युक्ति सर्वसम्मत नहीं है। इस प्रसंग में भाष्यकार का कथन पहले ही इस सूत्र की व्याख्या में कहा जा चुका है। भाष्यकार ने यहाँ आत्मा आदि वैधर्म्य दृष्टान्त में उत्पत्तिधर्मकत्वरूप हेतु के अभाव के कारण अनित्यत्वरूप साध्यधर्म के अभाव को क्यों कहा है – यह भी चिन्तनीय है। वाचस्पति मिश्र ने इस बात का उल्लेख करके कहा है कि ''तच्चायुक्तम्''। क्योंकि सर्वत्र यह नहीं कहा जा सकता कि हेतु पदार्थ साध्यधर्म की अन्वयव्याप्ति से विशिष्ट होकर उस हेतु से रहित पदार्थ मात्र साध्यधर्म से शून्य होता है। अतः जिन पदार्थों में साध्यधर्म नहीं रहता उनमें प्रकृत हेतु पदार्थ भी नहीं रहता – इस तरह का व्यतिरेक दृष्टान्त दिखाना होगा। जिसमें साध्यधर्म के अभाव के कारण हेतु का अभाव रहता है। वही वैधर्म्य दृष्टान्त या व्यतिरेक दृष्टान्त कहलाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार ही जयन्त भट्ट ने सूत्रगत तद्विपर्ययात् पद की व्याख्या साध्याभावात् की है और विपरीत पद का अर्थ हेतु रहित किया है[१३८]।

किन्तु भाष्यकार के पक्ष में कहना है कि यह सर्वसम्मत है कि पूर्वसूत्र में तद्धर्म शब्द से साध्य का धर्म लिया जाता है। ''तद्धर्मभावी'' पद से साध्यधर्मविशिष्ट ज्ञात होता है। अतः इस सूत्रगत विपरीत पद से हेतु रहित अर्थ नहीं लिया जा सकता। तद्धर्मभावी के विपरीत अतद्धर्मभावी का अर्थ साध्यधर्म से रहित ही ज्ञात होता है। सूत्रगत तद्विपर्ययात् पद से पूर्वसूत्रोक्त साध्यसाधर्म्यरूप हेतु के अभाव के कारण रूप अर्थ ज्ञात होता है। अब इस सूत्र का अर्थ होता है – प्रकृत हेतु पदार्थ के विपर्यय या अभाव के कारण जो तद्धर्मभावी का विपरीत (अतद्धर्मभावी) अर्थात् साध्यधर्म से रहित उस वैधर्म्य दृष्टान्त का बोधकवाक्य विशेष वैधर्म्य उदाहरणवाक्य होता है। इसके अनुसार भाष्यकार ने यहाँ आत्मा आदि वैधर्म्य दृष्टान्त को उत्पत्तिधर्मकत्वरूप हेतु के अभाव के कारण अनित्यत्वरूप साध्यधर्म से रहित कहा है। निश्चय ही यहाँ आत्मा आदि दृष्टान्त में अनित्यत्व के अभाव के कारण उत्पत्तिधर्मकत्व के अभाव का प्रदर्शन करके वैधर्म्योदाहरण कहा जा सकता है। इसका निषेध भाष्यकार ने नहीं किया किन्तु इन्होंने पश्चात् कहा है – ''उत्तरस्मिन् दृष्टान्ते ययोर्धर्मयोरेकस्याभावादितरस्याभावं पश्यति तयोरेकस्य भावादितरस्य भावं साध्येऽनुमिनोतीति''। यहाँ अंतिम एक पद से निश्चित रूप से हेतु

---

१३८ ''तदिति साध्यधर्मपरामर्शः। तच्च यद्यपि पूर्वसूत्रे लिङ्गसामान्यम् तथाप्यत्र साध्यसाधर्म्यं द्रष्टव्यम्। तद्विपर्ययात् साध्याभावात् विपरीतोऽतद्धर्मभावी साधनरहितो यो दृष्टान्तः स वैधर्म्यदृष्टान्तः। पूर्ववद्वचसः कर्मतामापद्यमानो वैधर्म्योदाहरणं भवति'' – न्यायमञ्जरी, पृ. ५०९

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

पदार्थ लिया जाता है। पूर्व में उक्त एक पद से हेतु तथा साध्य दोनों का धर्म लिया जाता है। अन्यथा भाष्यकार ने ''ययोर्धर्मयोः साधनस्याभावात् साध्यस्याभावं पश्यति'' ऐसा ही क्यों नहीं कहा – यह विचार करना आवश्यक होगा।

वस्तुतः जिस स्थल में साध्यधर्म और हेतु एक देश में रहते हैं उस स्थल के हेतु को ''समव्याप्त'' हेतु कहा जाता है। भाष्यकार के उपर्युक्त स्थल में उत्पत्तिधर्मकत्व हेतु अनित्यत्वरूपी साध्य का समदेशवर्ती होने से समव्याप्त कहलाता है। क्योंकि जैसे उत्पत्तिधर्मा सभी वस्तुएं अनित्य होती हैं इसी प्रकार सभी अनित्य वस्तुएं उत्पत्तिधर्मक होती हैं। समवायिकरण से जन्य होने से यहाँ उत्पत्तिधर्मकत्व एवं विनाशिभावत्व ही अनित्यत्व पदार्थ होता है। प्रशस्तपादभाष्य की सूक्ति व्याख्या में जगदीश तर्कालंकार ने व्याख्या की है – ''कार्यत्वं समवायावच्छिन्नजन्यत्वम् अनित्यत्वं विनाशिभावत्वम्''। अतः कहना होगा कि आत्मा आदि भाव पदार्थों में उत्पत्तिधर्मकत्व के अभाव के कारण अनित्यत्व नहीं रहता, नित्यत्व ही रहता है। भाष्यकार ने महर्षि के इस सूत्र की उपर्युक्त व्याख्या के अनुसार यही कहा है और इन्होंने पहले ही उदाहरण वाक्य का निर्देश इस प्रकार किया है – ''अनुत्पत्तिधर्मकं नित्यमात्मादि''। किन्तु ''विषम व्याप्त'' हेतु के स्थल में ऐसा नहीं कहा जा सकता। जैसे धूम से रहित स्थल वह्नि से भी रहित होते हैं – यह नहीं कहा जा सकता। किन्तु वह्नि से रहित सभी स्थलों में धूम या विशिष्ट धूम का अभाव रहता है – यह कहा जा सकता है। अतः इन स्थलों में वैधर्म्य दृष्टान्त दिखाने के लिए पक्ष में साध्यधर्म के अभाव के कारण हेतु का अभाव कहना होगा। भाष्यकार ने यद्यपि इसको स्पष्ट नहीं कहा। उपर्युक्त युक्ति के आधार पर यह उनको सम्मत ज्ञात होता है। महर्षि के इस सूत्र में समुच्चयार्थक वा शब्द से भी यह सूचित होता है। सूत्र के लक्षण में ही कहा गया है कि सूत्र से बहुत अर्थों की सूचना होती है। वाचस्पति मिश्र ने भामती में कहा है – ''सूत्रञ्च बह्वर्थसूचनाद् भवति''।

पश्चात् भाष्यकार ने यथाक्रम दो प्रकार के हेतुओं के सम्बन्ध में दो प्रकार के उदाहरण का लक्षण कहा है। प्रथम दृष्टान्त में दोनों धर्मों का दर्शन साध्यसाधन भाव रूप में होता है। ''साध्येऽपि तयोः साध्यसाधनभावमनुमिनोति''। भाष्यकार के इस कथन से ज्ञात होता है कि इनके मत में महानस (रसोईघर) आदि किसी स्थान में पहले धूम और वह्नि का दर्शन होने पर उस धूम के साथ उस वह्नि की व्याप्ति का निश्चय होता है। तत्पश्चात् पर्वत में धूम दर्शन होने पर पूर्वदृष्ट धूम का साम्य या सजातीयता का प्रत्यक्ष होने पर उस धूम हेतु से पर्वत में वह्नि की अनुमिति होती है। इस प्रकार भाष्यकार के उपर्युक्त स्थल में पहले स्थाली आदि दृष्टान्त से अनित्यत्व और उत्पत्तिधर्मकत्व के

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

साध्यसाधन भाव का ज्ञान होने पर पश्चात् साध्य में अर्थात् अनित्यत्वरूप साध्य के धर्मी शब्द में तद्गत अनित्यत्व एवं उत्पत्तिधर्मकत्व इन दोनों धर्मों के साध्यसाधन भाव का अनुमान होता है। अतएव शब्द में उत्पत्तिधर्मकत्व हेतु से अनित्यत्व रूप साध्य की अनुमिति होती है। किन्तु वाचस्पति मिश्र ने ऐसी बात नहीं कही। गङ्गेश उपाध्याय ने विचारपूर्वक इसका समर्थन किया है कि पहले अन्वय दृष्टान्त में सामान्य व्याप्ति का निश्चय होता है। जैसे महानस (रसोईघर) आदि किसी स्थान में धूम विशेष तथा वह्नि विशेष का दर्शन होने पर सकल धूम में रहने वाले धूमत्वरूप सामान्य धर्म के प्रत्यक्ष से सकल वह्नि में रहने वाले वह्नित्वरूप सामान्य धर्म का प्रत्यक्ष होने पर यथाक्रम सभी धूम और सभी वह्नि का प्रत्यक्ष हो जाता है[१३९]। अब धूमत्व रूप से सभी धूम में वह्नित्व रूप से सभी वह्नि की अन्वयव्याप्ति का प्रत्यक्ष होता है। इससे पर्वत में विद्यमान धूम में भी वह्नि की व्याप्ति का प्रत्यक्ष होता है। अतः पर्वतीय धूम में भी वह्नि की व्याप्ति का प्रत्यक्ष होता है। पश्चात् पर्वत में धूम के देखने से पूर्व का संस्कार उद्‌बुद्ध होने पर उस संस्कार से उस धूम में पूर्व से निश्चित सामान्य व्याप्ति का स्मरण होता है। इस स्मरण के पश्चात् पर्वत में सामान्यतः धूम हेतु से सामान्यतः वह्नि की अनुमिति होती है। इस विषय में बहुत सूक्ष्म विवेचन हुआ है जो यहाँ संक्षेप में नहीं कहा जा सकता।

भाष्यकार ने कहा है कि उपर्युक्त दो प्रकार के उदाहरणवाक्य बोध्य साध्य-साधन भाव प्रकृत हेतु पदार्थ में ही सम्भव हैं, हेत्वाभासों में आगे प्रतिपाद्य पाँच प्रकार के दुष्ट हेतुओं में नहीं। क्योंकि वे साध्य के वस्तुतः साधन ही नहीं होते। चूंकि प्रकृत हेतु का लक्षण इन हेत्वाभासों में नहीं रहता अतः किसी उदाहरणवाक्य से उनमें हेतुत्व नहीं सिद्ध हो सकता। फलतः सभी हेत्वाभास अहेतु ही होते हैं। भाष्यकार ने यहाँ व्याख्या के उपसंहार में कहा है कि हेतु तथा उदाहरणवाक्य की सामर्थ्य अर्थात् फल के साथ सम्बन्ध अति दुर्बोध होने से केवल अच्छे पण्डितों को ही बोध्य होता है। उससे चरम फल की

---

१३९ गङ्गेश उपाध्याय ने अलौकिक प्रत्यक्ष विशेष के कारण के रूप में धूमत्व आदि सामान्य धर्म को एक प्रकार का अलौकिक सन्निकर्ष कहा है। इसका नाम है – ''सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति'' तृतीय खण्ड, बंग संस्करण (पृ. १३२) में इसकी व्याख्या द्रष्टव्य है यह सामान्य लक्षणा प्रत्यासत्ति वाचस्पति मिश्र को भी सम्मत है। अतएव खण्डनखण्डखाद्य के प्रथम परिच्छेद में व्याप्तिवाद का खण्डन करते हुए श्रीहर्ष ने कहा है – ''इन्द्रियेण सामान्यलक्षणया प्रत्यसत्त्या व्याप्तिग्रहणकाले सर्वास्तज्जातीयव्यक्तयो गृह्यन्ते, यदनभ्युपगमे षण्डकमुद्वाह्य मुग्धायाः पुत्रप्रार्थनमिवेति वाचस्पतिरवादीदितिचेत्''। मुद्रित तात्पर्यटीका में देखा जाता है – ''तदेतत् षण्डकमुद्वाह्य मुग्धायाः पुत्रप्रार्थनमिव । तस्मादन्तर्बहिर्वा सर्वोपसंहारेणाविनाभावोऽवगन्तव्यः''। – तात्पर्यटीका, प्रथम संस्करण, पृ. २९

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

प्राप्ति कैसे सम्पन्न होती है – यह सभी नहीं समझ पाते। इसे अच्छी तरह समझने के लिए विशेष प्रयास अपेक्षित है। उदाहरणवाक्य के प्रयोजन आदि के विषय में अन्य बातें बाद में की जाएगी। किसी के मत में अन्वयव्यतिरेकी नामक उदाहरण का तृतीय प्रकार भी मान्य है। किन्तु गङ्गेश उपाध्याय ने दो ही प्रकार का उदाहरणवाक्य माना है। दीधितिकार रघुनाथ शिरोमणि की भी यही मान्यता है। दीधिति की व्याख्या में इसका समर्थन करते हुए जगदीश तर्कालंकार ने कहा है – ''वस्तुतः शिरोमणिमते व्याप्तिद्वयबोधकमुदाहरणमेव'' नास्ति, कुतोऽस्य गमकत्वमित्याकांक्षायाः प्रथमोक्त व्याप्त्यवगमादेव निवृत्तौ व्याप्त्यन्तराभिधानस्य निराकांक्षतयाऽनौचित्यात्''। (१.१.३७)

सूत्र – उदाहरणापेक्षस्तथेत्युपसंहारो न तथेति वा साध्यस्योपनयः।१.१.३८।

अनुवाद – साध्यधर्मी के सम्बन्ध में उदाहरणानुसारी ''तथा'' इस प्रकार अथवा ''न तथा'' इस प्रकार उपसंहार (हेतु पदार्थ का कथन) अर्थात् हेतुबोधकवाक्य ''उपनय'' कहलाता है।

भाष्य – **उदाहरणापेक्ष उदाहरणतन्त्र उदाहरणवशः[१४०]। वशः सामर्थ्यम्। साध्यसाधर्म्ययुक्ते उदाहरणे स्थाल्यादिद्रव्यमुत्पत्तिधर्मकमनित्यं दृष्टम् तथा शब्द उत्पत्तिधर्मक इति साध्यस्य शब्दस्योत्पत्तिधर्मकत्वमुपसंह्रियते। साध्यवैधर्म्ययुक्ते पुनरुदाहरणे आत्मादिद्रव्यमनुत्पत्तिधर्मकं नित्यं दृष्टम्, न च तथानुत्पत्तिधर्मकः शब्द इति, अनुत्पत्तिधर्मकत्वस्योपसंहार प्रतिषेधेनोत्पत्तिधर्मकत्वमुपसंह्रियते। तदिदमुपसंहारद्वैतमुदाहरणद्वैताद् भवति। उपसंह्रियतेऽनेनेति चोपसंहारो वेदितव्य इति।**

अनुवाद – उदाहरणापेक्ष अर्थात् ''उदाहरणतन्त्र'' उदाहरणवश। वश अर्थात् उपनय वाक्य में उदाहरण की वश्यता – सामर्थ्य अर्थात् फल के साथ सम्बन्ध। ''स्थाल्यादि द्रव्यमुत्पत्तिधर्मकमनित्यं दृष्टम्'' इस प्रकार साध्य के साधर्म्य से युक्त उदाहरण के कारण ''तथा शब्दः उत्पत्तिधर्मकः'' इस उपनयवाक्य से साध्य के धर्मी शब्द के सम्बन्ध में उत्पत्तिधर्मकत्व का उपसंहार होता है। किन्तु ''आत्मादिद्रव्यमनुत्पत्तिधर्मकं नित्यं दृष्टं'' इस प्रकार साध्य के वैधर्म्य से युक्त उदाहरण के कारण ''न च तथानुत्पत्तिधर्मकः

---

[१४०] अपेक्षापदं भाष्यकृद् व्याचष्टे ''उदाहरणतन्त्र'' इति। ''उदाहरणवशः वश्यते इति वशः, वशिन उदाहरणस्य वश्य इत्यर्थः। वशः सामर्थ्यम्, वश्येन उदाहरणस्य फलेनोपनयेनाभिसम्बन्ध इत्यर्थः'' । – तात्पर्यटीका

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

शब्दः'' इस तरह अनुत्पत्तिधर्मकत्व का उपसंहार प्रतिषेध के द्वारा शब्द में अनुत्पत्ति धर्मकत्व का निषेधक उक्त उपनयवाक्य से साध्यधर्मी शब्द के सम्बन्ध में उत्पत्तिधर्मकत्व का उपसंहार होता है। यह उपसंहार का द्वैविध्य – उपनयवाक्य का द्वैविध्य-उदाहरण-वाक्य के दो प्रकार होने से होता है। इससे उपसंहार होता है अर्थात् साध्यधर्म के व्याप्तिविशिष्ट हेतुमत्त्व रूप में साध्यधर्मी का निश्चय होता है।

टिप्पणी – सूत्र में ''उदाहरणापेक्षः साध्यस्योपसंहारः'' इस वाक्य से चतुर्थ अवयव उपनय का सामान्य लक्षण और ''तथा'' एवं ''न तथा'' इन दो वाक्यों के उल्लेख से उस उपनयवाक्य के दो प्रकार एवं उनके विशेष लक्षण सूचित होते हैं। महर्षि ने उपनयवाक्य को उपसंहार कहा है। उपसंह्रियतेऽनेन इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिस वाक्य से शाब्दनिश्चयरूप उपसंहार उत्पन्न हो – इस प्रकार उपसंहार शब्द का अर्थ होता है शाब्दनिश्चयजनकवाक्य। भाष्यकार ने सबसे अन्त में इसको स्पष्ट किया है। किन्तु यह कहना आवश्यक है कि किस पदार्थ का उपसंहार उपनय होगा। अतः महर्षि ने ''साध्यस्य'' पद सूत्र में कहा है। साध्य पद से यहाँ साध्य का धर्मी – जिस अधिकरण में अनुमेय धर्म रहता है – अभिप्रेत है। नव्यनैयायिकों ने इसको ''पक्ष'' कहा है। वृत्तिकार विश्वनाथ ने सूत्रगत साध्यस्य पद की पक्षस्य अर्थ में व्याख्या की है। अब सूत्र का अर्थ होता है – उदाहरण के अनुसार ''तथा'' अथवा ''न तथा'' इस प्रकार उदाहरणवाक्य से बोधित साध्यधर्म की व्याप्ति से युक्त हेतुमत्त्वरूप साध्यधर्मी या पक्ष का उपसंहार – शाब्दनिश्चयजनकवाक्य उपनय कहलाता है। भाष्यकार ने यहाँ प्रथम प्रकार के उपनयवाक्य को समझाने के लिए पहले साधर्म्य उदाहरणवाक्य का उल्लेख करके कहा है – ''तथा शब्द उत्पत्तिधर्मक इति साध्यस्य शब्दस्य उत्पत्ति धर्मकत्वमुपसंह्रियते''[१४१]।

भाष्यकार का तात्पर्य यह है कि वादी अपने उत्पत्तिधर्मकत्व हेतु में अनित्यत्व की व्याप्ति का प्रदर्शन करके साधर्म्योदाहरणवाक्य के कहने पर तदनुसार उपनयवाक्य

[१४१] वाचस्पति मिश्र ने यहाँ भाष्यकार के अभिप्राय की व्याख्या में कहा है कि ''उदाहरणसिद्ध व्याप्तिहेतुमत्तया साध्यमुपसंह्रियते न स्वरूपेणेत्यर्थः''। उपनयवाक्य से केवल साध्यधर्मी का उपसंहार नहीं होता। अपितु उदाहरणवाक्य से हेतु में जो व्याप्ति सिद्ध हुई है उस हेतु विशिष्टत्व रूप में उस साध्यधर्मी का उपसंहार (शाब्द निश्चय) होता है। जयन्त भट्ट का कहना है कि ''सेयं साध्यस्येति सप्तम्यर्थे षष्ठी मन्तव्या। साध्ये धर्मिणि हेतोरुपसंहार उपनय इति''। इस व्याख्या में सरल रूप से सूत्र का अर्थ ज्ञात होता है। वस्तुतः सम्बन्ध अर्थ में हुई षष्ठी विभक्ति से सप्तमी विभक्ति का अर्थ भी ज्ञात होता है। सप्तमी विभक्ति के अर्थ में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग होता है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

कहता है – ''तथा चोत्पत्तिधर्मकः शब्दः''। इस वाक्य से ज्ञात होता है कि शब्द भी स्थाली आदि की तरह उत्पत्तिधर्मक होता है। अर्थात् अनित्यत्व की व्याप्ति से विशिष्ट उत्पत्तिधर्मकत्वरूप हेतु होता है। इस साधर्म्योदाहरण के बाद उपनयवाक्य के कथन से साध्यधर्मी शब्द में उत्पत्तिधर्मकत्व रूप हेतु का निश्चयात्मक उपसंहार उपनय अर्थात् साधर्म्योपनय होता है। इसी स्थल में वादी यदि वैधर्म्य उदाहरणवाक्य का प्रयोग करता है तो उसके अनुसार उपनयवाक्य होगा – ''न च तथानुत्पत्तिधर्मकः शब्दः''। भाष्यकार ने इस वाक्य को अनुत्पत्तिधर्मकत्व का उपसंहार प्रतिषेध कहा है। यह निषेध का बोधक-वाक्य होता है। इससे साध्यधर्मी शब्द में उत्पत्तिधर्मकत्व रूप हेतु का निश्चयात्मक उपसंहार होती। क्योंकि शब्द आत्मा आदि द्रव्य की तरह अनुत्पत्तिधर्मक नहीं होती। अतएव ज्ञात होता है कि उत्पत्तिधर्मक होता है। अनुत्पत्तिधर्मकत्व का अभाव तो उत्पत्तिधर्मकत्व ही होता है। अतः इस उपनयवाक्य को वैधर्म्योपनय अथवा व्यतिरेकी उपनय कहते हैं। चूंकि उदाहरणवाक्य दो प्रकार के होते हैं, अतः उपनयवाक्य भी दो प्रकार के होते हैं। उपनयवाक्य उदाहरणवाक्य की अपेक्षा करता है। इसी अभिप्राय से महर्षि ने कहा है – ''उदाहरणापेक्षः''। इसकी व्याख्या में भाष्यकार ने कहा है – ''उदाहरणतन्त्रः उदाहरणवशः''। दो प्रकार के उदाहरण होने से तदनुसार दो प्रकार के उपनय का प्रयोग होता है। इसलिए उपनयवाक्य उदाहरणवाक्य के अधीन होता है, उदाहरण के वश में रहता है। उपनयवाक्य में उदाहरणवाक्य की वश्यता कैसे होती है – इस प्रश्न के समाधान में भाष्य में कहा गया है – ''वशः सामर्थ्यम्''। वश का अर्थ होता है वश्यता और सामर्थ्य पद से फल के साथ सम्बन्ध विवक्षित है। तात्पर्य यह है कि उदाहरणवाक्य के फलभूत उपनयवाक्य के साथ उदाहरणवाक्य का सम्बन्ध ही उपनयवाक्य में उदाहरणवाक्य की वश्यता होती है।

तत्त्वचिन्तामणिकार गङ्गेश उपाध्याय ने उपनयवाक्य का सामान्यलक्षण इस प्रकार कहा है – ''अनुमितिकारणतृतीयलिंगपरामर्शजनकावयवत्वम्''। न्याय के अन्तर्गत अवयव से मध्यस्थ गण की अनुमिति का चरम कारणरूप जो लिंगपरामर्श उत्पन्न होता है, उस अवयव का नाम है ''उपनय''। लिंगपरामर्श दो प्रकार का होता है – अन्वय परामर्श और व्यतिरेक परामर्श। अन्वयव्याप्तिज्ञानपूर्वक जो लिंगपरामर्श होता है उसे ''अन्वय परामर्श'' कहते हैं। व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानपूर्वक जो लिंगपरामर्श होता है उसको ''व्यतिरेक परामर्श'' कहते हैं। इनमें अन्वय परामर्शजन्य उपनय को अन्वयी उपनय और व्यतिरेक परामर्शजन्य उपनय को व्यतिरेक उपनय कहते हैं। इस मत में अन्वयी उपनयवाक्य में ''तथा'' और व्यतिरेकी उपनय वाक्य में ''न तथा'' शब्द का प्रयोग आवश्यक नहीं है। वृत्तिकार विश्वनाथ ने इस सूत्र की व्याख्या में कहा है – ''अत्र च

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

तथा शब्द प्रयोगावश्यकत्वे न तात्पर्यं किन्तु व्याप्तिविशिष्टहेतुमत्त्वबोधे''। उपनयवाक्य में ''तथा'' शब्द के अवश्य प्रयोग में महर्षि का तात्पर्य नहीं है किन्तु अनुमान के धर्मी में साध्यधर्म की व्याप्ति से विशिष्ट हेतुमत्त्व का बोधजनकवाक्य ही उपनय है – यह महर्षि को विवक्षित है। उक्त रूप बोधजनक ''तथा चायं'' वाक्य तथा व्यतिरेकी हेतु के स्थल में ''न च तथायं'' वाक्य भी उपनय होता है। दोनों प्रकार के उपनयवाक्य कहे जाते हैं। इसी तात्पर्य से महर्षि ने सूत्र में कहा है – ''तथेति न तथेति वा''। किन्तु भाष्यकार ने महर्षि सूत्र के अनुसार ''तथा'' पदयुक्त उपनयवाक्य ही कहा है। वार्त्तिककार ने ''तथा'' शब्द के समानार्थक ''एवं'' शब्दयुक्त उपनयवाक्य का भी समर्थन किया है। अनेक प्राचीन नैयायिक ''तथा चायं'' रूप उपनयवाक्य का ही प्रयोग करते हैं। गङ्गेश उपाध्याय के प्रतिज्ञालक्षण की व्याख्या में दीधितिकार रघुनाथ शिरोमणि ने इस प्राचीन मत की ही प्रशंसा[१४२] की है। इन्होंने गङ्गेश के मत को नव्यमत ही कहा है। (१.१.३८)

***भाष्य* – द्विविधस्य पुनर्हेतोर्द्विविधस्य चोदाहरणस्योपसंहारद्वैते च समानम् –**

अनुवाद – दो प्रकार के हेतु के सम्बन्ध में और दो प्रकार के उदाहरण के सम्बन्ध में तथा दो प्रकार के उपसंहार में अर्थात् दो प्रकार के उपनय में एक ही प्रकार का (निगमन होता है) –

सूत्र – हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम्।१.२१.३९।

अनुवाद – हेतुवाक्य के कथनपूर्वक प्रतिज्ञावाक्य का पुनः कथन निगमन नामक पञ्चम् अवयव कहलाता है।

***भाष्य* – साधर्म्योक्ते वा वैधर्म्योक्ते वा यथोदाहरणमुपसंह्रियते ''तस्मादुत्पत्तिधर्मकत्वादनित्यः शब्द'' इति निगमनम्। निगम्यन्ते समर्थ्यन्ते सम्बद्ध्यन्ते। तत्र साधर्म्योक्ते तावद्धेतौ वाक्यम् – अनित्यः शब्दः इति प्रतिज्ञा। उत्पत्तिधर्मकत्वादिति हेतुः। उत्पत्तिधर्मकं स्थाल्यादिद्रव्यमनित्यमित्युदाहरणम्। तथा चोत्पत्तिधर्मकः शब्दः इत्युपनयः। तस्मादुत्पत्तिधर्मकत्वादनित्यः शब्दः इति निगमनम्। वैधर्म्योक्तेऽपि अनित्यः शब्दः उत्पत्तिधर्मकत्वात् अनुत्पत्तिधर्मकमात्मादिद्रव्यं नित्यं दृष्टम्। न च तथानुत्पत्तिधर्मकः शब्दः, तस्मादुत्पत्तिधर्मकत्वादनित्यः शब्दः इति।**

---

[१४२] .....तथा चायमित्याकारः सुवच एव प्राचामुपनयः। नव्यानां पुनरनन्यगतिकतया तद् व्याप्यहेतुमान् तद्वान् वा इत्याकारः। योग्यतादिवशाच्च तदा (तच्छब्देन) साध्यस्य तद्व्याप्यस्य वा परामर्शः। – अवयवदीधिति

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अनुवाद – उदाहरण के अनुसार साधर्म्य के आधार पर हेतु के उक्त होने पर अथवा वैधर्म्य के अनुसार हेतु के उक्त होने पर दोनों ही हेतु स्थल उपसंहृत अर्थात् सबसे अन्त में उक्त होते हैं – ''तस्मादुत्पत्तिहेतुकत्वादनित्यः शब्दः'' इस प्रकार का वाक्य ''निगमन'' कहलाता है। इस वाक्य से प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण तथा उपनय – इन चारों वाक्यों का एक अर्थ में निगमित होना ही ''निगमन'' होता है। निगमित होने का अर्थ होता है सामर्थ्ययुक्त होना तथा सम्बन्धयुक्त होना। निगमनवाक्य से उक्त प्रतिज्ञा आदि वाक्य चतुष्टय की सामर्थ्य या परस्पर सम्बन्ध का ज्ञान उत्पन्न होता है। इसलिए इस व्युत्पत्ति के अनुसार उक्त वाक्य का नाम निगमन होता है। यहाँ साधर्म्य के अनुसार उक्त हेतु के स्थल में वाक्य प्रतिज्ञा आदि पञ्चावयव रूप न्यायवाक्य इस प्रकार होते हैं – (१) अनित्यः शब्दः – प्रतिज्ञावाक्य है, (२) उत्पत्तिधर्मकत्वात् – हेतुवाक्य है, (३) उत्पत्तिधर्मकं स्थाल्यादिद्रव्यमनित्यम् – उदाहरणवाक्य है, (४) तथा चोत्पत्तिधर्मकः शब्दः – उपनयवाक्य है और (५) तस्मादुत्पत्तिधर्मकत्वादनित्यः शब्दः – निगमनवाक्य है। वैधर्म्य के अनुसार उक्त हेतु के स्थल में यथाक्रम पञ्चावयव वाक्य इस प्रकार होता है – (१) अनित्यः शब्दः, (२) उत्पत्तिधर्मकत्वात्, (३) अनुत्पत्तिधर्मकमात्मादि द्रव्यं नित्यं दृष्टम्, (४) न च तथानुत्पत्तिधर्मकः शब्दः, (५) तस्मादुत्पत्तिधर्मकत्वादनित्यः शब्दः।

टिप्पणी – पञ्चम अवयव का नाम निगमन है। भाष्यकार ने ''निगम्यन्ते'' इत्यादि सन्दर्भ से निगमन पद की व्युत्पत्ति प्रदर्शित कर व्याख्या की है। ''निगम्यन्ते'' की व्याख्या है ''समर्थ्यन्ते'' और इस पद की व्याख्या है ''सम्बन्ध्यन्ते''। अभिप्राय यह है कि चरम अवयव ''निगमनवाक्य'' प्रतिज्ञा आदि चार अवयव वाक्यों का परस्पर सम्बन्ध कहकर उनको एक विशिष्ट अर्थ के प्रतिपादन में समर्थ करता है। इसलिए उसका नाम निगमन है। बाद में यह अधिक स्पष्ट होगा। निगमन पद की व्युत्पत्ति दिखाकर उपर्युक्त स्थल में यथाक्रम पञ्चावयव वाक्यों का प्रदर्शन किया गया है। साधर्म्य के अनुसार तथा वैधर्म्य के अनुसार दोनों प्रकारों के हेतु के स्थलों में एक ही प्रकार के निगमनवाक्य का प्रयोग होता है – ''तस्मादुत्पत्तिधर्मकत्वादनित्यः शब्दः''।

इस सूत्र की व्याख्या में भेद के कारण निगमनवाक्य के स्वरूप के विषय में भी मतभेद देखा जाता है। बहुत परवर्ती नैयायिकों के मत में इस सूत्र में हेतु शब्द से प्रकृत सम्बद्ध हेतु पदार्थ एवं प्रतिज्ञा पद से उक्त प्रतिज्ञावाक्य का प्रतिपाद्य अर्थ समझा जाता है। इसके अनुसार वृत्तिकार विश्वनाथ ने व्याख्या की है – ''हेतोर्व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मस्य उपदेशः कथनं तदुत्तरं प्रतिज्ञायाः प्रतिज्ञार्थस्य साध्यविशिष्टपक्षस्य पुनर्वचनं

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

निगमनम्'' – इस मत में निगमनवाक्य के पहले केवल ''तस्मात्'' पद का प्रयोग होता है। यथा ''तस्मात् पर्वतो वह्निमान्'', ''तस्मात् शब्दोऽनित्यः'' इत्यादि निगमनवाक्य होता है[१४३]। भाष्यकार ने निगमनवाक्य में तस्मात् पद के पश्चात् हेतुवाक्य का उल्लेख करके हेतुवाक्य के कथन के साथ प्रतिज्ञावाक्य के पुन कथन को निगमन कहा है और इसी प्रकार निगमन सूत्र की व्याख्या की है।[१४४] वाचस्पति मिश्र ने उपर्युक्त प्रतिज्ञावाक्य के पुनः कथन को निगमन कहकर इसका समर्थन करते हुए कहा है कि यद्यपि निगमनवाक्य में सिद्ध का निर्देश होता है और प्रतिज्ञावाक्य में साध्य का निर्देश रहता है। अर्थात् निगमनवाक्य के परवर्ती भाग में प्रतिज्ञा का लक्षण नहीं घटता तथापि पहले प्रतिज्ञावाक्य द्वारा जो साध्यरूप में बोधित है पश्चात् वही निगमनवाक्य सिद्ध रूप से बोधित होता है। अतः एक ही पदार्थ के साध्यस्वरूप और सिद्धस्वरूप के रूप में प्रतिज्ञावाक्य और निगमनवाक्य के परवर्ती भाग प्रतिपाद्य होने से महर्षि ने निगमनवाक्य में प्रतिज्ञावाक्य का पुनः कथन कहा है। निगमनवाक्य के परवर्ती भाग में प्रतिज्ञा पद का गौण प्रयोग होता है।

सरल रूप में महर्षि के इस सूत्र से यही ज्ञात होता है कि निगमनवाक्यों में हेतुवाक्य के उल्लेख के साथ प्रतिज्ञावाक्य का पुनः कथन कर्त्तव्य है। किन्तु उस हेतुवाक्य से बोध्य हेतुपदार्थ उक्त साध्यधर्म की व्याप्ति से युक्त है एवं साध्यधर्मी में विद्यमान है – इसे समझाने के लिए पहले ''तस्मात्'' पद का प्रयोग कर्त्तव्य है। क्योंकि निगमनवाक्य से प्रतिज्ञा आदि वाक्यचतुष्टय का प्रतिपाद्य ही एक शब्द में कहा जाता है। उदाहरणवाक्य से हेतुपदार्थ में साध्यधर्म का व्याप्य होना प्रतिपादित होता है। वैसा हेतुपदार्थ पक्ष का

---

१४३ प्राचीन वैशेषिक आचार्य प्रशस्तपाद तथा भासर्वज्ञ ने निगमनवाक्य में पश्चात् अवधारणार्थक ''एव'' शब्द का प्रयोग किया है। इनके मत में ''तस्मात् द्रव्यमेव'' ''तस्मादनित्य एव'' वाक्य निगमन होता है। किन्तु गङ्गेश उपाध्याय ने इस मत का युक्तिपूर्वक खण्डन करके विचारपूर्वक सिद्ध किया है कि ''तस्मात्तथा'' में तथा पद का तत्स्वरूप अथवा तत्प्रकार अथवा तत्सदृश – इन तीनों अर्थों में से एक भी अर्थ प्रकृत (सम्बद्ध) स्थल में उपपन्न नहीं होता। अतः ''तस्मात्तथा'' आकारक निगमन वाक्य नहीं हो सकता।

१४४ न्यायमञ्जरीकार जयन्त भट्ट ने ''तस्मात्'' पद के पश्चात् ''कृतकत्वात्'' रूप हेतुवाक्य का उल्लेख करके निगमनवाक्य इस प्रकार कहा है – ''तस्मात् कृतकत्वादनित्यः शब्दः''। किन्तु इन्होंने ''हेतुरपदिश्यतेऽनेन वाक्येन'' इस व्युत्पत्ति के आधार पर सूत्रोक्त हेत्वपदेश पद का अर्थ उपनयवाक्य कहा है। किन्तु यहाँ यह विचारणीय है कि ऐसी स्थिति में सूत्र से यह कैसे समझा जाएगा कि निगमनवाक्य में हेतुवाक्य भी वक्तव्य है तथा जयन्त भट्ट द्वारा ऐसी व्याख्या करने का कारण क्या है?

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

धर्म होता है – इसका प्रतिपादन उपनयवाक्य से होता है। निगमनवाक्य में पहले "तस्मात्" पद से यही प्रकाशित होता है और पश्चात् हेतुवाक्य तथा प्रतिज्ञावाक्य से यथाक्रम उक्त हेतुवाक्यार्थ एवं प्रतिज्ञावाक्यार्थ अभिव्यक्त होता है। अतः अवधेय है कि निगमनवाक्य से प्रतिज्ञा आदि वाक्य चतुष्टय का प्रतिपाद्य ज्ञात होता है। यहाँ यह भी अवधेय है कि निगमनवाक्य के अन्त में प्रतिज्ञावाक्य का पुनः कथन करना है। प्रतिज्ञावाक्य की तरह निगमनवाक्य भी सर्वत्र एक ही प्रकार का होगा। अर्थात् हेतुवाक्य, उदाहरणवाक्य तथा उपनयवाक्य की तरह साधर्म्य और वैधर्म्य के भेद से निगमनवाक्य का द्वैविध्य मान्य नहीं है। भाष्यकार ने इसको स्पष्ट करने के लिए ही इस सूत्र के अवतरण में कहा है – "समानम्" अर्थात् निगमनवाक्य सभी स्थितियों का एक ही प्रकार का होता है। वाचस्पति मिश्र तथा जयन्त भट्ट आदि नैयायिकों ने भी यही कहा है। केवल भासर्वज्ञ ने अपने सम्प्रदाय के अनुसार न्यायसार में कहा है – "तदपि द्विविधं साधर्म्यवैधर्म्यभेदात्"।

***भाष्य* – अवयवसमुदाये च वाक्ये सम्भूयेतरेतराभिसम्बन्धात् प्रमाणान्यर्थं साधयन्तीति। संभवस्तावत् शब्दविषया प्रतिज्ञा, आप्तोपदेशस्य प्रत्यक्षानुमानाभ्यां प्रतिसन्धानात् अनृषेश्च स्वातन्त्र्यानुपपत्तेः। अनुमानं हेतुः, उदाहरणे संदृश्यप्रतिपत्तेः,[१४५] तच्चोदाहरणभाष्ये व्याख्यातम्। प्रत्यक्षविषयमुदाहरणं दृष्टेनादृष्टसिद्धेः। उपमानमुपनयः तथेत्युपसंहारात्, न च तथेति चोपमानधर्मप्रतिषेधे विपरीतधर्मोपसंहारसिद्धेः। सर्वेषामेकार्थप्रतिपत्तौ सामर्थ्यप्रदर्शनं निगमनमिति।**

---

[१४५] बहुत-सी पुस्तकों में "सादृश्यप्रतिपत्तेः" पाठ यहाँ मिलता है तथा तात्पर्यटीका की पंक्ति यहाँ इस प्रकार है – "उदाहरणे दृष्टान्तधर्मिणि साध्यसाधनयोः प्रतिबन्धं सादृश्यं सम्यग् दृष्ट्वा लिंगस्य प्रतीतेः"। यह पाठ संगत प्रतीत नहीं होता क्योंकि "सादृश्यप्रतिपत्तेः" को भाष्य का पाठ मानने पर वाचस्पति मिश्र की "सादृश्यं सम्यग् दृष्ट्वा लिङ्गस्य प्रतीतेः" व्याख्या संगत नहीं प्रतीत होती। यहाँ सादृश्य पद का प्रयोग सार्थक भी नहीं लगता। किसी-किसी प्राचीन भाष्य पुस्तक में "उदाहरणे संदृश्य प्रतिपत्तेः" पाठ देखा जाता है। अतः तात्पर्यटीका में "संदृश्य" पद की व्याख्या "सम्यग् दृष्ट्वा" पाठ ही उचित प्रतीत होता है। वाचस्पति मिश्र ने भाष्यकार के "संदृश्य" पद की व्यख्या "सम्यग् दृष्ट्वा" की है। इसके पहले उक्त सन्दर्शन क्रिया में कर्मकारक का प्रदर्शन "साध्यसाधनयोः प्रतिबन्ध" पद से किया है। प्रतिबन्ध पद का अर्थ होता है व्याप्तिसम्बन्ध। भाष्यकार के प्रतिपत्तेः पद की व्याख्या में इन्होंने कहा है – "लिङ्गस्य प्रतीतेः"।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

इतरेतराभिसंबंन्धोऽप्यसत्यां प्रतिज्ञायामनाश्रया हेत्वादयो न प्रवर्तेरन्। असति हेतौ कस्य साधनभावः प्रदर्श्येत। उदाहरणे साध्ये च कस्योपसंहारः स्यात्, कस्य चापदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनं स्यादिति। असत्युदाहरणे केन साधर्म्यं वैधर्म्यं वा साध्यसाधनमुपादीयेत, कस्य वा साधर्म्यवशादुपसंहारः प्रवर्तेत। उपनयञ्चान्तरेण साध्येनुपसंहृतः साधको धर्मो नार्थं साधयेत्, निगमनाभावे चानभिव्यक्तसम्बन्धानां प्रतिज्ञादीनामेकार्थेन प्रवर्तनं तथेति प्रतिपादनं कस्येति।

अनुवाद – अवयवसमूहरूप वाक्य में प्रमाण समूह (यथाक्रम शब्द, अनुमान, प्रत्यक्ष तथा उपमान) मिलकर परस्पर सम्बन्ध के कारण अर्थ की (साध्य की) सिद्धि करते हैं। सम्भव अर्थात् प्रतिज्ञा आदि अवयवचतुष्टय में यथाक्रम शब्द आदि प्रमाणचतुष्टय का समवाय या सम्मेलन होता है। यथा –

प्रतिज्ञांवाक्य शब्दविषयक होता है – आगमरूप शब्दप्रमाणमूलक होता है क्योंकि प्रत्यक्ष और अनुमान से आप्तवाक्य का प्रतिसन्धान होता है। अर्थात् उस आप्तवाक्य के प्रतिपादित सिद्धान्त का दृढ़तर ज्ञान होता है, ऋषि से भिन्न व्यक्ति के स्वातन्त्र्य की उपपत्ति नहीं होती। तात्पर्य यह है कि अलौकिक विषय में ऋषि से भिन्न व्यक्ति का आप्तत्व सम्भव नहीं रहने से उनके द्वारा उक्त प्रतिज्ञावाक्य शब्द प्रमाण नहीं होता। हेतुवाक्य अनुमान प्रमाण का विषय होता है। क्योंकि उदाहरण दिखाकर अर्थात् किसी दृष्टान्त पदार्थ में साध्यधर्म और साधन के व्याप्तिरूप सम्बन्ध का अच्छी तरह निर्णय करके प्रकृत हेतु पदार्थ की प्रतिपत्ति – यथार्थज्ञान – होता है। उदाहरणसूत्र के भाष्य में इसकी व्याख्या पहले ही हो चुकी है।

उदाहरणवाक्य प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय होता है, क्योंकि दृष्ट पदार्थ से अदृष्ट पदार्थ की सिद्धि होती है। चूंकि तृतीय अवयव उदाहरणवाक्य प्रत्यक्षप्रमाणमूलक होता है इसलिए इसको प्रत्यक्षप्रमाण कहा जाता है। उपनयवाक्य उपमान प्रमाण का विषय होता है क्योंकि "तथा" आदि वाक्य से यहाँ उपसंहार होता है। "न च तथा" आदि वाक्य से (साध्यधर्मी में) उपमान धर्म का (उस स्थल में व्यतिरेक दृष्टान्तगत धर्मविशेष का प्रतिषेध होने पर विपरीत धर्म का) उपसंहार सिद्ध होता है। जैसे अनित्य शब्दः स्थल में आत्मा आदि व्यतिरेक दृष्टान्तगत धर्म अनुत्पत्तिधर्मकत्व होता है। "न च तथा" आदि उपनयवाक्य से शब्द में उस धर्म का प्रतिषेध होने पर अर्थात् अभाव के प्रतिपादन होने पर उस साध्यधर्मी में उस धर्म के विपरीत धर्म उत्पत्तिधर्मकत्व का उपसंहार (शाब्द निश्चय) होता है। क्योंकि अनुत्पत्तिधर्मकत्व का अभाव होता है उत्पत्तिधर्मकत्व। उपर्युक्त

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

प्रतिज्ञा आदि वाक्यचतुष्टय का एक अर्थ के बोध में सामर्थ्य का प्रदर्शक – परस्पर आकांक्षारूप सामर्थ्य का बोधक होता है निगमन।

परस्पर सम्बन्ध भी अर्थात् प्रतिज्ञा आदि पाँच वाक्यों की परस्पर अपेक्षारूप आकांक्षा भी प्रदर्शित होती है। प्रतिज्ञा के नहीं रहने पर अर्थात् सबसे पहले प्रतिज्ञावाक्य के नहीं कहने पर हेतुवाक्य आदि निराश्रय होने से प्रवृत्त ही नहीं होगा। हेतुवाक्य के नहीं रहने पर किसी का साधनत्व नहीं दिखाया जा सकता। दृष्टान्त पदार्थ एवं साध्यधर्मी में किस का उपसंहार होगा? किसके उल्लेखपूर्वक प्रतिज्ञावाक्य का पुन: कथनरूप निगमन होगा? (हेतुवाक्य के नहीं कहने पर साध्यधर्म का साधन ही उक्त नहीं होता। अतएव उपनयवाक्य और निगमनवाक्य भी नहीं कहे जा सकते।) उदाहरणवाक्य के नहीं रहने पर किसके साथ साधर्म्य या वैधर्म्य को लेकर साध्य का साधन कहा जाएगा। किसके साधर्म्य के आधार पर उपसंहार या उपनयवाक्य प्रवृत्त होगा? उदाहरणवाक्य के नहीं कहने पर दृष्टान्त पदार्थ का बोध नहीं होने से हेतुपदार्थ का साध्यसाधन भाव ज्ञात नहीं होता और उपनयवाक्य भी नहीं कहा जा सकता। उपनयवाक्य के अभाव में साध्यधर्मी में अनुपसंहृत (अनिश्चित) साधक धर्म अर्थात् वह हेतु पदार्थ अर्थ (साध्यधर्म) को सिद्ध नहीं कर सकता और निगमनवाक्य के अभाव में अन्त में निगमनवाक्य के नहीं कहने पर अनभिव्यक्त सम्बन्ध (जिनके पारस्परिक सम्बन्ध ज्ञात नहीं है) ऐसे प्रतिज्ञा आदि वाक्य चतुष्टव्य के एकार्थ के बोधन में प्रवर्तन अर्थात् "तथा" पद से प्रतिपादन किसके द्वारा होगा। निगमनवाक्य ही उक्त प्रतिज्ञा आदि वाक्यचतुष्टय के परस्पर सम्बन्ध का प्रतिपादन करता है। अन्य किसी वाक्य से वह नहीं हो सकता। अत: सबसे अन्त में निगमनवाक्य अवश्य कहना होता है।

टिप्पणी – भाष्यकार ने अनित्य: शब्द: के स्थल में यथाक्रम पञ्चावयव वाक्यों को दिखाकर, न्यायवाक्य के चरम फल को अभिव्यक्त करते हुए कहा है कि न्यायवाक्य में प्रमाणचतुष्टय मिलकर साध्य की सिद्धि करते हैं। स्मरणीय है कि भाष्यकार ने प्रथम सूत्र के भाष्य में भी इसे कहा है – "तेषु प्रमाणसमवाय:" आदि सन्दर्भ द्वारा। यहाँ उक्त कथन का ही सहेतुक उपपादनार्थ कहा है सम्भवस्तावत् इत्यादि। भाष्यकार ने यहाँ तथा अन्यत्र भी सत्ता अर्थ में सम्भव पद का प्रयोग किया है। यहाँ पहले इन्होंने संभूय पद का प्रयोग किया है जो मेलन अर्थ में सं पूर्वक भू धातु से निष्पन्न होता है। उसी धातु से निष्पन्न यहाँ सम्भव पद का अर्थ भी मेलन ही उनको विवक्षित प्रतीत होता है। पञ्चावयव रूप न्यायवाक्य में प्रमाणसमूह का मेलन ही 'प्रमाण सम्भव' पदार्थ होता है। भाष्यकार ने इसको ही प्रथम सूत्र में "प्रमाण समवाय" पद से कहा है। तात्पर्यपरिशुद्धि में उदयनाचार्य

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

ने कहा है कि यद्यपि पञ्चम अवयव निगमनवाक्य के मूल में भी प्रमाण अवश्य रहता है किन्तु चार से अतिरिक्त प्रमाण के नहीं रहने के कारण भाष्यकार ने उसे नहीं कहा है।

भाष्यकार ने पहले कहा है – ''आगमः प्रतिज्ञा''। यहाँ उसका अभिप्राय व्यक्त करते हुए कहा है – ''शब्दविषया प्रतिज्ञा''। आगमरूप शब्द प्रमाण का प्रतिपाद्य विषय ही प्रतिज्ञावाक्य का प्रतिपाद्य होता है। तात्पर्य यह है कि वादी और प्रतिवादी अपने-अपने मत के अनुसार शास्त्ररूप शब्दप्रमाण से प्रतिपादित विषय को पश्चात् अनुमान प्रमाण से सिद्ध करने के उद्देश्य से उस विषय के बोधक प्रतिज्ञावाक्य का प्रयोग करते हैं। क्योंकि शब्दप्रमाण से सिद्ध होने पर पश्चात् अनुमान प्रमाण से और अन्त में प्रत्यक्षप्रमाण से उस पदार्थ का ज्ञान होने पर उस विषय में संशय नहीं होता। अतः उस विषय की जिज्ञासा निवृत्त हो जाती है। तृतीय सूत्र के भाष्य के अन्त में भाष्यकार ने पहले ही अलौकिक आत्मपदार्थ के प्रसंग में प्रमाणसंप्लव का उदाहरण प्रस्तुत करके इसको व्यक्त किया है। प्रश्न हो सकता है कि वादी का उक्त प्रतिज्ञावाक्य इस विषय में शब्दप्रमाण क्यों नहीं होगा। इसके समाधान में भाष्यकार ने बाद में कहा है कि ऋषि से भिन्न व्यक्ति का स्वातन्त्र्य सम्भव नहीं है। अलौकिक विषय में ऋषि से भिन्न उस प्रतिज्ञावाक्यवादी का आप्तत्व सम्भव नहीं होने से उसका वह प्रतिज्ञावाक्य आप्तवाक्य नहीं होता। अतः वह शब्द प्रमाण नहीं हो सकता। वह प्रतिज्ञावाक्य आगममूलक होता है अर्थात् आगम सदृश होता है। इसी अभिप्राय से भाष्यकार ने पहले कहा है – ''आगमः प्रतिज्ञा''। उद्योतकर ने इसके तात्पर्य को प्रतिपादित करते हुए कहा है – ''य एवार्थ आगमेनाधिगतस्तमेव परस्मा आचष्टे इत्यागमः प्रतिज्ञेत्युच्यते''।

सभी प्रतिज्ञा आगममूलक नहीं होते। ''पर्वतो वह्निमान्'' आदि अनेक वाक्य प्रतिज्ञावाक्य भी आगममूलक नहीं हैं, आगम विरुद्ध भी नहीं हैं। किन्तु भाष्यकार ने सम्बद्ध न्याय के प्रयोगस्थल में प्रतिज्ञा को आगम कहा है। वाचस्पति मिश्र ने इसको स्पष्ट करते हुए कहा है कि शास्त्रसिद्ध आत्मा आदि प्रमेय पदार्थ का न्याय से प्रतिपादन करने के लिए ही इस न्यायशास्त्र का आविर्भाव हुआ है। वस्तुतः शास्त्रार्थ में विवाद होने पर न्याय के द्वारा उस शास्त्रीय अर्थ को सिद्ध करना एवं स्थलविशेष में उस शास्त्र के प्रामाण्य की सिद्धि के लिए प्रयास अवश्य कर्त्तव्य होता है। यह न्याय ही न्यायशास्त्र का व्युत्पाद्य न्याय कहलाता है। इस न्याय का प्रथम अवयव प्रतिज्ञावाक्य साक्षात् या परम्परया इस शास्त्र के द्वारा प्रतिपादित पदार्थविषयक ही होगा। अतः आगममूलक उक्त रूप प्रतिज्ञा को भाष्यकार ने पहले आगम कहा है। इससे यह भी सूचित होता है कि आगमविरुद्ध कल्पित विषय का बोधकवाक्य प्रतिज्ञा नहीं हो

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

सकता ।[१४६] भाष्यकार का प्रतिज्ञावाक्य ''अनित्यः शब्दः'' इस मत में आगममूलक होता है। क्योंकि इस मत में – ''तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि यज्ञिरे'' आदि अनेक श्रुतिवाक्यों से वर्णात्मक शब्द का अनित्यत्व सिद्ध होता है। पुनश्च न्याय से उसको प्रतिपन्न करने के लिए नैयायिक ने पहले प्रतिज्ञावाक्य कहा है – ''अनित्यः शब्दः''।

भाष्यकार ने बाद में कहा है – ''अनुमानं हेतुः उदाहरणं सादृश्यप्रतिपत्तेः''। तात्पर्य यह है कि पहले किसी उदाहरण या दृष्टान्त पदार्थ में साध्यधर्म का व्याप्ति विशिष्ट रूप में जो लिंग का ज्ञान होता है उसको प्रथम लिंगदर्शन कहते हैं। पश्चात् पक्षभूत किसी पदार्थ में जो लिंग का ज्ञान होता है उसे द्वितीय लिंगदर्शन कहते हैं। यह द्वितीय लिंग का दर्शन पूर्व से निश्चित उस व्याप्ति-सम्बन्ध का स्मारक होने से परम्परया अनुमान प्रमाण कहलाता है। इसी अभिप्राय से प्रथम सूत्र के वार्त्तिक में उद्योतकर ने कहा है – ''यत्तु द्वितीयं लिंगदर्शनं तत्सम्बन्धस्मृतिव्यक्तिहेतुभावाद्धेतुरित्युच्यते''। न्याय के प्रयोगस्थल में द्वितीय अवयव हेतुवाक्य उस द्वितीय लिंगदर्शन रूप अनुमान प्रमाण-मूलक होता है। क्योंकि द्वितीय लिंगदर्शन के होने पर ही हेतुवाक्य का प्रयोग किया जाता है। वाचस्पति मिश्र ने यहाँ भाष्यकार के अभिप्राय की व्याख्या में कहा है[१४७] कि यद्यपि प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय लिंगदर्शन तथा पूर्व से निश्चित व्याप्ति का स्मरण – ये सभी अनुमान प्रमाण होते हैं अर्थात् केवल द्वितीय लिंगदर्शन ही अनुमान प्रमाण नहीं होता तथापि इस द्वितीय लिंगदर्शन में उपर्युक्त समुदाय के उपचार के कारण अनुमान शब्द का प्रयोग होता है। इसको औपचारिक प्रयोग कहते हैं। अतः हेतुवाक्य के उक्त द्वितीय लिंगदर्शन रूप अनुमानप्रमाणमूलक होने के कारण उसको अनुमान प्रमाण कहा जाता है। इस तरह से हेतुवाक्य में अनुमान शब्द का प्रयोग औपचारिक होता है।

भाष्यकार ने प्रथम सूत्र के भाष्य में कहा है – ''उदाहरणं प्रत्यक्षम्''। यहाँ इसकी विशदता हेतु कहा गया है – ''प्रत्यक्षविषयमुदाहरणम्''। ''प्रत्यक्षो विषयो यस्य'' इस विग्रहवाक्य के अनुसार प्रत्यक्षविषय पद से ज्ञात होता है कि जिसका प्रतिपाद्य विषय पहले प्रत्यक्ष हुआ हो। प्रकृत हेतु पदार्थ में साध्यधर्म का व्याप्तिसम्बन्ध उदाहरणवाक्य

---

१४६ ''तस्माद् यद्यपि न न्यायमात्रवर्तिनी प्रतिज्ञा आगमस्तथापि प्रकृतन्यायाभिप्रायेण द्रष्टव्यम्। तथा चागमानुसन्धानेन प्रतिज्ञायाः कल्पितविषयत्वमपि निराकृतं वेदितव्यम्''। – तात्पर्यटीका, पृ. ३९

१४७ एतदुक्तं भवति यद्यपि त्रयाणामपि लिङ्गदर्शनानां संस्मृतीनामनुमानत्वम्। तथापि तदेकदेशे मध्यमेऽपि लिङ्गदर्शने [illegible] व्यपदेश इति। – तात्पर्यटीका

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

का प्रतिपाद्य विषय होता है। पहले किसी दृष्टान्त पदार्थ में उसका प्रत्यक्ष होने के कारण उसी अर्थ में उदाहरणवाक्य को प्रत्यक्षविषय कहा गया है। सारांश यह हुआ कि उदाहरणवाक्य प्रत्यक्षमूलक होता है – यही भाष्यकार का कहना है। भाष्यकार ने इसके समर्थन में कहा है – ''दृष्टेनादृष्टसिद्धेः''। वाचस्पति मिश्र ने इसकी व्याख्या में कहा है – किसी दृष्टान्त पदार्थ में व्याप्तिसम्बन्ध के दृष्ट (प्रत्यक्ष) होने पर उससे साध्यधर्मी के रूप में अनुमेय ''अदृष्ट'' पदार्थ की सिद्धि होती है। वस्तुतः मूल में किसी प्रत्यक्ष का स्वीकार नहीं करने पर अनुमान से अप्रत्यक्ष पदार्थ की सिद्धि नहीं हो पाती – भाष्यकार का यही अन्तिम अभिप्राय है। अनुमान आदि किसी प्रमाण से व्याप्तिनिश्चय के स्थल में उसके मूल में किसी प्रत्यक्ष को मानना आवश्यक है। जयन्त भट्ट ने कहा है – ''उदाहरणन्तु प्रत्यक्षेण, तन्मूलत्वाद् व्याप्तिपरिच्छेदस्य''। उदाहरणवाक्य प्रत्यक्ष प्रमाण से अनुगृहीत होता है। क्योंकि उदाहरणवाक्य से बोध्य व्याप्तिसम्बन्ध का निश्चय प्रत्यक्षप्रमाणमूलक होता है। इसी तात्पर्य से भाष्यकार ने कहा है – ''उदाहरणं प्रत्यक्षम्''।

भाष्यकार आगे कहते हैं – ''उपमानमुपनयः, तथेत्युपसंहारात्'' इत्यादि। प्रथम सूत्र के वार्त्तिक में भाष्यकार के तात्पर्य की व्याख्या में उद्योतकर ने कहा है – ''यथातथेत्युपमानैकदेशे उपमानोपचारादुपमानमुपनय इति''। वाचस्पति मिश्र ने पहले कहा है कि तथापदयुक्त उपनयवाक्य उदाहरणवाक्य के यथापद की अपेक्षा रखता है। यद्यपि भाष्यकार ने उपर्युक्त उदाहरणवाक्य में यथापद का प्रयोग नहीं किया है तथापि उक्त उदाहरणवाक्य में यथापद का अध्याहार करके उपनयवाक्य का अर्थ समझना चाहिए। वाचस्पति मिश्र का तात्पर्य यह है कि यथापद के योग के बिना तथापद से युक्त वाक्य का अर्थ ज्ञात नहीं होता जैसे उक्त स्थल में उपनयवाक्य से स्थाली आदि द्रव्य को उत्पत्तिधर्मक कहकर पश्चात् ''तथा चोत्पत्तिधर्मकः शब्दः'' इस प्रकार उपनयवाक्य कहने से ज्ञात होता है कि ''जैसे स्थाली आदि द्रव्य उत्पत्तिधर्मक होते हैं उसी प्रकार शब्द भी उत्पत्तिधर्मक होता है''। अतः उक्त रूप उपनयवाक्य ''यथा गौस्तथा गवयः'' इस तरह उपमानवाक्य के सदृश होता है। क्योंकि उक्त वाक्य से जैसे गवय नामक पशु में गो के सादृश्यविशेष का बोध उत्पन्न होता है उसी प्रकार उपनयवाक्य से शब्द में स्थाली आदि द्रव्य के सादृश्यविशेष का बोध होता है। वह सादृश्य है उत्पत्तिधर्मकत्व। वाचस्पति मिश्र ने पश्चात् उद्योतकर के कथन के तात्पर्य की व्याख्या में कहा है कि ''यथा गौस्तथा गवयः'' वाक्य सुनने के पश्चात् गवय पशु में गो के सादृश्य का प्रत्यक्ष और पूर्वश्रुत वाक्य के अर्थ का स्मरण उपमान प्रमाण होता है। उसी उपमान प्रमाण के अंश-भूत सादृश्य में यथातथाभाव रहता है। अतएव उपनयवाक्य में तथा शब्द का योग

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

रहता है। फलतः उपनयवाक्य में इस प्रकार से उपमान प्रमाण का सादृश्य रहने से उपमान का उपचार होता है अर्थात् उपमानवाक्य में उपमान शब्द का औपचारिक प्रयोग होता है[१४८]। जयन्त भट्ट ने यहाँ ''यथा गौस्तथा गवयः'' इस तरह के वनेचर के वाक्य को उपमान प्रमाण के रूप में ग्रहण करके उपनयवाक्य को उसके सदृश मानकर उपमान प्रमाण को उपनयवाक्य का अनुग्राहक कहा है। किन्तु उक्त रूप उपमानवाक्य उपमान प्रमाण होता है – यह जयन्त भट्ट का अपना मत नहीं है[१४९]। यह भाष्यकार का मत है – यह भी संशयरहित होकर वे नहीं कह सकते (पहले उपमान सूत्र की व्याख्या में यह विचार हो चुका है)।

जो भी हो, यहाँ विचारणीय यह है कि चतुर्थ अवयव उपनयवाक्य जिस किसी रूप में उपमान प्रमाण का सदृश होने पर भी उद्योतकर आदि नैयायिक सम्प्रदाय के मत में अर्थविशेष में शब्दविशेष के वाच्यत्व का निर्णय ही उपमान प्रमाण का फल होता है। यह नहीं कहा जा सकता कि उपनयवाक्य के मूल में उक्त रूप का कोई उपमान है। उद्योतकर आदि ने भी ऐसा नहीं कहा है। अब प्रश्न होता है कि उपनयवाक्य के उपमानप्रमाणमूलक नहीं होने पर भाष्यकार ने पहले पञ्चावयवरूप न्यायवाक्य को परमन्याय कैसे कहा है। उद्योतकर ने भी इसकी व्याख्या में न्यायवाक्य को सर्वप्रमाणमूलक कहा है। वाचस्पति मिश्र ने कहा है – ''सोऽयं सर्वप्रमाणविनिवेशेन परमो न्यायः स्तूयते''। उपनयवाक्य के मूल में यदि उपमान प्रमाण नहीं रहेगा तो पञ्चावयवरूप न्यायवाक्य में सभी प्रमाणों का समावेश कैसे सम्भव होगा। यदि कहा जाए कि भाष्यकार के मत में केवल अर्थविशेष में शब्दविशेष के वाच्यत्व का निर्णय उपमान प्रमाण का फल नहीं होता वरन स्थल विशेष में उपमान प्रमाण से, अन्य पदार्थ का ज्ञान भी होता है, तब यह कहा जा सकता है कि उपनयवाक्य के मूल में इस प्रकार का कोई उपमान प्रमाण रहेगा। वस्तुस्थिति यह है कि भाष्यकार ने पहले ही उपमानसूत्र की व्याख्या में स्वयं कहा है कि उपमान प्रमाण के विषय अन्य भी होते हैं। वाचस्पति मिश्र द्वारा इस बात की अन्य प्रकार से व्याख्या होने पर भी वृत्तिकार विश्वनाथ ने भाष्यकार के इस कथन का उल्लेख करके भाष्यकार के मतानुसार ही अन्य प्रकार का उदाहरण प्रस्तुत किया है (द्रष्टव्य उपमानसूत्र की व्याख्या)। यहाँ यह विचार करना आवश्यक है

---

१४८ तदेतस्योपमानस्योपदेशार्थस्मरणगवयपिण्डगोसारूप्यप्रत्यक्षरूपस्यैकदेशे सारूप्ये यो यथा तथाभावः स उपनयेऽप्यस्तीत्येतावतोपमानत्वोपचार उपनय इत्यर्थः। – तात्पर्यटीका, पृ. ४०

१४९ यथा गौस्तथा गवय इति च यथा घटस्तथा शब्द इत्यनया छाययोपमानकरणभूतवनेचरादिवचनसदृशत्वादुपनयस्योपमानत्वमभिधीयते। – न्यायमञ्जरी, पृ. ५८५

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

कि वृत्तिकार ने वाचस्पति मिश्र की व्याख्या का अनुसरण क्यों नहीं किया तथा नव्यनैयायिकों के मतानुसार भाष्यकार के मत का खण्डन क्यों नहीं किया। इस विषय में अधिक विचार द्वितीय खण्ड, बंग संस्करण (पृ. २७२-७५) में द्रष्टव्य है।

भाष्यकार ने पञ्चम अवयव निगमन वाक्य का प्रयोजन समझाने के लिए कहा है – ''सर्वेषामेकार्थप्रतिपत्तौ सामर्थ्यप्रदर्शनं निगमनमिति''। वाचस्पति मिश्र ने इसकी व्याख्या में कहा है कि प्रतिज्ञा से लेकर उपनयपर्यन्त चार वाक्यों के प्रतिपाद्य का एक अर्थ साध्यधर्म के व्याप्य हेतु अथवा साध्यधर्म में उक्त वाक्यचतुष्टव्य की सामर्थ्य-परस्परापेक्षिता आवश्यक है – इसका बोधक निगमनवाक्य होता है। वादी के द्वारा अंत में उक्त निगमनवाक्य से उक्त प्रतिज्ञा आदि वाक्यचतुष्टय का परस्पर सम्बन्ध ज्ञात होता है। निगमनवाक्य के द्वारा ज्ञात होता है कि वादी का उक्त वाक्यचतुष्टय परस्पर साकांक्ष है तथा एक विशिष्ट अर्थ के बोधन हेतु प्रयुक्त है। भाष्यकार ने प्रथम सूत्र के भाष्य में इस बात को स्पष्ट कहा है, जहाँ भाष्यकार के तात्पर्य की व्याख्या में वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि प्रतिज्ञा आदि वाक्यचतुष्टय मिलकर एकविशिष्ट अर्थ का प्रतिपादन करते हैं। अतः इसमें उक्त वाक्यचतुष्टय की एकवाक्यताबुद्धि आवश्यक है। इस वाक्यचतुष्टय की परस्परापेक्षिता के ज्ञात नहीं रहने पर एकवाक्यता इनमें नहीं समझी जा सकती[१५०]। भिन्न-भिन्न रूप में उच्चरित उक्त वाक्यचतुष्टय का परस्पर सम्बन्ध ही उनकी परस्पर अपेक्षा या आकांक्षा कहलाती है। भाष्यकार ने इसी पारस्परिक सम्बन्ध को वाक्यचतुष्टय की सामर्थ्य कहा है। इस पारस्परिक सम्बन्ध को समझाने के लिए भाष्यकार ने कहा है – ''इतरेतराभिसम्बन्धोऽपि'' इत्यादि।

---

१५० प्रतिज्ञा आदि चार वाक्यों का अलग-अलग उच्चारण होने से पृथक्-पृथक् वाक्य से भिन्न-भिन्न चार अर्थ ज्ञात होते हैं। इसलिए इनके परस्पर सम्बन्ध का ज्ञान आवश्यक है। इनके पास्परिक सम्बन्ध के ज्ञान में ही यहाँ परस्पर एक-दूसरे के प्रति साकांक्षता अपेक्षित है। यह समझने पर इन वाक्य चतुष्टयों की एकवाक्यता ज्ञात होती है जिसे वाक्यैकवाक्यता कहते हैं। महर्षि जैमिनि ने इसका लक्षण कहा है – ''अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकांक्षं चेद् विभागे स्यात्'' (पूर्वमीमांसा २.१.४६) अर्थात् विच्छिन्न रूप में पठित वाक्यसमूह यदि परस्पर साकांक्ष हो जाए तो एक अर्थ का प्रतिपादक होने से वह ''एकवाक्य'' होता है। अनुमितिदीधिति की व्याख्या में गदाधर भट्टाचार्य ने एकवाक्यता समझाने के लिए इस सूत्र को उद्धृत करके अंत में फलितार्थ कहा है कि परस्पर मिलकर यह वाक्यसमूह एक विशिष्ट अर्थ का प्रतिपादक होने से एकवाक्य कहलाता है। मीमांसकवृन्द ने इस सूत्र की व्याख्या अन्य रूप से भी की है तथा उदाहरण दिया है। इसके लिए नव्यमीमांसक खण्डदेव की भाट्टदीपिका ग्रन्थ द्रष्टव्य है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

तात्पर्य यह है कि सबसे पहले प्रतिज्ञावाक्य कहना है। क्योंकि उसके नहीं कहने पर आश्रय के अभाव में हेतुवाक्य आदि का प्रयोग नहीं हो सकता। वादी पहले प्रतिज्ञा-वाक्य कहता है और पुनः उसके उस प्रतिज्ञावाक्य से बोधित साध्यधर्म का साधन क्या है – इस प्रश्न के उठने पर हेतुवाक्य आदि का प्रयोग करना होता है। प्रतिज्ञावाक्य कहकर हेतुवाक्य के नहीं कहने पर वादी के साध्यधर्म का साधन क्या है – यह नहीं ज्ञात होता। पश्चात् दृष्टान्त एवं साध्यधर्मी (पक्ष) में हेतु का उपसंहार नहीं हो पाता। सबसे अन्त में निगमनवाक्य भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि उदाहरण, उपनय तथा निगमन हेतुसापेक्ष होते हैं। हेतुवाक्य के बाद उदाहरणवाक्य के नहीं कहने पर दृष्टान्त पदार्थ ज्ञात नहीं हो सकता और इसके अभाव में दृष्टान्त पदार्थ के साधर्म्य और वैधर्म्य को वादी साध्यधर्म का साधन मानकर ग्रहण नहीं कर सकेगा तथा उदाहरण-वाक्य के अनुसार उपनयवाक्य भी नहीं कहा जा सकेगा। उपनयवाक्य के नहीं कहने पर वादी के साध्यधर्मी में जो साध्यधर्म का व्याप्य हेतु पदार्थ रहता है – उसको नहीं कहा जा सकेगा। अतः "लिंगपरामर्श" नहीं होने पर मध्यस्थगण को साध्यधर्म की अनुमिति नहीं हो सकेगी। सबसे अन्त में निगमनवाक्य के नहीं कहने से उक्त प्रतिज्ञा आदि वाक्यचतुष्टय का पारस्परिक सम्बन्ध ज्ञात नहीं होने पर उससे एक विशिष्ट अर्थ का बोध नहीं हो सकेगा। भाष्य में "एकार्थप्रवर्तनम्" कहने से एकार्थविशिष्ट का प्रतिपादन ही होता है। भाष्यकार ने इसकी व्याख्या "तथेति प्रतिपादनं" से की है। तात्पर्य यह है कि प्रतिज्ञा आदि वाक्यचतुष्टय "तथा" – एकार्थविशिष्ट – अर्थात् परस्पर साकांक्ष होकर एकवाक्यतापन्न होता है – इस प्रकार का ज्ञान निगमनवाक्य के बिना सम्भव नहीं है। निगमनवाक्य ही उक्त प्रतिज्ञा आदि वाक्यचतुष्टय को उक्त रूप में प्रतिपादित करता है। भाष्य के शेष में "कस्य" पद की षष्ठी विभक्ति कर्त्ता अर्थ में कृद् योग में समझनी चाहिए।

भाष्य – **अथावयवार्थः – साध्यस्य धर्मस्य धर्मिणा सम्बन्धोपादानं प्रतिज्ञार्थः। उदाहरणेन समानस्य विपरीतस्य वा साध्यस्य धर्मस्य साधकभाववचनं हेत्वर्थः। धर्मयोः साध्यसाधनभावप्रदर्शनमेकत्रोदाहरणार्थः। साधनभूतस्य धर्मस्य साध्येन धर्मेण सामानाधिकरण्योपपादनमुपनयार्थः। उदाहरणस्थयोर्धर्मयोः साध्यसाधन-भावोपपत्तौ साध्ये विपरीतप्रसंगप्रतिषेधार्थं निगमनम्।**

न चैतस्यां हेतूदाहरणपरिशुद्धौ सत्यां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानस्य विकल्पाज्जातिनिग्रहस्थानबहुत्वं प्रक्रमते। अव्यवस्थाप्य खलु धर्मयोः साध्यसाधन भावमुदाहरणे जातिवादी प्रत्यवतिष्ठते। व्यवस्थिते हि खलु धर्मयोः साध्यसाधन-

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

भावे दृष्टान्तस्थे गृह्यमाणे साधनभूतस्य धर्मस्य हेतुत्वेनोपादानं न साधर्म्यमात्रस्य न वैधर्म्यमात्रस्य वेति।

अनुवाद – इसके बाद अवयवसमूह का प्रयोजन – यथाक्रम प्रतिज्ञा आदि पञ्चावयव के प्रत्येक का प्रयोजन कहा जाता है। धर्मी के साध्यधर्म के सम्बन्ध का उपादान – धर्मी में जो साध्यधर्म रहता है उस साध्यधर्म से विशिष्ट रूप में धर्मी का कथन प्रतिज्ञावाक्य का प्रयोजन होता है। दृष्टान्त पदार्थ के साथ समान या विपरीत पदार्थ का अर्थात् साधर्म्य या वैधर्म्य रूप किसी पदार्थ के साध्यधर्म के साधकत्व का कथन हेतुवाक्य का प्रयोजन होता है। एक पदार्थ में अर्थात् दृष्टान्त भूत किसी पदार्थ में धर्मद्वय के साध्यसाधन भाव का प्रदर्शन उदाहरणवाक्य का प्रयोजन होता है। साधनभूत धर्म (हेतुपदार्थ) का साध्यधर्म के साथ सामानाधिकरण्य – एक अधिकरण में विद्यमानता का उपपादन उपनयवाक्य का प्रयोजन होता है। उदाहरण में रहने वाला – अर्थात् उस दृष्टान्त पदार्थ में विद्यमान दो धर्मों के साध्यसाधनभाव की उपपत्ति अथवा ज्ञान होने पर साध्यधर्मी में विपरीत प्रसंग का अर्थात् उस साध्यधर्म के विपरीत अभाव की आपत्ति का निषेध हेतु निगमन होता है। (अर्थात् उपनयवाक्यपर्यन्त कहने पर भी उस साध्यधर्मी में उस साध्यधर्म के अभाव की आपत्ति का निराकरण निगमनवाक्य का प्रयोजन होता है।)

हेतु और उदाहरण की इस प्रकार परिशुद्धि के रहने पर साधर्म्य या वैधर्म्य के द्वारा प्रत्यवस्थान के अर्थात् दोष प्रदर्शन के विकल्प से नानाप्रकारक होने से जाति और निग्रहस्थान का बहुत्व सम्भव नहीं है। क्योंकि जातिवादी – जातिनामक असदुत्तर को कहने वाला – दृष्टान्त पदार्थ में दो धर्मों के साध्यसाधनभाव का व्यवस्थापन न करके प्रत्यवस्थान करता है – अनेक प्रकार के असत्य दोषों का कथन करता है। किन्तु धर्मद्वय के सम्बन्ध में व्यवस्थित दृष्टान्त में विद्यमान साध्यसाधनभाव ज्ञात होकर साधनभूतधर्म को हेतु के रूप में ग्रहण करता है। साधर्म्य मात्र को हेतु के रूप में ग्रहण नहीं करता है। इसी तरह वैधर्म्य मात्र को भी हेतु के रूप में ग्रहण नहीं करता।

टिप्पणी – प्रतिज्ञा आदि पाँच अवयवों में से प्रत्येक का प्रयोजन पहले कहे जाने पर भी शिष्यबुद्धि के वैशद्य हेतु अर्थात् शिष्य के लिए हितकर समझकर भाष्यकार ने पुनः यहाँ उसको कहा है। पश्चात् पञ्चावयव के प्रतिपादन के विषय में भी प्रयत्न का प्रयोजन कहा है। वाचस्पति मिश्र ने यहाँ भाष्यकार के उद्देश्य को अभिव्यक्त करते हुए कहा है – "अवयवानां प्रातिस्विकं प्रयोजनमुक्तमपि शिष्यहिततया भाष्यकारः प्रतिपादयति अथेति। पञ्चावयवप्रतिपादनप्रयत्नस्य प्रयोजनं दर्शयति न चैतस्यामिति"। भाष्यकार ने कहा है कि हेतु और उदाहरण की परिशुद्धि रहने पर विशुद्ध उदाहरण का ग्रहण होने से

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

जाति और निग्रहस्थान के बहुत्व की सम्भावना नहीं रहती क्योंकि जातिवादी जो प्रतिवादी गौतम द्वारा उक्त जाति नामक किसी असदुत्तर को कह सकता था, वह प्रकृत हेतु का ग्रहण करके उक्त असदुत्तर को नहीं कह सकता। किन्तु वह किसी दृष्टान्त में धर्मद्वय के साध्यसाधनभाव का व्यवस्थापन न करके जो प्रकृत हेतु नहीं हो सकता ऐसे किसी केवल साधर्म्य या केवल वैधर्म्य का हेतु रूप में ग्रहण करके वादी के हेतु में असत्य दोष का कथन रूप प्रत्यवस्थान करता है। इस प्रत्यवस्थान के नाना प्रकार का होने से नाना प्रकार की जाति और निग्रहस्थान होते हैं। जिन दो धर्मों का साध्यसाधनभाव दृष्टान्त पदार्थ में व्यवस्थित है, उस साध्यसाधनभाव को समझकर उनमें से प्रकृत साधनभूत धर्म का हेतु रूप में ग्रहण करना होता है। केवल किसी साधर्म्य या वैधर्म्य का हेतु रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता। अतः पाँच अवयवों का स्वरूप तथा उसके प्रयोग के विषय में यथार्थज्ञान के सम्पादन हेतु उसका प्रतिपादन अवश्य करना है। जाति और निग्रहस्थान का लक्षण आदि इस अध्याय के अन्त में द्रष्टव्य है।

अवयव के संख्या के विषय में मतभेद तथा पञ्चावयववाद में युक्ति

मीमांसकों का कहना है कि ''अवयवं त्रयम्। उदाहरणपर्यन्तं यद्वोदाहरणादिकम्''। हम प्रतिज्ञा आदि तीन अथवा उदाहरण आदि तीन को अवयव मानते हैं। इस मत के प्रथम कल्प में हेतुवाक्य से उपनयवाक्य के और द्वितीय कल्प में उपनयवाक्य से हेतुवाक्य के फल की सिद्धि होती है। निगमनवाक्य से प्रतिज्ञावाक्य की फलसिद्धि होती है। किन्तु गङ्गेश उपाध्याय ने इस मत का खण्डन करते हुए कहा है कि उपनयवाक्य के बिना अन्य किसी अवयव से अनुमिति का चरम कारण तृतीय लिंगपरामर्श नहीं हो सकता (द्रष्टव्य १.१.५ की व्याख्या)। इस तृतीय लिंगपरामर्श को अनावश्यक मानने पर अनुमान के धर्मी पक्ष में हेतु विशिष्ट (धूमवान् पर्वतः) का ज्ञान अनुमिति के कारण रूप में सबको मान्य होता ही है। इसी का नाम है हेतु की पक्षधर्मता का ज्ञान। अतः मध्यस्थ के उक्त पक्षधर्मता ज्ञान के लिए उपनयवाक्य का प्रयोग अवश्य कर्त्तव्य है। यह नहीं कहा जा सकता कि वादी तथा प्रतिवादी के हेतुवाक्य से उस पक्षधर्मता का ज्ञान होता है। क्योंकि हेतुवाक्य से केवल हेतु का ज्ञान होता है। मध्यस्थ के प्रश्नानुसार हेतु को समझाने के लिए ही हेतुवाक्य कहा जाता है। भाष्यकार ने इसी तात्पर्य से कहा है – ''साध्यस्य धर्मस्य साधकभाववचनं हेत्वर्थः'' दृष्टान्त पदार्थ का समान या विपरीत धर्म (साधर्म्य या वैधर्म्य) में उस साध्य धर्म का साधकत्व विद्यमान है – यही हेतुवाक्य का प्रयोजन होता है। अतः इससे उस हेतु की पक्षधर्मता का ज्ञान नहीं हो पाता है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

गङ्गेश उपाध्याय का कहना है कि वादी के प्रतिज्ञावाक्यार्थ के पूर्व से सिद्ध नहीं होने

पर उसके द्वारा हेतुवाक्य से बोधित हेतु पदार्थ में पक्षधर्मता का अनुमान नहीं हो पाता। अन्यथा पहले प्रतिज्ञावाक्य के श्रवण के बाद अनुमान द्वारा वादी के अन्यान्य वक्तव्य के बोध होने पर अन्य अवयवों का प्रयोग व्यर्थ हो जाएगा। किन्तु यह भी नहीं कहा जा सकता कि वादी के प्रतिज्ञावाक्य तथा हेतुवाक्य के कथन से अर्थतः उस हेतुपदार्थ में पक्षधर्मता का ज्ञान होता है। क्योंकि मध्यस्थगण सर्वत्र समान व्युत्पन्न नहीं रहते और वादी को सर्वत्र अपने कर्त्तव्य का निर्वाह करना ही उचित है। अतः सर्वत्र उपनयवाक्य का कथन अवश्य कर्त्तव्य है। प्रतिज्ञावाक्य के कहने के बाद मध्यस्थ के पूछने पर हेतुवाक्य का कथन भी आवश्यक है। हेतुवाक्य में पञ्चमी विभक्ति से इसी हेतु में इस साध्यधर्म का साधकत्वरूप हेतुत्व विद्यमान है – इसका ज्ञान होता है जो उपनयवाक्य से ज्ञात नहीं होता। इस प्रकार हेतुवाक्य के पश्चात् साध्यधर्म और हेतुपदार्थ में साध्यसाधनभाव के प्रदर्शन के लिए उदाहरणवाक्य का कथन भी आवश्यक होता है। भाष्यकार ने यहाँ उदाहरणवाक्य का उक्त रूप प्रयोजन ही कहा है। पश्चात् बहुतेरे नव्यनैयायिकों का कहना है कि जिस स्थल में वादी तथा प्रतिवादी के उक्त हेतु पदार्थ में साध्यधर्म की व्याप्ति सर्वमान्य है ऐसे स्थल में उदाहरणवाक्य का कथन आवश्यक नहीं है किन्तु रघुनाथ शिरोमणि का कहना है कि ऐसे स्थल में भी उदाहरणवाक्य का कथन आवश्यक है। अवयवदीधिति की व्याख्या में जगदीश तर्कालंकार ने इसका समर्थन किया है – ''शिरोमणिमते तत्रापि वादिनः स्वकर्त्तव्यतानिर्वाहार्थमुदाहरणस्यावश्यकत्वात्'' इत्यादि।

जैन नैयायिकों ने बहिर्व्याप्ति के प्रदर्शन हेतु उदाहरणवाक्य को व्यर्थ कहा है। प्राचीन जैनाचार्य सिद्ध सेन दिवाकर ने न्यायावतार में कहा है –

अन्तर्व्याप्त्यैव साध्यस्य सिद्धेर्बहिरुदाहृतिः।
व्यर्था स्यात् तदसंभावेऽप्येवं न्यायविदो विदुः॥

जैन नैयायिक वादिदेव सूरि ने प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार ग्रन्थ में कहा है – ''अन्तर्व्याप्त्या हेतोः साध्यप्रत्यायने शक्तावशक्तौ च बहिर्व्याप्तेरुद्भावनं व्यर्थम्''। ''पक्षीकृत एव विषये साधनस्य साध्येन व्याप्तिरन्तर्व्याप्तिरन्यत्र तु बहिर्व्याप्तिः'' (तृ. प., सूत्र ३७-३८)। जिस धर्मी में जिस धर्म की अनुमिति होगी उस धर्मीरूप पक्ष में साध्यधर्म के साथ साधनभूतधर्म की व्याप्ति ''अन्तर्व्याप्ति'' कहलाती है। क़िन्तु अन्यत्र उस धर्म या उसके समान धर्म की व्याप्ति ''बहिर्व्याप्ति'' कहलाती है। जैसे पर्वत का पक्षरूप में ग्रहण करके उसमें धूम हेतु से वह्नि की अनुमिति स्थल में उस पर्वत में धूम में वह्नि की व्याप्ति का निश्चय ''अन्तर्व्याप्ति'' पदार्थ होता है। किन्तु इसके पहले महानस (रसोईघर) में जो धूम में वह्नि की व्याप्ति का निश्चय होता है वह ''बहिर्व्याप्ति'' कहलाती

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

है। किन्तु अन्तर्व्याप्ति के निश्चय के बिना बहिर्व्याप्ति के निश्चय से साध्य की सिद्धि या अनुमिति नहीं होती। सर्वत्र अन्तर्व्याप्ति के निश्चय से साध्य की सिद्धि होती है। अतः बहिर्व्याप्ति के प्रदर्शन के लिए उदाहरणवाक्य का प्रयोग आवश्यक नहीं है। अतः कहा गया है –

अन्तर्व्याप्तेः साध्यसंसिद्धिशक्तौ बाह्यव्याप्तेर्वर्णनं बन्ध्यमेव।
अन्तर्व्याप्तेः साध्यसंसिद्ध्यशक्तौ बाह्यव्याप्तेर्वर्णनं बन्ध्यमेव ॥

इस मत में उपनयवाक्य और निगमनवाक्य का कथन नहीं होता क्योंकि प्रतिज्ञा और हेतुवाक्य के कथन से ही अवयव प्रयोग के फल की सिद्धि हो जाती है। जैन नैयायिक धर्मभूषण यति ने भी न्यायदीपिका में कहा है – ''द्वाववयवौ प्रतिज्ञाहेतुश्च''।

किन्तु अनेक बौद्ध नैयायिक प्रतिज्ञा का लक्षण कहकर भी प्रतिज्ञावाक्य को अवयव नहीं मानते क्योंकि प्रतिज्ञावाक्य से साध्य की सिद्धि नहीं होने पर वह इनके मत में साधन का अंग नहीं होता[१५१]। इस मत के आधार पर प्राचीन आलंकारिक भामह ने काव्यालंकार में कहा है – ''न्यूनं नेष्टं प्रतिज्ञया''। प्रतिज्ञावाक्य के नहीं कहने पर भी प्रतिज्ञान्यून (प्रतिज्ञाहानि) नामक निग्रहस्थान मान्य नहीं है। इस मत में उपनयवाक्य से हेतु का बोध हो जाता है। अतः हेतुवाक्य का प्रयोग भी आवश्यक नहीं है और अंत में निगमनवाक्य का कथन भी अपेक्षित नहीं है। तार्किकरक्षा में वरदराज ने कहा है – ''सौगतास्तु सोपनीतिमुदाहृतिम्''। बौद्ध सम्प्रदाय उदाहरण और उपनय इन दो अवयवों को मानता है। बौद्धाचार्य रत्नकीर्ति ने क्षणभङ्ग सिद्धि ग्रन्थ में सत्पदार्थ मात्र का क्षणिकत्व सिद्ध करते हुए उदाहरण और उपनयवाक्य का प्रयोग किया है – ''यत्सत् तत् क्षणिकं

---

[१५१] इस मत में वाक्य स्वयं प्रमाण न होकर भी योग्य पदार्थ का सूचक होता है और उसके बोध में परस्परया हेतु होता है। किन्तु प्रतिज्ञावाक्य किसी रूप में साध्य की सिद्धि का हेतु नहीं होता। इसलिए कहा है –

शक्तस्य सूचकं हेतुर्वचोऽशक्तमपि स्वयम्।
साध्याभिधानात् पक्षोक्तिः पारम्पर्येण नाप्यलम् ॥

न्यायकन्दलीकार श्रीधर भट्ट ने इस बौद्ध कारिका को उद्धृत करके खण्डन किया है। प्रतिज्ञा-वाक्य का प्रयोग नहीं करने पर पहले हेतु के आश्रयधर्मी का बोध ही नहीं होगा और निराश्रित हेतु की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। अतः प्रतिज्ञावाक्य भी साध्य की सिद्धि का अंग होता है। अतः पश्चात् कहा है – ''इत्याश्रयोपदर्शनद्वारेण हेतुं प्रवर्तयन्ती प्रतिज्ञा साध्यसिद्धेरङ्गम्। तथा च न्यायभाष्यम् – असत्यां प्रतिज्ञायामनाश्रया हेत्वादयो न प्रवर्तेरन्निति।'' – न्यायकन्दली, – पृ. २३४

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

यथा घट: सन्तञ्चामी विवादास्पदीभूता: पदार्था इति'' । ज्ञान श्री (मित्र) ने कहा है – ''यत्सत् तत् क्षणिकं यथा जलधर: सन्तश्च भावा इमे'' । किन्तु बौद्धाचार्य रत्नाकर शान्ति ने अन्तर्व्याप्तिसमर्थन नामक ग्रन्थ में बहुत सूक्ष्म विचार करके कहा है कि सर्वत्र अन्तर्व्याप्ति के निश्चय से ही साध्य की सिद्धि होती है। अत: बहिर्व्याप्ति के प्रदर्शन हेतु दृष्टान्त का प्रयोग आवश्यक नहीं है। इस मत में ''यत्सत् तत् क्षणिकं'' इस प्रकार का कथन अन्तर्व्याप्ति के निश्चय के लिए होता है। इससे पदार्थ मात्र का क्षणिकत्व अनुमान प्रमाण से सिद्ध होता है। अत: सर्वसम्मत किसी दृष्टान्त के अभाव में इस अनुमान को असम्भव नहीं कहा जा सकता।

किन्तु तत्त्वचिन्तामणिकार गङ्गेश उपाध्याय ने सामान्यव्याप्ति और विशेषव्याप्ति का लक्षण करते हुए कहा है कि किसी दृष्टान्त पदार्थ में सामान्यव्याप्ति का निश्चय होने पर ही विशेषव्याप्ति का निश्चय होता है। धूमत्व रूप से धूम सामान्य में वह्नित्व रूप से वह्नि सामान्य की व्याप्ति होती है – यह पहले कहा जा चुका है। वाचस्पति मिश्र ने तात्पर्यटीका में कहा है – ''तस्मादन्तर्बहिर्वा सर्वोपसंहारेणाविनाभावोऽवगन्तव्य:'' (पृ. २९)। जयन्त भट्ट ने इस विषय में विवेचना करके कहा है कि इस सामान्यव्याप्ति या बहिर्व्याप्ति से भिन्न किसी अन्तर्व्याप्ति को मानना अपेक्षित नहीं है। पहले अन्यत्र सामान्यत: किसी धर्म में साध्यधर्म की व्याप्ति का जो निश्चय होता है, वही अनुमान के पक्षभूत पदार्थ की अपेक्षा करके अन्तर्व्याप्ति कहलाती है। वस्तुत: पर्वतीय धूम में पर्वतीय वह्नि की विशेषव्याप्ति के रहने पर भी पहले उन दोनों की सामान्यव्याप्ति के निश्चय के बिना उस विशेषव्याप्ति का निश्चय नहीं होता। अत: सामान्यव्याप्ति के प्रदर्शन हेतु उदाहरणवाक्य का कहना आवश्यक होता है। अन्यथा मध्यस्थगण को अनुमिति के कारण व्याप्ति का निश्चय नहीं हो पाएगा। इसलिए वादी और प्रतिवादी अपना-अपना पक्ष स्थापन करते हुए प्रतिज्ञा और हेतुवाक्य कहकर मध्यस्थ के प्रश्नानुसार उदाहरणवाक्य कहने के लिए बाध्य होते हैं। यह कभी नहीं कहा जा सकता है कि वादी तथा प्रतिवादी द्वारा कहे गए हेतुपदार्थ में उनके साध्यधर्म के ज्ञात होने पर मध्यस्थ द्वारा किसी प्रकार का प्रश्न नहीं होता। तीक्ष्णबुद्धि रत्नाकर शान्ति ने अन्तर्व्याप्ति समर्थन में पश्चात् कहा है –

> ''तस्माद् व्यसनमात्रं बहिर्व्याप्तिग्रहणे विशेषेण सत्त्वे हेतौ केवलं जड़धियामेव नियमेन दृष्टान्तसापेक्ष: साधनप्रयोग: परितोषाय जायते । तेषामेवानुग्रहार्थमाचार्यो दृष्टान्त-मुपादत्ते'' – ''यत्सत् तत् क्षणिकं यथा घट'' इति। ''पटुमतयस्तु नैवं दृष्टान्तमपेक्षन्ते''
>
> अन्तर्व्याप्तिसमर्थन, सोसाइटी संस्करण, पृ. ११२

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

तात्पर्य यह है कि तीक्ष्णबुद्धिसम्पन्न व्यक्ति उक्त रूप दृष्टान्त न देकर उक्त हेतु में क्षणिकत्व की व्याप्ति का निश्चय कर लेता है। वह दृष्टान्त की अपेक्षा नहीं करता किन्तु जड़बुद्धि को समझाने के लिए आचार्य रत्नकीर्ति ने ''यथा घटः'' दृष्टान्त का व्यवहार किया है। यहाँ जिज्ञासा होती है कि क्या आचार्य रत्नकीर्ति ने जड़बुद्धि को समझाने के लिए सूक्ष्म विवेचनात्मक इस ''क्षणभंगसिद्धि'' की रचना की है? क्या सभी व्यक्ति इस दृष्टान्त को मानकर सत्पदार्थ मात्र में क्षणिकत्व का निश्चय कर सकते हैं? तीक्ष्णबुद्धिसम्पन्न व्यक्ति इस दृष्टान्त की अपेक्षा नहीं करता – क्या यह शपथ पूर्वक कहा जा सकता है? अपि च विचारस्थल में वादी या प्रतिवादी कैसे एक-दूसरे को पहले तीक्ष्णबुद्धि या मन्दबुद्धि का निश्चय कर लेंगे – यह मेरी समझ में नहीं आता।

श्वेताम्बर जैनाचार्य वादिदेव सूरि ने कहा है – ''मन्दमतींस्तु व्युत्पादयितुं, दृष्टान्तोपनयनिगमनान्यपि प्रयोजनीयानि''। कुमार नन्दी का कहना है कि ''प्रयोगपरिपाटी तु प्रतिपाद्यानुसारतः''। प्रतिपाद्य अर्थात् बोद्धा के अनुसार प्रतिज्ञा आदि अवयवों का प्रयोग कर्त्तव्य है। श्री सम्प्रदाय के वैष्णव वेदान्ती श्रीनिवास दास ने ''यतीन्द्रमतदीपिका'' में अपना मत इस प्रकार कहा है – ''अस्माकन्त्वनियमः, क्वचित् पञ्चावयवाः.... मृदुमध्यमकठोरधियाम्'' इत्यादि। कोमलबुद्धि अर्थात् मन्दबुद्धि के निकट प्रतिज्ञा आदि पाँचों अवयवों का कथन आवश्यक है। मध्यमबुद्धि के निकट उदाहरण, उपनय तथा निगमन रूप तीन अवयव वक्तव्य है और तीक्ष्णबुद्धि के निकट उदाहरण तथा उपनय दो ही अवयवों का कथन आवश्यक होता है क्योंकि इसी से उनको समस्त वक्तव्य ज्ञात होता है।

किन्तु इसमें भी कहना है कि इस मत में अवयवप्रयोग का अनियम रहने पर भी विशेष नियम ही मान्य होता है तथा स्थलविशेष में पञ्चावयववाद ही मान्य होता है। किन्तु यदि मध्यस्थ तीक्ष्णबुद्धि रहता है तो वादी से पूछता ही है कि आपका साध्य क्या है तथा इसका साधक हेतु क्या है? क्या यहाँ वादी प्रतिज्ञावाक्य या हेतुवाक्य नहीं कहेगा। अब उसके द्वारा बाध्य होकर प्रतिज्ञा तथा हेतु के कहने पर उक्त रूप विशेष नियम का भी समर्थन नहीं किया जा सकता। अपि च जिन्होंने अन्तर्व्याप्ति के निश्चय को सर्वत्र अनुमिति का कारण कहा है और बहिर्व्याप्ति के प्रदर्शन को व्यर्थ कहा है वह भी मन्दबुद्धि व्यक्ति को समझाने के लिए उदाहरणवाक्य के प्रयोग पर बल क्यों देते हैं। इनके पक्ष में बहिर्व्याप्ति के निश्चय के बिना अन्तर्व्याप्ति का निश्चय सम्भव नहीं है – कहने से जिस स्थल में किसी तीक्ष्ण बुद्धि व्यक्ति के लिए भी किसी कारण से वह सम्भव नहीं होने पर इसके लिए वह प्रश्न करता है तो ऐसे स्थल में उसको समझाने के

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

लिए उदाहरण का प्रयोग अवश्य मान्य होगा। परन्तु वादी तथा प्रतिवादी के जिगीषामूलक विचारस्थल में दोनों पहले ही मध्यस्थ की बुद्धि का तारतम्य निश्चित करके तदनुसार वाक्य का प्रयोग नहीं कर सकते। सभी बोद्धा प्रतिज्ञा और हेतुवाक्य के कहने पर मेरी समस्त बात समझ सकते हैं अथवा उदाहरण और उपनयवाक्य के कहने से ही मेरी बात समझ जाएंगे और मेरे अनुक्त विषय में किसी प्रकार का प्रश्न नहीं करेंगे – इस तरह का निश्चय करके कभी भी वे दोनों वाक्य का संक्षेप नहीं कर सकते क्योंकि ऐसा करने पर निग्रहस्थान का भय रहता है। अतः विजय के इच्छुक वादी तथा प्रतिवादी अपने कर्त्तव्य के निर्वाह के लिए सर्वत्र पाँचों ही अवयवों का प्रयोग करना उचित समझते हैं।

स्मरणीय है कि भाष्यकार ने पहले ही कहा है – ''सर्वेषामेकार्थप्रतिपत्तौ सामर्थ्यप्रदर्शनं निगमनम्''। प्राचीन वैशेषिक आचार्य प्रशस्तपाद ने भी निगमनवाक्य के इस प्रयोजन का समर्थन किया है[१५२]। किन्तु भाष्यकार ने पश्चात् दूसरा प्रयोजन भी इस निगमन-वाक्य का कहा है – ''साध्ये विपरीतप्रसंगप्रतिषेधार्थं निगमनम्''। अर्थात् उपनयवाक्यपर्यन्त कहने पर भी प्रतिज्ञावाक्य से बोधित साध्यधर्मी में मध्यस्थगण को उस साध्यधर्म से विपरीत धर्म का प्रसंग अथवा आशंका निराकरण भी निगमनवाक्य का प्रयोजन होता है[१५३]। भासर्वज्ञ ने निगमनवाक्य के इस प्रयोजन का समर्थन किया है। तात्पर्य यह है कि वादी तथा प्रतिवादी सबसे अन्त में निगमनवाक्य से सिद्ध करते हैं कि उक्त साध्यधर्मी से अभिप्रेत साध्यधर्म के विपरीत धर्म की आशंका नहीं हो सकती। जैसे उपर्युक्त स्थल में वादी नैयायिक अन्त में कहता है – ''तस्मादुत्पत्तिधर्मकत्वाद नित्यः शब्दः''। इस वाक्य से वह सिद्ध करता है कि चूंकि उत्पत्तिधर्मकत्व अनित्यत्व की व्याप्ति से विशिष्ट है और शब्दमात्र में रहता है। अतः शब्दमात्र अनित्य होता है, वह नित्य नहीं हो सकता। यह अवधारणा केवल प्रतिज्ञावाक्य के कहने से नहीं हो पाती

---

१५२ प्रशस्तपाद ने हेतुवाक्य को अपदेश, उदाहरणवाक्य को निदर्शन, उपनय वाक्य को अनुसन्धान और निगमन वाक्य को प्रत्याम्नाय नाम से उल्लेख किया है। ''अवयवाः पुनः प्रतिज्ञापदेश-निदर्शनानुसन्धानप्रत्याम्नायाः''। – प्रशस्तपाद भाष्य, पृ. २३३

१५३ तात्पर्यटीकाकार वाचस्पति मिश्र ने यहाँ उद्योतकर के तात्पर्य की व्याख्या करते हुए विशेष रूप में कहा है कि चूंकि बाधित और सत्प्रतिपक्ष प्रकृत हेतु नहीं होता अपितु हेत्वाभास होता है, अतः अबाधितत्व और असत्प्रतिपक्षितत्व के भी हेतु के लक्षण में समावेश रहने से इन दोनों को समझाने के लिए अन्त में निगमनवाक्य कहना आवश्यक है। वादी सबसे अन्त में निगमनवाक्य द्वारा सिद्ध करता है कि मेरा हेतु बाधित और सत्प्रतिपक्ष नहीं है क्योंकि हेतु के सभी लक्षण हेतु में विद्यमान हैं। गङ्गेश उपाध्याय ने भी निगमनवाक्य के इस प्रयोजन का समर्थन किया है। बाद में हेत्वाभास के विचार के प्रसंग में यह अधिक ज्ञात होगा।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

क्योंकि प्रतिज्ञावाक्य से साध्य रूप में इतना ही उक्त है कि शब्द अनित्यत्वविशिष्ट होता है। पहले ही शब्द का अनित्यत्व सिद्ध रूप में नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह सर्वसम्मत है कि केवल प्रतिज्ञा से किसी साध्य की सिद्धि नहीं होती। उक्त भी है – ''एकाकिनी प्रतिज्ञा हि प्रतिज्ञातं न साधयेत्''।

अभिप्राय यह है कि प्रतिज्ञावाक्य के कथन से निगमनवाक्य के फल की सिद्धि नहीं हो सकती अतः अन्त में निगमनवाक्य कहने से न्यायवाक्य की परिसमाप्ति होती है और इससे प्रतिपाद्य पदार्थ की परिसमाप्ति या निश्चय ज्ञात होता है। प्रशस्तपाद ने कहा है – ''तस्मादनित्यः शब्द इत्यनेनानित्य एव शब्द इति प्रतिपिपादयिषितार्थ परिसमाप्तिर्गम्यते''। किन्तु चरकसंहिता के विमानस्थान (अष्टम अध्याय) में प्रतिज्ञा आदि पाँचों अवयव सोदाहरण कहे गए हैं। विष्णुधर्मोत्तर स्मृति में उक्त है – ''प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तावुपसंहार एव च। तथा निगमनञ्चैव पञ्चावयवमिष्यते॥'' (३.५.५)। महाभारत के सभापर्व में नारद के गुण-वर्णन में उक्त है – ''पञ्चावयव-युक्तस्य वाक्यस्य गुणदोषवित्'' (५.५)। नारद मुनि गौतम के कथित प्रतिज्ञा आदि पञ्चावयव वाक्य (न्यायवाक्य) के सम्बन्ध में अनुकूल तर्क आदि गुण एवं सभी प्रकार के इनके दोषों के वेत्ता थे। टीकाकार नीलकण्ठ ने यहाँ उक्त श्लोकार्थ की यही व्याख्या की है। इससे सिद्ध होता है कि महर्षि गौतम द्वारा उक्त पञ्चावयववाद ही सुप्राचीन मत तथा बहुसम्मत है – इस विषय में किसी प्रकार का सन्देह करना व्यर्थ है। (१.१.३९)

(न्याय प्रकरण सम्पन्न)

***भाष्य* – अत ऊर्ध्वं तर्को लक्षणीय इति अथेदमुच्यते –**

अनुवाद – अब तर्क का लक्षण कहना है इसलिए इसके बाद यह सूत्र कहते हैं।

सूत्र - अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः ।१.१.४०।

अनुवाद – अविज्ञाततत्त्व पदार्थ में अर्थात् सामान्यरूप से ज्ञात जिस पदार्थ का तत्त्व विशेषरूप से ज्ञात नहीं है – इस प्रकार के पदार्थ के विषय में तत्त्वज्ञान के लिए कारण की उपपत्ति से और प्रमाण द्वारा सम्भव होने से ऊह (ज्ञानविशेष) तर्क कहलाता है।

टिप्पणी – महर्षि ने पञ्चावयववाक्यरूप न्याय का निरूपण करने के बाद यथाक्रम इस सूत्र से तर्क का और इसके परवर्ती सूत्र से निर्णय का लक्षण कहा है। क्योंकि तर्क और निर्णय न्याय का उत्तरांग होता है। अनुमान प्रमाण के अर्थ में तथा मनन के अर्थ में भी तर्क शब्द का प्रयोग होता है। ''अमृतनाद'' उपनिषद् में कहा गया है – ''तर्कश्चैव समाधिश्च षडङ्गो योग उच्यते''। षडंग योग का पाँचवा अंग तर्क होता है। इस प्रकार

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

और भी अनेक अर्थों में तर्क शब्द का प्रयोग होता है किन्तु न्यायदर्शन में गौतम के सोलह पदार्थों में जो तर्कपदार्थ कहा गया है वह प्रमाण नहीं होता किन्तु प्रमाण का सहकारी होता है जो उक्त रूप ज्ञानविशेष के रूप में मान्य है। अतः महर्षि ने सूत्र में कहा है – ''ऊहस्तर्कः''। इसके पहले सूत्र में इस तर्क का प्रयोजन कहा है – ''तत्त्वज्ञानार्थं''। इससे पहले भी यहाँ इसका प्रयोजक कहा है – ''कारणोपपत्तितः''। भाष्यकार के मत में कारण शब्द का अर्थ प्रमाण होता है और उपपत्ति शब्द का अर्थ सम्भव। प्रमाण से सम्भव जो ऊह होता है वह है तर्कपदार्थ। किस प्रकार के विषय में ऐसा ऊह तर्क होगा अर्थात् इस तर्क का विषय क्या है – इसकी अभिव्यक्ति हेतु महर्षि ने कहा है – ''अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे''।

उद्योतकर ने कहा है कि अविज्ञात तत्त्व के विषय में शुश्रूषा, श्रवण तथा धारण आदि भी सांख्यशास्त्र में बुद्धि के धर्मरूप में ''ऊह'' कहे गए हैं किन्तु इस सूत्र में उक्त ऊह से वह भिन्न है। अतः महर्षि ने ''अविज्ञाततत्त्वे'' कहा है। जो पदार्थ सर्वथा अज्ञात है, उसके तत्त्वनिश्चय के लिए तर्क नहीं हो सकता। अतः ''अविज्ञाते'' ऐसा पद नहीं कहा जा सकता। महर्षि ने तत्त्व शब्द का प्रयोग करके व्यक्त किया है कि जो पदार्थ सामान्य रूप से ज्ञात तथा तत्त्वतः (विशेष रूप से) अज्ञात है ऐसे पदार्थ के विषय में उक्त प्रकार का ऊह तर्क कहलाता है। किन्तु ''अविज्ञातं तत्त्वं येन पुरुषेण'' इस प्रकार के विग्रहवाक्य के आधार पर ''अविज्ञाततत्त्व'' पद से उस प्रकार का अज्ञाता पुरुष ज्ञात होता है। किन्तु ऐसा मानने पर यहाँ अर्थ की संगति नहीं होती। अतः महर्षि ने बाद में कहा है – ''अर्थे''। पश्चात् अर्थ शब्द का प्रयोग रहने से व्यक्त होता है कि अविज्ञात तत्त्व पद से अतत्त्वज्ञ पुरुष विवक्षित नहीं है। ''अविज्ञातं तत्त्वं यस्य पदार्थस्य'' इस व्युत्पत्ति के आधार पर उस प्रकार का पदार्थ ही विवक्षित होता है। ऐसे पदार्थ के तत्त्वज्ञान के लिए ऊह ''तर्क'' कहलाता है। अतः ''अविज्ञाततत्त्वस्यार्थस्य'' इस प्रकार का प्रयोग करना चाहिए। उद्योतकर ने इसका समर्थन करते हुए कहा है – ''षष्ठीस्थले एवैषा सप्तमी'' इस पद में षष्ठी विभक्ति के अर्थ में ही सप्तमी विभक्ति हुई है। किसी कारण से अन्यत्र भी इस प्रकार का प्रयोग देखा जाता है। जैसे वैशषिकदर्शन में – ''इषावयुगपत् संयोगविशेषाः कर्मान्यत्वे हेतवः'' (५.१.१६) इस सूत्र में ''इषौ'' पद में षष्ठी विभक्ति के अर्थ में ही सप्तमी विभक्ति का प्रयोग हुआ है। उद्योतकर की तरह इस सूत्र के उपस्कार में शंकर मिश्र ने कहा है – ''इषाविति षष्ठ्यर्थसप्तमी''।

तर्कपदार्थ के स्वरूप के विषय में नाना मत

प्राचीनकाल से ही इस तर्कपदार्थ के स्वरूप के विषय में बहुत विचार एवं अनेक मत देखे

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

जाते हैं। किसी सम्प्रदाय के मत में तर्क संशय तथा निर्णय से भिन्न पदार्थ नहीं है। किसी सम्प्रदाय के अनुसार अनुमान प्रमाण का ही दूसरा नाम है तर्क। हेतु, तर्क, न्याय और अन्वीक्षा शब्द अनुमान के बोधक पर्याय हैं। किसी सम्प्रदाय के मत में युक्तिसापेक्ष अनुमान तर्क कहलाता है। उद्योतकर ने इन सभी मतों का उल्लेख करके खण्डन किया है। जैन दार्शनिक के मत में ऊह (तर्क) अनुमान से भिन्न परोक्ष प्रमाण विशेष रूप में[१५४] मान्य है। किन्तु बौद्ध नैयायिकवृन्द तर्क को प्रसंगानुमान कहते हैं। दूसरे के पक्ष में अनिष्ट प्रसंगमूलक अनुमान ही ''प्रसंगानुमान'' कहलाता है। न्यायकन्दली व्याख्या (पृ. १७३-७४) में श्रीधर भट्ट ने बहुत विवेचना करके प्राचीन मत का खण्डन किया है और अन्त में वैशेषिक मत में तर्क को अनुमान ही माना है। वैशेषिक मत में तर्क संशयविशेष का स्वरूप होता है – इसको इन्होंने भिन्न सम्प्रदाय का मत कहा है। सप्तपदार्थी ग्रन्थ में शिवादित्य मिश्र ने तर्क को संशयविशेष कहा है। किन्तु महर्षि गौतम ने तर्कपदार्थ का पृथक् उल्लेख किया है और उद्योतकर ने बहुत विवेचना करके तर्क का स्वरूप इस प्रकार कहा है – ''भवेदित्येष प्रत्यय इत्यस्य स्वरूपमिति''। भवेत् पद में सम्भावना अर्थ विधिलिङ् का प्रयोग करके उद्योतकर ने व्यक्त किया है कि संशय और निर्णय से भिन्न सम्भावनारूप ज्ञानविशेष ही तर्कपदार्थ है। भाष्यकार का भी यही मत प्रतीत होता है। किन्तु उदयनाचार्य आदि नैयायिक सम्प्रदाय के मत में अनिष्ट का प्रसंग है ''तर्क''। यह आपत्तिरूप मानस ज्ञानात्मक होता है। आगे यह अधिक स्पष्ट होगा।

भाष्य **– अविज्ञायमानतत्त्वेऽर्थे जिज्ञासा तावज्जायते जानीय[१५५] इममिति। अथ जिज्ञासितस्य वस्तुनो व्याहतौ धर्मौ विभागेन विमृशति किंस्विदित्येवमाहोस्विन्नैवमिति। विमृश्यमानयोर्धर्मयोरेकतरं कारणोपपत्त्यानुजानाति, सम्भवत्यस्मिन् कारणं प्रमाणं हेतुरिति कारणोपपत्त्या स्यादेवमेतन्नेतरहिति।**

तत्र निदर्शनं – योऽयं ज्ञाता ज्ञातव्यमर्थं जानीते तं तत्त्वतो जानीयेतिजिज्ञासा। स किमुत्पत्तिधर्मकोऽथानुत्पत्तिधर्मक इति विमर्शः। विमृश्यमानेऽविज्ञाततत्त्वेऽर्थे यस्य धर्मस्याभ्यनुज्ञाकारणमुपपद्यते, तमनुजानाति, यद्ययमनुत्पत्तिधर्मकस्ततः

---

१५४ द्रष्टव्य हेमचंद्र की प्रमाणमीमांसा – अविशदः परोक्षम्। स्मृतिप्रत्यभिज्ञानोहानुमानागमास्तद्विधयः। (१.२.१.२)

१५५ भाष्य में उक्त ''जानीये'' पद विधिलिङ् के आत्मने पद उत्तम पुरुष एकवचन में निष्पन्न होता है। कर्ता की फलवत्ता की विवक्षा स्थल में उपसर्गहीन ज्ञा धातु से आत्मने पद होता है। अनुपसर्गाज्ज्ञः (पाणिनि-सूत्र १.३.७६) गां जानीते (सिद्धान्तकौमुदी) भाष्यकार ने बाद में भी कहा है – ''ज्ञातव्यमर्थं जानीते तं तत्त्वतो जानीये''।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

स्वकृतस्य कर्मणः फलमनुभवति ज्ञाता। दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरमुत्तरं पूर्वस्य पूर्वस्य कारणम्, उत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्ग इति स्यातां संसारापवर्गौ। उत्पत्तिधर्मके ज्ञातरि पुनर्न स्याताम् । उत्पन्नः खलु ज्ञाता देहेन्द्रियबुद्धिवेदनाभिः संबध्यत इति नास्येदं स्वकृतस्य कर्मणः फलम्। उत्पन्नश्च भूत्वा न भवतीति, तस्याविद्यमानस्य निरुद्धस्य वा स्वकृतकर्मणः फलोपभोगो नास्ति, तदेवमेकस्यानेकशरीरयोगः शरीरवियोगश्चात्यन्तं न स्यादिति, यत्र कारणमनुपपद्यमानं पश्यति तन्नानुजानाति[१५६] । सोऽयमेवं लक्षण ऊहस्तर्क इत्युच्यते ।

कथं पुनरयं तत्त्वज्ञानार्थो न तत्त्वज्ञानमेवेति, अनवधारणाद् अनुजानात्ययमेकतरं धर्मं कारणोपपत्त्या, न त्ववधारयति न व्यवस्यति न निश्चिनोति एवमेवेदमिति । कथं तत्त्वज्ञानार्थ इति, तत्त्वज्ञानविषयाभ्यनुज्ञालक्षणादूहाद्भाविताद्[१५७] प्रसन्नादनन्तरं प्रमाणंस्य सामर्थ्यात् तत्त्वज्ञानमुत्पद्यत इत्येवं तत्त्वज्ञानार्थ इति । सोऽयं तर्कः – प्रमाणानि प्रतिसन्दधानः प्रमाणाभ्यनुज्ञानाद् प्रमाणसहितो वादेऽपदिष्ट इति । अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे इति यथा सोऽर्थो भवति तस्य तथा भावस्तत्त्वमविपर्ययो याथातथ्यम् ।

अनुवाद – अविज्ञायमान तत्त्व पदार्थ में – जिस पदार्थ का तत्त्व तत्काल में ज्ञात नहीं है ऐसे पदार्थ के विषय में – इस पदार्थ को तत्त्वतः जानूंगा – इस प्रकार की जिज्ञासा होती है। इसके बाद जिज्ञासित पदार्थ के सम्बन्ध में व्याहत अर्थात् दो विरुद्ध धर्मों में

---

१५६ भाष्यकार ने यहाँ तद् शब्द से प्रमाण के विषय की अभ्यनुज्ञा रूप ऊह का ग्रहण किया है। किन्तु किसी पुस्तक में ''सोऽयं'' इत्यादि पाठ से पहले ''तदनुजानाति'' पाठ नहीं देखा जाता। वाचस्पति मिश्र ने यहाँ प्रमाण विषय के विपर्यय या अभाव की अननुज्ञा को ही प्रमाण के विषय की अभ्यनुज्ञा मानकर बाद में कहा है ''अतएव भाष्ये उपसंहारः यत्र कारणमनुपपद्यमानं पश्यति तन्नानुजानातीति''।

१५७ बहुत-सी पुस्तकों में मुद्रित है – ''लक्षणानुग्रहभावितात्'' पाठ। अपि च ''लक्षणानुग्रहाद् भावितात्'' ऐसा पाठ प्रकृत (उचित) पाठ प्रतीत नहीं होता। भाष्य के किसी-किसी प्राचीन हस्तलेख पुस्तकों में ''लक्षणादूहाद् भावितात्'' ऐसा पाठ मिलता है। वस्तुतः इस तरह के तर्क को भाष्यकार ने तत्त्वज्ञान के विषयीभूत तत्त्व की अभ्यनुज्ञा रूप कहा है। अतः ''ऊहात्'' इस तरह के विशेष्य पद का प्रयोग ही संगत होता है। परन्तु वाचस्पति मिश्र ने यहाँ अन्त में उक्त ''भाविताद्'' इस विशेषण पद को ग्रहण करके व्याख्या की है – ''भावितात् चिन्तितात् अतएव प्रसन्ननिर्मलादिति''। किन्तु शुद्धचर्थक चुरादिगणीय भूधातु से निष्पन्न भावित शब्द से विशुद्ध अर्थ भी ज्ञात होता है। भाष्यकार ने इसी अर्थ को व्यक्त करने के लिए कहा है – ''प्रसन्नात्''।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

पृथक् रूप से ''यह ऐसा है अथवा ऐसा नहीं है'' – इस प्रकार का संशय किया जाता है। पश्चात् इस सन्देह में पड़े हुए दो धर्मों के मध्य किसी एक धर्म के कारण की अनुज्ञा उपपत्ति से की जाती है कि इस पदार्थ में कारण अर्थात् प्रमाण या हेतु का रहना सम्भव है। इस प्रकार का ज्ञान ही ''कारणोपपत्ति'' कहलाता है। कारण की उपपत्ति से – पूर्वोक्त रूप प्रमाण के सम्भव होने से – यह पदार्थ इस प्रकार का हो सकता है, इससे भिन्न प्रकार का नहीं हो सकता – इस प्रकार का ज्ञान ही एकतर धर्म की अनुज्ञा कहलाता है, इसी को तर्क कहते हैं।

इस विषय में निदर्शन अर्थात् उपर्युक्त तर्क का उदाहरण होता है – जो यह ज्ञाता (आत्मा) ज्ञातव्य पदार्थ को जानता है – उस ज्ञाता को तत्त्वतः जानूंगा – इस प्रकार की जिज्ञासा होती है। पश्चात् वह ज्ञाता क्या उत्पत्तिधर्मक है या अनुत्पत्तिधर्मक – इस प्रकार का संशय होने पर उस सन्देह के विषयभूत अविज्ञाततत्त्व वाले उस पदार्थ में अर्थात् ज्ञातृ पदार्थ में जिस धर्म की अनुज्ञा का कारण (प्रमाण) उपपन्न होता है उस धर्म की अनुज्ञा करता है। यहाँ यह अनुज्ञा किस रूप में की जाती है – इसे कहा जाता है – यदि यह ज्ञाता अनुत्पत्तिधर्मक होगा तो वह नित्य होगा और तब अपने कृत कर्म के फल का अर्थात् पूर्वजन्मकृत कर्म के अनुसार सुख तथा दुःख का भोग कर पाएगा। एवं दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष और मिथ्याज्ञान में पश्चात् उक्त का पूर्व उक्त कारण होता है। अतः पश्चात् उक्त के अपाय या निवृत्ति से उसके अव्यवहित पूर्व उक्त की निवृत्ति होती है और उससे अपवर्ग होता है – इसलिए संसार और अपवर्ग हो सकता है। किन्तु यदि ज्ञाता उत्पत्तिधर्मक होगा तो संसार और अपवर्ग नहीं हो सकता। क्योंकि ज्ञाता उत्पन्न होकर भी देह, इन्द्रिय और वेदना (सुख-दुःख) के साथ सम्बद्ध होता है – इसलिए यह अर्थात् यह देहादि का सम्बन्ध इसके स्वकृत कर्म का फल नहीं होता, क्योंकि उत्पन्न ज्ञाता पहले से विद्यमान रहकर जन्म नहीं लेता। अर्थात् उत्पत्ति के पहले उसकी सत्ता नहीं रहती, अतएव पूर्व में अविद्यमान अथवा निरुद्ध अर्थात् शरीर आदि के नाश काल में अत्यन्त विनष्ट उस ज्ञाता के स्वकृत कर्म के फल का भोग नहीं होता। वह सम्भव ही नहीं है। अतः इस स्थिति में एक ज्ञाता का अनेक शरीर के साथ सम्बन्ध एवं आत्यन्तिक रूप से शरीर के साथ वियोग (चिरकाल के लिए जन्म का उच्छेद) नहीं हो सकता। अतएव संसार और मोक्ष नहीं हो पाता। इस तरह के विषय में कारण अर्थात् प्रमाण का अनुपपद्यमान होना ही संशय करने वाला समझता है। इस विषय में अर्थात् उक्त स्थल में आत्मा में संशय विषयीभूत उत्पत्तिकत्व की अनुज्ञा नहीं करता। ऐसा पूर्ववर्णित लक्षण विशिष्ट ऊह ही तर्क नाम से कहा जाता है। (प्रश्न) यह तर्क तत्त्वज्ञान के लिए क्यों होता है? तत्त्वज्ञान रूप ही क्यों नहीं होता। (उत्तर) क्योंकि यह अवधारण नहीं करता।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

(विशदार्थ) यह तर्क प्रमाण की उपपत्ति से एकतर धर्म की अनुज्ञा करता है किन्तु पदार्थ इस प्रकार होगा – इसका अवधारण – व्यवसाय या निश्चय नहीं करता। (प्रश्न) तत्त्वज्ञान के लिए कैसे अर्थात् उक्त तर्क पदार्थ तत्त्व का निश्चायक न होकर भी तत्त्वज्ञान के लिए होता है – यह कैसे कहा जा सकता है। (उत्तर) तत्त्वज्ञान के विषय का अर्थात् प्रमाणजन्य ज्ञान के विषय उस तत्त्व की अनुज्ञारूप विशुद्ध (अतएव) प्रसन्न अर्थात् निर्दोष ऊह के (तर्क के) पश्चात् प्रमाण के सामर्थ्य से तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है – इस प्रकार तर्क तत्त्वज्ञान के लिए होता है। यही वह तर्क है जो अभ्यनुज्ञावश प्रमाण का प्रतिसन्धान करता है अर्थात् संशय की निवृत्ति करके अपने विषय में प्रवृत्त करता है। इसलिए प्रमाण के साथ होकर वाद के लक्षणसूत्र में कथित हुआ है। सूत्रगत ''अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे'' पद में वह पदार्थ जिस प्रकार का होता है उसका तथाभाव अर्थात् अविपर्यय याथातथ्य ही तत्त्व है। अर्थात् अविज्ञाततत्त्वगत तत्त्व पद का उपर्युक्त अर्थ होता है।

टिप्पणी – भाष्यकार ने सूत्रोक्त तर्कपदार्थ के स्वरूप की व्याख्या करते समय पहले जिस प्रकार से तर्क की प्रवृत्ति होती है, उसे बताते हुए कहा है कि पहले अविज्ञायमान तत्त्व वाले किसी पदार्थ के विषय में जिज्ञासा होती है और पश्चात् उस पदार्थ के सम्बन्ध में उठाए गए दो विरुद्ध धर्मों के विषय में संशय होता है। वाचस्पति मिश्र ने यहाँ कहा है कि यद्यपि संशय के बाद तत्त्व की जिज्ञासा होती है, तथापि बहुत से स्थलों में तत्त्वजिज्ञासा के बाद भी संशय होता है। यह संशय तर्क की प्रवृत्ति का अंग होता है। अतः भाष्यकार ने यहाँ तत्त्वजिज्ञासा के बाद संशय को कहा है। भाष्यकार ने तर्कपदार्थ के स्वरूप की व्याख्या में कहा है कि वह संशयकारी पश्चात् संशय के विषयभूत दो विरुद्ध धर्मों के मध्य कारण की उपपत्ति के द्वारा किसी एक धर्म की अनुज्ञा करता है। अर्थात् उस पदार्थ की अनुज्ञारूप ज्ञानविशेष ही सूत्रोक्त तर्कपदार्थ होता है। भाष्यकार ने सूत्रोक्त ''कारणोपपत्ति'' पद की व्याख्या में कहा है – ''संभवत्यस्मिन् कारणं प्रमाणं हेतुरिति''। यहाँ कारण पद का अर्थ है प्रमाण और उपपत्ति पद का अर्थ सम्भव है। कारण की उपपत्ति उस पदार्थविशेष में प्रमाण का सम्भव होना ही कारणोपपत्ति पद से अभिप्रेत है। प्राचीनकाल में हेतुबोधक कारणशब्द का प्रयोग प्रमाण अर्थ में होता रहा है। प्रमाण, कारण तथा हेतु पद एक ही अर्थ के बोधक होते हैं। अतः भाष्यकार ने सूत्रोक्त कारणशब्द के अर्थ को व्यक्त करते हुए प्रमाणशब्द के बाद समानार्थक हेतुशब्द का प्रयोग किया है। भाष्यकार ने उपर्युक्त अनुज्ञा के स्वरूप को व्यक्त करते हुए कहा है – ''कारणोपपत्त्या स्यादेवमेतन्नेतरदिति''। अभिप्राय यह है कि इस पदार्थ में प्रमाण के सम्भव रहने से यह ऐसा ही हो सकता है अन्य प्रकार का नहीं – इस सम्भावनात्मक ज्ञानरूप प्रमाण की उपपत्ति से प्रमाण के विषयीभूत तत्त्व की अनुज्ञा करता है – इसे ही सूत्रोक्त ऊह कहते

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

हैं, जो तर्क कहलाता है। यह न तो संशय है और न ही निर्णय। इन दोनों से भिन्न उपर्युक्त ज्ञान विशेष स्वरूप वाला होता है। बाद में यह और अधिक स्पष्ट होगा।

भाष्यकार ने इस तर्क का उदाहरण प्रस्तुत किया है कि जो ज्ञातव्य पदार्थ का ज्ञाता (आत्मा) होता है, उस आत्मा के तत्त्व के विषय में जिज्ञासा होने पर किसी कारण से संशय होता है कि वह ज्ञाता उत्पत्तिधर्मक होता है या अनुत्पत्तिधर्मक। पश्चात् वह संशयकारी उस संशय के भूत ज्ञातृ पदार्थ के जिस धर्म में प्रमाण की उपपत्ति अर्थात् सम्भावना होती है उस धर्म की अनुज्ञा करता है। यथा इस ज्ञाता के अनुत्पत्तिधर्मक होने पर अर्थात् अनादि तथा नित्य होने पर उसके पूर्वजन्मकृत कर्म के अनुसार संसार और तत्त्वज्ञानजन्य मोक्ष हो सकता है। किन्तु उत्पत्तिधर्मक होने पर देह आदि की उत्पत्ति के समय अभिनव आत्मा की उत्पत्ति मानने पर पहले उसकी सत्ता नहीं रहने के कारण स्वकृतकर्मजन्य विचित्र जन्मादि सम्भव नहीं हैं। सभी उत्पन्न भाव पदार्थ के विनाशी होने से उस आत्मा का मोक्ष नहीं हो सकता – यह विचार करके उपर्युक्त संशयकारी (सन्दिग्ध व्यक्ति) आत्मा के उत्पत्तिधर्मकत्व के विषय में प्रमाण की उपपद्यमानता न देखकर उसकी अनुज्ञा – सम्भावना – नहीं करता, किन्तु आत्मा के अनुत्पत्तिधर्मकत्व के विषय में प्रमाण की सम्भावना देखकर उसकी अनुज्ञा करता है अर्थात् आत्मा अनुत्पत्तिधर्मक हो सकता है – इस प्रकार की सम्भावना का ज्ञान ही यहाँ तर्क कहलाता है। इस मत की व्याख्या करते हुए श्रीधर भट्ट ने न्यायकन्दली में कहा है – ''अनुत्पत्तिधर्मकेणानेन भवितव्यमिति किमस्य सम्भावनाप्रत्ययस्य प्रयोजनम्? तत्त्वज्ञानमेव।'' (पृ.१७३)। जयन्त भट्ट ने कहा है –

> तेनायंसूत्रार्थः अविज्ञाततत्त्वे सामान्यतो ज्ञाते धर्मिण्येकपक्षानुकूलकारणदर्शनात्तस्मिन् सम्भावनाप्रत्ययो भवितव्यतावभासस्तदितरपक्षशैथिल्यापादने तद्ग्राहकप्रमाणमनुगृह्य तत्सुखं प्रवर्तयन् तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्क इति। – न्यायमंजरी पृ. ५८६

उक्त तर्क नामक पदार्थ तत्त्वज्ञान नहीं है किन्तु तत्त्वज्ञान के लिए होता है। इसके समर्थन में भाष्यकार ने कहा है – ''अनवधारणात्''। इसकी व्याख्या में कहा है – ''अनुजानात्ययमेकतरं धर्मं कारणोपपत्त्या न त्ववधारयति न व्यवस्यति न निश्चिनोति एवमेवेति''। अभिप्राय यह है कि एकतर धर्म की अनुज्ञा करता है किन्तु अवधारण – व्यवसाय – नहीं करता है – यह ऐसा ही है – इदमेवमेव-इस तरह का निश्चय नहीं कर पाता है। तर्क पदार्थ के अनुज्ञा स्वरूप होने पर भी उसमें अनुज्ञा के कर्तृत्व की विवक्षा करके भाष्यकार ने कहा है – ''अनुजानात्ययम्'' अवधारण, व्यवसाय तथा निश्चय एक ही पदार्थ हैं किन्तु तर्क पदार्थ निश्चय से सर्वथा भिन्न होता है। अतः उसको तत्त्वज्ञान

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

नहीं कहा जा सकता – इसे समझाने के लिए भाष्यकार ने कहा है – "न व्यवस्यति न निश्चिनोति"। वाचस्पति मिश्र ने यहाँ कहा है – "पर्यायैर्निश्चयादत्यन्तभेद उक्तः"।

किन्तु जिज्ञासा होती है कि तर्कपदार्थ निश्चयात्मक या निश्चयजनक नहीं होने पर भी किस प्रकार से तत्त्वज्ञान के लिए उपयोगी होता है? इसके उत्तर में भाष्यकार ने कहा है – तत्त्वज्ञान का विषय उस तत्त्व की अनुज्ञारूप ऊह भावित अर्थात् परिशुद्ध अर्थात् निर्दोष होता है अर्थात् वह तर्काभास नहीं होता। प्रकृत तर्क के उत्पन्न होते ही प्रमाण के सामर्थ्य से तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है। तर्क स्वतन्त्र रूप से तत्त्वज्ञान का उत्पादक नहीं होता, किन्तु उस तर्क के पश्चात् तर्क से अनुगृहीत प्रमाण से तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है। अतः तर्करूप ज्ञान प्रमाण का अनुग्राहक होकर तत्त्वज्ञान का[१५८] सहायक होता है। अतः महर्षि ने वाद के लक्षणसूत्र में प्रमाण के साथ तर्क का उल्लेख किया है, केवल तर्क का नहीं। भाष्यकार ने प्रथम सूत्र के भाष्य में कहा है कि तर्क प्रमाण नहीं है किन्तु प्रमाण का अनुग्राहक होकर तत्त्व का ज्ञान कराता है – "प्रमाणानामनुग्राहकस्तत्त्वज्ञानाय कल्पते"।

वाचस्पति मिश्र ने तात्पर्यटीका में कहा है – प्रमाण जिस विषय में प्रवृत्त होने के लिए उद्यत होता है उस विषय में विपर्यय की शंका उपस्थित होने पर जब तक उस विपर्यय शंका की किसी अनिष्ट की आपत्ति के द्वारा निवृत्ति नहीं हो जाती, तब तक उस विषय में प्रमाण की प्रवृत्ति नहीं होती। पुनश्च उस संशय के निवृत्त हो जाने पर वही प्रमाण अपने विषय में प्रवृत्त होकर तत्त्व का निश्चय रूप तत्त्वज्ञान कराता है। अभिप्राय यह है कि प्रमाण के अपने विषय में संशय की निवृत्ति ही तर्क के द्वारा प्रमाण की अभ्यनुज्ञा कहलाती है, यही प्रमाण का अनुग्रह कहलाता है। वरदराज ने कहा है – "प्रमाणविषये तद्विपर्ययाशंकाविघटनं तर्कसाध्योऽनुग्रह इत्यर्थः'।

तर्क के स्वरूप के विषय में उदयनाचार्य आदि नैयायिकों का मत

उदयनाचार्य के मतानुसार वरदराज ने कहा है –

तर्कोऽनिष्टप्रसंगः स्यात् अनिष्टं द्विविधं स्मृतम्।
प्रामाणिकपरित्यागस्तथेतरपरिग्रहः ॥ – तार्किकरक्षा

---

१५८ भगवद्गीता में "मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनञ्च" (१५.१४) इस भगवद्वाक्य में भाष्यकार रामानुज ने "अपोहन" शब्द का अर्थ ऊहरूप तर्क किया है। इन्होंने वहाँ प्राचीन मत की व्याख्या की है – "ऊहो नाम इदं प्रमाणमित्थं प्रवर्तितुमर्हतीति प्रमाणप्रवृत्त्यर्हताप्रयोजक-सामग्र्यादिनिरूपणजन्यं प्रमाणानुग्राहकं ज्ञानम्"। न्यायपरिशुद्धि में वेंकटनाथ ने गौतमोक्त तर्क पदार्थ की व्याख्या में आचार्य रामानुज की व्याख्या का उल्लेख किया है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अनिष्ट का प्रसंग या आपत्ति ही तर्क है। वह अनिष्ट दो प्रकार का होता है - १. प्रामाणिक पदार्थ का परित्याग और २. अप्रामाणिक पदार्थ का स्वीकार। जैसे जल का पीना पिपासा का निवर्त्तक नहीं है – ऐसा कहने पर आपत्ति होती है कि तब पिपासु व्यक्ति जल क्यों पीता है। यहाँ जल का पीना पिपासा का निवर्त्तक होता है – यह प्रमाण सिद्ध पदार्थ है, उसका परित्याग या अपलाप – प्रथम प्रकार का अनिष्ट होता है और जल पीने से अन्तर्दाह उत्पन्न होता है – यह कहने पर आपत्ति होती है कि तब मुझे भी जल पीने पर अन्तर्दाह क्यों नहीं होता। यहाँ जलपान का अन्तर्दाहजनकत्व अप्रामाणिक पदार्थ है – उसको मान लेना, दूसरे प्रकार का अनिष्ट होता है। इस प्रकार अन्यान्य स्थलों में उक्त जिस किसी प्रकार के अनिष्ट पदार्थ का प्रसंग अथवा आपत्तिरूपी ज्ञान ही तर्क पदार्थ कहलाता है। मल्लिनाथ ने इसकी व्याख्या में कहा है – अनिष्टव्यापक पदार्थ का प्रसंग। वस्तुतः संशय तथा निश्चय से भिन्न सम्भावनारूप ज्ञान उदयनाचार्य आदि नैयायिकगण नहीं मानते क्योंकि इनके मत में सम्भावनारूप ज्ञान भी संशय विशेष ही होता है। तर्क संशयात्मक ज्ञान नहीं हो सकता। अतः उदयनाचार्य आदि अनिष्टापत्ति को तर्क कहते हैं। वाचस्पति मिश्र ने भाष्यकार के मत की व्याख्या करके भी अनिष्टापत्ति को कैसे तर्क माना है – यह विचारणीय है। अभिप्राय यह है कि प्रमाण से बाधित पदार्थ ही अनिष्ट पदार्थ है और उसका प्रसंग अर्थात् आपत्तिरूप ज्ञान है तर्क। अतएव तर्क को बाधितार्थ प्रसंग कहते हैं। चूंकि यह तर्क संशय का निवर्त्तक होता है अतः इसका प्राचीन नाम ''संशयव्युदास'' भी है। (द्रष्टव्य अवयवसूत्र व्याख्या)।

नव्यनैयायिकों ने वैशद्य से इस तर्क पदार्थ के स्वरूप की व्याख्या करते हुए कहा है कि जिस पदार्थ में व्यापक पदार्थ का अभाव निश्चित है उस पदार्थ में उसके व्याप्य पदार्थ के आरोप से उस व्यापक पदार्थ का आरोप ही तर्क है। अतः वृत्तिकार विश्वनाथ ने इस सूत्र में कारण पद का व्याप्य और उपपत्ति पद का आरोप अर्थ करके तर्क का नव्यनैयायिक सम्मत लक्षण कहा है। जैसे धूम वह्नि का व्याप्य पदार्थ है क्योंकि धूम रहने पर वह्नि अवश्य रहती है, अतः वह्नि धूम का व्यापक है। किन्तु जल में धूम और वह्नि नहीं रहते – यह निश्चित है। अतः जल में धूम का आरोप होने पर उससे वह्नि का आरोप होता है – ''जलं यदि धूमवत् स्यात् वह्निमत् स्यात्'' इस प्रकार जल में वह्नि का आरोप रूप आपत्ति होती है और वही यहाँ तर्क कहलाता है। मन से ही इस प्रकार की आपत्ति होती है, अतः वह मानसप्रत्यक्षविशेष एवं आहार्य भ्रमज्ञान कहलाता है। आहार्य भ्रम उसे कहते हैं जहाँ भ्रम के बाधक का निश्चय रहने पर भी इच्छापूर्वक आरोप होता है।

किन्तु उक्त तर्करूप ज्ञान भ्रमज्ञान होकर भी, उसकी सहायता से पश्चात् प्रमाण के

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

द्वारा तत्त्व का निश्चय होता है। क्योंकि इस प्रकार के तर्कस्थल में सर्वत्र किसी व्याप्य पदार्थ के आरोप से उसके व्यापक पदार्थ की आपत्ति होती है। परन्तु जिस किसी पदार्थ के आरोप से जिस किसी पदार्थ की आपत्ति तर्क नहीं होती एवं जिस स्थान में जो पदार्थ सर्वमान्य है उस स्थान में सर्वमान्य पदार्थ की आपत्ति भी तर्क नहीं होती क्योंकि उस स्थल में उस पदार्थ का ज्ञान आरोपात्मक नहीं है किन्तु यथार्थज्ञान ही होता है। जैसे "पर्वतो यदि धूमवान् स्यात् तदा वह्निमान् स्यात्" इस प्रकार पर्वत में वह्नि की आपत्ति तर्क नहीं है। इसे इष्टापत्ति कहते हैं और अनिष्ट की आपत्ति तर्क होता है। तर्क के ऐसे स्थलों में अनिष्ट पदार्थ का आपत्ति का विषय होना "आपाद्य" कहलाता है और जिसकी सत्ता मानने पर वह आपत्ति होती है उसे "अपादक" कहते हैं। जैसे उपर्युक्त स्थल में धूम आपादक होता है और वह्नि आपाद्य। आपाद्य पदार्थ व्यापक होता है और आपादक होता है उसका व्याप्य। अतः तर्क रूप भ्रमज्ञान में उस आपादक पदार्थ में आपाद्य पदार्थ का स्मरण आवश्यक होता है। क्योंकि व्याप्ति ही इस प्रकार के तर्क का मूल एवं प्रथम अंग होता है[१५९]। इस व्याप्ति का स्मरण होने पर उस व्यापक पदार्थ के अभाव में उस व्याप्य पदार्थ के अभाव की व्याप्ति की भी स्मृति होती है। अतः पश्चात् उस आपाद्यरूप व्यापक पदार्थ के अभावस्वरूप हेतु से आपादकरूप व्याप्य पदार्थ का अभाव अनुमान से सिद्ध होता है। जैसे जल यदि धूमवान् होगा तो वह्निमान् भी होगा – इस तर्क के फलस्वरूप वह्नि के अभाव रूप हेतु से जल में धूम का अभाव सिद्ध होता है। इन सभी तर्कों का फल होता है विषय की परिशुद्धि अर्थात् प्रमाण से विषय के यथार्थ निश्चय में सहायक होने पर उसको विषय का परिशोधक तर्क कहते हैं।

किन्तु जिस तर्क के फलस्वरूप अनुमान के हेतु में साध्य धर्म के व्यभिचार के संशय की निवृत्ति होकर व्याप्ति का निश्चय होता है उसको "व्याप्तिग्राहक" तर्क कहते

---

[१५९] तर्क के और भी चार अंग होते हैं। वरदराज ने कहा है –

व्याप्तिस्तर्काप्रतिहतिरवसानं विपर्यये।
अनिष्टाननुकूलत्वे इति तर्काङ्गपञ्चकम्॥

अर्थ यह हुआ कि १. आपादक पदार्थ में आपाद्य पदार्थ की व्याप्ति, २. तर्क के व्याघातक प्रतिकूल तर्क का अप्रतिघात, ३. विपर्यय अर्थात् आपाद्य पदार्थ के अभाव में पर्यवसान, ४. आपाद्य पदार्थ का अनिष्टत्व, और ५. इस आपत्ति का अननुकूलत्व अर्थात् प्रतिपक्ष का असाधकत्व – ये पाँच तर्क के अंग होते हैं। पाँच अंगों से सम्पन्न तर्क ही तत्त्वज्ञान का सहायक होता है। इनमें से किसी एक अंग का अभाव रहने पर प्रकृत तर्क नहीं कहला सकता अपितु वह तर्काभास हो जाएगा।

"अङ्गान्यतमवैकल्ये तर्कस्याभासता भवेत्"। – तार्किकरक्षा।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

हैं। यथा ''धूमो वह्निव्यभिचारी न वा'' इस तरह के संशय होने पर ''धूमो यदि वह्नि व्यभिचारी स्यात् वह्निजन्यो न स्यात्'' धूम यदि वह्नि का व्यभिचारी होता तो वह्नि से रहित स्थान में भी उपलब्ध होगा तथा वह्नि जन्य नहीं होगा – इस तरह के तर्क के फलस्वरूप धूम वह्नि का व्यभिचारी नहीं होता – यह अनुमान से सिद्ध होता है। यहाँ वह्नि का व्यभिचारित्व है आपादक और वह्निजन्यत्व का अभाव है आपाद्य। सभी धूम वह्नि से उत्पन्न होते हैं और वह्नि के बिना धूम की उत्पत्ति नहीं होती – इस सिद्धान्त के आधार पर उक्त रूप आपत्ति होती है। इसका परिणाम हुआ कि ''धूमो न वह्निव्यभिचारी वह्निजन्यत्वात्'' इस प्रकार वह्निजन्यत्व हेतु से धूम में वह्नि के व्यभिचारित्व के अभाव का निश्चय होता है और इस निश्चय से उपर्युक्त व्यभिचार-संशय की निवृत्ति होने पर धूम में वह्नि की व्याप्ति का निश्चय होता है। अतः इस तर्क को ''व्याप्तिग्राहक तर्क'' कहते हैं। अनुमान प्रमाणरूप न्याय के द्वारा तत्त्व निर्णय के पहले अनेक स्थलों में इस तर्क के आवश्यक होने से बहुतेरे नैयायिक इस तर्क को न्याय का पूर्वांग भी कहते हैं।[१६०]

तर्क के प्रकार भेद

महानैयायिक उदयनाचार्य ने इस तर्क पदार्थ को पाँच प्रकार का माना है – १. आत्माश्रय, २. इतरेतराश्रय (अन्योन्याश्रय), ३. चक्रकाश्रय, ४. अनवस्था और ५. अनिष्ट प्रसंग। इस आधार पर वरदराज ने कहा है – आत्माश्रयादिभेदेन तर्कः पञ्चविधः स्मृतः।

कोई पदार्थ अपनी उत्पत्ति, स्थिति और ज्ञान में यदि अव्यवधान रूप से अपनी ही अपेक्षा करता है तो इससे जो अनिष्ट की आपत्ति होती है उसे ''आत्माश्रय'' कहते हैं। वही पदार्थ यदि अन्य एक पदार्थ की अपेक्षा करके पुनः अपनी अपेक्षा करता है तो इससे जो अनिष्ट की आपत्ति होती है उसे ''अन्योन्याश्रय'' कहते हैं। इसी तरह अन्य दो पदार्थों की या उससे भी अधिक पदार्थों की अपेक्षा करके पुनः अपनी अपेक्षा करता है तो इससे जो अनिष्ट की आपत्ति होती है उसे ''चक्रकाश्रय'' कहते हैं। और जहाँ जिस प्रकार की आपत्ति का कहीं विश्राम या अन्त नहीं होता, ऐसे धारावाहिक आपत्ति को ''अनवस्था''

[१६०] कुसुमाञ्जलि प्रकाश (३.७) के मकरन्द व्याख्या में पक्षधर मिश्र के शिष्य रुचिदत्त ने इस मतान्तर का समर्थन किया है और कहा है कि प्रकाशकार वर्धमान उपाध्याय ने स्वयं प्रमेयतत्त्व बोध में लिखा है – ''तर्को न्यायस्य पूर्वाङ्गं न्यायविषयपरिशोधकत्वात् व्याप्तिग्राहकत्वाच्च''। तर्क लिंगपरामर्श रूप न्याय के विषयीभूत लिंग की परिशुद्धि का सम्पादक होता है। इस अर्थ में इसे न्याय के विषय का परिशोधक कहा गया है। तर्क से व्याप्ति का निश्चय कैसे सम्भव है – इस विषय में अधिक बातें और उनके प्रतिवाद का निराकरण द्वितीय खण्ड, बंग संस्करण के पृ. २३३-४२ में अवश्य द्रष्टव्य है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

कहते हैं। इसी प्रकार अनन्त आपत्तिमूलक जो अनिष्ट की आपत्ति होती है उसको भी "अनवस्था" कहते हैं। किसी स्थल में ऐसी आपत्ति प्रमाणसिद्ध एवं सर्वानुमत यदि होती है तो वह अनवस्था तर्करूप में मान्य नहीं होती क्योंकि वह सबके मत में इष्टापत्ति कहलाती है। इन चारों तर्कों से सभी तर्क अनिष्ट प्रसंग नामक इसका पाँचवाँ प्रकार है।[१६१]

यद्यपि प्रत्येक तर्क अनिष्टप्रसंग रूप होता है तथापि विशेषज्ञान के लिए उदयनाचार्य आदि ने विशेष करके आत्माश्रय आदि चार प्रकार के तर्क को कहकर अन्य सभी तर्कों का अनिष्टप्रसंग नाम से उल्लेख किया है। वृत्तिकार विश्वनाथ ने इसे समझाने के लिए उक्त पञ्चम प्रकार के तर्क को "तदन्यबाधितार्थप्रसंग" कहा है। सारांश यह है कि "अप्रामाणिक अनिष्टापत्ति" ही तर्कपदार्थ है। वृत्तिकार विश्वनाथ ने कहा है – प्रथमोपस्थितत्व, उत्सर्गः, विनिगमनाविरह, लाघव तथा गौरव आदि को जो तर्क कहा जाता है, वे वस्तुतः तर्क नहीं हैं क्योंकि ये आपत्तिरूप ज्ञान होते हैं। किन्तु ये सभी प्रमाण से तत्त्व के निर्णय में तर्क की तरह प्रमाण के सहकारी होते हैं। इसलिए प्रमाण के सहकारित्वरूप तर्क के साधर्म्य से तर्क की तरह इनका व्यवहार होता है अर्थात् इनमें तर्क शब्द का गौण प्रयोग होता है।

तर्क सभी प्रमाणों का अनुग्राहक होता है

तर्क केवल अनुमान प्रमाण का अनुग्राहक या सहकारी नहीं होता अपितु सभी प्रमाणों से तत्त्व के निर्णय में अनेक स्थलों पर तर्क आवश्यक होता है। वरदराज ने स्पष्ट कहा है –

प्रत्यक्षादेः प्रमाणस्य तर्कोऽनुग्राहको भवेत्। (तार्किकरक्षा)

आत्मतत्त्वविवेक में उदयनाचार्य ने भी तर्क को सभी प्रमाणों का अनुग्राहक कहा है। मीमांसकगण भी इसका समर्थन करते हैं। नव्यमीमांसक नारायण भट्ट ने मानमेयोदय में स्पष्ट कहा है –

---

[१६१] सर्वदर्शनसंग्रह में अक्षपाद दर्शन प्रकरण में माधवाचार्य ने आत्माश्रय आदि चार प्रकार के तर्कों के साथ व्याघात आदि नाम से और भी सात प्रकार के तर्कों को कहा है, गौतम के उक्त तर्क को ग्यारह प्रकार का माना है किन्तु उन्होंने इसकी कोई व्याख्या नहीं की है। न्यायपरिशुद्धि में वेंकटनाथ ने इस प्रकार माधवाचार्य के प्रज्ञापरित्राण नामक ग्रन्थ का उल्लेख करके आत्माश्रय आदि चार प्रकार के तर्क के साथ विरोध और असम्भव को जोड़कर तर्क के छह प्रकारों को कहा है। मानमेयोदय में नारायण भट्ट ने उक्त चतुर्विध तर्कों के साथ गौरव तथा लाघव को जोड़कर तर्क के छह प्रकारों को कहा है। किन्तु इन्होंने भी उदयनाचार्य के उक्त तर्क के पञ्चम प्रकार को क्यों नहीं कहा – यह विचारणीय है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

यतः प्रत्यक्षशब्दादिप्रमाणान्यखिलान्यपि ।
तर्कं विना न जीवन्ति प्रत्यक्षं तावदीक्ष्यताम् ॥

तस्मात् सर्वप्रमाणानां तर्कोऽनुग्राहकः स्थितः ।
साध्ये विपर्ययाशंकाविच्छेदस्तदनुग्रहः ॥

वस्तुतः वेदरूप शब्द प्रमाण से धर्म के निर्णय में भी प्रकृत तर्क आवश्यक है। अतः वेदार्थ के निर्णयहेतु मीमांसाशास्त्र रचित हुआ है। मीमांसाशास्त्र में उक्त वे सभी तर्क मीमांसा नाम से कहे गए हैं। मीमांसकगण इसको प्रमाण की इतिकर्त्तव्यता कहते हैं। अतः उक्त है –

धर्मे प्रमीयमाणे हि वेदेन करणात्मना ।
इतिकर्त्तव्यता भागं मीमांसा पूरयिष्यति ॥

वेद आदि शास्त्रवाक्यों से धर्म आदि का निर्णय करते समय जो उन सभी वाक्यों का प्रकृतार्थ नहीं है किन्तु अर्थाभास है उसका निरास करके प्रकृत वाक्यार्थ के स्थापन हेतु प्रकृत तर्क अत्यावश्यक है। नारायण भट्ट ने कहा है –

एवं सर्वत्र तर्कौघैरर्थाभासनिरासतः ।
वाक्यार्थस्थापनी सर्वा मीमांसा तर्करूपिणी ॥

भगवान् मनु ने कहा है –

आर्षं धर्मोपदेशञ्च वेदशास्त्राविरोधिना ।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते[१६२] स धर्मं वेद नेतरः ॥
– मनुस्मृति १२.१०६, १.१.४०

भाष्य – एतस्मिंस्तर्कविषये –

सूत्र – विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः ।१.१.४१।

---

[१६२] जयन्त भट्ट ने उक्त मनुवचन में तर्क पद का अर्थ अनुमान कहा है किन्तु वरदराज ने गौतम के उक्त तर्क का ही ग्रहण किया है। यद्यपि अनुमान प्रमाण के अर्थ में तर्क पद का बहुत प्रयोग होता है तथापि इस वचन के पहले "प्रत्यक्षमनुमानं च" आदि वचन में अनुमान पद से अनुमान प्रमाण का उल्लेख होने से पश्चात् उक्त तर्क पद से अनुमान से भिन्न तर्क पदार्थ ही अभिप्रेत प्रतीत होता है। शारीरकभाष्य में (२.१.११) आचार्य शंकर ने कहा है – "श्रुत्यर्थविप्रतिपत्तौ चार्थाभासनिराकरणेन सम्यगर्थनिर्धारणं तर्केणैव वाक्यवृत्तिरूपेण क्रियते, मनुरपि चैवं मन्वते, प्रत्यक्षमनुमानञ्च" इत्यादि।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अनुवाद – इस तर्क के विषय में अर्थात् उपर्युक्त तर्क के स्थलों में संशय करके पक्ष और प्रतिपक्ष के द्वारा – स्वपक्षस्थापन और परपक्ष के साधन का खण्डन करके पदार्थ का अवधारण निर्णय कहलाता है।

_भाष्य_ – स्थापना साधनं प्रतिषेध उपालम्भः (खण्डनं) तौ साधनोपालंभौ पक्षप्रतिपक्षाश्रयौ व्यतिषक्तावनुबन्धेन प्रवर्तमानौ पक्षप्रतिपक्षावित्युच्येते। तयोरन्यतरस्य निवृत्तिरेकतरस्यावस्थानमवश्यंभावि, यस्यावस्थानं तस्यार्थावधारणं निर्णयः।

नेदं पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं संभवतीति, एको हि प्रतिज्ञातमर्थं तं हेतुतः स्थापयति, द्वितीयस्य प्रतिषिद्धं चोद्धरतीति, द्वितीयेन स्थापनाहेतुः प्रतिषिध्यते तस्यैव प्रतिषेधहेतुश्चोद्ध्रियते, स निवर्तते, तस्य निवृत्तौ योऽवतिष्ठते तेनार्थावधारणं निर्णयः। उभाभ्यामेवार्थावधारणमित्याह। कया युक्त्या? एकस्य संभवो द्वितीयस्यासम्भवः – तावेतौ सम्भवासम्भवौ विमर्शं सह निवर्तयतः – उभयसंभवे उभयासंभवे वाऽनिवृत्तो विमर्श इति।

विमृश्येति विमर्शं कृत्वा। सोऽयं विमर्शः पक्षप्रतिपक्षाववद्योत्य न्यायं प्रवर्तयतीत्युपादीयत इति। एतच्च विरुद्धयोरेकधर्मिस्थयोर्बोद्धव्यम्। यत्र तु धर्मिसामान्यगतौ विरुद्धौ धर्मौ हेतुतः सम्भवतस्तत्र समुच्चयः। हेतुतोऽर्थस्य तथाभावोपपत्तेः यथा क्रियावद् द्रव्यमिति लक्षणवचने यस्य द्रव्यस्य क्रियायोगो हेतुतः सम्भवति, तत् क्रियावत्, यस्य न संभवति तदक्रियमिति। एकधर्मिस्थयोश्च विरुद्धयोर्धर्मयोरयुगपद्भाविनोः कालविकल्पः – यथा तदेव द्रव्यं क्रियायुक्तं कियावत् अनुत्पन्नोपरतक्रियं पुनरक्रियमिति।

न चायं निर्णये नियमो विमृश्यैव पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णय इति। किन्तु इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नप्रत्यक्षेऽर्थावधारणं निर्णय इति। परीक्षाविषये – "विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः"। वादे शास्त्रे च विमर्शवर्जम्।

(इति वात्स्यायनीये न्याय भाष्ये प्रथमाध्यायस्य प्रथमाह्निकम्।)।

अनुवाद – स्थापना का अर्थ है साधन और प्रतिषेध का अर्थ है उपालम्भ अर्थात् स्वपक्ष के स्थापन का साधन और परपक्ष के स्थापन के साधन का खण्डन ही क्रमशः साधन और उपालम्भ हैं। पक्ष और प्रतिपक्ष इनके आश्रय होते हैं और व्यतिषक्त अर्थात् दोनों पक्षों के साथ सम्बद्ध अनुबन्ध से अर्थात् पश्चात् किसी एक पक्ष के निर्णय के अनुकूल होकर प्रवर्त्तमान साधन और उपालम्भ पक्ष और प्रतिपक्ष शब्द से कहे जाते हैं।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

फलितार्थ यह हुआ कि सूत्रगत पक्ष और प्रतिपक्ष पद साधन और उपालम्भरूप लाक्षणिक अर्थ में प्रयुक्त हैं। इन साधन और उपालम्भ के मध्य किसी एक पक्ष की निवृत्ति और अपर पक्ष की अवस्थिति अवश्य होगी। जिसकी अवस्थिति होगी उस अर्थ के अवधारण हेतु उस साधन का अथवा उस अर्थ के खण्डन के प्रतिपाद्य पक्ष और प्रतिपक्ष रूप में माने जाते हैं। उनका निर्णयात्मक ज्ञान ही निर्णय कहलाता है।

(पूर्वपक्ष) यह अर्थ का अवधारण पक्ष और प्रतिपक्ष से अर्थात् उपर्युक्त साधन और उपालम्भ से सम्भव नहीं है क्योंकि एक व्यक्ति (वादी) उस प्रतिज्ञात पदार्थ की स्थापना हेतु से करेगा अर्थात् प्रतिवादी के द्वारा दिखाए गए दोषों का खण्डन करेगा। पश्चात् द्वितीय व्यक्ति (प्रतिवादी) वादी की स्थापना के हेतु का खण्डन करेगा और उस वादी के द्वारा इसके पक्ष में दिखाए गए दोषों का उद्धार करेगा। (प्रतिवादी वादी के हेतु में दोष दिखाकर उसके हेतु का खण्डन करेगा और वादी के द्वारा प्रतिवादी के पक्ष में दिखाए गए दोषों का खण्डन भी करेगा)। वह वादी का पक्ष हो या प्रतिवादी का, स्थापना का हेतु तथा हेतु का खण्डन, दोनों ही निवृत्त हो जाते हैं। उसके बाद जो रह जाता है और उससे जो अर्थ का अवधारण होता है उसी को निर्णय कहते हैं।

(उत्तर) दोनों से अर्थ का अवधारण होता है। इसलिए महर्षि ने ''पक्षप्रतिपक्षाभ्यां'' कहा है।

(प्रश्न) किस युक्ति से – (उत्तर) एक के सम्भव होने से अपर का असम्भव होना निश्चित है। वादी के साधन के सम्भव होने पर प्रतिवादी का खण्डन असम्भव होगा एवं प्रतिवादी के साधन के सम्भव होने पर वादी का उपालम्भ (खण्डन) असम्भव होगा। यही सम्भव और असम्भव मिलकर संशय को निवृत्त करते हैं। दोनों के सम्भव या दोनों के असम्भव होने पर संशय की निवृत्ति नहीं होती। उपर्युक्त के अनुसार इस साधन और उपालम्भ से अर्थ का अवधारण रूप निर्णय होता है।

''विमृश्य'' पद की व्याख्या ''विमर्शं कृत्वा'' होती है अर्थात् संशय करके। यह संशय एक अधिकरण में पक्ष और प्रतिपक्ष को रखकर विवाद के विषय दो विरुद्ध धर्मों को नियम से विषय करता है और न्याय को प्रवृत्त करता है। मध्यस्थगण को इस प्रकार का संशय ही वादी और प्रतिवादी की न्याय प्रवृत्ति का मूल होता है। अतः सूत्र में विमृश्य पद दिया गया है। किन्तु यह संशयात्मक ज्ञान एकधर्मी में दो विरुद्ध धर्मों के विषय में होता है जिस स्थल में सामान्यधर्मी में विरुद्ध दो धर्मों का होना प्रमाण से सम्भव होता है वहाँ समुच्चय मानना चाहिए। क्योंकि प्रमाण के द्वारा अर्थ का – उस सामान्यधर्मी रूप पदार्थ का – उस धर्मद्वयवत्ता की उपपत्ति होती है। जैसे क्रियावान् द्रव्य होता है इस

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

लक्षण के कहने पर ज्ञात होता है कि द्रव्य का क्रियावत्त्व प्रमाण से सम्भव है। अतः द्रव्य क्रियावान् होता है, किन्तु जिस द्रव्य का क्रियावत्त्व प्रमाण से सम्भव नहीं है उस द्रव्य का निष्क्रिय होना सिद्ध है। अब सामान्यतः "द्रव्यं सक्रियं निष्क्रियं च" इस प्रकार का ज्ञान संशय नहीं होता – इसको समुच्चय कहते हैं। किन्तु एक धर्मिगत अयुगपद् भावी (जो एक समय में नहीं रहता किन्तु भिन्न काल में रहता है) ऐसे दो विरुद्ध धर्मों के विषय में "कालविकल्प" होता है। यथा वही द्रव्य क्रियाविशिष्ट होने पर सक्रिय और क्रिया के अनुत्पन्न अथवा उपरत होने पर अर्थात् जिस द्रव्य में क्रिया नहीं है या क्रिया विनष्ट हो गई है उसे निष्क्रिय कहते हैं। एक ही द्रव्य में काल के भेद से सक्रियत्व एवं निष्क्रियत्व के ज्ञान को कहते हैं – कालविकल्प।

संशय करके ही पक्ष तथा प्रतिपक्ष से अर्थ का अवधारण रूप निर्णय होता है – ऐसा किन्तु निर्णय का कोई नियम नहीं है अर्थात् सभी निर्णय संशयपूर्वक नहीं होते किन्तु इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न प्रत्यक्ष के स्थल में अर्थ का अवधारण ही निर्णय होता है। परीक्षा के विषय में अर्थात् विजय के इच्छुक वादी और प्रतिवादी के स्वपक्ष-स्थापन एवं परपक्ष के खण्डन से मध्यस्थगण का तत्त्व निर्णय के स्थल में संशय करके पक्ष और प्रतिपक्ष के द्वारा अर्थ के अवधारण रूप निर्णय होता है। बाद में केवल तत्त्व निर्णय के लिए किए गए वाद में तथा शास्त्र में संशय से रहित उक्त रूप अर्थावधारण निर्णय होता है अर्थात् वादकथा और शास्त्र से जो निर्णय होता है वह संशयरहित होता है।

इस प्रकार वात्स्यायनप्रणीत न्यायभाष्य के प्रथम अध्याय का प्रथम आह्निक समाप्त हुआ।

टिप्पणी – महर्षि ने तर्कलक्षण कहने के पश्चात् इस सूत्र से निर्णय पदार्थ का लक्षण कहा है और यहीं न्यायदर्शन के प्रथम अध्याय का प्रथम आह्निक समाप्त भी किया है। क्योंकि यह निर्णयपदार्थ न्याय का उत्तरांग होता है तथा तर्क का विषय होता है। पूर्व सूत्र में उक्त तर्क के विषयीभूत पदार्थ में मध्यस्थों के प्रमाण से और तर्क की सहायता से निर्णय की उत्पत्ति होती है। यही निर्णय इस सूत्र में कहा गया है। यह निर्णय मध्यस्थ के मन में संशय उठने पर होता है। अतः सूत्र में "विमृश्य" पद कहा गया है। भाष्यकार ने इसकी व्याख्या "विमर्शं कृत्वा" कहकर की है। विमर्श और संशय एक ही पदार्थ हैं। मध्यस्थगण संशय करके कैसे अर्थावधारण रूप निर्णय करेंगे – इस प्रश्न के उत्तर में महर्षि ने कहा है – "पक्षप्रतिपक्षाभ्याम्"। भाष्यकार ने पक्ष और प्रतिपक्ष के लाक्षणिक अर्थ का ग्रहण कर पहले व्याख्या की है "स्थापना साधनम् इत्यादि"।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

भाष्यकार का तात्पर्य यह है कि एक अधिकरण में विवाद के विषयीभूत दो विरुद्ध धर्म पक्ष और प्रतिपक्ष का मुख्य अर्थ होता है। किन्तु उन दो विरुद्ध धर्मों से अर्थ का अवधारण नहीं हो सकता। अतः इस सूत्र में उक्त पक्ष और प्रतिपक्ष शब्द का लाक्षणिक अर्थ में प्रयोग होता है। वह लाक्षणिक अर्थ होता है यथाक्रम साधन और उपालम्भ। अपने पक्ष की स्थापना को साधन कहते हैं और परपक्ष के साधन का खण्डन उपालम्भ कहलाता है। उक्त लाक्षणिक अर्थ मुख्य अर्थ के साथ सम्बद्ध होकर ही ज्ञात होता है। अतः भाष्यकार ने कहा है – "पक्षप्रतिपक्षाश्रयौ"। पक्ष और प्रतिपक्ष का मुख्य अर्थ होता है विरुद्ध धर्म अर्थात् उक्त साधन और उपालम्भ का आश्रय। अतः मुख्य और गौण अर्थ में परस्पर आश्रयाश्रितत्व सम्बन्ध मान्य होता है। वाचस्पति मिश्र ने यहाँ कहा है – यद्यपि उपालम्भवादी का पक्षाश्रित भी हो सकता है तथापि प्रतिपक्ष के उद्देश्य से उपालम्भ का प्रयोग हुआ है। अतः इसको प्रतिपक्षाश्रित कहा गया है। (प्रश्न) महर्षि ने मुख्यार्थक शब्द "साधनोपालंभाभ्यां" न कहकर लाक्षणिक प्रयोग क्यों किया है? इसीलिए भाष्यकार ने "व्यतिषक्तौ" पद का प्रयोग किया है। व्यतिषक्त पद का अर्थ होता है – दोनों पक्षों से सम्बद्ध। अभिप्राय यह है कि महर्षि ने सूत्र में "साधनोपालंभाम्यां" रूप मुख्यार्थक पद का यदि प्रयोग करते तो यह नहीं समझा जाता कि साधन और उपालम्भ का व्यतिषक्त होना आवश्यक है। अतः महर्षि ने उक्त अर्थ में पक्ष और प्रतिपक्ष पद का लाक्षणिक प्रयोग करके यह समझाया है कि जिस प्रकार का साधन और उपालम्भ पक्ष में भी होगा और प्रतिपक्ष में भी होगा, वैसा ही साधन और उपालम्भ यहाँ अभिप्रेत है। क्योंकि इससे अर्थ के अवधारण रूप निर्णय की उत्पत्ति होती है जहाँ स्वपक्ष में वादी का साधन (स्थापना) और प्रतिवादी का उपालम्भ (उस स्थापना का खण्डन) होता है। इसी प्रकार प्रतिपक्ष में प्रतिवादी का साधन और वादी का उपालम्भ होता है। इस प्रकार के साधन और उपालम्भ को व्यतिषक्त कहते हैं।

किन्तु इस प्रकार के साधन और उपालम्भ के रहने पर भी जिस स्थल में किसी एक पक्ष की निवृत्ति नहीं होती ऐसे स्थल में एक पक्ष का अवधारण भी नहीं होता। इसी अभिप्राय से भाष्यकार ने कहा है – "अनुबन्धेन प्रवर्तमानौ"। परस्पर अनुबन्ध विशिष्ट होकर प्रवर्तमान उक्त रूप साधन और उपालम्भ इस सूत्र में पक्ष और प्रतिपक्ष शब्द से समझना चाहिए। भाष्यकार ने इस पारस्परिक अनुबन्ध को समझाने के लिए कहा है – "तयोरन्यतरस्य निवृत्तिरेकतरस्यावस्थानमवश्यंभावि"। किसी भी प्रकार के साधन और उपालम्भ होने पर उनमें से एक पक्ष की निवृत्ति और अपरपक्ष का अवस्थान अवश्य होगा – इस प्रकार का ही साधन और उपालम्भ परस्पर अनुबद्ध होते हैं तथा इस सूत्र में पक्ष और प्रतिपक्ष शब्द से यही लक्षित होता है क्योंकि इस प्रकार के साधन

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

और उपालम्भ का चरमफल होता है निर्णय। सूत्रगत अर्थ शब्द से यही सूचित होता है। क्योंकि यदि "अवधारणं निर्णयः" कहा जाए तो यह स्पष्ट समझ में नहीं आता कि किसका अवधारण। जिस किसी पदार्थ का अवधारण होने से वह निर्णय नहीं कहलाता है किन्तु विवाद के विषय में एकतर पक्ष का अवधारण होता है निर्णय। भाष्यकार ने कहा है – "यस्यावस्थानं तस्यार्थावधारणं निर्णयः"। वाचस्पति मिश्र ने यहाँ व्याख्या की है – "यस्य साधनस्य वा उपालम्भस्य वा अवस्थानं तस्य साधनस्य वा उपालम्भस्य वा योऽर्थः पक्षः प्रतिपक्षो वा तस्यावधारणमित्यर्थः"।

भाष्यकार ने पूर्वपक्ष का समर्थन करते हुए आगे कहा है कि यह अर्थावधारण साधन और उपालम्भ – इन दोनों से सम्भव नहीं है क्योंकि वादी पहले अपने प्रतिज्ञात पदार्थ के हेतु के द्वारा स्थापन करता है और प्रतिवादी के पक्ष में दोष का उद्भावन करता है। पश्चात् प्रतिवादी वादी के द्वारा अपने पक्ष के स्थापन में कहे गए हेतु का खण्डन करता है और वादी के द्वारा दिखाए गए अपने दोषों का निराकरण करता है। इस प्रकार नियमानुसार विचार करने पर अन्त में, वादी का हो या प्रतिवादी का हो, साधन एवं उपालम्भ की निवृत्ति हो जाती है। उनमें से किसी एक की निवृत्ति होने पर जिसका अवस्थान होगा उससे ही अर्थ का अवधारण रूप निर्णय होता है। अतः उक्त दोनों में से किसी एक से ही अर्थ का अवधारण हो जाता है। एतदर्थ महर्षि का "पक्षप्रतिपक्षाभ्यां" कहना अयुक्त प्रतीत होता है। वाचस्पति मिश्र ने इस पूर्वपक्ष भाष्य की विशद व्याख्या करते हुए कहा है – "स वादिनो वा प्रतिवादिनो वा हेतुश्चोपालंभश्च निवर्तते, तस्मिन् निवृत्ते योऽवतिष्ठते एकस्तेनार्थनिर्णयो न द्वाभ्यां तस्माद् युक्तं पक्षप्रतिपक्षाभ्यामिति"।

भाष्यकार ने इस पूर्वपक्ष के खण्डन में कहा है कि उपर्युक्त साधन और उपालम्भ से अर्थ का अवधारण होता है। इसलिए महर्षि ने "पक्षप्रतिपक्षाभ्याम्" कहा है। इन दोनों से कैसे अर्थ का अवधारण होता है? इसके उत्तर में भाष्यकार ने कहा है कि साधन और उपालम्भ में से एक के सम्भव एवं अपर के असम्भव होने पर दोनों मिलकर मध्यस्थ के संशय का निराकरण करते हैं। अभिप्राय यह है कि यदि वादी का साधन सम्भव एवं प्रतिवादी का उपालम्भ असम्भव होगा अथवा प्रतिवादी का साधन सम्भव एवं वादी का उपालम्भ असम्भव होगा अर्थात् प्रतिवादी यदि वादी के साधन का खण्डन करने में असमर्थ होकर निवृत्त होगा अथवा वादी यदि प्रतिवादी के साधन का खण्डन करने में असमर्थ होकर निवृत्त होगा तो किसी एक पक्ष का निर्णय होने पर उससे मध्यस्थगण का संशय निवृत्त हो जाएगा। किन्तु वादी और प्रतिवादी के साधन और उपालम्भ की निवृत्ति नहीं होने पर अथवा वादी एवं प्रतिवादी के साधन और उपालम्भ के निवृत्त हो जाने पर

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

और किसी के द्वारा अपने पक्ष का स्थापन नहीं कर सकने पर तथा मध्यस्थगण के समक्ष किसी एक पक्ष की निवृत्ति नहीं होने पर संशय की निवृत्ति नहीं होती। अतः उपर्युक्त साधन और उपालम्भ का सम्भव और असम्भव मिलकर संशय का निवर्त्तक होकर उस साधन और उपालम्भ से अर्थ का अवधारण रूप निर्णय होता है। इसी को ध्यान में रखकर महर्षि ने कहा है – ''पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः''। भाष्य में ''उभय सम्भवे उभयासम्भवे वा'' इस प्रकार पाठ ही संगत प्रतीत होता है।

महर्षि ने सूत्र में विमृश्य पद से संशय का ग्रहण क्यों किया है? इस प्रश्न के उत्तर में भाष्यकार ने कहा है – ''सोऽयं विमर्शः पक्षप्रतिपक्षाववद्योत्य'' इत्यादि। वाचस्पति मिश्र ने इस अवद्योत्य पद की व्याख्या में कहा है – ''नियमेन विषयीकृत्य''। यहाँ भाष्यकार का तात्पर्य पक्ष और प्रतिपक्ष के मुख्य अर्थ में ही है। भाष्यकार का अभिप्राय यह है कि वादी और प्रतिवादी को अपने-अपने पक्ष में निश्चय रहने पर भी उनके विप्रतिपत्ति वाक्य के आधार पर मध्यस्थगण को संशय उत्पन्न होता है, वह संशय पक्ष और प्रतिपक्ष रूप विरुद्ध दो धर्मविषयक होता है। अतः इनमें से किसी एक धर्म के निर्णय के बिना उनका वह संशय निवृत्त नहीं होता और वे किसी एक पक्ष का अनुमोदन नहीं कर पाते। अतः उस संशय की निवृत्तिहेतु वादी और प्रतिवादी अपने-अपने पक्ष का स्थापन करते हैं। यही ''न्याय की प्रवृत्ति'' कहलाती है। मध्यस्थगण का यह संशय इस न्याय की प्रवृत्ति का मूल होता है। इसी दृष्टि से इसको न्याय का प्रवर्त्तक या न्याय का पूर्वांग कहा जाता है। महर्षि ने सूत्र के आरम्भ में ''विमृश्य'' कहकर मध्यस्थगण के इस संशय का संकेत किया है। मध्यस्थ का संशय न्याय का पूर्वांग कहलाता है। अतः संशय पदार्थ के विशेष ज्ञान के लिए प्रथम सूत्र में संशय पदार्थ का उल्लेख हुआ है। इसके समर्थन हेतु भाष्यकार ने पहले (प्रथमसूत्र में) इस निर्णयसूत्र का उल्लेख किया है।

महर्षि ने पहले संशय के लक्षणसूत्र में विमर्श शब्द से विरुद्धधर्मविषयक ज्ञान को संशय कहा है। किन्तु केवल विरुद्धधर्मविषयक ज्ञान संशय नहीं होता। वह ''संशय'', ''समुच्चय'' तथा ''कालविकल्प'' नाम से तीन प्रकार का होता है – इसे समझाने के लिए भाष्यकार ने यहाँ कहा है – ''एतच्च'' इत्यादि। एक धर्मी में एक काल में विरुद्ध दो धर्मों का ज्ञान उत्पन्न होने पर संशय होता है। अनेक विरुद्ध धर्मों का ज्ञान भी भाष्यकार की दृष्टि में संशय कहलाता है। किन्तु किसी सामान्य धर्मी में धर्मी के भेद से प्रमाण सिद्ध दो विरुद्धधर्मविषयक ज्ञान संशय नहीं, समुच्चय कहलाता है[१६३]। भाष्यकार

[१६३] नव्यनैयायिक जगदीश तर्कालंकार ने भी इस प्रकार के समूहालम्बन ज्ञान को समुच्चय नाम से उल्लेख किया है। इनके मत में संशय[illegible] होती है और समुच्चयरूप →

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

ने इसका उदाहरण दिखाते हुए कहा है – ''यथा क्रियावद् द्रव्यमिति लक्षणवचने'' इत्यादि। भाष्यकार के इस कथन से ज्ञात होता है कि वे वैशेषिकदर्शन में कणाद के ''क्रियावत् समवायिकारण द्रव्यलक्षणम्'' (१.१.१५) इस सूत्र के अनुसार ''क्रियावद् द्रव्यम्'' द्रव्य के इस लक्षणवाक्य को लेकर कहा है कि जिस द्रव्य का क्रियावत्त्व प्रमाण सिद्ध है वह सक्रिय होता है और जिस द्रव्य का क्रियावत्त्व प्रमाण से सिद्ध नहीं है वह निष्क्रिय होता है।

वस्तुतः कणाद के मत में गगन आदि विभुद्रव्य का क्रियावत्त्व प्रमाण से सिद्ध नहीं होने से वह निष्क्रिय कहलाता है। अतः वे द्रव्य मात्र को क्रियाविशिष्ट नहीं मानते, किन्तु द्रव्य से भिन्न किसी पदार्थ में क्रिया नहीं होती और गगन आदि विभुद्रव्य निष्क्रिय रहकर भी द्रव्यत्व रूप से सक्रिय द्रव्य का सजातीय होता है – यही महर्षि कणाद का तात्पर्य ज्ञात होता है। सारांश यह हुआ कि ''द्रव्यं सक्रियं निष्क्रियञ्च'' इस प्रकार सामान्यतः द्रव्य रूप धर्मी में सक्रियत्व और निष्क्रियत्व विषयक जो ज्ञान होता है वह संशय नहीं है। क्योंकि उस एक ही द्रव्य में सक्रियत्व एवं निष्क्रियत्व विषयक ज्ञान नहीं होता। इस प्रकार के ज्ञान को समुच्चय कहते हैं। किन्तु एक द्रव्य में विभिन्न कालिक दो विरुद्धधर्मविषयक ज्ञान भी संशय नहीं होते। वह समुच्चय भी नहीं होते हैं। भाष्यकार ने उदाहरण देते हुए कहा है – किसी एक द्रव्य में जिस काल में क्रिया की उत्पत्ति होती है तब उस काल में वह सक्रिय रहता है और जिस काल में उसमें क्रिया की उत्पत्ति नहीं होती अथवा क्रिया विनष्ट हो जाती है तो वह निष्क्रिय हो जाता है – यह सर्वसम्मत है। अतः एक ही द्रव्य कदाचित् सक्रिय और कदाचित् निष्क्रिय होता है – इस प्रकार का ज्ञान संशय या समुच्चय नहीं होता किन्तु चूंकि वह कालभेद को विषय करता है अतः उसे कालविकल्प कहते हैं। इस प्रकार के समुच्चय और कालविकल्प के विषयीभूत दो धर्म पक्ष और प्रतिपक्ष में नहीं होते – भाष्यकार का मूल कथन यही है।

प्रश्न होता है कि सभी प्रमाणों से जब अर्थ विशेष का अवधारण रूप निर्णय होता है तब महर्षि ने निर्णय के लक्षणसूत्र में विमृश्य पद का निवेश क्यों किया? क्या निर्णय मात्र

→ ज्ञान की विशेष्यता भिन्न होती है। इन्होंने कहा है – संशयविशेष्यतामात्रस्यैव प्रकारताद्वयनिरूपितत्वादेवञ्च निर्वह्निर्वह्निमाश्च पर्वत इत्यादि समुच्चयस्यापि साध्यनिश्चयत्वसम्भवात् तत्सत्त्वेऽपि न वह्न्यनुमितिः, समुच्चयस्थले प्रकारताद्वयनिरूपित विशेष्यताद्वयोपगमात् इत्यादि – पक्षता के विचार में जागदीशी (द्रष्टव्य इसकी संशयसूत्र की व्याख्या)। किन्तु गदाधर भट्टाचार्य के मत में संशयात्मक ज्ञान में भी भिन्न-भिन्न विशेष्यता होती है और वह विशेषविषयक भी होता है। इस विषय में अधिक विचार प्रामाण्यवाद गादाधरी (पृ. १३४-४०) में द्रष्टव्य है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

संशय होने के पश्चात् ही होता है? अतः भाष्यकार ने अन्त में कहा है कि सभी निर्णय संशयपूर्वक नहीं होते। प्रत्यक्ष के स्थल में अर्थ का अवधारण ही निर्णय होता है। तात्पर्य यह है कि सूत्रोक्त केवल अर्थावधारण पद ही निर्णय का सामान्यलक्षण है किन्तु मध्यस्थगण संशय के पश्चात् उनकी परीक्षा के विषय में जो निर्णय करते हैं, वही सोलह पदार्थ के अन्तर्गत निर्णय पदार्थ है। अतः महर्षि ने इस सूत्र के द्वारा उक्त निर्णय का लक्षण कहा है। केवल तत्त्वनिर्णय के लिए जो जिगीषारहित गुरु तथा शिष्य के मध्य वादकथा होती है उसमें मध्यस्थ की आवश्यकता नहीं होती। उससे जो निर्णय किया जाता है उसमें मध्यस्थ का संशय पहले से नहीं रहता। इस प्रकार वेद आदि शास्त्र के द्वारा एवं किसी शास्त्रकार के द्वारा अपने पक्ष का स्थापन एवं परपक्ष का खण्डन करके जो निर्णय होता है, वह भी संशयपूर्वक नहीं होता। इसी को ध्यान में रखकर भाष्यकार ने कहा है – ''वादे शास्त्रे च विमर्शवर्जम्''[१६४]। वादकथा तथा शास्त्र में पक्ष और प्रतिपक्ष से जो अर्थ का अवधारण होता है उसमें संशय आवश्यक नहीं है। अतः सूत्र में ''विमृश्य'' पद का त्याग करके उसका लक्षण मानना चाहिए। किन्तु मध्यस्थगण के लिए संशयपूर्वक उपर्युक्त निर्णय पदार्थ ही यहाँ महर्षि गौतम का लक्ष्य प्रतीत होता है। अतः उन्होंने कहा है – ''विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः'' ।१.१.४१।

(न्यायोत्तराङ्ग प्रकरण समाप्त)

प्रथम आह्निक समाप्त

◈◈◈

---

१६४ वाचस्पति मिश्र ने इस कथन की व्याख्या में कहा है कि शास्त्र के द्वारा ज्योतिष्टोम आदि यागों के स्वर्ग आदि के साधनत्व का निर्णय होता है – इसमें किसी का संशयपूर्वकत्व नहीं रहता। एवं वादी तथा प्रतिवादी की कथा (वाद, जल्प और वितण्डा) में उनके अपने-अपने सिद्धान्त का पहले से निश्चय रहता है। संशय यहाँ भी पहले से नहीं रहता। किन्तु भाष्यकार ने यहाँ (निर्णयसूत्र में) तीनों प्रकार की कथा का ग्रहण वाद पद से किया है – यह हम लोगों की समझ में नहीं आता। वादी तथा प्रतिवादी को अपने-अपने सिद्धान्त में संशय नहीं रहता – यह कहना भी आवश्यक प्रतीत नहीं होता क्योंकि मध्यस्थगण का संशय और निर्णय यहाँ (सूत्र में) कहा गया है। तीन प्रकार की कथाओं में प्रथम वादकथा में मध्यस्थ आवश्यक नहीं होता। वृत्तिकार विश्वनाथ ने यहाँ कहा है – ''विमृश्येत्यादिकं जल्पवितण्डास्थलीयनिर्णयमधिकृत्य, तदुक्तं भाष्ये'' – ''शास्त्रे वादे च विमर्शवर्जमिति''। तात्पर्यटीका में देखा जाता है – ''वादे शास्त्रे चेति''।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

प्रथम अध्याय – द्वितीय आह्निक

कथा प्रकरण

भाष्य – **तिस्रः कथाः भवन्ति वादो जल्पो वितण्डा चेति, तासाम् –**

अनुवाद – कथा तीन प्रकार की होती है – वाद, जल्प और वितण्डा। इनमें से –

सूत्र – प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः ।१.२.१।

अनुवाद – जिसमें प्रमाण तथा तर्क से साधन (स्वपक्ष का स्थापन) और उपालम्भ (परपक्ष का खण्डन) होता है, ऐसा सिद्धान्त अविरोधी पाँच अवयवों से युक्त पक्ष और प्रतिपक्ष का परिग्रहरूप वाक्यसमूह ''वाद'' कहलाता है।

टिप्पणी – महर्षि ने प्रथम आह्निक के अन्तिम सूत्र में न्याय के उत्तरांग नामक निर्णय पदार्थ का लक्षण कहकर क्रम प्राप्त द्वितीय आह्निक के प्रथम सूत्र में वाद नामक पदार्थ का लक्षण किया है। पश्चात् अग्रिम दो सूत्रों में महर्षि ने जल्प और वितण्डा नामक पदार्थ का लक्षण कहा है। एक सूत्र में एक प्रकरण पूरा नहीं होता। अतः तीन सूत्रों में एक प्रकरण समझना चाहिए। इसका नाम है – कथा प्रकरण। भाष्यकार ने इसे व्यक्त करने के लिए पहले कहा है – ''तिस्रः कथाः भवन्ति वादो जल्पो वितण्डा चेति''। वाद, जल्प तथा वितण्डा नाम से कथा के तीन प्रकार कथात्व के रूप में एक ही हैं। अतः महर्षि ने इन तीन सूत्रों में एक प्रकरण के द्वारा इस कथा का निरूपण किया है।

तात्पर्यटीकाकार ने कहा है कि जब ''बृहत् कथा'' आदि भी कथा कहलाती है तब कथा का त्रैविध्य नहीं कहा जा सकता। अतः वार्त्तिककार उद्योतकर ने यहाँ पहले कहा है कि कथा तीन प्रकार की होती है – ऐसा कोई नियम भाष्यकार को विवक्षित नहीं है किन्तु विचार की वस्तु का नियम यहाँ विवक्षित है। जो वस्तु विचारित होगी उसका उक्त तीन प्रकार से विचार होगा। पश्चात् इन्होंने कहा है – ''तत्र विचारो वादो जल्पो वितण्डेति''। अतः वाद, जल्प और वितण्डा विचार नाम से कही जाती है। क्योंकि कथा

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

शब्द का प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थ में भी होता है। यहाँ भाष्यकार की उक्त कथा शब्द पारिभाषिक है। स्वयं महर्षि गौतम ने पञ्चम अध्याय के द्वितीय आह्निक (सूत्र १९ से २३) में इस पारिभाषिक कथा शब्द का प्रयोग किया है। वाल्मीकि रामायण के अयोध्या काण्ड (२.४२) में भी ''न विगृह्य कथारुचिः'' इस वाक्य में इस पारिभाषिक कथा शब्द का प्रयोग हुआ है। वादी तथा प्रतिवादी के वाद, जल्प और वितण्डा नाम से परिचित तीन प्रकार की कथा ही यहाँ कथा शब्द से अभिप्रेत है। अतः कथा का त्रैविध्य यहाँ उपपन्न होता है। यहाँ इन तीनों कथाओं के सामान्यलक्षण का ज्ञान आवश्यक है। वाचस्पति मिश्र ने कहा है – ''नानावक्तृका विचारविषया वाक्यसन्दृब्धिः कथेति सामान्यलक्षणम्''। तार्किकरक्षाकार वरदराज ने कथा का लक्षण कहा है – ''विचारविषयो नानावक्तृको वाक्यविस्तरः'' विचारणीय विषय में नियमानुसार अनेक वक्ताओं के द्वारा कहा गया वाक्यसमूह कथा कहलाती है। एक ही वक्ता का अथवा किसी ग्रन्थकार का पूर्वपक्ष एवं उत्तरपक्ष का प्रतिपाद्यवाक्यसमूह कथा नहीं होती अतः ''नानावक्तृकः'' कहा गया है। इसी तात्पर्य से भाष्यकार ने प्रथमसूत्र के भाष्य में कहा है – ''वादः खलु नानाप्रवक्तृकः''। तत्त्व निर्णय या जय प्राप्ति के लिए वादी और प्रतिवादी की कथा होती है। इनमें से जिस किसी उद्देश्य के स्वरूप योग्य नहीं होने पर वह कथा नहीं कहलाती। अतः वृत्तिकार विश्वनाथ ने कहा है – ''तत्त्वनिर्णय-विजयान्तरस्वरूपयोग्यो न्यायानुगतवचनसन्दर्भः कथा''। लौकिक विवादस्थल में वादी तथा प्रतिवादी के इस प्रकार के वचन किसी एक की विजय प्राप्ति के लिए होते हैं। किन्तु इस प्रकार का लौकिक विवाद न्याय का अनुगत न होने से इसमें कथा का लक्षण नहीं घटता।

उपर्युक्त तीन कथाओं में से जल्प और वितण्डा में वादी तथा प्रतिवादी जयलाभरूप मुख्य उद्देश्य के रहने पर भी उन कथाओं से बहुत स्थलों में मध्यस्थगण द्वारा तत्त्वनिर्णय होता है। किन्तु प्रथमकथा ''वाद'' में केवल तत्त्व का निर्णय ही उद्देश्य होता है। क्योंकि विजय की इच्छा से रहित वादी और प्रतिवादी के बीच किसी तत्त्व के निर्णय के उद्देश्य से होने वाली कथा वाद कहलाती है। कहीं-कहीं जय के इच्छुक का विचार भी वाद कहलाता है। न्यायमञ्जरी के अन्त में जयन्त भट्ट ने कहा है – ''वादे येन किरीटिनेव समरे'' ''वादेष्वाप्तजयो जयन्त इति यः''। जैन नैयायिकों ने विजय के इच्छुक के विचार को वादविशेष कहा है। किन्तु महर्षि गौतम का वाद शब्द उपर्युक्त अर्थ में पारिभाषिक है। महाभारत में इस पारिभाषिक वाद शब्द का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार का वाद ही भगवान् के विभूति विशेष के रूप में गीता में उक्त है – ''वादः प्रवदतामहम्'' (गीता १०.३२)। भाष्यकार शंकर भगवत्पाद आदि ने भी इस वाद शब्द से गौतम महर्षि के पारिभाषिक वाद का ही ग्रहण किया है। अतः पूर्व के आचार्यों ने कहा है – ''गुर्वादिभिः

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection.

सह वादः'' । इस वाद को ''तत्त्वबुभुत्सुकथा'' तथा वीतराग कथा भी कहते हैं । किन्तु इस वाद कथा में भी वादी और प्रतिवादी के रूप में स्वपक्ष का स्थापन और परपक्ष का खण्डन करना होता है । अन्यथा तत्त्वनिर्णय रूप उद्देश्य सिद्ध ही नहीं होगा । आचार्य शंकर भगवत्पाद ने भी इसका समर्थन किया[१६५] है । अब यहाँ वाद के लक्षणसूत्र का अर्थ किया जाता है ।

भाष्य – **एकाधिकरणस्थौ विरुद्धौ धर्मौ पक्षप्रतिपक्षौ, प्रत्यनीकभावात्, अस्त्यात्मा नास्त्यात्मेति । नानाधिकरणस्थौ विरुद्धौ न पक्षप्रतिपक्षौ, यथा नित्य आत्मा अनित्या बुद्धिरिति । परिग्रहोऽभ्युपगमव्यवस्था । सोऽयं पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः । तस्य विशेषणं ''प्रमाणतर्कसाधनोपालंभः'' प्रमाण-तर्कसाधनः प्रमाणतर्कोपालंभः । प्रमाणैस्तर्केण च साधनमुपालंभश्चास्मिन् क्रियत इति । साधनं स्थापना उपालम्भः प्रतिषेधः । तौ साधनौपालम्भौ उभयोरपि पक्षयोर्व्यतिषक्तावनुबद्धौ, यावदेको निवृत्त एकतरो व्यवस्थित इति, निवृत्तस्योपालम्भो व्यवस्थितस्य साधनमिति ।**

जल्पे निग्रहस्थानविनियोगाद् वादे तत्प्रतिषेधः । प्रतिषेधे कस्यचिदभ्यनुज्ञानार्थं ''सिद्धान्ताविरुद्ध'' इति वचनम् । ''सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्ध'' इति हेत्वाभासस्य निग्रहस्थानस्याभ्यनुज्ञा वादे । ''पञ्चावयवोपपन्न'' इति ''हीनमन्यतमेनाप्यवयवेन न्यूनम्'' ''हेतूदाहरणाधिकमधिक'' मिति चैतयोरभ्यनु-ज्ञानार्थ मिति ।

अवयवेषु प्रमाणतर्कान्तर्भावे पृथक् प्रमाणतर्कग्रहणं साधनोपालंभव्यतिषज्ञापनार्थम्, अन्यथोभावपि स्थापनाहेतुना प्रवृत्तौ वाद इति स्यात् । अन्तरेणापि चावयवसम्बन्धप्रमाणान्यर्थं साधयन्तीति दृष्टम्, तेनापि कल्पेन साधनोपालम्भौ वादे भवत इति ज्ञापयति । ''छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्प'' इति वचनाद् विनिग्रहो जल्प इति मा विज्ञायि, छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालंभ एव जल्पः प्रमाणतर्कसाधनोपालंभो वाद एवेति मा विज्ञायीत्येवमर्थं पृथक् प्रमाणतर्कग्रहणमिति ।

---

[१६५] नुनु मुमुक्षूणां मोक्षसाधनत्वेन सम्यग्दर्शननिरूपणाय स्वपक्षस्थापनमेव केवलं कर्तुं युक्तं किं परपक्षनिराकरणेन परद्वेषकरेण? बाढमेवं तथापि महाजनपरिगृहीतानि महान्ति सांख्यादितन्त्राणि इत्यादि (शारीरक भाष्य २.२.१) तत्त्वनिर्णयावसाना वीतरागकथा, न च परपक्षदूषणमन्तरेण तत्त्वनिर्णयः शक्यः कर्तुमिति तत्त्वनिर्णयाय वीतरागेणापि परपक्षो दूष्यते न तु परपक्षतयेति, न वीतरागकथात्वव्याहतिरित्यर्थः (भामती)

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अनुवाद – एक अधिकरण में स्थित अर्थात् एक धर्मी में विद्यमान वादी तथा प्रतिवादी के द्वारा स्वीकृत विरुद्ध दो धर्मों का प्रत्यनीकभाव से अर्थात् परस्पर विरुद्ध रहने के कारण पक्ष और प्रतिपक्ष होते हैं। जैसे आत्मा की सत्ता मान्य है और आत्मा की सत्ता मान्य नहीं है यही आत्मा का अस्तित्व एवं नास्तित्व क्रमशः पक्ष प्रतिपक्ष कहलाते हैं। विभिन्न अधिकरणों में विद्यमान दो विरुद्ध धर्म पक्ष और प्रतिपक्ष नहीं होते जैसे आत्मा नित्य होती है और बुद्धि अनित्य। अर्थात् आत्मा में नित्यत्व और बुद्धि में अनित्यत्व पक्ष और प्रतिपक्ष नहीं होता। परिग्रह का अर्थ होता है स्वीकार की व्यवस्था (नियम) अर्थात् यह पदार्थ इस प्रकार का है अन्य प्रकार का नहीं – इस प्रकार का स्वीकार ही परिग्रह पद से अभिप्रेत है। इस ''पक्ष और प्रतिपक्ष का परिग्रह'' अर्थात् जिसमें उपर्युक्त पक्ष और प्रतिपक्ष का उक्त रूप स्वीकार होता है ऐसा वाक्यसमूह ''वाद'' कहलाता है। इस वाद का विशेषण होता है सूत्रगत ''प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भ और इसकी व्याख्या होती है प्रमाण तर्क साधन और प्रमाण तर्क उपालम्भ''। प्रमाण तथा तर्क के द्वारा वाद में साधन और उपालम्भ किया जाता है। साधन से अपने पक्ष का स्थापन और उपालम्भ से परपक्ष का निराकरण अभिप्रेत है। ये साधन और उपालम्भ दोनों ही पक्षों में व्यतिषक्त हैं अर्थात् परस्पर सम्बन्धयुक्त एवं अनुबन्धयुक्त हैं। जब तक एक पक्ष निवृत्त नहीं हो जाता तब दूसरा पक्ष व्यवस्थित नहीं होता। निवृत्त पक्ष का उपालम्भ होता है और व्यवस्थित पक्ष का साधन।

चूँकि जल्प में निग्रहस्थानों का समावेश रहता है, अतः वाद में उसका निषेध ज्ञात होता है। निषेध रहने पर किसी निग्रहस्थान का प्रयोग किया जा सकता है – इस अभ्यनुज्ञाहेतु ''सिद्धान्ताविरुद्धः'' पद कहा गया है। अभिप्राय यह है कि ''सिद्धान्त-मभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः'' इस सूत्र के अनुसार वाद कथा में हेत्वाभास रूप निग्रहस्थान का प्रयोग किया जा सकता है – ऐसी अनुज्ञा होती है। ''हीनमन्यतमेनाप्यवयवेन न्यूनम्'' तथा ''हेतूदाहरणाधिकमधिकम्'' (५.२.१२.१३) सूत्रोक्त ''न्यून'' और ''अधिक'' नामक निग्रहस्थान की अभ्यनुज्ञा हेतु ''पञ्चावयवोपपन्नः'' पद कहा गया है। (इस सूत्र में उपर्युक्त उन दोनों पदों से सूचित होता है कि वाद कथा में भी हेत्वाभास आदि कुछ निग्रहस्थानों का उद्भावन किया जाना चाहिए।)

अवयव समूह में प्रमाण और तर्क का अन्तर्भाव रहने पर ''पञ्चावयवोपपन्नः'' पद से प्रमाण और तर्क का लाभ हो ही जाता है लेकिन पुनः प्रमाण और तर्क का यहाँ पृथक् रूप से उल्लेख साधन और उपालम्भ के व्यतिषंग के उभय पक्ष में उनके सम्बन्ध के ज्ञापन हेतु किया गया है। अन्यथा स्थापना के हेतु से प्रवृत्त दोनों पक्ष वाद हो जाएंगे

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अर्थात् वादी और प्रतिवादी केवल अपना-अपना पक्ष यदि स्थापित करेंगे तो वह वाद नहीं होगा – इसे समझाने के लिए ही प्रमाण और तर्क का अलग से उल्लेख हुआ है। उसका यह अतिरिक्त पहला फल है। अपि च यह देखा गया है कि अवयव के सम्बन्ध के बिना भी अर्थात् पञ्चावयव का प्रयोग नहीं करने पर भी प्रमाण-समूह पदार्थ को सिद्ध करता है। इस कथा में साधन और उपालम्भ होता है – इसे समझाने के लिए सूत्र में प्रमाण और तर्क का पृथक् उल्लेख हुआ है। अतः इस द्वितीय कल्प का भी ज्ञापक प्रमाण तर्क पद से सूचित होता है। (परवर्ती सूत्र) ''छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालंभो जल्पः'' में ऐसी उक्ति के कारण जल्प का विनिग्रह अर्थात् वाद स्थल में निग्रहस्थान की शून्यता ज्ञात नहीं हो सकती।[१६६] (विशदार्थ) छल, जाति और निग्रहस्थान से जिसमें साधन और उपालम्भ होता है वह ''जल्प'' पदार्थ है और प्रमाण तथा तर्क से जिसमें साधन और उपालम्भ होता है वह ''वाद'' पदार्थ है – यह ज्ञान नहीं हो सकेगा। इसलिए प्रमाण और तर्क का पृथक् उल्लेख हुआ है। (यह इसका तीसरा फल हुआ)।

टिप्पणी – भाष्यकार ने सूत्र के अर्थ की व्याख्या करते हुए सूत्र में उक्त पक्ष, प्रतिपक्ष और परिग्रह शब्द के अर्थ की व्याख्या करके कहा है ''सोऽयं पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः''। वादी और प्रतिवादी के पक्ष और प्रतिपक्ष का स्वीकार रूप परिग्रह को वाक्यात्मक वाद नहीं कहा जा सकता। अतः पक्ष और प्रतिपक्ष का परिग्रह जहाँ होता है – ''पक्ष प्रतिपक्षयोः परिग्रहो यत्र'' इस विग्रहवाक्य के अनुसार उस पद में बहुव्रीहि समास समझना चाहिए। एक अधिकरण में वादी और प्रतिवादी के द्वारा स्वीकृत अर्थात् विवाद के विषय दो विरुद्ध धर्मों के विचार का प्रयोजक होने से उनको यथाक्रम पक्ष और प्रतिपक्ष कहा जाता है। जो वादी का पक्ष होता है वही प्रतिवादी का प्रतिपक्ष होता है एवं जो प्रतिवादी का पक्ष होता है वही वादी का प्रतिपक्ष होता है। जैसे आत्मा में अस्तित्व और नास्तित्व एवं

---

[१६६] यहाँ वाचस्पति मिश्र द्वारा स्वीकृत पाठ और व्याख्या ली गई है। किन्तु भाष्य में ''विनिग्रहो वाद इति मा विज्ञायि'' इस पाठ को ही उचित माना है। जल्प में निग्रहस्थान का विनियोग होता है तथा वाद को विनिग्रह (निग्रहस्थान से रहित) कहा गया है। अर्थात् वाद में कोई निग्रहस्थान नहीं होता ऐसा समझना नहीं चाहिए। यही भाष्यकार का यहाँ अभिप्राय है। भाष्यकार की अन्त में उक्त व्याख्या से भी सरल रूप से यही ज्ञात होता है। विनिग्रह पद से वादगत निग्रहशून्यता रूप अर्थ समझ में नहीं आता। किन्तु भाष्यकार का यदि यही वक्तव्य होगा तो विनिग्रह पद का प्रयोग क्यों किया। वाचस्पति मिश्र ने ''विनिग्रहो जल्पः'' इस पाठ को लेकर व्याख्या की है – ''वादगतनिग्रहस्थानरहितो मा विज्ञायि इत्यर्थः। वादगतो निग्रहो न जल्पे, जल्पगतश्च निग्रहो न वादे इति मा विज्ञायि। इष्यते हि वादगतो निग्रहो जल्पे इत्यादि'' – तात्पर्यटीका

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

नित्यत्व और अनित्यत्व आदि परस्पर विरुद्ध दो धर्म प्रमाण द्वारा उपपन्न नहीं होते, इसलिए विचार का प्रयोग होने से ये पक्ष और प्रतिपक्ष होते हैं। किन्तु भिन्न-भिन्न आधार में उपर्युक्त विरुद्ध दो धर्म प्रमाण से उपपन्न होने पर भी पक्ष और प्रतिपक्ष नहीं होते। जैसे आत्मा के नित्य होने पर भी उसकी बुद्धि या ज्ञान का अनित्य होना प्रमाण से सिद्ध है। अतः आत्मा में नित्यत्व और बुद्धि में अनित्यत्व पक्ष और प्रतिपक्ष नहीं होते हैं। इसी प्रकार एक अधिकरण में काल के भेद से विरुद्ध दो धर्मों के प्रमाण से सिद्ध होने पर भी वे पक्ष और प्रतिपक्ष नहीं होते। इसी प्रकार किसी एक धर्म के निर्णीत रहने पर दो विरुद्ध धर्म पक्ष और प्रतिपक्ष नहीं होते। अतः उद्योतकर ने कहा है – "एककालौ अनवसितौ"। अनवसित का अर्थ होता है अनिर्णीत। आगे के सप्तम सूत्र के भाष्य में यह अधिक स्पष्ट होगा।

भाष्यकार ने परिग्रह पद का अर्थ कहा है – अभ्युपगम व्यवस्था। अभ्युपगम का अर्थ होता है स्वीकार और व्यवस्था का नियम – यही है अभ्युपगम व्यवस्था। उद्योतकर ने इसको स्पष्ट करते हुए कहा है – "तयोः परिग्रहः इत्थंभावनियमः, एवंधर्मायं धर्मी नैवं धर्मेति।" तात्पर्य – यह है कि यह धर्मी इस प्रकार के धर्म से विशिष्ट है और अन्य प्रकार के धर्म से नहीं – इस तरह धर्म से धर्मी का स्वीकार ही पक्ष और प्रतिपक्ष का परिग्रह कहलाता है। जैसे किसी वादी ने कहा कि आत्मा नित्यत्व रूप धर्म विशिष्ट होता है और अनित्यत्व रूप धर्म विशिष्ट नहीं – इस पक्ष को स्वीकार करने पर प्रतिपक्षी नियमपूर्वक इसके विपरीत पक्ष रूप प्रतिपक्ष स्वीकार करता है – यही है दोनों के पक्ष और प्रतिपक्ष का परिग्रह।

किन्तु जिस कथा में इस प्रकार का पक्ष और प्रतिपक्ष का स्वीकार रहता है वह वाद कहलाता है – इतना कहने पर जल्प और वितण्डा में लक्षण के घटने पर इस लक्षण में अतिव्याप्ति दोष होगा। अतः महर्षि ने इसमें विशेषण पद दिया है – "प्रमाणतर्क साधनोपालंभः"। "प्रमाणतर्काभ्यां साधनोपालंभौ यत्र" इस विग्रहवाक्य के अनुसार – इस पद से ज्ञात होता है कि जहाँ प्रमाण और तर्क से स्वपक्ष का स्थापन एवं परपक्ष का खण्डन होता है। तात्पर्य यह है कि जल्प और वितण्डा में छल, जाति और सभी निग्रहस्थानों से साधन और उपालम्भ होता है किन्तु "वाद" में वैसा नहीं होता। वाद में केवल प्रमाण और तर्क से साधन और उपालम्भ किया जाता है। अतः प्रथमोक्त "प्रमाणतर्कसाधनोपालंभः" विशेषण से सूचित होता है कि उक्त छल आदि से (वाद), यह साधन एवं उपालम्भ का योग नहीं होता। अतः इस विशेषण से जल्प और वितण्डा में वाद लक्षण की अतिव्याप्ति का निराकरण होता है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

प्रश्न यह है कि महर्षि के मत में तर्क पदार्थ जब प्रमाण नहीं है तब तर्क से साधन और उपालम्भ कैसे होगा? इसके उत्तर में उद्योतकर ने कहा है कि तर्क स्वयं प्रमाण न होकर भी प्रमाण का अनुग्राहक होता है। चूँकि तर्क की सहायता से प्रमाण अपने विषय के तत्त्व का निर्णय करता है अतः सूत्र में प्रमाण के साथ तर्क कहा गया है। तर्कसूत्र के भाष्य के अन्त में भाष्यकार ने इसी तात्पर्य से कहा है – "प्रमाणाभ्यनुज्ञानात् प्रमाणसहितो वादेऽपदिष्ट इति"।

सूत्रगत साधन और उपालम्भ शब्द के अर्थ के विषय में उद्योतकर ने बहुत विचार किया है और अपने मत का प्रकाश करते हुए कहा है कि स्वपक्षस्थापन रूप साधन का वस्तुतः उपालम्भ (खण्डन) नहीं होता क्योंकि प्रमाण और तर्क से वादी के वाक्यरूप साधन का खण्डन नहीं हो सकता। किन्तु उस वाक्य के वक्ता पुरुष का निग्रहरूप उपालम्भ होता है। अतः पुरुष के धर्म निग्रहात्मक उपालम्भ उसके वाक्य द्वारा उद्भावित होने से उस वाक्य में उस उपालम्भ का उपचार या परम्परा सम्बन्ध से वाक्यरूप साधन का उपालम्भ कहा जाता है। किन्तु केवल उपालम्भ शब्द से साधन का उपालम्भ कैसे ज्ञात हो सकता है? इसके उत्तर में उद्योतकर ने कहा है – "प्रमाणतर्कसाधनश्च प्रमाणतर्क-साधनोपालंभश्च प्रमाणतर्कसाधनोपालंभः, एकस्य साधनशब्दस्य गम्यमानार्थत्वाल्लोपः यथा उष्ट्रमुखीति"। सूत्रोक्त साधन शब्द के वाद कथित उपालम्भ शब्द से प्रथमोक्त साधन का उपालम्भ ही ज्ञात होता है। अतः जैसे उष्ट्रमुखी पद में एक मुख शब्द का लोप ज्ञात होता है उसी प्रकार यहाँ सूत्रोक्त प्रथम साधन पद का लोप या अप्रयोग समझना चाहिए।

किन्तु भाष्यकार ने ऐसी व्याख्या नहीं की है। इन्होंने कहा है – "साधनं स्थापना, उपालम्भः प्रतिषेधः"। अपने पक्ष का स्थापन सूत्र में साधन पद का अर्थ किया गया है। प्रतिपक्ष का प्रतिषेध या खण्डन है उपालम्भ पद का अर्थ। भाष्यकार की व्याख्या में – "प्रमाणतर्काभ्यां साधनोपालंभौ यत्र" इस विग्रहवाक्य के अनुसार जिसमें प्रमाण और तर्क से साधन होता है तथा इन्हीं प्रमाण और तर्क से उपालम्भ होता है, ऐसा अर्थ ही प्रथम पद से ज्ञात होता है।[१६७] अतः उक्त पद में एक साधन शब्द का लोप मानना

---

१६७ अनेक प्राचीन भाष्य पुस्तकों में इस सूत्र के भाष्य में "प्रमाणतर्कसाधनः प्रमाणतर्कोपालंभः" इस प्रकार का पाठ मिलता है। इस पाठ से स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्रमाण तथा तर्क से जिसका साधन और उपालम्भ हो – यही भाष्यकार को अभिप्रेत है। इसके अव्यवहित पश्चात् भाष्यकार की व्याख्या से भी यही ज्ञात होता है। अतः भाष्य में यहाँ वैसा पाठ लिया गया है। सुधीवृन्द इस विषय में विचार करें।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

आवश्यक प्रतीत नहीं होता। निश्चय ही परस्पर विरुद्ध दो पक्षों में प्रकृत प्रमाण और प्रकृत तर्क सम्भव नहीं है। किसी एक पक्ष में प्रमाणाभास तथा तर्काभास अवश्य रहेगा। किन्तु उस पक्ष का वक्ता उसको प्रकृत प्रमाण तथा प्रकृत तर्क रूप में लेकर उससे साधन और उपालम्भ करता है। इसी तात्पर्य से महर्षि ने दोनों पक्षों में "प्रमाणतर्कसाधनोपालंभ" कहा है। सूत्रोक्त इन प्रमाण और तर्क का व्यतिषक्त तथा अनुबन्धविशिष्ट होना आवश्यक है। भाष्यकार ने कहा है कि इन दोनों का अनुबन्ध क्या है? इसको समझाने के लिए कहा गया है – "यावदेको निवृत्त एकतरो व्यवस्थित" इत्यादि। दोनों पक्षों में साधन और उपालम्भ दोनों ही आवश्यक हैं जब तक किसी एक पक्ष की निवृत्ति नहीं होती तब तक साधन और उपालम्भ करना होगा। अन्यथा इस "वाद" से तत्त्व का निर्णय सम्भव नहीं है। (इसके लिए पृ. ३९१-९२ निर्णयसूत्र की व्याख्या द्रष्टव्य है)।

भाष्यकार ने यह भी कहा है कि जल्प में निग्रहस्थान का विधान होने से विशेष विधान के कारण "वाद" में निग्रहस्थान का निषेध ज्ञात होता है। किन्तु उसके निषेध रहने पर भी "वाद" में किसी निग्रहस्थान के विधान हेतु सूत्र में महर्षि ने "सिद्धान्ताविरुद्धः" कहा है। इससे सूचित होता है वाद में हेत्वाभास नामक निग्रहस्थान का उद्भावन किया जा सकता है। पश्चात् "पञ्चावयवोपपन्नः" पद से सूचित होता है कि "वाद" में न्यून एवं अधिक नामक निग्रहस्थान का प्रयोग किया जा सकता है। भाष्यकार ने महर्षि द्वारा उक्त न्यून तथा अधिक निग्रहस्थान का लक्षणसूत्रों का उल्लेख करके इसका स्पष्ट प्रतिपादन किया है। इन दोनों सूत्रों का अर्थ यह है कि वादी और प्रतिवादी अपने-अपने पक्ष के स्थापन में यदि किसी एक अवयव का प्रयोग नहीं करते हैं तो न्यून नामक निग्रहस्थान होता है और यदि हेतु या उदाहरणवाक्य का एक से अधिक प्रयोग करते हैं तो अधिक नामक निग्रहस्थान होता है।

किन्तु उद्योतकर ने भाष्यकार के कथन का प्रतिवाद करते हुए कहा है कि "पञ्चावयवोपपन्नः" पद से ज्ञात होता है कि "वाद" में हेत्वाभासरूप निग्रहस्थान का उद्भावन करना है। क्योंकि वादी या प्रतिवादी के द्वारा अपने-अपने पक्ष के स्थापन में किसी हेत्वाभास का प्रयोग करने पर सभी अवयव न होकर अवयवाभास हो जाएगा। अतः यहाँ अवयव शब्द के प्रयोग से ज्ञात होता है कि वाद में हेत्वाभास रूप निग्रहस्थान का उद्भावन किया जा सकता है। वादी होकर गुरु भी यदि भ्रम से किसी हेत्वाभास का प्रयोग करता है तो प्रतिवादी शिष्य उसका उल्लेख अवश्य कर सकता है। अन्यथा वादकथा का उद्देश्य ही सिद्ध नहीं होगा। अब प्रश्न होता है कि तब यहाँ "सिद्धान्ताविरुद्धः" पद का प्रयोजन क्या है? इसके उत्तर में उद्योतकर ने कहा है कि

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

''अपसिद्धान्त'' नामक निग्रहस्थान का उद्‌भावन वाद में भी किया जा सकता है। इसकी सूचना महर्षि ने ''सिद्धान्ताविरुद्ध'' पद से दी है। वादकथा भी सिद्धान्त का अविरुद्ध होगा। इसमें किसी अपसिद्धान्त का कथन नहीं होगा। वस्तुतः इस पद से सरल रूप में यही अर्थ ज्ञात होता है।

किन्तु भाष्यकार के पक्ष में वक्तव्य यह है कि अपसिद्धान्त नामक निग्रहस्थान का उद्‌भावन वादकथा में करना है – यह समान युक्ति के आधार पर भाष्यकार को भी अभिमत है। भाष्यकार ने इसका निषेध नहीं किया है अपितु ''कस्यचित्'' पद से सामान्यतः इसका ग्रहण किया है – यही ज्ञात होता है। अन्यथा पहले ''कस्यचिदभ्य-नुज्ञानार्थम्।'' कहना अनावश्यक हो सकेगा। इन्होंने ''सिद्धान्ताविरुद्धः'' पद का गूढ़ प्रयोजन व्यक्त करने के लिए वैसी व्याख्या की है। क्योंकि वादमात्र पञ्चावयवयुक्त ही नहीं होता। पाँच अवयवों से रहित भी वाद होता है। अतः ''वाद'' के लक्षण में ''पञ्चावयव'' विशेषण के नहीं देने पर उस ''वाद'' में हेत्वाभास रूप निग्रहस्थान का प्रयोग कर्त्तव्य है – यह उस पद से व्याख्या नहीं की जा सकती किन्तु प्रत्येक वाद सिद्धान्त का अविरुद्ध होता है। अतः भाष्यकार ने ''सिद्धान्ताविरुद्ध'' पद से उक्त रूप व्याख्या की है। उस पद से यह कैसे ज्ञात होता है? इसे समझाने के लिए भाष्यकार ने महर्षि के द्वारा पश्चात् उक्त विरुद्ध हेत्वाभास का लक्षणसूत्र उद्धृत किया है। उद्योतकर ने भी इस सूत्र की व्याख्या में सभी हेत्वाभासों को विरुद्ध कहा है। अतः इस दृष्टि से भाष्यकार की उपर्युक्त व्याख्या संगत हो सकती है। आगे यह अधिक स्पष्ट होगा।

वृत्तिकार विश्वनाथ ने कहा है कि न्यून तथा अधिक निग्रहस्थान के होने पर भी उससे किसी हेतु में दोष नहीं होता, अतः तत्त्वनिर्णय असम्भव नहीं है। इसलिए उन दोनों निग्रहस्थानों का उद्‌भावन वादकथा में उचित नहीं है। अतः भाष्यकार ने वाद कथा में पाँच अवयवों का प्रयोग आवश्यक नहीं माना। किन्तु उद्योतकर ने कहा है कि प्रतिज्ञा आदि अवयव प्रमाण नहीं होने पर भी प्रमाणमूलकता के कारण प्रमाण सदृश होते हैं। अतः किसी अवयव की न्यूनता या आधिक्य प्रमाण के भ्रम के कारण होती है। अतः वाद कथा में न्यून या अधिक नामक निग्रहस्थान का प्रयोग किया जा सकता है। क्योंकि प्रमाण के दोष का ज्ञान होने पर उसका उद्घाटन अवश्य करना चाहिए अन्यथा तत्त्व का निर्णय नहीं हो सकेगा। वस्तुतः यह प्राचीन मत है कि वादकथा में न्यून और अधिक निग्रहस्थान उद्‌भावन कर्त्तव्य है। इसलिए भाष्यकार ने यहाँ उसको कहा है। किन्तु पाँच अवयवों से युक्त इस ''वाद'' कथा में उक्त दोनों ही निग्रहस्थानों का उद्‌भावन सम्भव है। इसलिए भाष्यकार ने यहाँ ऐसी बात कही है

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

सूत्र में यद्यपि ''पञ्चावयवोपपन्न:'' पद से ज्ञात होता है कि वाद में प्रमाण और तर्क से साधन और उपालम्भ होता है। क्योंकि पञ्चावयव का प्रयोग करने पर उसके मूल में विद्यमान प्रमाण का ग्रहण अवश्य होगा और उस प्रमाण का अनुग्राहक तर्क भी आवश्यक होगा। प्रमाण और तर्क के बिना पाँच अवयवों से युक्त वाद सम्भव ही नहीं है। तथापि महर्षि ने सूत्र में साक्षात् प्रमाण और तर्क का पहले ही पृथक् रूप से उल्लेख क्यों किया। इस प्रश्न के समाधान में भाष्यकार ने इसके तीन प्रयोजनों को कहा है। प्रमाण तथा तर्क का पहले पृथक् उल्लेख नहीं रहने पर यह नहीं समझा जा सकता कि वाद में प्रमाण और तर्क से साधन एवं उपालम्भ होता है। तब जल्प और वितण्डा से वाद का विशेष ज्ञान नहीं हो सकता। अत: जल्प और वितण्डा में वादलक्षण की अतिव्याप्ति का कारण इसका पहला प्रयोजन होता है, जो पहले कहा जा चुका है। तथापि भाष्यकार ने गौण रूप से इसका अन्य प्रयोजन भी कहा है – ''अवयवेषु प्रमाणतर्कांतर्भावे पृथक् प्रमाणतर्कग्रहणम्'' इत्यादि (वाचस्पति मिश्र ने व्याख्या की है – ''पूर्वस्मिन् प्रयोजने स्थिते भाष्यकार: प्रयोजनान्तरमन्वाचिनोति अवयवेष्विति'')। भाष्यकार ने पहला प्रयोजन कहा है साधन और उपालम्भ के व्यतिषंग का ज्ञापन। व्यतिषंग का अर्थ होता है दोनों पक्षों के साथ सम्बन्ध। वादी जैसे प्रमाण और तर्क से अपने अभिमत पक्ष का साधन एवं परपक्ष का खण्डन करता है, उसी प्रकार प्रतिवादी भी अपने अभिमत पक्ष का साधन एवं परपक्ष का खण्डन प्रमाण और तर्क से करता है। अन्यथा वादी तथा प्रतिवादी यथाक्रम केवल अपने-अपने पक्ष का स्थापन करेगा तो ''वाद'' नहीं कहलाएगा। अत: इस प्रकार व्यतिषंग से सम्पन्न साधन और उपालम्भ इस सूत्र में महर्षि को विवक्षित है, जो प्रमाण और तर्क के पृथक् उल्लेख से सूचित होता है।

भाष्यकार ने इसका दूसरा प्रयोजन कहा है कि पञ्चावयव के प्रयोग के बिना भी प्रमाण से तत्त्व का निर्णय हो सकता है। अत: केवल तत्त्व निर्णय के लिए जो वाद होगा वह पञ्चावयव के प्रयोग के बिना भी हो सकता है। पञ्चावयव के प्रयोग के बिना भी वाद-कथा में प्रमाण और तर्क से साधन और उपालम्भ हो सकता है। इसलिए भाष्यकार ने कहा है – ''तेनापि कल्पेन साधनोपालंभौ वादे भवत: इति ज्ञापयति''। अर्थात् इस सूत्र में पहले प्रमाणतर्कसाधनोपालंभ: पद का उल्लेख इस द्वितीय कल्प का ज्ञापक होता है। वाचस्पति मिश्र ने व्याख्या की है – ''वाद: पञ्चावयवोपपन्न इत्येक: कल्प: प्रमाणतर्कसाधनोपलम्भ इति द्वितीय इत्यर्थ:''।

भाष्यकार ने तृतीय प्रयोजन कहा है कि महर्षि ने जल्प के लक्षण सूत्र में ''छल जातिनिग्रहस्थानसाधनोपालंभ'' कहकर समझाया है कि छल, जाति और निग्रहस्थान

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

से जहाँ साधन और उपालम्भ होता है वह जल्प कहलाता है और प्रमाण तथा तर्क से
जहाँ साधन और उपालम्भ होता है वह वाद कहलाता है, वहाँ जल्प नहीं होता। अतः इस
भ्रम के निवारण हेतु इस सूत्र में प्रमाण तथा तर्क का पृथक् उल्लेख हुआ है। क्योंकि ऐसा
मानने पर जल्प के लक्षणसूत्र में यथोक्त शब्द से वादसूत्रोक्त प्रथम विशेषण के लेने पर
स्पष्ट ज्ञात होता है कि जल्प में भी प्रमाण और तर्क से साधन और उपालम्भ कर्त्तव्य है।
जय के इच्छुक वादी तथा प्रतिवादी किसी स्थल में वाद की तरह प्रमाण और तर्क से
साधन एवं उपालम्भ करके छल और जाति का प्रयोग न करके भी जल्पकथा कर सकते
हैं। तात्पर्य यह है कि जल्पकथा में छल तथा जाति आदि का प्रयोग अकर्त्तव्य यद्यपि नहीं
है, तथापि अवश्य कर्त्तव्य भी नहीं है – यही उक्त ''प्रमाणतर्कसाधनोपालंभः'' पद से
सूचित होता है। तात्पर्यटीकाकार वाचस्पति मिश्र ने ''विनिग्रहो जल्पः'' इस भाष्य पाठ
को लेकर जैसी व्याख्या की है वह पहले ही कहा जा चुका है। और बातें आगे कही
जाएंगी। (१.२.१)

सूत्र – यथोक्तोपपन्नश्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालंभो जल्पः ।१.२.२।

अनुवाद – पूर्वसूत्र (वाद के लक्षणसूत्र) में उक्त सभी विशेषणों से विशिष्ट, छल जाति
तथा निग्रहस्थान से जहाँ साधन और उपालम्भ किया जाता है वह ''जल्प'' कहलाता
है।

**भाष्य – यथोक्तोपपन्न इति ''प्रमाणतर्कसाधनोपालंभः'' ''सिद्धान्ताविरुद्धः''
''पञ्चावयवोपपन्नः'' ''पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहः'' ''छलजातिनिग्रहस्थान-
साधनोपालम्भः'' इति छलजातिनिग्रहस्थानैः साधनमुपालम्भश्चास्मिन् क्रियत
इति, एवं विशेषणो जल्पः।**

**न खलु वै छलजातिनिग्रहस्थानैः साधनं कस्यचिदर्थस्य सम्भवति, प्रति-
षेधार्थतैवैषां सामान्यलक्षणे विशेषलक्षणे चश्रूयते। वचनविघातोऽर्थ-
विकल्पोपपत्त्या छलमिति, ''साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिरिति'',
''विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानमिति, विशेषलक्षणेष्वपि यथास्वमिति। न
चैतद् विजानीयात् प्रतिषेधार्थतयैवार्थं साधयन्तीति, छलजातिनिग्रहस्थानो-
पालम्भो जल्प इत्येवमप्युच्यमाने विज्ञायत एतदिति।**

**प्रमाणैः साधनोपालंभयोश्छलजातिनिग्रहस्थानानामङ्गभावः स्वपक्षरक्षणार्थ-
त्वात्, न स्वतन्त्राणां साधनभावः। यत् तत् प्रमाणैरर्थस्य साधनं तत्र छलजाति-
निग्रहस्थानानामङ्गभावः स्वपक्षरक्षणार्थत्वात्, तानि हि प्रयुज्यमानानि परपक्ष-
विघातेन स्वपक्षं रक्षन्ति। तथा चोक्तम् "तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे**

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणव'' दिति । यश्चासौ प्रमाणैः प्रतिपक्षस्योपालम्भस्तस्य चैतानि प्रयुज्यमानानि प्रतिषेधविघातात् सहकारीणि भवन्ति, तदेवमङ्गीभूतानां छलादीनामुपादानं जल्पे न स्वतन्त्राणां साधनभावः, उपालम्भे तु स्वातन्त्र्यमप्यस्तीति ।

अनुवाद – ''यथोक्तोपन्नः'' इस पद का अर्थ होता है प्रमाण तथा तर्क से साधन और उपालम्भ, सिद्धान्त से अविरुद्ध, पञ्चावयव वाक्यों से उपपन्न, पक्ष और प्रतिपक्ष का स्वीकार अर्थात् पूर्वसूत्र में उक्त सभी विशेषणों से विशिष्ट । ''छलजातिनिग्रहस्थान साधनोपालंभः'' का अर्थ होता है छल, जाति तथा सभी निग्रहस्थानों से जल्प में साधन (स्वपक्ष का स्थापन) और उपालम्भ (परपक्ष का खण्डन) किया जा सकता है। इस प्रकार उक्त विशेषणों से विशिष्ट जल्प होता है। अर्थात् पूर्ण सूत्रोक्त सभी विशेषणों से विशिष्ट होकर तथा छल आदि के द्वारा साधन और उपालम्भ की योग्यता से सम्पन्न जल्प कहलाता है।

पूर्वपक्ष होता है कि छल, जाति और निग्रहस्थान से किसी पदार्थ का साधन सम्भव नहीं है। क्योंकि सामान्यलक्षण तथा विशेषलक्षण सूत्रों में इन छल आदि की खण्डनार्थता ही सुनी जाती है । यथाक्रम महर्षि का उक्त छल आदि का सामान्य लक्षणसूत्र है - ''वचनविघातोऽर्थ विकल्पोपपत्त्या छलम्'' ''साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः'' तथा ''विप्रतिपतित्तरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम्'' (१.२.१०.१८-१९ सूत्र) इनके विशेष लक्षण सूत्रों में भी यथायथरूप से इनकी खण्डनार्थता ही ज्ञात होती है।

यदि कहें कि खण्डन हेतु प्रयुक्त होने से ही ये अपने पक्ष का साधन करते हैं तो ऐसा ज्ञात नहीं होता – अर्थात् महर्षि का ऐसा तात्पर्य ज्ञात नहीं होता है क्योंकि ''छल-जाति-निग्रहस्थान-साधनोपालंभो जल्पः'' इस प्रकार का वाक्य कहने से ही ऐसा ज्ञात होता है। महर्षि का वैसा तात्पर्य रहने पर इस सूत्र में साधन पद का प्रयोग नहीं रहता, केवल उपालम्भ पद का प्रयोग रहता। तब साधन पद की सार्थकता हेतु महर्षि का तात्पर्य उपर्युक्त पूर्वपक्ष में नहीं माना जा सकता है।

इसका उत्तर यह है कि प्रमाण समूह से साधन और उपालम्भ करते समय छल, जाति और निग्रहस्थान की सहकारिता इसलिए मान्य है कि इनसे अपने पक्ष की रक्षा होती है। अतः छल आदि साधन और उपालम्भ के अंग होते हैं। स्वतन्त्र अर्थात् प्रमाण से निरपेक्ष रूप में इनकी साधनता अर्थात् अपने पक्ष की साधकता मान्य नहीं है । विशदार्थ यह हुआ कि प्रमाण समूह से अर्थ (स्वपक्ष) के जो साधन हैं उसमें अपने पक्ष की रक्षा के हेतु छल आदि की सहकारिता मानी जाती है क्योंकि छल, जाति और

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

निग्रहस्थान प्रयुज्यमान होकर परपक्ष का विघात करते हुए अपने पक्ष की रक्षा करते हैं। महर्षि ने स्वयं आगे जाकर यह बात कही है – ''तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवत्'' (४.२.५०)। इस सूत्र के द्वारा महर्षि ने स्वयं प्रतिपादित किया है कि जिस प्रकार बीज से उत्पन्न अंकुर की शाखा हेतु काँटा-युक्त डाल से खेत का आवरण किया जाता है, उसी प्रकार तत्त्व निश्चय की रक्षा हेतु जल्प और वितण्डा की जाती है। किन्तु प्रमाण समूह से जो प्रतिपक्ष का उपालम्भ (खण्डन) होता है उसके सम्बन्ध में छल, जाति, निग्रहस्थान का प्रयोग प्रतिषेध का विघात करने में सहकारी होता है। अतः इस प्रकार से अंगीभूत छल आदि जल्प में गृहीत होते हैं। स्वतन्त्र रूप से छल आदि में स्वपक्ष की साधकता अर्थात् साधनता नहीं मानी जाती। उपालम्भ में अर्थात् परपक्ष के खण्डन में इनका स्वातन्त्र्य रहता ही है।

टिप्पणी – वाद के पश्चात् जल्प का उद्देश्य क्रमप्राप्त होने से महर्षि ने जल्प का लक्षण करते हुए सूत्र में पहले कहा है – ''यथोक्तोपपन्नः''। भाष्यकार ने इस पद का अर्थ कहा है – पूर्वसूत्र में उक्त प्रमाणतर्कसाधनोपालंभः आदि पदचतुष्टय उसके पहले अभिप्रेत हैं। तात्पर्य यह है कि पूर्वसूत्र में वाद के जितने विशेषण कहे गए हैं जल्प भी उन सभी विशेषणों से विशिष्ट होते हैं। उसे समझाने के लिए इस सूत्र में ''यथोक्तोपपन्नः'' कहा[१६८] गया है। किन्तु जल्प में अतिरिक्त किसी विशेषण के रहने पर जल्प में वाद लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती। वाद से जल्प में भेद दिखाने के लिए ही महर्षि ने कहा है –

---

[१६८] वार्त्तिककार उद्योतकर ने यहाँ कहा है कि पूर्वसूत्र में द्वितीय व तृतीय पद से जो वाद में निग्रहस्थान विशेष का नियम सूचित किया है कि वह जल्प में नहीं है। क्योंकि जल्प में सभी निग्रहस्थानों का उद्भावन विहित है। अतः पूर्वसूत्रोक्त सभी विशेषणों में से जल्प में जो सम्भव है वही यथोक्त पद से लिया जाएगा – यही ज्ञात होता है। अथवा जिस प्रकार ''गोयुक्तो रथः'' इस प्रकार विग्रह करने पर ''गोरथः'' का प्रयोग मध्यम पद लोपी समास करके होता है उसी प्रकार यथोक्तोपपन्नेन उपपन्नः इस प्रकार विग्रह करने पर एक उपपन्न पद का लोप होने के कारण यहाँ मध्यम पद लोपी समास समझना चाहिए। इस स्थिति में यथोक्तोपपन्न पद से ज्ञात होता है कि वादसूत्रोक्त विशेषण समूह में से जल्प में जो सम्भव है उतने विशेषणों से विशिष्ट होता है जल्प। वृत्तिकार विश्वनाथ ने भी इसी प्रकार व्याख्या की है। वाचस्पति मिश्र ने तात्पर्य व्याख्या में कहा है कि – वाद सूत्रोक्त सभी पदों के शब्दलभ्य अर्थ यथोक्त पद से महर्षि को अभिप्रेत हैं। किन्तु जो अर्थलभ्य अर्थ है अर्थात् सूचित है वह उनका अभिप्रेत नहीं है। वस्तुतः महर्षि के ''उक्तोपपन्नः'' ऐसे स्वल्पाक्षर पद का प्रयोग न करके पहले यथाशब्द का प्रयोग करने से पूर्वसूत्रोक्त समस्त पदों का यथाश्रुतार्थ ही अभिप्रेत है और यथोक्त पद से यही अभिप्रेत है – यही मैं समझता हूँ।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

''छल-जाति-निग्रहस्थान-साधनोपालम्भः''। जिसमें छल, जाति तथा सभी निग्रहस्थानों के द्वारा भी साधन और उपालम्भ किया जाए। अब सम्पूर्ण सूत्र का अर्थ हुआ कि वाद सूत्र के सभी विशेषणों से विशिष्ट और इस सूत्र के अन्त में उक्त विशेषण से विशिष्ट जो होता है वह जल्प कहलाता है। इसी अभिप्राय से भाष्यकार ने सूत्र का अर्थ करते हुए कहा है – ''एवंविशेषणो जल्पः''।

भाष्यकार ने ''न खलु'' इत्यादि सन्दर्भ से पूर्वपक्ष का समर्थन करते हुए कहा है छल तथा जाति आदि से किसी का भी अपने पक्ष का साधन नहीं हो सकता किन्तु परपक्ष खण्डन के उद्देश्य से ही छल आदि का प्रयोग किया जाता है। छल, जाति तथा निग्रहस्थान के सामान्यलक्षण एवं विशेषलक्षणबोधक सूत्रों से यही ज्ञात होता है। छल आदि पदार्थ परपक्ष के निराकरण के द्वारा ही अपने पक्ष के साधक होते हैं – महर्षि गौतम का ऐसा ही तात्पर्य ज्ञात होता है। क्योंकि सूत्र में साधन शब्द का प्रयोग न करके केवल उपालम्भ शब्द का प्रयोग करने पर भी ऐसा (पूर्वपक्षी का अभिमत) अभिप्राय ज्ञात हो सकता था। महर्षि ने इस सूत्र में ''छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालंभः'' पद में साधन और उपालम्भ दोनों का उल्लेख करके समझाना चाहा है कि जल्प में छल आदि से स्वपक्ष का साधन भी होता है किन्तु वह सम्भव नहीं प्रतीत होता।

भाष्यकार ने प्रमाणैः आदि सन्दर्भ से इस पूर्वपक्ष का समाधान किया है। भाष्यकार का कहना है कि छल, जाति और निग्रहस्थान स्वतन्त्र रूप से किसी के स्वपक्ष के साधक यथार्थ में नहीं होते। किन्तु प्रमाण से स्वपक्ष के साधन और परपक्ष के उपालम्भ में ये छल आदि सहकारी होते हैं, अतः ये साधन और उपालम्भ के अंग होते हैं। क्योंकि छल आदि का प्रयोग करके ही कोई भी परपक्ष के निराकरण के द्वारा स्वपक्ष की रक्षा करता है। महर्षि ने स्वयं चतुर्थ अध्याय में ''तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थम्'' (४.२.५०) आदि सूत्र से प्रमाणजन्य तत्त्वनिश्चय की रक्षा के लिए छल आदि से युक्त जल्प और वितण्डा कथा करने की अनुमति दी है। इससे ज्ञात होता है कि महर्षि ने इस सूत्र में अपने पक्ष के साधन में प्रमाण के अंग या सहकारी रूप में छल आदि का ग्रहण किया है। प्रमाण से जन्य स्वपक्ष के निश्चय की रक्षा के द्वारा परम्परया छल तथा जाति आदि स्वपक्ष के साधन होते हैं। सरल रूप से महर्षि का यही तात्पर्य ज्ञात होता है। प्रमाण के द्वारा प्रतिपक्ष के उपालम्भ (खण्डन) में भी छल तथा जाति आदि प्रतिषेध का विघात करके अर्थात् प्रतिवादी के उस खण्डन का खण्डन करके सहकारी होता है। इस प्रकार स्वपक्ष के साधन की तरह परपक्ष के खण्डन में छल तथा जाति आदि सहकारी या अंग होते हैं। स्वतन्त्र रूप से अर्थात् प्रमाण और तर्क की अपेक्षा किए बिना ही छल आदि कभी भी

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

स्वपक्ष के साधक नहीं होते। अतः महर्षि ने सूत्र में इसे नहीं कहा है किन्तु परपक्ष के खण्डन में छल तथा जाति आदि का स्वातन्त्र्य भी रहता है। अभिप्राय यह है कि वादी प्रमाण आदि से अपने पक्ष का साधन करता है। उस समय में प्रतिवादी यदि सदुत्तर से उसका खण्डन करने में असमर्थ रहता है तो छल तथा जाति आदि असदुत्तर से तथा किसी-किसी निग्रहस्थान का उद्भावन करके वादी के पक्ष का खण्डन करता है तो उस समय प्रतिवादी का खण्डन प्रमाण आदि की अपेक्षा नहीं करता क्योंकि इस स्थल में प्रतिवादी प्रमाण आदि से किसी पक्ष का स्थापन नहीं करता।

वार्त्तिककार उद्योतकर ने भाष्यकार के इस समाधान का प्रतिवाद करते हुए कहा है कि चूँकि छल तथा जाति असदुत्तरविशेष हैं अर्थात् अयुक्त उत्तर हैं। अतः इनसे किसी पदार्थ का साधन या खण्डन नहीं हो सकता। इनमें पदार्थ के साधन या खण्डन की सामर्थ्य ही नहीं है। यह भी भाष्यकार का कहना संगत नहीं है कि प्रमाण से साधन या खण्डन में छल तथा जाति आदि प्रमाण के अंग या सहकारी होते क्योंकि जो समुचित उत्तर ही नहीं है वह इस रूप से प्रमाण का सहकारी नहीं हो सकता है। क्योंकि उससे किसी के पक्ष की रक्षा सम्भव नहीं है। वाचस्पति मिश्र ने दृष्टान्त के द्वारा इसे समझाने के लिए कहा है – "नहि सहस्रेणाप्यन्धैः पाटच्चरेभ्यो गृहं रक्ष्यते इत्यर्थः।" हज़ारों अन्धों के द्वारा चोर से घर की रक्षा नहीं हो सकती। अन्धत्व के कारण अन्धों में चोरों से घर की रक्षा की सामर्थ्य ही नहीं है। इसी कारण प्रतिज्ञाहानि आदि निग्रहस्थानों से किसी पदार्थ का साधन सम्भव नहीं है।

तब जल्प में छल आदि का प्रयोग क्यों होता है? इसके उत्तर में उद्योतकर ने कहा है – "साधनविघातार्थम् इत्यादि"। तात्पर्य यह है कि वादी पहले निर्दोष हेतु से अपने पक्ष का स्थापन करता है। विजयकामी प्रतिवादी सदुत्तर से उसके खण्डन में असमर्थ होकर पराजय के भय की व्याकुलता के कारण असदुत्तर से वादी के साधन के खण्डन हेतु छल आदि का प्रयोग करता है। स्थलविशेष में इससे जयलाभ भी हो सकता है किन्तु उस असदुत्तर से स्वपक्ष का साधन या परपक्ष का खण्डन नहीं होता। कदाचित् वादकथा में भ्रम से उस प्रकार के असदुत्तर का प्रयोग हो सकता है। परन्तु ऐसा होने पर वह वाद नहीं बल्कि जल्प या वितण्डा ही कहलाती है। महर्षि ने इसे समझाने के लिए अर्थात् वाद से जल्प और वितण्डा में इस विशेष (भेद) को व्यक्त करने के लिए सूत्र में – "छलजाति-निग्रहस्थानसाधनोपालंभः" कहा है।

भाष्यकार के पक्ष में वक्तव्य यह है कि उक्त छल आदि से जिसमें साधन और उपालम्भ होता है वह जल्प कहलाती है – यही उस पद से ज्ञात होता है। महर्षि के

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

''तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे'' आदि सूत्र से भी ज्ञात होता है कि अपने पक्ष की रक्षा हेतु जल्प और वितण्डा करणीय हैं। इसमें छल आदि प्रमाण के अंग या सहकारी होते हैं। भाष्यकार ने यही समझाने के लिए महर्षि के तात्पर्य का इस प्रकार से व्याख्यान किया है अन्यथा यह तो सत्य ही है कि छल तथा जाति आदि से वस्तुतः किसी पदार्थ का साधन या निराकरण नहीं होता किन्तु प्रमाण से स्वपक्ष के साधन और परपक्ष के खण्डन में किसी स्थल में छल आदि किसी रूप में सहकारी हो सकते हैं।

किन्तु यह अवश्य स्वीकार करना होगा कि वादी और प्रतिवादी के प्रतिज्ञात परस्पर विरुद्ध दो धर्मों में से किसी एकतर पक्ष में प्रकृत प्रमाण यदि रहता है तो अपर पक्ष में प्रमाणाभास ही रहता है। क्योंकि वे परस्पर विरुद्ध दोनों धर्म प्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकते। अतः पूर्वसूत्र में उक्त प्रमाण और तर्क शब्द से एक पक्ष में प्रमाणाभास एवं तर्काभास का समावेश अवश्य मानना होगा। किन्तु उस प्रमाणाभास से वस्तुतः किसी पदार्थ का साधन या उपालम्भ नहीं हो सकता। तथापि महर्षि ने जिस रूप में वाद को ''प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भ'' कहा है। उस रूप में ही इस सूत्र में भी जल्प को ''छलजाति निग्रहस्थानसाधनोपालंभ'' कहा जा सकता है।

निश्चय ही छल आदि प्रतिवादी के स्वपक्षसाधन या परपक्ष के खण्डन में समर्थ नहीं होते – यह प्रतिवादी भी जानता है। किन्तु जिस स्थल में जल्प करते समय प्रतिवादी अपने अभिमत प्रमाण को प्रमाणाभास समझता हुआ भी उसका प्रयोग करता है उस स्थल में वह प्रतिवादी के अपने पक्ष के साधन और परपक्ष के खण्डन में समर्थ नहीं होता – यह जानते हुए भी प्रतिवादी उसका प्रयोग क्यों करता है – यह जानना आवश्यक है। किन्तु वादकथा में वादी या प्रतिवादी में से एक भी अप्रमाण अर्थात् प्रमाणाभास समझकर कभी भी उसका प्रयोग नहीं कर सकता। प्रतारक व्यक्ति का वाद में अधिकार ही नहीं है। विजयकामी प्रतिवादी प्रकृत (संगत या समुचित) प्रमाण के अभाव में किसी स्थल में अप्रमाण को अप्रमाण समझकर भी उसको प्रमाण के रूप में प्रदर्शित करता है और किसी स्थल में सदुत्तर कहने में असमर्थ होकर जयलाभ के लिए छल तथा जाति रूप असदुत्तर का प्रयोग करता है। अतः सूत्र में छल, जाति आदि विशेषण पद से यह भी सूचित होता है कि जल्प जयकामी की कथा होती है। और वाद तत्त्वबोध के इच्छुक की। इसी दृष्टि से कहा गया है – तत्त्वबुभुत्सुकथा वादः। विजिगीषुकथा जल्पः। प्रतिपक्षस्थापनाहीना विजिगीषुकथा वितण्डा। (१.२.२)

सूत्र – स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा।१.२.३।

अनुवाद – वही जल्प यदि प्रतिपक्ष की स्थापना से रहित होगा तो वितण्डा कहलाएगा।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

भाष्य – **स जल्पो वितण्डा भवति, किंविशेषणः? प्रतिपक्षस्थापनया हीनः। यौ तौ समानाधिकरणौ विरुद्धौ धर्मौ पक्षप्रतिपक्षावित्युक्तं, तयोरेकतरं वैतण्डिको न स्थापयतीति, परपक्षप्रतिषेधेनैव प्रवर्तत इति। अस्तु तर्हि स प्रतिपक्षहीनो वितण्डा? यद् वै खलु तत्परपक्षप्रतिषेधलक्षणं वाक्यं, स वैतण्डिकस्य पक्षः, न त्वसौ साध्यं कश्चिदर्थं प्रतिज्ञाय स्थापयतीति तस्माद् यथान्यासमेवास्त्विति।**

अनुवाद – वही जल्पकथा वितण्डा होती है। (प्रश्न) किस विशेषण से विशिष्ट होने पर ? (उत्तर) प्रतिपक्ष यदि अपने मत की स्थापना नहीं करता अर्थात् एक अधिकरण में जो दो विरुद्ध धर्म पक्ष तथा प्रतिपक्ष के रूप में उक्त होता है, उनमें वैतण्डिक एक धर्म का अर्थात् अपना पक्ष रूप प्रतिपक्ष की स्थापना नहीं करता वरन् दूसरे के पक्ष के खण्डन मात्र के लिए ही प्रवृत्त होता है।

(पूर्वपक्ष) ऐसी स्थिति में ''स प्रतिपक्षहीनो वितण्डा'' ऐसा ही सूत्र कहना चाहिए और इसमें स्थापनापद देना ही नहीं चाहिए। (उत्तर) यह परपक्ष का प्रतिषेध लक्षण वाक्य अर्थात् वैतण्डिक का परपक्ष के खण्डन हेतु कहे गए वाक्य, वही वैतण्डिक का पक्ष हो जाता है अर्थात् वैतण्डिक का पक्ष उन सभी वाक्यों से ही प्रतिपन्न हो जाता है। अभिप्राय यह है कि उसका अपना पक्षभूत पदार्थ है, किन्तु वह इसकी स्थापना नहीं करता अर्थात् अमुक यहाँ साध्य है, ऐसी प्रतिज्ञा करके वह अपने पक्ष की स्थापना नहीं करता। अतएव सूत्र में जैसा पाठ है वही उचित है। महर्षि ने स्थापनापदयुक्त जो सूत्र किया है वह सर्वथा संगत है।

टिप्पणी – महर्षि ने जल्प के बाद वितण्डा का लक्षण क्रमानुसार किया है। उक्त लक्षण से युक्त जल्प ही प्रतिपक्ष की स्थापना से रहित होने पर वितण्डा हो जाता है।[१६९] पूर्व सूत्र में उक्त सभी विशेषणों से युक्त जल्प ही प्रतिपक्ष की स्थापना से हीन होने पर वितण्डा होता है। वादी के पक्ष की अपेक्षा प्रतिवादी का पक्ष ही यहाँ प्रतिपक्ष से अभिप्रेत है।

---

[१६९] वृत्तिकार विश्वनाथ ने कहा है कि इस सूत्र में तत् शब्द से पूर्व सूत्रोक्त जल्प के उभयपक्ष की स्थापनावत्त्वरूप विशेषण का परित्याग करके अन्य अंश केवल गृहीत होता है। क्योंकि जो उभयपक्ष स्थापनाविशिष्ट है उसको प्रतिपक्ष स्थापनाहीन नहीं कहा जा सकता। किन्तु हम लोगों के मन में होता है कि इसी कारण से महर्षि ने पूर्वसूत्र में किसी वाक्य से जल्प को उभय-पक्ष स्थापनाविशिष्ट नहीं कहा। किन्तु उक्ति के कौशल से इस सूत्र में ''प्रतिपक्षस्थापना-हीन'' कहकर जल्प को ''उभयपक्ष स्थापनाविशिष्ट'' कहा है और यहाँ तत् शब्द से पूर्वसूत्र में उक्त विशेषण विशिष्ट जल्प का ग्रहण किया है। वाचस्पति मिश्र ने भी तत् शब्द से जल्प के एकदेश ग्रहण की बात नहीं कही है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

क्योंकि प्रतिवादी के पक्ष की अपेक्षा वादी के पक्ष को यदि प्रतिपक्ष माना जाए तो जब तक वादी अपना पक्ष स्थापित नहीं करेगा तब तक प्रतिवादी खण्डन किसका करेगा। अतः वितण्डा को वादी के पक्ष की स्थापना से रहित नहीं कहा जा सकता। अतः सूत्रोक्त प्रतिपक्ष से प्रतिवादी का पक्ष ही ज्ञात होता है। चरकसंहिताकार ने विमानस्थान (अष्टम अध्याय) में कहा है – "जल्पविपर्ययो वितण्डा। वितण्डा नाम परपक्षदोषवचन मात्रमेव"।

भाष्यकार ने पूर्वपक्ष रूप में कहा है कि ऐसी स्थिति में "स प्रतिपक्षहीनो वितण्डा" ही कहना उचित होगा। तात्पर्य यह है कि वैतण्डिक प्रतिवादी अपना पक्ष स्थापित नहीं करता – यह कहने पर मानना होगा कि उसका कोई अपना पक्ष रूप प्रतिपक्ष ही नहीं है। क्योंकि जिसका स्थापन नहीं होता उसको पक्ष नहीं कहा जा सकता। अतः वितण्डा में प्रतिपक्षरूप पक्ष के नहीं रहने से प्रतिपक्षहीन जल्प ही वितण्डा होगी। अर्थात् सूत्रगत स्थापना पद व्यर्थ ही है। उद्योतकर ने उक्त पूर्वपक्ष की व्याख्या में कहा है – "अपरे तु ब्रुवते, दूषणमात्रं वितण्डेति। दूषणमात्रमिति मात्रशब्दप्रयोगाद् वैतण्डिकस्य पक्षोऽपि नास्ति इति"। वस्तुतः भाष्यकार के समय में भी शून्यवादी किसी सम्प्रदाय का अपना पक्ष कुछ नहीं था। अतः स्वपक्ष की सिद्धि उनके लिए वितण्डा का प्रयोजन नहीं हुआ करती थी। यही समझकर महर्षि गौतम के इस सूत्र में स्थापना शब्द को उन लोगों ने व्यर्थ कहा होगा। प्रथम सूत्र के भाष्य में भाष्यकार के द्वारा व्यक्त विचार से भी यह ज्ञात होता है। अतः यहाँ उनके मत के निराकरण हेतु उपर्युक्त पूर्वपक्ष उठाया है।[१७०] इसके उत्तर में भाष्यकार ने कहा है – "यद्वै खलु" इत्यादि। यहाँ वै शब्द पूर्वोक्त पूर्वपक्ष की अयुक्तता का द्योतक है और खलु शब्द हेतु अर्थ को कहता है। उपर्युक्त पूर्वपक्ष संगत नहीं है क्योंकि वैतण्डिक द्वारा जो परपक्ष का खण्डन किया जाता है, वस्तुतः उन्हीं वाक्यों से ही वैतण्डिक का पक्ष उपपन्न हो जाता है। यद्यपि यह सच है कि वे सभी वाक्यार्थ पक्ष पदार्थ नहीं हैं। सूत्र के भाष्य में पक्ष और प्रतिपक्ष के मुख्य अर्थ कहे जा चुके हैं। भाष्यकार ने यहाँ उसी का स्मरण कराते हुए पहले कहा है – "यौ तौ इत्युक्तम्"। किन्तु वैतण्डिक प्रतिवादी के

[१७०] उद्योतकर ने उक्त पूर्वपक्ष की व्याख्या में कहा है – "अपरे तु ब्रुवते, दूषणमात्रं वितण्डेति। दूषणमात्रमिति मात्रशब्दप्रयोगाद् वैतण्डिकस्य पक्षोऽपि नास्ति इति"। वस्तुतः भाष्यकार के समय में भी शून्यवादी किसी सम्प्रदाय का अपना कुछ पक्ष नहीं था, अतः स्वपक्षसिद्धि उनके लिए वितण्डा का प्रयोजन नहीं हुआ करता था। यही समझकर महर्षि गौतम के इस सूत्र में स्थापना शब्द को उन लोगों ने व्यर्थ कहा होगा। प्रथम सूत्र के भाष्य में भाष्यकार के द्वारा व्यक्त विचार से भी यह ज्ञात होता है। अतः यहाँ उनके मत के निराकरण हेतु उपर्युक्त पूर्वपक्ष उठाया है – यही समझ में आता है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

उन सभी वाक्यों से प्रतिपन्न होता है कि उसका भी अपना पक्ष होता है और इन खण्डनार्थ प्रयुक्त वाक्यों से भी जो प्रतिपाद्य विषय सिद्ध होता है वह भी उसका पक्ष या सिद्धान्त रूप में मान्य है। अन्यथा वैतण्डिक के वाक्य निष्प्रयोजन हो जाएंगे और प्रतिपाद्यहीन होने पर वह वाक्य ही नहीं रह जाएंगे। भाष्यकार ने इसी अभिप्राय से यहाँ वैतण्डिक के उन सभी वाक्यों में पक्ष शब्द का गौण प्रयोग मानकर उसको उनका पक्ष कहा है। वस्तुतः वैतण्डिक प्रतिवादी का अपना सिद्धान्त ही उसका पक्ष होता है जो वादी के लिए प्रतिपक्ष होता है। वैतण्डिक प्रतिवादी प्रतिज्ञा करके भले ही अपने पक्ष की स्थापना नहीं करता किन्तु उसका पक्ष स्थापना के योग्य होता है और इसलिए भी उसको उसका पक्ष कहा जाता है। वाचस्पति मिश्र ने इसको स्पष्ट करते हुए कहा है – "पक्षत्वं तु तद्योग्यतामात्रेण न तु स्थाप्यमानतयेति"। अतः वितण्डा को "प्रतिपक्षहीन" नहीं कहा जा सकता है। महर्षि ने जैसा सूत्र कहा है वह सर्वथा उचित है।

तीनों कथाओं के प्रसंग में अन्य वक्तव्य

यहाँ यह कहना आवश्यक प्रतीत होता है कि उपर्युक्त वितण्डा पदार्थ के अज्ञान के कारण बहुत-से लोग कलह आदि निन्दित अर्थ में वितण्डा शब्द का प्रयोग करते हैं तथा वादवितण्डा एवं वाग्वितण्डा आदि का प्रयोग करते हैं। किन्तु प्राचीन काल से ही बङ्ला ग्रन्थों में भी वितण्डा पद का व्यवहार उचित अर्थ में होता रहा है। श्री चैतन्यचरितामृत में उक्त है –

> वितण्डा छलनिग्रहादि अनेक उठाल।
> सब खण्डि प्रभु निजमत से स्थापित॥ (मध्य षष्ठ प.)

वस्तुतः "वितण्ड्यते व्याहन्यते परपक्षोऽनया" इस प्रकार की व्युत्पत्ति के अनुसार कथा (शास्त्रार्थ) में जयकामी प्रतिवादी नियमानुसार केवल परपक्ष का खण्डन ही तो करता है अपना पक्ष रूप प्रतिपक्ष का स्थापन नहीं करता – यही वितण्डा शब्द का अपना अर्थ होता है। क्रुद्ध या झगड़ालु व्यक्ति वितण्डा का अधिकारी नहीं होता। तर्कशास्त्र के व्याख्याता और प्रचारक प्राचीन आचार्यवृन्द ने तीनों प्रकार की कथा के अधिकारी का निरूपण करते हुए कहा है – जो तत्त्वनिर्णय में जयलाभ का इच्छुक हो, कथा के सभी व्यापार के निर्वाह में समर्थ हो, वाक्यश्रवण में पटु हो अर्थात् बहरा अथवा प्रमत्त नहीं हो, सर्वजनसिद्ध अनुभव का अपलाप नहीं करता हो और झगड़ालू नहीं हो, वस्तुतः वही कथा का अधिकारी होता है। वाद अधिकारी वह है जो केवल तत्त्व का निर्णय चाहता हो, प्रकृतविषयक वाक्य ही बोलता हो, समय पर जिसको उत्तर की

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

स्फूर्ति होती हो, जो युक्ति से सिद्ध तत्त्व का वेत्ता हो, जो ज्ञात सत्य का अपलाप नहीं करता हो और प्रतारक (वञ्चक) नहीं हो।

कथा नियम के व्यवस्थापक न्यायाचार्य गण ने जल्प और वितण्डा के छह या चार अंगों का विवरण दिया है – (१) वादिनियम, (२) प्रतिवादिनियम, (३) सदस्य नियम और (४) सभापतिनियम – ये चार जल्प और वितण्डा के सर्वसम्मत अंग माने गए हैं। इनमें कौन वादी होगा, कौन प्रतिवादी होगा, कौन सदस्य होगा तथा कौन सभापति होगा – इसके निर्धारण से पहले उनके अधिकार का निर्णय आवश्यक होता है। विचार सभा में राजा या उसके समान प्रभावशाली व्यक्ति सभापति हो सकता है। अथवा ये किसी सर्वमान्य योग्य व्यक्ति को सभापति नियुक्त करके स्वयं वहाँ (सभा में) उपस्थित रहेंगे। सभापति तब उपयुक्त सदस्य को मध्यस्थ के रूप में नियुक्त कर जयकामी वादी और प्रतिवादी को कथा में प्रवृत्त कराएगा। वादी और प्रतिवादी आरम्भ से ही यथाक्रम नियमानुसार मध्यस्थ एवं सदस्यों के निकट अपना समस्त वक्तव्य प्रस्तुत करेंगे।[१७१] इस कथा के चलते समय वादी या प्रतिवादी यदि किसी नियम का उल्लंघन करते हैं तो वे निगृहीत माने जायेंगे। अन्त में मध्यस्थ तथा सदस्यगण अपने निर्णय के अनुसार किसकी पराजय हुई तथा किसकी जय हुई – इसका निर्णय करते हैं और तदनुसार सभापति इसकी घोषणा करते हैं। सभापति तथा मध्यस्थ एवं सदस्यगण के कुछ नहीं कहने पर अथवा किसी पक्ष में पक्षपात के कारण मिथ्या कहने पर वे सभी पापी कहे जाएंगे। भगवान् मनु ने कहा है –

सभां वा न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समञ्जसम्।
अब्रुवन् वापि नरो भवति किल्बिषी ॥८.१३॥

अभिप्राय यह है कि सभापति, मध्यस्थ या सदस्य के नहीं मिलने पर जल्प और वितण्डा नहीं हो सकती। अतः तार्किकरक्षाकार वरदराज ने कहा है – "सभापतिरपि वादिप्रतिवादिनोः सदस्यानाञ्च सम्मतो रागादिरहितो निग्रहानुग्रहसमर्थः स्वीकरणीयः। तस्य च निष्पन्नकथाफलप्रतिपादनादिकं कर्म"। मल्लिनाथ यहाँ व्याख्या करते हैं –

---

[१७१] न्यायवृत्तिकार विश्वनाथ ने संक्षेप में जल्पकथा का क्रम वर्णित किया है जो अवश्य ज्ञातव्य है। किन्तु महानैयायिक उदयनाचार्य की प्रबोधसिद्धि और शंकर मिश्र के वादिविनोद में कथा और इनके अंग आदि के सम्बन्ध में बहुत ज्ञातव्य विषय वर्णित तथा समर्थित हैं। जैन महानैयायिक रत्नप्रभाचार्य ने अपनी रत्नाकरावतारिका टीका में इस विषय में अनेक बातें कही हैं। किन्तु उदयनाचार्य इस विषय में प्रथम उपदेष्टा माने जाएंगे। उपर्युक्त टीका ग्रन्थ में रत्नप्रभाचार्य ने भी कहा है (पृ. १८५) – "उदयनोऽप्याह" इत्यादि।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

''निष्पन्नकथाफलप्रतिपादनं वादिप्रतिवादिभ्यां मिथः पणीकृतद्रव्यदापनं, आदि पदात् स्वयं छत्रचामरादिदानम्'' । वादी और प्रतिवादी पहले ही किसी द्रव्य की पणरूप में प्रतिज्ञा करता है। सभापति वाद में जयी व्यक्ति को वह द्रव्य दिलाता है। और स्वयं छत्र तथा चामर आदि देता है । यही उपर्युक्त लक्षण से युक्त सभापति का कार्य होता है। सभापति किस प्रकार के मध्यस्थ एवं सदस्य का ग्रहण करेंगे – इस विषय में वरदराज ने कहा है –

सदस्यास्तु वादिप्रतिवादिसम्मताः सिद्धान्तरहस्यवेदिनो रागद्वेषविरहिणः पराभिहितग्रहणधारणप्रतिपादनकुशलास्त्र्यवराः विषमसंख्याः स्वीकार्याः।

विषमसंख्यक मध्यस्थ की नियुक्ति का कारण यह है कि मध्यस्थों में परस्पर विरोध हो जाने पर बहुमत की मान्यता होगी। अतः कहा गया है –

रागद्वेषविनिर्मुक्ताः सप्त पञ्च त्रयोऽपि वा।
यत्रोपविष्टा विप्राः स्युः सा यज्ञसदृशी सभा॥

तथा ''द्वैधे बहूनां वचनम्'' इत्यादि। किन्तु अभी यज्ञसदृशी विचार सभा हम लोग नहीं देखते हैं। उपर्युक्त लक्षण से युक्त सभापति एवं मध्यस्थ भी नहीं देखे जाते हैं। ''ते हि नो दिवसा गताः'' ।

श्वेताम्बर जैनाचार्य वादिदेवसूरि ने सभापति एवं सदस्यगण का उपर्युक्त लक्षण कहा है। यद्यपि जैन नैयायिक हेमचन्द्र ने प्रमाणमीमांसा में गौतम द्वारा उक्त जल्प और वितण्डा के कथात्व का खण्डन करके केवल वाद को स्वीकार किया है तथापि यह सत्य नहीं है कि जैन सम्प्रदाय जयकामी वादी और प्रतिवादी के किसी विचार को नहीं मानता। क्योंकि वादिदेवसूरि ने प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार के अष्टम परिच्छेद के प्रथम सूत्र में वाद का लक्षण कहकर द्वितीय सूत्र में कहा है – ''प्रारम्भकाकश्चात्र विजिगीषु-स्तत्त्वनिर्णनीषुश्च'' अर्थात् जयकामी तथा तत्त्वनिर्णय के इच्छुक इस वाद को आरम्भ करते हैं। जो परिपक्वज्ञानशाली हैं तथा जो चरमज्ञान का लाभ करके जैन मतानुसार केवली हो गए हैं वे भी शिष्य आदि के तत्त्वनिर्णय के सम्पादनार्थ वादकथा करते ही हैं। किन्तु जिसको जिगीषुवाद (जयकामी का वाद) कहते हैं उसमें सभ्य सभापति, वादी तथा प्रतिवादी चारों ही अंग अपेक्षित होते हैं। वादिदेव सूरि ने इसका स्पष्ट उल्लेख किया है – ''वादिप्रतिवादिसभ्यसभापतयश्चत्वार्यङ्गानि'' (सूत्र १५)। आगे जाकर यथाक्रम वादी आदि के लक्षण एवं उनके कृत्य का वर्णन करते हुए जिगीषुवाद कैसे करना है – इसका निर्देश किया है। अभिप्राय यह है कि इस मत में जयकामी वादी

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

तथा प्रतिवादी का उक्त रूप विचार भी ''वाद'' ही कहलाता है। इसका ही ''जिगीषुवाद'' नाम है।

बौद्धाचार्य वसुबन्धु ने कहा है – ''स्वपरपक्षयोः सिद्ध्यसिद्ध्यर्थं वचनं वादः''। इस मत में तीन प्रकार की कथा मान्य नहीं है किन्तु कथा का एक ही प्रकार ''वाद'' मान्य है। ''एक एवायं कथामार्गस्तस्य प्रयोजनं तत्त्वावबोधो लाभादयश्च'' (वार्त्तिक)। उपर्युक्त वाद लक्षणसूत्र के वार्त्तिक में उद्योतकार ने विस्तार से विचार करके वसुबन्धु के इस वाद लक्षण का खण्डन किया है। इन्होंने यहाँ पश्चात् कहा है – यह नहीं कहा जा सकता है कि अन्य प्रश्नकारी मध्यस्थ आदि के उपस्थित नहीं रहने पर भी गुरु आदि के साथ तत्त्वनिर्णय की जिज्ञासा से शिष्यगण वाद कर सकता है। किन्तु वाद लाभ, आदर या ख्याति के लिए निषिद्ध है। अपि च लक्षणों में भेद के कारण भी सिद्ध होता है कि जल्प और वितण्डा वाद से भिन्न होते हैं। इसलिए महर्षि गौतम ने जल्प और वितण्डा का अलग से उल्लेख किया है। फलतः कथा के तीन प्रकार ही मान्य हैं, एक प्रकार नहीं। भगवद्गीता के ''वादः प्रवदतामहम्'' वाक्य में भी वाद से न्यायदर्शन का गौतमोक्त वाद ही गृहीत होता है।

प्रश्न होता है कि अध्यात्म विद्या के रूप में प्रसिद्ध इस न्यायशास्त्र में जल्प और वितण्डा का उल्लेख क्यों होता है। मुमुक्षु व्यक्ति दूसरे की पराजय हेतु जल्प और वितण्डा क्यों करेगा? इसके उत्तर में कहना है कि मुमुक्षु व्यक्ति भी प्रथम अवस्था में अपने अपरिपक्व तत्त्वनिश्चय की रक्षा के लिए बाध्य होकर समयविशेष में जल्प और वितण्डा करते हैं। महर्षि गौतम ने स्वयं कहा है – ''तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवत्''। ''ताभ्यां विगृह्य कथनम्'' (४.२.५०-५१)।

भाष्यकार ने यहाँ कहा है – ''तदेतद् विद्यापरिपालनार्थम्, न तु लाभपूजा ख्यात्यर्थम्''। आत्मविद्या की रक्षा के लिए समय विशेष में जल्प और वितण्डा कर्त्तव्य है। किन्तु लाभ, पूजा या ख्याति के लिए वह कर्त्तव्य नहीं है। तार्किकरक्षा में वरदराज ने कहा है – ''न विगृह्य कथां कुर्यात्'' धर्मशास्त्र के इस वचन से जल्प और वितण्डा कथा का निषेध रहने पर भी महर्षि गौतम ने स्थलविशेष में उसका विशेष विधान किया है। वह निषेध अन्य अनुचित उद्देश्य के लिए अन्यत्र किया गया है। न्यायपरिशुद्धि में (आ. २) वेंकटनाथ ने रामानुजाचार्य के अनुसार इसका समर्थन करते हुए कहा है – ''आगम सिद्धा चेयं व्यवस्था, वादजल्पवितण्डाभिरित्यादिवचनात्। भगवद्गीताभाष्येऽपि'' इत्यादि। इस सन्दर्भ में महर्षि गौतम के तात्पर्य की व्याख्या तथा वाचस्पति मिश्र का विशेष वक्तव्य पञ्चम खण्ड, बंग संस्करण (पृ. २१८-१९) में द्रष्टव्य है। (१.२.३)

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

हेत्वाभास प्रकरण

भाष्य – **हेतुलक्षणाभावादहेतवो हेतुसामान्यात् हेतुवदाभासमानाः । त इमे –**

सूत्र – सव्यभिचार-विरुद्ध-प्रकरणसम-साध्यसम-कालातीताः हेत्वाभासाः ।१.२.४।

अनुवाद – हेतु के सभी लक्षणों के नहीं रहने पर अहेतु, जो प्रकृत हेतु नहीं है, और हेतु का सादृश्य रहने से हेतु की तरह दीख रहे हैं, वही हेत्वाभास पद का अर्थ होते हैं। इस हेत्वाभास के पाँच प्रकार होते हैं – (१) सव्यभिचार, (२) विरुद्ध, (३) प्रकरणसम, (४) साध्यसम, और (५) कालातीत।

टिप्पणी – उपर्युक्त वाद, जल्प और वितण्डा में हेत्वाभास का विशेषज्ञान अत्यावश्यक होता है। इसलिए महर्षि ने पहले (उद्देश्य) सूत्र में वितण्डा पदार्थ के बाद हेत्वाभास पदार्थ का उद्देश्य किया है और क्रम के अनुसार इस सूत्र से हेत्वाभास पदार्थ का विभाग किया गया है। पश्चात् इन विभक्त पाँच हेत्वाभासों का लक्षण कहा जाएगा। किन्तु सामान्य लक्षण के ज्ञान के बिना विशेषलक्षण का ज्ञान सम्भव नहीं है। अतः इस सूत्र में हेत्वाभास पद से ही हेत्वाभास पदार्थ का सामान्यलक्षण समझना चाहिए। वाचस्पति मिश्र आदि ने भी यही कहा है। वस्तुतः महर्षि ने पृथक् सूत्रों के द्वारा अनेक पदार्थों का सामान्य-लक्षण नहीं कहकर भी उन पदार्थों का विभाग रूप विशेष उद्देश्य (कथन) करके उन विभाग सूत्रों के द्वारा उन सभी पदार्थों का सामान्यलक्षण भी सूचित किया है। भाष्यकार ने पहले भी ऐसी बात कही है। अतः भाष्यकार ने यहाँ पहले इस सूत्र के भाष्य में कहा है – ''हेतुलक्षणाभावादहेतवो हेतुसामान्याद्धेतुवदाभासमानाः''।

भाष्यकार का अभिप्राय यह है कि ''हेतुवदाभासन्ते''। जो वस्तुतः हेतु नहीं है किन्तु सादृश्य के कारण हेतु की तरह प्रतीत होता है – इस व्युत्पत्ति के अनुसार हेत्वाभास शब्द से दुष्टहेतु समूह ज्ञात होते हैं।[१७२] हेतु नहीं होने पर भी हेतु का सादृश्य रहने से उसमें

---

१७२ ''हेतोराभासाः दोषाः हेत्वाभासाः'' इस व्युत्पत्ति के अनुसार हेतु के पाँच प्रकार के दोषों को हेत्वाभास शब्द से लेकर दीधितिकार रघुनाथ शिरोमणि ने गङ्गेश के उक्त हेत्वाभास के सामान्य लक्षण की व्याख्या करके भी आगे कहा है – ''केचित्तु दुष्टानामेव हेतूनामेतानि लक्षणानि'' इत्यादि सन्दर्भ से प्राचीन व्याख्या का भी प्रकाशन किया है। किन्तु इनके अपने मत में हेत्वाभास के सामान्यलक्षण में उनके उद्भावित दोष का वारण कैसे होगा – →

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

हेतु शब्द का गौण प्रयोग होता है। तर्कसंग्रह की न्यायबोधिनी टीका में गोवर्धन मिश्र ने कहा है – "हेतुवदाभासन्ते इति हेत्वाभासा: दुष्टहेतव इत्यर्थ:"। व्यभिचार आदि दोष से युक्त रहने से हेतु को दुष्टहेतु कहा जाता है। इनमें हेतु के सभी लक्षणों के नहीं रहने से वह प्रकृत हेतु नहीं होता। इसी को भाष्यकार ने आरम्भ में कहा है – "हेतुलक्षणाभावादहेतव:"। किन्तु वे सभी पदार्थ हेतु के सदृश नहीं होने पर हेत्वाभास नहीं कहलाते। अत: भाष्यकार ने आगे कहा है – "हेतुसामान्याद्धेतुवदाभासमाना:"। हेत्वाभास पदार्थ में हेतु का सादृश्य क्या होता है? इसके उत्तर में उद्योतकर ने पहले कहा है कि प्रतिज्ञावाक्य के बाद जैसे प्रकृतहेतु का प्रयोग होता है वैसे ही दुष्टहेतु का प्रयोग होता है – यही है हेतु का सादृश्य। बाद में कहा है कि अथवा दुष्टहेतु में प्रकृतहेतु के किसी-किसी धर्म के रहने पर वह भी हेतु और हेत्वाभास का सादृश्य कहलाता है। हेत्वाभास में प्रकृतहेतु के कुछ धर्मों के रहने पर भी कुछ धर्म का नहीं रहना ही हेत्वाभास शब्द से ज्ञात होता है। प्राचीन नैयायिकों के मत में प्रकृतहेतु के किसी धर्म के नहीं रहने पर वह हेत्वाभास नहीं होता। वरदराज ने कहा है –

हेतो: केनापि रूपेण रहिता: कैश्चिदन्विता: ।
हेत्वाभासा: पञ्चधा ते गौतमेन प्रपञ्चिता: ॥

यहाँ अनुमान स्थल में प्रकृतहेतु के लक्षण का ज्ञान आवश्यक है। महर्षि ने पहले द्वितीय अवयव हेतु वाक्य के लक्षणसूत्र में "साध्यसाधनं" पद का प्रयोग करके संक्षेप में साध्य का साधनत्व ही हेतु पदार्थ का लक्षण सूचित किया है। किन्तु किस रूप में पदार्थ साध्य का साधन होता है – यह समझना भी आवश्यक है। महर्षि ने हेत्वाभास के पाँच प्रकारों को कहकर इसका स्पष्टीकरण किया है। अर्थात् पाँच लक्षणों से युक्त पदार्थ ही साध्य का साधक होता है। इसी को अनुमापक लिंग या गमकहेतु कहते हैं। आधुनिक नैयायिक इसी को पञ्चरूप या पञ्च लक्षण कहते हैं – (१) पक्षसत्त्व, (२) सपक्षसत्त्व, (३) विपक्षासत्त्व, (४) असत्प्रतिपक्षितत्व, और (५) अबाधितत्व। जहाँ सपक्ष नहीं हो उस स्थल में सपक्षसत्त्व को और जहाँ विपक्ष नहीं हो वहाँ विपक्षासत्त्व को छोड़कर अन्य चार रूप या चार धर्म हेतु के लक्षण होंगे। किन्तु अधिक स्थलों में पाँच लक्षणों से युक्त

→ इसे इन्होंने नहीं कहा है। केवल विभिन्न मतों का उल्लेख किया है। अन्त में इन्होंने कहा है – "केचित्तु यादृशपक्षकयादृशसाध्यकयादृशहेतौ यावन्तो दोषा: सम्भवन्ति तावदन्यान्यत्वमेक-मात्रदोषस्थले च तत्त्वमेव हेत्वाभासत्वम्"। यह मत यदि शिरोमणि को सम्मत हो तो प्राचीन मत में उक्त रूप में दुष्ट हेतु का सामान्यलक्षण माना जा सकता है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

लिंग ही प्रकृत लिंग होता है[१७३] अन्यथा वह हेत्वाभास या लिंगाभास कहलाता है।

जिस पदार्थ में साध्यधर्म पहले से सन्दिग्ध रहता है अथवा जिस अधिकरण में साध्यधर्म की अनुमिति होती है उसका नाम है पक्ष। पक्ष में हेतु की विद्यमानता ही पक्षसत्त्व कहलाती है। जिस पदार्थ में साध्य धर्म पहले से ही निश्चित रहता है और सर्वसम्मत है उसे ही सपक्ष कहते हैं। सपक्ष में हेतु का विद्यमानत्व है सपक्षसत्त्व। जिस अधिकरण में साध्यधर्म का अभाव पहले से निश्चित रहता है वह कहलाता है विपक्ष और उसमें हेतु का अविद्यमानत्व ही विपक्षासत्त्व है। जैसे पर्वत में वह्नि का अनुमान करते समय पर्वत होता है पक्ष, महानस होता है सपक्ष और जलाशय होता है विपक्ष। यहाँ धूम हेतु पक्षभूत पर्वत में रहता है, अतः पक्षसत्त्व एवं सपक्ष महानस में रहता है, इस प्रकार सपक्षसत्त्व हेतु में है, विपक्ष जलाशय में धूम के नहीं रहने से विपक्षासत्त्व भी है। यहीं धूम हेतु के समान बलशाली अपर हेतुरूप प्रतिपक्ष के नहीं रहने से यहाँ असत्प्रतिपक्षत्व भी है। पहले से किसी बलवत् प्रमाण के द्वारा पर्वत में साध्यधर्म वह्नि का अभाव निश्चित नहीं रहने से धूम हेतु में अबाधितत्व भी है। अतः धूमहेतु इन पाँच लक्षणों से विशिष्ट होकर वह्नि का साधक प्रकृतहेतु होता है।

किसी-किसी स्थल में चतुर्लक्षण से युक्त हेतु ही प्रकृतहेतु होता है। उपर्युक्त पाँच लक्षणों में से विपक्षासत्त्व के अभाव में (१) सव्यभिचार, सपक्षसत्त्व के अभाव में, (२) विरुद्ध, असत्प्रतिपक्षितत्व के अभाव में, (३) प्रकरण सम, पक्षसत्त्व के अभाव में, (४) साध्यसम और अबाधितत्व के अभाव में, (५) कालातीत हेत्वाभास होते हैं। अधिक बातें पश्चात् कही जाएंगी। १.२.४।

***भाष्य* – तेषाम् –**

सूत्र – अनैकान्तिकः सव्यभिचारः ।१.२.५।

अनुवाद – इनमें अर्थात् पूर्वसूत्र में कथित पाँच प्रकार के हेत्वाभासों में अनैकान्तिक अर्थात् हेतुरूप में गृहीत पदार्थ, जो प्रकृत में अनैकान्तिक अर्थात् हेतुरूप में गृहीत पदार्थ,

---

[१७३] अन्य दार्शनिकों के मत में लिंग के तीन रूप या तीन लक्षण मान्य हैं। क्योंकि असत्प्रतिपक्षत्व और अबाधितत्व लिंग का लक्षण नहीं होता। किन्तु जैन नैयायिक की दृष्टि में लिंग का एकलक्षणत्व मान्य है। उन्होंने कहा है ''अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणं लिङ्गमुच्यते''। अन्यथा अनुपपति ही केवल एक लक्षण लिंग का मान्य है। जैसे वह्नि के नहीं रहने पर धूम की उपपत्ति या सत्ता सम्भव नहीं है, इसलिए धूम वह्नि का साधक होता है। गौतम मत की युक्ति बाद में कही जाएगी।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

जो प्रकृत साध्यधर्म के सम्बन्ध में एकतर पक्ष में नियत (एकान्तिक) नहीं हो, वह सव्यभिचार नामक हेत्वाभास होता है।

भाष्य – **व्यभिचार एकत्राव्यवस्थितिः। सह व्यभिचारेण वर्तते इति सव्यभिचारः। निदर्शनं – नित्यः शब्दोऽस्पर्शवत्त्वात्, स्पर्शवान् कुम्भोऽनित्यो दृष्टो न च तथा स्पर्शवान् शब्दस्तस्मादस्पर्शवत्त्वात् नित्यः शब्द इति। दृष्टान्ते स्पर्शवत्त्वमनित्यत्वञ्च धर्मौ न साध्यसाधनभूतौ गृह्येते, स्पर्शवांश्चाणुर्नित्यश्चेति। आत्मादौ च दृष्टान्ते "उदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतु" रिति अस्पर्शवत्त्वादिति हेतुर्नित्यत्वं व्यभिचरति, अस्पर्शा बुद्धिरनित्या चेति। एवं द्विविधेऽपि दृष्टान्ते व्यभिचारात् साध्यसाधनभावो नास्तीति लक्षणाभावादहेतुरिति।**

नित्यत्वमप्येकोऽन्तोऽनित्यत्वमप्येकोऽन्तः। एकस्मिन्नन्ते विद्यते इत्यैकान्तिकः। विपर्ययादनैकान्तिकः उभयान्तव्यापकत्वादिति।[१७४]

अनुवाद – व्यभिचार का अर्थ होता है किसी एकपक्ष में अव्यवस्था अर्थात् नियम का अभाव। "व्यभिचारेण सह वर्तते" इस व्युत्पत्ति के अनुसार सव्यभिचार का अर्थ होता है जो व्यभिचार के साथ हो अर्थात् व्यभिचारविशिष्ट हो।

उदाहरण जैसे (१) नित्यः शब्दः, (२) अस्पर्शवत्त्वात्, (३) स्पर्शवान् कुम्भोऽनित्यः दृष्टः, (४) न च तथा स्पर्शवान् शब्दः, (५) तस्मादस्पर्शवत्त्वान्नित्यः शब्दः। दृष्टान्त में उपर्युक्त कुम्भ आदि वैधर्म्य दृष्टान्त में स्पर्शवत्त्व और अनित्यत्व इन दोनों धर्मों को साध्यसाधन भूत नहीं समझा जाता, अर्थात् स्पर्शवान् सभी पदार्थ अनित्य होते हैं, इस रूप में स्पर्शवत्त्व की साधनता और अनित्यत्व की साध्यता इस दृष्टान्त में ज्ञात नहीं होती क्योंकि परमाणु स्पर्शवान् होकर भी नित्य होता है। आत्मा आदि दृष्टान्त में अर्थात् उक्त स्थल में आत्मा आदि नित्य पदार्थ को साधर्म्य दृष्टान्त के रूप में ग्रहण करने पर उदाहरण के साधर्म्य के अनुसार "अस्पर्शत्वात्" इस वाक्य से बोध्य हेतु नित्यत्व का व्यभिचारी होता है। क्योंकि बुद्धि अर्थात् ज्ञान भी स्पर्शशून्य एवं अनित्य

---

[१७४] मुद्रित तात्पर्यटीका में यहाँ "भाष्यकारोक्तमनित्यत्वमेकोऽन्तः" इस तरह का पाठ देखा जाता है। किन्तु परिदृष्ट सभी भाष्य पुस्तकों में नित्यत्वमप्येकोऽन्तः इत्यादि पाठ देखा जाता है। अन्त शब्द का धर्म अर्थ में भी प्रयोग होता है। अनेकान्तवाद की व्याख्या में जैनधर्मभूषणयति ने न्यायदीपिका में लिखा है – "अनेके अन्ता धर्माः"। जैन धर्म में वे सभी धर्म (अस्तित्व नास्तित्व आदि) सर्वथा विरुद्ध नहीं हैं। किन्तु भाष्यकार ने यहाँ अपने मत के अनुसार परस्पर विरुद्ध दो धर्मों को अन्त कहा है। किसी पुस्तक में यहाँ बाद में उभयत्र व्यापकत्वात् पाठ उपलब्ध है। किन्तु वह प्रकृत पाठ नहीं है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

होता है। इस स्थिति में दोनों प्रकार के दृष्टान्त में व्यभिचार के कारण (उक्त स्पर्शशून्यत्व में) साध्यसाधनत्व अर्थात् नित्यत्व का साधनत्व उपपन्न नहीं होता। इसलिए हेतु के लक्षण के नहीं घटने से (लक्षण के अभाव के कारण) उक्त स्पर्शशून्यत्व हेतु नहीं होता है बल्कि वह सव्यभिचार नामक हेत्वाभास होता है।

नित्यत्व एक अन्त है, अनित्यत्व भी एक अन्त है, एक ही अन्त में (सामानाधिकरण्य सम्बन्ध में) दोनों रहते हैं, इस अर्थ में ऐकान्तिक है अर्थात् जो परस्परविरुद्ध दो धर्मों में से किसी एक धर्म के आधार में रहता है उसको उस अर्थ में ''ऐकान्तिक'' कहते हैं। उसके विपर्यय के कारण अनैकान्तिक कहते हैं। अर्थात् ऐकान्तिक का विपरीत होने से अनैकान्तिक कहा जाता है। चूँकि दोनों अन्तों का व्यापकत्व (सामानाधिकरण्य) रहता है। उपर्युक्त स्थल में स्पर्शशून्यत्व हेतु नित्यत्व और अनित्यत्व दोनों धर्मों के आधार में रहने से अनैकान्तिक होता है।

टिप्पणी – पूर्वसूत्र में कथित हेत्वाभास के पहले प्रकार का नाम है सव्यभिचार। इसी का दूसरा प्रसिद्ध नाम है अनैकान्तिक। यह अनुमान के धर्मी में साध्यधर्म और उसके अभाव के विषय में सन्देह का प्रयोजक होता है। इसी अर्थ में महर्षि कणाद ने इसको ''सन्दिग्ध'' नाम से उल्लेख करके पश्चात् सुप्रसिद्ध नाम अनैकान्तिक ग्रहण करके कहा है – ''यस्माद् विषाणी तस्माद् गौरिति चानैकान्तिकस्योदाहरणम्''। (३.१.१७) महिष को पक्ष रूप में ग्रहण करके उसमें ''अयं गौर्विषाणित्वात्'' इस रूप से गोत्व के अनुमान में विषाणित्व (शृंगवत्त्व) का हेतु कथन अनैकान्तिक का उदाहरण होता है। क्योंकि गोत्व विशिष्ट पदार्थ में जैसे शृंगवत्त्व रहता है इसी प्रकार गोत्व से रहित महिष आदि में भी शृंगवत्त्व के रहने से वह अनैकान्तिक होता है। इसमें विपक्ष में अविद्यमानत्व रूप हेतु का लक्षण नहीं रहने से यह अहेतु अर्थात् हेत्वाभास होता है। यह सव्यभिचार नामक हेत्वाभास अनैकान्त तथा अनेकान्त नाम से भी कहा जाता है। महर्षि गौतम ने भी आगे (२.१.२०) स्वयं अनेकान्त पद का प्रयोग इस अर्थ में किया है।[१७५] इन्होंने उपर्युक्त सूत्र में सव्यभिचार नाम का उल्लेख करके अनैकान्तिक शब्द से उसका लक्षण कहा है। जो अनैकान्तिक होता है वह उपर्युक्त सूत्रोक्त सव्यभिचार पद का प्रतिपाद्य होता है –

---

[१७५] तार्किकरक्षा में वरदराज ने कहा है – ''तत्र सव्यभिचारः स्यादनेकान्तः स च द्विधा। एकत्रान्तो निश्चयो व्यवस्थितिर्नास्तीति''। टीकाकार मल्लिनाथ ने यहाँ कहा है कि यहाँ निश्चयवाचक अन्त शब्द से व्यवस्था अर्थात् नियम लक्षित होता है। अतः सपक्ष और विपक्ष में से किसी एक पक्ष में जिसका अन्त या नियम नहीं है वह अनेकान्त शब्द से अभिप्रेत है। इस अनेकान्त शब्द से साधारण और असाधारण रूप दो प्रकार का सव्यभिचार ज्ञात होता है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

यही महर्षि का अभिप्राय प्रतीत होता है। इस दृष्टि से अर्थ की पुनरुक्ति रूप दोष भी नहीं होता। क्योंकि अनैकान्तिकत्व और सव्यभिचार के अभिन्न धर्म होने पर भी सव्यभिचार पद प्रतिपाद्यत्व और अनैकान्तिकत्व में भेद रहता है।

किन्तु वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि इस सूत्र में समानार्थक दो पदों से लक्ष्य का निर्देश और लक्षण का कथन हुआ है। जो अनैकान्तिक होता है वही सव्यभिचार कहलाता है और जो सव्यभिचार होता है वह अनैकान्तिक कहलाता है – यही महर्षि को विवक्षित है। ''यस्य अनैकान्तिकपदार्थोऽप्रसिद्धः प्रसिद्धश्च सव्यभिचारपदार्थस्तं प्रति अनैकान्तिक इति लक्ष्यनिर्देशः सव्यभिचार इति लक्षणम्''। अर्थात् अनैकान्तिक शब्द जिसके लिए अपरिचित है किन्तु सव्यभिचार पद ज्ञात है उसके लिए महर्षि ने अनैकान्तिक पद से लक्ष्य का निर्देश किया है और सव्यभिचार शब्द से उसका लक्षण कहा है। जयन्त भट्ट ने भी यह बात कही है। चूँकि उक्त अनैकान्तिक पद का अर्थ किसी शास्त्र में उक्त नहीं है। अतः उस पद से सव्यभिचार हेत्वाभास का लक्षण कैसे ज्ञात होगा? इसके समाधान में उद्योतकर ने कहा है – ''लोकतस्तदधिगतेः'' इत्यादि। अर्थात् अनैकान्तिक पद का अर्थ लोक में प्रसिद्ध है। जो किसी एक अन्त में (पक्ष में) नियत न होकर दोनों ही पक्षों में नियत होता है उसको अनैकान्तिक कहते हैं – इसके लोक में प्रसिद्ध रहने से शास्त्र में नहीं कहा गया है। वाचस्पति मिश्र ने यहाँ व्याख्या की है – ''लोकप्रसिद्धत्वेनोक्त-प्रायमित्यर्थः''। किन्तु ऐसा मानने पर विचारणीय होगा कि वाचस्पति मिश्र की पूर्वोक्त व्याख्या कैसे संगत होगी। जो लोकप्रसिद्ध अनैकान्तिक पद का अर्थ जानते हैं वे सव्यभिचार का अर्थ कैसे समझेंगे? फलतः उद्योतकर की इस व्याख्या से हम लोग यही समझते हैं कि इनके मत में भी सूत्र का सव्यभिचार पद से लक्ष्य का निर्देश हुआ है और अनैकान्तिक पद से लक्षण का। वस्तुस्थिति यही है कि महर्षि ने सर्वत्र लक्षण सूत्रों में लक्ष्य के बोधक पद का उल्लेख पश्चात् किया है।

जो अनैकान्तिक होता है वही सव्यभिचार पद का प्रतिपाद्य होता है – यह समझाने के लिए दोनों पक्षों में समानार्थकता दिखाते हुए भाष्यकार ने कहा है – ''व्यभिचार एकत्राव्यवस्थितिः''। किसी एक पक्ष में व्यवस्थिति अर्थात् नियम का अभाव ही व्यभिचार शब्द का अर्थ होता है। ''व्यभिचारेण सह वर्तते'' इस व्युत्पत्ति के अनुसार ज्ञात होता है कि जो व्यभिचार के साथ अर्थात् व्यभिचारविशिष्ट होता है वही सव्यभिचार शब्द का अर्थ होता है। जिस पदार्थ में किसी एक ही पक्ष में विद्यमानत्व का नियम नहीं है किन्तु दोनों ही पक्षों में विद्यमानत्व रहता है उसी को सव्यभिचार कहते हैं। भाष्यकार ने इस तरह अनैकान्तिक शब्द की व्याख्या करके दोनों पदों की समानार्थकता व्यक्त की है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

भाष्यकार की व्याख्या एवं उदाहरण से ज्ञात होता है कि इस मत में जो हेतु सपक्ष एवं विपक्ष दोनों में रहता है वह सव्यभिचार हेत्वाभास होता है। जयन्त भट्ट ने इसका समर्थन किया है। उद्योतकर ने पहले कहा है – ''यत्खलु साध्यतज्जातीयवृत्तित्वे सति अन्यत्र वर्तते तद्व्यभिचारि तद्वृत्तित्वं व्यभिचारः''। साध्यधर्मी में (पक्ष में) तज्जातीय पदार्थ में (सपक्ष में) वर्तमान रहकर जो हेतु अन्यत्र (साध्यधर्म शून्यपदार्थ में – विपक्ष में) रहता है उसी को व्यभिचारी हेतु या सव्यभिचार हेत्वाभास कहते हैं। इसका नाम है साधारण सव्यभिचार। ''यः सपक्षे विपक्षे च भवेत्साधारणस्तु सः'' (भाषापरिच्छेद)।

भाष्यकार ने सव्यभिचार हेत्वाभास का उदाहरण दिखाते हुए कहा है – ''नित्यः शब्दः'' आदि पाँच अवयव वाक्यों का प्रयोग करते समय अस्पर्शवत्त्वात् हेतुवाक्य के पश्चात् वैधर्म्य उदाहरण का प्रयोग करके वैधर्म्य उपनय वाक्य का भी प्रयोग किया है। इस स्थल में सभी वाक्य अवयव न होकर अवयवाभास ही हैं। क्योंकि उक्त स्थल में ''अस्पर्शवत्त्वात्'' वाक्य से बोध्य स्पर्शरहितत्व हेतु प्रकृत हेतु नहीं है किन्तु सव्यभिचार नामक हेत्वाभास है। इसको समझाने के लिए भाष्यकार ने कहा है – ''दृष्टान्ते स्पर्शवत्त्व-मनित्यत्वञ्च धर्मौ'' इत्यादि। तात्पर्य यह है कि जिन पदार्थों में उक्त स्पर्शशून्यत्वरूप हेतु नहीं है अर्थात् स्पर्शवत्त्व ही है उनमें नित्यत्वरूप साध्यधर्म नहीं है और अनित्यत्व है जैसे कुम्भ।[१७६] इस रूप में कुम्भ को वैधर्म्य दृष्टान्त मानकर उसमें स्पर्शवत्त्व और अनित्यत्व रूप धर्मद्वय का साध्य-साधनभाव अर्थात् स्पर्शवत्त्व साधन और अनित्यत्व साध्य ज्ञात नहीं होता क्योंकि परमाणु स्पर्शविशिष्ट होकर भी अनित्य नहीं नित्य होता है। अतः स्पर्शविशिष्ट पदार्थ मात्र नित्य न होकर स्पर्शशून्यत्वरूप हेतु के अभाव में अर्थात् स्पर्शवत्त्व में नित्यत्वरूप साध्यधर्म के अभाव की (अनित्यत्व की) व्याप्ति नहीं

---

[१७६] भाष्य में ''स्पर्शवान् कुम्भोऽनित्यो दृष्टः'' इस सन्दर्भ की व्याख्या में वाचस्पति मिश्र ने कहा है ''अनित्यः कुम्भः स्पर्शवान् दृष्टः इति योजना''। इस सन्दर्भ में पहले उक्त स्पर्शवान् पद का शेषोक्त ''दृष्टः'' पद के साथ अन्वय करने पर भाष्यकार का अभिप्राय ज्ञात होता है कि कुम्भ में अनित्यत्वरूप साध्याभाव के कारण स्पर्शवत्त्वरूप हेतु का अभाव रहता है। किन्तु भाष्यकार का यदि यही अभिप्रेत रहता तो वैसा ही उदाहरणवाक्य क्यों नहीं कहा, यह भी कहना होगा। वस्तुतः भाष्यकार ने पहले (पृ. ३४९) महर्षि के सूत्र के अनुसार वैधर्म्य दृष्टान्त की व्याख्या में कहा है कि ऐसे दृष्टान्त में हेतु के अभाव के कारण साध्यधर्म का अभाव कहने पर तदनुसार ही यहाँ उदाहरणवाक्य कहना होगा। ऐसा स्पष्ट है। वाचस्पति मिश्र ने भाष्यकार की उक्त व्याख्या का ग्रहण न करके भी स्पष्ट कहा है कि भाष्यकार का यहाँ ऐसा कथन है। तथापि यहाँ वाचस्पति मिश्र ने अपने मत के अनुसार भाष्यकार के उस सन्दर्भ की व्याख्या इस तरह से क्यों की – यह विचारणीय है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

होती। अतएव उक्त वैधर्म्य दृष्टान्त में स्पर्शशून्यत्व धर्म का, नित्यत्व का साधन मानकर, ग्रहण नहीं किया जा सकता क्योंकि स्पर्शरहित सभी पदार्थ नित्य होते हैं जैसे आत्मा आदि। इस तरह से वादी यदि इस स्थल में आत्मा आदि का साधर्म्य दृष्टान्त के रूप में ग्रहण करता है तो ऐसी स्थिति में उक्त स्पर्शशून्यत्व को नित्यत्व का साधन नहीं माना जा सकता क्योंकि जीव की बुद्धि या ज्ञान स्पर्शशून्य होकर भी अनित्य होती है। अतः स्पर्शरहित पदार्थ के नित्य नहीं होने से नित्यत्व की व्याप्ति उस स्पर्शशून्यत्व में नहीं हो सकती। अतः स्पर्शशून्यत्व नित्यत्व का साधन नहीं होता।

अभिप्राय यह है कि दोनों प्रकार के दृष्टान्त के लेने पर जब यह निश्चित है कि स्पर्शशून्यत्व हेतु नित्यत्व का व्यभिचारी होता है तब उपपन्न ही है कि स्पर्शशून्यत्व में नित्यत्व के साधक हेतु का लक्षण नहीं घटता। अतः वह अहेतु या हेत्वाभास होता है। महर्षि ने स्वयं आगे कहा है – ''व्यभिचारादहेतुः'' (४.१.५) इस सूत्र में स्पष्ट ही उक्त है कि साध्यधर्म का व्यभिचारी होने से वह हेतु नहीं होता। इससे यह भी सूचित होता है कि साध्यधर्म का अव्यभिचार ही अनुमान का अंग व्याप्तिपदार्थ है। महर्षि ने आगे (२.२.१५) के सूत्र में अव्यभिचार शब्द से फलतः व्याप्तिपदार्थ ही कहा है। कुछ का यह कहना नितान्त असत्य है कि न्यायसूत्र में अनुमान के अंग व्याप्तिपदार्थ का किसी रूप में उल्लेख ही नहीं है।

उपर्युक्त स्थल में अस्पर्शवत्त्व रूप हेतु अनैकान्तिक है – इसे समझाने के लिए भाष्यकार ने पश्चात् कहा है – ''नित्यत्वमप्येकोऽन्तः'' इत्यादि। अभिप्राय यह है कि अनैकान्तिक शब्द के अन्तर्गत अन्त शब्द से साध्यधर्म और उसका अभाव दोनों ही विरुद्ध धर्म ज्ञातव्य हैं। अतः उपर्युक्त स्थल में नित्यत्व एवं अनित्यत्व दोनों ही अन्त शब्द से लिए जाते हैं। अतः उपर्युक्त स्थल में स्पर्शशून्यत्व हेतु ऐकान्तिक नहीं है। क्योंकि ''एकस्मिन्नन्ते विद्यते'' अर्थात् सामानाधिकरण्य सम्बन्ध में जो एक अन्त (पक्ष) में विद्यमान रहता है – इस अर्थ में एकान्त शब्द से तद्धित प्रत्यय करके निष्पन्न ऐकान्तिक पद से ज्ञात होता है कि दोनों अन्तों (पक्षों) के बीच किसी एक अन्त (पक्ष) के आधार में जो विद्यमान रहता है। जैसे वह्नि और उसके अभावरूप दो अन्तों के मध्य में से एक अन्त (पक्ष) वह्नि के अधिकरण में धूम रहता है और वह्नि के अभाव के अधिकरण में (वह्नि से रहित स्थान में) धूम नहीं रहता। अतः वह्नि के सम्बन्ध में धूम ऐकान्तिक होता है। उपर्युक्त स्थल में नित्यत्व तथा अनित्यत्व इन दो अन्तों में से केवल नित्यत्व के अधिकरण में अथवा केवल अनित्यत्व के अधिकरण में स्पर्शराहित्य के नहीं रहने से नित्यत्वरूप साध्यधर्म में वह ऐकान्तिक नहीं है। वह नित्यत्व और अनित्यत्वरूप दोनों

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अन्तों के अधिकरण में नित्य और अनित्य पदार्थों में विद्यमान रहता है। अतः ऐकान्तिक का विपरीत अनैकान्तिक होता है। इसी को स्पष्ट करते हुए भाष्यकार ने कहा है – "विपर्ययादनैकान्तिक उभयान्तव्यापकत्वादिति"। व्यापकत्व पद से यहाँ केवल सामानाधिकरण्य विवक्षित है। दोनों अन्तों के अधिकरण में विद्यमानत्व ही "उभयान्तव्यापकत्व" का अर्थ होता है। अतः भाष्यकार की व्याख्या से ज्ञात होता है कि इनके मत में अनैकान्तिक हेतु में उभयान्तव्यापकत्व ही ऐकान्तिक का विपर्यय या वैपरीत्य होता है। अतः जो हेतु साध्यधर्मविशिष्टपदार्थ एवं साध्यधर्मशून्यपदार्थ में रहता है वह अनैकान्तिक कहलाता है। स्पर्शशून्यत्व हेतु आत्मा आदि अनेक नित्य पदार्थों में एवं ज्ञान आदि अनेक अनित्य पदार्थों में भी रहती है। अतः वह हेतु अनैकान्तिक है।

पश्चात् किसी बौद्ध नैयायिक ने इस "अनैकान्तिक" हेत्वाभास का खण्डन करते हुए कहा है कि इस नञ् पद से पर्युदास का ग्रहण नहीं किया जा सकता एवं प्रसज्य प्रतिषेध भी नहीं होगा। क्योंकि पर्युदास पक्ष में नञ् पद से भेद का ज्ञान होता है और प्रसज्य प्रतिषेध से अत्यन्ताभाव का। किन्तु जो ऐकान्तिक से भिन्न होगा वही अनैकान्तिक कहलाएगा – यह मानने पर सभी हेत्वाभास अनैकान्तिक हो जाएंगे। क्योंकि कोई भी हेत्वाभास ऐकान्तिक नहीं होता। यदि ऐकान्तिक के अत्यन्ताभाव को अनैकान्तिक कहेंगे तो व्यभिचार विशिष्ट हेतु भी अनैकान्तिक से ज्ञात नहीं होगा। जयन्त भट्ट ने इस विषय में बहुत विचार किया है। उद्योतकर ने किसी कारण से प्रसज्य प्रतिषेध मानकर इसका प्रतिवाद किया है किन्तु वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि पर्युदास पक्ष ही उद्योतकर का अपना मत है। क्योंकि उद्योतकर की व्याख्या के अनुसार विरुद्ध आदि अन्यान्य हेत्वाभास अनैकान्तिक नहीं होते।[177] वस्तुतः भाष्यकार की व्याख्या के अनुसार भी वह नहीं होता।

उद्योतकर के मत में इस अनैकान्तिक शब्द से असाधारण सव्यभिचार भी ज्ञात होता है। इसका समर्थन करते हुए उद्योतकर ने कहा है – "व्यावृत्तिद्वारेणाभिधीयमानोऽय-मुभयान्तव्यावृत्तेरनैकान्तिक इति"। जो हेतु दो अन्तों के मध्य में किसी अन्त के अधिकरण में नहीं रहता अर्थात् सपक्ष में भी नहीं रहता और विपक्ष में भी नहीं रहता तथा केवल पक्ष में रहता है वह भी ऐकान्तिक के विपरीत होकर अनैकान्तिक होता है। जैसे "शब्दो

---

[177] एकस्मिन्नन्ते नियतः ऐकान्तिकः विपर्ययादनैकान्तिकः। न्यायवार्त्तिक। "एकस्मिन्नन्ते यो नियतः स ऐकान्तिकस्तद्विपर्ययादनैकान्तिकोऽनियतः, अनित्यत्वे नित्यत्वे चान्वयेन व्यतिरेकेण वा उभयपक्षगामीति यावत्। न चैवंभूता विरुद्धादयो हेत्वाभासा इत्यभिप्रायः"।
– तात्पर्यटीका

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

नित्यः शब्दत्वात्'' इस प्रयोग में पक्षभूत केवल शब्द का साधारण अर्थ शब्दत्व हेतु है। तार्किकरक्षाकार वरदराज ने सव्यभिचार के दो प्रकार साधारण और असाधारण कहे हैं। किन्तु बाद में तत्त्वचिन्तामणिकार गङ्गेश उपाध्याय ने अनुपसंहारी नामक तीसरा प्रकार भी इसका कहा है। जैसे ''सर्व प्रमेयम्'' इस प्रयोग में सभी पदार्थ के पक्षरूप में ग्रहण करने पर इस स्थल के हेतु को अनुपसंहारी कहा जाएगा। मतभेद के कारण इसका दूसरे प्रकार का भी उदाहरण हो सकता है। किन्तु प्राचीन नैयायिक भासर्वज्ञ ने अनैकान्तिक के आठ प्रकारों को कहकर इन सबका उदाहरण प्रदर्शित किया है। न्यायसार का अनुमान परिच्छेद इसके लिए द्रष्टव्य है। (१.२.५)

सूत्र – सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः ।१.२.६।

अनुवाद – सिद्धान्त रूप में किसी पदार्थ को मानकर उसका विरोधी पदार्थ अर्थात् स्वीकृत सिद्धान्त का व्याघातक पदार्थ विरुद्ध नामक हेत्वाभास होता है।

भाष्य – **तं विरुणद्धीति तद्विरोधी। अभ्युपेतं सिद्धान्तं व्याहन्तीति। यथा सोऽयं विकारो व्यक्तेरपैति नित्यत्वप्रतिषेधात्, न नित्यो विकार उपपद्यते, अपेतोऽपि विकारोऽस्ति विनाशप्रतिषेधात्, सोऽयं नित्यत्वप्रतिषेधादिति-हेतुर्व्यक्तेरपेतोऽपि विकारोऽस्तीत्यनेन स्वसिद्धान्तेन विरुध्यते।**

कथम्? व्यक्तिरात्मलाभः, अपायः प्रच्युतिः, यद्यात्मलाभात् प्रच्युतो विकारोऽस्ति, नित्यत्वप्रतिषेधो नोपपद्यते, यद्व्यक्तेरपेतस्यापि विकारस्यास्तित्वं तत् नित्यत्वमिति, नित्यत्वप्रतिषेधो नाम विकारस्यात्मलाभात् प्रच्युतेरुपपत्तिः। यदात्मलाभात् प्रच्यवते तदनित्यं दृष्टम्, यदस्ति न तदात्मलाभात् प्रच्यवते। अस्तित्वञ्चात्मलाभात् प्रच्युतिरिति विरुद्धावेतौ धर्मौ न सह सम्भवत इति। सोऽयं हेतुर्यं सिद्धान्तमाश्रित्य प्रवर्तते तमेव व्याहन्तीति।

अनुवाद – जो उसका विरोध करे – इस अर्थ में सूत्र का तद्विरोधी पद है – अर्थात् जो स्वीकृत सिद्धान्त का खण्डन करे। अर्थ यह हुआ कि जो हेतु स्वीकृत सिद्धान्त का विरोधी हो उसे ''विरुद्ध'' नामक हेत्वाभास कहते हैं। जैसे वह विकार (महत्, अहंकार तथा पञ्चतन्मात्रा आदि) व्यक्ति-अभिव्यक्ति से अपगत होता है, चिरकाल तक विकाररूप में अभिव्यक्त नहीं रहता क्योंकि नित्यत्व का अभाव रहता है, नित्य विकार उपपन्न नहीं होता (किन्तु) अपगत होकर भी सभी विकार पदार्थ अभिव्यक्ति से प्रच्युत होकर भी विद्यमान रहता है क्योंकि विनाश का अभाव (अविनाशित्व) रहता है। यह नित्यत्वप्रतिषेधात् वाक्य से बोध्य हेतु अर्थात् अनित्यत्व व्यक्ति से प्रच्युत होकर विकार विद्यमान रहता है – इस निज सिद्धान्त के साथ अर्थात् पूर्वस्वीकृत विकार का नित्यत्व

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

रूप सिद्धान्त के साथ विरुद्ध होता है। (प्रश्न) कैसे? (उत्तर) "व्यक्ति" कहते हैं आत्मलाभ को (अर्थात् विकार के स्वस्वरूप प्राप्ति रूप अभिव्यक्ति ही उपर्युक्त व्यक्ति शब्द का अर्थ होता है और अपाय का अर्थ होता है प्रच्युति)। यदि आत्मलाभ से प्रच्युत होकर भी विकार पदार्थ विद्यमान रहता है। अतः इन सभी पदार्थों के नित्यत्व का अभाव सिद्ध नहीं होता क्योंकि व्यक्ति से प्रच्युत होकर भी विकार पदार्थ की जो विद्यमानता है वही है नित्यत्व। नित्यत्व के प्रतिषेध से विकार पदार्थ के आत्मलाभ से प्रच्युति की उपपत्ति होगी अर्थात् विकार पदार्थ में प्रच्युतिमत्त्व आएगा। जो वस्तु आत्मलाभ से प्रच्युत होती है, वह अनित्य होती है। जो वस्तु विद्यमान रहती है वह आत्मलाभ से प्रच्युत नहीं होती। विद्यमानत्व एवं आत्मलाभ से प्रच्युति नामक दोनों ही विरुद्ध धर्मों का एक अधिकरण में रहना सम्भव नहीं है। अतः यह हेतु (नित्यत्व का अभाव) जिस सिद्धान्त का (विकार पदार्थ की विद्यमानता का) आश्रय करके प्रवृत्त होता है उसी सिद्धान्त का खण्डन करता है अर्थात् उसका व्याघातक होता है।

टिप्पणी – उपर्युक्त दूसरे प्रकार के हेत्वाभास का नाम है विरुद्ध। महर्षि ने इस सूत्र से इसका लक्षण कहा है कि किसी सिद्धान्त को स्वीकार करके उसके विरोधी के साधक हेतु को विरुद्ध कहते हैं। भाष्यकार ने पहले सूत्रगत "तद्विरोधी" पद की व्याख्या की है "तं विरुणद्धीति तद् विरोधी"। पश्चात् इसकी व्याख्या में कहा है – "अभ्युपेतं सिद्धान्तं व्याहन्तीति"। तं पद की व्याख्या है "अभ्युपेतं सिद्धान्तम्" और विरुणद्धि पद की व्याख्या है "व्याहन्ति"। पहले सिद्धान्त शब्द का उल्लेख रहने से पश्चात् तत् पद से उस सिद्धान्त का ग्रहण होता है। जो वादी जिस पदार्थ को अपने सिद्धान्त के रूप में ग्रहण करता है वही उसके सिद्धान्त शब्द का अर्थ होता है। अतः महर्षि ने कहा है सिद्धान्तमभ्युपेत्य (स्वीकृत्य)। यदि उक्त हेतुवादी पुरुष ही उस सिद्धान्त को स्वीकार करता है तो उसके हेतुपदार्थ में उसकी स्वीकृति की विवक्षा करके महर्षि ने कहा है – "सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी"। वाचस्पति मिश्र ने भी यही कहा है। फलितार्थ यह हुआ कि स्वीकृत सिद्धान्त का व्याघातक अर्थात् उसके अभाव का साधक हेतु विरुद्ध नाम का दूसरे प्रकार का हेत्वाभास होता है।

भाष्यकार ने पश्चात् इसका उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहा है – "यथा सोऽयं विकारो व्यक्तेरपैति नित्यत्वप्रतिषेधात् इत्यादि"।[१७८] तात्पर्य यह है कि सांख्य सम्प्रदाय

---

[१७८] योगदर्शन में विभूतिपाद के तेरहवें सूत्र के भाष्य में व्यासदेव ने कहा है – "तदेतत् त्रैलोक्यं व्यक्तेरपैति" इत्यादि। वहाँ वाचस्पति मिश्र की व्याख्या भी द्रष्टव्य है। उद्योतकर ने भी वहाँ कहा है – "तदेतत् त्रैलोक्यम्" इत्यादि। किन्तु वात्स्यायन ने यहाँ योगभाष्य के सन्दर्भ का →

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

के मत में महत्, अहंकार, पञ्चतन्मात्रा आदि तेइस तत्त्व विकार कहलाते हैं। महत् आदि सात तत्त्व प्रकृति होकर भी विकृति कहलाते हैं। इन सभी विकारभूत पदार्थों के उन रूपों में परिणाम ही आत्मलाभ है जो व्यक्ति या अभिव्यक्ति कहलाता है। किन्तु वह अभिव्यक्ति चिरकाल तक टिकता नहीं है। ये सभी विकार किसी-न-किसी समय में आत्मलाभरूप व्यक्ति से प्रच्युत होते हैं – इसे सिद्ध करने के लिए सांख्य सम्प्रदाय ने नित्यत्व के अभाव को हेतु कहा है। किन्तु वे ही पुनः आगे कहते हैं – ''अपेतोऽपि विकारोऽस्ति विनाशप्रतिषेधात्'' अर्थात् सभी विकार आत्मलाभरूप अभिव्यक्ति से प्रच्युत होकर भी विद्यमान रहते हैं क्योंकि उनका विनाश नहीं होता। इसी को भाष्यकार ने कहा है कि इस स्थल में सांख्य सम्प्रदाय को उपर्युक्त ''नित्यत्वप्रतिषेधात्'' वाक्य से कहा गया नित्यत्वाभावरूप हेतु उनके स्वीकृत सिद्धान्त का विरुद्ध पड़ता है। यथा ''अपेतोऽपि विकारोऽस्ति'' इस वाक्य से उन्होंने विकार पदार्थों के विद्यमानत्व का सिद्धान्त स्वीकार किया है, जो वस्तुतः नित्यत्व ही है। जो पदार्थ चिरकाल तक विद्यमान रहता है, उनको कभी भी अनित्य नहीं माना जा सकता। अब नित्यत्व और अनित्यत्व परस्पर विरोधी होने से एक अधिकरण में दोनों धर्म नहीं रह सकते। फल यह हुआ कि उपर्युक्त अनित्यत्व हेतु उनके स्वीकृत नित्यत्व सिद्धान्त का व्याघातक होने से यहाँ विरुद्ध नामक हेत्वाभास होता है।

वस्तुतः सांख्य मत में मूलप्रकृति और पुरुष से भिन्न समस्त पदार्थ अनित्य होकर भी प्रलयकाल में भी अत्यन्त विनष्ट नहीं होते। किन्तु मूलप्रकृति में उनका लय या तिरोभाव हो जाता है। वे सभी पदार्थ मूलप्रकृति के रूप में उस प्रलयकाल में भी विद्यमान रहते हैं। अतः मूलप्रकृति के रूप में उनका नित्यत्व रहता है। इन पदार्थों का किसी प्रकार से नित्यत्व एवं किसी प्रकार से अनित्यत्व सांख्य मत में विरुद्ध नहीं माना जाता है अपितु वह मान्य सिद्धान्त है, किन्तु असत्कार्यवादी न्यायवैशेषिक सम्प्रदाय परिणाम नहीं मानता, अतः इनके मत में किसी पदार्थ का मूल कारण के रूप में विद्यमानत्व सम्भव नहीं है। अतः इस मत में जन्य भाव पदार्थ का निरन्वय विनाश अर्थात् अत्यन्त विनाश मान्य है। किसी पदार्थ का कथंचित् नित्यत्व एवं कथंचित् अनित्यत्व सम्भव नहीं है। अन्यथा जैन सम्प्रदाय के समान यह मत भी स्याद्वाद के रूप में क्यों नहीं मान्य होगा?

→ उद्धरण नहीं दिया। वाचस्पति मिश्र ने यहाँ व्याख्या की है – ''महदहंकारपञ्चतन्मात्रैकादशेन्द्रिय (भूतसूक्ष्म) महाभूतानि विकारस्तस्य व्यक्तिधर्मलक्षणावस्था परिणामस्तस्मादपाय इति।'' – तात्पर्यटीका। उपर्युक्त योगसूत्रभाष्य में त्रिविध परिणाम की व्याख्या आदि द्रष्टव्य है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

वेदान्त दर्शन में बादरायण ने कहा है – "नैकस्मिन्नसम्भवात्" (२.२.३३)। अवश्य इस विषय में सांख्य सम्प्रदाय के पक्ष में अनेक बातें होंगी किन्तु भाष्यकार ने यहाँ गौतम के मतानुसार केवल उक्त हेतु को विरुद्ध कहा है। वार्त्तिककार उद्योतकर ने यहाँ विरुद्ध हेत्वाभास का उदाहरण प्रदर्शित करते हुए कहा है – "तदेतत् त्रैलोक्यं व्यक्तेरपैति नित्यत्वप्रतिषेधात्, अपेतमप्यस्ति विनाशप्रतिषेधात्" इत्यादि।

उद्योतकर ने इस सूत्र की व्याख्या में कहा है कि जो पदार्थ स्वीकृत सिद्धान्त को बाधित करता है अथवा उस सिद्धान्त से बाधित होता है – ये दोनों ही स्वीकृत सिद्धान्त के विरोधी होने से विरुद्ध नामक हेत्वाभास होते हैं। तात्पर्य यह है कि जो पदार्थ स्वरूपतः स्वीकृत सिद्धान्त के विरुद्ध है एवं जिस पदार्थ में स्वीकृत सिद्धान्त का साधनत्व निश्चित रूप से नहीं है, वह विरुद्ध हेत्वाभास होता है – यही इस सूत्र से महर्षि को विवक्षित है। क्योंकि ऐसा मानने पर उनके अनुक्त अन्यान्य सभी द्वारा उक्त हेत्वाभास विरुद्ध इस लक्षण से युक्त होगा, अन्यथा सभी हेत्वाभास कहे ही नहीं जाएंगे। किन्तु तब प्रश्न होता है कि सभी हेत्वाभास इस प्रकार विरुद्ध हेत्वाभास से युक्त होकर विरुद्ध नामक एक ही हेत्वाभास क्यों नहीं माने जाएं? तब महर्षि ने हेत्वाभास के पाँच प्रकारों को क्यों कहा? इसके उत्तर में उद्योतकर का कहना है कि एक ही हेत्वाभास होता है यह तो सत्य है अर्थात् सभी हेत्वाभास विरुद्ध हेत्वाभास ही हैं किन्तु उनमें सव्यभिचारत्व आदि विभिन्न पाँच विशेष धर्मों को ग्रहण करके महर्षि ने इसे पाँच प्रकार का कहा है। सभी हेत्वाभासों में विरुद्धत्व रूप सामान्य धर्म रहता ही है। किन्तु इनमें से जिसमें सव्यभिचारत्व रूप विशेष धर्म रहता है उसको "सव्यभिचार विरुद्ध" कहते हैं। इसी प्रकार प्रकरणसमत्वरूप विशेष धर्म के रहने पर उसको "प्रकरणसम विरुद्ध" कहेंगे। इसी प्रकार "साध्यसम विरुद्ध" एवं "कालातीत विरुद्ध" भी होंगे। किन्तु जिस हेत्वाभास में उपर्युक्त सव्यभिचारत्व आदि विशेष धर्म नहीं रहता केवल विरुद्धत्व रहता है उसको केवल विरुद्ध नाम से कहा जाएगा। महर्षि ने इसी को समझाने के लिए अलग से विरुद्ध नामक हेत्वाभास को कहा है। फलितार्थ यह हुआ कि उद्योतकर के मत में हेत्वाभास या दुष्टहेतु मात्र में साध्य का साधनत्व रूप हेतु लक्षण से नहीं रहने से सभी हेत्वाभास विरुद्ध के लक्षण से युक्त होते हैं। भाष्यकार ने इस सूत्र की ऐसी व्याख्या न करके भी पहले ही वादलक्षणसूत्र की व्याख्या में इस सूत्र को उद्धृत करके सभी हेत्वाभासों का ग्रहण किया है – यह लक्ष्य करना यहाँ आवश्यक है।

किन्तु उद्योतकर की इस प्रकार की व्याख्या में बहुत वक्तव्य हो सकता है। उद्योतकर ने स्वयं भी पश्चात् दूसरी प्रकार की व्याख्या की है – "प्रतिज्ञाहेत्वोर्वा विरोधः, यो वा

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः स विरुद्धो हेत्वाभासः''। किन्तु इसमें भी प्रश्न होता है – महर्षि ने पञ्चम अध्याय के द्वितीय आह्निक में निग्रहस्थान का निरूपण करते समय प्रतिज्ञावाक्य और हेतुवाक्य के विरोध को ''प्रतिज्ञाविरोध'' नामक तृतीय प्रकार का निग्रहस्थान कहा है। अब यहाँ उसको विरुद्ध नामक हेत्वाभास कैसे कहा जाएगा? इसके उत्तर में उद्योतकर ने कहा है कि विरोध उभयाश्रित होता है। महर्षि ने उस विरोध के आश्रय में भेद की विवक्षा करके उसको बाद में निग्रहस्थान कहा है। जिस स्थल में प्रतिज्ञावाक्य का आश्रय करके हेतुवाक्य के साथ उसका विरोध होता है उस स्थल में उसको प्रतिज्ञा विरोध नामक निग्रहस्थान कहते हैं। पश्चात् जिस स्थल में हेतुवाक्य का आश्रय करके प्रतिज्ञावाक्य के साथ उसका विरोध होता है उसको विरुद्ध नामक हेत्वाभास कहते हैं। उद्योतकर ने पश्चात् यहाँ हेतु विरोध आदि का उदाहरण भी प्रस्तुत किया है। वाचस्पति मिश्र ने कहा है – ''अत्र चार्थे सुगमं भाष्यम्''। उद्योतकर के अन्त में उक्त सूत्रार्थ से सरल रूप से भाष्य का अर्थ ज्ञात होता है। किन्तु इस सूत्र-पाठ से सरल रूप में यह अर्थ हम लोग समझ नहीं पाते। वृत्तिकार विश्वनाथ ने इस सूत्र में सिद्धान्त पद से साध्यधर्म को लेकर सरल रूप से व्याख्या की है कि जो पदार्थ साध्यधर्म का विरोधी है अर्थात् उसके अभाव का व्याप्य होता है वह पदार्थ विरुद्ध नामक हेत्वाभास होता है। जैसे वह्नि के अनुमान के लिए ''जलत्वात्'' कहने पर जलत्व हेतु विरुद्ध हेत्वाभास होता है। क्योंकि जलत्व हेतु वह्नि के अभाव का ही व्याप्य होता है। अतः साध्यधर्म के अभाव का साधक होता है वह वह्नि का साधक हेतु नहीं होता इस विरुद्ध हेत्वाभास से प्रतिज्ञा विरोध नामक निग्रहस्थान कैसे भिन्न होता है – इस विषय में वाचस्पति मिश्र आदि की बातें पञ्चम खण्ड, बंग संस्करण (पृ. ४२७) में कही जाएंगी। (१.२.६)

सूत्र – यस्मात् प्रकरणचिन्ता स निर्णयार्थमपदिष्टः प्रकरणसमः ।१.२.७।

अनुवाद – जिस कारण से प्रकरण चिन्ता उत्पन्न होती है अर्थात् किसी पक्ष का निर्णय न होकर संशय के विषयीभूत पक्ष और प्रतिपक्षरूप प्रकरण के विषय में जिज्ञासा होती है, उस स्थल में निर्णय के लिए हेतुरूप में कथित पदार्थ ''प्रकरणसम'' नामक हेत्वाभास होता है।

भाष्य – **विमर्शाधिष्ठानौ पक्षप्रतिपक्षावुभावनवसितौ प्रकरणं, तस्य चिन्ता विमर्शात् प्रभृति प्राङ्निर्णयात् यत्प्रकरणमनतिवर्तमानः प्रकरणसमो निर्णयाय न प्रकल्पते। प्रज्ञापनं त्वनित्यः शब्दो नित्यधर्मानुपलब्धेरित्यनुपलभ्यमान-नित्यधर्मकमनित्यं दृष्टं स्थाल्यादि।**

यत्र समानो धर्मः संशयकारणं हेतुत्वेनोपादीयते स संशयसमः सव्यभिचार

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

एव। या तु विमर्शस्य विशेषापेक्षिता उभयपक्षविशेषानुपलब्धिश्च, सा प्रकरणं प्रवर्तयति। यथा शब्दे नित्यधर्मो नोपलभ्यते, एवमनित्यधर्मोऽपि, सेयमुभयपक्ष-विशेषानुपलब्धिः प्रकरणचिन्तां प्रवर्तयति। कथम्? विपर्यये हि प्रकरणनिवृत्तेः, यदि नित्यधर्मः शब्दे गृह्येत, न स्यात् प्रकरणमः, यदि वा अनित्यधर्मो गृह्येत एवमपि निवर्तते प्रकरणम्, सोऽयं हेतुरुभौ पक्षौ प्रवर्तयन्नन्यतरस्य निर्णयाय न प्रकल्पते।

अनुवाद – विमर्श का अधिष्ठान अर्थात् संशय विषयीभूत अनवसित (अनिर्णीत) पक्ष और प्रतिपक्ष – ये दोनों ही प्रकरण कहलाते हैं। इस प्रकरण की चिन्ता संशय से लेकर निर्णय के पूर्वकाल तक जो समीक्षण अर्थात् आलोचनात्मक जिज्ञासा होती है, उस जिज्ञासा के प्रयुक्त उस निर्णय के निमित्त अर्थात् किसी साध्यधर्म की अनुमिति के निमित्त कथित (हेतुरूप में प्रयुक्त) होने से दोनों पक्षों में साम्य के कारण प्रकरण को अर्थात् उक्त पक्ष और प्रतिपक्षरूप दोनों धर्मों को अतिक्रम न करके प्रकरणसम हो जाता है, जो किसी पक्ष के निर्णय में समर्थ नहीं होता। प्रज्ञापन अर्थात् उदाहरण होता है – ''अनित्यः शब्दः नित्यधर्मानुपलब्धेः, अनुपलभ्यमाननित्यधर्मकमनित्यं दृष्टं स्थाल्यादि''। इस प्रकार प्रतिज्ञा आदि वाक्यों का प्रयोग करके शब्द के अनित्यत्व साधन के लिए नित्य धर्म की अनुपलब्धि को हेतु कहा है, जो यहाँ ''प्रकरणसम'' हेत्वाभास होता है।

यहाँ संशय का प्रयोजक समानधर्म हेतुत्वरूप में लिया गया है। वह ''संशयसम'' होकर सव्यभिचार होता है अर्थात् ऐसा हेतु प्रथमोक्त सव्यभिचार नामक हेत्वाभास कहलाता है। किन्तु जिस स्थल में संशय की विशेषापेक्षिता एवं दोनों पक्षों में विशेष की अनुपलब्धि रहती है वह प्रकरण को प्रवृत्त करता है। जैसे शब्द में नित्य धर्म उपलब्ध नहीं होता। इसी प्रकार अनित्य धर्म भी उपलब्ध नहीं होता। इस प्रकार दोनों ही पक्षों में विशेष की अनुपलब्धि ''प्रकरणचिन्ता'' को प्रवृत्त करती है। अर्थात् शब्द में नित्यत्व एवं अनित्यत्व रूप प्रकरण के विषय में जिज्ञासा उत्पन्न करती है। (प्रश्न) कैसे? (उत्तर) क्योंकि विपर्यय होने से प्रकरण की निवृत्ति होती है। तात्पर्य यह है कि यदि शब्द में नित्य धर्म उपलब्ध होता है तो प्रकरण अर्थात् उपर्युक्त प्रकरण चिन्ता नहीं होती और यदि शब्द में अनित्यधर्म उपलब्ध होता है तो भी प्रकरण निवृत्त होगा। अतः यह हेतु नित्य धर्म की अनुपलब्धि और अनित्य धर्म की अनुपलब्धि दोनों ही पक्षों में प्रवृत्त कराकर शब्द में अनित्यत्व और नित्यत्व रूप प्रकरण के विषय में चिन्ता का प्रवर्त्तक या प्रयोजक होकर किसी पक्ष के निर्णय में समर्थ नहीं होता है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

टिप्पणी – महर्षि ने उद्देश्य क्रम के अनुसार प्रकरणसम हेत्वाभास के लक्षण हेतु सूत्र में कहा है – ''यस्मात् प्रकरणचिन्ता''। भाष्यकार ने सूत्रार्थ की व्याख्या में पहले प्रकरण शब्द का अर्थ कहा है। संशय के विषयीभूत तथा अनिर्णीत पक्ष और प्रतिपक्ष रूप दो धर्म होते हैं – प्रकरण। वस्तुतः ''प्रक्रियते साध्यत्वेनाधिक्रियते यत्'' इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रकरण शब्द से वादी और प्रतिवादी के द्वारा साध्यत्व रूप में स्वीकृत दो धर्म लिए जाते हैं। वे दोनों धर्म एक अधिकरण में परस्पर विरुद्ध होने से मध्यस्थगण के संशय का विषयीभूत होकर पक्ष और प्रतिपक्ष नाम से कहे जाते हैं। इसको ही स्पष्ट करने के लिए भाष्यकार ने कहा है – ''विमर्शाधिष्ठानौ पक्षप्रतिपक्षौ''। विमर्श से यहाँ मध्यस्थवृन्द का संशय अभिप्रेत है। उसका अधिष्ठान अर्थात् संशयज्ञान में जो मुख्य विशेषणीभूत होता है। किसी एक धर्म का निर्णय हो जाने पर उन दोनों धर्मों को पक्ष प्रतिपक्ष नहीं कहा जा सकता। इसलिए भाष्यकार ने कहा है – ''अनवसितौ''। निश्चयार्थ अव उपसर्ग से युक्त सा धातु से कर्मवाच्य में क्त प्रत्यय करने पर अवसित शब्द बनता है जिसका अर्थ होता है निर्णीत और जो अवसित नहीं है वह होता है अनवसित अर्थात् अनिर्णीत। तात्पर्य यह हुआ कि जो पक्ष या प्रतिपक्ष नाम से कहा जाता है, वही सूत्रगत प्रकरण शब्द का अर्थ होता है। उपर्युक्त वाद लक्षणसूत्र के भाष्य एवं वार्त्तिक में पक्ष और प्रतिपक्ष की ऐसी ही व्याख्या की गई है।

भाष्यकार ने सूत्रोक्त ''प्रकरणचिन्ता'' की व्याख्या में कहा है – ''तस्य चिन्ता विमर्शात् प्रभृति प्राङ्निर्णयात् यत् समीक्षणम्''। सूत्रार्थ की व्याख्या में कहा गया है – ''सा जिज्ञासा यत् कृता'' इत्यादि। सूत्रोक्त यस्मात् की व्याख्या में यत्कृत अर्थात् यत्प्रयुक्त कहा है। भाष्यकार का अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त पक्ष और प्रतिपक्ष रूप दो प्रकरणों के विषय में मध्यस्थ को संशय होने पर निर्णय के पूर्वकाल तक जो समीक्षण होता है वही सूत्रगत प्रकरणचिन्ता का अर्थ है। यह चिन्ता दो प्रकरणों के विषय में जिज्ञासास्वरूपा होती है। जो पदार्थ इस जिज्ञासा का प्रयोजक होता है वह इस प्रकरण की अनुमितिरूप निर्णय के निमित्त अपदिष्ट होता है अर्थात् हेतुरूप में प्रयुक्त होने से दोनों पक्षों के साम्य के कारण किसी पक्ष का अतिक्रम करने में समर्थ न होकर ''प्रकरणसम'' नामक हेत्वाभास कहलाता है। भाष्यकार ने इसका उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहा है – ''प्रज्ञापनं त्वनित्यः शब्दो नित्यधर्मानुपलब्धेः'' इत्यादि। ''प्रज्ञाप्यते प्रदर्श्यतेऽनेन'' इस तरह की व्युत्पत्ति के अनुसार प्रज्ञापन पद का अर्थ होता है ''उदाहरण'' और तु शब्द से सूचित होता है कि अन्य प्रकार का उदाहरण भाष्यकार को सम्मत नहीं है। किसी-किसी पुस्तक में यहाँ ''नित्यः शब्दोऽनित्यधर्मानुपलब्धेरनुपलभ्यमानानित्यधर्मकं नित्यं दृष्टमाकाशादि'' इस प्रकार का अतिरिक्त पाठ उपलब्ध है जो प्रकृत पाठ ही प्रतीत होता है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

भाष्यकार के उदाहरण में शब्द का अनित्यत्ववादी नैयायिक यदि शब्द में अनित्यत्व के साधन हेतु नित्य धर्म की अनुपलब्धि को हेतु कहता है तो वह ''प्रकरणसम'' नामक हेत्वाभास होगा। क्योंकि उक्त स्थल में प्रतिवादी मीमांसक समानरूप से कहेगा कि ''नित्यः शब्दः अनित्यधर्मानुपलब्धेः'' शब्द में अनित्य पदार्थ के किसी विशेष धर्म के प्रमाण सिद्ध होने पर निश्चय ही मीमांसक का हेतु असिद्ध हो जाएगा। किन्तु ऐसी स्थिति में वादी नैयायिक इस अनित्य धर्म को हेतु न कहकर नित्यधर्म की अनुपलब्धि को हेतु क्यों कहेगा। अतः शब्द में किसी अनित्य धर्म की उपलब्धि नहीं होती – यही इनका सम्मत समझकर प्रतिवादी मीमांसक उक्त हेतु का प्रयोग करता है। किन्तु एक अधिकरण में परस्पर विरुद्ध अनित्यत्व और नित्यत्व सम्भव नहीं होने से उक्त स्थल में वादी और प्रतिवादी दोनों का ही हेतु किसी साध्य के निर्णय में समर्थ नहीं होता। किन्तु शब्द में अनित्यत्व और नित्यत्वरूप दो प्रकरणों के विषय में जिज्ञासा के प्रयोजक होते हैं। अतः यहाँ दोनों ही हेतु अहेतु अर्थात् प्रकरणसम नामक हेत्वाभास होते हैं।

किसी सम्प्रदाय के मत में प्रकरणसम हेतु भी प्रकरण के विषय में संशय का प्रयोजक होने से सव्यभिचार हेत्वाभास के अन्तर्गत आता है। अतः भाष्यकार ने अपने मत के अनुसार कहा है – ''यत्र तु'' इत्यादि। भाष्यकार का कहना है कि जहाँ सपक्ष और विपक्ष का कोई समानधर्म हेतु रूप में गृहीत होता है, उस स्थल में उस समान धर्म का ज्ञान, वह साध्य धर्म तथा उसके अभाव के विषय में मध्यस्थ को पूर्ववत् समान संशय उत्पन्न होने से उस समान धर्मरूप हेतु को ''संशयसम'' कहते हैं। अतः वह सव्यभिचार नामक हेत्वाभास होता है। किन्तु उक्त स्थल में नित्यधर्म की अनुपलब्धि और अनित्य धर्म की अनुपलब्धि रूप हेतु उभयवादि सम्मत अनित्य और नित्य पदार्थ का समान धर्म नहीं होने से पश्चात् शब्द में अनित्यत्व और नित्यत्व के विषय में संशय का प्रयोजक नहीं होता है किन्तु जिज्ञासा का प्रयोजक होता है। भाष्यकार ने यही समझाने के लिए कहा है – ''या तु विमर्शस्य'' इत्यादि। तात्पर्य यह है कि पहले संशय के लक्षणसूत्र में ''विशेषापेक्षः'' पद से जो विशेष धर्म की अनुपलब्धि और स्मृति संशय मात्र के कारण रूप में सूचित हुई है वह पूर्वोक्त स्थल में रहने पर भी केवल वही उस स्थल में संशय उत्पन्न नहीं कर पाती किन्तु वह प्रकरण को प्रवृत्त करती है – ''सा प्रकरणं प्रवर्तयति''। भाष्यकार ने इसकी व्याख्या में कहा है – ''सेयमुभयपक्षविशेषानुपलब्धिः प्रकरणचिन्तां प्रवर्तयति (जनयति)''। पुनश्च ''कथं'' पद से प्रश्न करके इस बात को समझाकर कहा है कि शब्द में नित्य पदार्थ के किसी विशेष धर्म की अथवा अनित्य पदार्थ के किसी विशेष धर्म की उपलब्धि होने से उसमें नित्यत्व अथवा अनित्यत्व का निश्चय होने से नित्यत्व एवं अनित्यत्व रूप प्रकरण के विषय में जिज्ञासा रूप चिन्ता की निवृत्ति होती है अन्यथा

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

वह नहीं हो पाती अतः इस स्थल में दोनों ही पक्षों में विशेषधर्म की अनुपलब्धि रूप हेतु अपने किसी पक्ष के निर्णय में समर्थ न होकर उपर्युक्त प्रकरणचिन्ता का प्रयोजक होता है। यह प्रकरणसम नामक पृथक् हेत्वाभास होता है। यह वाद में दो प्रकरणों के विषय में संशय का प्रयोजक न होने से सव्यभिचार हेत्वाभास नहीं हो सकता। भाष्य में बाद में कहे गए प्रकरण पद से प्रकरणचिन्ता ही समझनी चाहिए।

प्रकरणसम के उदाहरण आदि के विषय में अनेक मत और विचार

प्राचीन काल से ही अनेक ग्रन्थों में प्रकरणसम हेत्वाभास के अनेक प्रकार के उदाहरण प्रदर्शित हुए हैं। वाचस्पति मिश्र ने कहा है – "परेषां किलोदाहरणं नित्य आत्मा शरीरादन्यत्वादाकाशवदिति"। उद्योतकर ने इस उदाहरण के खण्डन हेतु कहा है – "शरीरादन्यत्वं तु न सूत्रार्थः"। वस्तुतः चरकसंहिता के विमानस्थान (अष्टम अध्याय) में प्रकरणसम का उदाहरण कहा गया है – आत्मा अनित्य शरीर से भिन्न पदार्थ है, शरीर के वैधर्म्य विशिष्ट होने से, अतएव नित्य होता है। इस अनुमान में शरीरभिन्नत्वरूप हेतु प्रकरणसम नामक अहेतु (हेत्वाभास)होता है। उद्योतकर ने इस अनुमान के निराकरण के समय अन्त में कहा है कि शरीरभिन्नत्वरूप हेतु नित्यत्व का व्यभिचारी होने से अनैकान्तिक होता है। अतः वह प्रकरणसम नहीं हो सकता। भाष्यकार की तरह उद्योतकर के मत में भी विशेषधर्म की अनुपलब्धिरूप तत्त्वानुपलब्धि ही हेतुरूप में उक्त होने से प्रकरणसम हेत्वाभास होता है। क्योंकि वह उपर्युक्त प्रकरणचिन्ता का प्रयोजक होता है। अतएव इन्होंने महर्षि के सूत्र की व्याख्या में कहा है – "यस्मात् प्रकरणचिन्ता तत्त्वानुपलब्धेः" इत्यादि। अर्थात् सूत्रगत यस्मात् पद में यत्पद से विशेष धर्म की अनुपलब्धि ही महर्षि को बुद्धिस्थ रही होगी।

न्यायमञ्जरीकार जयन्त भट्ट ने प्रकरणसम का भाष्यकार द्वारा उक्त उदाहरण ही ग्रहण किया है। साथ ही साथ भासर्वज्ञ के एवं अन्य प्रकार के उदाहरणों का खण्डन किया है।[१७९] किन्तु इनके मत में उक्त रूप प्रकरणसम के दोनों हेतु के प्रयोगस्थल में पश्चात् दोनों ही प्रकरण के विषय में संशय ही उत्पन्न होता है। प्रकरण के विषय में संशयात्मक

---

[१७९] न्यायसार में भासर्वज्ञ ने कहा है – "प्रकरणसमस्योदाहरणं यथा नित्यः शब्दः पक्ष सपक्षयोरन्यतरत्वात् गगनवदिति। अनित्यः शब्दः पक्षसपक्षयोरन्यतरत्वात् घटवदिति। एकत्र तुल्यलक्षणविरुद्धहेतुद्वयोपनिपातो विरुद्धाव्यभिचारीत्येके"। टीकाकार जयसिंहसूरि ने व्याख्या की है – "एके इति वयमित्यर्थः"। किन्तु यहाँ यह भी विचारणीय है कि यदि भासर्वज्ञ का अपना ही मत है तो पुनः "एके" क्यों कहा "वयं" ही कहना चाहिए। प्रतीत होता है "एके" पद से "अन्ये" उनको अभिप्रेत रहा होगा।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

ज्ञान ही सूत्रोक्त प्रकरणचिन्ता पदार्थ होता है। किसी सम्प्रदाय ने एकत्र समान लक्षण से युक्त विरुद्ध दो हेतुओं को विरुद्धाव्यभिचारी नाम से उल्लेख करके उसको अनैकान्तिक हेत्वाभास का प्रकार विशेष कहा है। किन्तु जयन्त भट्ट ने इस मत का खण्डन करते हुए कहा है – ''एवंविधस्य चास्य प्रकरणसमस्य विरुद्धाव्यभिचारीति नाम यदि क्रियते तदपि भवतु''। इसमें उपर्युक्त प्रकरणसम के दोनों ही हेतु प्रकरण के विषय में संशय के प्रयोजक होने से यदि विरुद्धाव्यभिचारी कहे जाते हैं तो इसमें आपत्ति नहीं है। तार्किकरक्षाकार वरदराज ने कहा है – ''तमिमं प्रकरणसमं विरुद्धाव्यभिचारीति केचिद्व्यपदिशन्ति''। कुमारिल भट्ट ने श्लोकवार्त्तिक के अनुमान परिच्छेद में कहा है –

यत्राप्रत्यक्षता वायोररूपत्वेन साध्यते।
स्पर्शात् प्रत्यक्षता चासौ विरुद्धाव्यभिचारिता॥ ९१॥

किसी वादी ने कहा – ''वायुर्न प्रत्यक्षः द्रव्यत्वे सति नीरूपत्वात्''। प्रतिवादी ने कहा कि ''वायुः प्रत्यक्षः महत्त्वे सति स्पर्शवत्त्वात्''। ऐसे स्थल में दोनों हेतुओं को विरुद्धा-व्यभिचारी कहते हैं। मतान्तर में यह अनैकान्तिक हेत्वाभास का ही प्रकार विशेष है।[१८०]

किन्तु वाचस्पति और उदयनाचार्य ने सत्प्रतिपक्ष रूप हेतुयुगल को महर्षिसम्मत ''प्रकरणसम'' माना है। दीधितिकार रघुनाथ शिरोमणि ने यहाँ व्याख्या की है – ''सन् प्रतिपक्षो विरोधिपरामर्शो यस्य स तथा'' जिस हेतु के परामर्श काल में तुल्यबल विरोधी अपर हेतु का परामर्श उत्पन्न हो, ऐसे हेतुयुगल को ''सत्प्रतिपक्ष'' कहते हैं। ऐसे स्थल में किसी हेतु से अनुमिति रूप निर्णय नहीं होने से पूर्वोत्पन्न संशय की निवृत्ति नहीं होती है। प्रशस्तपाद द्वारा उक्त मतान्तर की व्याख्या में न्यायकन्दलीकार श्रीधर भट्ट (पृ. २४१) ने कहा है – ''अयमेव च विरुद्धाव्यभिचारिणः प्रकरणसमाद् भेदो यदयं संशयं करोति, प्रकरणसमस्तु संशयं न निवर्तयति इति।'' इससे ज्ञात होता है कि इस मत में प्रकरणसम हेतुयुगल के प्रयोग स्थल में पश्चात् उस प्रकरणद्वय के विषय में संशय

[१८०] मानमेयोदय में नव्यमीमांसक नारायण भट्ट ने भी ''प्रकरणसम'' को अनैकान्तिक का प्रकार विशेष कहा है। किन्तु इन्होंने कहा है –

एवं परोदितैरेव पक्षहेतुनिदर्शनैः।
विरुद्धसाधनेऽस्माकं विरुद्धाव्यभिचारिता॥

यथा क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वाद् घटवदित्यत्र क्षित्यादिकमीश्वरकर्तृकं न भवति कार्यत्वात् घटवदिति।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

यहाँ एक ही हेतु और दृष्टान्त से विरुद्ध पक्ष के अनुमान में वह हेतु विरुद्धाव्यभिचारी होता है। यह भी उपर्युक्त प्रकरणसम का प्रकार विशेषरूप में मान्य है किन्तु यह मत प्रसिद्ध नहीं है।

उत्पन्न नहीं होता। किन्तु उन हेतुओं से मध्यस्थ को किसी पक्ष की अनुमितिरूपनिर्णय नहीं होने से पूर्वोत्पन्न संशय की निवृत्ति नहीं होती। अत: स्वाभाविक है कि प्रकरण के विषय में जिज्ञासा होती है।

निबन्धग्रन्थ (तात्पर्यपरिशुद्धि) में विशेष विचार करके उदयनाचार्य ने जिज्ञासाविशेष को ''प्रकरणसम'' हेत्वाभास का फल कहा है। इन्होंने पश्चात् कहा है कि सव्यभिचार या अनैकान्तिक हेतु के प्रयोग स्थल में हेतु के ज्ञान से अनुमान के धर्मी में साध्यधर्मवत्त्व विषयक संशय उत्पन्न होने से पश्चात् उस संशय के द्वारा उस विषय में जिज्ञासा होती है। किन्तु सत्प्रतिपक्ष हेतुयुगल के प्रयोग स्थल में पूर्वोत्पन्न संशय की निवृत्ति नहीं होने से जिज्ञासा होती है कि इन दोनों हेतुओं में से किसको समीचीन कहा जाए। अत: अनैकान्तिक हेत्वाभास में सत्प्रतिपक्ष का लक्षण नहीं घटता। निबन्धकार उदयनाचार्य ने फल के द्वारा हेत्वाभास का लक्षण ही कहा है। गङ्गेश उपाध्याय ने अनुमान चिन्तामणि के सत्प्रतिपक्ष प्रकरण में इस मत पर प्रकाश डालते हुए कहा है – ''निबन्धे तु फलद्वारकमेव हेत्वाभासानां लक्षणम्'' इत्यादि। उदयनाचार्य के मत में प्रकृष्ट लिङ्गं या लिंगपरामर्श अनुमिति का करण होने से उसको प्रकरण कहा जाता है। यह प्रकरण दोनों ही पक्षों में समानरूप में गृहीत होने से दोनों ही हेतुओं को प्रकरणसम कहा जाता है। वृत्तिकार विश्वनाथ ने इस सूत्र की व्याख्या में कहा है – ''यद्वा प्रकृष्टं करणं लिङ्गं परामर्शो वा, को हेतुरनयो: साधक:, एतयो: क: परामर्श: प्रमेति वा यत्र जिज्ञासा भवतीत्यर्थ:''।

दीधिति के व्याख्याकार जगदीश भट्टाचार्य आदि के कथन से ज्ञात होता है कि उदयनाचार्य के पश्चात् मिथिला में सोन्दड़ उपाध्याय ने न्यायशास्त्र के नवीन रूप से सूक्ष्म करके माना है कि सत्प्रतिपक्षस्थल में संशयात्मक अनुमिति होती है। रत्नकोश नामक महाग्रन्थ के प्रणेता तरणिमिश्र ने भी इसका समर्थन किया है जो पश्चात् रत्नकोषकार के मत के रूप में प्रसिद्ध हुआ। अत: गङ्गेश उपाध्याय ने सत्प्रतिपक्षप्रकरण में कहा है – ''रत्नकोषकारस्तु सत्प्रतिपक्षाभ्यां (हेतुभ्यां) प्रत्येकं स्वसाध्यानुमिति: संशयरूपा जायते विरुद्धोभयसामग्र्या: संशयजनकत्वात्। संशयद्वारा तस्य दूषकत्वम्'' इत्यादि। गङ्गेश के बाद इनके मत की युक्तियों की भी व्याख्या नव्यनैयायिकों ने की है।[१८१] किन्तु पश्चात् उन लोगों ने रत्नकोषकार के मत का खण्डन किया है – यथा

---

[१८१] दीधितिकार रघुनाथ शिरोमणि ने ''रत्नकोषकृतामयमभिप्राय:'' इत्यादि सन्दर्भ से रत्नकोषकार के सूक्ष्मतात्पर्य की व्याख्या की है। टीकाकार जगदीश भट्टाचार्य आदि ने इस विषय में और अधिक सूक्ष्म विचार किया है। मूल ग्रन्थ के अध्ययन से ही यह ज्ञात होगा। रत्नकोषकार के और भी अनेक विशिष्ट मत उपलब्ध हैं। इस विषय में पश्चात् बहुत सूक्ष्म विचार हुआ है। →

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

किसी धर्मी में साध्यधर्म के अभाव का निश्चय रहने पर जैसे उस धर्मी में वह निश्चय उक्त साध्यवत्त्व ज्ञान का प्रतिबन्धक होता है इसी प्रकार उस धर्मी में उस साध्यधर्म के अभाव के व्याप्य किसी धर्म का (अर्थात् जिस धर्म के रहने पर वहाँ उस साध्यधर्म का अभाव अवश्य रहता हो), निश्चय होने पर वह भी उस धर्मी में उस साध्यवत्त्व ज्ञान का प्रतिबन्धक होता है – यह युक्तिसिद्ध सिद्धान्त है। अतः सत्प्रतिपक्षरूप हेतुयुगल का परामर्श होने पर तज्जन्य उपर्युक्त संशयात्मक अनुमिति नहीं हो सकती क्योंकि इस स्थल में द्वितीय हेतु का परामर्श रूप जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह मध्यस्थवृन्द को उस धर्मी में साध्यधर्म के अभाव के व्याप्य धर्म का निश्चयात्मक ज्ञान होता है। अतः वह उस धर्मी में साध्यवत्त्व के संशयात्मक ज्ञान का भी प्रतिबन्धक होता है। यह सच है कि रत्नकोषकार के मत के समर्थन में भी बहुत युक्तियाँ कही गई हैं किन्तु गङ्गेश उपाध्याय ने उनका ग्रहण नहीं किया। इनके मत में मध्यस्थवृन्द को सत्प्रतिपक्षरूप हेतुयुगल के परामर्शरूप ज्ञान उत्पन्न होने पर परस्पर प्रतिबन्धक होने से किसी पक्ष की अनुमिति नहीं हो सकती। अतः इन्होंने कहा है – ''परस्परप्रतिबन्धेनानुमितेरेवानुत्पत्तेः''। और अधिक बातें पश्चात् कही जाएंगी। (१.२.७)

सूत्र – साध्याविशिष्टः साध्यत्वात् साध्यसमः।१.२.८।

अनुवाद – साध्यत्व के कारण अर्थात् असिद्धत्व प्रयुक्त साध्य पदार्थ के साथ अविशिष्ट (हेतु) साध्यसम नामक अर्थात् साध्यपदार्थ के समान हेत्वाभास कहलाता है।

भाष्य – **द्रव्यं छायेति साध्यं, गतिमत्त्वादिति हेतुः साध्येनाविशिष्टः साधनीयत्वात् साध्यसमः। अयमप्यसिद्धत्वात् साध्यवत् प्रज्ञापयितव्यः। साध्यं तावदेतत् – किं पुरुषवच्छायापि गच्छति? आहोस्विदावरकद्रव्ये संसर्पति आवरणसन्तानाद-सन्निधिसन्तानोऽयं तेजसो गृह्यत इति। सर्पता खलु द्रव्येण यो यस्तेजोभाग आव्रियते, तस्य तस्यासन्निधेरेवाविच्छिन्नो गृह्यत इति। आवरणं तु प्राप्तिप्रतिषेधः।**

अनुवाद – ''द्रव्यं छाया'' इस प्रकार का साध्य निर्देश अर्थात् प्रतिज्ञावाक्य और गतिमत्त्वात् रूप हेतु वाक्य का प्रयोग होने पर, उस स्थल में गतिमत्त्वरूप हेतु साधनीय होने के कारण साध्यधर्म के साथ समान हो जाता है, अतः साध्यसम कहलाता है। क्योंकि असिद्धत्व के कारण साध्य धर्म की तरह यह बोधनीय हो जाता है अर्थात् साध्य

→ नवद्वीप के हरिराम तर्कवागीश और गदाधर भट्टाचार्य का ''रत्नकोषमतविचार'' तथा ''रत्नकोषकारवादरहस्य'' आदि ग्रन्थ उपलब्ध हैं। किन्तु मूल रत्नकोष ग्रन्थ आज तक उपलब्ध नहीं है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

हो जाता है। पुरुष की तरह क्या छाया भी चलती है अथवा आवरक द्रव्य के गमन करने पर अर्थात् आलोक के आच्छादक मनुष्य आदि के गमनकाल में आवरण सन्तान प्रयुक्त अर्थात् उस मनुष्य आदि के द्वारा आवृत उन समस्त आलोक विशेष के आवरणसमूह प्रयुक्त उस आलोक की असन्निधि समूह उपलब्ध होती है। अर्थात् जो द्रव्य गमन करता है उस गमनशील द्रव्य से जो आलोकांश आवृत होता है उस आलोकांश की अविच्छिन्न असन्निधि (संयोगाभाव) क्या प्रत्यक्ष होता है? आवरण किन्तु प्राप्ति का (संयोग का) प्रतिषेध है अर्थात् आवरक द्रव्य से भूमि में उन समस्त आलोक के संयोग का प्रतिघात ही आलोक का आवरण कहलाता है।

टिप्पणी – हेत्वाभास का चौथा प्रकार है – साध्यसम। महर्षि ने इस सूत्र में ''साध्या-विशिष्टः'' पद से इसका लक्षण कहा है – जो पदार्थ साध्यधर्म के साथ अविशिष्ट (तुल्य) होता है वह साध्यसम कहलाता है। साध्यधर्म के साथ अविशिष्ट कैसे होगा? इसके उत्तर में कहा है ''साध्यत्वात्''। अभिप्राय यह है कि प्रमाणसिद्ध पदार्थ विशेष ही किसी साध्यधर्म का साधक हेतु हो सकता है, किन्तु वादी के साध्यधर्म की तरह वह हेतु यदि पहले से ही असिद्ध है तो ऐसी स्थिति में वह हेतु ही प्रमाण के द्वारा साधनीय होता है। अतः साधनीय होने के कारण वह हेतु साध्यधर्म का तुल्य होकर साध्यसम हेत्वाभास कहलाता है। भाष्यकार ने उदाहरण का प्रदर्शन करके इसकी व्याख्या में पहले कहा है – ''द्रव्यं छायेति साध्यम् गतिमत्त्वादिति हेतुः''। भाष्यकार का अभिप्राय यह है कि छाया में द्रव्यत्व साधन करते समय गतिमत्त्व को हेतु मानने पर वह हेतु साध्यसम नामक हेत्वाभास होता है। क्योंकि प्रतिवादी के मत में छाया में गतिमत्त्व के असिद्ध होने से वह भी साध्य की तरह साधनीय होता है। अर्थात् गमन करने वाले पुरुष की तरह क्या उसके पीछे-पीछे छाया भी चलती है? अथवा वह मनुष्य से आच्छादित आलोक समूह की जो अविच्छिन्न रूप से आच्छादित असन्निधि अर्थात् भूमि में उसका असंयोग या अभाव उसका प्रत्यक्ष होता है अर्थात् उसी का नाम छाया है और वह गतिमती है, यह साधनीय है। क्योंकि प्रतिवादी के मत में आलोक विशेष का अभाव ही छाया कहलाता है। इसमें वस्तुतः गति क्रिया नहीं रहती किन्तु उसमें गतिमत्त्व का भ्रम होता है। वह गतिमत्त्व असिद्ध होने के कारण छाया में द्रव्यत्व का साधक नहीं हो सकता। उदयनाचार्य ने कहा है – ''तस्मादावरकद्रव्ये गच्छति यत्र यत्र तेजसोऽसन्निधिस्तत्र तत्र छाया ग्रहणा-दन्यदेशतानिबन्धनो गतिभ्रम इति।'' आगे चलकर यह अधिक स्पष्ट होगा।

साध्यसम हेत्वाभास के प्रकार भेदविषयक अनेकमत

भाष्यकार के परवर्ती व्याख्याकारवृन्द ने इस साध्यसम हेत्वाभास को असिद्ध नाम से

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

उल्लेख करके इसके अनेक प्रकारों का उदाहरण प्रदर्शित किया है। उद्योतकर ने कहा है – ''सोऽयमसिद्धस्त्रेधा''। इनके मत में छाया में गतिमत्त्व हेतु स्वरूपतः असिद्ध होने से यह स्वरूपासिद्ध कहलाता है। यदि उक्त स्थल में वादी यह कहे कि एक स्थान में दृष्ट द्रव्य का अन्यत्र दर्शन उसमें गति क्रिया के बिना सम्भव नहीं है। अतः छाया जब एक स्थान में दृष्ट होकर पश्चात् अन्यत्र भी दृष्ट होती है, तब भिन्न स्थान में दर्शन रूप हेतु से उसमें गतिमत्त्व सिद्ध होता है। किन्तु ऐसा कहने पर वह भिन्न स्थान में दर्शन रूप हेतु आश्रयासिद्ध कहलाएगा। क्योंकि उसका आश्रय द्रव्य रूप छाया इस अनुमान से पहले असिद्ध ही है। अथ च वादी यदि इस हेतु को छाया में द्रव्यत्व का साधक कहेंगे तो यह अन्यथासिद्ध कहलाएगा। क्योंकि छाया के द्रव्य पदार्थ नहीं होने पर भी उसमें स्थानान्तर में दर्शन रूप हेतु सिद्ध ही है।

पश्चात् न्यायशास्त्र में सूक्ष्म विचार करने वाले महानैयायिक उदयनाचार्य ने न्यायकुसुमाञ्जलि (३.७) में कहा है – अनुमान के हेतुरूप में गृहीत पदार्थ में साध्यधर्म की व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मता का निश्चय रूप सिद्धि (अर्थात् उस अनुमिति का चरम कारण) सम्भव नहीं होने पर वह हेतु असिद्धिदोष से युक्त होकर असिद्ध नाम से कहा जाता है। वह असिद्धि तीन प्रकार से सम्भव होने के कारण तीन प्रकार की होती है – (१) अन्यथासिद्धि, (२) स्वरूपासिद्धि और आश्रयासिद्धि। परवर्ती नैयायिक गङ्गेश उपाध्याय ने असिद्धि के तीन प्रकार हैं यह तो माना है है किन्तु एक नाम में परिवर्तन कर दिया। इस मत में आश्रयासिद्धि, स्वरूपासिद्धि और व्याप्यत्वासिद्धि कही गई हैं। अनुमान के धर्मीरूप आश्रय के अलीक होने पर उस स्थल का हेतु आश्रयासिद्ध कहलाता है। उदयनाचार्य ने कहा है – जिस धर्मी में जो सर्ववादिसिद्ध है उसके साधन के लिए किसी हेतु का प्रयोग करने पर वह हेतु भी आश्रयासिद्ध होता है। क्योंकि उस धर्मी में उस सिद्ध पदार्थ के संशय या संशय की योग्यता के नहीं रहने से वह पक्ष ही नहीं हो सकता। उसमें पक्षता के नहीं रहने से पक्ष रूप में वह आश्रय असिद्ध होता है। इस आश्रयासिद्ध का दूसरा प्रकार ही सिद्धसाधन कहलाता है। सिद्धसाधन नाम का पृथक् हेत्वाभास मान्य नहीं है। यहाँ यह कहना आवश्यक है कि प्राचीन मत में अनुमान के धर्मी में साध्य धर्म के विषय में संशय की योग्यता ही अनुमान का अंग नामक पक्षता पदार्थ है। गङ्गेश उपाध्याय ने पहले पक्षता का विचार करते हुए इस मत का खण्डन किया है किन्तु पश्चात् इन्होंने केवलान्वयी अनुमान में कहा है – ''यद्वा संशययोग्यतैवानुमानाङ्गम् संशयस्य तदानीं विनाशात्'' इत्यादि। वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि अनुमान की इच्छा रहने पर अन्य सभी कारणों की उपस्थिति में प्रत्यक्ष सिद्ध पदार्थ का भी अनुमान होता है। इस प्रकार के स्वार्थानुमान में सिद्धसाधन दोष नहीं [illegible]। उदयनाचार्य के मत में

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

हेतु के उपाधि से युक्त होने पर असिद्ध का पहला प्रकार अन्यथासिद्ध होता है। जिस हेतु में किसी उपाधि की विद्यमानता हो उस सोपाधिक हेतु को अन्यथासिद्ध कहते हैं और वही अप्रयोजक भी कहलाता है। अतः अप्रयोजक नामक पृथक् हेत्वाभास नहीं माना जाता। इसलिए उदयनाचार्य ने कहा है – ''यत्रानुकूलतर्को नास्ति सोऽप्रयोजकः। स च द्विविधः शङ्कितोपाधिर्निश्चितोपाधिश्च।'' इन्होंने अन्यत्र अप्रयोजक का लक्षण कहा है –

समासमाविनाभावावेकत्रस्तो यदा तदा।
समेन यदि नोव्याप्तस्तयोर्हीनोऽप्रयोजकः ॥[१८२]

पश्चात् तर्कसंग्रह में अन्नम् भट्ट ने इस सोपाधिक हेतु को असिद्ध हेत्वाभास का प्रभेद व्याप्यत्वासिद्ध कहा है। तर्कभाषा में केशव मिश्र ने हेतु की व्याप्ति के निश्चायक प्रमाण के अभाव में अथवा औपाधिक सत्ता के रहने पर व्याप्यत्वासिद्ध दोष कहा है। अतः व्याप्यत्वासिद्ध के दो प्रकार होते हैं। पश्चात् बहुत नैयायिकों ने सोपाधिक हेतु को अनैकान्तिक या सव्यभिचार हेत्वाभास कहा है। इसके ही अनुसार न्यायसिद्धान्त-मुक्तावली में विश्वनाथ ने कहा है – ''व्यभिचारस्यानुमानमुपाधेस्तु प्रयोजनम्''। इस विषय के क्रम एवं प्रसंग में बहुत सूक्ष्म विचार एवं बहुत प्रकार के मत मिलते हैं। बाहुल्य के कारण उनका सोदाहरण विवरण प्रस्तुत करना यहाँ सम्भव नहीं है। अनुमान स्थलों में हेतु के उपाधि का लक्षण तथा उदाहरण, व्यभिचारशंका का निवर्त्तक तर्क, इस विषय में चार्वाक का प्रतिवाद तथा उसका खण्डन आदि का विस्तृत विचार द्वितीय खण्ड, बंग संस्करण (पृ.२१८-४०) में द्रष्टव्य है।

गङ्गेश उपाध्याय की व्याप्यत्वासिद्धि की व्याख्या करते समय रघुनाथ शिरोमणि ने हेतु या साध्य में उक्त किसी विशेषण की असिद्धि को व्याप्यत्वासिद्धि कहा है। जैसे काञ्चनमयधूमात् हेतु का प्रयोग करने पर धूम में काञ्चनमयत्व विशेषण असिद्ध है एवं काञ्चनमय वह्निमान् साध्य का प्रयोग करने पर वह्निरूप साध्य में काञ्चनमयत्व

---

[१८२] वरदराज आदि अनेक ग्रन्थकारों ने इस कारिका को उद्धृत किया है। पश्चात् सर्वदर्शनसंग्रह के चार्वाक दर्शन प्रकरण में माधवाचार्य ने कहा है – ''समासमेत्यादिनोक्तमाचार्यैश्चेति''। किन्तु यहाँ आधुनिक व्याख्याकार ने इस कारिका की व्याख्या नहीं की है। तार्किकरक्षा की व्याख्या में मल्लिनाथ ने इस कारिका की व्याख्या की है – ''यदा 'एकत्र' साध्ये 'समासमाविनाभावौ' (हेतू) साध्यसमव्याप्तिकस्तदभिन्नव्याप्तिकश्च द्वौ हेतू 'स्तः' सम्भवतः, तयोर्मध्ये यो हीनः हीनव्याप्तिको हेतुः 'समेन' समव्याप्तिकेन अव्याप्तश्चेत् (यदि विषमव्याप्तिको हेतुः समव्याप्तिकेन हेतुना 'नो व्याप्तः' समव्याप्तिकहेतोरव्याप्य इति यावत्) सोऽप्रयोजक उच्यते। तथा च सोपाधिकस्यैव (विषमव्याप्तहेतोः) अप्रयोजक इति व्यपदेश इति भावः।''

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

विशेषण असिद्ध है। अतः ऐसे स्थलों में हेतु को व्याप्यत्वासिद्ध कहते हैं। व्यर्थविशेषण विशिष्ट हेतु भी व्याप्यत्वासिद्ध कहलाता है। व्योमशिवाचार्य ने इसे असमर्थ विशेषणासिद्ध कहा है। इसी के अनुसार न्यायसिद्धान्तमुक्तावली में विश्वनाथ ने कहा है – ''व्याप्यत्वा-सिद्धिरपरा नीलधूमादिके भवेत्''। ''पर्वतो वह्निमान् नीलधूमात्'' इस प्रकार प्रयोग करने पर धूम हेतु में नीलत्व विशेषण व्यर्थ होता है। क्योंकि धूमत्वहेतु से ही धूम में वह्नि का व्याप्यत्व सिद्ध है। गुरुधर्म नीलधूमत्व रूप में सिद्ध नहीं होता है। अतः ''नीलधूमात्'' हेतु व्याप्यत्वासिद्ध होता है। किन्तु रघुनाथ शिरोमणि ने इसे नहीं माना। इनका कहना है कि प्रकृत हेतु में उक्त प्रकार के व्यर्थ विशेषण के प्रयोग में वक्ता का दोष होता है। इससे हेतु में दोष नहीं होता या वह हेतु दुष्ट नहीं होता। परार्थानुमान में इस स्थल में इस प्रकार का प्रयोग करने पर वादी निगृहीत होता है। अतः ऐसा पृथक् निग्रहस्थान ही मान्य है।[१८३]

वैशेषिक मत की व्याख्या करते हुए प्रशस्तपाद ने कहा है – ''अत्रासिद्ध-श्चतुर्विधः''। इनके मत में (१) उभयासिद्ध, (२) अन्यतरासिद्ध, (३) तद्भावासिद्ध, और (४) अनुमेयासिद्ध नाम से असिद्धहेत्वाभास चार प्रकार के होते हैं। अनुमान के धर्मी में जो हेतु वादी तथा प्रतिवादी दोनों के मत में असिद्ध है उसको ''उभयासिद्ध'' कहते हैं। जो हेतु केवल प्रतिवादी की दृष्टि में असिद्ध है उसको ''अन्यतरासिद्ध'' कहते हैं।[१८४] धूमत्व रूप में वाष्प की भ्रमात्मक उपलब्धि करके उसको वह्नि केअनुमान में हेतु

---

१८३ असिद्धिदीधिति प्रकरण के अन्त में रघुनाथ शिरोमणि ने कहा है – ''चकारेण पृथगेव समुच्चितं निग्रहस्थानम्''। तात्पर्य यह है कि न्यायदर्शन के अन्तिम सूत्र में अनुक्त समुच्चयार्थक च शब्द से उक्त रूप निग्रहस्थान का समुच्चय होता है। व्याख्याकार जगदीश भट्टाचार्य ने यहाँ शिरोमणि के इस मत की विशद व्याख्या की है। इन्होंने पहले भी विशेषव्याप्तिदीधिति की व्याख्या में कहा है – ''वस्तुतः स्वमते (शिरोमणिमते) नीलधूमत्वं व्याप्तिरेव ताद्रूप्येण हेतुप्रयोगे तु अधिकेनैव निग्रहस्थानेन पुरुषो निगृह्यत इति भावः''। बहुत अध्यापक यहाँ गौतमसम्मत अधिक नामक निग्रहस्थान मानते हैं। किन्तु शिरोमणि का अभिप्राय ऐसा नहीं है। इन्होंने उसे पृथक् रूप से निग्रहस्थान माना है।

१८४ वाचस्पति मिश्र आदि ने स्वरूपासिद्ध हेतु को ही उभयासिद्ध एवं अन्यतरासिद्ध नाम से विभक्त किया है। भाष्यकार के उदाहरण ''द्रव्यं छाया गतिमत्त्वात्'' में गतिमत्त्व हेतु अन्यतरासिद्ध होता है। शब्दोऽनित्यश्चाक्षुषत्वात् रूप उदाहरण में चाक्षुषत्वहेतु उभयासिद्ध होता है। क्योंकि शब्द में चाक्षुषत्व वादी तथा प्रतिवादी दोनों के मत में असिद्ध है। बौद्ध सम्प्रदाय ने भी ऐसा उदाहरण कहा है। न्यायसार में भार्वज्ञ ने स्वरूपासिद्ध, व्यधिकरणासिद्ध, विशेष्यासिद्ध, विशेषणासिद्ध तथा भागासिद्ध आदि नाम से चौदह प्रकार की असिद्धि को कहा है तथा उदाहरण →

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

कहने पर वह ''तद्भावासिद्ध'' कहलाता है। और जो हेतु के अनुमेय धर्मी अर्थात् अनुमान का आश्रय ही असिद्ध है उस हेतु को ''अनुमेयासिद्ध'' कहते हैं। प्रशस्तपाद ने कहा है – ''अनुमेयासिद्धो यथा पार्थिवं द्रव्यं तमः कृष्णरूपत्वादिति''। यहाँ कृष्णरूपवत्त्वहेतु का अनुमेय या आश्रय रूप में उक्त पार्थिव द्रव्य रूप अन्धकार असिद्ध अर्थात् अलीक है। श्रीधर भट्ट ने इसे समझाने के लिए अपने मत के अनुसार कहा है – ''तमो नाम द्रव्यान्तरं नास्ति आरोपितस्य कार्ष्ण्यमात्रस्य प्रतीतेः''। श्रीधर भट्ट के अनुसार आरोपित नीलरूप ही अन्धकार (पदार्थ) है।

अन्धकार कौन सा पदार्थ है – इस विषय में मतभेद एवं विचार

प्राचीन काल से ही अन्धकार के स्वरूप के विषय में भारतीय दार्शनिकों के मध्य बहुत विचार एवं मतभेद देखे जाते हैं। यहाँ संक्षेप में इस प्रसंग में कुछ कहना अपेक्षित है। सर्वदर्शनसंग्रह के औलूक्यदर्शन प्रकरण में माधवाचार्य ने इस विषय में मतभेद दिखाते हुए कहा है – ''द्रव्यं तम इति भाट्टाः वेदान्निश्च भणन्ति। आरोपितं नीलरूपमिति श्रीधराचार्याः। आलोकज्ञानाभाव इति प्रभाकरैकदेशितः। आलोकाभाव इति नैयायिकादयः''। पञ्चपादिकाविवरण में कहा गया है – ''रूपदर्शनाभावमात्रमित्यन्ये'' विवरणप्रमेयसंग्रह में इस मत को प्रभाकर मत कहा गया है। कुमारिल भट्ट के मत में पृथिवी आदि कणाद सम्मत नौ द्रव्य, अन्धकार और शब्द – इन ग्यारह प्रकारों का द्रव्य मान्य है। इनमें दशवाँ द्रव्य के रूप में अन्धकार उक्त है। उक्त है – ''रूपवत्त्वात् क्रियावत्त्वात् द्रव्यं तद्दशमं तमः''[१८५]। वाचस्पति मिश्र ने मण्डन मिश्र का अभिप्राय व्यक्त

→ प्रदर्शित किया है। बौद्ध तथा जैन नैयायिकगण ने भी असिद्ध के बहुत प्रकारों को कहा है। किन्तु प्रशस्तपादाचार्य के अभिप्राय के कथन के समय श्रीधर भट्ट ने कहा है – ''विशेषणासिद्धा दयोऽन्यतरासिद्धोभयासिद्धेष्वेवान्तर्भवन्तीति पृथङ् नोक्ताः''।

[१८५] कुमारिल भट्ट के ग्रन्थ में उक्त श्लोक उपलब्ध नहीं है। किन्तु कुमारिल मत के व्याख्याता नारायण पण्डित ने मानमेयोदय ग्रन्थ में कहा है – ''पृथिवीगुणस्तम इति कौमारिलेष्वेव केचिन्मानकिरणावलीकारादयः प्राहुः। तदप्यनुमन्यामहे। अतस्तमो द्रव्यं गुणो वा गुणपक्षे दश द्रव्याणि''। किन्तु कुमारिल के सम्प्रदाय में मानकिरणावलीकार आदि मीमांसकगण का इस मतान्तर व्याख्या का मूल क्या है तथा नवीन मीमांसक नारायण पण्डित भी स्वतंत्र विचार न करके इस मत का अनुमोदन क्यों करते हैं – यह विचारणीय है। वस्तुतः कुमारिल के मत में द्रव्य ग्यारह प्रकार के मान्य हैं – इसी की प्रसिद्धि भी है। नौ द्रव्यवादी वैशेषिक सम्प्रदाय के खण्डन हेतु अनेक विद्वानों ने अन्धकार को दशवें द्रव्य के रूप में उल्लेख किया है। वेदान्ती आनन्द ज्ञान ने अपने तर्कसंग्रह में कहा है –

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection →

करते हुए न्यायकणिका में कहा है कि मण्डन मिश्र ने कुमारिल भट्ट की तरह अन्धकार को दसवाँ द्रव्य माना है, यही उपसंहार में इन्होंने कहा है – ''तस्मात् प्रत्यक्षसिद्धमसति बाधके द्रव्यान्तरमेकादशं तमो नवगुणञ्चेति सिद्धम्'' (पृ. ७९)।

वेदान्ती सम्प्रदाय के अनुसार अन्धकार द्रव्य पदार्थ के रूप में मान्य है। अन्धकार को अभाव पदार्थ मानने पर शारीरकभाष्य के आरम्भ में भगवान् शंकराचार्य के – ''तमः प्रकाशवद् विरुद्धस्वभावयोः'' इस वाक्य में अन्धकार और आलोक का दृष्टान्त उपपन्न नहीं होता। अतएव पञ्चपादिकाविवरण में वेदान्त के आचार्य प्रकाशात्मयति ने भाट्टमत के अनुसार अन्धकार का द्रव्यत्व समर्थित कर इसका उपपादन किया है। पश्चात् विवरणप्रमेयसंग्रह में विद्यारण्य मुनि ने इसका समर्थन करते हुए बहुत विचार किया है। पश्चात् अद्वैतसिद्धि के प्रथम परिच्छेद (पृ. ७४) में मधुसूदन सरस्वती ने सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति का खण्डन करते हुए कहा है – ''अस्मन्मते तमसो भावान्तरत्वात्''। यहीं लघुचन्द्रिका में नव्यनैयायिक गौड़ ब्रह्मानन्द ने अन्धकार के द्रव्यत्व का समर्थन करते समय इस विषय में नव्यन्याय की शैली में सूक्ष्म विचार किया है। इस प्रकार अन्य मीमांसकगण एवं वेदान्ती ग्रन्थकार तथा जैन ग्रन्थकार ने अन्धकार के द्रव्यत्व का समर्थन किया है।[१८६]

मीमांसक सम्प्रदाय का इस प्रसंग में पहला वक्तव्य यह है कि अन्धकार में नीलरूप एवं गतिक्रिया, ह्रास-वृद्धि तथा दूरत्व-निकटत्व आदि द्रव्य के बहुत धर्म उपलब्ध हैं। अतः इन समस्त हेतुओं से अन्धकार का द्रव्यत्व अनुमान प्रमाण से सिद्ध होता है। अभाव पदार्थ में रूप और क्रिया नहीं रहती – जो प्रतिवादी को भी मान्य है। अन्धकार में वस्तुतः कोई रूप या कोई क्रिया नहीं रहती किन्तु यह भी नहीं कहा जा सकता कि

→ द्रव्ये नवत्वनिर्बन्धो नैव सिद्धिमुपाश्नुते।
तमसो दशमस्यापि संसिद्धेर्निर्युक्तितः॥

१८६ श्वेताम्बर जैन के आचार्य वादिदेवसूरि कृत प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार ग्रन्थ की टीका (पृ. ६४-७२) में जैन महादार्शनिक रत्नप्रभाचार्य ने इस मत का समर्थन करते हुए जिस प्रकार विचार किया है वैसा विचार अन्यत्र नहीं मिलता। इन्होंने न्यायभूषण तथा श्रीधर भट्ट के सन्दर्भों को उद्धृत कर उनका खण्डन किया है। छाया और अन्धकार में भेद दिखाकर इन्होंने दोनों के द्रव्यत्व का समर्थन करते हुए उपसंहार में कहा है – ''इति सिद्धे तमश्छाये द्रव्ये''। किन्तु आश्चर्य है कि श्रीधर भट्ट के कथन के उत्तर में इन्होंने अन्धकार के स्पर्श गुण को मानकर इसके समर्थन में निःसंकोच रूप से जो कुछ कहा है वह इनके साहस का परिचायक है। मीमांसक सम्प्रदाय ने भी अपने मत के समर्थन में अन्धकार का स्पर्श स्वीकार नहीं किया है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

उसमें रूपवत्त्व एवं क्रियावत्त्व का भ्रम होता है। क्योंकि नीलरूपशाली अन्धकार का किसी समय में स्थानान्तर में गमन सभी को प्रत्यक्ष से ज्ञात होता है। उस समय में "नीलं तमश्चलति" नीलरूप विशिष्ट अन्धकार चलता है – इस प्रकार का प्रत्यक्ष होता है – इसको भ्रम मानने का कोई कारण नहीं है। ज्ञान के बाधक निश्चय के बिना भ्रमत्व का निश्चय नहीं हो पाता है। अन्धकार में रूपाभाव के निश्चायक किसी प्रमाण की उपलब्धि नहीं होती। यह भी नहीं कहा जा सकता कि अन्धकार में किसी स्पर्श के नहीं रहने से स्पर्शाभाव हेतु से उसमें रूपाभाव की सिद्धि अनुमान प्रमाण से होती है। क्योंकि ऐसा मानने पर वायु में रूप के नहीं रहने से रूपाभाव हेतु से उसमें स्पर्शाभाव की सिद्धि क्यों नहीं होगी? अत: जैसे स्पर्शयुक्त द्रव्यमात्ररूप युक्त होता है – ऐसा नियम या व्याप्ति मान्य नहीं है – इसी प्रकार रूपविशिष्ट द्रव्यमात्र स्पर्शविशिष्ट होता है – यह नियम भी मान्य नहीं है। फलत: अन्धकार में स्पर्श के नहीं रहने पर भी रूप रह सकता है।

किन्तु अन्धकार को अभाव पदार्थ नहीं माना जा सकता क्योंकि उसका बोध भावरूप में ही होता है, अभाव रूप में उसका बोध नहीं होता। अन्धकार के बोधक वाक्य में नञ् शब्द का प्रयोग भी नहीं होता। इसी प्रकार छाया का भी अभावरूप में बोध नहीं होता, अपितु आलोकमय रत्नविशेष के निकट में भी समय विशेष में छाया विशेष का उद्भव देखा जाता है। अत: उस छाया को आलोक का अभाव नहीं कहा जा सकता। स्मृतिशास्त्र में तो किसी छाया की शुचिता का और किसी छाया की अशुचिता का प्रतिपादन है। इस शास्त्र से सिद्ध होता है कि वह द्रव्य पदार्थ ही है क्योंकि शुचित्व और अशुचित्व मूर्त्त द्रव्य का ही धर्म है। अभाव पदार्थ के ज्ञान में उस ज्ञान के पहले उस अभाव के प्रतियोगी पदार्थ का स्मरण आवश्यक है। क्योंकि प्रत्येक अभाव के ज्ञान में उस अभाव का प्रतियोगी पदार्थ अभाव के विशेषण रूप में विषय होता है। जैसे घटाभाव के ज्ञान में उस अभावांश में घट विषय होता है। अन्यथा घटाभावत्व रूप में उसका ज्ञान नहीं हो सकेगा। इस प्रकार आलोकाभाव को अन्धकार मानने पर उसके ज्ञान में उस अभाव के प्रतियोगी पदार्थ आलोक इस अभाव के विशेषण रूप में विषय होगा। किन्तु अन्धकार के प्रत्यक्ष के पहले सर्वत्र आलोक का स्मरण नहीं होता। अत: अन्धकार अभाव पदार्थ के रूप में नहीं किन्तु भाव पदार्थ के रूप में मान्य है।

न्यायकन्दली में श्रीधर भट्ट ने इस युक्ति की व्याख्या में कहा है – "तस्मान्नाभावोऽयम्"। किन्तु इन्होंने अन्धकार के द्रव्यत्व का खण्डन करते हुए कहा है – "तस्माद् रूपविशेषोऽयमत्यन्तं तेजोऽभावे सति सर्वत:समारोपितस्तम इति प्रतीयते"। जिस स्थान में विशिष्ट आलोक का अभाव रहता है, उस स्थान में सभी

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

प्रकार, से पार्थिव गुण नीलरूप का आरोप या भ्रम होता है। यही आरोपित नीलरूप अन्धकार कहलाता है। किसी-किसी मीमांसक के मत में भी अन्धकार द्रव्य नहीं किन्तु पार्थिव गुण विशेष ही मान्य है। मानमेयोदय में नारायण पण्डित ने यह बात कही है। प्रतीत होता है कि श्रीधर भट्ट ने इस मत की युक्ति को लेकर उपर्युक्त समाधान कहा है। इन्होंने इसका समर्थन करते हुए "न च भासामभावस्य तमस्त्वं वृद्धसम्मतं" आदि दो प्राचीन श्लोकों को उद्धृत किया है।[१८७]

उदयनाचार्य ने किरणावली में अन्धकार के प्रसंग में मीमांसक मत का खण्डन करते हुए कहा है – "पार्थिवमेवेदमारोपितं रूपमित्यपि न समीचीनम्"। इससे ज्ञात होता है कि उदयनाचार्य के पहले से ही मीमांसकों का यह मतान्तर प्रसिद्ध रहा है। उदयनाचार्य के पश्चात् न्यायलीलावती में वल्लभाचार्य ने विचारपूर्वक इस मत का खण्डन किया है। पश्चात् किरणावलीभास्कर में प्रशस्तपाद भाष्य की सेतु टीका में पद्मनाभ मिश्र ने इस मत को न्यायकन्दलीकार का मत मानकर उल्लेख किया है। उस समय में यह मत कन्दलीकार के मत के रूप में ही प्रसिद्ध था। अन्यान्य ग्रन्थों में भी इसका उल्लेख कन्दलीकार के मत के रूप में हुआ है।[१८८] बहुत-से व्यक्ति कहते हैं कि

---

१८७ किन्तु श्रीधर भट्ट से पहले ही वाचस्पति मिश्र ने मीमांसक के मत में अन्धकार के द्रव्यत्व का समर्थन करते हुए न्यायकणिकाव्याख्या में वार्तिककार की उक्ति मानकर –

ननु नाभावमात्रस्य तमस्त्वं वृद्धसंमतम्।
छायाया कार्ष्ण्यमित्येवं पुराणे भूगुणश्रुतेः॥

इस श्लोक को उद्धृत करके व्याख्या की है – भूगुणस्य कार्ष्ण्यस्य छायायाः द्रव्यान्तर-श्रुतेरित्यर्थः। किन्तु श्रीधर भट्ट ने इस प्रकार की व्याख्या का न तो कोई आलोचन किया है और न ही उल्लेख किया है। कुमारिल भट्ट के श्लोकवार्तिक में यह पद्य उपलब्ध भी नहीं है। यहाँ यह भी विचारणीय है कि उक्त रूप श्लोक से मीमांसकों के दो प्रकार के मतों की व्याख्या का मूल क्या है।

१८८ प्रशस्तपादभाष्य की सूक्तिटीका में कन्दलीकार के किसी मत का उल्लेख नहीं है। काशी की चौखम्बा से प्रकाशित सूक्तिटीका की भूमिका (पृ. ४) में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है। किन्तु इसी पुस्तक में प्रकाशित सूक्तिटीका में अन्धकार के स्वरूप के विषय में मतभेद वर्णन करते हुए कहा गया है – "बाधकं बिना उक्त प्रतीतेर्भ्रमत्वायोगान्नीलरूपवत्त्वेन तमः पृथिव्येव, तस्य चालोकाभावव्यंग्यत्वान्न प्रकाशे प्रत्यक्षमिति तु कन्दलीकृतः।" कोलकाता से प्रकाशित-सूक्ति टीका की नवीन व्याख्या (पृ. १३) में इस सन्दर्भ की व्याख्या के समय कन्दलीकार के मत में अन्धकार का पार्थिवत्व ही व्याख्यात है। किन्तु यह सर्वथा असत्य है। प्रशस्तपाद ने पार्थिव द्रव्य रूप अन्धकार को असिद्ध कहा है। यहाँ पहले तो पृ. ४४६ में कहा गया है। →

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

''नीलं तमो न तु नीलिमा'' । यह नहीं कहा जा सकता कि अन्धकार नीलरूप नहीं है। किन्तु नवीन नैयायिकों में श्रेष्ठ पद्मनाभ मिश्र ने उदयनाचार्य की युक्ति की व्याख्या करके स्वयं नवीन रूप से बहुत ही सूक्ष्म विचार करके इस मत का निराकरण किया है। संक्षेप में उन सभी के विचारों को कहना यहाँ सम्भव नहीं है। जिज्ञासु पाठक पद्मनाभ मिश्र का ग्रन्थ पढ़कर अवश्य लाभान्वित होंगे। वस्तुतः वैशेषिकदर्शन में महर्षि कणाद की ''भाऽभावस्तमः'' इस उक्ति से स्पष्ट ज्ञात होता है कि इनके मत में भी महाप्रभा रूप आलोक का अभाव ही अन्धकार है।

श्रीधर भट्ट अपने मत की रक्षा हेतु पश्चात् कणाद के तात्पर्य की व्याख्या में नितान्त कष्टप्रद कल्पना करने के लिए बाध्य हुए हैं। वैशेषिक मत की व्याख्या करते हुए कणाद के उपर्युक्त सूत्र के आधार पर उदयनाचार्य, व्योमशिवाचार्य, वल्लभाचार्य, पद्मनाभ मिश्र तथा शंकर मिश्र आदि ने आलोकाभाव रूप ही अन्धकार को माना है और इस मत का युक्तिपूर्वक समर्थन किया है। सर्वदर्शनसंग्रह में माधवाचार्य ने वैशेषिक मत का वर्णन करते हुए अन्धकार के विषय में उदयनाचार्य की किरणावली की बात उद्धृत करते हुए इस मत का समर्थन किया है, क्योंकि यही वैशेषिक मत बहुसम्मततया प्रतिष्ठित है।

इस मत के समर्थक न्यायवैशेषिक सम्प्रदाय की पहली उक्ति है कि आलोक और अन्धकार का विरोध सर्वमान्य है। किन्तु विचारणीय है कि उस विरोध का स्वरूप क्या है? दो द्रव्यों में नाश्यनाशकभाव विरोध होता है – ऐसा मानने पर अन्धकार नामक भिन्न द्रव्य की मान्यता से महागौरव होगा। अतः इन दोनों में भावाभावात्मकत्व रूप विरोध ही मानना होगा। ऐसी स्थिति में कहना होगा कि इनमें एक है भाव पदार्थ और दूसरा है उसका अभाव स्वरूप। चूंकि आलोक उज्ज्वलशुक्लरूप और स्पर्शविशेष दोनों मतों में प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है। अतः उसको अभावस्वरूप नहीं माना जा

→ सूक्तिटीकाकार जगदीश भट्टाचार्य को इस प्रकार का महाभ्रम होने का कारण हम लोग नहीं देखते। सूक्तिटीका में इस तरह का पाठ ग्रहण करने पर भी नव्यनैयायिक कैसे गुरु जगदीश तर्कालंकार को सूक्तिटीकाकार कहते हैं – यह हम लोगों की समझ में नहीं आता। और यह भी देखना आवश्यक है कि सूक्तिटीकाकार जगदीश ने गुणविभाग की व्याख्या में कहा है – ''वेगस्थितिस्थापकभावनासु अनुगतसंस्कारत्वजातेर्निष्प्रमाणकत्वात्''। किन्तु जगदीश तर्कालंकार के मत में संस्कारत्व भी गुण विभाजक जाति विशेष मान्य है। इन्होंने तर्कामृत में रूप आदि चौबीस गुणों का उल्लेख करके अन्त में स्पष्ट कहा है – ''अत्र रूपत्वादीनि सर्वाण्येव जातयः''। अतएव सूक्तिटीकाकार जगदीश के विषय में पुनःविचार आवश्यक है कि ये जगदीश तर्कालंकार ही हैं या इनसे भिन्न।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

सकता। अतएव अन्धकार को ही आलोक का अभाव रूप मानना होगा। अन्धकार का अभाव स्वरूप आलोक नहीं हो सकता। फलतः जैसे आलोक के नहीं रहने से जहाँ अन्धकार उपलब्ध होता है वैसे आलोक का सामान्याभाव ही अन्धकार पदार्थ के रूप में मान्य होता है[१८९]। इसी प्रकार बहुत-सा आलोक रहने पर उनमें से जिस स्थान में वह समस्त आलोकांश आवृत्त हो जाता है उनका संयोग सम्भव नहीं है। उस स्थान में उन सभी अलोकांश का अभाव ही छाया पद से कहा जाता है। उस छायाविशिष्ट स्थान विशेष के साथ मनुष्य देह का संयोग ही शास्त्र में छायास्पर्श कहा जाता है। शास्त्रोक्त इस औपचारिक वाक्य से अथवा किसी कवि वर्णना से छाया और अन्धकार का द्रव्यत्व सिद्ध नहीं हो सकता।

अपि च रूपवत्त्व तथा गतिमत्त्व आदि हेतु से अन्धकार का द्रव्यत्व सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि अन्धकार में इन हेतुओं के उभयवादी सिद्ध नहीं होने पर वह प्रकृत हेतु ही नहीं हो सकता, वह साध्यसम हेत्वाभास हो जाता है। इसमें भी प्रमाण उपलब्ध नहीं है कि अन्धकार में रूपवत्तादि बुद्धि भ्रमात्मक नहीं होती। ''नीलं नभः'' इस प्रकार आकाश में भी नीलरूप का भ्रम होता है। द्रुतगामी यान से चलने वाले व्यक्ति को नदीतीर पर विद्यमान वृक्षों में भी गति का भ्रम होता है। इस प्रकार बहुत विषयों में विज्ञ व्यक्तियों को बहुत प्रकार का भ्रम उत्पन्न होता है। इसी प्रकार अनेक व्यक्तियों को भावरूप अन्धकार का प्रत्यक्ष होने पर भी उससे अन्धकार का भावत्व सिद्ध नहीं होता क्योंकि उस प्रत्यक्ष की यथार्थता उभयवादी को मान्य नहीं है। उपर्युक्त मत में आलोकाभावत्व रूप में अन्धकार का प्रत्यक्ष ही यथार्थ प्रत्यक्ष है। आलोकाभावरूप में अन्धकार प्रत्यक्ष नहीं होता – यह

---

१८९ किस प्रकार का आलोकाभाव अन्धकार होता है – इस विषय में पश्चात् नव्यनैयायिकों ने बहुत सूक्ष्म विचार किया है। सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्तिवादी पद्मनाभ मिश्र ने सेतुटीका (पृ. ४३) में कहा है – ''प्रौढ़प्रकाशतेजस्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वावच्छिन्नस्याभावस्य तमस्त्वात्''। आगे इन्होंने – ''अस्मत् पितृचरणाराध्याः श्री प्रगल्भभट्टाचार्यास्तु'' कहकर अपने पिता बलभद्र मिश्र के अध्यापक प्रगल्भ भट्टाचार्य के मत का उल्लेख किया है। तर्कसंग्रह की नीलकण्ठी एवं भास्करोदया व्याख्या में उपर्युक्त मत लिया गया है। किन्तु प्रगल्भ भट्टाचार्य के बाद दीधिति व्याख्याकार रघुनाथ शिरोमणि ने सामान्यलक्षणा का खण्डन करते हुए अपने मतानुसार कहा है – ''अन्धकारस्तु तेजोविशेषसामान्याभावो नाभावसमुदायः'' इत्यादि। व्याख्याकार जगदीश ने व्याख्या की है – ''तेजो विशेषेति महाप्रभात्वावच्छिन्नाभाव इत्यर्थः''। पश्चात् इन्होंने अपने अध्यापक रामभद्र सार्वभौम के मतानुसार इसकी दूसरी व्याख्या भी की है। मूलग्रन्थ के अध्ययन से सभी बातें समझ में आ सकती हैं। सामान्यलक्षणा दीधिति-जागदीशी (चौखम्बा संस्करण) पृ. ४६० द्रष्टव्य।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

शपथपूर्वक नहीं कहा जा सकता। अन्धकार से आवृत्त घर के दरवाजे पर खड़ा होने पर अनेक पूर्व दृष्ट आलोकविशेष का स्मरण हो जाता है। इस घर में अभी प्रकाश नहीं है – इस रूप में उस घर में अन्धकार का प्रत्यक्ष होता है। और ''अत्र आलोको नास्ति'' इस प्रकार का नञ् पद युक्त वाक्य का व्यवहार भी होता है। न्यायलीलावती (पृ. ४४६) में वल्लभाचार्य ने कहा है – ''कदाचित्तु अलोकाभावोऽधुना इत्यनेनाकारेण प्रतीयत इति''।[१९०]

अन्धकार चक्षुष् इन्द्रिय से ग्राह्य होता है – ऐसा मीमांसक मत में मान्य है। यह प्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकता कि सर्प के नेत्र गोलक में दो इन्द्रियों की तरह मनुष्य के नेत्र गोलक में भी विजातीय एक इन्द्रिय रहती है, जिससे उसको अन्धकार का प्रत्यक्ष होता है। किन्तु आलोक के बिना किसी भाव पदार्थ का लौकिक चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है – इसका भी कोई सर्वसम्मत दृष्टांत उपलब्ध नहीं है। रात में मणिविशेष की प्रभा के चाक्षुष प्रत्यक्ष में प्रभारूप आलोकविशेष ही चाक्षुरिन्द्रिय का सहकारी होता है। अतएव भाव पदार्थ के लौकिक चाक्षुष प्रत्यक्ष में सर्वत्र जिस किसी सम्बन्ध से आलोक सहकारी कारण के रूप में मान्य होता है। अतः अन्धकार को भाव पदार्थ नहीं कहा जा सकता। अन्धकार को भाव पदार्थ मानने वाले आलोकाभाव को अन्धकार का व्यञ्जक मानते हैं। उसका यदि चाक्षुष प्रत्यक्ष माना जाए तो आलोकनिरपेक्ष चक्षुरिन्द्रिय ही मान्य होगा। और तब ''अयमन्धकारो न भावः आलोकनिरपेक्षचक्षुरिन्द्रियग्राह्यत्वात् आलोकाभाववत्'' इस अनुमान से सिद्ध होता है कि प्रत्यक्ष दृष्ट यह अन्धकार अभाव पदार्थ ही है। अभाव पदार्थ होने पर आलोक दर्शन का अभाव अथवा रूप दर्शन का अभाव है अन्धकार – ये दोनों ही मत मान्य नहीं होते क्योंकि ज्ञान के चक्षुरिन्द्रिय से ग्राह्य नहीं

---

[१९०] किरणावली में उदयनाचार्य ने कहा है – ''विधिमुखस्तु प्रत्ययोऽसिद्धः''। यह प्रमाणसिद्ध नहीं है कि अन्धकार का विधिमुखेन बोध होता है। क्योंकि उक्त ''विधिमुख'' शब्द के किसी भी अर्थ का समर्थन नहीं किया जा सकता। उदयनाचार्य ने इसका भी युक्तिपूर्वक समर्थन दिया है कि अभाव पदार्थ में भी भाव पदार्थ के धर्म का आरोप व भ्रम हो सकता है। इस मत में अभावस्वरूप होने पर भी अन्धकार में नीलरूप एवं गमन क्रिया आदि भाव धर्मों का भ्रम होता है। उदयनाचार्य ने परिशुद्धि में भिन्न प्रकार से अन्धकार में नील आदि के व्यवहार का उपपादन किया है। न्यायलीलावती (पृ. ४४५) में वल्लभाचार्य ने उदयन के इस कथन का भी उल्लेख किया है – ''शुक्लादिव्यावृत्तिनिबन्धनस्तु नीलादिव्यवहारः शषयोरिव व्यवहारो गौडानाम्। भावत्वेन वेदनमप्यसिद्धमित्यादि तात्पर्यपरिशुद्धावुदयनः''। प्राचीनकाल से ही गौडदेशवासी पण्डितों में भी शषस वर्णों के उच्चारण में भेद नहीं रहने से मैथिल उदयनाचार्य ने गौडदेश के इस चिरन्तन उच्चारण व्यवहार को दृष्टान्त रूप में उल्लेख किया है – यह लक्ष्य करने योग्य है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

होने के कारण उस ज्ञान के अभाव का भी चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। अतः चक्षुरिन्द्रिय से ग्राह्य आलोकविशेष का अभाव ही अन्धकार पदार्थ के रूप में मान्य होता है।

अन्धकार नामक अतिरिक्त जन्यद्रव्य को मानने पर सूर्यास्त के तुरन्त बाद ही आलोक से रहित असंख्य स्थानों में असंख्य अन्धकार की उत्पत्ति माननी पड़ेगी। विवर्त्तवादी वेदान्त के आचार्य प्रकाशात्मयति ने अपने मत के अनुसार पञ्चपादिका-विवरण में कहा है – "आलोकविनाशितस्य च तमसः पुनर्मूलकारणादेव झटिति महाविद्युदादिजन्मवज्जन्म सिद्ध्यति।" किन्तु मूल कारण ब्रह्म या अविद्या से इस प्रकार अतिशीघ्र बहुस्थानव्यापी अन्धकार द्रव्य की उत्पत्ति होने पर यह भी कहना होगा कि अन्यान्य द्रव्यों की भी इस प्रकार उत्पत्ति क्यों नहीं होती। यद्यपि इसका उत्तर उक्त विवरणकर के मत में है तथापि उनका सम्मत विवर्त्तवाद आरम्भवादी मीमांसक सम्प्रदाय को अनुमत नहीं है। मीमांसक के मत में अन्धकार के द्रव्यत्व पक्ष का समर्थन करते हुए वाचस्पति मिश्र ने न्यायकणिका (पृ. ७६) में कहा है – "पृथिव्याद्यणूनामिव तमोऽणूनामप्यनुमानात्"। अन्धकार के द्रव्यत्व के खण्डन में न्यायकन्दलीकार श्रीधर भट्ट ने कहा है – "एवं तर्हि तामसाः परमाणवोऽप्यस्पर्शवन्तः कथं तमोद्रव्यमारम्भेरन्" अर्थात् स्पर्शरहित तामस परमाणु समूह भी अन्धकार नामक द्रव्य का उत्पादक नहीं हो सकता।

श्लोकवार्त्तिक में कुमारिल भट्ट ने कहा है – "मीमांसकैश्च नावश्यमिष्यन्ते परमाणवः"। (अनुमान परिच्छेद १८३)। किन्तु जन्यद्रव्य के मूलकारणरूप में तज्जातीय असंख्य सूक्ष्म द्रव्य (त्रसरेणु) मीमांसक के मत में मान्य हैं। अतः अन्धकार द्रव्य के मूल कारण उन समस्त अतिसूक्ष्म द्रव्य से क्रमशः महान् अन्धकार की उत्पत्ति बहुत समय सापेक्ष माननी होगी। वस्तुतः द्रव्य, गुण और कर्मरूप भाव पदार्थ की जिस प्रकार उत्पत्ति होती है उसी प्रकार अन्धकार की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती। महर्षि कणाद ने इसी तात्पर्य से कहा है – "द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्याद् भाभावस्तमः"[१९१] (५.२.१९)।

---

१९१ शंकर मिश्र परवर्ती व्याख्याकार ने इस सूत्र के अंतिम भाग में "अभावस्तमः"। इस प्रकार का पाठ स्वीकार किया है किन्तु "भाभावस्तमः" पाठ ही यहाँ प्राचीनों का सम्मत है। न्यायवार्त्तिक में उद्योतकर ने 'भाभावस्तमः' पाठयुक्त सूत्र ही उद्धृत कर उसकी व्याख्या की है – "निराकृततेजः सम्बन्धीनि द्रव्यगुणकर्माणि तमःशब्देनाभिधीयन्ते"। किन्तु यह किसी बौद्ध सम्प्रदाय के कथन के खण्डन हेतु तत्काल की गई उनकी यह कल्पित व्याख्या प्रतीत होती है। क्योंकि उनके अपने मत में इस प्रकार की व्याख्या का कोई कारण प्रतीत नहीं होता। (तृतीय खण्ड, बंग संस्करण, का सप्तम पृष्ठ द्रष्टव्य है)

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

पश्चात् अन्धकार में गति के भ्रम का कारण व्यक्त करते हुए कहा है – "तेजसो द्रव्यान्तरेणावरणाच्च"। अन्तिम सूत्र से सूचित किया है कि छाया आवृत आलोक विशेष का अभावस्वरूप होती है। तात्पर्य यह है कि अन्धकार को द्रव्य मानने पर असंख्य स्थान में असंख्य अन्धकार द्रव्य की उत्पत्ति तथा विनाश मानने पर कार्यकारणभाव कल्पना में गौरव होगा और अन्धकार नामक द्रव्य के मूल उपादानरूप में असंख्य द्रव्यों की कल्पना करने में महागौरव होगा। अतः इस मत में उपर्युक्त कल्पना गौरव को ही चरम दोष कहा गया है। दोनों पक्षों में प्रमाण प्रस्तुत होने पर जिस पक्ष में कल्पना का लाघव होगा वही पक्ष ग्राह्य होता है। अतः प्रमाण की सहिकारिता से सम्पन्न कल्पना का लाघव तर्क कहलाता है। मीमांसकों ने अन्यत्र कहा है –

> कल्पनालाघवं यत्र तं पक्षं रोचयामहे।
> कल्पनागौरवं यत्र तं पक्षं न सहामहे॥ – मानमेयोदय १.२.८

सूत्र – कालात्ययापदिष्टः कालातीतः।१.२.९।

अनुवाद – कालात्ययापदिष्ट अर्थात् हेतु का जो विशेषण प्रकृत स्थल में कालात्यय विशिष्ट हो उसे कालातीत कहते हैं। अथवा हेतु के प्रयोग के या साध्य संशय के कालात्यय में जो अपदिष्ट अर्थात् हेतु रूप में प्रयुक्त हो उसे कालातीत कहते हैं।

भाष्य – **कालात्ययेन युक्तो यस्यार्थैकदेशोऽपदिश्यमानस्य स कालात्ययापदिष्टः कालातीत उच्यते। निदर्शनम् – नित्यः शब्दः संयोगव्यंग्यत्वात् रूपवत्। प्रागूर्ध्वञ्च व्यक्तेरवस्थितं रूपं प्रदीपघटसंयोगेन व्यज्यते। तथा च शब्दोऽप्यवस्थितो भेरीदण्डसंयोगेन व्यज्यते दारुपरशुसंयोगेन वा। तस्मात् संयोगव्यङ्ग्यत्वान्नित्यः शब्द इत्ययमहेतुः कालात्ययापदेशात्। व्यञ्जकस्य संयोगस्य कालं न व्यंग्यस्य रूपस्य व्यक्तिरत्येति। सति प्रदीपसंयोगे रूपस्य ग्रहणं भवति निवृत्ते संयोगे रूपं न गृह्यते। निवृत्तदारुपरशुसंयोगे दूरस्थेन शब्दः श्रूयते विभागकाले। सेयं शब्दस्य व्यक्तिः संयोगकालमत्येतीति न संयोगनिमित्ता[१९२] भवति। कस्मात् कारणाभावाद्धि**

---

[१९२] यहाँ प्रचलित एवं प्रकाशित पुस्तक में "संयोगनिर्मिता" पाठ दिखता है "संयोगनिमित्ता" नहीं। किन्तु किसी पुस्तक में "संयोगनिमित्ता" पाठ भी उपलब्ध है। धर्मकीर्ति के वादन्याय की शान्तरक्षितकृत टीका में यहाँ का भाष्यपाठ उद्धृत है जो संयोगनिमित्ता रूप ही है। भले ही अनेक मुद्रित ग्रन्थों में वह विकृत होकर संयोगनिर्मिता हो गया हो। मेरी दृष्टि में यही पाठ समुचित प्रतीत होता है। बौद्ध पण्डित राहुल सांकृत्यायन द्वारा प्रकाशित वादन्याय ग्रन्थ का पृ. १३७ द्रष्टव्य है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

कार्याभाव इति। एवमुदाहरणसाधर्म्यस्याभावादसाधनमयं हेतुर्हेत्वाभास इति।

अवयवविपर्यासवचनं तु न सूत्रार्थः। कस्मात्?
''यस्य येनार्थसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तस्य सः।
अर्थतोऽह्यसमर्थानामानन्तर्यमकारणम्'' ॥

इत्येतद्वचनाद् विपर्यासेनोक्तो हेतुरुदाहरणसाधर्म्यात्तथावैधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुलक्षणं न जहाति। अजहद्धेतुलक्षणं न हेत्वाभासो भवतीति। अवयवविपर्यासवचनमप्राप्तकालमिति निग्रहस्थानमुक्तं तदेवेदं पुनरुच्यत इत्यतस्तन्न सूत्रार्थः।

अनुवाद – अपदिश्यमान अर्थात् अनुमान के हेतु रूप में प्रयुज्यमान जिस पदार्थ का एकदेश अर्थात् कोई विशेषण कालात्ययापदिष्ट कहलाता है और वही कालात्ययापदिष्ट पदार्थ कालातीत होता है अर्थात् इस प्रकार का हेतु ''कालातीत'' नामक हेत्वाभास होता है।

इसका उदाहरण है – ''नित्यः शब्दः संयोगव्यङ्ग्यत्वात् रूपवत्'' शब्द नित्य होता है (पूर्वापरकालस्थायी होता है), संयोग से व्यङ्ग्य होने के कारण, जैसे रूप। (विशदार्थ) जैसे व्यक्ति के (प्रत्यक्ष रूप अभिव्यक्ति के) पहले और पश्चात् अवस्थित रूप (घट आदि का रूप) प्रदीप के साथ घट का संयोग होने पर व्यक्त (प्रत्यक्ष) होता है। इसी प्रकार (श्रवण से पहले और बाद में अवस्थित) शब्द भेरी तथा दण्ड के संयोग से अथवा काष्ठ तथा कुठार के संयोग से व्यक्त (प्रत्यक्ष) होता है। अतएव संयोगव्यङ्ग्यत्व हेतु से शब्द की नित्यता उपपन्न होती है। यह अर्थात् इस प्रकार के अनुमान का हेतु संयोगव्यङ्ग्यत्व रूप हेतु कालात्ययापदेश होने से अहेतु अर्थात् हेत्वाभास होता है। तात्पर्य यह है कि व्यङ्ग्य अर्थात् आलोक संयोग से व्यङ्ग्य रूप की व्यक्ति (प्रत्यक्ष) व्यञ्जक संयोग के अर्थात् उस प्रदीप संयोग के काल का अतिक्रम नहीं करता, क्योंकि प्रदीपसंयोग के विद्यमान रहने पर ही रूप का प्रत्यक्ष होता है। संयोग के निवृत्त हो जाने पर रूप का ज्ञान नहीं होता। किन्तु काष्ठ और कुठार के संयोग के निवृत्त होने पर विभागकाल में अर्थात् काष्ठ के साथ उस कुठार के विभाग काल में दूरस्थ व्यक्ति उसके शब्द को सुनता है। शब्द की यह व्यक्ति अर्थात् अभिव्यक्ति (श्रवण) संयोग के काल का अतिक्रम करती है। अतएव वह संयोगनिमित्तक नहीं होती। वह अतीत संयोग पश्चात् भावी शब्दश्रवण का कारण नहीं हो सकता। क्यों? क्योंकि कारण के अभाव में कार्य का अभाव होता है। इस स्थिति में उदाहरण के साधर्म्य के अभाव में (संयोगव्यङ्ग्यत्व) हेतु वास्तव में हेतु न होकर हेत्वाभास हो जाता है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अवयवों का विपरीत क्रम में कहना सूत्र का अर्थ नहीं होता अर्थात् उदाहरण-वाक्य के पश्चात् हेतु का प्रयोग कालातीत हेत्वाभास होता है – ऐसा सूत्रार्थ नहीं है। क्योंकि जिस वाक्य के साथ अन्य वाक्य का अर्थगत सम्बन्ध रहता है वह सम्बन्ध वाक्य के दूर में रहने पर भी रहता ही है। किन्तु अर्थ से असमर्थ वाक्यसमूह का अर्थात् निराकांक्ष वाक्यसमूह का आनन्तर्य (सन्निधान) अकारण अर्थात् शाब्दबोध का जनक नहीं होता। इस वचन के अनुसार उक्त हेतु विपरीत क्रम से कहने पर भी उदाहरण के साधर्म्य प्रयुक्त एवं उसके वैधर्म्य प्रयुक्त साध्य का साधन होने से हेतु के लक्षण का त्याग नहीं करता और हेतु के लक्षण से समन्वित होने पर वह हेत्वाभास नहीं हो सकता। ''अवयवविपर्यासवचनमप्राप्तकालम्'' (५.२.११) इस सूत्र से ''अप्राप्तकाल'' नाम का निग्रहस्थान उक्त हुआ है – वह भी यहाँ पुनरुक्त होगा अर्थात् सूत्र का ऐसा (उपर्युक्त) अर्थ मानने पर वह निग्रहस्थान ही पुनरुक्त होगा। अतएव वह सूत्रार्थ नहीं माना जा सकता।

टिप्पणी – हेत्वाभास का पाँचवाँ प्रभेद कालातीत कहलाता है। वृत्तिकार विश्वनाथ ने हेत्वाभास के उपर्युक्त विभागसूत्र में अतीतकाल पाठ कहा है और कालातीत शब्द को उसका समानार्थक माना है। किन्तु प्रतीत होता है कि महर्षि ने इस लक्षणसूत्र में कालातीत पद से लक्ष्य का निर्देश करके उपर्युक्त विभागसूत्र में कालातीत पाठ को ही उचित या प्रकृत माना है। वाचस्पति मिश्र ने न्यायसूचीनिबन्ध में दोनों ही सूत्रों में कालातीत पाठ को ही लिया है।

भाष्यकार की व्याख्या के अनुसार जिस हेतु का विशेषण कालात्ययविशिष्ट हो वह हेतु कालात्ययापदिष्ट होने से कालातीत होता है – यही सूत्र का अर्थ ज्ञात है। भाष्यकार ने इसका उदाहरण प्रदर्शित किया है – ''नित्यः शब्दः संयोगव्यङ्ग्यत्वात् रूपवत्''। यहाँ रूपवत् दृष्टान्त वाक्य से ज्ञात होता है कि शब्द पहले से विद्यमान रहता है – यही वादी की प्रतिज्ञा का अर्थ है। उद्योतकर ने कहा है – ''न ब्रूमो नित्यः शब्द इति। अपितु अवतिष्ठते इति प्रतिज्ञार्थः''। वादी का अभिप्राय व्यक्त करते हुए भाष्यकार ने पश्चात् कहा है कि प्रदीप के साथ घट का संयोग होने पर उस घट में पहले से विद्यमान रूप का प्रत्यक्ष होता है, अतः रूप संयोगव्यङ्ग्य होता है। संयोगविशेष जिसका व्यञ्जक होता है अर्थात् प्रत्यक्ष का सहकारी कारण होता है उसे संयोगव्यङ्ग्य कहते हैं। रूप की तरह शब्द भी संयोगव्यङ्ग्य होता है क्योंकि भेरी और दण्ड के संयोगविशेष का प्रत्यक्ष होता है। इस संयोगव्यङ्ग्यत्व हेतु से सिद्ध होता है कि शब्द पहले से विद्यमान रहता है अर्थात् शब्द की नई उत्पत्ति नहीं होती।

किन्तु भाष्यकार का कहना है कि रूप की तरह शब्द संयोगव्यङ्ग्य नहीं होता।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अतः शब्द में उदाहरण का (रूपदृष्टान्त का) साधर्म्य (संयोगव्यङ्ग्यत्व) नहीं रहने के कारण उक्त हेतु शब्द के नित्यत्व का साधन नहीं होता। फलतः वह हेत्वाभास होता है। इस संयोगव्यङ्ग्यत्व रूप हेतु का एक देश या विशेषण संयोग शब्द के श्रवणकाल पर्यन्त नहीं रहता। अतः वह कालात्ययविशिष्ट होता है। इस हेतु के कालात्ययापदिष्ट होने से यह कालातीत नामक हेत्वाभास होता है। भाष्यकार ने इसे ही समझाने के लिए कहा है – ''कालात्ययापदेशात्'' इत्यादि। भाष्यकार का आशय यह है कि प्रदीप के साथ घट का संयोग विद्यमान रहने पर ही उस काल में उस घटरूप का प्रत्यक्ष होता है, अतः वह संयोग उस घटरूप का व्यञ्जक होने से रूप को संयोगव्यङ्ग्य कहा जाता है। किन्तु भेरी तथा दण्ड, काष्ठ और कुठार का वह विलक्षण संयोग निवृत्त होने पर दूरस्थ व्यक्ति को उस शब्द का श्रावण प्रत्यक्ष होता है। अर्थात् रूप के प्रत्यक्ष काल में जैसे उसका काष्ठ एवं कुठार आदि का संयोग विद्यमान नहीं रहता। अतः भाष्यकार ने कहा है – ''सेयं शब्दस्य व्यक्तिः ... न संयोगनिमित्ता भवति''। उपर्युक्त ध्वन्यात्मक शब्द की अभिव्यक्ति या श्रावण प्रत्यक्ष में उक्त काष्ठ एवं कुठार का संयोग या भेरी और दण्ड का संयोग कारण नहीं हो सकता क्योंकि इन दोनों में कार्यकारणभाव मानने पर शब्द के श्रवण प्रत्यक्षरूप कार्य के समय में उस संयोग के नहीं रहने पर कारण के अभाव में श्रवण प्रत्यक्षरूप कार्य नहीं होगा। भाष्यकार ने कहा है – ''कारणाभावाद्धि कार्याभावः'' इति।

यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि भाष्यकार ने पश्चात् किसी के द्वारा इस सूत्र की भिन्न रूप से की गई व्याख्या का खण्डन किया है। वाचस्पति मिश्र ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है – ''यत्पुनर्भदन्तेन कालातीतस्य व्याख्यानं कृतम्'' इत्यादि। तात्पर्य यह है कि किसी बौद्ध नैयायिक ने गौतम के कालातीत नामक पञ्चम हेत्वाभास के खण्डन हेतु इस सूत्र की व्याख्या की थी कि वादी तथा प्रतिवादी यदि प्रतिज्ञावाक्य के पश्चात् हेतुवाक्य का प्रयोग न करके कालात्यय में अर्थात् उदाहरणवाक्य के बाद हेतुवाक्य का प्रयोग करते हैं तो उस हेतु को कालातीत कहते हैं। यहाँ भाष्यकार ने इस व्याख्या के खण्डन में ''यस्य येनार्थसम्बन्धः'' इत्यादि प्राचीन कारिका[१९३] का उद्धरण देकर कहा है कि विपरीत

---

[१९३] न्यायामृत ग्रन्थ (पृ. २७९) में व्यासतीर्थ ने इस कारिका का वार्त्तिक कहकर उल्लेख किया है किन्तु उस वार्त्तिक का परिचय नहीं दिया। सांख्यकारिका की युक्तिदीपिका व्याख्या (पृ.१२) में देखा जाता है – तथा चोक्तं –

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

यस्य येनाभिसम्बन्धः दूरस्थस्यापि तस्य सः। →
अर्थतस्त्वसमानानामानन्तर्योऽप्यअसम्भवः॥

क्रम से हेतु के कहने पर भी वह हेतु हेतु के लक्षण से विघटित नहीं होता। अतः उस तरह के स्थल में वह हेतु हेतुलक्षण से युक्त रहने के कारण हेत्वाभास नहीं होता। अपितु महर्षि ने आगे कहा है कि अवयव के विपरीत क्रम से कहने पर ''अप्राप्तकाल'' नामक निग्रहस्थान होता है। यहाँ यदि वे इस बात को कहेंगे तो पुनरुक्ति दोष होगा। अतः वह अर्थ इस सूत्र का नहीं है। इस सूत्र का प्रकृत अर्थ न समझकर अपनी इच्छा से उपर्युक्त अर्थ करके कालातीत हेत्वाभास का खण्डन नहीं किया जा सकता।

भाष्यकार की व्याख्या का प्रतिवाद एवं भिन्न व्याख्या

बौद्धाचार्य शान्तरक्षित ने गौतम के कालातीत हेत्वाभास के खण्डन हेतु वात्स्यायन तथा उद्योतकर की व्याख्या का उल्लेख करके उसका खण्डन किया है – ''तदनेन प्रकारेण संयोगव्यङ्ग्यत्वमेव शब्दस्य प्रतिषिध्यत इति नायमसिद्धाद् व्यावर्तते'' (वादन्याय टीका)। इस प्रकार से शब्द में संयोगव्यङ्ग्यत्व हेतु प्रतिषिद्ध होने के कारण यह हेतु असिद्ध हेत्वाभास से भिन्न नहीं है। न्यायमञ्जरी में जयन्त भट्ट ने यही बात कहकर भाष्यकार की व्याख्या का खण्डन किया है। किन्तु इन्होंने व्याख्या की है कि अनुमान के धर्मी में प्रत्यक्ष या आगम के द्वारा साध्यधर्म के अभाव का जब तक निश्चय नहीं हुआ है तब तक साध्यधर्म के साधन हेतु किसी भी हेतु का प्रयोग किया जा सकता है। किन्तु उस हेतु प्रयोग के कालात्ययापदिष्ट होने पर अर्थात् प्रत्यक्ष या आगम से साध्यधर्म के अभाव का निश्चय होने पर वह हेतु कालातीत नामक हेत्वाभास हो जाता है। प्रत्यक्षविरुद्ध तथा आगमविरुद्ध न्यायाभास के स्थलों में सभी हेतु इसके उदाहरण होते हैं। (इसी ग्रन्थ के सूत्र १.१.१ की व्याख्या के अन्तर्गत प्रत्यक्षविरुद्ध न्यायाभास का उदाहरण शीर्षक के अन्तर्गत एतद्विषयक और बातें विषय द्रष्टव्य हैं)।

तात्पर्यटीकाकार वाचस्पति मिश्र ने यहाँ भाष्यकार का उदाहरण नहीं लिया है। किन्तु भाष्यकार के मत के निर्दोषत्व की रक्षा हेतु इन्होंने पहले इस सूत्र की भिन्न प्रकार की व्याख्या की है – ''एवं व्यवस्थिते भाष्यकारः सूत्रं स्वपरमतश्लिष्टं व्याचष्टे, कालात्ययेन संशयकालात्ययेन युक्तो यस्यार्थैकदेशः'' इत्यादि। वाचस्पति मिश्र का

वाचस्पति मिश्र ने ''यस्य येनार्थसम्बन्धः''। (भाष्यधृत) पाठ ही उद्धृत करके व्याख्या की है ''अर्थेन सामर्थ्येन सम्बन्धोऽर्थसम्बन्धः''। तात्पर्य यह है कि जिस वाक्य के साथ जिस वाक्य का अर्थसम्बन्ध अर्थात् साकांक्षत्व रहता है वह दूरस्थ वाक्य में भी रहता है। किन्तु साकांक्षत्व नहीं रहने पर निकटस्थ वाक्य के साथ मिलने पर भी उस वाक्य से शाब्दबोध नहीं होता। इस सिद्धान्त के अनुसार बौद्ध सम्प्रदाय ''अप्राप्तकाल'' नामक निग्रहस्थान स्वीकार नहीं करता (इस विषय में अधिक आलोचना [illegible] पञ्चम खण्ड, बंग संस्करण, के पृ. ४५-५१ में द्रष्टव्य है)।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy; Kathmandu Collection

समाधान यह है कि उक्त उदाहरण भाष्यकार का अपना सम्मत नहीं है। भाष्यकार ने यहाँ पहले ''कालात्ययेन'' इत्यादि एक ही सन्दर्भ से अपना तथा दूसरे के मतों से सूत्र के अर्थ की व्याख्या करके परमत के अनुसार उदाहरण प्रदर्शित किया है। यदि ऐसा है तो इस उदाहरण में इन्होंने असिद्ध दोष क्यों नहीं दिखाया। इसके उत्तर में वाचस्पति मिश्र ने कहा है – ''स्थूलतया एष दोषो भाष्यकारेण नोद्भावितः''। यह दोष बिना कहे भी समझ में आ जाता है – यही समझकर उन्होंने इसे नहीं कहा होगा। उनके अपने मत में प्रथमोक्त सन्दर्भ से सूत्रार्थ ज्ञात होता है कि अपदिश्यमान जिस पदार्थ (हेतु) का अर्थैकदेश हेतु से साधनीय किसी धर्म विशिष्ट धर्मी का एकदेश (उस धर्मी में विशेषणी भूत साध्यधर्म) संशय कालात्यययुक्त होता है वह हेतु अर्थात् उस साध्यधर्म के संशय के कालात्यय में अपदिष्ट या प्रयुक्त होता है और वही हेतु कालात्ययापदिष्ट होने से कालातीत हेत्वाभास होता है। तात्पर्य यह है कि अनुमान के धर्मीरूप में गृहीत पदार्थ में किसी बलवान् प्रमाण से उस साध्यधर्म के अभाव का निश्चय होने पर पुनः उसमें साध्यधर्मविषयक संशय उत्पन्न नहीं होता। अतः उस प्रकार के स्थल में प्रयोग किया गया हेतु साध्य संशय के कालात्यय में प्रयुक्त होने से कालातीत हेत्वाभास होता है। भाष्यकार का यदि यही मत है तो उन्होंने यहाँ अपने मतानुसार उदाहरण क्यों नहीं दिया? इसके उत्तर में वाचस्पति मिश्र ने कहा है – ''अत्र च पूर्वमेवोदाहृतमिति पौनरुक्त्यान्नोदाहृतम्''।

वाचस्पति मिश्र की व्याख्या पर विशेष वक्तव्य

यहाँ हम लोगों की समझ में यह नहीं आता है कि भाष्यकार के एक ही सन्दर्भ से अपना तथा अन्य के मत में सूत्रार्थ की व्याख्या उन्होंने क्यों की? ऐसा करने का कारण क्या है – इसे वाचस्पति मिश्र ने स्पष्ट नहीं किया है। अन्यत्र कहीं भी इन्होंने भाष्यकार के इस प्रकार के तात्पर्य की व्याख्या नहीं की है। पुनश्च वार्तिक की व्याख्या में उद्योतकर के इस प्रकार के तात्पर्य का कथन इन्होंने क्यों नहीं किया – यह भी विचारणीय है। अपि च भाष्यकार ने यहाँ परमत के अनुसार व्याख्या की है और परमत के उक्त दोष को स्थूल समझकर नहीं कहा है किन्तु अपना मत क्या है – यह कहना तो उनके लिए आवश्यक था, अन्यथा उनका मत कैसे ज्ञात हो सकता है। वाचस्पति मिश्र ने उस भाष्य सन्दर्भ से जिस प्रकार भाष्यकार के अपने मत की व्याख्या की है वह तो स्थूल प्रतीत नहीं होता अपितु कष्टकल्पनामूलक होने से दुर्बोध ही है। जयन्त भट्ट ने भी भाष्यकार के उपर्युक्त तात्पर्य को समझकर उपर्युक्त व्याख्या से भाष्यकार के मत की निर्दोषता की रक्षा नहीं की। किन्तु भाष्यकार ने पहले ही (पृ.९३) सूत्र १.१.१ की व्याख्या में प्रत्यक्षविरुद्ध तथा आगमविरुद्ध अनुमान को न्यायाभास कहकर उसका उदाहरण नहीं

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

दिखाया है। अतः यहाँ अपने मत में कालातीत हेत्वाभास का उदाहरण कहने पर पुनरुक्ति कैसे होगी – यह भी हम लोगों की समझ में नहीं आता। अतः यह भी विद्वानों के लिए विचारणीय है कि ''पौनरुक्त्यान्नोदाहृतम्'' वचन वाचस्पति मिश्र की व्याख्या से कैसे संगत होता।

वाचस्पति मिश्र की तरह पश्चाद्वर्ती उदयनाचार्य आदि नैयायिकों ने भी बलवान प्रमाण से बाधित हेतु को कालातीत हेत्वाभास कहा है। तार्किकरक्षा में वरदराज ने कहा है – ''कालातीतो बलवता प्रमाणेन प्रबाधितः''। पश्चात् तत्त्वचिंतामणिकार गङ्गेश उपाध्याय ने हेतु के बाधदोष को दस प्रभेद कहा है तथा प्रत्यक्षबाधित, अनुमानबाधित, उपमानबाधित तथा शब्दप्रमाणबाधित हेतु का उदाहरण भी प्रदर्शित किया है। इस मत के अनुसार भी भाष्यकार का उक्त स्थल में संयोगव्यङ्ग्यत्व हेतु को बाधित कहा है। न्यायकुसुमाञ्जलि (२.१) में महानैयायिक उदयनाचार्य ने विचार करके समर्थन किया है कि श्रवण के पहले और पश्चात् शब्द की असत्ता या अभाव प्रत्यक्ष से सिद्ध है। श्रवणेन्द्रिय से ही उसका प्रत्यक्ष होता है। पश्चात् द्वितीय अध्याय के द्वितीय आह्निक में भाष्यकार के शब्दानित्यत्व के समर्थन से उनका भी वह मत (शब्दानित्यत्व) ज्ञात होता है। सुनने से पहले यदि शब्द की सत्ता रहती है तो उसका श्रवण क्यों नहीं होता? इसके उत्तर में शब्दनित्यत्ववादी का कहना है कि शब्द संयोगव्यङ्ग्य होता है। श्रवण के पहले व्यञ्जक संयोग के अभाव में वह सुनाई नहीं देता, किन्तु विचारणीय है कि शब्द का संयोगव्यङ्ग्यत्व यदि निराकृत हो जाता है तो यह बात नहीं कही जा सकती। भाष्यकार ने इस गूढ़ अभिप्राय से ही शब्द के संयोगव्यङ्ग्यत्व का खण्डन किया है – मुझे तो ऐसा ही प्रतीत होता है। भाष्यकार ने आगे (२.२.१८ सूत्र के भाष्य में) कहा है– ''प्रतिषिद्धं च संयोगस्य व्यञ्जकत्वम् तस्मान्न व्यञ्जकाभावादग्रहणमपित्व-भावादेवेति''। इसलिए यहाँ भाष्यकार द्वारा उक्त संयोगव्यङ्ग्यत्व रूप हेतु असिद्ध होने पर भी उसको ''बलवत् प्रमाणबाधित'' माना जाता है। एक ही हेतु अनेक प्रकार का हेत्वाभास हो सकता है। बाधित हेत्वाभास का और भी उदाहरण है जो आगे यथास्थान व्यक्त होगा।

हेत्वाभास के प्रकार भेद के विषय में मतभेद तथा गौतम के मत में युक्ति

वैशेषिकदर्शन में कणाद ने कहा है ''अप्रसिद्धोऽनपदेशोऽसन् सन्दिग्धश्चानपदेशः'' (३.१.१५)। इस सूत्र में अनपदेश का अर्थ अहेतु होता है अर्थात् वह पद हेत्वाभास का बोधक है यह तीन प्रकार का होता है – अप्रसिद्ध, असत् और सन्दिग्ध। अप्रसिद्ध से विरुद्ध, असत् से असिद्ध और सन्दिग्ध से अनैकान्तिक हेत्वाभास अभिप्रेत है। इसलिए

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

प्राचीन वैशेषिक आचार्य ने कहा है – "विरुद्धासिद्धसन्दिग्धमलिङ्गं काश्यपोऽब्रवीत्"। कश्यप मुनि के पुत्र कणाद मुनि ने तीन प्रकार के अलिंग अर्थात् हेत्वाभास कहे हैं। किन्तु व्योमवती (पृ. ५६५-६९) में व्योमशिवाचार्य ने कणाद के उक्त सूत्रगत च शब्द को अनुक्तसमुच्चयार्थक मानकर गौतम की तरह कणाद के मत में भी हेत्वाभास के पाँच प्रकार कहे हैं। सप्तपदार्थी ग्रन्थ में शिवादित्य मिश्र ने भासर्वज्ञ की तरह छह प्रकार के हेत्वाभास कहे हैं – "तदाभासा असिद्धविरुद्धानैकान्तिकानध्यवसितकालात्ययापदिष्ट-प्रकरणसमाः"। किन्तु सर्वमान्य वैशेषिक आचार्य प्रशस्तपाद ने हेत्वाभास के विभाग में चार प्रकारों का उल्लेख किया है – असिद्ध, विरुद्ध, सन्दिग्ध और अनध्यवसित। इसके अनुसार न्यायलीलावती में वैशेषिक मत की व्याख्या करते हुए वल्लभाचार्य ने स्पष्ट कहा है – "तदाभासाश्चत्वारः असिद्धविरुद्धसव्यभिचारानध्यवसिताः"। (पृ. ६०६)।

जो सपक्ष तथा विपक्ष में नहीं रहता और केवल पक्षभूत पदार्थ में रहता है, ऐसे अनुमेयधर्मीरूप पक्ष के असाधारण धर्म को हेतु रूप में ग्रहण करने पर इस मत में वह हेतु अनध्यवसित हेत्वाभास कहलाता है। अतः न्यायकन्दली में श्रीधर भट्ट ने कहा है – "अनध्यवसित इत्यसाधारणो हेत्वाभासः कथ्यते"। उद्योतकर ने इस प्रकार के हेतु को सव्यभिचार का द्वितीय प्रकार कहा है। उद्योतकर ने गौतम के संशयसूत्र की व्याख्या करके गौतम के मत में असाधारणधर्म के ज्ञान से भी संशय की उत्पति का समर्थन किया है। यह पहले ही संशयसूत्र की टिप्पणी में कहा गया है। प्रशस्तपाद ने इस मत का प्रतिवाद करते हुए उपसंहार में वैशेषिक सिद्धान्त प्रतिपादित किया है "तस्मात् सामान्यप्रत्ययादेव संशय इति"। समानधर्म या साधारणधर्म के ज्ञान से ही संशय उत्पन्न होता है। असाधारण धर्म का ज्ञान संशय का जनक नहीं होता, किन्तु स्थलविशेष में वह अनध्यवसाय नामक ज्ञान का जनक होता है। यहाँ यह भी विचारणीय है कि प्रशस्तपाद के परवर्ती उद्योतकर ने गौतम के संशयसूत्र के वार्त्तिक में बहुत-से मतों की आलोचना की है किन्तु प्रशस्तपाद के इस मत की आलोचना क्यों नहीं की। वैशेषिकदर्शन के उपस्कार (२.२.१७) में पश्चात् शंकर मिश्र ने कहा है – "समानतन्त्रे गौतमीयेऽनध्यवसायज्ञानस्यानभ्युपगमादसाधारणो धर्मः संशयकारणत्वेनोक्तः"। पुनश्च न्यायलीलावती की कण्ठाभरण व्याख्या (पृ. ४५०) में इन्होंने स्पष्ट कहा है – "पनसादौ किंस्विदिदमिति ज्ञानम् साधारणधर्मज्ञानजन्यमनध्यवसायः। स च

१९४ सप्तपदार्थी में शिवादित्य मिश्र ने कहा है – "ऊहानध्यवसाययोस्तु संशय एव"। किन्तु प्राचीन वैशेषिक आचार्य प्रशस्तपाद आदि के मत में "अनध्यवसाय" ज्ञान के →

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

वैशेषिकमते संशयाद् भिन्नः''।[१९४] वस्तुतः प्रशस्तपाद ने पहले प्रत्यक्ष के विषय में ''अनध्यवसाय'' ज्ञान का उदाहरण कहा है – यथा बाहीकस्य पनसादिषु ''अनध्यवसायो भवति'' । अभिप्राय यह है कि बाहीक या बाह्लीक देश में पनस (कटहल)आदि किसी-किसी वृक्ष विशेष के उत्पन्न नहीं होने से उस देश का रहने वाले को देशान्तर में आकर पहले अपने अपूर्वदृष्ट पनस आदि के वृक्ष का दर्शन करके ''यह क्या है'' यह वृक्ष किस पद का वाच्य है – इस प्रकार का ज्ञान होता है। उसके लिए उस वृक्ष के संज्ञाविशेष का अनवधारण ज्ञानविरुद्ध कोटिद्वय विषयक नहीं होने के कारण संशयात्मक नहीं होता, किन्तु ''अनध्यवसाय'' नामक भिन्न ज्ञान होता है। वल्लभाचार्य ने इसका विचार करके समर्थन किया है। (द्रष्टव्य न्यायलीलावती पृ.४५०-५३, चौखम्बा संस्करण) ।

मूल बात यह है कि इस मत में असाधारणधर्मरूप हेतु का ज्ञान साध्यधर्म के विषय में संशय का कारण नहीं होता। अतः उक्त रूप हेतु को कणाद के मतानुसार सन्दिग्ध अर्थात् सव्यभिचार या अनैकान्तिक हेत्वाभास का प्रकार विशेष नहीं कहा जा सकता । अतः प्रशस्तपाद ने कहा है – ''अयमपसिद्धोऽनपदेश इतिवचनादवरुद्धः''। इस सूत्र में महर्षि कणाद ने पहले अप्रसिद्ध शब्द से अनध्यवसित हेत्वाभास को कहा है। असाधारणधर्म का ज्ञान अनध्यवसाय कारण होने से उक्त रूप हेत्वाभास का नाम अनध्यवसित कहा गया है। अतः प्रशस्तपाद के कथन से ज्ञात होता है कि अनध्यवसित हेत्वाभास कणादोक्त अप्रसिद्ध हेत्वाभास का दूसरा प्रभेद है।[१९५]

→ विरुद्धकोटिद्वयविषयक नहीं होने से संशय का लक्षण उसमें नहीं घटता। न्यायलीलावती की प्रकाश व्याख्या (पृ. ४१४) में वर्धमान उपाध्याय ने संशय के स्वरूप की व्याख्या में कहा है – ''यद्वा विरोधिनाना रूपावच्छिन्नविषयताप्रतियोगिकं ज्ञानं संशयः'' इत्यादि। नव्य नैयायिक जगदीशतर्कालंकार ने संशय के स्वरूप में अपने मत के समर्थन हेतु लीलावतीप्रकाश के उपर्युक्त सन्दर्भ का उल्लेख किया है (जागदीशी पृ.३४, चौखम्बा संस्करण द्रष्टव्य)। अपि च इन्होंने तर्कामृत ग्रन्थ (पृ. १३) में कहा है – ''तत्र नैयायिकमते स्वप्नानध्यवसायौ विपर्ययमध्ये प्रविष्टौ। तेन तन्मते अयथार्थज्ञानं द्विविधं संशयो विपर्ययश्चेति''। किन्तु जिस प्रकार के ज्ञान को प्रशस्तपाद ने अनध्यवसाय कहा है विपर्यय उसका विपरीत निश्चयरूप नहीं होता।

[१९५] भासर्वज्ञ ने न्यायसार में ''अनध्यसित'' नामक छठा हेत्वाभास मानकर इसके छह प्रकारों को कहा है। इसी को वरदराज ने तार्किकरक्षा में कहा है – ''अनध्यवसितः षष्ठो हेत्वाभास इति केचित्''। पश्चात् वरदराज ने भासर्वज्ञ के लक्षण का उल्लेख करके उनके मत के खण्डन में →

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

वस्तुतः प्रशस्तपाद के मत में अनुमान का हेतु तीन लक्षणों से युक्त होता है। पक्ष (अनुमेय के धर्मी) में सत्ता, सपक्ष में सत्ता और विपक्ष में असत्ता जिस पदार्थ की हो, इन तीन लक्षणों के रहने से वह पदार्थ अनुमान का हेतु होता है। इनमें से किसी एक के या दो लक्षणों के नहीं रहने पर वह हेतु हेतु न होकर हेत्वाभास हो जाता है। अतः कहा गया है –

विपरीतमतौ यत्स्यादेकेन द्वितयेन वा।
विरुद्धासिद्धसन्दिग्धमलिंगं कश्यपोऽब्रवीत् ॥

अतः पूर्व में कहे गए असाधारणधर्म के हेतुरूप में कहने पर उसमें सपक्षसत्त्वरूप हेतु-लक्षण के नहीं रहने से वह हेत्वाभास होता है। (मतान्तर में इसको विरुद्ध हेत्वाभास भी कहा गया है) किन्तु गौतम का प्रकरणसम तथा कालातीत या बाधित हेतु वैशेषिक सम्मत तीन लक्षणों से युक्त रहने के कारण इस मत में हेत्वाभास नहीं होगा, क्योंकि ऐसे हेतु के प्रयोगस्थल में साध्यधर्म की अनुमिति के प्रतिबन्धक के निश्चय से अनुमिति के नहीं होने पर भी वह हेतु दुष्ट नहीं कहलाएगा। अतः प्रशस्तपाद की व्याख्या से प्रतीत होता है कि हेत्वाभास तीन प्रकार के होते हैं – यही वैशेषिक सम्प्रदाय का प्राचीन सिद्धान्त है।

निश्चय ही यह भी प्रतीत होता है कि व्योमशिवाचार्य का समर्थित उपर्युक्त वैशेषिक मत प्राचीन काल में देशविशेष में उनकी गुरुपरम्परा में प्रतिष्ठित रहा है। अतः इन्होंने इसके समर्थन हेतु प्रशस्तपाद द्वारा उद्धृत ''विपरीतमतो यत् स्यादेकेन द्वितयेन वा'' इत्यादि प्राचीन कारिका की व्याख्या में कष्ट कल्पना करने की इनकी बाध्यता है। किन्तु उदयनाचार्य आदि इस कारिका के सरलार्थ का ही ग्रहण किया है। वैशेषिकदर्शन के उपस्कार (३.१.१७) में नवीन वैशेषिक शंकर मिश्र ने ''वृत्तिकारस्तु'' कहकर व्योमशिवाचार्य के उपर्युक्त मत का उल्लेख करके बाद में कहा है – ''परन्तु विरुद्धासिद्धसंदिग्धमलिङ्गं काश्यपोऽब्रवीत् इत्याद्यभिधानात् सूत्रकारस्वरसो हेत्वाभासत्रित्वे-चकारस्तूक्तसमुच्चयार्थ इति तत्त्वम्''।

बौद्धाचार्य दिङ्नाग ने कहा है – ''त्रिरूपाल्लिङ्गाद् यदनुमेये ज्ञानं तदनुमानम्'' (न्यायप्रवेश)। प्राचीन आलङ्कारिक भामह ने काव्यालंकार (अ. ५) में कहा है –

→ कहा है – ''तस्य असाधारणादिषु यथासम्भवमन्तर्भावात् न पञ्चभ्योऽतिरेक इति''। गौतम के मत में हेत्वाभास के पाँच ही प्रकार हैं। अतः भासर्वज्ञ का उपर्युक्त मत नैयायिक के मत के में मान्य नहीं है। तार्किकरक्षा की व्याख्या में मल्लिनाथ ने इस मत को न्यायैकदेशी कहा है। अन्यत्र इन्होंने (मल्लिनाथ ने) कहा है – ''न्यायैकदेशिनो भूषणीयाः''।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

''हेतुस्त्रिलक्षणो ज्ञेयो हेत्वाभासो विपर्ययात्'' । धर्मकीर्ति ने स्पष्ट कहा है – ''असिद्धविरुद्धानैकान्तिकास्त्रयो हेत्वाभासाः''[१९६] (न्यायबिन्दु तृतीय परिच्छेद)। जैन वादिदेव सूरि ने भी यही बात कही है (प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार, प. ६, सू. ४७)। किन्तु इस जैन मत में हेतु त्रिलक्षण नहीं बल्कि एकलक्षण ही कहा गया है। वादिदेव सूरि ने कहा है – ''निश्चतान्यथानुपपत्त्येकलक्षणो हेतुः, न तु त्रिलक्षणादिः'' (प. ३, सू. ११-१२ वही ग्रन्थ) – अन्यथा अनुपपत्ति का निश्चित होना ही एकमात्र लक्षण हेतु का होता है। यथा आग के बिना अन्य किसी प्रकार से धूम की उपपत्ति या सत्ता सम्भव नहीं है, इसके निश्चित होने पर धूम में वह अन्यथानुपपत्ति वह्नि के साधक हेतु का लक्षण सिद्ध होता है। इस ग्रन्थ की व्याख्या में जैन महानैयायिक रत्नप्रभाचार्य ने अन्य मत का निराकरण करके इस मत के समर्थन में जैसा सूक्ष्म विचार किया है तथा तीन प्रकार के हेत्वाभास के अनेक अवान्तर प्रभेदों का वर्णन किया है वह अवश्य अध्ययन योग्य है। किन्तु इस मत में भी असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक रूप तीन हेत्वाभास होते हैं – ''असिद्धविरुद्धानैकान्तिकास्त्रयो हेत्वाभासाः''[१९७]।

मीमांसक आदि अनेक सम्प्रदाय इन तीन हेत्वाभासों को मानते हैं। अनेक सम्प्रदाय गौतम के प्रकरणसम के खण्डन में कहते हैं कि अनुमानस्थल में तुल्य बलशाली दो विरोधी हेतु नहीं हो सकते, क्योंकि उन दोनों में से किसी एक हेतु का दुर्बलत्व अवश्य मान्य है। अन्यथा उस स्थल में उस साध्यधर्म के विषय में किसी दिन संशय की निवृत्ति नहीं हो सकेगी। अतएव यहाँ उक्त प्रकार के प्रकरणसम का यहाँ उदाहरण नहीं होता।

---

[१९६] बौद्धाचार्य दिङ्नाग ने जब विरुद्धाव्यभिचारी को संशय का प्रयोजक कहा है तब धर्मकीर्ति ने उसको हेत्वाभास क्यों नहीं कहा? इसके समाधान में धर्मकीर्ति ने कहा है – ''अनुमान विषयेऽसम्भवात्'' (न्यायबिन्दु) अर्थात् अनुमान स्थल में विरुद्धाव्यभिचारी हेतु सम्भव नहीं है। धर्मकीर्ति ने इसमें युक्ति प्रदर्शित की है तथा प्रमाणविनिश्चय में गौतम के प्रकरणसम हेत्वाभास के खण्डन में अनेक बातें कही हैं। इनके वादन्याय की व्याख्या में शान्तरक्षित ने भाविविक्त नामक किसी व्याख्याकार की व्याख्या का उल्लेख करके खण्डन किया है (द्रष्टव्य वादन्याय पृ. ११४)

[१९७] जैन दर्शन का दिगम्बर सम्प्रदाय ''अकिंचित्कर'' नामक हेत्वाभास का चौथा प्रकार मानता है – ''हेत्वाभासा असिद्धविरुद्धानैकान्तिकाकिञ्चित्कराः'' (परीक्षामुखसूत्र) जो पदार्थ पहले से सिद्ध है अथवा प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है उसके साधन हेतु किसी हेतु का प्रयोग करने पर वह हेतु अकिञ्चित्कर नामक हेत्वाभास होता है। किन्तु रत्नप्रभाचार्य ने इस मत के खण्डन में कहा है कि इस स्थल में अतिरिक्त हेत्वाभास मानना आवश्यक नहीं है। अपि च जो पक्ष का दोष होता है उसको हेतु का दोष नहीं कहा जा सकता है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

किन्तु कुमारिल भट्ट के अनुगामी पार्थसारथि मिश्र ने शास्त्रदीपिका के तर्कपाद में प्रभाकर सम्प्रदाय के उक्त प्रकार की युक्ति का खण्डन करते हुए कहा है कि अनुमानस्थल में वादी और प्रतिवादी सम्मत सत्प्रतिपक्ष हेतु युगल असम्भव नहीं होता। इन दोनों में से किसी एक के दुर्बल होने पर भी जब तक मध्यस्थवृन्द को उन हेतुओं का तुल्यबलत्व मानना होगा और उस समय तक दोनों ही हेतु सत्प्रतिपक्ष होने से दुष्ट होते हैं – यह भी मानना होगा। अर्थात् उन दोनों हेतुओं का अनिश्चित बलाबलत्व ही तुल्यबलत्व है। जब तक किसी एक हेतु की दुर्बलता का निश्चय नहीं होता, तब तक दोनों ही दुष्ट हेतु कहलाएंगे। यह दोष अनित्य होता है।[१९८]

किन्तु मीमांसक पार्थसारथि मिश्र इस प्रकार के सत्प्रतिपक्ष हेतुयुगल को भिन्न हेत्वाभास नहीं मानते। इन्होंने कहा है – ''अनैकान्तिकं द्विविधम् सव्यभिचारं सप्रतिसाधनञ्च''। वस्तुतः उद्योतकर ने इस मतान्तर का उल्लेख किया है। अतः यह भी प्राचीन मत के रूप में मान्य है। किन्तु भाष्यकार आदि के मत में प्रकरणसम हेतु युगल को सव्यभिचार की तरह पश्चात् साध्यधर्म के संशय का प्रयोजक नहीं होने के कारण अनैकान्तिक हेत्वाभास का प्रकार विशेष नहीं माना जा सकता। अपि च मतान्तर में प्रकरणसम हेतुयुगल के प्रयोगस्थल में उसके कारण पश्चात् दो प्रकरणों के विषय में संशय होने पर अथवा संशयाकारक अनुमिति होने पर वह अनैकान्तिक हेत्वाभास से भिन्न होता है। क्योंकि अनैकान्तिक हेत्वाभास के स्थल में एक ही हेतु होता है जो दुष्ट होता है। किन्तु प्रकरणसम स्थल में वादी तथा प्रतिवादी दोनों के द्वारा प्रयुक्त हेतु दुष्ट होते हैं। अनैकान्तिक के स्थल में इस प्रकार दो हेतुओं का प्रयोग नहीं होता। अतः महर्षि गौतम ने प्रकरणसम नामक पृथक् हेत्वाभास कहा है।

महर्षि गौतम की युक्ति यह है कि उक्तरूप से दो हेतुओं का परामर्श होने से उनके द्वारा मध्यस्थगण के मध्य किसी पक्ष का अनुमिति रूप निर्णय नहीं हो पाता। अतः इन दोनों में से कौन-सा हेतु समीचीन है या प्रकृत है, यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है। किन्तु

---

१९८ प्राचीन नैयायिक सम्प्रदाय का भी यही मत है। नव्यनैयायिक तत्त्वचिन्तामणिकार गङ्गेश उपाध्याय के कथन से भी यही ज्ञात होता है। दीधितिकार रघुनाथ शिरामणि ने गङ्गेश के सन्दर्भ की दूसरी प्रकार की व्याख्या करके युक्ति के बल पर सत्प्रतिपक्षत्व दोष के नित्य दोषत्व का समर्थन किया है। इन्होंने प्राचीन मत में अश्रद्धा व्यक्त करते हुए कहा है – ''निर्युक्तिकस्तु प्रवादो न श्रद्धेयः''। न्यायसूत्र के वृत्तिकार नव्यनैयायिक विश्वनाथ गौतम के प्रकरणसम हेत्वाभास के लक्षण सूत्र की व्याख्या करते हुए कहा है – ''अयं च दशाविशेषे दोष इत्यतः सद्धेतोरपि विरोधिपरामर्शकाले दुष्टत्वमिष्टमेवेत्यवधेयम्''।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

दोनों ही हेतुओं को प्रकृत हेतु मान लेने पर इस प्रकार की जिज्ञासा नहीं हो पाती। जब उक्त रूप से दो हेतुओं का प्रयोग होने पर परस्पर प्रतिबन्धक होने से किसी भी हेतु से अनुमिति नहीं होती है, तब उस समय में दोनों ही हेतुओं को दुष्ट मानना ही होगा। क्योंकि जो प्रकृत हेतु नहीं है उसे निर्दोष नहीं माना जा सकता। जिस स्थल में जिस हेतु का परामर्श उसके साध्य के विषय में यथार्थ अनुमिति के योग्य हो, उस स्थल में उस हेतु को प्रकृत हेतु कहते हैं। वही हेत्वाभास पद के अन्तर्गत हेतु शब्द का अर्थ होता है। अतः सत्प्रतिपक्ष हेतुयुगल में प्रकृत हेतु का कोई एक लक्षण नहीं है – यह मानने पर कहना होगा कि असत्प्रतिपक्षत्व ही उसका लक्षण होता है। इसी लक्षण के अभाव में उक्त सत्प्रतिपक्ष हेतुयुगल अहेतु या हेत्वाभास माने जाते हैं। सत्प्रतिपक्षता ही उन दोनों हेतुओं का दोष है।

इस प्रकार बाधित हेतु में बाधदोष स्वीकार करने पर कालातीत या बाधित नामक पञ्चम हेत्वाभास माना जाता है। किन्तु वैशेषिक आदि के मत में इन स्थलों में पक्ष का दोष अथवा प्रतिज्ञा का दोष मानकर अनेक प्रकार का प्रतिज्ञाभास ही उक्त है। यद्यपि व्योमवतीवृत्ति (पृ. ५६५) में व्योमशिवाचार्य ने कणाद के मत में भी कालातीत हेत्वाभास का समर्थन किया है तथापि यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्रशस्तपाद ने ऐसे स्थलों में प्रतिज्ञाभास ही माना है (द्रष्टव्य पूर्व पृ. ४६३)। दिङ्नाग आदि ने भी अनेक प्रकार का प्रतिज्ञाभास कहा है।[१९९] उद्योतकर ने प्रत्यक्षविरुद्ध न्यायाभास की व्याख्या करते हुए दिङ्नाग द्वारा प्रदर्शित उदाहरण का जो खण्डन किया है वह पहले ही (सूत्र १.१.१ की व्याख्या में पृ. ९७-९८ में) लिखा गया है। उद्योतकर ने गौतम के प्रतिज्ञासूत्र के वार्त्तिक में भी दिङ्नाग के द्वारा प्रदर्शित प्रत्यक्षविरुद्ध प्रतिज्ञाभास के उदाहरण का खण्डन करते हुए पूर्वोक्त बात ही कही है। पश्चात् कहा है – "प्रसिद्धिविरुद्धन्तु न बुध्यामहे" इत्यादि। तात्पर्य यह है कि कोई यदि अचन्द्रः शशी अर्थात् शशी चन्द्र शब्द का वाच्य नहीं है – इस प्रकार का प्रतिज्ञावाक्य कहे तो इसको प्रसिद्धिविरुद्ध प्रतिज्ञाभास कहा जाता है। उद्योतकर ने इसका प्रतिवाद करते हुए कहा है कि पहले से ही प्रमाण के आधार पर शशी का चन्द्रशब्दवाच्यत्व लोकप्रसिद्ध है। अतः प्रमाण विरुद्धत्व प्रयुक्त ही यह प्रतिज्ञाभास होता है। इसे प्रसिद्धिविरुद्ध नहीं कहा जा सकता। प्रसिद्धिविरुद्ध नामक प्रतिज्ञाभास का कथन भी अनावश्यक ही है। वस्तुतः सर्वत्र बलवत् प्रमाण से विरुद्ध प्रतिज्ञा ही प्रतिज्ञाभास के रूप में मान्य है। किन्तु प्रमाण के बलवत्त्व विचार करके सिद्ध

---

[१९९] यथा प्रत्यक्षविरुद्ध, अनुमानविरुद्ध, साधारणमतविरुद्ध, स्वसिद्धान्तविरुद्ध, स्ववचन विरुद्ध, अप्रसिद्धसाध्य, उभयाप्रसिद्ध तथा प्रसिद्धिविरुद्ध इत्यादि। (द्रष्टव्य न्यायमञ्जरी, पृ. ५७)।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

करना आवश्यक है। अनेक प्रकारों के प्रतिज्ञाभास के उदाहरण प्रदर्शन के लिए प्राचीन काल में एक ही प्रकार का ''प्रसिद्धिविरुद्ध'' नामक प्रतिज्ञाभास कहा गया है। उद्योतकर के द्वारा इसका प्रतिवाद होने पर भी उनके पश्चात् कुमारिल भट्ट ने अपने सम्प्रदाय के अनुसार कहा है –

चन्द्रशब्दाभिधेयत्वं शशिनो यो निषेधति।
स सर्वलोकसिद्धेन चन्द्रज्ञानेन बाध्यते॥
– श्लोकवार्त्तिक अनुमान परिच्छेद, कारिका ६४

किन्तु जयन्त भट्ट ने कहा है – ''न चन्द्रः शशीति लोकप्रसिद्धिविरुद्धः'' (न्यायमञ्जरी पृ. ५७२)।

इस तरह से दृष्टान्ताभास भी अनेक प्रकार से व्याख्यात हुए हैं। अनुमान स्थल में दृष्टान्तरूप में गृहीत पदार्थ में साध्यधर्म अथवा हेतु के नहीं रहने पर अथवा दोनों के नहीं रहने पर अथवा भिन्न ही किसी प्रकार के दृष्टान्तदोष के रहने पर उस पदार्थ को दृष्टान्ताभास कहते हैं। प्रशस्तपाद तथा भासर्वज्ञ ने अनेक प्रकारों के दृष्टान्ताभास का वर्णन किया है। न्यायप्रवेश में बौद्ध आचार्य दिङ्नाग ने भी दस प्रकार के दृष्टान्ताभास का विवरण दिया है। प्रश्न आता है कि महर्षि गौतम ने दृष्टान्ताभास का उल्लेख क्यों नहीं किया। इसके उत्तर में वरदराज ने कहा है – ''अन्तर्भावो यतस्तेषां हेत्वाभासेषु पञ्चसु''। तात्पर्य यह है कि सभी प्रकार के दृष्टान्ताभास के स्थलों में कहा गया हेतु गौतम के द्वारा कथित पाँच प्रकारों के हेत्वाभास में से किसी हेत्वाभास में अवश्य अन्तर्भूत हो जाएगा। अतः इन सभी स्थलों में वह हेतु ही दुष्ट होकर हेत्वाभास के उदाहरण में इसको दिखा दिया है।

इसी प्रकार उपर्युक्त प्रतिज्ञाभास के स्थलों में अर्थात् जिन स्थलों में अनुमान के धर्मीरूप में गृहीत पदार्थ में किसी बलवान् प्रमाण के द्वारा उस साध्यधर्म के अभाव का निश्चय होता है, उन सभी स्थलों में किसी हेतु के द्वारा उस साध्यधर्म की अनुमिति सम्भव नहीं होने पर मानना होगा कि वे हेतु ही दुष्ट होते हैं। जैसे ''अग्निरनुष्णो द्रव्यत्वात् जलवत्'' इस प्रयोग में द्रव्यत्व हेतु दुष्ट है, वह प्रकृत हेतु न होकर हेत्वाभास होता है। यद्यपि उस हेतु में व्यभिचार दोष रहने से उसको दुष्ट कहा जाता है। किन्तु उसमें बाध-दोष भी माना है और वही यहाँ प्रधानदोष होता है। क्योंकि पहले ही अग्नि में प्रत्यक्ष प्रमाण से अनुष्णत्व रूप साध्यधर्म का अभाव (उष्णत्व) होने से अनुष्णत्वविशिष्ट अग्निरूप पक्ष सम्भव ही नहीं है। सम्भावित पक्ष में ही किसी हेतु से वह सिद्ध हो सकता है। अन्यथा किसी हेतु से वह सिद्ध नहीं हो सकता। यही कहा गया है –

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

संभावित: प्रतिज्ञायां पक्ष: साध्येत हेतुना।
न तत्र हेतुभिस्त्राणमुत्पतन्नेव यो हत: ॥

अत: इस प्रकार के स्थलों में कोई भी हेतु प्रकृत नहीं हो पाता। ऐसे स्थलों में पहले अनुमान के धर्मी में उस साध्यधर्म के अभाव का निश्चयरूप बाधनिश्चय अनुमिति का बाधक होने से निश्चित होता है कि वह हेतु बाधित हेत्वाभास है। अत: वह वहाँ प्रकृत हेतु नहीं हो पाता। वह पहले ही बाधदोष प्रयुक्त ज्ञात होता है। अत: ''अबाधितत्व'' को हेतु का लक्षण मानकर इस पञ्चम लक्षण के अभाव के कारण उस प्रकार का हेतु कालातीत या बाधित हेत्वाभास होता है।

किन्तु व्यभिचार आदि दोषों से रहित केवल बाधित हेतु का भी प्रयोग हो सकता है। जैसे ''शिखरावच्छिन्न: पर्वतो वह्निमान् धूमात्'' ऐसा कहने पर यहाँ धूमहेतु में व्यभिचार आदि किसी दोष के नहीं रहने पर किसी अन्य प्रकार का हेत्वाभास नहीं कहा जा सकता। किन्तु यहाँ धूमहेतु से शिखरावच्छिन्न पर्वत में वह्नि की यथार्थ अनुमिति सम्भव नहीं है। क्योंकि पर्वत के उच्च शिखर पर वह्नि की वह्नि शून्यता पूर्व से ही निश्चित है। अत: यहाँ व्यभिचार आदि दोषों से रहित धूमहेतु प्रकृतहेतु नहीं होता। अत: इसे बाधित हेत्वाभास अवश्य मानना होगा। व्योमशिवाचार्य ने सभी प्रतिज्ञाभास के स्थलों में प्रतिज्ञा का दोष मानकर भी हेतु के दोष का समर्थन किया है तथा अन्य प्रकार से बहुत सूक्ष्म विचार किया है। किन्तु गौतम मत के व्याख्याता जयन्त भट्ट ने अन्य सम्प्रदायों के द्वारा उक्त सभी पक्षदोष तथा दृष्टान्तदोष आदि का वस्तुत: हेतुदोष में पर्यवसान मानकर उपसंहार में कहा है –

अतएव च शास्त्रेऽस्मिन् मुनिना तत्त्वदर्शिना।
पक्षाभासादयो नोक्ता हेत्वाभासास्तु दर्शिता: ॥

अन्त में कहना है कि महर्षि गौतम के द्वारा उक्त पाँच प्रकार के हेत्वाभासों के अवान्तर प्रकारभेद के कारण इस हेत्वाभास के असंख्य प्रकार हो सकते हैं। न्यायवार्त्तिक में उद्योतकर ने इनके बहुत प्रभेदों का वर्णन किया है। उदाहरण के साथ उनकी व्याख्या संक्षेप में यहाँ सम्भव नहीं है। अत्यधिक बाहुल्य के भय से वे यहाँ व्याख्यात नहीं हो सकते। किन्तु उद्योतकर के मत में भी वे सभी हेत्वाभास गौतम के कथित पाँच हेत्वाभास में अन्तर्भूत होते हैं। अत: इन्होंने पहले ही कहा है – ''विभागोद्देशो नियमार्थ इत्युक्तम्''। जो लोग गौतम के मत में भी सिद्धसाधन तथा अप्रयोजक को हेत्वाभास मानते थे उनके इस मत के खण्डन हेतु कुसुमाञ्जलि के तृतीय स्तबक में उदयनाचार्य ने कहा है – ''तदसत् विभागस्य न्यूनाधिकसंख्याव्यवच्छेदफलत्वात्। ननु तर्हि द्वयोरन्तर्निवेश:

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection.

असिद्ध एव'' इत्यादि। तात्पर्य यह है कि महर्षि गौतम के हेत्वाभास के विभागसूत्र से सूचित होता है कि उनके मत में हेत्वाभास की संख्या उससे न्यून या अधिक नहीं है। अन्यथा वह विभागसूत्र व्यर्थ हो जाएगा। अतः गौतम के मत में सिद्धसाधन और अप्रयोजक पृथक् हेत्वाभास के रूप में मान्य नहीं है। पहले ही कहा जा चुका है कि उदयनाचार्य के मत में सिद्धसाधन और अप्रयोजक गौतम के साध्यसम या असिद्ध हेत्वाभास के प्रकार विशेष हैं। सारांश यह हुआ कि महर्षि गौतम के मत में हेत्वाभास पाँच ही प्रकार के होते हैं। अतः इन्होंने हेत्वाभास के विभागसूत्र में कहा है – ''सव्यभिचार-विरुद्ध-प्रकरणसम-साध्यसम-कालातीताः हेत्वाभासाः''। (१.२.९)

(हेत्वाभासलक्षण प्रकरण समाप्त)

छल लक्षण प्रकरण

***भाष्य* – अथ छलम् –**

***सूत्र* – वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या छलम्। १.२.१०।**

अनुवाद – अब छल का निरूपण किया जा रहा है। अर्थविकल्प अर्थात् वादी के अभिमत अर्थ के विरुद्ध अर्थ की कल्पनारूप उपपत्ति से वादी के वचन का विघात ''छल'' कहलाता है।

***भाष्य* – न सामान्यलक्षणे छलं शक्यमुदाहर्तुम्, विभागे तूदाहरणानि।**

अनुवाद – सामान्यलक्षण में छल का उदाहरण नहीं दिखाया जा सकता। विभागे अर्थात् विशेष लक्षण होने पर तीन उदाहरण दिखाए जा सकेंगे।

***भाष्य* – विभागश्च –**

***सूत्र* – तत् त्रिविधम्-वाक्छलं सामान्यच्छलमुपचारच्छलञ्च। १.२.११।**

अनुवाद – छल का विभागसूत्र कहते हैं। यह छल तीन प्रकार का होता है – (१) वाक्छल, (२) सामान्यछल और उपचारछल।

टिप्पणी – महर्षि हेत्वाभास पदार्थ के बाद उद्देश क्रम के अनुसार पृथक् प्रकरण के द्वारा छल पदार्थ का निरूपण करते हैं। भाष्यकार ने इसे समझाने के लिए पहले ही कहा है – ''अथ छलम्''। महर्षि ने प्रथम सूत्र में छल पदार्थ का सामान्यलक्षण कहकर द्वितीय सूत्र में उसका विभाग कहा है। भाष्यकार ने पहले (सूत्र १.१.३ के उपक्रम) में यह बात कही है। इन दोनों सूत्रों का सरल अर्थ समझकर यहाँ उनकी व्याख्या इन्होंने नहीं की है।

CC-0 Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu. Collection

वाचस्पति मिश्र ने प्रथम सूत्रगत अर्थविकल्पोपपत्त्या पद की व्याख्या में कहा है – ''यथा वक्तुरभिमतोऽर्थस्ततो विरुद्धोऽर्थस्तस्य विकल्पः कल्पना सैवोपपत्तिस्तया''। वक्ता के अभिमत या विवक्षित जो शब्दार्थ या वाक्यार्थ है उसका विरुद्ध अर्थ ही इस सूत्र में अर्थ पद से लिया गया है। और विकल्प पद का अर्थ है – कल्पना। अतः ज्ञात होता है कि वक्ता के अभिमत अर्थ के विरुद्ध अर्थ की कल्पना ही सूत्रगत अर्थविकल्प पद का अभिप्राय है। इस अर्थविकल्परूप उपपत्ति से वक्ता के वचन का विघात ही छल पदार्थ है – यही प्रथम सूत्र का अर्थ है। जैसे भी हो वक्ता (वादी) के वाक्य का उसके अभिप्राय से भिन्न रूप में तात्पर्य की कल्पना करके उससे जो प्रतिवादी के द्वारा प्रतिषेध किया जाता है अर्थात् वादी के द्वारा प्रयुक्त हेतु में या वाक्य में किसी प्रकार का जो दोष दिखाया जाता है उस असदुत्तर को छल कहते हैं।

छल के इस सामान्यलक्षण का कोई उदाहरण नहीं दिखाया जा सकता। उदाहरण दिखाने के लिए किसी विशेष छल को ही लेना होगा। अतः भाष्यकार ने छल के प्रथम सामान्यलक्षण सूत्र के भाष्य में कहा है – ''विभागे तूदाहरणानि''। वाचस्पति मिश्र ने यहाँ व्याख्या की है – ''विभज्यत इति विभागो विशेषलक्षणम् तस्मिन्नुदाहरणानि''। यहाँ भाष्यकार के प्रथम उक्त एवं अन्तिम में उक्त विभाग पद समानार्थक ही हैं – यही सरलरूप से ज्ञात होता है। वाचस्पति मिश्र ने यहाँ आगे कहा है – ''न्यूनाधिक संख्याव्यच्छेदार्थं विभागमवतारयति विभागश्चेति। विभज्यतेऽनेनेति विभागः सूत्र मुच्यते''। इस व्युत्पत्ति के अनुसार अन्तिम में उक्त विभाग पद का अर्थ विभागसूत्र होता है। छल पदार्थ के अनेक प्रकारों के होने पर भी उन सबका इन तीन प्रकारों के छल में ही अन्तर्भाव होता है – इस नियम को समझाने के लिए ही महर्षि ने – ''तत् त्रिविधम्'' इत्यादि विभागसूत्र कहा है। किसी-किसी पुस्तक में इस सूत्र के अन्त में ''इति'' शब्द देखा जाता है किन्तु वाचस्पति मिश्र आदि ने इति शब्दान्त सूत्र पाठ नहीं माना है। (१.२.१०-११)

***भाष्य* – तेषाम् –**

सूत्र – अविशेषाभिहितेऽर्थे वक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पना वाक् छलम्।१.२.१२।

अनुवाद – इन तीन प्रकार के छल में अविशेष रूप में उक्त होने पर अर्थात् दो प्रकारों के अर्थ के बोधक शब्द का प्रयोग करने पर अर्थ के विषय में वक्ता के अभिप्रेत अर्थ से भिन्न अर्थ की कल्पना अर्थात् अर्थान्तरकल्पना के द्वारा जो दोष का प्रदर्शन किया जाता है उसे ''वाक्छल'' कहते हैं।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

भाष्य – नवकम्बलोऽयं माणवक इति प्रयोगः । अत्र नवः कम्बलोऽस्येति वक्तुरभिप्रायः । विग्रहे तु विशेषो न समासे । तत्रायं छलवादी वक्तुरभिप्रायादविवक्षितमन्यमर्थं नव कम्बला अस्येति तावदभिहितं भवतेति कल्पयति । कल्पयित्वा चासम्भवेन प्रतिषेधति, एकोऽस्य कम्बलः कुतो नव कम्बला इति । तदिदं सामान्यशब्दे वाचि छलं वाक् छलमिति ।

अत्र प्रत्यवस्थानं – समानशब्दस्यानेकार्थत्वेऽन्यतराभिधानकल्पनायां विशेषवचनम् । नवकम्बल इत्यनेकार्थस्याभिधानम्, नवः कम्बलोऽस्य नव कम्बला अस्येति । एतस्मिन् प्रयुक्ते येयं कल्पना नव कम्बला अस्येत्येतद् भवताभिहितं तच्च न सम्भवतीति । एतस्यामन्यतराभिधानकल्पनायां विशेषो वक्तव्यः, यस्माद् विशेषो विज्ञायतेऽयमर्थोऽनेनाभिहित इति । स च विशेषो नास्ति, तस्मान्मिथ्याभियोगमात्रमेतदिति ।

प्रसिद्धश्च लोके शब्दार्थसम्बन्धोऽभिधानाभिधेयनियमनियोगः । अस्याभिधानस्यायमर्थोऽभिधेय इति समानः सामान्यशब्दस्य, विशेषो विशिष्टशब्दस्य । प्रयुक्तपूर्वाश्चेमे शब्दाः अर्थे प्रयुज्यन्ते, नाप्रयुक्तपूर्वाः । प्रयोगश्चार्थसम्प्रत्ययार्थः अर्थप्रत्ययाच्च व्यवहार इति । तत्रैवमर्थगत्यर्थे शब्दप्रयोगे सामर्थ्यात् सामान्यशब्दस्य प्रयोगनियमः । अजां ग्रामं नय, सर्पिराहर, ब्राह्मणं भोजयेति सामान्यशब्दाः सन्तोऽर्थावयवेषु प्रयुज्यन्ते सामर्थ्यात्, यत्रार्थक्रियादेशना सम्भवति तत्र प्रवर्तन्ते नार्थसामान्ये क्रियादेशनाऽसम्भवात् । एवमयं सामान्यशब्दो नवकम्बल इति, योऽर्थः सम्भवति नवः कम्बलोऽस्येति तत्र प्रवर्तते यस्तु न सम्भवति नव कम्बला अस्येति तत्र न प्रवर्तते । सोऽयमनुपपद्यमानार्थकल्पनया परवाक्योपालम्भो न कल्पत इति ।

अनुवाद – "नवकम्बलोऽयं माणवकः" ऐसा प्रयोग होता है । यहाँ इस बालक के पास नया कम्बल है – यह वक्ता का अभिप्राय है । विग्रह में अर्थात् नवकम्बल पद के व्यासवाक्य में विशेष है, समासवाक्य में विशेष नहीं है । इस स्थल में छलवादी ने कहा – इस बालक के पास नौ कम्बल है – यह आपने कहा है – इस प्रकार वक्ता के अभिप्रेत अर्थ से भिन्न अर्थ की कल्पना की गई है । इस कल्पना के द्वारा असम्भव प्रयुक्त प्रतिषेध किया गया है । जैसे इस लड़के के पास एक ही कम्बल है, नौ संख्या से युक्त कम्बल कहाँ हैं? इस सामान्य शब्दरूपवाक्य निमित्तक छल "वाक्छल" कहलाता है ।

इस वाक्छल का खण्डन कहा जा रहा है – सामान्य शब्द के अनेक अर्थ होने के कारण किसी एक अर्थ के कहने के लिए कल्पना में विशेष वचन कर्त्तव्य होता है (विशदार्थ)

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

नवकम्बल पद से अनेक अर्थ प्रतीत होते हैं जैसे इसका कम्बल नया है और इसको नौ कम्बल हैं। यहाँ दोनों अर्थों में बहुव्रीहि समास करने पर नवकम्बल पद द्व्यर्थक होता है। अतः इस शब्द का प्रयोग करने पर आपने इसके नौ संख्याक कम्बल की बात कही है – इस तरह की कल्पना करके प्रतिवादी कहता है कि यह सम्भव नहीं है। क्योंकि इस एक अर्थविशेष के अभिधान-कल्पना में विशेष वक्तव्य, विशेष प्रयोग से ''इसी अर्थ में यह प्रयोग हुआ'' – इस प्रकार ज्ञात होता है। किन्तु वह विशेष अभिप्रेत नहीं है। अतः वह केवल मिथ्या अभियोग होता है।

किन्तु अभिधान और अभिधेय का (वाचक शब्द और वाच्य अर्थ का) नियम नियोग अर्थात् अर्थविशेष में शब्दविशेष का संकेतरूप शब्दार्थसम्बन्ध लोक में प्रसिद्ध है। (विशदार्थ) इस शब्द का यह अर्थ वाच्य होता है – इस प्रकार का सम्बन्ध अर्थात् उस शब्द और अर्थ का वाच्यवाचक भाव सम्बन्ध सामान्य शब्द के पक्ष में एक ही प्रकार का होता है और विशिष्ट शब्द के पक्ष में विशेष होता है। पहले से ही प्रयुक्त इन समस्त शब्दों का प्रयोग अर्थविशेष में होता आ रहा है, अप्रयुक्तपूर्व का नहीं। प्रयोग भी अर्थबोध के लिए होता है। शब्द से अर्थबोध के लिए शब्द का प्रयोग होता है और अर्थबोध से व्यवहार होता है। ऐसी स्थिति में अर्थ की गति या ज्ञान जिस प्रयोजन से शब्द का प्रयोग होता है उसमें सामर्थ्यवश अर्थात् योग्यता के कारण सामान्य शब्द के प्रयोग का नियम होता है। जैसे अजां ग्रामं नय (बकरी को गाँव ले आओ), सर्पिराहर (घृत ले आओ), ब्राह्मणं भोजय (ब्राह्मण को खिलाओ) इन सभी प्रयोगों में (अजा, सर्पिष् और ब्राह्मण) सामान्य शब्द होकर भी सामर्थ्य के कारण अर्थविशेष में प्रयुक्त हुए हैं। अर्थात् जिस अर्थ में अर्थक्रिया की देशना (उपदेश) सम्भव है उस अर्थ में शब्द की प्रवृत्ति होती है। अर्थ सामान्य में वह प्रवृत्त नहीं होता, क्योंकि सामान्य में अर्थक्रिया का उपदेश सम्भव नहीं है। सभी बकरियों को गाँव में लाना, सभी घृतों का संग्रह करना तथा सभी ब्राह्मणों को भोजन कराना रूप अर्थक्रिया का उपदेश सम्भव नहीं होने के कारण तीनों ही प्रयोगों में अजा, सर्पिष् और ब्राह्मण शब्द से बकरीविशेष, घृतविशेष तथा ब्राह्मणविशेष का बोध होता है। इसी तरह ''नवकम्बल'' सामान्य शब्द अर्थात् सामान्य रूप से उपर्युक्त दो अर्थों का बोधक शब्द होता है। इसका नया कम्बल रूप अर्थ सम्भव है और उसी अर्थ में यह प्रवृत्त हुआ है अर्थात् इसका प्रयोग किया गया है किन्तु उसका नवसंख्यक कम्बल रूप अर्थ सम्भव नहीं है। अतः इस अर्थ में वह प्रवृत्त नहीं है अर्थात् उसका प्रयोग नहीं हुआ। अर्थात् यहाँ नवकम्बल शब्द नौसंख्यक कम्बल रूप असम्भव अर्थ का बोधक नहीं हो सकता। अतएव इस अनुपपद्यमान अर्थ की कल्पना से परवाक्य का उपालम्भ अर्थात् प्रतिषेध रूप विघात सम्भव नहीं हो सकता।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

टिप्पणी – सूत्र में ''अविशेषाभिहिते'' पद का अर्थ होता है अविशेष में उक्त शब्दविशेष अर्थात् अनेक अर्थों का बोधक सामान्य शब्द। पश्चात् उक्त ''अर्थे'' इस पद से स्पष्ट होता है कि सामान्य शब्द में अर्थान्तर की कल्पना वाक्छल नहीं है, किन्तु उस प्रकार के शब्द का प्रयोग होने पर उसके प्रकृत अर्थ से भिन्न अर्थ की कल्पना से प्रतिषेध होता है – ''वाक्छल''। वक्ता के अभिप्रेत अर्थ से भिन्न अर्थ ही यहाँ अर्थान्तर का तात्पर्य है। महर्षि ने इसे ही व्यक्त करने के लिए कहा है – ''वक्तुरभिप्रायात्''। अभिप्रेयते इस प्रकार की व्युत्पत्ति के अनुसार अभिप्राय से यहाँ अभिप्रेत अर्थ ज्ञात होता है। भाष्यकार ने उदाहरण दिखाकर सूत्र में उक्त वाक्छल की व्याख्या में कहा है – ''नवकम्बलोऽयं माणवक इति प्रयोगः'' इत्यादि। भाष्यकार का कहना है कि ''नवः कम्बलोऽस्य'' एवं ''नव कम्बला अस्य'' इस प्रकार दोनों ही विग्रहवाक्यों के अनुसार बहुब्रीहि समास करने पर नवकम्बल शब्द से नया कम्बल विशिष्ट एवं नौ कम्बलों से युक्त दोनों ही अर्थ समझे जाते हैं। अतः इस नवकम्बल शब्द के विग्रहवाक्य में ही विशेष है, समास में कोई विशेष नहीं है। एक ही बहुब्रीहि समास से नवकम्बल शब्द दोनों ही अर्थों का बोधक सामान्य शब्द है। किन्तु ''नवकम्बलोऽयं माणवकः'' इस वाक्य में नवकम्बल शब्द का ''नवः कम्बलोऽस्य'' इस प्रकार के विग्रहवाक्य के अनुसार नया कम्बल से युक्त अर्थ ही वक्ता को अभिप्रेत या विवक्षित है। किन्तु प्रतिवादी वक्ता के अभिप्राय को समझकर या बिना समझे ही इस वाक्य के द्वितीय (नौ कम्बलों से युक्त) अर्थ की कल्पना करके कहता है – ''नव कम्बला अस्येति तावदभिहितं भवता'' माणवक के पास नौ कम्बल हैं – यह – आपने कहा किन्तु ''एकोऽस्य कम्बलः कुतो नव कम्बलाः'' एक ही कम्बल है इसके पास, नौ कम्बल कहाँ है – इस प्रकार का प्रतिवादी का प्रतिषेध यहाँ ''वाक्छल'' कहलाता है। इसका निमित्त होता है नवकम्बल रूप सामान्य शब्द। भाष्यकार ने आगे कहा है – ''तदिदं सामान्यशब्दे वाचि छलं वाक्छलमिति''। सामान्य शब्द ही उक्त वाक् पद का अर्थ होता है। ''वाचि'' पद में सप्तमी विभक्ति का अर्थ होता है निमित्तत्व। वाचस्पति मिश्र ने व्याख्या की है – ''वाचि निमित्ते छलं वाक्छलमिति। नवकम्बल इति उभयत्रापि समानायां वाचि निमित्तभूतायामित्यर्थः''[200]।

---

[200] इस वाक्छल के बहुत उदाहरण सम्भव हैं। अनुमान से भिन्न स्थलों में भी यह प्रदर्शित होता है। किन्तु किसी अनुमान में नवकम्बलवत्त्व को हेतु मानने पर हेतु की असिद्धि दोष प्रदर्शन के लिए उस रूप में प्रतिवादी का छल ही इसका प्रसिद्ध उदाहरण होता है। अतः न्यायपरिशिष्टप्रकाश में वर्धमान उपाध्याय ने इस उदाहरण को लेकर कहा है – ''ने[illegible]ऽयं नवकम्बलवत्त्वात् इत्युक्ते कुतोऽस्य नवकम्बला एक एवास्य कम्बलो यत इतिवत्'' इत्यादि। वृत्तिकार विश्वनाथ ने इस सूत्र की व्याख्या में यही उदाहरण कहा है। →

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

भाष्यकार ने आगे इस वाक्छल का खण्डन करके इसके असत्उत्तरत्व को समझाने के लिए कहा है कि सामान्य शब्द के अनेकार्थत्व के कारण किसी एक अर्थविशेष की अभिधान-कल्पना में किसी विशेष वक्तव्य से वही अर्थ वक्ता का अभिप्रेत सिद्ध होता है। उक्त वाक्य में नवकम्बल पद में अनेक अर्थों का अभिधान है अर्थात् वह दो अर्थों का बोधक शब्द है। किन्तु किसी वादी के द्वारा इस शब्द का प्रयोग करने पर प्रतिवादी यदि कल्पना करके कहता है कि आपने इसको नौ कम्बलों से युक्त कहा है तो उसकी इस कल्पना के मूल में कुछ विशेष है और जिस विशेष के कारण सिद्ध होता है कि वादी ने उसी अर्थ में नवकम्बल शब्द का प्रयोग किया है। किन्तु यदि ऐसा विशेष हेतु कुछ नहीं है तो वहाँ उस प्रकार की कल्पना अयुक्त मानी जाएगी। तब वह प्रतिवादी का केवल मिथ्या अभियोग ही होगा। अर्थात् उस प्रकार की अमूल कल्पना से वादी के द्वारा उक्त वाक्य का विघात नहीं हो सकता क्योंकि वादी के विवक्षित प्रकृत अर्थ में उक्त रूप दोष सम्भव ही नहीं है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि वादी इस प्रकार के द्व्यर्थक शब्द का प्रयोग क्यों करता है? वह "नूतनकम्बलोऽयं माणवक:" इस प्रकार के स्पष्ट अर्थ वाले वाक्य का प्रयोग क्यों नहीं करता। इसके उत्तर में भाष्यकार ने कहा है – "प्रसिद्धश्च लोके" इत्यादि। भाष्यकार का तात्पर्य यह है कि इस प्रकार के प्रयोग के लिए वादी का कोई अपराध नहीं माना जा सकता, क्योंकि अभिधान और अभिधेय (वर्णात्मक शब्द और उसका अर्थ) का नियोग अर्थात् इस शब्द से इस अर्थ को समझना चाहिए – इस प्रकार का संकेतविशेष ही शब्द और अर्थ का सम्बन्ध लोक में प्रसिद्ध है। शब्दार्थ के जानकार इतना ही जानते हैं। यह शब्दार्थ सम्बन्ध सामान्य शब्द के पक्ष में समान और विशिष्ट शब्द के पक्ष में विशेष होता है। किन्तु चिरकाल से ये सभी शब्द उन अर्थों में प्रयुक्त होते आ रहे हैं। ये शब्द ऐसे नहीं हैं जिनका प्रयोग पहले नहीं हुआ क्योंकि अर्थबोध के लिए ही शब्द का प्रयोग होता है और उस अर्थबोध से व्यवहार चलता है। अत: इन समस्त शब्दों का उन-उन अर्थों में प्रयोग नहीं होने से चिरकाल से हो रहा शब्दमूलक लोकव्यवहार आगे नहीं चल सकेगा। इस दृष्टि से मानना होगा कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध लोकसिद्ध है। अब अर्थबोध के लिए जो शब्द प्रयोग होता है उससे सामान्य शब्द का अर्थात् अनेकार्थक शब्द का अर्थ विशेष में सामर्थ्य या योग्यता के आधार पर प्रयोग का नियम मान्य होता है। भाष्यकार ने इसके समर्थन में उदाहरण दिखाने के लिए कहा है – "अजां ग्रामं नय" इत्यादि।

→ इस वाक्छल के स्वरूप और उदाहरण के विषय में उदयनाचार्य की मान्यता न्यायपरिशिष्ट (पृ. ५८,५९ कलकत्ता संस्कृत सिरीज संस्करण) में द्रष्टव्य है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

भाष्यकार का तात्पर्य यह है कि ''अजां ग्रामं नय'' इत्यादि तीनों वाक्यों में अजा, सर्पिष् तथा ब्राह्मण शब्द का प्रयोग हुआ है। वह सामान्य शब्द है अर्थात् यथाक्रम केवल बकरी, घृत तथा ब्राह्मण का बोधक है। किन्तु सामर्थ्य या योग्यता के कारण उक्त स्थल में अजा शब्द से बकरीविशेष, सर्पिष् से घृतविशेष तथा ब्राह्मण से ब्राह्मणविशेष का बोध होता है। क्योंकि सभी बकरियों को गाँव में लाना, सभी घृत का संग्रह करना तथा सभी ब्राह्मणों को खिलाना सम्भव नहीं होने से उसकी देशना अर्थात् आदेश या उपदेश सम्भव नहीं है। कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति इस प्रकार की अर्थक्रिया का उपदेश नहीं कर सकता। अत: इस प्रकार के स्थलों में वक्ता के तात्पर्य के आधार पर अजा आदि सामान्य शब्द का भी यथासम्भव विशेष अर्थ ज्ञात होता है।[२०१] इसी प्रकार ''नवकम्बल'' इस सामान्य शब्द से जिस स्थल में जो अर्थ सम्भव या योग्य हो वही अर्थ समझना चाहिए। अर्थात् उस स्थल में नूतन कम्बल विशिष्ट अर्थ सम्भव होने से ग्राह्य है। अत: यहाँ नवसंख्यक कम्बल विशिष्टरूप अनुपपद्यमान अर्थ की कल्पना से वादी का वचन विघात नहीं हो सकता। अत: यह ''वाक्छल'' असत् उत्तर कहलाता है। (१.२.१२)

सूत्र – सम्भवतोऽर्थस्यातिसामान्ययोगादसम्भूतार्थकल्पना सामान्यच्छलम् ।१.२.१३।

अनुवाद – सम्भाव्यमान पदार्थ के सम्बन्ध में अति सामान्य धर्म का योग होने पर अर्थात् जो सामान्य धर्म वक्ता के विवक्षित पदार्थ का अतिक्रम करके अन्यत्र भी रहता है – इस प्रकार के अतिसामान्य धर्म के सम्बन्ध के कारण – असम्भव अर्थ की कल्पना से प्रतिषेध करना ''सामान्यछल'' है।

भाष्य – **''अहो खल्वसौ ब्राह्मणो विद्याचरणसम्पन्न'' इत्युक्ते कश्चिदाह सम्भवति**

---

२०१ जैसे ''घटेन जलमानय'' इस प्रकार के वाक्य का प्रयोग करने पर वक्ता के तात्पर्य के आधार पर घट शब्द से घटत्व रूप से छिद्ररहित घट विशेष का बोध होता है। यहाँ घट शब्द का लाक्षणिक अर्थ नहीं होता। कुसुमाञ्जलि के पञ्चम स्तबक की बारहवीं कारिका के विवरण की व्याख्या में प्रकाशटीकाकार वर्धमान उपाध्याय ने इस विषय में विचार करके सिद्धान्त कहा है – ''नहि छिद्रबाधानन्तरं घटपदेन छिद्रेतरत्वेन घटज्ञानं जन्यते। किन्तु योग्यतया छिद्रं विहाय यद् वस्तुगत्या छिद्रेतरत् तस्य घटत्वेन ज्ञानम्''। ..... ''न च लक्षणापि, सा हि जहत्स्वार्था अजहत्स्वार्था वा, नाद्यः, घटाननुभवप्रसंगात्। नान्त्यः, शक्यलक्ष्यसाधारणैकरूपाभावात्। एवं सर्वत्र सामान्यशब्दस्य विशेषपरत्वे द्रष्टव्यम्''। शब्दशक्तिप्रकाशिका में द्विगु समास के लक्षण की व्याख्या में जगदीश तर्कालंकार ने कहा है – ''पञ्चमूलीत्यादौ तु मूलपञ्चकत्वेनैव मूलविशेष तात्पर्यम्, न तु विशेषरूपेणापि''।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

ब्राह्मणे विद्याचरणसंपदिति । अस्य वचनस्य विघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्याऽसम्भूतार्थकल्पनया क्रियते । यदि ब्राह्मणे विद्याचरणसम्पत् सम्भवति व्रात्येऽपि सम्भवेत्, व्रात्योऽपि ब्राह्मणः सोऽप्यस्तु विद्याचरणसम्पन्न इति । यद् विवक्षितमर्थमाप्नोति चात्येति च तदतिसामान्यम् । यथा ब्राह्मणत्वं विद्याचरणसंपदं क्वचिदाप्नोति क्वचिदत्येति । सामान्यनिमित्तं छलं सामान्यच्छलमिति ।

अस्य च प्रत्यवस्थानम् । अविवक्षितहेतुकस्य विषयानुवादः प्रशंसार्थत्वाद् वाक्यस्य, तदत्रासंभूतार्थकल्पनानुपपत्तिः । यथा सम्भवन्त्यस्मिन् क्षेत्रे शालय इति । अनिराकृतमविवक्षितञ्च बीजजन्म, प्रवृत्तिविषयस्तु क्षेत्रं प्रशंस्यते । सोऽयं क्षेत्रानुवादो नास्मिन् शालयो विधीयन्त इति । बीजात्तु शालिनिर्वृत्तिः सती न विवक्षिता । एवं सम्भवति ब्राह्मणे विद्याचरणसम्पदिति, सम्पद्विषयो ब्राह्मणत्वं न सम्पद्धेतुः, न चात्र हेतुः विवक्षितः विषयानुवादस्त्वयं प्रशंसार्थत्वाद् वाक्यस्य । सति ब्राह्मणत्वे सम्पद्धेतुः समर्थ इति । विषयञ्च प्रशंसतावाक्येन यथा हेतुतः फलनिर्वृत्तिर्न प्रत्याख्यायते, तदेवं सति वचनविघातोऽसम्भूतार्थकल्पनया नोपपद्यत इति ।

अनुवाद – ''अहो खल्वसौ ब्राह्मणो विद्याचरणसम्पन्नः'' इस वाक्य के कहने पर अर्थात् किसी ने किसी ब्राह्मण को देखकर कहा कि यह ब्राह्मण विद्या के आचरण से सम्पन्न है। इस पर अन्य किसी ने कहा कि ब्राह्मण में विद्या की आचरणसम्पन्नता सम्भव है – ''सम्भवति ब्राह्मणे विद्याचरणसम्पत्'' । असम्भूत अर्थ की कल्पनारूप अर्थविकल्प की उपपत्ति से इस वाक्य का विघात किया जाता है। (कैसे? यही कहा जा रहा है) यदि ब्राह्मण में विद्या की आचरणसम्पन्नता सम्भव है तो वह व्रात्य में भी सम्भव होगा। क्योंकि व्रात्य भी ब्राह्मण होता है। जो विवक्षित पदार्थ में रहता है और उसका अतिक्रम भी करता है उसे ''अतिसामान्य'' कहते हैं। ऐसा सामान्य धर्म ही सूत्र में अतिसामान्य पद से कहा गया है। जैसे ब्राह्मणत्व किसी ब्राह्मण में विद्याचरणसम्पन्नता को प्राप्त होता है और किसी ब्राह्मण में विद्याचरणसम्पन्नता का अतिक्रम भी करता है। अतः ब्राह्मणमात्र का सामान्यधर्म ब्राह्मणत्व विद्याचरणसम्पन्नता के पक्ष में अतिसामान्य धर्म होता है और सामान्यधर्मनिमित्तक छल ही ''सामान्यछल'' कहलाता है।

इस सामान्यछल का खण्डन कहा जा रहा है। जो विद्याचरणसम्पत् के हेतुरूप में ब्राह्मणत्व की विवक्षा नहीं करता ऐसे अविवक्षितहेतुक व्यक्ति के विषय का अनुवाद यहाँ हुआ है। क्योंकि यहाँ वाक्य भिन्न व्यक्ति के वाक्य की प्रशंसा में कहा गया है। इस वाक्य का प्रयोजन भिन्न व्यक्ति के वाक्य की प्रशंसा है। इसलिए इस स्थल में असम्भूत

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अर्थ के अर्थ की – अर्थात् ब्राह्मणत्व धर्म में विद्याचरणसम्पन्नता का हेतुत्व रूप असम्भव पदार्थ की – कल्पना की उपपत्ति नहीं होती।

जैसे "सम्भवन्त्यस्मिन् क्षेत्रे शालयः" इस वाक्य से (इस क्षेत्र में) बीज का जन्म – बीज से धान की उत्पत्ति निराकृत नहीं होती और यह विवक्षित भी नहीं है। किन्तु प्रवृत्ति के विषयक्षेत्र की प्रशंसा होती है। यहाँ क्षेत्र का अनुवाद उस वाक्य से हुआ है, शालि का विधान नहीं। बीज से जो धान की उत्पत्ति होती है वह यहाँ विवक्षित नहीं है – इस क्षेत्र में बीज रोपकर धान उत्पन्न करना है – यह इस वाक्य से विवक्षित नहीं है। इसी प्रकार "सम्भवति ब्राह्मणे विद्याचरणसम्पत्" इस वाक्य के प्रयोगस्थल में ब्राह्मणत्व सम्पन्नता का विषय होता है, सम्पद् का हेतु नहीं होता। यहाँ हेतु विवक्षित भी नहीं है किन्तु वह विषय का अनुवाद है। क्योंकि यह वाक्य प्रशंसार्थक है अर्थात् ब्राह्मणत्व रहने पर विद्याचरणसम्पद् का हेतु सफल होता है। विषय की प्रशंसा करने वाले वाक्य से जैसे हेतु से – जिस प्रकार का कारण जिस कार्य का उत्पादक होता है उससे फल की उत्पत्ति का निराकरण नहीं होता। अर्थात् यह नहीं कहा जा सकता कि इन सभी कारणों के अभाव में भी उस फल की उत्पत्ति होगी। ऐसी स्थिति में असम्भूत अर्थ की कल्पना से वचन का विघात सिद्ध नहीं होता।

टिप्पणी – सामान्यधर्मनिमित्तक छल ही सामान्यछल कहलाता है जो छल का दूसरा प्रकार है। अतिसामान्यधर्म इसका निमित्त होता है। महर्षि ने सामान्यछल के लक्षणसूत्र में कहा है – "अतिसामान्ययोगात्"। अतिव्यापक सामान्यधर्म कहलाता है "अतिसामान्य"। भाष्यकार ने इसको स्पष्ट करते हुए कहा है – जो धर्म विवक्षित पदार्थ में रहकर उसका अतिक्रमण भी करता है अर्थात् उसके आधार में रहकर अन्यत्र भी रहता है उसको "अतिसामान्य" कहते हैं। वक्ता के विवक्षित और सम्भाव्यमान पदार्थ को महर्षि ने "सम्भवत्" पदार्थ कहा है। उसके सम्बन्ध में अतिसामान्य धर्म की विद्यमानता से जो असम्भूत अर्थ की – असम्भव वाक्यार्थ की – कल्पना, उससे जो प्रतिषेध किया जाता है वही सामान्यछल है। भाष्यकार ने उदाहरण दिखाते हुए इसकी व्याख्या में कहा है – "अहो खल्वसौ" इत्यादि।

भाष्यकार का तात्पर्य यह है कि किसी ने किसी ब्राह्मण को देखकर प्रसन्नता में कहा कि यह ब्राह्मण विद्या के आचरण से सम्पन्न है। इस पर अपर व्यक्ति उसे उत्साहित करने के लिए ब्राह्मणत्व की प्रशंसा में कहता है कि ब्राह्मण में ही विद्याचरणसम्पन्नता सम्भव है। अब यह सुनकर तृतीय व्यक्ति इस वचन की काट (विघात हेतु) में कहता है कि यदि ब्राह्मण होने से विद्याचरणसम्पन्नता होती है तो व्रात्य ब्राह्मण भी विद्याचरण-सम्पन्न क्यों नहीं होगा? क्योंकि

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

उसमें भी ब्राह्मणत्व जाति विद्यमान है[२०२]। तृतीय वक्ता का कथन ही यहाँ सामान्यछल होता है। ब्राह्मणत्व को विद्याचरणसम्पन्नता के हेतुरूप में कल्पना करके उसमें व्यभिचार का प्रदर्शन ही छलवादी का मूल उद्देश्य है। वस्तुतः उपनयन संस्कार सम्पन्न वेदाध्यायी ब्राह्मण की विद्याचरणसम्पन्नता सम्भव पदार्थ है जो द्वितीय वक्ता को विवक्षित है। अनुपनीत या अविद्वान् ब्राह्मण में भी ब्राह्मणत्व जाति के रहने के कारण वह विद्याचरणसम्पन्नता के पक्ष में वह अतिसामान्यधर्म होता है। अतः ब्राह्मणत्व में विद्याचरणसम्पद् की हेतुता असम्भूत अर्थ होता है। पहले ही छल के लक्षणसूत्र में जो अर्थविकल्प कहा गया है वह केवल किसी शब्द की अन्यार्थ कल्पना नहीं है किन्तु वक्ता के अविवक्षित वाक्यार्थ की कल्पना भी अर्थविकल्प कहलाती है। यहाँ ब्राह्मणत्व में विद्याचरणसम्पन्नता का हेतुत्व वक्ता का वाक्यार्थ नहीं है। क्योंकि वह असम्भव है। उक्तरूप असम्भव अर्थ की कल्पनारूप उपपत्ति यहाँ अर्थ विकल्पोपपत्ति से अभिप्रेत है। भाष्यकार ने इसी को व्यक्त करते हुए कहा है – "अस्य वचनस्यविघातो-ऽर्थविकल्पोपपत्त्याऽसंभूतार्थकल्पना या क्रियते"।

भाष्यकार ने इस सामान्यछल के खण्डन में कहा है कि यहाँ ब्राह्मणत्व विद्याचरण-सम्पन्नता का हेतु होता है जो द्वितीय वक्ता को विवक्षित नहीं है। उसका उक्त वाक्य तो ब्राह्मणत्व विषय का केवल अनुवाद है। किसी उद्देश्य से सिद्ध पदार्थ का कथन अनुवाद कहलाता है। ब्राह्मणत्व की प्रशंसा के उद्देश्य से द्वितीय वक्ता ने कहा है – "सम्भवति ब्राह्मणे विद्याचरणसंपत्"। किन्तु इस वक्ता का कभी भी यह तात्पर्य नहीं रहा है कि ब्राह्मणत्व ही विद्याचरणसम्पन्नता का हेतु होता है अर्थात् ब्राह्मण होने से विद्वान् होगा ही। क्योंकि वह सम्भव ही नहीं है। अतः यहाँ ब्राह्मणत्व में विद्याचरणसम्पन्नता का

---

२०२ उपनयन काल के बीत जाने पर भी अनुपनीत ब्राह्मण को व्रात्य कहा जाता है। "जन्मना जायते शूद्रः" इत्यादि वचन बिना मूल का ही है अतएव कल्पित हैं। अत्रिसंहिता में वचन है –

जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्काराद् द्विज उच्यते।
विद्यया याति विप्रत्वं श्रोत्रियस्त्रिभिरेव च॥ १४०॥

पश्चात् ब्राह्मण के दश प्रकारों के लक्षण में भी यह उक्त है। वस्तुतः मनु ने कहा है – "शूद्रेण हि समस्तावद् यावद् वेदे न जायते"। यहाँ यह समझना भी आवश्यक है कि अनुपनीत ब्राह्मण सन्तान के पहले से अर्थात् जन्म से शूद्र होने पर भी मनु ने उसको शूद्रतुल्य क्यों कहा है। यह भी समझना आवश्यक है कि बहुत शास्त्रवचनों में "शूद्र के तुल्य" इस अर्थ में शूद्र शब्द का गौण प्रयोग हुआ है। यहाँ यह भी देखना आवश्यक है कि मनुसंहिता के प्रथम अध्याय में –

बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठाः नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः।
ब्राह्मणेषु तु विद्वांसो विद्वत्सु कृतबुद्धयः॥ ९६-९७॥

इस वचन में अनुपनीत तथा अविद्वान् ब्राह्मण कहा गया है। अन्यथा इस वचन में "ब्राह्मणेषु तु विद्वांसः" इस प्रकार की उक्ति उपपन्न नहीं हो सकती।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

हेतुत्व रूप असम्भव अर्थ की कल्पना नहीं की जा सकती है। भाष्यकार ने आगे दृष्टान्त के माध्यम से इसको स्पष्ट किया है कि जैसे किसी व्यक्ति ने अच्छी फसल वाला (उत्कृष्ट) खेत देखकर कहा – ''सम्भवन्त्यस्मिन् क्षेत्रे शालयः'' इस खेत में धान होना सम्भव है। किन्तु इस वाक्य से वक्ता का धान उपजाना रूप विधि विवक्षित नहीं है। बिना बीज के ही इस खेत में धान उपजेगा – यह भी उसको विवक्षित नहीं है। क्योंकि वह सम्भव नहीं है। किन्तु प्रवृत्ति का विषय अर्थात् इस क्षेत्र की प्रशंसा के लिए वह वाक्य कहा गया है। अतः उक्त वाक्य क्षेत्ररूप विषय का अनुवाद है। इसी प्रकार ब्राह्मणत्व विद्याचरण-सम्पन्नता का हेतु नहीं है। द्वितीय वक्ता को वह विवक्षित भी नहीं है किन्तु वह विद्याचरण-सम्पन्नता का विषय होता है। ब्राह्मणत्व रहने पर विद्याचरणसम्पन्नता का हेतु अध्ययन समर्थ या शीघ्र सफल होता है – इस दृष्टि से वह वाक्य ब्राह्मण की प्रशंसा में कहा गया है। इस प्रशंसा के उद्देश्य से उक्त वाक्य ब्राह्मणत्वरूप विषय का अनुवादरूप माना जाता है। इस वाक्य से विद्याचरणसम्पन्नता के यथोपयुक्त कारण का प्रत्याख्यान नहीं होता। अतः ब्राह्मणत्व में विद्याचरणसम्पन्नता का हेतुत्वरूप असम्भव अर्थ की कल्पना से इस द्वितीय वक्ता के वाक्य का विघात उपपन्न नहीं होता। (१.२.१३)

सूत्र – धर्मविकल्पनिर्देशेऽर्थसद्भावप्रतिषेध उपचारच्छलम्। (१.२.१४)

अनुवाद – धर्मविकल्प का निर्देश होने पर अर्थात् किसी शब्द के लाक्षणिक या गौण प्रयोग होने पर अर्थ के सद्भाव से जो प्रतिषेध होता है अर्थात् मुख्यार्थ का अवलम्बन करके दोष का प्रदर्शन होता है वह उपचारछल कहलाता है।

भाष्य – **अभिधानस्य धर्मो यथार्थप्रयोगः। धर्मविकल्पोऽन्यत्रदृष्टस्यान्यत्रप्रयोगः। तस्य निर्देशे ''धर्मविकल्पनिर्देशे''। यथा मञ्चाः कोशन्तीति अर्थसद्भावेन प्रतिषेधः। मञ्चस्थाः पुरुषाः क्रोशन्ति न तु मञ्चाः क्रोशन्ति। का पुनरत्रार्थ-विकल्पोपपत्तिः। अन्यथा प्रयुक्तस्यान्यथार्थकल्पनं, भक्त्या प्रयोगे प्राधान्येन कल्पनम्। उपचारविषयं छलमुपचारच्छलम्। उपचारो नीतार्थः सहचरणा-दिनिमित्ते नातद्भावे तद्वदभिधानमुपचार इति।**

अत्र समाधिः, प्रसिद्धे प्रयोगे वक्तुर्यथाभिप्रायं शब्दार्थयोरनुज्ञा प्रतिषेधो वा न छन्दतः। प्रधानभूतस्य शब्दस्य भाक्तस्य च गुणभूतस्य प्रयोग उभयोर्लोकसिद्धः। यदि सिद्धप्रयोगे यथा वक्तुरभिप्रायस्तथा शब्दार्थावनुज्ञेयौ प्रतिषेध्यौ वा न छन्दतः अथ गुण वक्ता प्रधानशब्दं प्रयुङ्क्ते, यथाभूतस्याभ्यनुज्ञा प्रतिषेधो वा न छन्दतः अथ गुण भूतं तदा गुणभूतस्य। यत्र तु वक्ता गुणभूतं शब्दं प्रयुङ्क्ते प्रधानभूतमभिप्रेतो परः प्रतिषेधति, स्वमनीषया प्रतिषेधोऽसौ भवति, न परोपालम्भ इति।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अनुवाद – अभिधान (शब्द) का धर्म है यथार्थप्रयोग अर्थात् अपने-अपने अर्थ में प्रयोग। अन्य अर्थ में दृष्ट शब्द का भिन्न अर्थ में प्रयोग अर्थात् लाक्षणिक अर्थ में प्रयोग है धर्म का विकल्प। उसके निर्देश में अर्थात् धर्मविकल्प के निर्देश में। सूत्रगत प्रथम पद से ज्ञात होता है किसी शब्द के लाक्षणिक अर्थ में निर्देश या प्रयोग होने पर। जैसे ''मञ्चाः क्रोशन्ति'' वाक्य का प्रयोग होने पर अर्थ के सद्भाव से अर्थात् उस वाक्य में मञ्च शब्द का मुख्य अर्थ लेने पर उससे प्रतिषेध किया जाना, जैसे मञ्चस्थ पुरुषवृन्द कोशन करते हैं, चिल्लाते हैं परन्तु मञ्च उच्चस्थकाष्ठसंघातरूप चिल्लाता नहीं है – इस प्रकार का प्रतिषेध यहाँ उपचारछल होता है। प्रश्न होता है कि यहाँ अर्थ के विकल्प की उपपत्ति क्या अथवा कैसे होती है। उत्तर में कहना है कि अन्य प्रकार से प्रयुक्त शब्द का अन्य प्रकार से अर्थ की कल्पना – लक्षणा से प्रयोग होने पर अभिधा से कल्पना – ही अर्थ-विकल्प की उपपत्ति है। पूर्व उक्त छल के सामान्यलक्षणसूत्र में अर्थविकल्पोपपत्ति का तात्पर्य उपचारछल में लाक्षणिक अर्थ में प्रयुक्त शब्द का मुख्य अर्थ की कल्पनारूप उपपत्ति होता है। उपचारविषयक छल उपचारछल कहलाता है। सहचरण आदि निमित्त के कारण नीतार्थ होकर अर्थात् जिस प्रकार के सम्बन्ध से किसी शब्द के भिन्न अर्थ की प्राप्ति होती है वह सम्बन्ध ही उपचार है। जो जैसा नहीं है उसमें उसी की तरह कहना ही उपचार कहलाता है। महर्षि ने स्वयं आगे (सूत्र २.२.६२) में यह कहा है।

यहाँ समाधान अर्थात् उपचारछल का खण्डन कहा जा रहा है। प्रसिद्ध प्रयोग में वक्ता के अभिप्राय अथवा तात्पर्य के अनुसार शब्द और अर्थ का स्वीकार या प्रतिषेध करना, अपनी इच्छा के अनुसार नहीं। (विशदार्थ) प्रधानभूत शब्द का और भाक्त (गुणभूत) अप्रधानभूत शब्द का प्रयोग वादी और प्रतिवादी को मान्य (लोकप्रसिद्ध) है और लोकसिद्ध प्रयोग में वक्ता के अभिप्राय या तात्पर्य के अनुसार ही शब्द और अर्थ मान्य या प्रतिषेध्य होता है, अपनी इच्छा से नहीं। यदि वक्ता प्रधानभूत (मुख्य) शब्द का प्रयोग करता है तो यथाभूत शब्द का ही स्वीकार या प्रतिषेध करना है, अपनी इच्छा से स्वीकार या प्रतिषेध नहीं। यदि वक्ता गुणभूत (अप्रधान) शब्द का प्रयोग करता है तो गुणभूत शब्द का ही स्वीकार या प्रतिषेध करना है। किन्तु जिस स्थल में वक्ता गुणभूत शब्द का प्रयोग करता है, उस स्थल में अपर व्यक्ति यदि प्रधानभूत शब्द के अभिप्राय से गुणभूत शब्द को प्रधान शब्द रूप में ग्रहण करके प्रतिषेध करता है तो यह प्रतिषेध निज बुद्धिमात्र मूलक होता है। यह परोपालम्भ उस वाक्य (वक्ता के वचन) का विघातरूप प्रतिषेध नहीं होता।

टिप्पणी – तीसरे प्रकार के छल का नाम है ''उपचारछल''। लोकसिद्ध गौण या

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

लाक्षणिक अर्थ में प्रयुक्त किसी शब्द का मुख्य अर्थ लेकर जो प्रतिषेध किया जाता है
वही भाष्यकार आदि के मत में उपचारछल है। वृत्तिकार विश्वनाथ ने समानरूप से
मुख्य अर्थ में प्रयुक्त शब्द का गौण या लाक्षणिक अर्थ लेकर किए गए प्रतिषेध को
उपचारछल कहकर व्याख्या की है। किन्तु वह मत प्राचीनों को सम्मत नहीं है। वस्तुतः
मुख्य अर्थ में शब्द के प्रयोग को औत्सर्गिक प्रयोग कहा जाता है और गौण या लाक्षणिक
अर्थ में शब्द का प्रयोग भाक्त प्रयोग कहलाता है। मुख्य अर्थ ही पहले बुद्धि का विषय
होता है, किसी बाधक के नहीं रहने पर। ''मुख्ये शब्दस्वरसः'' इस न्याय के अनुसार
मुख्य अर्थ ही ग्राह्य है। अतः मुख्य अर्थ के आधार पर जो प्रतिषेध होता है उसी को
उपचारछल कहना संगत प्रतीत होता है। सूत्र में महर्षि के ''अर्थसद्भावप्रतिषेधः'' पद
से यही तात्पर्य ज्ञात होता है। मुख्य और गौण – इन दो प्रकार के अर्थों में मुख्य अर्थ
ही सत् एवं प्रशस्त होता है। अतः अर्थ के सद्भाव या प्रशस्तता से मुख्य अर्थ के आधार
पर जो प्रतिषेध किया जाता है वही अर्थ सद्भाव प्रतिषेध पदार्थ है। जयन्त भट्ट ने
व्याख्या की है – ''अर्थसद्भावप्रतिषेधः मुख्यार्थप्रतिषेधः''। किसी मुख्य अर्थ में
प्रयुक्त शब्द का अन्य मुख्य अर्थ लेकर प्रतिषेध करना उपचारछल नहीं है। अतः महर्षि
ने उपचारछल के लक्षणार्थ सूत्र में पहले कहा है ''धर्मविकल्पनिर्देशे''।

भाष्यकार ने प्रथम पद की व्याख्या करते हुए पहले धर्म शब्द का अर्थ कहा है –
शब्द का यथार्थ प्रयोग। अर्थात् सार्थक शब्दसमूह के अपने-अपने अर्थ में प्रयोगरूप धर्म
ही इस धर्म शब्द से महर्षि को विवक्षित है। इस प्रयोगरूप धर्म का विकल्प-विविधकल्प
या प्रकारभेद ही धर्मविकल्प है। भाष्यकार ने इसके फलितार्थ की व्याख्या में कहा है
''अन्यत्र दृष्टस्यान्यत्र प्रयोगः''। वाचस्पति मिश्र ने इसको स्पष्ट करने के लिए कहा है
– ''शब्दस्य धर्मः प्रयोगः तस्य विकल्पो द्वैविध्यं तस्य च द्विविधः प्रयोगः प्रधानो
भाक्तश्च। तत्रापि प्रधान औत्सर्गिकः तस्य च क्वचिदपवादाद् भाक्तो भवति। उत्सर्गस्य
तु कुतश्चिदपवादादन्यत्र दृष्टस्यान्यत्र प्रयोगः''।[203] तात्पर्य यह है कि सामान्य को उत्सर्ग
और उसके बाधक को अपवाद कहते हैं। यह चिरप्रसिद्ध है कि अपवाद से उत्सर्ग का

---

[203] पश्चात् ''तस्य निर्देशे धर्मविकल्पनिर्देशे'' इस प्रकार का भाष्य का पाठ सभी पुस्तकों में देखा जाता है। किन्तु वाचस्पति मिश्र ने व्याख्या की है – ''धर्मविकल्पेन निर्देशवाक्ये निर्दिश्यतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या''। अर्थात् सूत्रोक्त निर्देश पद का अर्थ होता है वाक्य। पूर्वोक्त धर्म विकल्प प्रयुक्त वाक्य ही धर्मविकल्पनिर्देश है। जयन्त भट्ट ने इस पद में तृतीया तत्पुरुषसमास मानकर दूसरे प्रकार की व्याख्या की है – ''अभिधानस्य धर्मोऽनेकप्रकारो मुख्यया वृत्त्या गौण्या लाक्षणिकया वा यदर्थे प्रत्यायनं तदनेन विकल्प्यमानेन धर्मेण गौणेन लाक्षणिकेन वा निर्देशे प्रयोगे कृते योऽर्थसद्भावप्रतिषेधो मुख्यार्थनिषेधः स उपचारनिमित्तं उपचारच्छलम्''।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

बाध होता है। कुमारसम्भव के द्वितीय सर्ग में कालिदास ने कहा है – ''अपवादैरिवोत्सर्गाः कृतव्यावृत्तयः परैः'' । शब्द के प्रयोगस्थल में यह उत्सर्ग और अपवाद ज्ञातव्य है। शब्द से उत्सर्गतः मुख्य अर्थ का बोध होता है, उसी को ''औत्सर्गिकबोध'' कहते हैं और मुख्य अर्थ में शब्द के प्रयोग को ''औत्सर्गिक प्रयोग'' । उत्सर्ग के बाधकरूप अपवाद प्रयुक्त उसी शब्द के अन्य अर्थ में प्रयोग को भाक्त प्रयोग कहते हैं और उस शब्द को भाक्त शब्द। इस सूत्र में ''धर्मविकल्पनिर्देशे'' शब्द से महर्षि को विवक्षित भाक्त प्रयोग ही है। अतः सूत्र से ज्ञात होता है कि किसी वाक्य में किसी शब्द का भाक्त प्रयोग होने पर उसके मुख्य अर्थ की कल्पना से जो प्रतिषेध किया जाता है वह उपचारछल कहलाता है।

भाष्यकार ने इसका उदाहरण दिखाते हुए बाद में कहा है – ''यथा मञ्चाः क्रोशन्तीति'' । भाष्यकार का तात्पर्य यह है कि उच्चस्थ काष्ठ संघातरूप आसन विशेष मञ्च पद का मुख्य अर्थ होता है। किन्तु उसमें क्रोशन या आह्वान की कर्तृता सम्भव नहीं होने से उस वाक्य में मञ्च पद से मञ्च पर विद्यमान पुरुषवृन्द ही ज्ञान होता है अर्थात् उस वाक्य में मञ्चपद मञ्चस्थ पुरुष अर्थ में भाक्त[२०४] है। अतः इस प्रकार के प्रयोग को भाक्तप्रयोग कहते हैं। किन्तु वादी यदि ''मञ्चाः क्रोशन्ति'' वाक्य का प्रयोग करता है और प्रतिवादी उस मञ्च शब्द का मुख्य अर्थ लेकर उसका प्रतिषेध करता है – ''मञ्चस्थाः पुरुषाः क्रोशन्ति न तु मञ्चाः क्रोशन्ति'' तो इसको ''उपचार छल'' कहते हैं। इस वाक्य में मञ्च शब्द के मुख्य अर्थ की कल्पना ही ''अर्थविकल्प'' है। भाष्यकार ने इसी को समझाने के लिए कहा है – ''भक्त्या प्रयोगे प्राधान्येन कल्पनम्'' । तात्पर्य यह है कि किसी लाक्षणिक शब्द का प्रयोग करने पर उसके अभिधेय अर्थ की कल्पना करके उक्त कल्पनारूप उपपत्ति सामान्यछल लक्षणसूत्र में उक्त अर्थविकल्पोपपत्ति की उपचारछल में अनुवृत्ति होती है। उपचार ही इस छल का विषय होता है अर्थात् आश्रयरूप निमित्त होता है। अतः इसको ''उपचारछल'' कहते हैं। जयन्त भट्ट ने व्याख्या की है – ''उपचारनिमित्तं छलम् उपचारच्छलम्'' ।

---

२०४ ''भक्त्या प्रयुक्तः'' इस अर्थ में भक्ति शब्द से तद्धित प्रत्यय करने पर भांक्त शब्द सिद्ध होता है। आगे न्यायसूत्र (२.२.१५) में भक्ति शब्द से सिद्ध भाक्त पद का प्रयोग हुआ है। भाष्यकार की व्याख्या से ज्ञात होता है कि शब्द के सभी प्रकार की लक्षणा का प्राचीन नाम है ''भक्ति'' । सादृश्य सम्बन्ध रूप गौणीवृत्ति भी लक्षणा का ही प्रकार होती है। आगे चलकर उद्योतकर ने न्यायवार्तिक (२.१.३६) में ''उभयेन भज्यते'' ऐसी व्युत्पत्ति करके उभयाश्रित अर्थात् पदार्थद्वयगत सादृश्यविशेष को भक्ति कहा है और ''गौर्वाहीकः'' इस प्रसिद्ध प्रयोग को भाक्त प्रत्यय का उदाहरण कहा है। किन्तु यहाँ इन्होंने भी कहा है – ''काष्ठसंघातेषु प्रधानं शब्दः क्रोशनक्रिया[illegible]स्थानिषु पुरुषेषु भाक्तः'' ।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

आपत्ति हो सकती है कि मञ्च शब्द के इस प्रकार के भाक्तप्रयोग से वाक्य की उपपत्ति होने पर समस्त शब्दों का जिस किसी अर्थ में भाक्तप्रयोग मानकर सभी वाक्यों की उपपत्ति हो सकती है और तब किसी के भी प्रयोग किए गए किसी वाक्य को अयोग्य या असंगत नहीं कहा जा सकता। इसलिए भाष्यकार ने कहा है – ''उपचारो नीतार्थः'' इत्यादि। वाचस्पति मिश्र ने यहाँ व्याख्या की है – ''नीतार्थः प्रापितार्थः सहचरणादिना निमित्तेनेति अन्यत्र दृष्टस्यान्यत्र प्रयोगः सम्बन्धादेव भवतीति नातिप्रसंग इत्यर्थः''। तात्पर्य यह है कि मुख्य अर्थ का सम्बन्धविशेष ही शब्द की लक्षणावृत्ति कहलाती है।[२०५] इस सम्बन्धविशेष के प्रयुक्त ही अन्य अर्थ में शब्द का प्रयोग होता है जिसको भाक्त या लाक्षणिक प्रयोग कहते हैं। अतः इस सम्बन्धविशेष के बिना किसी अर्थ में शब्द का भाक्त प्रयोग नहीं हो सकता। जिस प्रकार के सम्बन्ध के कारण कोई शब्द अन्य अर्थ में नीत अर्थात् प्रापित होता है उसके प्रसंग में महर्षि ने द्वितीय अध्याय के द्वितीय आह्निक में ''सहचरण'' आदि सूत्र (६२) से प्रकाशित करके अन्त में कहा है – ''अतद्भावेऽपि तद्वदभिधानमुपचारः''। भाष्यकार ने यहाँ उपचार की व्याख्या करते हुए महर्षि की इस बात का उद्धरण दिया है। वस्तुतः महर्षि के द्वारा उक्त सहचरण आदि निमित्तक सम्बन्ध विशेष ही उपचार है। यहाँ मञ्चस्थ पुरुषगण का मञ्च पर ही स्थान होता है अर्थात् स्थितिप्रयुक्त मञ्च और उस पर विद्यमान पुरुषगण के मध्य आधाराधेयभाव सम्बन्ध ही स्थाननिमित्तक उपचार कहलाता है। महर्षि के उक्त सभी उपचारों की व्याख्या तथा उदाहरण द्वितीय खण्ड, बंग संस्करण (पृ. ५०५-०६) में द्रष्टव्य है।

भाष्यकार ने इस उपचारछल के खण्डन हेतु यहाँ समाधान कहा है कि लोकसिद्ध

---

[२०५] वैयाकरण सम्प्रदाय इस प्रकार की लक्षणा वृत्ति नहीं मानता है। भाष्यकार पतञ्जलि ने कहा है – ''सर्वे सर्वार्थवाचकाः''। इसके अनुसार परमलघुमञ्जूषा में नागेश भट्ट ने संक्षेप में इस मत की व्याख्या की है कि वक्ता का तात्पर्य रहने पर सभी शब्द सभी अर्थों के वाचक होते हैं। अर्थात् सभी अर्थों में सभी शब्दों की शक्ति रहती है। शक्ति दो प्रकार की होती है – प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध। जिसको लक्षणा कहते हैं वही है अप्रसिद्ध शक्ति। बहुत नैयायिकों ने महर्षि गौतम के सहचरण आदि सूत्र से इस प्रकार के मत की व्याख्या की है। तर्कसंग्रहदीपिका की नीलकण्ठी टीका पर की गई व्याख्या भास्करोदया में (शब्द खण्ड में शक्ति और लक्षणा के निरूपण में) इस मत की व्याख्या करके खण्डन किया गया है। किन्तु नागेश भट्ट ने लक्षणा के विषय में नैयायिकों के मत की व्याख्या करते हुए इस प्रकार की बात नहीं कही है। उन्होंने कहा है – ''सा च लक्षणा तात्स्थ्यादिनिमित्तका''। तदाह तात्स्थ्यात्तथैव ताद्धर्म्यात् तत्सामीप्यात्तथैव च। तत्साहचर्यात्तादर्थ्याज् ज्ञेया वै लक्षणा वुधैः। इति। ''तात्स्थ्याद् यथा मञ्चाः हसन्ति'' इत्यादि। परमलघुमञ्जूषा।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

प्रयोग में वक्ता का अभिप्रेत शब्द और अर्थ की ग्राह्यता या प्रतिषेध सम्भव होने से उसी शब्द और अर्थ का प्रतिषेध कर्त्तव्य है । छन्दतः छल करके अपनी इच्छा से किसी शब्द या अर्थ का ग्रहण या प्रतिषेध नहीं किया जा सकता। वाचस्पति मिश्र ने कहा है – ''न छन्दतः न छद्मेनेत्यर्थः''। छन्द शब्द का इच्छा अर्थ में व्यवहार होता है। तब अर्थ होगा – ''छन्दतः नेच्छामात्रात्''। भाष्यकार ने अपने पूर्वोक्त कथन के तात्पर्य की व्याख्या में कहा है कि वादी और प्रतिवादी दोनों के मत में प्रधानभूत (मुख्य अर्थबोधक) शब्द का एवं गुणभूत अप्रधानभूत (लक्ष्य अर्थ का बोधक) भाक्त शब्द का प्रयोग दीर्घकाल से लोक में प्रचलित है। अतः लोक में प्रचलित भाक्त शब्द का प्रयोग करने पर वादी का किसी प्रकार का अपराध नहीं माना जा सकता। किन्तु इन सभी लोकसिद्ध प्रयोगों में वादी किस प्रकार के शब्द का प्रयोग करता है – यह पहले समझना होगा। वादी के द्वारा मुख्य शब्द का प्रयोग करने पर उस शब्द का मुख्य अर्थ ही ग्राह्य होगा और सम्भव होने पर उसका प्रतिषेध करना होगा। वादी यदि भाक्त शब्द का प्रयोग करता है तो उस शब्द का लाक्षणिक अर्थ ही करना होगा और सम्भव होने पर उसका प्रतिषेध करना होगा। अतः उपर्युक्त ''मञ्चाः क्रोशन्ति'' वाक्य में वक्ता ने भाक्तरूप से मञ्च शब्द का प्रयोग किया है। अतएव उस भाक्त शब्द का ग्रहण करके लाक्षणिक अर्थ ही ग्राह्य करना होगा। किन्तु प्रतिवादी ऐसा न करके अपनी इच्छा से मञ्च शब्द के मुख्य अर्थ का ग्रहण करके उससे उसका प्रतिषेध करता है जो उसका निजबुद्धिकल्पित अनुचित प्रतिषेध होता है और उससे ''परोपालम्भ'' वादी के पक्ष का दूषण नहीं होता क्योंकि वह वादी के अभिप्रेत प्रकृत अर्थ का प्रतिषेध नहीं है। इस प्रकार सर्वत्र वादी के तात्पर्य को समझकर या बिना समझे ही विजय की लालसा से प्रतिवादी उपर्युक्त किसी प्रकार का छल करता है जो असद् उत्तर ही है। उद्योतकर ने कहा है – ''उभयथा दोषो बुद्ध्याऽबुद्ध्या वा''। १.२.१४।

सूत्र – वाक्छलमेवोपचारच्छलं तदविशेषात् ।१.२.१५।

अनुवाद – (पूर्वपक्ष) उपचारछल वाक्छल ही है क्योंकि इस अर्थान्तरकल्पना में विशेष कुछ नहीं है (भेद नहीं है)।

भाष्य – **न वाक्छलादुपचारच्छलं भिद्यते, तस्याप्यर्थान्तरकल्पनाया अविशेषात्। इहापि स्थान्यर्थो गुणशब्दः प्रधानशब्दः स्थानार्थ इति कल्पयित्वा प्रतिषिध्यत इति।**

अनुवाद – वाक्छल से उपचारछल भिन्न नहीं है। क्योंकि इसमें अर्थान्तर कल्पना से अधिक (विशेष) कुछ नहीं है। (तात्पर्य) इस उपचारछल में अर्थात् पूर्वप्रदर्शित उदाहरण

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

में स्थानी अर्थ गुण शब्द होता है (मञ्चस्थ पुरुष का बोधक भाक्त मञ्च शब्द होता है) और स्थान अर्थ प्रधान शब्द मञ्च नामक स्थान का बोधक (मुख्य मञ्च शब्द) होता है जिसकी कल्पना करके प्रतिषेध किया जाता है।

सूत्र – न तदर्थान्तरभावात् ।१.२.१६।

अनुवाद – (उत्तरपक्ष) नहीं, उपचारछल वाक्छल नहीं हो सकता क्योंकि वह अर्थ सद्भाव का प्रतिषेध अर्थान्तरकल्पना से भिन्न होता है।

भाष्य – **न वाक्छलमेवोपचारच्छलम्, तस्यार्थसद्भावप्रतिषेधस्यार्थान्तर भावात्। कुतः? अर्थान्तरकल्पनात्। अन्या अर्थान्तरकल्पना, अन्यो ह्यर्थसद्भावप्रतिषेध इति।**

अनुवाद – उपचारछल वाक्छल नहीं हो सकता, क्योंकि इसमें अर्थसद्भाव प्रतिषेध का अर्थान्तरभाव अर्थात् भेद है। (प्रश्न) कैसे? (उत्तर) अर्थान्तरकल्पना से। (तात्पर्य) क्योंकि अर्थान्तरकल्पना भिन्न है और अर्थसद्भाव का प्रतिषेध भिन्न। अर्थात् उपचारछल में अर्थसद्भाव का प्रतिषेध होता है और वाक्छल में अर्थसद्भाव का प्रतिषेध नहीं होता। अतः उपचार भिन्न प्रकार का होता है।

सूत्र – अविशेषे वा किञ्चित्साधर्म्यादिकच्छलप्रसङ्गः ।१.२.१७।

अनुवाद – अविशेष होने पर अर्थात् दोनों छलों में शब्द की अर्थान्तरकल्पना को आधार मानकर अभेद मानने पर किसी साधर्म्य के सभी छलों में विद्यमान रहने के कारण एक ही प्रकार का छल मानने की आपत्ति होगी। तब छल का द्वैविध्य भी मान्य नहीं होगा।

भाष्य – **छलस्य द्वित्वमभ्यनुज्ञाय त्रित्वं प्रतिषिध्यते किञ्चित्साधर्म्यात्। तथा चायं हेतुस्त्रित्वं प्रतिषेधति, तथा द्वित्वमप्यभ्यनुज्ञातं प्रतिषेधयति। विद्यते हि किञ्चित्साधर्म्यं द्वयोरपीति। अथ द्वित्वं किञ्चित्साधर्म्यान्न निवर्तते त्रित्वमपि न निवर्त्स्यति।**

अनुवाद – दो प्रकारों के छल को मानकर कुछ साधर्म्य के आधार पर उसके त्रित्व का प्रतिषेध किया जाता है। किन्तु जैसे यह हेतु अर्थात् किञ्चित्साधर्म्य रूप हेतु छल के त्रित्व का प्रतिषेध करता है, उसी प्रकार स्वीकृत छल के द्वित्व का भी प्रतिषेध कर सकता है। अर्थात् छल के द्वित्वाभाव का भी साधक होगा। क्योंकि दो छलों (पूर्वपक्षवादी के स्वीकृत वाक्छल तथा सामान्य छल) में भी कुछ तो साधर्म्य है। और यदि किञ्चित् साधर्म्य होने से छल के द्वित्व की निवृत्ति नहीं होती है तो द्वित्व मात्र सिद्ध नहीं होता।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अर्थात् उक्त किंचित्साधर्म्यरूप हेतु छल के द्वित्वाभाव का साधक नहीं होता है, तो वह त्रित्वाभाव का भी साधक नहीं हो सकता।

टिप्पणी – महर्षि ने अपने उद्दिष्ट छल पदार्थ का सामान्यलक्षण, विभाग तथा विशेषलक्षण कहने के बाद यह छल पदार्थ की परीक्षा का आरम्भ किया है। क्योंकि छल पदार्थ दो प्रकार के होते हैं या तीन प्रकार के – इस संशय के होने पर उसका निराकरण आवश्यक है। इस परीक्षा के लिए महर्षि ने यहाँ प्रथम सूत्र में पूर्वपक्ष किया है कि वाक्छल से उपचारछल भिन्न नहीं है। क्योंकि वाक्छल की तरह उपचारछल में भी एक अर्थ में प्रयुक्त शब्द के अन्य अर्थ की कल्पना करके प्रतिषेध किया जाता है। भाष्यकार ने इसको स्पष्ट करने के लिए अपने पूर्वप्रदर्शित उदाहरण को लेकर कहा है – "इहापि" इत्यादि। तात्पर्य यह है कि मञ्चस्थ पुरुषवृन्द का स्थान या आसन होता है मञ्च और मञ्चस्थ पुरुषवृन्द होते हैं स्थानी। मञ्च पद के स्थानी अर्थ में प्रयुक्त होने पर अर्थात् मञ्चस्थ पुरुष अर्थ में उसके प्रयुक्त होने पर वह गुण शब्द अर्थात् अप्रधान शब्द होता है (भाष्य में अप्रधान अर्थ में ही गुण शब्द का प्रयोग होता है)। किन्तु मञ्च शब्द स्थान अर्थ में प्रयुक्त होने पर अर्थात् मञ्च नामक स्थान अर्थ में यदि उसका प्रयोग होता है तो वह मुख्य अर्थ का बोधक होने से प्रधान शब्द होता है। अब "मञ्चाः क्रोशन्ति" वाक्य में मञ्चस्थ पुरुष अर्थ में मञ्च शब्द का प्रयोग होने पर मञ्च पद गुण शब्द (अप्रधान शब्द) होता है। किन्तु प्रतिवादी उस पद का स्थान अर्थ में प्रधान शब्द रूप में कल्पना करके अर्थात् मुख्य अर्थ रूप अर्थान्तर की कल्पना करके पूर्वोक्त रीति से प्रतिषेध करता है। अतः उपचारछल में भी शब्द के अर्थान्तर की कल्पना होने से वह वाक्छल में ही परिगणनीय होता है। अतः छल के तीन नहीं दो ही प्रकार मान्य हैं।[२०६]

महर्षि ने इसके निराकरण हेतु सिद्धान्तसूत्र कहा है – "न तदर्थान्तरभावात्"। भाष्यकार ने इस सूत्र में तत् शब्द से उपचारछल में जो अर्थसद्भाव का प्रतिषेध कहा

---

[२०६] चरकसंहिता के विमानस्थान (अष्टम अध्याय) में उक्त है – "तद्द्विविधं वाक्छलं सामान्यच्छलञ्च"। महर्षि गौतम ने उसी मत को पूर्व पक्ष रूप में ग्रहण करके उसका खण्डन किया है। इससे ज्ञात होता है कि इतिविषयक प्राचीनतम मत को ही अपनी संहिता में चरक ने संग्रह किया होगा। प्रचलित चरकसंहिता के बाद न्यायसूत्र में इस मत का खण्डन होने से अन्य भी अनेक मतों का खण्डन क्यों नहीं किया गया – यह भी यहाँ विचारणीय है। चरकसंहिता में इन दो प्रकारों के छल पदार्थ के निरूपण के बाद प्रकरणसम, वर्ण्यसम तथा अवर्ण्यसम नामक अहेतु का (हेत्वाभास का) निरूपण हुआ है। किन्तु गौतम मत के साथ इन पदार्थों का सामञ्जस्य नहीं है। किन्तु चरकसंहिता में गौतम मत का खण्डन नहीं देखा जाता। अतः ज्ञात होता है कि विमानस्थान में अनेक विषयों में पूर्व प्रचलित प्राचीन चरक मत ही वर्णित हैं।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

गया है उसको लेकर व्याख्या करते हैं कि अर्थान्तरकल्पना से अर्थसद्भावप्रतिषेध का अर्थान्तरभाव अर्थात् भेद है। शब्द की अर्थान्तरकल्पना और अर्थसद्भाव का प्रतिषेध दोनों ही परस्पर भिन्न पदार्थ हैं। महर्षि का अभिप्राय व्यक्त करते हुए उद्योतकर ने कहा है – ''अविशेषादित्यस्य हेतोरनेन सूत्रेणासिद्धतामुद्भावयति''। उपर्युक्त सूत्र में अविशेषात् पद से कहा गया हेतु असिद्ध होता है – यही इस सूत्र से महर्षि ने कहा है। क्योंकि वाक्छल से उपचारछल में कुछ विशेष है। उद्योतकर ने इसको समझाने के लिए कहा है – ''मञ्चाः क्रोशन्ति'' इस वाक्य का प्रयोग करने पर छलवादी मञ्च नामक स्थान में क्रोशनकर्तृत्व रूप अर्थ या वस्तु की सत्ता का निषेध करता है जिसे अर्थसद्भाव का प्रतिषेध कहते हैं। किन्तु ''नवकम्बलोऽयं माणवकः'' इस वाक्य का प्रयोग करने पर छलवादी उस बालक में कम्बल की सत्ता का प्रतिषेध नहीं करता, किन्तु वहाँ कम्बल की सत्ता स्वीकार करके भी उस कम्बल के नवसंख्याकत्वरूप धर्म का प्रतिषेध करता है। इस प्रकार वाक्छल में विधेय वस्तु के धर्मविशेष का प्रतिषेध होता है और उपचारछल में विधेय वस्तुरूप धर्मी का ही प्रतिषेध होता है। फलतः वाक्छल से उपचारछल में बहुत ही बड़ा भेद देखा जाता है। वाचस्पति मिश्र ने उद्योतकर के तात्पर्य की व्याख्या के उद्देश्य से उपचारछल में अर्थसद्भाव प्रतिषेध की व्याख्या की है – विधेय वस्तु की सत्ता का प्रतिषेध। और यहाँ इन्होंने उद्योतकर की व्याख्या के अनुसार पहले कहा है – ''वार्त्तिकमते त्वर्थसद्भावस्यैव प्रतिषेध इतिव्याख्येयम्''।

स्मरणीय है कि भाष्यकार ने उपचारछल के लक्षणसूत्र के भाष्य में कहा है – ''मञ्चाः क्रोशन्तीति अर्थसद्भावेन प्रतिषेधः''। जयन्त भट्ट ने कहा है – ''अर्थसद्भाव प्रतिषेधो मुख्यार्थनिषेधः''। अतः भाष्यकार की व्याख्या से ज्ञात होता है कि उपचारछल में लाक्षणिक अर्थ में प्रयुक्त शब्द का मुख्य अर्थ लेकर प्रतिषेध किया जाता है। इसी को कहते हैं अर्थसद्भाव से प्रतिषेध। किन्तु वाक्छल के सभी उदाहरणों में मुख्य अर्थों में शब्द का प्रयोग होता है और उस शब्द का या शब्दान्तर का मुख्य अर्थ से ही प्रतिषेध होता है। जैसे ''नवकम्बलोऽयं माणवकः'' वाक्य में वक्ता मुख्य अर्थ में नूतन के पर्याय नव शब्द का प्रयोग करता है और प्रतिवादी नौ संख्याबोधक नव शब्द रूप मुख्य अर्थ से प्रतिषेध करता है। किन्तु उपचारछल के सभी उदाहरणों में वादी लाक्षणिक अर्थ में किसी लोकसिद्ध भाक्त शब्द का प्रयोग करता है। अतः वाक्छल से उपचारछल में इस प्रकार भेद होता है।[२०७]

---

[२०७] जयन्त भट्ट ने इस सूत्र की व्याख्या में पहले उपर्युक्त विशेष की व्याख्या की है। पश्चात् उन्होंने कहा है – ''वाक्छले चार्थसत्तैव निषिध्यते [illegible] नवकम्बला इति इह तु सतो →

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

महर्षि ने ''अविशेषे वा'' इत्यादि सूत्र के द्वारा कहा है कि वाक्छल से उपचारछल में उपर्युक्त प्रकार का भेद नहीं मानने पर दोनों में अविशेष अर्थात् अभेद मानने पर कुछ साधर्म्य के आधार पर छल का एक ही प्रकार मानने की आपत्ति होगी। अर्थात् वाक्छल नामक एक ही प्रकार का छल मानना होगा। तात्पर्य यह है कि उपचारछल में भी वाक्छल की तरह अर्थान्तरकल्पना का अविशेष (अभेद) लेकर उसको यदि वाक्छल कहेंगे तो सामान्यछल को भी वाक्छल ही कहना होगा। क्योंकि वह भी बाधानिमित्तक छल है। अपि च छल के सामान्यलक्षण में जो अर्थ विकल्प कहा गया है वह तो सामान्यछल में भी है। अन्यथा किसी प्रकार से वह छल नहीं हो सकता। इस तरह सामान्यछल में वाक्छल का अन्य साधर्म्य भी है। अतः किञ्चित्साधर्म्य रूप हेतु से छल की त्रिविधता का अभाव सिद्ध होने पर उसके द्वैविध्य का भी अभाव सिद्ध हो गया है। अन्यथा उसके त्रैविध्य का भी अभाव सिद्ध नहीं होगा। अब उक्त हेतु से सामान्य छल तथा वाक्छल के सिद्ध होने पर भी एकमात्र वाक्छल मानना ही संगत होगा। किन्तु पूर्वपक्षवादी एक ही छल नहीं मानता क्योंकि छल पदार्थ का द्वैविध्य उसको मान्य है। अब जैसे पूर्वपक्षी के मत में किसी विशेष के रहने के कारण वाक्छल से भिन्न सामान्यछल मान्य होता है उसी प्रकार उपर्युक्त रूप विशेष रहने के कारण छल का तीसरा प्रकार ''उपचारछल'' भी अवश्य माननीय है। उपर्युक्त रूप कुछ विशेष रहने के कारण ही पदार्थ का प्रकार भेद कहा जाता है। सिद्धान्त यह हुआ कि छल पदार्थ के दो नहीं बल्कि तीन प्रकार मान्य हैं।

जाति तथा निग्रह स्थान का लक्षण प्रकरण

भाष्य – छललक्षणादूर्ध्वम् –

सूत्र – साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः ।१.२.१८।

अनुवाद – छल लक्षण के बाद (जाति का लक्षण कहा जा रहा है)। साधर्म्य और वैधर्म्य से अर्थात् केवल किसी साधर्म्य या वैधर्म्य को लेकर उससे प्रतिषेध करना ''जाति'' कहलाती है।

भाष्य – प्रयुक्ते हि हेतौ यः प्रसङ्गो जायते स जातिः। स च प्रसंगः साधर्म्य-

---

→ मञ्चस्य क्रोशनशक्तिर्निषिध्यते''। जयन्त भट्ट ने वाक्छल में जो अर्थसत्ता का निषेध कहा है वह उपचारछल का अर्थसद्भावप्रतिषेध नहीं है। नौ संख्या से विशिष्ट कम्बल रूप सत्ता का निषेध यहाँ अर्थसत्ता का प्रतिषेध होता है। किन्तु उपचारछल में मञ्च शब्द के किसी अर्थ की सत्ता का प्रतिषेध नहीं होता — यही जयन्त भट्ट के अन्तिम कथन का अभिप्राय ज्ञात होता है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

वैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानमुपालम्भः प्रतिषेध इति। उदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुरित्यस्योदाहरणवैधर्म्येण प्रत्यवस्थानम्। उदाहरणवैधर्म्यात् साध्यसाधने हेतुरित्यस्योदाहरणसाधर्म्येण प्रत्यवस्थानं प्रत्यनीकभावात्। जायमानोऽर्थो जातिरिति।

अनुवाद – हेतु का प्रयोग होने पर जो प्रसंग उत्पन्न होता है वही है जाति। पहले वादी द्वारा किसी साध्य के साधन हेतु किसी हेतु या हेत्वाभास का प्रयोग करने पर पश्चात् प्रतिवादी का जो प्रसंग उत्पन्न होता है, उसको ''जाति'' नामक (पन्द्रहवाँ) पदार्थ कहा जाता है। वह प्रसंग किन्तु साधर्म्य या वैधर्म्य से प्रत्यवस्थान अर्थात् उपालम्भ या प्रतिषेध होता है। उदाहरण के साधर्म्य के आधार पर प्रयुक्त जो साध्य का साधन रूप हेतु इसके उक्तरूप हेतुलक्षण से युक्त साधर्म्य हेतु के सम्बन्ध में उदाहरण के वैधर्म्य के आधार पर खण्डन होता है। उदाहरण के वैधर्म्य के आधार पर प्रयुक्त जो साध्य का साधनरूप हेतु इसके उक्त रूप हेतुलक्षण से युक्त वैधर्म्य हेतु के सम्बन्ध में उदाहरण के साधर्म्य प्रयुक्त प्रत्यवस्थान (खण्डन) होता है। क्योंकि प्रत्यनीक भाव है अर्थात् इस प्रतिषेध में वादी के मत का प्रत्यनीकत्व या प्रतिकूलत्व होने से इसको प्रत्यवस्थान कहा जाता है। जायमान पदार्थ होता है जाति। अर्थात् इस प्रकार प्रतिकूल भाव से प्रतिवादी का प्रतिषेध उत्पन्न होता है – इस व्युत्पत्ति के अनुसार उसका नाम है जाति।

टिप्पणी – छल पदार्थ के लक्षण के पश्चात् क्रमप्राप्त जाति पदार्थ का लक्षण कहना है। इस सूत्र के द्वारा महर्षि ने वही कहा है। यद्यपि पहले के प्रकरण में महर्षि ने प्रसंगवश छल की परीक्षा भी की है तथापि छल का सामान्यलक्षण और विशेषलक्षण ही महर्षि का पूर्वप्रकरण में प्रतिपाद्य रहा है। इसलिए भाष्यकार ने इस सूत्र की अवतारणा में कहा है – ''छललक्षणादूर्ध्वम्''। अर्थात् छल पदार्थ के लक्षण के बाद जाति क्या है – इस प्रकार शिष्य की जिज्ञासा के अनुसार महर्षि ने कहा है – ''साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः''। भाष्यकार ने – ''जायमानोऽर्थो जातिरिति'' इस वाक्य के द्वारा इस जाति शब्द की व्युत्पत्ति प्रदर्शित की है। जायते इस व्युत्पत्ति के अनुसार जन धातु से कर्तृवाच्य (क्तिच् प्रत्यय) करने पर जाति शब्द सिद्ध होता है। इससे ज्ञात होता है कि जो जन्म लेता है वह जाति पदार्थ है। किन्तु यह जाति शब्द की केवल व्युत्पत्ति है। वस्तुतः यह जाति शब्द पारिभाषिक है। जल्प और वितण्डा में समय विशेष में पराजय के भय से प्रतिवादी का जो असत् उत्तरविशेष जन्म लेता है उसका ही नाम है ''जाति''। यह प्रतिवादी का प्रत्यवस्थान कहलाता है। ''प्रतीपम् अवस्थानम् प्रत्यवस्थानम्'' इस व्युत्पत्ति के अनुसार वादी के प्रतिकूल भाव में प्रतिवादी की अवस्था ही प्रत्यवस्थान शब्द

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

का अर्थ होता है। भाष्यकार ने इसका फलितार्थ कहा है – ''उपालम्भः प्रतिषेधः''। वादी को पराजित करने के उद्देश्य से प्रतिवादी जो उपालम्भ या प्रतिषेध करता है वही सूत्रगत प्रत्यवस्थान शब्द का अर्थ होता है। ''प्रत्यवस्थानं जातिः'' केवल इतना ही सूत्र कहने से उपर्युक्त छल तथा सभी सम्यक् प्रतिषेध या सदुत्तर जाति कहलाने लगेंगे। अतः महर्षि ने सूत्र में पहले ही कहा है – ''साधर्म्यवैधर्म्याभ्याम्''। छल आदि अन्य कोई भी प्रतिषेध केवल साधर्म्य या केवल वैधर्म्य से नहीं होता।

वस्तुतः महर्षि ने इस सूत्र से जाति पदार्थ के केवल स्वरूप की सूचना दी है। इससे सभी प्रकार की जातियों का एक सामान्यलक्षण अभिव्यक्त नहीं होता। अतः व्याख्या से वह ज्ञातव्य है। जयन्त भट्ट ने यहाँ महर्षि के तात्पर्य की व्याख्या में कहा है – ''दिक्प्रदर्शनस्य सूचनात्''। वृत्तिकार विश्वनाथ ने महर्षि के तात्पर्य की व्याख्या में पश्चात् कहा है – ''तेन च सन्दर्भेण दूषणासमर्थत्वम् स्वव्याघातकत्वं वा दर्शितम्। तथा च छलादिभिन्नदूषणासमर्थमुत्तरं स्वव्याघातकमुत्तरं वा जातिरिति सूचितम्''। वस्तुतः प्रत्येक जाति स्वव्याघातक उत्तर होती है। क्योंकि प्रतिवादी यदि किसी जात्युत्तर का व्यवहार करता है तो समान रूप से जात्युत्तर के द्वारा ही वह व्याहत होता है। अतएव इस रूप में प्रत्येक जात्युत्तर अपना व्याघातक होने से दुष्ट उत्तर या असद् उत्तर रूप में स्वीकार्य है। प्रत्येक जाति का साधारण रूप से दुष्टत्व होने का मूल होता है – ''स्वव्याघातकत्व। प्रबोधसिद्धि वा न्यायपरिशिष्ट (पृ. ६-७) में उदयनाचार्य ने कहा है – ''तथा च स्वात्मव्याघातकत्वं नाम सर्वसाधारणं दुष्टत्वं मूलमस्य सूचितं भवति''। उदयनाचार्य ने इस ग्रन्थ के उपसंहार में – ''लक्ष्यं लक्षणमुत्थितिः स्थितिपदं मूलं फलं पा (शा) तनम्'' इत्यादि श्लोक से सभी जातियों को सप्तांग कहा है। अर्थात् प्रत्येक जाति के सात अंग लक्ष्य तथा लक्षण आदि होते हैं। इनमें मूल का अर्थ होता है दुष्टत्व का मूल। इन सभी कथन की तात्पर्य व्याख्या पञ्चमखण्ड के जातिनिरूपण में द्रष्टव्य है। सारांश यह हुआ कि उदयनाचार्य की व्याख्या के अनुसार अपने मत का व्याघातक उत्तरत्व ही जाति का सामान्यलक्षण होता है।

भाष्यकार ने इस सूत्र की व्याख्या में पहले ही कहा है – ''प्रयुक्ते हि हेतौ'' इत्यादि। तात्पर्य यह है कि जल्प और वितण्डा में वादी पहले अपना पक्षस्थापन करने के लिए किसी हेतु अथवा हेत्वाभास का प्रयोग करता है – इससे जो प्रतिवादी का प्रसंग उत्पन्न होता है वही जाति है। प्रसंग से यहाँ साम्य का प्रसञ्जन या आपादन अभिप्रेत है। यही है इस सूत्र में उक्त साधर्म्य और वैधर्म्य से प्रत्यवस्थान। भाष्यकार ने आगे इसकी व्याख्या की है – ''स च प्रसंगः'' इत्यादि। भाष्यकार ने आगे इसकी व्याख्या

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

में कहा है उदाहरण के साधर्म्य के आधार पर प्रयोग किए गए साध्य के साधन रूप हेतु के सम्बन्ध में अर्थात् साधर्म्य हेतु का प्रयोग होने पर उदाहरण के वैधर्म्य के द्वारा प्रत्यवस्थान होता है। और उदाहरण के वैधर्म्य के आधार पर प्रयोग किए गए साध्य के साधन रूप हेतु के सम्बन्ध में अर्थात् वैधर्म्य हेतु के प्रयोग होने पर साधर्म्य के द्वारा प्रत्यवस्थान होता है। प्रत्यनीकभाव अर्थात् प्रतिकूलभाव प्रयुक्त उसको प्रत्यवस्थान कहते हैं। भाष्यकार ने आगे पञ्चम अध्याय के द्वितीय सूत्र के भाष्य में इस प्रत्यवस्थान का उदाहरण दिखाया है। अन्य प्रकार की जाति के उदाहरण भी पञ्चम अध्याय के प्रथम आह्निक के भाष्य में प्रदर्शित हुए हैं। किन्तु सर्वत्र वादी के द्वारा उक्त दृष्टान्त पदार्थ के साधर्म्य या वैधर्म्य से प्रतिवादी का प्रत्यवस्थान (खण्डन) ही जाति नहीं होती। इसलिए महर्षि ने जाति के (इस) लक्षणसूत्र में दृष्टान्त का बोधक उदाहरण शब्द का प्रयोग न करके साधर्म्य और वैधर्म्य शब्द का प्रयोग किया है। यहाँ यह समझना आवश्यक है कि भाष्यकार ने सूत्रार्थ की व्याख्या में ''उदाहरणसाधर्म्यात्'' आदि सन्दर्भ नहीं कहा है। किन्तु प्रत्यवस्थान रूप जाति के उदाहरणविशेष को समझाने के लिए उक्त सन्दर्भ में कहा है। उद्योतकर ने भी इसी को व्यक्त करने के लिए कहा है – ''सूत्रार्थस्तु यथाश्रुति, न पुनरुदाहरणसाधर्म्येण, उदाहरणवैधर्म्येण वेति। भाष्ये उदाहरणसाधर्म्यमुदाहरण-वैधर्म्यञ्चोदाहरणार्थमिति। यथा चोदाहरणेन एवमनुदाहरणेनापि''। (१.२.१८)

सूत्र – विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम्।१.२.१९।

अनुवाद – विप्रतिपत्ति अर्थात् विपरीत ज्ञान और कुत्सितज्ञान, अप्रतिपत्ति अर्थात् अज्ञता-विशेष निग्रहस्थान नामक पदार्थ कहलाता है। अर्थात् जिससे वादी या प्रतिवादी का विप्रतिपत्ति या अप्रतिपत्ति ज्ञात हो वह निग्रहस्थान नामक पदार्थ है।

भाष्य – **विपरीता वा कुत्सिता वा प्रतिपत्तिर्विप्रतिपत्तिः। विप्रतिपद्यमानः पराजयं प्राप्नोति। निग्रहस्थानं खलु पराजयप्राप्तिः। अप्रतिपत्तिस्त्वारम्भविषयेऽनारंभः। परेण स्थापितं वा न प्रतिषेधति, प्रतिषेधं वा नोद्धरति। असमासाच्च नैते एव निग्रहस्थाने इति।**

अनुवाद – विपरीत प्रतिपत्ति (ज्ञान) और कुत्सित प्रतिपत्ति भी विप्रतिपत्ति कहलाता है। विप्रतिपत्ति विशिष्ट व्यक्ति (वादी या प्रतिवादी) पराजय की प्राप्ति करता है। पराजय की प्राप्ति ही निग्रहस्थान है अर्थात् वादी या प्रतिवादी जिससे पराजय की प्राप्ति करता है। अप्रतिपत्ति किन्तु आरम्भ के विषय में अनारम्भ – अपने कर्तव्य का अकरण – कहलाता है। अन्य द्वारा स्थापित पक्ष का प्रतिषेध नहीं करता अथवा अपने पक्ष में आए हुए प्रतिषेध का उद्धार नहीं करता। (जिस प्रकार से अपनी अज्ञानता के कारण वादी या

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

प्रतिवादी अपने कर्त्तव्य में समर्थ न होकर पराजय प्राप्त करते हैं। यही अज्ञानता सूत्रगत अप्रतिपत्ति पद का अर्थ होता है) असमास के कारण अर्थात् सूत्र में महर्षि ने ''विप्रतिपत्त्यप्रतिपत्ती'' इस प्रकार कहकर समास का प्रयोग न करके सूचित किया है कि ये ही दोनों निग्रहस्थान नहीं हैं।

टिप्पणी – प्रथमसूत्र में उद्दिष्ट सोलह पदार्थों में अन्तिम में उक्त पदार्थ का नाम है निग्रहस्थान। महर्षि ने इस सूत्र के द्वारा इस निग्रहस्थान नामक चरम पदार्थ का लक्षण सूचित किया है। पूर्वसूत्र की तरह इस सूत्र की व्याख्या से निग्रहस्थान का सामान्य लक्षण ज्ञात होता है। भाष्यकार ने इस सूत्र की व्याख्या में पहले सूत्रोक्त विप्रतिपत्ति शब्द का अर्थ कहा है – विपरीत ज्ञान और कुत्सित ज्ञान। वाचस्पति मिश्र ने व्याख्या की है – ''सूक्ष्मविषया प्रतिपत्तिः विपरीता, स्थूलविषया च कुत्सिता''। भाष्यकार ने सूक्ष्म विषय में विपरीत निश्चय रूप भ्रम को विपरीत प्रतिपत्ति कहा है और स्थूल विषय में विपरीत निश्चय रूप भ्रम को कुत्सित प्रतिपत्ति कहा है – उक्त दोनों ही प्रकार की विप्रतिपत्ति सूत्रोक्त विप्रतिपत्ति पद से ली गई है। किन्तु यह निग्रहस्थान कैसे होगा? इसके समाधानार्थ भाष्यकार ने कहा है – ''विप्रतिपद्यमानः पराजयं प्राप्नोति''। तात्पर्य यह है कि जल्प और वितण्डा में वादी तथा प्रतिवादी के पराजय रूप निग्रह के कारण को निग्रहस्थान कहा जाता है[२०८]। वादी तथा प्रतिवादी की विप्रतिपत्ति के कारण जैसे प्रतिज्ञाहानि आदि अनेक निग्रहस्थान होते हैं उसी प्रकार अप्रतिपत्ति के कारण भी अनेक निग्रहस्थान होते हैं। अप्रतिपत्ति का अर्थ होता है प्रकृतविषयक प्रतिपत्ति (ज्ञानविशेष) का अभाव। अप्रतिपत्ति के कारण वादी और प्रतिवादी पर पक्ष के द्वारा स्थापित पक्ष के खण्डन करने में तथा प्रतिवादी द्वारा कथित दोष के उद्धार करने में समर्थ नहीं होने से पराजय को प्राप्त करता है। अतः भाष्यकार ने सूत्रगत अप्रतिपत्ति पद का फलितार्थ कहा है – आरम्भ के विषय में अनारम्भ अर्थात् वादी या प्रतिवादी के अपने कर्त्तव्य का नहीं करना।

---

[२०८] न्यायमञ्जरीकार जयन्त भट्ट ने इसकी विशद व्याख्या की है – ''निग्रहः पराजयः, तस्य स्थानमाश्रयः कारणमित्यर्थः। किञ्च पराजयनिमित्तम्? विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च। विपरीता कुत्सिता विगर्हणीया प्रतिपत्तिर्विप्रतिपत्तिः, साधनाभासे साधनबुद्धिः दूषणाभासे दूषणबुद्धिः। अप्रतिपत्तिस्त्वारम्भविषयेऽनारम्भः आरम्भस्य विषयः, साधने दूषणं, दूषणे चोद्धारः तयोरकरणमप्रतिपत्तिः। द्विधा हि वादी पराजीयते यथाकर्त्तव्यमनारंभमाणो विपरीतं वा प्रतिपद्यमानः'' प्रबोधसिद्धि (पृ.१९) में उदयनाचार्य ने निग्रह की व्याख्या में कहा है – ''कथायामखण्डिताहंकारेण परस्याहङ्कारखण्डनमिह पराजयो निग्रहः''।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

फलितार्थ यह हुआ कि प्रतिवादी की जिस प्रकार की विप्रतिपत्ति या अप्रतिपत्ति पराजय लाभ का मूल कारण होता है – वह भी इस सूत्र में गृहीत होता है। जिस स्थल में जो पराजय लाभ का मूल कारण नहीं है वहाँ वह निग्रहस्थान नहीं होता[२०९]। भाष्यकार ने इसको स्पष्ट करते हुए कहा है – ''निग्रहस्थाने खलु पराजयप्राप्तिः''। वस्तुतः भाष्यकार का तात्पर्य है कि पराजय लाभ ही निग्रहस्थान नहीं है किन्तु वह निग्रहस्थान का अन्तिम फल है। भाष्यकार ने उपसंहार में कहा है – ''असमासाच्च'' इत्यादि। वाचस्पति मिश्र ने तात्पर्य की व्याख्या करते हुए कहा है कि महर्षि ने ''विप्रतिपत्त्यप्रतिपत्ती'' रूप स्वल्पाक्षर समास पद का प्रयोग न करके ''विप्रतिपत्तिर-प्रतिपत्तिश्च'' इस प्रकार समासरहित पद का प्रयोग करके सूचित किया है कि केवल विप्रतिपत्ति तथा अप्रतिपत्ति ही निग्रहस्थान नहीं है, अन्य प्रकार के निग्रहस्थान भी कहे गए हैं। यथा पुनरुक्त तथा अधिक नामक निग्रहस्थान। किन्तु यह भी अवधेय है कि पश्चाद्वर्ती सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्ति रूप दो ही प्रकार के निग्रहस्थान कहे हैं। जयन्त भट्ट ने पुनरुक्त तथा अधिक निग्रहस्थानों को विप्रतिपत्ति निग्रहस्थान में ही परिगणित किया है। क्योंकि वे विप्रतिपत्तिमूलक होते हैं। वस्तुस्थिति यह है कि वादी और प्रतिवादी के आत्मगत विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्ति ही निग्रहस्थान पदार्थ नहीं हैं क्योंकि उसका उद्भावन नहीं किया जा सकता। किन्तु उस विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्ति का अनुमापक प्रतिज्ञाहानि आदि निग्रहस्थान पदार्थ होते हैं। महर्षि ने इस सूत्र में समस्त पद का प्रयोग न करके यही सूचित किया है – सूत्रकार का इस प्रकार का अभिप्राय ही ज्ञात होता है। वृत्तिकार विश्वनाथ ने महर्षि के तात्पर्य की व्याख्या करते हुए यहाँ कहा है – ''विप्रतिपत्त्यप्रतिपत्त्यन्यतरोन्नायकधर्मवत्त्वं तदर्थः'' यही सभी निग्रहस्थानों का सामान्य लक्षण होता है। (१.२.१९)

---

[२०९] यहाँ यह कहना आवश्यक है कि वादकथा में पराजयरूप निग्रह सम्भव नहीं है। अतः जल्प और वितण्डा में निग्रहस्थान की यह व्याख्या समझनी चाहिए। किन्तु वादकथा में जो निग्रह होता है उसका प्राचीन नाम है खलीकार। न्यायदर्शन के प्रथम सूत्र के वार्त्तिक (पृ.२०) में उद्योतकर ने कहा है – ''कः पुनः शिष्याचार्ययोः निग्रहः? विवक्षितार्थाप्रतिपादकत्वम्''। वादकथा में तत्काल गुरु और शिष्य का विवक्षित पदार्थ के प्रतिपादन में अक्षमता ही निग्रह है। वाचस्पति मिश्र ने इसको ''खलीकार'' कहा है। उद्योतकर ने भी (५.२.१७) वार्त्तिक में खलीकार पद का प्रयोग किया है। विश्वनाथ ने अपनी सूत्रवृत्ति में कहा है – ''निग्रहस्य खलीकारस्य स्थानं तच्च विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च''। किन्तु यह भी ज्ञातव्य है कि खलीकार नामक किसी निग्रहस्थान का उल्लेख नहीं है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

भाष्य – किं पुनर्दृष्टान्तवज्जातिनिग्रहस्थानयोरभेदोऽथ सिद्धान्तवद्भेद इत्यत आह –

सूत्र – तद् विकल्पाज्जातिनिग्रहस्थानबहुत्वम् ।१.२.२०।

अनुवाद – (प्रश्न) क्या दृष्टान्त पदार्थ की तरह जाति और निग्रहस्थान में अभेद (अभिन्नता) है या सिद्धान्त पदार्थ की तरह भेद (भिन्नता) है। इसके उत्तर में सूत्र कहा गया है।

यह साधर्म्य या वैधर्म्य प्रयुक्त प्रत्यवस्थान (खण्डन) का विकल्प (विविध प्रकार) एवं विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्ति के विकल्प से जाति तथा निग्रहस्थान का बहुत्व सिद्ध होता है अर्थात् जाति भी अनेक प्रकार की होती है और निग्रहस्थान के भी बहुत प्रकार होते हैं।

भाष्य – तस्य साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानस्य विकल्पात् जातिबहुत्वम्, तयोश्च विप्रतिपत्त्यप्रतिपत्त्योर्विकल्पान्निग्रहस्थानबहुत्वम्। नानाकल्पो विकल्पः विविधो वा कल्पः विकल्पः। तत्राननुभाषणमज्ञानमप्रतिभा विक्षेपो मतानुज्ञा पर्यनुयोज्योपेक्षणमित्यप्रतिपत्तिर्निग्रहस्थानम् शेषस्तु विप्रतिपत्तिरिति।

इमे प्रमाणादयः पदार्था उद्दिष्टा यथोद्देशं लक्षिता यथालक्षणं परीक्षिष्यन्त इति त्रिविधास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिर्वेदितव्येति।

अनुवाद – उसके अर्थात् उपर्युक्त साधर्म्य और वैधर्म्य के द्वारा प्रत्यवस्थान (प्रतिषेध) के विकल्प के कारण जातिपदार्थ का बहुत्व सिद्ध होता है। उनके अर्थात् विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्ति के विकल्प के कारण निग्रहस्थानपदार्थ का बहुत्व उपपन्न होता है। नानाकल्प अथवा विविधकल्प विकल्प कहलाता है।

इनमें अर्थात् वक्ष्यमाण बाइस प्रकार के निग्रहस्थानों में (१) अननुभाषण, (२) अज्ञान, (३) अप्रतिभा, (४) विक्षेप, (५) मतानुज्ञा, और (६) पर्यनुयोज्योपेक्षण ये छह प्रकार के निग्रहस्थान अप्रतिपत्तिमूलक निग्रहस्थान होते हैं। अवशिष्ट प्रतिज्ञा आदि सोलह प्रकारों के निग्रहस्थान विप्रतिपत्ति (मूलक) निग्रहस्थान होते हैं।

इस प्रकार ये सभी प्रमाण आदि सोलह पदार्थ उद्दिष्ट होकर उद्देश्य के अनुसार लक्षित हुए हैं। अब लक्षण के अनुसार परीक्षित होंगे। इस प्रकार इस शास्त्र की तीन प्रकार की प्रवृत्ति (उद्देश्य, लक्षण और परीक्षा) ज्ञात होती है।

(वात्स्यायनप्रणीत न्यायभाष्य का प्रथम अध्याय समाप्त हुआ।)

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

टिप्पणी – प्रश्न आता है कि महर्षि ने अपने प्रथम सूत्र में उद्दिष्ट निग्रहस्थानपर्यन्त सोलह पदार्थों का लक्षण कहने के बाद पुनः इस अन्तिम सूत्र को क्यों कहा है। अतः भाष्यकार ने इस सूत्र के अवतरण में पहले कहा है कि जाति और निग्रहस्थान पदार्थ क्या दृष्टान्त पदार्थ की तरह अभिन्न हैं[२१०] अथवा सिद्धान्त पदार्थ की तरह भिन्न। शिष्यगण की इस प्रकार की जिज्ञासा की निवृत्ति हेतु महर्षि ने यह सूत्र कहा है। महर्षि ने कहा है कि जाति और निग्रहस्थान का बहुत्व अर्थात् भिन्नता है। इसका कारण पहले ही कहा है – "तद्विकल्पात्"। "तस्य (साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानस्य) विकल्पात् एवं तयोः (विप्रतिपत्त्यप्रतिपत्त्योः) विकल्पात्" इस प्रकार की व्याख्या से ज्ञात होता है कि उक्त जाति लक्षणसूत्र के प्रत्यवस्थान पद के एवं विप्रतिपत्ति एवं अप्रतिपत्ति का विकल्प रहने से जाति और निग्रहस्थान का बहुत्व सिद्ध होता है। भाष्यकार ने सूत्रोक्त विकल्प पद का अर्थ किया है – नानाकल्प और विविधकल्प। वाचस्पति मिश्र ने कहा है – "नानाकल्प इति स्वरूपतः विविध इति प्रकारतः"। अर्थात् साधर्म्य और वैधर्म्य से जो प्रत्यवस्थान होता है, और वादी तथा प्रतिवादी की जो विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्ति होती है उसका स्वरूपगत भेद मानकर भाष्यकार ने कहा है – नानाकल्प एवं प्रकारगत भेद मानकर कहा है – विविधकल्प। अतः भाष्य में इस स्थल का वा शब्द समुच्चयार्थक होता है। भाष्यकार ने यहाँ आगे वक्ष्यमाण महर्षि के प्रतिज्ञाहानि आदि बाइस प्रकार के निग्रहस्थानों में अननुभाषण आदि छह प्रकारों के निग्रहस्थान को अप्रतिपत्ति निग्रहस्थान और अवशिष्ट सोलह प्रकार के निग्रहस्थानों को विप्रतिपत्ति निग्रहस्थान कहा है। क्योंकि अननुभाषण आदि छह प्रकारों के निग्रहस्थान वादी एवं प्रतिवादी की अप्रतिपत्तिमूलक होते हैं और अवशिष्ट निग्रहस्थान विप्रतिपत्तिमूलक। आगे पञ्चम अध्याय के द्वितीय आह्निक में बाइस प्रकार के निग्रहस्थानों की व्याख्या में भाष्यकार ने इसे स्पष्टतः अभिव्यक्त किया है। किन्तु इस विषय में बौद्धनैयायिकवृन्द के प्रतिवाद का उल्लेख नहीं करने से ज्ञात होता है कि यह चिन्तन बौद्धनैयायिक का पूर्ववर्ती है। बाद में वसुबन्धु आदि बौद्ध नैयायिकों ने गौतम के अनेक जाति और अनेक निग्रहस्थानों को अस्वीकार कर गौतम मत का प्रतिवाद किया। इसके बाद भारद्वाज उद्योतकर ने न्यायवार्त्तिक में विचारपूर्वक इसका खण्डन किया है। इस विषय में उद्योतकर का कथन एवं उनके परवर्ती धर्मकीर्ति के प्रतिवाद में जयन्त भट्ट का कथन पश्चात् कहे जाएंगे। किन्तु बुद्धिमान् धर्मकीर्ति के सभी

[२१०] यद्यपि साधर्म्य दृष्टान्त और वैधर्म्य दृष्टान्त के भेद से दृष्टान्त पदार्थ का प्रकारभेद है तथापि महर्षि ने पहले एक ही सूत्र से दृष्टान्त पदार्थ का एक लक्षण किया है और उस लक्षण के अभेद को लेकर भाष्यकार ने यहाँ दृष्टान्त पदार्थ की तरह अभेद कहा है। वाचस्पति मिश्र ने भी यहाँ इस आशंका के उत्तर में कहा है – "तथापि लक्षणाभेदाभिप्रायेणाभेद उक्तः"। (तात्पर्यटीका)।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

कथन समझने के लिए उनके वादन्याय ग्रन्थ का सम्यक् अध्ययन करना आवश्यक है। इन्होंने इस ग्रन्थ के आरम्भ में संक्षेप में अपना मत व्यक्त करते हुए कहा है –

असाधनाङ्गवचनमदोषोद्भावनं द्वयोः।
निग्रहस्थानमन्यत्तु न युक्तमिति नेष्यते ॥[२११]

भाष्यकार ने उपसंहार में कहा है कि इस प्रथम अध्याय में प्रमाण से लेकर निग्रहस्थान-पर्यन्त सोलह पदार्थों के उद्देश तथा उद्देश क्रम के अनुसार लक्षण कहे गए हैं। आगे द्वितीय अध्याय से इन पदार्थों की लक्षणानुसार परीक्षा होगी। अतएव इस न्यायशास्त्र की उद्देश, लक्षण और परीक्षा रूप तीन प्रकार की प्रवृत्ति ज्ञात होती है। भाष्यकार ने पहले ही (सूत्र १.१.३ के भाष्य में) यह बात कही है और इन उद्देश, लक्षण और परीक्षा की व्याख्या भी की है। यहाँ भाष्यकार के इस उपसंहार वचन से स्पष्ट होता है कि परीक्षा ही इस शास्त्र की चरम (अन्तिम) प्रवृत्ति या व्यापार है। क्योंकि परीक्षा के बिना केवल उद्देश और लक्षण से पदार्थ का तत्त्वज्ञान संपन्न नहीं होता है। इस विषय में शिष्यों की बलवती जिज्ञासा देखकर महर्षि ने तदनुसार इसके आगे द्वितीय से चतुर्थ अध्याय तक अनेक पदार्थों की परीक्षा की है। इन्होंने जाति और निग्रहस्थान का सामान्य लक्षण

२११ ''असाधनाङ्गवचनमदोषोद्भावनञ्च द्वयोर्वादिप्रतिवादिनोर्यथाक्रमं निग्रहस्थानं पराजयाधिकरणम्। अन्यत्तु एतद् व्यतिरिक्तमक्षपादपरिकल्पितं प्रतिज्ञासंन्यासादिकं वक्ष्यमाणं निग्रहस्थानं न युक्तमिति कृत्वा नेष्यते'' (शान्तरक्षितकृत टीका)। न्यायमञ्जरी (पृ.६३९) में जयन्त भट्ट ने धर्मकीर्ति की इस कारिका का उल्लेख करके पहले उनके मत में असाधनाङ्ग का वचन एवं अदोष का दोष रूप में उद्भावन निग्रहस्थान – इस प्रकार व्याख्या की है। किन्तु धर्मकीर्ति ने स्वयं व्याख्या की है – ''इष्टार्थस्य सिद्धिः साधनं तस्य निर्वर्तकमङ्गं तस्य अवचनं तस्य अङ्गस्य अनुच्चारणं वादिनोर्निग्रहाधिकरणम् त्रिविधमेव हि लिंगमप्रत्यक्षस्य सिद्धेरङ्गं स्वभावः कार्यमनुपलम्भश्च'' । प्रतीत होता है कि जयन्त भट्ट ने धर्मकीर्ति के वादन्याय का सम्पूर्ण रूप से अध्ययन नहीं किया था। बहुविज्ञ उदयनाचार्य ने भी न्यायपरिशिष्ट में धर्मकीर्ति के किसी-किसी कथन का प्रतिवाद करके भी पश्चात् गौतम के उक्त सभी निग्रहस्थान की व्याख्या करते समय धर्मकीर्ति की उक्त कारिका का उल्लेख किया है। किन्तु न्याय मत के खण्डन का प्रतिवाद क्यों नहीं किया – यह विचारणीय है। पञ्चम खण्ड, बंग संस्करण (पृ. ४१३) में इस कारिका का उल्लेख करके सन्देहपूर्वक धर्मकीर्ति के प्रमाणविनिश्चय का उल्लेख मैंने किया है। पश्चात् राहुल सांकृत्यायन द्वारा प्रकाशित व्याख्यासहित वादन्याय में इस कारिका को देखा। इसके प्रथम भाग में ''निग्रहस्थान लक्षण और अपरभाग में न्याय मत के खण्डन देखे जाते हैं''। जयन्त भट्ट द्वारा इसका खण्डन एवं न्यायमत का संस्थापन पञ्चम खण्ड के उपसंहार में निग्रहस्थान की व्याख्या में द्रष्टव्य है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

कहकर भी आगे उनका विभाग और विशेष लक्षण नहीं कहा है। क्योंकि इनके कहने से प्रमाण आदि पदार्थ की परीक्षा में बहुत विलम्ब हो जाता। अतः इन्होंने पश्चात् अन्तिम (पञ्चम) अध्याय में जाति और निग्रहस्थान का विशेष निरूपण करके ग्रन्थ की समाप्ति की है।

यह मन्तव्य सर्वथा अज्ञानमूलक है कि चतुर्थ अध्याय के पश्चात् जाति और निग्रहस्थान के विशेष निरूपण में कोई संगति नहीं है। अतएव न्याय सूत्रकार ने वह नहीं दिखायी है। क्योंकि अवसर भी संगतिविशेष होता है (१.१.५. सूत्र के पाद टिप्पणी द्रष्टव्य)। महानैयायिक उदयनाचार्य ने न्याय दर्शन के पञ्चम अध्याय की व्याख्या में प्रबोधसिद्धि या न्यायपरिशिष्ट के आरम्भ में कहा है – ''अथावसरतः कथकाशक्तिलिङ्ग विशेषलक्षणम्''[२१२] अर्थात् इसके आगे अवसर संगति के अनुसार पञ्चम अध्याय में महर्षि ने कथक गण की (जल्प तथा वितण्डा कथा करने वाले वादी तथा प्रतिवादी की) अशक्ति के सभी लिंग वा अनुमापक जाति और निग्रहस्थान का विशेष लक्षण कहा है। प्रकाशव्याख्याकार वर्धमान उपाध्याय ने यहाँ व्याख्या की है – ''कथाकारणसम्यग् ज्ञानाभावोऽशक्तिः, तल्लिङ्गानि जातिनिग्रहस्थानानि तेषां विशेषलक्षणम्''। वस्तुतः उचित उत्तर कहने में असामर्थ्य के कारण वादी या प्रतिवादी जाति नामक किसी असत् उत्तर का प्रयोग करते हैं और निग्रहस्थान के द्वारा उसका असामर्थ्य ज्ञात होता है। अतः पञ्चम अध्याय में कथित साधर्म्य आदि चौबीस प्रकार की जाति एवं प्रतिज्ञाहानि आदि बाइस प्रकार के निग्रहस्थान कथा (जल्प एवं वितण्डा) करने वाले पुरुष की असामर्थ्य का लिंग या अनुमापक होते हैं। महर्षि ने इस अध्याय के अन्तिम प्रकरण में इस जाति एवं निग्रहस्थान के रूप दोष के केवल सामान्य लक्षण की सूचना दी है। अतः उपर्युक्त तात्पर्य के अनुसार इस प्रकरण का नाम – ''पुरुषाशक्तिलिङ्गदोषसामान्यलक्षणप्रकरण'' कहा गया है।

महर्षि ने इस अध्याय के प्रथम और द्वितीय सूत्र से न्याय शास्त्र का अभिधेय, प्रयोजन तथा इन दोनों के सम्बन्ध की अभिव्यक्ति – १. अभिधेय प्रयोजन सम्बन्ध

---

[२१२] यहाँ वर्धमान उपाध्याय ने प्रकाश व्याख्या में अवसर संगति की व्याख्या करते हुए बहुत विचार किया है और अन्त में कहा है – ''अथवा अवश्यवक्तव्यानां विशेषलक्षणानां सामान्यलक्षणानन्तरमभिधाने प्राप्ते 'तद् विकल्पाज्जतिनिग्रहस्थानबहुत्व' मिति सूत्रेण बहुत्वं कीर्तयतः सूत्रकारस्य अन्तरङ्गप्रमाणादिपरीक्षासमाप्त्यत्यन्तसमय एवावसरः, तज्ज्ञानाद् विशेषलक्षणजिज्ञासया तदभिधानम्। वक्तव्यान्तरसमाप्तौ सत्यामवश्य वक्तव्यतैवावसरः। तज्ज्ञानाद् विशेषलक्षणानि''। अवसर संगति की अन्य रूप से व्याख्या के लिए पहले सूत्र (पृ. २०५, सूत्र १.१.५) द्रष्टव्य है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

प्रकरण नाम से उक्त है। छह सूत्रों में प्रमाण पदार्थ का विभाग और लक्षण कहा गया है – उसका नाम है २. प्रमाण लक्षण प्रकरण। चौदह सूत्रों में प्रमेय पदार्थ का विभाग और लक्षण उक्त है वह ३. प्रमेय लक्षण प्रकरण कहलाता है। तीन न्याय सूत्रों में यथाक्रम न्याय के ४. पूर्वाङ्ग का लक्षण प्रकरण – संशय प्रयोजन और दृष्टान्त पदार्थों का लक्षण उक्त है। पश्चात् छह सूत्रों से सिद्धान्त पदार्थ का सामान्यलक्षण, विभाग तथा विशेषलक्षण कहे गए हैं। इसका नाम ५. न्यायाश्रय सिद्धान्तलक्षण प्रकरण है। आठ सूत्रों में प्रतिज्ञा आदि पञ्चावयव रूप न्याय का निरूपण हुआ है – उसका नाम ६. न्याय प्रकरण है। पुनः दो सूत्रों में न्याय का उत्तरांग-यथाक्रम तर्क और निर्णय पदार्थों के लक्षण कहे गए हैं – इसका नाम ७. न्यायोत्तरांगलक्षण प्रकरण है। इस प्रकार सात प्रकरणों में इकतालीस सूत्रों में प्रथम आह्निक समाप्त हुआ है।

द्वितीय आह्निक के प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय सूत्रों में यथाक्रम वाद, जल्प और वितण्डा नामक कथा का लक्षण कथित होने के कारण उसका नाम १. कथालक्षण प्रकरण हुआ। परवर्ती छह सूत्रों में हेत्वाभास के विभागपूर्वकलक्षण उक्त होने से उसका नाम २. हेत्वाभासलक्षण प्रकरण है। आठ सूत्रों में छलपदार्थ का सामान्यलक्षण विभागपूर्वक विशेष लक्षण उक्त है – उसका नाम ३. छललक्षण प्रकरण है। परवर्ती तीन सूत्रों में ४. ''पुरुषाशक्तिलिंगदोषसामान्यलक्षण प्रकरण'' कहा गया है। यह दूसरा आह्निक चार प्रकरणों में और बीस सूत्रों में सम्पन्न हुआ।

दोनों आह्निकों में ग्यारह प्रकरण एवं इकसठ सूत्र हैं।

(न्यायदर्शन का प्रथम अध्याय समाप्त)

◈◈◈

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

परिशिष्ट १

फणिभूषण तर्कवागीशकृत बङ्ला व्याख्यान में वर्णित कतिपय विषयों की संक्षिप्त सूची

प्रथम आह्निक

१. भाष्य के आरम्भ में भाष्यकार के द्वारा उक्त प्रमाण के अर्थतत्व के विषय में वाचस्पति मिश्र एवं उदयनाचार्य का कथन एवं उसकी तात्पर्य व्याख्या। भाष्यकार के हेतु के द्वारा प्रमाण के प्रामाण्य का निश्चय नहीं हो सकता एवं प्रमाण कहने योग्य वास्तव में कोई पदार्थ नहीं है, प्रमाण तथा प्रमेय का व्यवहार काल्पनिक है – इस विषय में संशयवादी तथा सर्वशून्यतावादी के कथन का प्रतिवाद। पश्चात् अनुमान प्रमाण से प्रमा ज्ञान के प्रमात्व के निश्चय और प्रमाण के प्रामाण्य का निश्चय होता है – इस नैयायिक सम्मत "परतः प्रामाण्य वाद" में अनवस्था दोष क्यों नहीं होता है – इसके उत्तर में वाचस्पति मिश्र का विशेष कथन। आगे चलकर (सूत्र १.१.८ की व्याख्या में) इस कथन की पुनः व्याख्या। प्रवृत्ति की सफलता के ज्ञान के पहले भाष्यकार के द्वारा उक्त हेतु से प्रमाण के प्रामाण्य के निश्चय के समर्थन में उद्योतकर आदि का विशेष कथन। भाष्य के आरम्भ में "प्रमाणतः" पद के (तसिप्रत्ययान्त पद के) प्रयोग का कारण कथन। भाष्यकार के प्रवृत्तिसामर्थ्यात् पद में प्रवृत्ति शब्द के अर्थ की व्याख्या में रघूत्तम पण्डित एवं चित्सुखाचार्य के कथन एवं उसका समर्थन। (पृ. ६८-७८)

२. भाष्यकार के उक्त हेय, हान, उपाय और अधिगन्तव्य रूप चतुर्विध अर्थ पद की उद्योतकरकृतव्याख्या और उस व्याख्या का कारण। (पृ. ८८-९०)

३. प्रथमसूत्र में उक्त निःश्रेयस शब्द से यद्यपि वाचस्पति मिश्र ने अदृष्ट निःश्रेयस रूप मुक्ति को ही न्यायशास्त्र का प्रयोजन मानकर व्याख्या की है तथापि सभी प्रकार का अभीष्ट, कल्याण आदि निःश्रेयस शब्द का अर्थ होता है। महाभारत में कल्याण अर्थ में ही निःश्रेयस शब्द का प्रयोग हुआ है। महर्षि ने अपवर्ग शब्द का प्रयोग न करके निःश्रेयस शब्द का प्रयोग करके समझाया है कि किसी भी प्रकार

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

का कल्याण या अभीष्ट न्यायशास्त्र का प्रयोजन होता है। (पृ. ९०)

४. भाष्यकार के कथन से यही ज्ञात होता है। यहाँ वाचस्पति मिश्र ने भाष्यकार के इस प्रकार का तात्पर्य ही कहा है। भाष्यकार के मत में मुक्ति ही न्यायशास्त्र का मुख्य प्रयोजन है, क्योंकि न्यायशास्त्र अध्यात्मविद्या है। इस विषय में भाष्यकार के अन्तिम कथन की तात्पर्य व्याख्या। (पृ. ९०-९५)

५. प्रत्यक्षविरुद्ध "न्यायाभास" का उदाहरण और उसकी व्याख्या। बौद्धाचार्य दिङ्नाग द्वारा प्रदर्शित उदाहरण के खण्डन में उद्योतकर तथा कुमारिल भट्ट के कथन की व्याख्या एवं इनके कथन का समर्थन। (पृ. ९६-९८)

६. आगमविरुद्ध न्यायाभास का उदाहरण और उसकी व्याख्या। मृत मनुष्य के शिरः कपाल की पवित्रता के समर्थन में कापालिक सम्प्रदाय का कथन एवं उसका उत्तर। इनके आचार विशेष शास्त्र विरुद्ध होने से धर्म के विषय में प्रमाण नहीं हो सकते। इनका अनुमान भी बलवत्तर शास्त्रविरुद्ध होने से अप्रमाण होता है – इसके प्रतिपादन में उद्योतकर का विचार तथा इसकी तात्पर्य व्याख्या। (पृ. ९८-९९)

७. ब्राह्मणेन सुरा पेया द्रवत्वात् क्षीरवत् – यह अनुमान भी आगमविरुद्ध न्यायाभास है। क्योंकि ब्राह्मण के लिए सभी प्रकार का सुरापान शास्त्र निषिद्ध है। प्राण संकट होने पर भी ब्राह्मण सुरापान नहीं करेगा – यह बात शारीरकभाष्य में भगवान् शंकराचार्य ने प्रमाण निर्देश करके कही है। (पृ. १००)

८. भाष्यकार ने अनुमान प्रमाण से विरुद्ध और उपमान प्रमाण से विरुद्ध न्यायाभास क्यों नहीं कहा – इस विषय में उद्योतकर का कथन। स्थल विशेष में अनुमान विरुद्ध न्यायाभास भी सम्भव है। इस विषय में वाचस्पति मिश्र की युक्तियाँ और उदाहरण। (पृ. १००-१०१)

९. द्वितीय सूत्र के अवतरण में भाष्यकार के अभिप्रेत पूर्वपक्ष और उत्तर पक्ष की तात्पर्य व्याख्या। इस सूत्र के अन्य प्रयोजनों की व्याख्या में उद्योतकर आदि का वक्तव्य। "तदनन्तरापायात्" पद का एवं अपवर्ग पद का अनेक प्रकार के अर्थ की व्याख्या तथा उसकी समालोचना। तदनन्तरापायात् में पञ्चमी विभक्ति की उपपत्ति के विषय में आलोचना। (पृ. १२४-१२८)

१०. द्वैतवादी महर्षि गौतम के मत में परमात्मा परमेश्वर का तत्त्वसाक्षात्कार मुमुक्षु के स्वकीय आत्मतत्त्वसाक्षात्कार का उत्पादक होकर उक्त रूप मुक्ति का कारण

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

होता है। क्योंकि परमेश्वर के अनुग्रह के बिना किसी भी प्रकार से मुमुक्षु का आत्मतत्त्व साक्षात्कार सम्भव नहीं होने से मुक्ति सम्भव नहीं हो सकती। इस विषय में सर्वदर्शनसंग्रह में गौतम मत की व्याख्या में माधवाचार्य का कथन तथा अन्यान्य बातें। (पृ. १३५-१३६)

११. भाष्यकार के उक्त नास्तिक्य तथा नास्तिक शब्द का अर्थ। पाणिनि-सूत्र के अनुसार परलोक का नास्तित्ववादी ही नास्तिक शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ होता है। किन्तु मनु ने "नास्तिको वेदनिन्दकः" कहा है। इसके अनुसार भाष्यकार ने पहले ही बौद्ध सम्प्रदाय को नास्तिक कहा है। क्योंकि वह परलोक तो मानता है किन्तु वेद का निन्दक है। इस विषय में प्रमाण का कथन। (पृ. १३७-१३८)

१२. भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है – "ऋक्सामयजुरेव च" (गीता); अतएव वेद के कर्मकाण्ड का प्रामाण्य भी इनको सम्मत है। सकल वेद के रक्षक भगवान् श्रीकृष्ण किसी वेद की निन्दा नहीं कर सकते। किन्तु जो वेदोक्त काम्य कर्म में आसक्त कामात्मा है, तथा नान्यदस्तीति वादिनः अर्थात् स्वर्ग से भिन्न अन्य कुछ भी लभ्य नहीं है – यह कहने का तथा काम्यकर्म की निन्दा करने का तात्पर्य निष्काम कर्म एवं ज्ञान की प्रशंसा में है। इस प्रकार के स्थल में मीमांसकगण ने कहा है – एकस्य निन्दा अपरस्य स्तुत्यर्था-कर्ममीमांसक कुमारिल भट्ट के मत में आत्मज्ञान के सुदृढ़ सम्पादन के लिए वेदान्त की चर्चा करनी चाहिए। भगवद्गीता का प्रामाण्य भी उनको सम्मत है। (पृ. १३८)

१३. प्रमाण लक्षण की व्याख्या में प्रमात्व के स्वरूप की व्याख्या। जैन मत में स्मृति भी परोक्ष प्रमाण के रूप में मान्य है। खण्डनखण्डखाद्य की टीका में विद्यासागर के द्वारा नैयायिक के मत में प्रमात्व को जातिविशेष मानकर भी चित्सुखाचार्य द्वारा इसके समर्थन में अनेक प्रकार के विचार करने पर भी उदयनाचार्य आदि नैयायिकवृन्द ने इसका प्रतिवाद किया है। क्योंकि भ्रमज्ञान में भी विशेष्य अंश में प्रमात्व के रहने से आंशिक जाति मान्य नहीं है। (पृ. १४२-१४४)

१४. प्रत्यक्ष प्रमाण की स्वरूप व्याख्या में अनेक प्रकार का कथन। पहले निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के स्वीकार में युक्ति। समवायसम्बन्ध और अभाव पदार्थ का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष सम्भव नहीं होने पर इनका पहले सविकल्पक प्रत्यक्ष ही होता है। इस विषय में उदयनाचार्य का वक्तव्य। किन्तु कुमारिल भट्ट ने समवायसम्बन्ध एवं अभाव पदार्थ का प्रत्यक्ष नहीं माना है। अतः इनके मत में सर्वत्र पहले निर्विकल्पक और पश्चात् सविकल्पक प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है। श्लोकवार्त्तिक में इन द्विविध

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

प्रत्यक्ष का वर्णन हुआ है। (पृ. १४४-१४७)

१५. इन्द्रियार्थसन्निकर्ष की तरह इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य प्रमात्मक ज्ञान भी प्रमाण होता है। इसका फल हानबुद्धि, उपादानबुद्धि तथा उपेक्षाबुद्धि होती है। इन तीनों बुद्धियों के स्वरूप की व्याख्याएं और ये बुद्धियाँ किस प्रकार उत्पन्न होती हैं – इसका वर्णन तथा इस विषय में मतभेद कथन। बौद्धमत में तथा जैन आचार्य प्रभाचन्द्र के मत में ग्राह्य और हेय रूप दो ही प्रकार के विषय होते हैं। अपेक्षणीय को इन्होंने हेय कहा है। इस मत के खण्डन में जयन्त भट्ट की युक्ति। जैन आचार्य हेमचन्द्र ने उपेक्षणीय को माना है, इसका अन्तर्भाव हेय में नहीं किया है। (पृ. १४७-१४८)

१६. जयन्त भट्ट के मत में प्रमा ज्ञान के सभी कारणों की संहति रूपसामग्री ही प्रमाण होती है। क्योंकि उक्तरूप सामग्री ही कार्य का करण होती है। किसी कारण विशेष को इन्होंने करण नहीं माना है। इस मत की व्याख्या, जयन्त भट्ट द्वारा उक्त मतान्तर का वर्णन तथा दोनों मतों की समालोचना। करण के स्वरूप के विषय में नव्यमत एवं प्राचीन मत का विवरण। (पृ. १५२-१५३)

१७. प्राचीन बौद्धमत के अनुसार ''उपायहृदय'' ग्रन्थ में नागार्जुन ने चार प्रकार के प्रमाण को कहा है। पश्चात् वसुबन्धु और दिङ्नाग आदि विज्ञानवादी बौद्ध आचार्यों ने दो प्रमाणों का समर्थन किया है। दिङ्नाग ने कहा है – ''प्रत्यक्षमनुमानञ्च प्रमाणं हि द्विलक्षणम्''। इसके अनुसार बौद्ध सम्प्रदाय की दो प्रमाणवादी के रूप में प्रसिद्धि है। इस बौद्धमत की व्याख्या तथा प्रतिवादी उद्योतकर का वक्तव्य। (पृ. १५८-१५९)

१८. इस बौद्ध मत में प्रमाण के विषय दो प्रकार के होते हैं – स्वलक्षण और सामान्यलक्षण। स्वलक्षण ही प्रत्यक्ष का विषय होता है और कल्पित सामान्यलक्षण अनुमान का विषय होता है। उक्त प्रमाणों के विषयों में भेद के कारण एक पदार्थ में अनेक प्रमाणों का संकररूप प्रमाण सम्प्लव सम्भव नहीं है। इस बौद्ध मत की व्याख्या तथा इसके खण्डन में उद्योतकर एवं जयन्त भट्ट का वक्तव्य। प्रमाण सम्प्लव के स्वीकार में भाष्यकार की युक्तियों की व्याख्या तथा समर्थन। (पृ. १५८-१६१)

१९. प्रत्यक्षलक्षण सूत्र में ''इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं'' पद का प्रयोजन और व्याख्या तथा इस प्रसंग में अनेक वक्तव्य। बौद्धमत में चक्षुरिन्द्रिय और श्रवणेन्द्रिय का ग्राह्य विषय के साथ सन्निकर्ष का सम्भव नहीं होने पर उक्त प्रकार का प्रत्यक्ष नहीं

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection.

कहा जा सकता। इस बौद्ध मत की युक्ति की व्याख्या तथा इसके निराकरण हेतु श्लोकवार्त्तिक में उक्त कुमारिल भट्ट के श्लोक। (पृ. १६७-१६८)

२०. उद्योतकर के उक्त छह प्रकारों के इन्द्रियार्थसन्निकर्ष की व्याख्या तथा उसका समर्थन। प्रत्यक्ष के जनक सन्निकर्ष के प्रकारभेद के विषय में कुमारिल भट्ट, उनके अनुगामी वेदान्ती सम्प्रदाय, गुरु प्रभाकर तथा रत्नकोषकार के मतों का संग्रह। भाट्ट सम्प्रदाय द्वारा सम्मत अभाव पदार्थ का वैशिष्ट्य नामक अतिरिक्त सम्बन्ध का नैयायिक सम्प्रदाय के द्वारा खण्डन करने पर भी वह नव्यनैयायिक रघुनाथ शिरोमणि को मान्य है। प्राचीन नैयायिक के मत में "सामान्यलक्षण" और "ज्ञानलक्षण" सन्निकर्ष उद्योतकर के उन छह सन्निकर्षों में अन्तर्भूत हैं। (पृ. १६७-१७१)

२१. ईश्वर के नित्य प्रत्यक्ष में गौतम के द्वारा उक्त प्रत्यक्ष लक्षण की अव्याप्ति होती है। अत: गङ्गेश उपाध्याय ने नित्य एवं अनित्य समस्त प्रत्यक्षों का एकलक्षण कहा है – "ज्ञानाकरणकज्ञानत्व"। किन्तु प्राचीन नैयायिक के मत में यह लक्षण नहीं कहा जा सकता। वस्तुत: ईश्वर का प्रत्यक्ष गौतम के उक्त प्रत्यक्षलक्षण का लक्ष्य ही नहीं है। ईश्वर को जो प्रमाण कहा गया है उसका अर्थ होता है सर्वदा सर्वविषयक प्रमाज्ञानवान् ईश्वर। इस विषय में उदयनाचार्य का वक्तव्य। (पृ. १७२)

२२. प्रत्यक्ष के लक्षण सूत्र में "अव्यपदेश्यम्" पद की भाष्यकार के द्वारा उक्त प्रयोजन की व्याख्या में शब्द और अर्थ अभिन्न है, निर्विकल्पक प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है, ज्ञान मात्र सविकल्पक होता है – इस मत की व्याख्या, तथा इसके खण्डन में भाष्यकार आदि का वक्तव्य। इस पद की व्याख्या में जयन्त भट्ट के द्वारा कथित विभिन्न मतों का वर्णन, जयन्त भट्ट के द्वारा उक्त आचार्यमत वाचस्पति मिश्र का अभिमत नहीं है। जयन्त भट्ट ने कहीं भी आचार्य शब्द से वाचस्पति मिश्र का ग्रहण नहीं किया। किसी विषय में वाचस्पति मिश्र के मत का कथन उनके गुरु के उपदिष्ट गाथा है। (पृ. १७४-१८०)

२३. प्रत्यक्षलक्षण सूत्र के अव्यभिचारी पद के प्रयोजन की व्याख्या में नैयायिक सम्मत अन्यथाख्याति की व्याख्या तथा इस विषय में आलोचना। वाचस्पति मिश्र के द्वारा अलीक के सम्बन्ध रूप में भ्रमज्ञान मानने पर भी गङ्गेश आदि नैयायिकों ने किसी भी रूप में असत्ख्याति नहीं माना है। (पृ. १८१-१८४)

२४. प्रत्यक्षलक्षण सूत्र के "अव्यपदेश्यं" पद की व्याख्या में मतभेद और त्रिलोचन

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

गुरु की व्याख्या के अनुसार वाचस्पति मिश्र की व्याख्या की समालोचना तथा इस विषय में जैन दार्शनिक हेमचन्द्र का मन्तव्य। किन्तु हेमचन्द्र के पूर्ववर्ती जयन्त भट्ट ने वाचस्पति की इस व्याख्या का उल्लेख नहीं किया। इन्होंने बाद में वाचस्पति मिश्र के सन्दर्भ विशेष का उल्लेख किया – इसे समझने का कोई कारण नहीं है। अन्य किसी कारण से ज्ञात होता है कि इन्होंने वाचस्पति मिश्र की सांख्यतत्त्वकौमुदी भी देखी थी। (पृ. १९०-१९२)

२५. मन का इन्द्रियत्व गौतम को सम्मत है – इसके समर्थन में भाष्यकार के अन्तिम कथन की तात्पर्य व्याख्या। इस विषय में प्रमाणसमुच्चय में दिङ्नाग का खण्डन तथा उसका निराकरण। मन इन्द्रिय नहीं है – इसके समर्थन में वेदान्त-परिभाषाकार के कथन की आलोचना। स्मृतिशास्त्र के अनुसार तथा "इन्द्रियाणां मनश्चास्मि" इस गीतावचन के आधार पर मन का इन्द्रियत्व आचार्य शंकर को भी सम्मत है। (पृ. १९३-१९७)

२६. जैमिनि तथा वार्षगण्य के प्रत्यक्षलक्षण के खण्डन में उद्योतकर आदि का कथन। जैमिनि मत के खण्डन के प्रसंग में जयन्त भट्ट ने बहुत विचार करके यह भी समर्थित किया है कि धर्म के विषय में सर्वज्ञ योगी या ईश्वर का प्रत्यक्ष भी प्रमाण हो सकता है। जयन्त भट्ट के इस मत की समालोचना। जैमिनि के मत की व्याख्या में कुमारिल भट्ट आदि के द्वारा तत्काल किसी कारण से सर्वज्ञ के खण्डन करने पर भी यह नहीं ज्ञात होता है कि वेदार्थ के जानकार महर्षि जैमिनि सर्वज्ञ ईश्वर नहीं मानते हैं। अवैदिक जैन तथा बौद्ध सम्प्रदाय यद्यपि जगत्कर्ता ईश्वर नहीं मानते हैं तथापि योग आदि साधन के बलपर व्यक्ति विशेष को सर्वज्ञता लाभ उनको स्वीकार्य है। (पृ. १९७-१९९)

२७. बौद्ध आचार्य वसुबन्धु, दिङ्नाग तथा धर्मकीर्ति का प्रत्यक्ष लक्षण और उसका खण्डन। दिङ्नाग ने भी वसुबन्धु के लक्षण को नहीं माना है। इनके मत में वादविधि आचार्य वसुबन्धु के द्वारा रचित नहीं है। भामह ने भी वसुबन्धु के नाम से उनके उस लक्षण को नहीं कहा है। इन्होंने कहा है – "ततोऽर्थादिति केचन"। बौद्ध सम्प्रदाय के मत में प्रमाण का स्वरूप एवं साकार तथा निराकार विज्ञानवाद का संक्षिप्त परिचय। (पृ. १९९-२०३)

२८. अनुमानसूत्र में अथ शब्द के प्रयोजन आदि के विषय में आलोचना। प्रत्यक्ष निरूपण के बाद अनुमान के निरूपण में संगति की व्याख्या। प्रसंग आदि छह प्रकारों की संगति का वर्णन तथा न्यायभाष्यकार के उक्त अवसर संगति का

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

लक्षण। (पृ. २०४-२०५)

२९. अनुमान के हेतु में व्याप्ति निश्चय के उपाय। भूयोदर्शन को व्याप्ति निश्चय का कारण नहीं कहा जा सकता। बौद्ध सम्प्रदाय तादात्म्य या कार्यकारणभाव सम्बन्ध को व्याप्ति का नियामक कहता है – इसकी व्याख्या तथा प्रतिपादन। कणाद के उक्त चतुर्विध सम्बन्ध अनुमान का नियत अंग नहीं है। इस विषय में प्रशस्तपाद तथा जयन्त भट्ट आदि का वक्तव्य। (पृ. २०७-२०८)

३०. प्राचीन सांख्यवार्त्तिक में कथित सात प्रकारों के सम्बन्ध को अनुमान का नियत अंग या व्याप्ति नहीं माना जा सकता। सर्वत्र स्वाभाविक सम्बन्ध ही अनुमान के अंग व्याप्तिरूप में मान्य है। अनौपाधिक सम्बन्ध ही स्वाभाविक सम्बन्ध कहलाता है। प्राचीनसम्मत इस व्याप्तिलक्षण की व्याख्या। प्राचीन काल से ही अनेक ग्रन्थों में इस व्याप्ति के अर्थ में अनेक शब्दों का प्रयोग हुआ है। न्याय तथा वैशेषिक सूत्रों में भी यह देखा जाता है। अनुमान में व्याप्तिवाद बौद्ध नैयायिक द्वारा उद्भावित है – इस प्रकार का आधुनिक मत असम्भव एवं असत्य है। (पृ. २०८-२१०)

३१. अनुमानसूत्र में ''तत्पूर्वक'' पद की अनेक प्रकार की व्याख्या के द्वारा अनुमान प्रमाण के लक्षण की व्याख्या, तथा भाष्यकार कृत व्याख्या का समर्थन। (पृ. २१०-२१२)

३२. यथार्थ अनुमिति का करण ही अनुमान प्रमाण होता है। किन्तु इस करण के विषय में नाना मत उपलब्ध हैं। उद्योतकर आदि अनेक नैयायिकों के मत में अनुमिति का चरम कारण लिंगपरामर्श ही मुख्य कारण होता है। उद्योतकर के मतानुसार अनेक ग्रन्थों में करण के लक्षण की व्याख्या। नव्यनैयायिकों के सिद्धान्तमत में व्याप्तिज्ञान ही अनुमिति का करण होता है और लिंगपरामर्श उसका व्यापार होता है। नव्यमत में करण के लक्षण की व्याख्या, इस विषय में उदयनाचार्य के मत की व्याख्या एवं इसकी समालोचना। रघुनाथ शिरोमणि के अपने मत में मन ही अनुमिति का करण होता है। इस विषय में वेदान्तपरिभाषाकार का मत एवं इसकी समालोचना। मीमांसक आदि सम्प्रदाय तथा न्यायकन्दलीकार श्रीधर भट्ट के मत में भी तृतीय लिंगपरामर्श आवश्यक नहीं। तृतीय लिंगपरामर्श अनुमिति का चरम कारण होता है – इस मत के समर्थन में उद्योतकर तथा उदयनाचार्य आदि नैयायिकों का वक्तव्य। (पृ. २१२-२१७)

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

३३. अनुमान प्रमाण के विषय में अनेक मत। इस विषय में प्रमाणसमुच्चय में दिङ्नाग के "केचिद्धर्मान्तरं मेयं" इत्यादि श्लोक तथा उसकी वर्धमान उपाध्यायकृत व्याख्या। दिङ्नाग तथा कुमारिल भट्ट के मत में धर्म विशिष्ट धर्मी अनुमेय होता है। जैसे पर्वत में धूम देखने पर व्याप्ति के स्मरण से उत्पन्न वह्नि विशिष्टत्व रूप में पर्वत की अनुमिति होती है। किन्तु उद्योतकर के मत में वह्नि विशिष्टत्वरूप में धूम विशेष की अनुमिति होती है – इस मत की आलोचना तथा भाष्यकार के मत की व्याख्यापूर्वक समर्थन। अनुमिति के आकार के विषय में उदयनाचार्य का विशिष्टमत और अनुमिति के विषय में वेदान्त परिभाषाकार के मत की व्याख्या तथा समालोचना। (पृ. २१७-२२१)

३४. पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्टरूप त्रिविध अनुमान की तथा इनके उदाहरण की अनेक प्रकार की व्याख्या एवं उनकी समालोचना "विभागवचनादेव" आदि भाष्य सन्दर्भ की वाचस्पति मिश्र द्वारा की गई व्याख्या तथा उसकी समालोचना। (पृ. २२१-२३०)

३५. उपमानप्रमाण के स्वरूप आदि के विषय में मतभेद। भाष्यकार के मत में अर्थ विशेष में शब्द विशेष की शक्ति की तरह स्थल विशेष में अन्य पदार्थ भी उपमान प्रमाण से सिद्ध होता है – इसके समझने का कारण। (पृ. २३६-२३९)

३६. शब्दप्रमाण के स्वरूप के विषय में मतभेद। दृष्टार्थ और अदृष्टार्थ शब्दप्रमाण की स्वरूप व्याख्या। न्याय तथा वैशेषिक के मत में वेद का प्रामाण्य भी परतः ग्राह्य है – अर्थात् अन्य प्रमाण अनुमान से सिद्ध होता है। किन्तु स्वतःप्रामाण्यवादी कुमारिल भट्ट का कहना है – "न चानुमानतः साध्या शब्दादीनां प्रमाणता"। इस मत की व्याख्या में उदयनाचार्य तथा वरदराज का वक्तव्य। न्याय तथा वैशेषिक सम्मत परतःप्रामाण्यवाद के समर्थन में वाचस्पति मिश्र के कथन की पुनः आलोचना। (पृ. २४२-२४६)

३७. जैन पण्डित हरिभद्र सूरि की गौतम के उक्त प्रमेय पदार्थों में सुख का उल्लेख ऐतिहासिक कल्पना तथा इसका प्रतिवाद। (पृ. २५०)

३८. महर्षि गौतम के द्वारा किसी कारणविशेष से आत्मा आदि बारह प्रमेयों के मानने पर भी कणाद के उक्त द्रव्य आदि सभी पदार्थ भी उनको मान्य हैं – इसको समझने का कारण। सप्तम पदार्थ अभाव भी कणाद को सम्मत है – बाद में स्वयं इन्होंने यह कहा है। सर्वप्रथम प्रशस्तपाद ने कणाद को सप्तपदार्थवादी कहा है – यह मन्तव्य सर्वथा निर्मूल है। वैशेषिकदर्शन का प्रसिद्ध द्रव्य आदि

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

सात पदार्थ नैयायिक सम्प्रदाय को भी मान्य हैं – यह बात विश्वनाथ ने कही है। विश्वनाथ का भाषापरिच्छेद न्यायशास्त्र का ही ग्रंथ है, वैशेषिक का नहीं। किन्तु नैयायिक सम्प्रदाय नियत पदार्थवादी नहीं है – इस विषय में वल्लभाचार्य का कथन तथा उसके तात्पर्य की व्याख्या पहले द्रष्टव्य है। (पृ. २५१-२५२)

३९. कणाद के सूत्रानुसार प्रशस्तपाद ने जीवात्मा को अप्रत्यक्ष कहा है – इसके तात्पर्य की व्याख्या में कन्दलीकार श्रीधर भट्ट का वक्तव्य एवं उसकी समालोचना। श्रीधर भट्ट आदि बहुतों के मत में जीवात्मा में सुख तथा दुःख आदि के मानस प्रत्यक्ष के समय उस आत्मा का भी प्रत्यक्ष होता है। किन्तु वात्स्यायन आदि के मत में योगी को योगज सन्निकर्ष से देह आदि से भिन्न प्रकृत आत्मा का अलौकिक मानस प्रत्यक्ष होता है। उसी का नांम है प्रकृत आत्मसाक्षात्कार। इस विषय में न्यायमञ्जरी में उपलब्ध मत भेदों का वर्णन। (पृ. २५२-२५३)

४०. भाष्यकार आदि प्राचीन के मत में गौतम का प्रथम प्रमेय जीवात्मा है। पश्चात् वृत्तिकार विश्वनाथ ने गौतम के प्रमेयविभागसूत्र में आत्म शब्द से जीवात्मा तथा परमात्मा दोनों का ग्रहण किया है। वृत्तिकार के इस नवीन मत की समालोचना। गौतम द्वारा उक्त इच्छा आदि गुणविशेष किस प्रकार देह आदि से भिन्न नित्य आत्मा का लिंगअनुमापक होता है – इस विषय में उद्योतकर आदि का विशेष वक्तव्य। (पृ. २५५-२६०)

४१. चतुर्दश सूत्र के ''पृथिव्यादिगुणाः'' पद में भाष्यकार के द्वारा षष्ठी तत्पुरुष के मानने पर भी उद्योतकर ने बहुत विचार करके द्वन्द्वसमास ही माना है। इस व्याख्या की समालोचना के साथ भाष्यकार की व्याख्या का समर्थन। (पृ. २६६)

४२. उद्योतकर के उक्त इक्कीस प्रकारों के दुःख की व्याख्या तथा उनमें सुख तथा दुःख के पृथक् उल्लेख का कारण। निर्वेद और वैराग्य में भेद की व्याख्या। (पृ. २७९)

४३. द्वैतवादी भाष्यकार द्वारा उक्त अपवर्ग के स्वरूप की व्याख्या। ''नित्यसुखमात्मनो महत्त्ववन्मोक्षेऽभिव्यज्यते'' आदि सन्दर्भ से भाष्यकार ने अद्वैतवादी वेदान्ती के मत को ही मतान्तर के रूप में अभिव्यक्त किया है – यह नहीं ज्ञात होता। मोक्ष में नित्यसुख अभिव्यक्ति यह भट्ट कुमारिल का सम्मत है – यह भी नहीं कहा जा सकता है। किन्तु भासर्वज्ञ ने गौतम मत की व्याख्या करते हुए मोक्ष में नित्यसुख के अनुभव का समर्थन किया है और प्राचीन नैयायिक भाष्यकार

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

ने इस मत का निराकरण किया है – इससे ज्ञात होता है कि भाष्यकार के पहले भी किसी सम्प्रदाय में गौतम के मत के रूप में यह मत प्रतिष्ठित रहा है। इस मत के समर्थन में भासर्वज्ञ का कथन तथा उसकी समालोचना। (पृ. २८२-२९३)

४४. संशय पदार्थ का लक्षण । संशयत्व जाति विशेष नहीं है। संशय ज्ञान तथा समुच्चय ज्ञान में भिन्नता की व्याख्या। इस विषय में जगदीश तथा गदाधर भट्टाचार्य का मतभेद कथन । भावद्वय कोटिक तथा बहुभाव कोटिक संशय का समर्थन। कालिदास के श्लोक में बहुभावकोटिक संशय का उदाहरण। (पृ. २९४-२९६)

४५. न्यायभाष्य तथा प्रशस्तपादभाष्य में दर्शन शास्त्र के अर्थ में दर्शन पद का प्रयोग हुआ है। महाभारत में उक्त है – "सांख्यं वै मोक्षदर्शनम्"। "योगदर्शनमेव तत्"। (पृ. ३०२)

४६. विप्रतिपत्तिवाक्य प्रयुक्त मध्यस्थगण को मानस संशय उत्पन्न होता है। क्योंकि प्राचीन मान्यता है कि शाब्दबोधात्मक संशय नहीं होता किन्तु रघुनाथ शिरोमणि ने विप्रतिपत्तिवाक्य से उत्पन्न शाब्द संशय माना है। संशय के बिना किसी भी विषय का विचार सम्भव नहीं है। ब्रह्मसूत्र में ब्रह्मविचार का मूल संशय को कहा गया है और इस संशय का मूल होता है अनेक प्रकार की विप्रतिपत्ति। इस विषय में शंकराचार्य तथा वाचस्पति मिश्र का वक्तव्य। (पृ. ३०२-३०४)

४७. उद्योतकर आदि नैयायिकों द्वारा गौतम के मत में तीन प्रकार के संशय का समर्थन करने पर भी भाष्यकार तथा भासर्वज्ञ आदि के मत में संशय पाँच प्रकार का होता है। इस प्राचीन मत का समर्थन। उद्योतकर ने कणाद सूत्र के द्वारा भी असाधारण धर्मजन्य द्वितीय प्रकार के संशय की व्याख्या की है किन्तु प्रशस्तपाद आदि वैशेषिक आचार्यगण ने इसे नहीं माना। इनके मत में असाधारण धर्म के ज्ञान से स्थलविशेष में संशय भिन्न अनध्यवसाय नामक ज्ञानविशेष ही उत्पन्न होता है। (पृ. ३०५-३०७)

४८. सिद्धान्त के सामान्यलक्षणसूत्र और विभागसूत्र की व्याख्या में वाचस्पति मिश्र के कथन की समालोचना तथा भाष्यकार की व्याख्या का समर्थन। सिद्धान्त पदार्थ के स्वरूप के विषय में भाष्यकार आदि के उक्तभेद के समाधान में उदयनाचार्य का कथन। "स चतुर्विधः" इत्यादि सूत्र-पाठ ही प्राचीनों को सम्मत है – इसको समझने का कारण। (पृ. ३१२-३१४)

४९. परार्थानुमान की व्याख्या तथा इस विषय में विवाद का कथन। बहुत पूर्वाचार्य गणों ने प्रतिज्ञा आदि पाँच वाक्यों को परार्थ अनुमान कहा है। इस विषय में

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

नीलकण्ठ भट्ट का कथन, तथा अनुमान प्रमाण के परार्थत्व का समर्थन करते समय परार्थपद के अर्थ की व्याख्या। इस विषय में बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति का कथन तथा धर्मोत्तराचार्य के तात्पर्य की व्याख्या। (पृ. ३२८-३३०)

५०. भाष्यकार के उक्त दस अवयववादी वृद्ध नैयायिकगण का विशेष परिचय उपलब्ध नहीं है। सांख्यकारिका की युक्तिदीपिका व्याख्या में दस अवयववाद का उल्लेख तथा व्याख्या मिलती है। किन्तु प्राचीन नैयायिक वात्स्यायन ने दस अवयववाद की जिस प्रकार की व्याख्या करके उसका खण्डन किया है — वह युक्तिदीपिका में नहीं मिलता। इस विषय में व्याख्या की भिन्नता का कथन तथा दस-अवयववाद के खण्डन में भाष्यकार की युक्तियों का समर्थन। (पृ. ३३२-३३५)

५१. प्रतिज्ञावाक्य के आकार के विषय में प्राचीन तथा नवीन मत की आलोचना। गौतम के प्रतिज्ञासूत्र की रघुनाथ शिरोमणिकृत व्याख्या। गङ्गेश उपाध्याय ने प्रकृत अर्थ में इस प्रतिज्ञासूत्र का खण्डन नहीं किया। दिङ्नाग तथा वसुबन्धु के कथित पक्ष के लक्षण के खण्डन में उद्योतकर का कथन एवं "वादविधानटीका" तथा "वादविधि" का कथन। (पृ. ३३६-३३९)

५२. गौतम के उक्त दो प्रकार के हेतु एवं दो प्रकार के उदाहरण की व्याख्या में भाष्यकार तथा वार्तिककार के मतभेद की समालोचना तथा भाष्यकार के पक्ष में वक्तव्य। हेतु सूत्र की जयन्तभट्टकृत व्याख्या के खण्डन के प्रसंग में दिङ्नाग के प्रतिवाद का उल्लेख एवं उसका खण्डन। गङ्गेश से बहुत पहले वाचस्पति मिश्र ने भी सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति का समर्थन किया है। इस विषय में तात्पर्यटीका में वाचस्पति मिश्र का तथा पश्चात् खण्डनखण्डखाद्य में प्रतिवादी श्रीहर्ष का कथन। (पृ. ३३९-३५१)

५३. प्रतिज्ञा आदि पञ्चावयव रूप न्यायवाक्य में प्रमाण चतुष्टय के समवाय को समझाने के लिए भाष्यकार ने चतुर्थ अवयव वाक्य को उपमान प्रमाण कहा है — इस विषय में उद्योतकर आदि का कथन एवं उसकी समालोचना। भाष्यकार के मत में अन्य पदार्थ भी उपमान प्रमाण का विषय होता है — इसका कारण। निगमनवाक्य के भाष्यकारोक्त द्विविध प्रयोजन की व्याख्या। निगमनवाक्य के आकार और प्रकार के विषय में मतभेद तथा उसकी आलोचना। (पृ. ३५२-३७०)

५४. अवयव की संख्या के विषय में अनेकमत। मीमांसक एवं वेदान्ती सम्प्रदाय के मत में प्रतिज्ञा आदि तीन अथवा उदाहरण आदि तीन अवयव मान्य है।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

जैन मत में प्रतिज्ञा और हेतु दो ही अवयव, बौद्ध मत में उदाहरण और उपनय नामक दो ही अवयव मान्य हैं। जैन मत में तथा किसी-किसी बौद्ध के मत में अन्तर्व्याप्ति के निश्चय से साध्य की सिद्धि में उदाहरण का प्रदर्शन आवश्यक नहीं है। इस विषय में प्राचीन जैन आचार्य सिद्धसेन दिवाकर और परवर्ती आचार्य वादि देव सूरि के साथ बौद्ध आचार्य रत्नाकर शान्ति का वक्तव्य। अन्तर्व्याप्ति और बहिर्व्याप्ति की व्याख्या। उपर्युक्त अनेक भिन्न मतों की समालोचना के साथ गौतम के उक्त पाँच अवयवों का समर्थन। पञ्चावयववाद ही बहुसम्मत एवं प्राचीन मत के रूप में मान्य है। (पृ. ३७२-३७८)

५५. तर्क के स्वरूप के विषय में अनेक मत। किसी मत में अनुमान प्रमाण, किसी मत में युक्ति सापेक्ष अनुमान तर्क कहलाता है। जैन मत में अनुमान से भिन्न परोक्ष प्रमाण विशेष है "तर्क"। बहुतों के मत में तर्क है संशयात्मक ज्ञान विशेष। किन्तु वात्स्यायन आदि के मत में संशय तथा निर्णय से भिन्न संभावनात्मक ज्ञान विशेष ही तर्क पदार्थ है। इस मत की व्याख्या तथा समालोचना। (पृ. ३७९-३८०)

५६. उदयनाचार्य आदि परवर्ती नैयायिक सम्प्रदाय के मत में अनिष्ट विषय की आपत्तिरूप मानसज्ञानविशेष है तर्क। इस मत की व्याख्या तथा तर्क के पञ्चाङ्ग का वर्णन। तर्क के आत्माश्रय आदि पाँच प्रकार। तर्क के प्रकार भेद में मतभेद एवं समालोचना। तर्क सभी प्रमाणों का अनुग्राहक तथा सहकारी होता है। इस विषय में नारायण भट्ट का श्लोक। वेद आदि शास्त्रों के द्वारा धर्म के निर्णय में भी यह तर्क आवश्यक है। मनु ने कहा है – "यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः"। (पृ. ३८५-३९०)

द्वितीय आह्निक

५७. वाद, जल्प और वितण्डा का नाम है – कथा। यह कथा पद पारिभाषिक है। न्यायसूत्र में तथा वाल्मीकि रामायण में इस पारिभाषिक कथा का प्रयोग हुआ है। भगवद्गीता में "वादः प्रवदतामहम्" – इस भगवद्वाक्य में गौतम के इस पारिभाषिक वाद शब्द का प्रयोग हुआ है। इन तीनों कथाओं का सामान्य लक्षण। इनमें केवल तत्त्व निर्णय के लिए की गई कथा जो गुरु-शिष्य के मध्य चलती है तथा जय-पराजय की इच्छा से रहित होती है – वाद कहलाती है। वादकथा में परपक्ष का खण्डन किया जाता है। इस विषय में शारीरकभाष्य में

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

आचार्य शंकर की उक्ति तथा भामतीकार वाचस्पति मिश्र के तात्पर्य की व्याख्या। (पृ. ३९९-४०१)

५८. वितण्डा पदार्थ के ज्ञानाभाव से बङ्लाभाषा में वितण्डा तथा वादवितण्डा आदि शब्द का अप्रयोग हुआ है। चैतन्यचरितामृत ग्रन्थ में गौतम की वितण्डा का प्रकृत अर्थ में प्रयोग हुआ है। इन तीनों कथाओं के अधिकारी तथा इनमें भी वाद-कथा के अधिकारी का कथन। वादकथा में सभा आवश्यक नहीं है। जल्प और वितण्डा में सभापति, मध्यस्थ तथा सदस्यगण आवश्यक होने से इनका लक्षण एवं कर्त्तव्य। जयकामी वादी और प्रतिवादी ही जल्प और वितण्डा करता है। किन्तु जैन तथा बौद्ध के मत में जल्प और वितण्डा वाद विशेष ही है अर्थात् कथा तीन प्रकार की नहीं होती है। बौद्ध आचार्य वसुबन्धु का वादलक्षण तथा उसके खण्डन में न्यायवार्त्तिक में उद्योतकर का विशेष वक्तव्य। जल्प और वितण्डा का प्रयोजन तथा दोनों की व्याख्या के साथ समर्थन। (पृ. ४१७-४२०)

५९. हेत्वाभास शब्द की व्युत्पत्ति की व्याख्या से हेत्वाभास के सामान्य लक्षण की व्याख्या। गङ्गेशकृत हेत्वाभास के लक्षण की व्याख्या में दीधितिकार रघुनाथ शिरोमणि का कथन तथा इस विषय में आलोचना। गौतम के मत में हेतु के पाँच लक्षणों की व्याख्या। अन्य मतों में हेतु के तीन ही लक्षण मान्य हैं। किन्तु जैन हेतु का एक ही लक्षण मानता है। (पृ. ४२९-४२३)

६०. ‘‘अनैकान्तिकः सव्यभिचारः’’ सूत्र के अर्थ की व्याख्या। भाष्यकार के उदाहरण की व्याख्या में वाचस्पति मिश्र का कथन तथा इसकी समालोचना। अनैकान्तिक शब्द की अर्थ व्याख्या में उद्योतकर आदि का वक्तव्य। सव्यभिचार हेत्वाभास के प्रकार भेद में भाष्यकार आदि का मतभेद। (पृ. ४२८-४३०)

६१. विरुद्ध हेत्वाभास का भाष्यकार के द्वारा प्रदर्शित उदाहरण की व्याख्या में सांख्य मत का प्रकाशन। भाष्यकार ने गौतम मत के अनुसार ही उदाहरण कहा है। इन्होंने योगभाष्य के सन्दर्भ को भी यथावत् उद्धृत नहीं किया। विरुद्ध हेत्वाभास की उद्योतकर द्वारा की गई दो प्रकार की व्याख्या का कथन एवं उस विषय में आलोचना। (पृ. ४३१-४३४)

६२. भाष्यकार के मत से प्रकरणसम हेत्वाभास के लक्षण और उदाहरण की व्याख्या। इसके उदाहरण के विषय में अनेकमत एवं उस प्रसंग में विचार। विरुद्धाव्यभिचारी का उदाहरण तथा इस विषय में मतभेद। उदयनाचार्य आदि के मत में सत्प्रतिपक्ष हेतुयुगल ही गौतम का प्रकरणसम है। रत्नकोषकार के मत

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

में सत्प्रतिपक्ष हेतुद्वय का प्रयोग होने पर संशयात्मक अनुमिति उत्पन्न होती है। तत्त्वचिन्तामणि में इस मत की व्याख्या एवं खण्डन। (पृ. ४३८-४४१)

६३. साध्यसम या असिद्ध नामक हेत्वाभास के प्रकार के विषय में मतभेद। उद्योतकर तथा उदयनाचार्य के मत की व्याख्या। उदयन के मत में अप्रयोजक का लक्षण। (पृ. ४४२-४४४)

६४. समासमाविनाभावौ इत्यादि कारिका की मल्लिनाथकृत व्याख्या। (पृ. ४४४)

६५. रघुनाथ शिरोमणि के मत में प्रकृतहेतु में व्यर्थ विशेषण का प्रयोग करने पर उसके कारण वह हेतु असिद्ध या दुष्ट नहीं होता किन्तु इस प्रकार के स्थल में इस प्रकार के हेतुवादी पुरुष ही निगृहीत होता है। अतः अलग से निग्रहस्थान मान्य नहीं है। (पृ. ४४५)

६६. अन्धकार पदार्थ के विषय में अनेक मत एवं विचार। मीमांसक आदि अनेक सम्प्रदायों के मत में अन्धकार अतिरिक्त द्रव्य पदार्थ के रूप में मान्य है। इस मत के समर्थन में उन लोगों का वक्तव्य। (पृ. ४४६-४५०)

६७. न्यायकन्दलीकार श्रीधर भट्ट के मत में आरोपित नीलरूप ही अन्धकार है। यह भी मीमांसक विशेष का मत है। उदयनाचार्य आदि के मत में यह वैशेषिक मत नहीं है। (पृ. ४४८-४४९)

६८. प्रशस्तपादभाष्य की सूक्ति व्याख्या में अन्धकार के स्वरूप के विषय में कन्दलीकार के मत की व्याख्या में देखा जाता है – नीलरूपवत्त्व रहने से अन्धकार पृथिवी है। किन्तु यह मत असत्य है। अन्य कारणों से भी यह विचारणीय है कि सूक्ति के व्याख्याकार क्या प्रसिद्ध जगदीश भट्टाचार्य हैं या कोई अन्य। (पृ. ४४९)

६९. आलोकाभाव ही अन्धकार है – इस मत के समर्थक न्याय तथा वैशेषिक सम्प्रदाय का कथन। इस मत में अन्धकार को भिन्न द्रव्य मानने पर दोष होता है। किस प्रकार का आलोकाभाव अन्धकार पदार्थ है – इस विषय में नवीन नैयायिकों के सूक्ष्म विचार का कथन। (पृ. ४५१)

७०. गौतम के कालातीत हेत्वाभास के खण्डन हेतु वादन्याय की टीका में बौद्धाचार्य शान्तरक्षित द्वारा भाष्यकार के उदाहरण का प्रतिवाद। भाष्यकार की व्याख्या का खण्डन, जयन्त भट्ट की भिन्न व्याख्या तथा अन्य प्रकार के उदाहरण का प्रदर्शन। (पृ. ४५७-४५९)

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

७१. भाष्यकार के मत का निर्दोषत्व दिखाने के लिए वाचस्पति मिश्र की तात्पर्य-कल्पना तथा उसकी समालोचना। (पृ. ४५९-४६०)

७२. उदयनाचार्य आदि नैयायिक सम्प्रदार्य के मत में बलवत् प्रमाण से बाधित हेतु ही गौतम का कालातीत हेत्वाभास है। अतएव वह बाधित हेत्वाभास कहलाता है। इस मत के अनुसार भाष्यकार का ''नित्यः शब्दः संयोगवत्त्वात्'' उदाहरण में उक्त हेतु बाधित होता है। एक ही हेतु अनेक प्रकार से हेत्वाभास होता है। (पृ. ४६०)

७३. हेत्वाभास के प्रकार भेद के विषय में अनेक मत। इस विषय में कणाद सूत्र की व्याख्या। व्योमशिव आचार्य के अनुसार गौतम के पाँच प्रकारों का हेत्वाभास कणाद को भी सम्मत है। शिवादित्य मिश्र ने ''अनध्यवसित'' नामक अतिरिक्त हेत्वाभास कहा है। भासर्वज्ञ के मत में वह छठा हेत्वाभास है। किन्तु प्रशस्तपाद केअनुसार वैशेषिक मत की व्याख्या में वल्लभाचार्य ने कहा है – ''तदाभासाश्चत्वारः। असिद्धविरुद्धसव्यभिचारानध्यवसिताः''। (पृ. ४६०-४६२)

७४. वैशेषिक के मत में इस अनध्यवसित नामक हेत्वाभास की एवं संशय से भिन्न अनध्यवसाय ज्ञान का, स्वरूप, व्याख्या तथा उदाहरण। अनध्यवसाय ज्ञान के स्वरूप के विषय में मतभेद। (पृ. ४६२)

७५. किन्तु प्रशस्तपाद के मत में अनध्यवसित नामक हेत्वाभास कणाद के अप्रसिद्ध हेत्वाभास का ही प्रकार विशेष है और अनुमान का हेतु त्रिलक्षण होता है, पञ्चलक्षण नहीं। अतएव हेत्वाभास के भी तीन प्रकार होते हैं – प्राचीन वैशेषिक मत यही प्रतीत होता है। इस विषय में प्रशस्तपाद तथा शंकर मिश्र का वक्तव्य। (पृ. ४६३)

७६. मीमांसक सम्प्रदाय, बौद्ध और श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय के मत में हेत्वाभास के तीन प्रकार होते हैं। किन्तु दिगम्बर जैन सम्प्रदाय में अकिञ्चित्कर नामक चतुर्थ हेत्वाभास भी मान्य है। इस मत के खण्डन में श्वेताम्बर जैन तथा रत्नप्रभाचार्य का वक्तव्य। (पृ. ४६४)

७७. गौतम का प्रकारणसम या सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास अनैकान्तिक हेत्वाभास का ही दूसरा प्रकार है – यह भी प्राचीन मत है। इस मत के खण्डन में तथा उक्त चतुर्थ प्रकार के हेत्वाभास के स्वीकार में नैयायिक सम्प्रदाय की युक्ति। (पृ. ४६४-४६५)

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

७८. गौतम के कालातीत या बाधित हेत्वाभास के स्थल में वैशेषिक आदि के मत में अनेक प्रकार के प्रतिज्ञाभास स्वीकृत हैं। बौद्ध आचार्य दिङ्नाग के किसी-किसी प्रतिज्ञाभास के खण्डन में उद्योतकर का वक्तव्य। (पृ. ४६६-४६७)

७९. दृष्टान्ताभास की व्याख्या। दिङ्नाग ने दस प्रकार का दृष्टान्ताभास कहा है। किन्तु गौतम के मत में दृष्टान्ताभास हेत्वाभास में ही अन्तर्भूत होता है; अतः उसका पृथक् उल्लेख यहाँ नहीं हुआ है। (पृ. ४६७-४६८)

८०. इस प्रकार गौतम के मत में सभी प्रतिज्ञाभास के स्थलों में हेतु का दुष्टत्व मान्य होने से पञ्चम हेत्वाभास भी मान्य होता है। इस दृष्टि से प्रतिज्ञाभास का पृथक् उल्लेख नहीं हुआ है। इस विषय में गौतम की युक्तियों की व्याख्या। (पृ. ४६८)

८१. व्यभिचार आदि दोषों से रहित केवल बाध दोष से युक्त बाधित हेत्वाभास का उदाहरण और उससे गौतम के पञ्चम हेत्वाभास का समर्थन। (पृ. ४६८)

८२. गौतम के हेत्वाभास के विभागसूत्र से सूचित होता है कि हेत्वाभास के अवान्तर प्रभेद असंख्य प्रकार के होने पर भी उन सभी प्रकारों का इन पाँच प्रकारों के हेत्वाभास में अन्तर्भाव सम्भव है। इनसे भिन्न कोई हेत्वाभास नहीं होता। उदयन के मत में सिद्धसाधन तथा अप्रयोजक नामक हेत्वाभास चतुर्थ हेत्वाभास असिद्ध का ही प्रकार विशेष है। (पृ. ४६९)

८३. वाक्छल के बहुत उदाहरण सम्भव हैं। किन्तु परिशिष्ट प्रकाश में वर्धमान उपाध्याय ने ''नेपालादागतोऽयं नवकम्बलत्त्वात्'' इस प्रकार के प्रयोग से ही उसका उदाहरण प्रदर्शित किया है। (पृ. ४७३-४७४)

८४. वक्ता के तात्पर्य एवं योग्यता के अनुसार किसी सामान्य शब्द के द्वारा सामान्य धर्म के रूप में जो विशेष अर्थ का बोध होता है वह लाक्षणिक अर्थ नहीं है। इस विषय में कुसुमाञ्जलिप्रकाश में वर्धमान उपाध्याय का तथा शब्दशक्तिप्रकाशिका में जगदीश तर्कालंकार का कथन। (पृ. ४७५)

८५. अनुपनीत तथा अविद्वान् ब्राह्मण सन्तान के शूद्रतुल्य होने पर भी वह शूद्र नहीं ब्राह्मण ही होता है। इस विषय में मनुसंहिता तथा अत्रिसंहिता का वचन। ''जन्मना जायते शूद्रः'' इत्यादि वचन का मूल उपलब्ध नहीं है। (पृ. ४७८)

८६. उपचारछल के लक्षणसूत्र की व्याख्या में भेद तथा उसकी समालोचना। वाक्छल तथा उपचारछल के भेद के समर्थन में विशेष कथन। (पृ. ४८१-४८३)

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

८७. भाक्त शब्द की व्युत्पत्ति। न्यायसूत्र में भी शब्द की व्युत्पत्ति। न्यायसूत्र में भी भाक्त शब्द का प्रयोग हुआ है। भक्ति शब्द के अर्थ की व्याख्या में पश्चात् उद्योतकर का विशेष कथन। भाष्यकार के कथन से ज्ञात होता है कि सभी प्रकार की लक्षणा का ही प्राचीन नाम है भक्ति। (पृ. ४८४)

८८. प्राचीन वैयाकरण के मत में लक्षणा भी शक्तिविशेष है। इस मत के मूल एवं उसकी व्याख्या। बहुत विद्वान् गौतम के सूत्र से भी इस मत की व्याख्या करते हैं। किन्तु वैयाकरण नागेश भट्ट ऐसा नहीं मानते। नैयायिकसम्मत लक्षणा की व्याख्या में नागेश भट्ट का वक्तव्य। (पृ. ४८६)

८९. छल दो प्रकार का होता है – यह प्राचीन मत चरकसंहिता में उपलब्ध है। महर्षि गौतम ने विचारपूर्वक इस मत का खण्डन किया है। प्रचलित चरकसंहिता के पश्चात् यदि न्यायसूत्र की रचना मानें तो सूत्रकार के असम्मत अन्यान्य मतों का भी खण्डन न्यायसूत्र में उपलब्ध होता। (पृ. ४८६)

९०. गौतम के जाति पदार्थ के सामान्य लक्षण की व्याख्या में वृत्तिकार विश्वनाथ का कथन। (पृ. ४९०)

९१. प्रबोधसिद्धि ग्रन्थ में उदयनाचार्य का कथन। इस ग्रन्थ के अन्त में श्लोक में उक्त जाति के सात अंगों के मूल में दुष्टत्व ही है। अतएव स्वव्याघातक उत्तरत्व ही जाति का सामान्य लक्षण है। (पृ. ४९०)

९२. जाति के लक्षणसूत्र की व्याख्या में उद्योतकर का कथन और तदनुसार भाष्यकार के कथन की तात्पर्य व्याख्या। (पृ. ४८९-४९१)

९३. निग्रहस्थान के लक्षण सूत्र की जयन्तभट्टकृत विशद व्याख्या तथा वृत्तिकार विश्वनाथ की फलितार्थ व्याख्या। (पृ. ४९२-४९३)

९४. वाद कथा में किसी-किसी निग्रहस्थान के रहने पर भी उससे पराजयरूप निग्रह नहीं होता। जल्प और वितण्डा में पराजयरूप निग्रह का लक्षण। वादकथा में निग्रह का लक्षण। वादकथा में निग्रह खलीकार कहलाता है। (पृ. ४९३)

९५. निग्रहस्थान के लक्षण हेतु वादन्याय में धर्मकीर्ति के असाधनाङ्गवचनं आदि कारिका का उल्लेख एवं उसकी व्याख्या। (पृ. ४९५)

९६. जयन्त भट्ट ने इस कारिका को उद्धृत करके खण्डन किया है किन्तु इसकी व्याख्या भिन्नरूप से करके खण्डन किया है। उदयनाचार्य ने प्रबोधसिद्धि ग्रन्थ में निग्रहस्थान की व्याख्या में इस कारिका के विषय में क्यों कुछ नहीं कहा तथा

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

धर्मकीर्ति के ''न्यायमत खण्डन'' का प्रतिवाद क्यों नहीं किया – यह विचारणीय है। (पृ. ४९५-४९६)

९७. पञ्चम अध्याय में जाति तथा निग्रहस्थान के विशेष निरूपण में अवसर नामक संगति है। न्यायपरिशिष्टप्रकाश में इस अवसर संगति की अन्तिम व्याख्या। (पृ. ४९६)

◈◈◈

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

परिशिष्ट २

संदर्भ एवं टिप्पणियों में उल्लिखित ग्रन्थों की सूची

ग्रन्थ	ग्रन्थकार
अद्वैतसिद्धि	मधुसूदन सरस्वती
अन्तर्व्याप्तिसमर्थन	रत्नाकर शान्ति
अपोहसिद्धि	रत्नकीर्ति
अभिज्ञानशाकुन्तलम्	कालिदास
अमरकोष	अमरसिंह
अवयविनिराकरण	बौद्ध पण्डित अशोक
अर्थशास्त्र	कौटिल्य
आत्मतत्त्वविवेक	उदयनाचार्य
आप्तमीमांसा	जैन समन्तभद्र
उपनिषद्	
उपस्कार	शंकर मिश्र
उपायहृदय	बौद्ध नागार्जुन
कणादरहस्य	शंकर मिश्र
कणादसूत्र	महर्षि कणाद
कण्ठाभरण	शंकर मिश्र
कारकचक्र	भवानन्द सिद्धान्तवागीश
काव्यालंकार	भामह
किरणावली	उदयनाचार्य

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

किरणावलीभास्कर	पद्मनाभ मिश्र
कुमारनन्दिकारिका	जैन कुमार नन्दी
कुसुमाञ्जलि	उदयनाचार्य
कुसुमाञ्जलिप्रकाश	वर्धमान उपाध्याय
कुसुमाञ्जलिबोधनी	वरदराज
कुसुमाञ्जलिव्याख्या	हरिदास
क्षणभंगसिद्धि	रत्नकीर्ति
खण्डनखण्डखाद्य	श्रीहर्ष
गादाधरी टीका	गदाधर भट्टाचार्य
गीता	वेदव्यास
गीता टीका	आनन्दगिरि और मधुसूदन सरस्वती
चरकसंहिता	चरक
चित्सुखी	चित्सुखमुनि
छान्दोग्य उपनिषद्	
जागदीशीटीका	जगदीश तर्कालंकार
तत्त्वचिन्तामणि	गङ्गेश उपाध्याय
तत्त्वचिन्तामणिरहस्य	मथुरानाथ तर्कवागीश
तत्त्वसंग्रह	शान्तरक्षित
तत्त्वार्थसूत्र	उमास्वाति
तर्कभाषा	केशव मिश्र
तर्कसंग्रह	अन्नम् भट्ट
तर्कसंग्रह	वेदान्ती आनन्द ज्ञान
तर्कसंग्रहदीपिका	अन्नम् भट्ट
तर्कामृत	जगदीश तर्कालंकार
तात्पर्यटीका	वाचस्पति मिश्र

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

तात्पर्यपरिशुद्धि	उदयनाचार्य
तात्पर्यपरिशुद्धिप्रकाश	वर्धमान उपाध्याय
तार्किकरक्षा	वरदराज
दीधितिटीका	रघुनाथ शिरोमणि
दीधितिप्रकाश	नीलकण्ठ
निदान टीका	विजयरक्षित
निष्कण्टका टीका	मल्लिनाथ
तार्किक रक्षा	वरदराज
नैषधीयचरित	श्रीहर्ष
न्यायकणिका	वाचस्पति मिश्र
न्यायकन्दली	श्रीधर भट्ट
न्यायतत्त्वालोक	नवीन वाचस्पति मिश्र
न्यायदीपिका	जैन धर्म भूषणयति
न्यायपरिचय	फणिभूषण तर्कवागीश
न्यायपरिशिष्ट या प्रबोधसिद्धि	उदयनाचार्य
न्यायपरिशिष्टप्रकाश	वर्धमान उपाध्याय
न्यायपरिशुद्धि	वेंकटनाथ
न्यायप्रदीप (तर्कभाषाव्याख्या)	विश्वकर्मा
न्यायप्रवेश	दिङ्नाग
न्यायभास्कर	पद्मनाभ मिश्र
न्यायमञ्जरी	जयन्त भट्ट
न्यायलीलावती	वल्लभाचार्य
न्यायलीलावतीप्रकाश	वर्धमान उपाध्याय
न्यायवार्त्तिक	उद्योतकर
न्यायबोधिनी	गोवर्धन मिश्र

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

न्यायबिन्दुप्रकरण	धर्मकीर्ति
न्यायबिन्दुटीका	धर्मोत्तर
न्यायसार	भासर्वज्ञ
न्यायसारटीका	जयसिंह सूरि
न्यायसूचीनिबन्ध	वाचस्पति मिश्र
न्यायसूत्रवृत्ति	विश्वनाथ न्यायपञ्चानन
न्यायसूत्रोद्धार	नवीन वाचस्पति मिश्र
न्यायामृत	व्यास तीर्थ
न्यायावतार	जैन सिद्धसेन दिवाकर
पञ्चपादिकाविवरण	प्रकाशात्मयति
पत्रपरीक्षा	जैनविद्यारत्न स्वामी
पदार्थतत्त्वनिरूपण	रघुनाथ शिरोमणि
परमलघुमञ्जूषा	नागेश भट्ट
पराशरोपपुराण	पराशर
परिष्कार	श्रीपञ्चानन तर्करत्न
परीक्षामुखसूत्र	जैन माणिक्य नन्दी
पूर्वमीमांसादर्शन	महर्षि जैनमिनि
प्रज्ञापरित्राण	अज्ञात
प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार	जैन वादिदेवसूरि
प्रमाणवार्त्तिक	धर्मकीर्ति
प्रमाणविनिश्चय	धर्मकीर्ति
प्रमाणमीमांसा	जैन हेमचन्द्र
प्रमाणसमुच्चय	दिङ्नाग
प्रमेयकमलमार्तण्ड	जैन प्रभाचन्द्र
प्रमेयतत्त्वबोध	वर्धमान उपाध्याय

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

प्रशस्तपादभाष्य	प्रशस्तपाद
प्रामाण्यवाद	गङ्गेश उपाध्याय
फेलोशिप का लेक्चर	चन्द्रकान्ततर्कालंकार
भाट्टदीपिका	खण्डदेव
भामती	वाचस्पति मिश्र
भाषापरिच्छेद	विश्वनाथ न्यायपञ्चानन
भाषारत्न	कणाद तर्कवागीश
भाष्यचन्द्र	रघूत्तम
भास्करोदया	लक्ष्मीनृसिंह
भूषण न्यायसारटीका, न्याय भूषण	भासर्वज्ञ
मकरन्दव्याख्या	रुचिदत्त
मनुसंहिता	मनु
महाभारत	महर्षि वेदव्यास
महाभाष्य	पतञ्जलि
मानकिरणावली	अज्ञात
मानमेयोदय	नारायण भट्ट, नारायण पण्डित
मानसोल्लास	सुरेश्वराचार्य
मुण्डकोपनिषत्	
मेघदूत	महाकवि कालिदास
मेदिनीकोष	मेदिनीकर
यतीन्द्रमतदीपिका	श्रीनिवास दास
युक्तिदीपिका	अज्ञात
योगदर्शन	महर्षि पतञ्जलि
योगदर्शनभाष्य	व्यासदेव
रत्नकोष	तरणि मिश्र

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

रत्नप्रभाटीका	रामानन्द
रत्नाकरावतारिका	जैन रत्न प्रभाचार्य
रामायण	महर्षि वाल्मीकि
लघुचन्द्रिका	ब्रह्मानन्द सरस्वती
वाक्यपदीय	भर्तृहरि
वादन्याय	धर्मकीर्ति
वादन्यायटीका	शान्तरक्षित
वादविधानटीका	अज्ञात
वादविधि	वसुबन्धु
वादिविनोद	शंकर मिश्र
विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि	वसुबन्धु
विधिविवेक	मण्डन मिश्र
विवरणप्रमेयसंग्रह	विद्यारण्यमुनि
विष्णुधर्मोत्तर	व्यास देव
बृहदारण्यक उपनिषद्	
वेदान्तपरिभाषा	धर्मराजाध्वरीन्द्र
व्युत्पत्तिवाद	गदाधर भट्टाचार्य
व्योमवतीवृत्ति	व्योमशिवाचार्य
शब्दशक्तिप्रकाशिका	जगदीश तर्कालंकार
शारीरकभाष्य	शंकराचार्य
शास्त्रदीपिका	पार्थसारथि मिश्र
श्रीचैतन्यचरितामृत	कृष्णदास कविराज
श्रुति	
श्लोकवार्त्तिक	कुमारिल भट्ट
श्लोकवार्त्तिक	जैन विद्यानन्द

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

श्वेताश्वतर उपनिषद्	
षड्दर्शनसमुच्चय	जैन हरिभद्र सूरि
षड्दर्शनसमुच्चयटीका	गुणरत्न सूरि
सप्तपदार्थी	शिवादित्य मिश्र
सर्वदर्शनसंग्रह	माधवाचार्य
सांख्यकारिका	ईश्वरकृष्ण
सांख्यतत्त्वकौमुदी	वाचस्पति मिश्र
सांख्यवार्त्तिक	अज्ञात
सामान्यदूषणदिङ्प्रसारिता	बौद्धपण्डित अशोक
सिद्धान्तकौमुदी	भट्टोजिदीक्षित
सिद्धान्तमुक्तावली	विश्वनाथ न्यायपञ्चानन
सुश्रुतसंहिता	सुश्रुत
सूक्तिटीका	जगदीश तर्कालंकार
सेतुटीका	पद्मनाभ मिश्र

◈◈◈

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

परिशिष्ट ३

प्रथमाध्यायान्तर्गत सूत्रों की पृष्ठसूची

१. अथ तत्पूर्वकं त्रिविधम् अनुमानं २०४
२. अनैकान्तिकः सव्यभिचारः ४२३
३. अपरीक्षिताभ्युपगमात् तद्विशेषपरीक्षणमभ्युपगमसिद्धान्तः ३२५
४. अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः ३७८
५. अविशेषाभिहितेऽर्थे वक्तुः अभिप्रायादर्थान्तरकल्पना वाक्छलम् ४७०
६. अविशेषे वा किञ्चित्साधर्म्यादेकच्छलप्रसङ्गः ४८५
७. आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनः २४७
८. आप्तोपदेशः शब्दः २४०
९. इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानानि आत्मनः लिङ्गम् २५३
१०. इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नम् ज्ञानम् १६१
११. उदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुः ३३८
१२. उदाहरणापेक्षः तथेत्युपसंहारो न तथेति वा साध्यस्य उपनयः ३५६
१३. कालात्ययापदिष्टः कालातीतः ४५४
१४. गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः पृथिव्यादिगुणाः तदर्थाः २६६
१५. घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणि इन्द्रियाणि भूतेभ्यः २६२
१६. चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम् २६०
१७. तत्त्रिविधम् – वाक्छलम् सामान्यच्छलमुपचारच्छलं चेति ४६९
१८. तथा वैधर्म्यात् ३४०
१९. तदत्यन्तविमोक्षः अपवर्गः २७९
२०. तद्विकल्पाज्जातिनिग्रहस्थानबहुत्वम् ४९४

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

२१. तद्विपर्ययाद् वा विपरीतम् ३४९
२२. तन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थितिः सिद्धान्तः ३११
२३. दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानाम् १२४
२४. धर्मविकल्पनिर्देशेऽर्थसद्भावप्रतिषेध उपचारच्छलम् ४७९
२५. न तदर्थान्तरभावात् ४८५
२६. पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः २७५
२७. पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशमिति भूतानि २६५
२८. प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानि अवयवाः ३२८
२९. प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि १४१
३०. प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः ३९९
३१. प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन ८४
३२. प्रवर्त्तनालक्षणाः दोषाः २७४
३३. प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भः २७३
३४. प्रवृत्तिदोषजनितोऽर्थः फलम् २७६
३५. प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनम् उपमानम् २३५
३६. बाधनालक्षणम् दुःखम् २७८
३७. बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम् २६८
३८. यत्सिद्धावन्यप्रकरणसिद्धिः सोऽधिकरणसिद्धान्तः ३२२
३९. यथोक्तोपपन्नः छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भः जल्पः ४०९
४० यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते तत् प्रयोजनम् ३०७
४१. यस्मात् प्रकरणचिन्ता सः निर्णयार्थमपदिष्टः प्रकरणसमः ४३४
४२. युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम् २७०
४३. लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं सः दृष्टान्तः ३०८
४४. वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या छलम् ४६९
४५. वाक्छलमेवोपचारच्छलं तदविशेषात् ४८४

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

४६. विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम् ४९१
४७. विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः ३९०
४८. सः चतुर्विधः सर्वतन्त्रप्रतितन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थित्यर्थान्तरभावात् ३१५
४९. सः द्विविधः दृष्टादृष्टार्थत्वात् २४१
५०. सः प्रतिपक्षस्थापनाहीनः वितण्डा ४१४
५१. समानतन्त्रसिद्धः परतन्त्रासिद्धः प्रतितन्त्रसिद्धान्तः ३१८
५२. समानानेकधर्मोपपत्तेः विप्रतिपत्तेः २९४
५३. सम्भवतोऽर्थस्यातिसामान्ययोगादसम्भूतार्थकल्पना सामान्यच्छलम् ४७५
५४. सर्वतन्त्राविरुद्धः तन्त्रेऽधिकृतोऽर्थः सर्वतन्त्रसिद्धान्तः ३१७
५५. सव्यभिचार-विरुद्ध-प्रकरणसम-साध्यसम-कालातीताः हेत्वाभासाः ४२१
५६. साधर्म्यवैधर्म्याभ्याम् प्रत्यवस्थानं जातिः ४८८
५७. साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा ३३५
५८. साध्यसाधर्म्यात् तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम् ३४४
५९. साध्याविशिष्टः साध्यत्वात् साध्यसमः ४४१
६०. सिद्धान्तम् अभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः ४३०
६१. हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनम् निगमनम् ३५९

◈◈◈

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

परिशिष्ट ४

महामहोपाध्याय फणिभूषण तर्कवागीश
एक परिचय

१२८२ बंगाब्द १८७३ ई. (माघ कृष्ण चतुर्दशी नरक निवारण चतुर्दशी) को पूर्वबङ्गाल के जैसोर (यशोहर) जिला के ''तालखिड़'' ग्राम में फणिभूषण भट्टाचार्य का जन्म हुआ था। अपने पूर्वजों से उत्तराधिकार रूप में इनको मिला था औदार्य तथा सौजन्य आदि उदात्त गुणसमूह तथा सच्चरित्रता आदि के साथ सनातन धर्म के प्रति निष्ठा और स्वयं इन्होंने अर्जित की थी तेजस्विता एवं मेधाविता आदि।

बाल्यकाल से ही आप विलक्षण प्रतिभा, परिश्रम तथा मेधा के लिए समाज में प्रतिष्ठा अर्जित करते रहे। अल्प समय में ही आपने पिता एवं पितृव्य मनोज्जन चूड़ामणि से व्याकरण, कैलासचन्द्र स्मृतिरत्न से काव्य एवं काव्यशास्त्र, पण्डित जानकीनाथ तर्करत्न से प्राचीन एवं नवीन न्याय, सांख्य तथा वेदान्त आदि का अध्ययन किया। प्रायः सभी परीक्षाओं में आप प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। न्यायशास्त्र की परीक्षा में तो प्रथमश्रेणी में भी प्रथम स्थान प्राप्त किया। आपकी विलक्षण प्रतिभा तथा असाधारण व्युत्पत्ति देखकर गुरु जानकीनाथ तर्करत्न ने आपको तर्कवागीश उपाधि से अलंकृत किया और अपने पुत्र तथा विभिन्न शिष्यों को आपसे पढ़ने का आदेश दिया। पश्चात् आपने नवद्वीप (नदिया शान्तिपुर) जाकर महामहोपाध्याय राजकृष्ण तर्कपञ्चानन से कुछ वर्षों तक न्यायशास्त्र के परिष्कार अंश का अध्ययन किया।

लगभग १९०४ में आपने पावना के दुर्गादास पाठशाला में लगभग तेरह वर्षों तक अध्यापन कर अगणित शिष्यों को कृतविद्य किया तथा पर्याप्त कीर्ति अर्जित की। चूंकि अनेकों वर्ष तक तीर्थपरीक्षा में आपके अधिक शिष्य अच्छी तरह प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होते रहे, अतः उन वर्षों में आपको शासन से २०० रु. का पुरस्कार मिलता रहा। प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान पाने पर आपके शिष्यों को ''केयूर'' देकर शासन से पुरस्कृत किया जाता रहा। इस समय के आपके शिष्यों में प्रधानरूप से उल्लेखनीय हैं – तारानाथ सप्ततीर्थ, शिवकुमार तर्कतीर्थ, शरत्कमल न्याय स्मृतितीर्थ, शरच्चन्द्र घोषाल, हेमचन्द्र

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

राय, नवदास न्यायतीर्थ, योगेन्द्रनाथ स्मृतितीर्थ तथा राधाविनोद गोस्वामी।

१९१८ ई. में वाराणसी के टीकमानी संस्कृत महाविद्यालय में आप अध्यापक होकर आए। आपके अध्यापन की ख्याति सुनकर समागत शिष्यों को आपने अनवरत विद्यादान किया। यहाँ के आपके छात्रों में अधिक ख्याति मिली प. आनन्द झा, म.म.डॉ. उमेश मिश्र, आचार्य बदरीनाथ शुक्ल, प. कृष्णमाधव झा न्यायाचार्य, प. महेश झा न्यायाचार्य, दार्शनिक रूपनाथ झा, श्रेष्ठ नैयायिक प. दुर्गाधर झा तथा प. चिमनलाल गोस्वामी को।

१९२६ ई. की जनवरी की पहली तारीख को आपके वैदुष्य के सम्मान में भारत सम्राट् के द्वारा महामहोपाध्याय की पदवी प्रदान की गई। इसी वर्ष पुनः कलकत्ता के राजकीय संस्कृत कॉलेज में न्यायदर्शन के प्रधान अध्यापक रूप में आपको अध्यापन हेतु बुला लिया गया। यहाँ आपके अध्यापन से वैदुष्य का अर्जन कर सारस्वत समाज में प्रतिष्ठित हुए नैयायिक पञ्चानन शास्त्री, आचार्य गोपीनाथ भट्टाचार्य तथा श्री यादवेन्द्र न्यायतर्कतीर्थ आदि।

१९३१ ई. में यहाँ से अवकाश लेकर आप पुनः वाराणसी लौट आए। अपने आवास पर रहकर ही शिष्यों को विद्यादान देते रहे। इस समय के आपके छात्रों में लब्धप्रतिष्ठ हुए प्रो. सिद्धेश्वर भट्टाचार्य, पण्डित रामनारायण भट्टाचार्य तथा गोपालचन्द्र भट्टाचार्य आदि।

१९३१ ई. में कलकत्ता विश्वविद्यालय के कुलपति डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी के आग्रह से लगभग पाँच वर्षों तक आपने विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में अध्यापन किया, पुनः देहावसान से कुछ पहले ''काशीमरणान्मुक्तिः'' इस शास्त्रवंचन को स्मरण कर वाराणसी लौट आए और यहीं १९४२ के २७ जनवरी माघ शुक्ल एकादशी के दिन आपने शिव सायुज्य प्राप्त किया। कलकत्ता विश्वविद्यालय के अध्यापन के समय आपके द्वारा कृतविद्य किए गए शिष्यों में प्रमुख हैं – डॉ. गौरीनाथ शास्त्री, डॉ. गोविन्द गोपाल मुखोपाध्याय, प्रो. श्री अनन्तलाल ठाकुर, प्रो. नाथमल टाटिया, प्रो. दिनेश चन्द्र गुहा तथा प्रो. विष्णुपद भट्टाचार्य आदि।

प्रो. हरप्रसाद शास्त्री, विद्यानुरागी जमीनदार यतीन्द्र नाथ चौधरी तथा हीरेन्द्र नाथ दत्त आदि शुभेच्छुओं के अनुरोध से आप न्यायभाष्य के अनुवाद, विस्तृत व्याख्या एवं वैदुष्यपूर्ण टिप्पणी लिखने के लिए प्रवृत्त हुए। पाँच खण्डों में पूर्ण यह ग्रन्थ बङ्गीय साहित्य परिषद्, कलकत्ता से प्रकाशित हुआ।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

आपके न्यायदर्शन की विस्तृत व्याख्या के अध्ययन से ज्ञात होता है कि आपकी अभिज्ञता वेदान्त, मीमांसा, सांख्ययोग, बौद्ध दर्शन, जैन दर्शन, गौड़ीय वैष्णव दर्शन, स्मृति तथा ज्योतिष आदि शास्त्रों में भी रही है।

म. प्र. पण्डित पञ्चानन तर्करत्न, म. म. पण्डित कामाख्या नाथ तर्कवागीश, डॉ. आर्थर भेनिस, प्रो. जी. टुच्ची, प्रो. एच.एच. इङ्गाल्स, म. म. गोपीनाथ कविराज, महापण्डित राहुल सांकृत्यायन तथा सुखलालजी संघवी आदि विद्वद्वृन्द इसकी निरन्तर प्रशंसा करते रहे।

आपके न्यायदर्शनविषयक निबन्ध बङ्ला की मासिक पत्रिका ब्रह्मविद्या तथा हिन्दू पत्रिका में प्रकाशित होते रहने से आपके वैदुष्य की ख्याति पूरा बङ्गाल में फैलती रही।

◈◈◈

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

भारतीय परम्परा में न्यायशास्त्र को सभी विद्याओं का प्रदीप, सभी कर्मों का उपाय और सभी धर्मों का आश्रय कहा गया है। इस दृष्टि से यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि अरस्तू ने जैसा अपने तर्कशास्त्र से पश्चिमी विचार-पद्धति को एक ढाँचा प्रदान किया है वैसे ही एक शास्त्र, एक विद्या और एक समग्र दर्शन तंत्र के रूप में न्यायशास्त्र ने भारतीय विचार-पद्धति को एक साँचा प्रदान किया है। महर्षि गौतम से लेकर गंगेशोपाध्याय पर्यन्त और उससे आगे भी सूत्र, भाष्य, वृत्ति, टीका और प्रकरण ग्रंथों के माध्यम से न्यायशास्त्र ने अपने विकास की आन्तरिक गतिशीलता को न केवल बनाए रखा बल्कि विकास के स्वकीय प्रारूप में अद्यतन पल्लवित और पुष्पित भी होता रहा है। उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी में फणिभूषण तर्कवागीश, गंगानाथ झा, गोपीनाथ कविराज और अनन्तलाल ठाकुर जैसे स्वनामधन्य आचार्यों की गणना न्यायशास्त्र के उन्नायकों के रूप में की जा सकती है। इस आचार्य चतुष्टयी में फणिभूषण तर्कवागीश का न्यायशास्त्रीय वैदुष्य एक प्रतिष्ठापक आचार्य कल्प रहा है। इनके द्वारा बङ्ला भाषा में प्रणीत न्यायदर्शन जिसका परिष्कृत हिन्दी रूपान्तरण यहाँ न्यायसूत्र (प्रथम अध्यायपर्यन्त) प्रस्तुत किया गया है, वह एक अनुपम कोटि का न्यायशास्त्रीय विश्वकोशीय ग्रंथ है। न्यायशास्त्रीय विचार-पद्धति को उसके सम्पूर्ण निहितार्थों और निष्पत्तियों के साथ समग्रता में प्रस्तुत करने वाले इस ग्रंथ की अत्युच्च विशिष्टता इस बात में निहित है कि इस ग्रंथ के पारायण से कोई व्यक्ति न्यायशास्त्र में वैसे ही अधीत हो सकता है जैसे कोई व्यक्ति किसी शास्त्र में गुरुमुख से अधीत होता है। आन्वीक्षिकी विद्या के 2,000 वर्षों के सैद्धान्तिक विकास को पुंखानुपुंख रूप में प्रस्तुत करने वाला यह ग्रंथ अपने आप में अद्वितीय है और इसीलिए अवश्य संग्रहणीय है।

₹ 1050

978-81-246-0809-8

Cover Design: Shailee Mittal, 82853 94819

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection